

शब्दकौस्तुभः

द्वितीयो भागः





श्रीमद्भट्टोजीदीक्षितप्रणीतः

# शब्दकौस्तुभः

द्वितीयो भागः

सम्पादकौ

विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, गणपतिशास्त्री मोकाटे च

ओरियंटल बुक सेन्टर

दिल्ली

(भारत)

प्रकाशक :

ओरियंटल बुक सेन्टर

दु०नं०१८, दूसरी मंजिल,  
५५७४ए, चौधरी काशीराम मार्किट,  
दुर्गा काम्पलेक्स, न्यू चन्द्रावल,  
दिल्ली-११०००७

द्वितीय संस्करण - वि० सं० २०४८

मूल्य - रु. ८००/- (१-३ भाग)

मुद्रक:

ज्ञान आफसेट

शाहदरा, दिल्ली



## श्रीगुरुः शरणम्

ईशकृपया शब्दकौस्तुभस्येदं द्वितीयं संस्करणं भवतां पुरत उपस्थितम् ।  
न तिरोहिताऽस्योपयोगिता विदुषां तत्र भवतां वैयाकरणानाम् ।

अस्य मुद्रणावसरे तृतीयाध्यायतृतीयचतुर्थपादपुस्तकं महता प्रयत्ने-  
नान्वेषितमपि नोपलब्धमिति महद्विषादस्थानम् । मन्येऽहमेतादृशोपयुक्त-  
पुस्तकस्य प्रकाशनार्थमचिरादेव दानेन मामनुगृह्य सकलजनोपकारजपु-  
ण्यमासादयिष्यन्ति तत्पुस्तकगोप्तार इति ।

निवेदकः

गोपालशास्त्री नेने

## संस्कृत-शब्द-कोश

संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश  
संस्कृत-शब्द-कोश

संस्कृत-शब्द-कोश

संस्कृत-शब्द-कोश



❀ श्रीः ❀

## शब्दकोरुतुभविषयसूची ।

|                                  |     |                          |     |
|----------------------------------|-----|--------------------------|-----|
| १ कित्प्रकरणम्                   | १   | २९ तत्पुरुषसमासप्रकरणम्  | १६६ |
| २ ह्रस्वादिसंज्ञासूत्रम्         | १३  | ३० बहुव्रीहिसमास         | २११ |
| ३ एकश्रुतिविधिसूत्रम्            | १६  | ३१ द्वन्द्वसमास          | २१६ |
| ४ फिट्सूत्राणि                   | २१  | ३२ पूर्वनिपात            | २१८ |
| ५ उपसर्जनसंज्ञाप्रकरणम्          | २६  | ३३ विभक्त्यर्थ           | २२० |
| ६ प्रातिपदिकसंज्ञा               | ३०  | ३४ एकवद्भाव              | २४८ |
| ७ उपसर्जनसंज्ञा                  | ३३  | ३५ लिङ्गानुशासनम्        | २५६ |
| ८ युक्तवद्भावप्रत्याख्यानसूत्रम् | ३४  | ३६ आदेशविधान             | २७६ |
| ९ द्वित्वातिदेशसूत्रम्           | ३६  | ३७ लुग्विधान             | २८८ |
| १० एकदेशप्रकरणम्                 | ३८  | ३८ आदेशविधान             | २९६ |
| ११ धातुसंज्ञासूत्रम्             | ४६  | ३९ प्रत्ययाधिकार         | ३०१ |
| १२ इत्संज्ञाप्रकरणम्             | ५५  | ४० स्वरप्रकरणम्          | ३०४ |
| १३ यथासंख्यपरिभाषासूत्रम्        | ५६  | ४१ सन्विधान              | ३०७ |
| १४ आत्मनेपदनियमसूत्रम्           | ६०  | ४२ नामधातु               | ३१२ |
| १५ परस्मैपदनियमप्रकरणम्          | ६०  | ४३ यङन्तप्रकरणम्         | ३३६ |
| १६ नदीसंज्ञाप्रकरणम्             | ६६  | ४४ णिजन्त                | ३४१ |
| १७ घिसंज्ञाप्रकरणम्              | १०५ | ४५ कण्ड्वादि             | ३५६ |
| १८ अङ्गसंज्ञाप्रकरणम्            | १०७ | ४६ आयादिविधानप्रकरणम्    | ३६३ |
| १९ पदसंज्ञाप्रकरणम्              | १०९ | ४७ सनाद्यन्तानां धातुत्व |     |
| २० वचनप्रकरणम्                   | ११३ | विधि                     | ३६५ |
| २१ कारक                          | ११४ | ४८ स्यादिविकरणविधि       | ३६७ |
| २२ निपातसंज्ञा                   | १३६ | ४९ आम्विधिप्रकरणम्       | ३६७ |
| २३ गति                           | १४३ | ५० कृभ्वस्त्यनुप्रयोग    | ३७१ |
| २४ कर्मप्रवचनीय                  | १४६ | ५१ चिल्विधान             | ३७३ |
| २५ पुरुषनियम                     | १५२ | ५२ च्ल्यादेश             | ३७५ |
| २६ परिभाषा                       | १५५ | ५३ विकरण                 | ३८५ |
| २७ समाससंज्ञा                    | १५६ | ५४ कर्मकतृ               | ३९२ |
| २८ अव्ययीभावसमास                 | १६१ | ५५ कृत्प्रकरणम्          | ३९६ |

# 1. THE HISTORY OF THE

| 1777 | 1778 | 1779 | 1780 | 1781 | 1782 | 1783 | 1784 | 1785 | 1786 | 1787 | 1788 | 1789 | 1790 | 1791 | 1792 | 1793 | 1794 | 1795 | 1796 | 1797 | 1798 | 1799 | 1800 | 1801 | 1802 | 1803 | 1804 | 1805 | 1806 | 1807 | 1808 | 1809 | 1810 | 1811 | 1812 | 1813 | 1814 | 1815 | 1816 | 1817 | 1818 | 1819 | 1820 | 1821 | 1822 | 1823 | 1824 | 1825 | 1826 | 1827 | 1828 | 1829 | 1830 | 1831 | 1832 | 1833 | 1834 | 1835 | 1836 | 1837 | 1838 | 1839 | 1840 | 1841 | 1842 | 1843 | 1844 | 1845 | 1846 | 1847 | 1848 | 1849 | 1850 | 1851 | 1852 | 1853 | 1854 | 1855 | 1856 | 1857 | 1858 | 1859 | 1860 | 1861 | 1862 | 1863 | 1864 | 1865 | 1866 | 1867 | 1868 | 1869 | 1870 | 1871 | 1872 | 1873 | 1874 | 1875 | 1876 | 1877 | 1878 | 1879 | 1880 | 1881 | 1882 | 1883 | 1884 | 1885 | 1886 | 1887 | 1888 | 1889 | 1890 | 1891 | 1892 | 1893 | 1894 | 1895 | 1896 | 1897 | 1898 | 1899 | 1900 | 1901 | 1902 | 1903 | 1904 | 1905 | 1906 | 1907 | 1908 | 1909 | 1910 | 1911 | 1912 | 1913 | 1914 | 1915 | 1916 | 1917 | 1918 | 1919 | 1920 | 1921 | 1922 | 1923 | 1924 | 1925 | 1926 | 1927 | 1928 | 1929 | 1930 | 1931 | 1932 | 1933 | 1934 | 1935 | 1936 | 1937 | 1938 | 1939 | 1940 | 1941 | 1942 | 1943 | 1944 | 1945 | 1946 | 1947 | 1948 | 1949 | 1950 | 1951 | 1952 | 1953 | 1954 | 1955 | 1956 | 1957 | 1958 | 1959 | 1960 | 1961 | 1962 | 1963 | 1964 | 1965 | 1966 | 1967 | 1968 | 1969 | 1970 | 1971 | 1972 | 1973 | 1974 | 1975 | 1976 | 1977 | 1978 | 1979 | 1980 | 1981 | 1982 | 1983 | 1984 | 1985 | 1986 | 1987 | 1988 | 1989 | 1990 | 1991 | 1992 | 1993 | 1994 | 1995 | 1996 | 1997 | 1998 | 1999 | 2000 | 2001 | 2002 | 2003 | 2004 | 2005 | 2006 | 2007 | 2008 | 2009 | 2010 | 2011 | 2012 | 2013 | 2014 | 2015 | 2016 | 2017 | 2018 | 2019 | 2020 | 2021 | 2022 | 2023 | 2024 | 2025 | 2026 | 2027 | 2028 | 2029 | 2030 | 2031 | 2032 | 2033 | 2034 | 2035 | 2036 | 2037 | 2038 | 2039 | 2040 | 2041 | 2042 | 2043 | 2044 | 2045 | 2046 | 2047 | 2048 | 2049 | 2050 | 2051 | 2052 | 2053 | 2054 | 2055 | 2056 | 2057 | 2058 | 2059 | 2060 | 2061 | 2062 | 2063 | 2064 | 2065 | 2066 | 2067 | 2068 | 2069 | 2070 | 2071 | 2072 | 2073 | 2074 | 2075 | 2076 | 2077 | 2078 | 2079 | 2080 | 2081 | 2082 | 2083 | 2084 | 2085 | 2086 | 2087 | 2088 | 2089 | 2090 | 2091 | 2092 | 2093 | 2094 | 2095 | 2096 | 2097 | 2098 | 2099 | 2100 | 2101 | 2102 | 2103 | 2104 | 2105 | 2106 | 2107 | 2108 | 2109 | 2110 | 2111 | 2112 | 2113 | 2114 | 2115 | 2116 | 2117 | 2118 | 2119 | 2120 | 2121 | 2122 | 2123 | 2124 | 2125 | 2126 | 2127 | 2128 | 2129 | 2130 | 2131 | 2132 | 2133 | 2134 | 2135 | 2136 | 2137 | 2138 | 2139 | 2140 | 2141 | 2142 | 2143 | 2144 | 2145 | 2146 | 2147 | 2148 | 2149 | 2150 | 2151 | 2152 | 2153 | 2154 | 2155 | 2156 | 2157 | 2158 | 2159 | 2160 | 2161 | 2162 | 2163 | 2164 | 2165 | 2166 | 2167 | 2168 | 2169 | 2170 | 2171 | 2172 | 2173 | 2174 | 2175 | 2176 | 2177 | 2178 | 2179 | 2180 | 2181 | 2182 | 2183 | 2184 | 2185 | 2186 | 2187 | 2188 | 2189 | 2190 | 2191 | 2192 | 2193 | 2194 | 2195 | 2196 | 2197 | 2198 | 2199 | 2200 | 2201 | 2202 | 2203 | 2204 | 2205 | 2206 | 2207 | 2208 | 2209 | 2210 | 2211 | 2212 | 2213 | 2214 | 2215 | 2216 | 2217 | 2218 | 2219 | 2220 | 2221 | 2222 | 2223 | 2224 | 2225 | 2226 | 2227 | 2228 | 2229 | 2230 | 2231 | 2232 | 2233 | 2234 | 2235 | 2236 | 2237 | 2238 | 2239 | 2240 | 2241 | 2242 | 2243 | 2244 | 2245 | 2246 | 2247 | 2248 | 2249 | 2250 | 2251 | 2252 | 2253 | 2254 | 2255 | 2256 | 2257 | 2258 | 2259 | 2260 | 2261 | 2262 | 2263 | 2264 | 2265 | 2266 | 2267 | 2268 | 2269 | 2270 | 2271 | 2272 | 2273 | 2274 | 2275 | 2276 | 2277 | 2278 | 2279 | 2280 | 2281 | 2282 | 2283 | 2284 | 2285 | 2286 | 2287 | 2288 | 2289 | 2290 | 2291 | 2292 | 2293 | 2294 | 2295 | 2296 | 2297 | 2298 | 2299 | 2300 | 2301 | 2302 | 2303 | 2304 | 2305 | 2306 | 2307 | 2308 | 2309 | 2310 | 2311 | 2312 | 2313 | 2314 | 2315 | 2316 | 2317 | 2318 | 2319 | 2320 | 2321 | 2322 | 2323 | 2324 | 2325 | 2326 | 2327 | 2328 | 2329 | 2330 | 2331 | 2332 | 2333 | 2334 | 2335 | 2336 | 2337 | 2338 | 2339 | 2340 | 2341 | 2342 | 2343 | 2344 | 2345 | 2346 | 2347 | 2348 | 2349 | 2350 | 2351 | 2352 | 2353 | 2354 | 2355 | 2356 | 2357 | 2358 | 2359 | 2360 | 2361 | 2362 | 2363 | 2364 | 2365 | 2366 | 2367 | 2368 | 2369 | 2370 | 2371 | 2372 | 2373 | 2374 | 2375 | 2376 | 2377 | 2378 | 2379 | 2380 | 2381 | 2382 | 2383 | 2384 | 2385 | 2386 | 2387 | 2388 | 2389 | 2390 | 2391 | 2392 | 2393 | 2394 | 2395 | 2396 | 2397 | 2398 | 2399 | 2400 | 2401 | 2402 | 2403 | 2404 | 2405 | 2406 | 2407 | 2408 | 2409 | 2410 | 2411 | 2412 | 2413 | 2414 | 2415 | 2416 | 2417 | 2418 | 2419 | 2420 | 2421 | 2422 | 2423 | 2424 | 2425 | 2426 | 2427 | 2428 | 2429 | 2430 | 2431 | 2432 | 2433 | 2434 | 2435 | 2436 | 2437 | 2438 | 2439 | 2440 | 2441 | 2442 | 2443 | 2444 | 2445 | 2446 | 2447 | 2448 | 2449 | 2450 | 2451 | 2452 | 2453 | 2454 | 2455 | 2456 | 2457 | 2458 | 2459 | 2460 | 2461 | 2462 | 2463 | 2464 | 2465 | 2466 | 2467 | 2468 | 2469 | 2470 | 2471 | 2472 | 2473 | 2474 | 2475 | 2476 | 2477 | 2478 | 2479 | 2480 | 2481 | 2482 | 2483 | 2484 | 2485 | 2486 | 2487 | 2488 | 2489 | 2490 | 2491 | 2492 | 2493 | 2494 | 2495 | 2496 | 2497 | 2498 | 2499 | 2500 | 2501 | 2502 | 2503 | 2504 | 2505 | 2506 | 2507 | 2508 | 2509 | 2510 | 2511 | 2512 | 2513 | 2514 | 2515 | 2516 | 2517 | 2518 | 2519 | 2520 | 2521 | 2522 | 2523 | 2524 | 2525 | 2526 | 2527 | 2528 | 2529 | 2530 | 2531 | 2532 | 2533 | 2534 | 2535 | 2536 | 2537 | 2538 | 2539 | 2540 | 2541 | 2542 | 2543 | 2544 | 2545 | 2546 | 2547 | 2548 | 2549 | 2550 | 2551 | 2552 | 2553 | 2554 | 2555 | 2556 | 2557 | 2558 | 2559 | 2560 | 2561 | 2562 | 2563 | 2564 | 2565 | 2566 | 2567 | 2568 | 2569 | 2570 | 2571 | 2572 | 2573 | 2574 | 2575 | 2576 | 2577 | 2578 | 2579 | 2580 | 2581 | 2582 | 2583 | 2584 | 2585 | 2586 | 2587 | 2588 | 2589 | 2590 | 2591 | 2592 | 2593 | 2594 | 2595 | 2596 | 2597 | 2598 | 2599 | 2600 | 2601 | 2602 | 2603 | 2604 | 2605 | 2606 | 2607 | 2608 | 2609 | 2610 | 2611 | 2612 | 2613 | 2614 | 2615 | 2616 | 2617 | 2618 | 2619 | 2620 | 2621 | 2622 | 2623 | 2624 | 2625 | 2626 | 2627 | 2628 | 2629 | 2630 | 2631 | 2632 | 2633 | 2634 | 2635 | 2636 | 2637 | 2638 | 2639 | 2640 | 2641 | 2642 | 2643 | 2644 | 2645 | 2646 | 2647 | 2648 | 2649 | 2650 | 2651 | 2652 | 2653 | 2654 | 2655 | 2656 | 2657 | 2658 | 2659 | 2660 | 2661 | 2662 | 2663 | 2664 | 2665 | 2666 | 2667 | 2668 | 2669 | 2670 | 2671 | 2672 | 2673 | 2674 | 2675 | 2676 | 2677 | 2678 | 2679 | 2680 | 2681 | 2682 | 2683 | 2684 | 2685 | 2686 | 2687 | 2688 | 2689 | 2690 | 2691 | 2692 | 2693 | 2694 | 2695 | 2696 | 2697 | 2698 | 2699 | 2700 | 2701 | 2702 | 2703 | 2704 | 2705 | 2706 | 2707 | 2708 | 2709 | 2710 | 2711 | 2712 | 2713 | 2714 | 2715 | 2716 | 2717 | 2718 | 2719 | 2720 | 2721 | 2722 | 2723 | 2724 | 2725 | 2726 | 2727 | 2728 | 2729 | 2730 | 2731 | 2732 | 2733 | 2734 | 2735 | 2736 | 2737 | 2738 | 2739 | 2740 | 2741 | 2742 | 2743 | 2744 | 2745 | 2746 | 2747 | 2748 | 2749 | 2750 | 2751 | 2752 | 2753 | 2754 | 2755 | 2756 | 2757 | 2758 | 2759 | 2760 | 2761 | 2762 | 2763 | 2764 | 2765 | 2766 | 2767 | 2768 | 2769 | 2770 | 2771 | 2772 | 2773 | 2774 | 2775 | 2776 | 2777 | 2778 | 2779 | 2780 | 2781 | 2782 | 2783 | 2784 | 2785 | 2786 | 2787 | 2788 | 2789 | 2790 | 2791 | 2792 | 2793 | 2794 | 2795 | 2796 | 2797 | 2798 | 2799 | 2800 | 2801 | 2802 | 2803 | 2804 | 2805 | 2806 | 2807 | 2808 | 2809 | 2810 | 2811 | 2812 | 2813 | 2814 | 2815 | 2816 | 2817 | 2818 | 2819 | 2820 | 2821 | 2822 | 2823 | 2824 | 2825 | 2826 | 2827 | 2828 | 2829 | 2830 | 2831 | 2832 | 2833 | 2834 | 2835 | 2836 | 2837 | 2838 | 2839 | 2840 | 2841 | 2842 | 2843 | 2844 | 2845 | 2846 | 2847 | 2848 | 2849 | 2850 | 2851 | 2852 | 2853 | 2854 | 2855 | 2856 | 2857 | 2858 | 2859 | 2860 | 2861 | 2862 | 2863 | 2864 | 2865 | 2866 | 2867 | 2868 | 2869 | 2870 | 2871 | 2872 | 2873 | 2874 | 2875 | 2876 | 2877 | 2878 | 2879 | 2880 | 2881 | 2882 | 2883 | 2884 | 2885 | 2886 | 2887 | 2888 | 2889 | 2890 | 2891 | 2892 | 2893 | 2894 | 2895 | 2896 | 2897 | 2898 | 2899 | 2900 | 2901 | 2902 | 2903 | 2904 | 2905 | 2906 | 2907 | 2908 | 2909 | 2910 | 2911 | 2912 | 2913 | 2914 | 2915 | 2916 | 2917 | 2918 | 2919 | 2920 | 2921 | 2922 | 2923 | 2924 | 2925 | 2926 | 2927 | 2928 | 2929 | 2930 | 2931 | 2932 | 2933 | 2934 | 2935 | 2936 | 2937 | 2938 | 2939 | 2940 | 2941 | 2942 | 2943 | 2944 | 2945 | 2946 | 2947 | 2948 | 2949 | 2950 | 2951 | 2952 | 2953 | 2954 | 2955 | 2956 | 2957 | 2958 | 2959 | 2960 | 2961 | 2962 | 2963 | 2964 | 2965 | 2966 | 2967 | 2968 | 2969 | 2970 | 2971 | 2972 | 2973 | 2974 | 2975 | 2976 | 2977 | 2978 | 2979 | 2980 | 2981 | 2982 | 2983 | 2984 | 2985 | 2986 | 2987 | 2988 | 2989 | 2990 | 2991 | 2992 | 2993 | 2994 | 2995 | 2996 | 2997 | 2998 | 2999 | 3000 | 3001 | 3002 | 3003 | 3004 | 3005 | 3006 | 3007 | 3008 | 3009 | 3010 | 3011 | 3012 | 3013 | 3014 | 3015 | 3016 | 3017 | 3018 | 3019 | 3020 | 3021 | 3022 | 3023 | 3024 | 3025 | 3026 | 3027 | 3028 | 3029 | 3030 | 3031 | 3032 | 3033 | 3034 | 3035 | 3036 | 3037 | 3038 | 3039 | 3040 | 3041 | 3042 | 3043 | 3044 | 3045 | 3046 | 3047 | 3048 | 3049 | 3050 | 3051 | 3052 | 3053 | 3054 | 3055 | 3056 | 3057 | 3058 | 3059 | 3060 | 3061 | 3062 | 3063 | 3064 | 3065 | 3066 | 3067 | 3068 | 3069 | 3070 | 3071 | 3072 | 3073 | 3074 | 3075 | 3076 | 3077 | 3078 | 3079 | 3080 | 3081 | 3082 | 3083 | 3084 | 3085 | 3086 | 3087 | 3088 | 3089 | 3090 | 3091 | 3092 | 3093 | 3094 | 3095 | 3096 | 3097 | 3098 | 3099 | 3100 | 3101 | 3102 | 3103 | 3104 | 3105 | 3106 | 3107 | 3108 | 3109 | 3110 | 3111 | 3112 | 3113 | 3114 | 3115 | 3116 | 3117 | 3118 | 3119 | 3120 | 3121 | 3122 | 3123 | 3124 | 3125 | 3126 | 3127 | 3128 | 3129 | 3130 | 3131 | 3132 | 3133 | 3134 | 3135 | 3136 | 3137 | 3138 |
|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|
|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|------|



\* श्रीः \*

भट्टोजीदीक्षितकृते—

## शब्दकौस्तुभे ।

प्रथमाध्याये द्वितीयपादे प्रथममान्हिकम् ।

गाङ्कुटादिभ्योऽज्जिण्डित् (अष्टा०सू०१-२-१) । गाङ्गादेशात्कुटादेशश्च परेऽज्जितः प्रत्यया ङित्स्त्वस्युः । अध्यगीष्ट । “विभाषा लुङ्लुङोः” (अष्टा०सू०२-४-५०) इतीडो गाङ् । इह विशेषणार्थ एव हि गाङ्गादेशे ङकारः इति “गाङ् लिटि” (अष्टा०सू०२-४-४९) इति सूत्रे वक्ष्यते । कुटिता, कुटितुम् । अज्जिण्टिकम् ? कोटः । घञ् । चुकोट(१) । ‘व्यचेः कुटादित्वमनसीति वक्तव्यम्” (का०वा०) । एतच्च षष्ठे “लिट्यभ्यासस्य” (अष्टा०सू०६-१-१७) इति सूत्रे भाष्ये पठितमपि सन्दर्भशुद्धार्थं वृत्तिकृतेह पठितम् । तुदादिगणे कुटादिभ्यः प्राक् पठितस्य व्यचेः कुटादित्वं वार्तिकेनातिदिश्यते । विचितुम्, विचिता । अनसि किम् ? ‘उरुव्यच्चाः’ । अत्र हरदत्तः— अनसीति पर्युदासात्कृत्येवेदम् । तेनेह न-विन्यचिथ, अव्याचीत्, अव्यनीत् । केचित्तु प्रसज्यप्रतिषेधपाश्रित्य थलादिष्वपि ङित्त्वमाहुः । तत्तु वाक्यभेदादसमर्थसमासाच्चायुक्तमिति माधवादयः । अथ कथं लिखितुं, स्वयमेव लिखिष्यते इति ? अत्र दुर्घटादयः—कण्वादिभ्य इत्यत्रेव षष्ठीतत्पुरुषबहुव्रीह्योः सहविवक्षया बहुव्रीहिशेषोऽयं कुटादिभ्य इति । तेन लिखेरपि कुटस्यादितयाऽत्र सङ्ग्रह इति । तन्न, “शकुनिष्वालेखने” (अष्टा०सू०६-१-१४२) इति सूत्रप्रयोगविरोधापत्तेः, “रलो व्युपधात्” (अष्टा०सू०१-२-२६) “ईश्वरे तोसुन्” (अष्टा०सू०३-४-१३) इत्यत्र वृत्तिग्रन्थविरोधाच्च । तत्र हि लिखित्वा, लेखित्वा, लिलिखिषति, लिलेखिषति, विलेखितुम्, इति प्रदर्शितम् । तस्मात्संज्ञापूर्वकतया समाधेयमिति हरदत्तः । कथं ‘चुकुटिषति’ इति, सनो ङित्वाद्यङन्तादिव तङ्प्रसङ्गात् ? मैवम्, उपदेशग्रहणानुवृत्त्योपदेशे यो ङित्तदन्तादात्मनेपदमिति ध्याख्यानात् ।

१ अत्र “परस्मैपदानां” (अष्टा०सू०३-४-८२) इत्यनेन णल् ।



विज इत् (अष्टा०सू०१-२-२) । विजेः पर इडादिः प्रत्ययो डित्स्यात् । उद्विजितुम् । इत् किम् ? उद्वेजनम् । इह “वृद्धिर्यस्य” (अष्टा०सू०१-१-७३) इतिसूत्रान्मण्डूकप्लुत्या षस्यादिरित्यनुवर्तते । तेनेडादिः प्रत्ययो लभ्यते, न तूत्तमैकवचनमिद् । तथाहि सति ‘विजिषीय’ इत्यत्रैव स्यात् । “ओविजीभ्यचलनयोः” (तु०आ०१२९०६०प०१४६१) इति विजिरिह गृह्यते न तु पृथग्भावार्थ इरित्, तस्यानिङ्कत्वादिति हरदत्तः । न च क्रादिनिय-  
माल्लिटीद् संभवत्येवेति वाच्यम्, तत्र किञ्चेन गतार्थत्वादिति तस्य भावः । षस्तुतस्तु नेदं युक्तम् ‘विवेजिथ’ इति थलीट्सम्भवात् । पिञ्चेन किञ्चा-  
भावात् । तस्मात्कुटादिसाहचर्यात्तुदादेरेव ग्रहणं न तु जुहोत्यादेरिति बोध्यम् । नन्वेवं रुधादेरपि डित्त्वात् ‘उद्विजिता’ इत्याद्युदाहरता माधवेन सह विरोध इति चेत्तर्हि व्याख्यानादेव जुहोत्यादेरग्रहणमित्यस्तु । हरद-  
त्तोक्तिस्तु दुष्टैवेति दिक् ।

विभाषणौः (अष्टा०सू०१-२-३) । अस्मादिडादिप्रत्ययो डिङ्गा स्यात् । ऊर्णुविता, ऊर्णविता । इडिति किम् ? ऊर्णवनीयम् ।

सार्वधातुकमपित् (अष्टा०सू०१-२-४) । अपित्सार्वधातुकं डिङ्गत्स्यात् । विनुतः । इह परत्र परशब्दप्रयोगात्कल्प्यमानो वतिः सप्तम्यन्तान्न कल्प्यो  
डितीव डिङ्गदिति । तथा सति प्रतियोगिनि सप्तमीप्रसङ्गात् सार्वधातुके-  
ऽपितीति । पूर्वत्राप्येवमेव अजिणतीति, इतीति च सप्तमी स्यात् । श्रूयते  
तु सर्वत्र प्रथमा । तस्मात्तृतीयान्तादेव वतिङिता तुल्यं डिङ्गदिति । अत  
एव ‘पचेते’ इत्यादौ डितो यत्कार्यम् “आतो डितः” (अष्टा०सू०७-२-८१)  
इतीयं सोऽपि भवति । नन्वेवं ‘यादम्पती समनसा सुनुतः’ इत्यत्र “ता-  
स्यनुदत्तेन्डित्” (अष्टा०सू०६-१-१८१) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वं  
स्यादिति चेत् ? न उपदेशग्रहणस्योभयसम्बन्धेन डिदुपदेशादुपदेशाच्चेति  
षाष्ठभाष्ये व्याख्यातत्वात्, अन्विडोरिति पर्युदासेनोपदेशे डकारवतो  
ग्रहणाद्वा । सप्तम्यन्ताद्वतिरित्येवंपरः षाष्ठवृत्तिग्रन्थस्त्वापातत इत्येष  
निष्कर्षः । अत्र ‘पिञ्च डिञ्च, डिञ्च पिञ्च भवति’ इति वाक्यार्थद्वयं “कडि-  
ति च” (अष्टा०सू०१-१-५) इति सूत्रे वर्णितमस्माभिः । भाष्ये तु “हलश्च  
ज्ञानच्” (अष्टा०सू०३-१-८३) इति सूत्रे स्थितमेतत् ।

असंयोगाल्लिड् कित् (अष्टा०सू०१-२-५) । असंयोगात्परोऽपिल्लिड्  
कित् स्यात् । निन्यतुः, बिभिदतुः । अपित्किम् ? विभेद । असंयोगा-  
त्किम् ? ससंसे । डिञ्चे प्रकृते कित्करणं “यजादीनां किति” (अष्टा०सू०  
६-१-१५) इति सम्प्रसारणार्थम् । ईजतुः, ईजुः । पूर्वत्रापि कित्त्वं कुतो न



कृतमिति चेत् ? 'वक्तः' 'वक्त्यः' इत्यत्र सम्प्रसारणापत्तेः, 'जाग्रतः' 'जाग्रति' इत्यत्र गुणापत्तेश्च । डिच्चे तु 'वच्यादीनां किति' इत्युक्तेर्न सम्प्रसारणम् । "जाग्राऽविचिण्णलङित्सु" (अष्टा०सू०७-३-८५) इति पर्युदासान्न गुणः । 'ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणत्पूर्वप्रतिषेधेन" (का० वा०) । कित्त्वस्या-  
वकाशः-ईजनुः, ईजुः । गुणस्यावकाशः-चेतति । ववृते, ववृधे इत्यत्र पूर्वविप्रतिषेधात्कित्त्वम् ।

इन्धिभवतिभ्यां च (अष्टा०सू०१-२-६) । आभ्यां लिट् कित्स्यात् । समी-  
धे दस्युहन्तमम् । पुत्र ईधे अथर्वणः । बभूव, बभूविथ । इन्धेः संयोगार्थं ग्रह-  
णं भवतेस्तु पिदर्थम् । इन्धीत्युच्चारणार्थेनेकारेण निर्देशः "सुद्विथोः" (अ-  
१०सू०३-४-१०७) इतिवत्, न तु "इक्षित्यौ" (का०वा०) इतीका, नलो-  
पापत्तेः । अत्र वार्तिकम्-"इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद्भुवो वुको नित्यत्वाच्चाभ्यां  
लिटः किद्वचनानर्थक्यमिति" । अयमर्थः-इन्धेर्भाषायां "इजादेश्च" (अष्टा०  
सू०३-१-३६) इत्यामा भाव्यम् । छन्दसि तु "अमन्त्रे" (अष्टा०सू०३-१-३५) इति  
प्रतिषेधाद्यद्यप्यास्ति तथापि "छन्दस्युभयथा" (३-४-११७) इति लिटः  
सार्वधातुकत्वे डित्त्वात् 'समीधे' इति नलोपः । इनमभावस्त्वाधधातुक-  
त्वात् व्यत्ययाद्वा । भुवोऽपि वुङ् नित्यत्वादेव गुणवृद्धी बाधिष्यते । न  
च शब्दान्तरप्राप्त्या वुगनित्य इति वाच्यम्, कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्रेणापि  
लक्ष्यानुरोधान्नित्यत्वस्याश्रयणात् । शब्दान्तरप्राप्त्या स्वरभिन्नस्य प्राप्त्या  
चानित्यतायाः सिद्धान्ते बहुधा त्यक्तत्वात् । एषैव सूत्रकृतोऽपि गतिः, 'ब-  
भूव' इत्यत्र वृद्धेरनिग्लक्षणात्तथा "कडित्तिच" इति निषेधासम्भवेन वुको  
नित्यताया एव शरणीकरणीयत्वात् । न च कित्त्वसामर्थ्यादिनिग्लक्षणाया  
अपि वृद्धेर्निषेधः । 'अहं बभूव' इत्यत्र णित्त्वाभावपक्षे तथा थलि चरिता-  
र्थत्वात् । अत एव यङ्लुकि णलथलोः 'वोभूव' 'वोभूविथ' इति नित्य-  
त्वाद् वुकि सिद्धम् । न हि तत्र कित्त्वं प्राप्नोति, शितपा निर्देशात् । तस्मा-  
देतत्सूत्रं न कर्तव्यमिति भाष्ये स्थितम् । अत्र काशिका, 'अन्धिग्रन्थिद-  
म्भिस्वञ्जीनां वक्तव्यमिति' । यद्यप्येतदिह सूत्रे भाष्ये नास्ति तथापि  
"मणीवादेन" इतिवन्नाप्रामाणिकम् । तथाच "अत एकहल्मध्ये" (अष्टा०  
सू०६-४-१२०) इत्येत्वाभ्यासलोपौ प्रति नलोपस्याभीयत्वेनासिद्धौ सत्यां  
"दम्भेश्च" (का०वा०) इति वार्तिकमारब्धम् । "आभात्" (अष्टा०सू०६-४-  
२२) सूत्रस्य प्रत्याख्यानात् "असोरल्लोपः" (अष्टा०सू०६-४-१११) इति त-  
त्परकरणनानित्यत्वाद्वा नेदं वार्तिकमावश्यकमिति तु षष्ठे वक्ष्यते । तथा  
"सदेः परस्य लिटि" (अष्टा०सू०८-३-११८) इति सूत्रे "स्वञ्जेरासंख्यान-  
म्" (का०वा०) इति वार्तिकस्य भाष्यकृता 'परिपञ्चजे' इत्युदाहरणं दत्त-



म् । प्रयुज्यते च “तमिन्दुः परिष्वजे” इति । एतच्च कित्त्वं पिदर्थमपिदर्थं चेति सुधाकरः । अपिदर्थमेवेति न्यासकारात्रेयादयः । हरदत्तस्तु सन्दि-  
देह । वस्तुतस्तु न्यासाद्युक्तमेव ज्यायः, इह वृत्तौ षाष्ठभाष्ये चापित एवोदा-  
हृतत्वात् । “श्रन्थग्रन्थ सन्दर्भे” (क्या.प. १५१३, १४) श्रेथतुः; श्रेथुः । श्रेथतुः,  
श्रेथुः । देभतुः, देभुः । सस्वजे, सस्वजाते । केचित् “श्रन्थिग्रन्थिदम्भि-  
स्वजीनां वा” इति पठन्तः कित्त्वं विकल्पयन्तीति हरदत्तमाध्वौ । तन्मते  
ददम्भतुः, शश्रन्थतुरित्याद्यपि । सुधाकरमते तु णल्यपि श्रेथ-श्रेथ-देभ इति ।  
स्यादेतत् । सर्वमतेषु श्रेथतुः, श्रेथतुः इत्यादि दुर्लभम् । ‘सस्वजे’ इति वत्सं-  
युक्तहलमध्यस्थत्वादिति चेत् सत्यम् । अतएव एत्वाभ्यासलोपावय्यत्र व-  
क्तव्याविति हरदत्तः । अत्र मूलं मृग्यम् । तथा सुधाकरमते श्रेथिथ, न्यासादि-  
मते ‘शश्रन्थिथ’ इति वक्तो माधवस्याप्युक्तौ मूलं मृग्यम् । कित्त्वे विप्र-  
तिपत्तावपि “थलि च सेटि” (अष्टा०सू०६-४-१२१) इत्यस्याप्राप्तेरविशे-  
षात् । तथा नलोपस्यासिद्धत्वादेत्वाप्राप्तौ वचनमिति माधवोक्तिरपि शि-  
थिलमूला । श्रन्थेतिप्राग्भागे संयोगसत्त्वाद् ग्रन्थेरादेशादित्वाच्चैत्वाप्रा-  
प्तेरुद्भूतया नलोपसिद्धत्वासिद्धत्वविचारस्थ काकदन्तपरीक्षाप्रायत्वा-  
दिति दिक् । कौमाराणां तु सर्वमिदं सूत्रारूढम् । तथा च शर्ववर्मणा  
सूत्रितम्-“अनिदनुबन्धानामगुणेनुषङ्गलोपः परोक्षायामिन्धिग्रन्थिग्र-  
न्थिदम्भीनामिति । अस्यैक्यजनमध्यनादेशादेः परोक्षायाम् थलि च  
सेटि तुफलभजत्रप्श्रन्थिग्रन्थिदम्भीनां चेति । अत्र निरनुषङ्गैः साहच-  
र्यात् ‘शश्रन्थिथ’ इत्यादीति दुर्गासिंहः । एवं स्थिते “दम्भेश्व” (का०  
वा०) इति वार्तिकभाष्ययोः सामान्यापेक्षजापकतामाश्रित्य दम्भिप्रभृती-  
नामन्यत्रोक्तं पाणिनीयेऽपीष्टमिति कथञ्चित्समर्थनीयम् ।

मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा (अष्टा०सू०१-२-७) । गुधकुष-  
क्लिशिभ्यः क्त्वो “रलोव्युपधात्” (अष्टा०१-२-२६) इति विकल्पे प्राप्ते  
इतरेभ्यो “न क्त्वा सेट्” (अष्टा०सू०१-२-१८) इति निषेधे प्राप्ते कित्त्वं  
विधीयते । मृडित्वा, मृदित्वा, गुधित्वा, कुषित्वा, क्लिशित्वा, उदित्वा,  
उषित्वा, “वसतिक्षुधोः” (अष्टा०सू०७-२-५२) इतीट् । यजादित्वात्संप्र-  
सारणम् ।

रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छस्सश्च (अष्टा०सू०१-२-८) । एभ्यस्सश्च  
क्त्वा च कितौ स्तः । रुदविदमुषाणां “रलो व्युपधात्” (अष्टा०सू०१-२-  
२६) इति विकल्पे प्राप्ते ग्रहेस्तु विध्यर्थमेव । स्वपिप्रच्छयोस्तु सन्नर्थम् ।  
तावतैव चरितार्थत्वादनृदः क्त्वः कित्त्वविधानं नियामकं स्यादिति न  
दङ्कनीयम् । रुदित्वा, रुदिवति, विदित्वा, विविदिवति, मुषित्वा, मुमु-



पिबति, गृहीत्वा, जिघृक्षति, सुप्त्वा, सुषुप्सति, पृष्ट्वा, पिपृच्छति, कित्वाद् ग्रहादीनां सम्प्रसारणं “किरश्च पञ्चभ्यः” (अष्टा०सू०२-७-५) इति प्रच्छेः सन इट् ।

इको झल् (अष्टा०सू०१-२-९) । इकः परो झलादिः सन् कित्स्यात् । चिचीषति, तुष्टूषति, चिकीर्षति । ननु चित्तुक्कृज्भ्यः सनि कृते गुणं बाधित्वा “अज्झन” (अष्टा०सू०६-४-१६) इति दीर्घोऽस्तु किं कित्त्वेन ? न च ‘पिपिविषति’ इत्यादावपि तथा स्यादिति वाच्यम् “अनुनासिकस्य क्वि” (अष्टा०सू०६-४-१५) इति सूत्राज्झलनुवृत्त्या झलादौ सनि दीर्घविधानात् । न चेह गुणमिव ‘जीप्सति’ इत्यत्र णिलोपमप्यविशेषाद् दीर्घो बाधेत । कित्त्वे तु सति ‘चिचीषति’ इत्यादौ कृतार्थो दीर्घो ‘जीप्सति’ इत्यत्र परत्वात् णिलोपेन बाध्यत इति वाच्यम्, येननाप्राप्तिन्यायेन दीर्घस्य गुणापवादत्वात् । न च पुरस्तादपवादन्यायेन णिलोप एव बाध्य इति भ्रमितव्यम्, उभयापवादतासंभावनायामेव तदवतारात् । इह तु णिलोपेन सह येननाप्राप्तिविरहात् । न च बाध्यसामान्यचिन्तायां णिलोपबाधो दुर्वार इति वाच्यम्, “स्थाशपां जीप्स्यमानः” (अष्टा०सू०१-४-३४) इति निर्देशात् लभ्यानुरोधाच्चेह बाध्यविशेषचिन्ताया एव युक्तत्वात् । न च कुटादौ “गु पुरीषोत्सर्गे” ( तु० १०१४०० ), “ध्रु गतिस्थैर्ययोः” ( तु० प० १४०१ ) इति पाठात् ‘जुगूषति’ ‘दुधूषति’ इत्यत्र कृतार्थो दीर्घः परेण गुणेन बाध्यतेति वाच्यम्, उहनेति वक्तव्ये “अज्झन” इति प्रत्याहारग्रहणस्य निरवकाशत्वात् । न च ‘गमेरिडादेशस्य’ (का०वा०) इति वार्तिकं प्रत्याख्यातुं तन्त्रादिना सम्भवत्यभिचाराभ्यां गमेरच्चा विशेषायेष्यमाणत्वादज्ग्रहणसार्थक्यं शङ्क्यम् । एवं हि ‘उतो दीर्घः’ इत्युक्ता ‘इड्हनोः’ इति सूत्रयेत् । इणिकं-दिशस्यापि ग्रहणमिति पक्षेऽपि ‘इहनोः’ इति ब्रूयात् । हना साहचर्याच्च ‘इ’ धातुरेव ग्रहीष्यते न त्विववर्णन्तिः । यथान्यासपाठेपि हनिसाहचर्याल्लुग्विकरणस्यादेशगमेर्ग्रहणसम्भवाच्च । तस्मादीर्घविधिना गुणबाधात्किं कित्त्वेनेति ? उच्यते, उत्तरार्थमवश्यम् “इको झल्” (अष्टा०सू०१-२-९) इति कर्तव्यम् । योगविभागः किमर्थ इति परमवशिष्यते । तत्राज्ग्रहणसामर्थ्यस्य “जीप्स्यमानः” (अष्टा०सू०१-४-३४) इत्यादेशापकस्य च पर्यालोचनाक्लेशपरिहारार्थं लक्षणैकचक्षुषो बाध्यसामान्यचिन्ताभ्रमं वारयितुं योगविभाग इति निष्कर्षः । वार्तिकं तु यथाश्रुताभिप्रायकम् । तद्यथा--

इकः कित्त्वं गुणो मा भूदीर्घरम्भात्कृते भवेत् ।

अनर्थकं तु ह्रस्वार्थं दीर्घाणां तु प्रसज्यते ॥



सामर्थ्याद्धि पुनर्भाव्यमृदित्वं दीर्घसंश्रयम् ।

दीर्घाणां नाकृते दीर्घे णिलोपस्तु प्रयोजनम् ॥

अस्यार्थः-इक उत्तरस्य सनः कित्त्वं विधीयते गुणो मा भूदित्येवमर्थम् । दूषयति-दीर्घारम्भादिति । गुणो न भविष्यतीति शेषः । ओरम्भवाद्याह-कृते भवेदिति । अयं भावः-“सनिमीमा” (अष्टा०सू०७-४-५४) इत्यत्र मीग्रहणेन मिनोतिमपि ग्राहयित्वा दीर्घः कृतार्थ इति “चिक्कीषति” इत्यादौ कृतेपि दीर्घे गुणः स्यात् । दूषयति-अनर्थकं त्विति “मीनातिमिनोति” (अष्टा०सू०६-१-५०) इत्यात्वे कृते गामादाग्रहणेण्वविशेषान्माग्रहणेनैव मिनोतिमीनात्योरपि सिद्धे मीग्रहणं तत्र मास्तु । तथा च दीर्घविधानं न कृतार्थमिति भावः । ह्रस्वार्थमिति । ह्रस्वेषु दीर्घः प्रवर्त्तताम्, न तु दीर्घेषु; अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात् । ततश्च “बुभूषति” इत्यादौ गुणः प्रसज्यत एवेत्यर्थः । दूषयति-सामर्थ्यादिति । गुणनिवृत्तिरूपप्रयोजनसङ्गावाद्दीर्घाणां दीर्घेर्भाव्यमेव । “मोराजि” (अष्टा०सू०८-३-२५) इतिवदिति भावः । न चैवं दीर्घेण गुणस्येव ऋदित्वस्यापि बाधेः स्यात्तथा च “चिक्कीषति” इति न सिध्येदत आह-ऋदित्वमिति । “यं विधिं प्रति” इति न्यायाद् गुण एव बाध्यो न तु ऋदित्वमित्यर्थः । ननु “तितीर्यति” इत्यादौ तर्हि इत्वं बाध्यताम्, तत्राह-दीर्घाणामिति । इत्वोत्वयोर्हि गुणवृद्धी परत्वाद् बाधिके । ततश्च “अज्झन” (अष्टा०सू०६-४-१६) इति दीर्घेण गुणबाधे सत्येवेत्वं लभ्यं न तु ततः प्राक् । एवं च यस्य तु विधेरित्यंशो ह्रस्व इव दीर्घेष्वविशिष्ट इति भावः । एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह-णिलोपस्त्विति ।

हलन्ताच्च (अष्टा०सू०१-२-१०) । कर्मधारयोऽयम् । अन्तशब्दः समीपे परभूते वर्तमानो विशेषणमपि निपातनाच्च पूर्वं निपातितः । इक इति पञ्चम्यन्तमपीह षष्ठ्या विपरिणम्यते तत्सापेक्षोऽप्यन्तशब्दो नित्यसापेक्षत्वात्समस्यते । इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन कित्स्यात् । विभित्सति । इकः किं ? यियक्षते । झल् किम् ? विवधिषते । कथं ‘धित्सति’ इति ? हल्ग्रहणस्य जातिपरत्वात्सिद्धमित्युपपादितं “निपात एकाङ्” (अष्टा०सू०१-१-१४) इति सूत्रं ।

लिङ्सिच्चावत्मनेपदेषु (अष्टा०सू०१-२-११) । इक्समीपाद्धलः पदौ झलादी लिङ् तङ्परःसिच्चेत्येतौ कितौ स्तः । भित्सीष्ट, अभित्त । इकः किम् ? यक्षीष्ट, अयष्ट । सम्प्रसारणं मा भूत् । आत्मनेपदेष्विति किम् ? अस्माक्षीत्, अद्राक्षीत् । अकितौत्युक्तेरम् न स्यात् । सिच एवेदं विशेषणं नतु लिङोऽसम्भवात्, झलनुवृत्त्यैव लिङः परस्मैपदस्य व्यावर्त्तितत्वाच्च ।



हलः किम् ? चेपीष्ट, अचेष्ट । शल् किम् ? वत्तिपीष्ट, अवत्तिष्ट ।

उश्च (अष्टा०सू०१-२-१२) । ऋवर्णात्परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तडि । कृषोष्ट, अकृत । झलादौ किम् ? वरिषीष्ट, अवरिष्ट । “लिङ्सिचोः” (अष्टा०सू०७-२-४२) इतीट् । तडि किम् ? अकार्षात् । ऋ इति वर्णग्रहणं व्याप्तिन्यायात् ।

वा गमः (अष्टा०सू०१-२-१३) । गमः परौ झलादी लिङ्सिचौ वा कितौ स्तः । सङ्गसीष्ट, सङ्गसीष्ट । समगत, समगंस्त । कित्त्वपक्षे “अनुदात्तोपदेशवनति” (अष्टा०सू०६-४-३७) इत्यादिनाऽनुनासिकलोपः ।

हनः सिच् (अष्टा०सू०१-२-१४) । हन्तेः परः सिच् कित्स्यात् । आहत, आहसाताम्, आहसत । सिचः कित्वादनुनासिकलोपः । यद्यपि सिजन्तस्याङ्गस्यात्मनेपदं डित्तरमस्तीति “अनिदिताम्” (अष्टा०सू०६-४-२४) इत्येव सिद्धं तथाऽपि सिजन्तस्योपधालोपो नेति ज्ञापनार्थमिदम् । तेन ‘अमंस्त’ इत्यादि सिद्धम् । न च “अनिदिताम्” (अष्टा०सू०६-४-२४) इति पर्युदासः शङ्क्यः, सिच इकारस्योच्चारणार्थत्वात् । अन्यथा नुमापत्तेः । न च धातुग्रहणेन तद्व्युदासः । “धातुग्रहणमुपदेशे नुम्प्रवृत्त्यर्थम्” इति कुण्डा, हुण्डा इत्यादिसिद्धये भाष्य एव वक्ष्यमाणत्वात् । न च तासेर्व्यावृत्तये तत्, तत्रापीकारस्योच्चारणार्थत्वात् । न चैवं ‘मन्ता’ ‘हन्ता’ इत्यादावात्मनेपदे उपधालोपापत्तिः । आभीयस्य तासेष्टिलोपस्यासिद्धत्वात् । “आभात्” (अष्टा०सू०६-४-२२) सचप्रत्याख्यानपक्षे तु विकरणप्रयुक्तमुपधात्वमाश्रित्य लोपो नेति सामान्यापेक्षं ज्ञापकमस्तु । अङ्गवृत्तपरिभाषया वा ‘मन्ता’ ‘हन्ता’ इति साध्यताम् । ननु ‘आहत’ इत्यत्रातो लो(१)पं व्यावर्तयितुं समानाश्रयत्वप्रयुक्ताऽसिद्धताऽपेक्ष्यते, सा च सिचः कित्वं विना न निर्वहतीति कथं ज्ञापकतेति चेत् ? न, आर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तमिति व्याख्यानादेव लोपाप्रवृत्तेः । जयादित्यस्तु सिचनास्योरिदित्करणमनुनासिकलोपप्रतिषेधार्थमित्याह । तन्मते धातुग्रहणस्य तद्व्यावृत्त्या कृतार्थत्वात् ‘नुम्विधावुपदेशिवद्वचनं प्रत्ययसिद्ध्यर्थम्’ इति वचनमेव शरणांकरणीयमिति दिक् । यद्यपीह “लिङ्सिचौ” (अष्टा०सू०१-२-११) इत्यनुवृत्त्या सिद्धं तथाप्युत्तरार्थमवश्यं कर्तव्यं सिजग्रहणं स्पष्टत्वार्थमिहैव कृतम् । अन्यथा हि लिङि वधादेशो नित्यः, ‘घानिपीष्ट’ इति चिण्वदिष्टि “स्थानिवत्” (अष्टा०सू०१-२-५६) सूत्रोक्तरीत्या वधादेशाभावेऽपि अझलादित्वान्न कित्त्वमित्यादि व्युत्पादनीयं स्यात् ।

(१) “अतो लोपः” ( अष्टा०सू०६-४-४८ ) इत्येतमित्यर्थः ।

यमो गन्धने (अष्टा०सू०१-२-१५) । सूचनार्थाद्यमेः सिच् किरपात् । उदायत, उदायसाताम्, उदायसत । धातूनामनेकार्थत्वात्सूचनेऽत्र यमि वर्त्तते । तच्च परदोषाविष्करणम् । “आङो यमहनः” (अष्टा०सू०१-३-२८) इत्यात्मनेपदं, धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहादकर्मकत्वात् । सिचः कित्वादनुनासिकलोपः । गन्धने किम् ? उदायस्त पादम् । आकृष्टवानित्यर्थः । स्वाङ्गकर्मकत्वात्तङ् । उदायस्त कृपाद्रज्जुम् । उद्धृतवानित्यर्थः । सकर्मकत्वेऽपि “समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे” (अष्टा०सू०१-३-७५) इत्यात्मनेपदम् ।

विभाषोपयमने (अष्टा०सू०१-२-१६) । यमेः सिच् किद्वा स्याद्विवाहे । रामः सीतामुपायत, उपायस्त वा । उदबोद्धेत्यर्थः । “उपाद्यमः स्वकरणे” (अष्टा०सू०१-३-५६) इति तङ् । “गन्धनाङ्गे तुपयमने पूर्वविप्रतिषेधेन नित्यं कित्त्वम्” इति “नवेतिविभाषा” (अष्टा०सू०१-१-४४) इति सूत्रे भाष्ये स्थितम् ।

स्थाचोरेच्च (अष्टा०सू०१-२-१७) । अनयीनिदादेशः स्यात्सिचश्च कित्स्यात् । उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत । ‘उपान्मन्त्रकरणे’ (अष्टा०सू०१-३-२०) “अकर्मकाच्च” (अष्टा०सू०१-३-२६) इति तङ् । घोः—अदित, अधित । घुस्थोरितिह वक्तुं युक्तम् । यद्यपि जघादित्येन “वा गमः” (अष्टा०सू०१-२-१३) इत्यारभ्य पञ्चसूत्र्यामात्मनेपदेष्वित्यनुवर्तितं तथापि निष्फलत्वादुपेक्ष्यम् । तथाहि—गमेः परस्मैपदे सिज्नास्ति, अङा वाधात् । लिङ् तु न झलादिः । न चात्मनेपदमेवानुवर्त्य झलग्रहणं त्याज्यमिति वाच्यम्, उत्तरसूत्रस्य ‘अग्रानिपातात्’ इति चिण्वदिटि अतिव्याप्यापत्तेः । हन्तेस्तु परस्मैपदे वधादेशो नित्यः । यमेस्तु “यमरम” (अष्टा०सू०७-२-७३-) इतीट्सकोः सतोर्भलादिः सिच् परस्मैपदे नास्ति । उपयमे तु नित्यमात्मनेपदम् । स्थाचोः परस्मैपदे सिचो लुक् । एवं स्थिते “हनः सिच्” (अष्टा०सू०१-२-१४) इति सूत्रे यदुक्तं वृत्तिकृता आत्मनेपदग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्तत इति । तदप्यापातरमणीयमेव । तस्माद्यथाव्याख्यानमेव साधु । स्यादेतत्—भाष्यमानस्य सवर्णाग्राहकत्वादिति तपरकणं व्यर्थम् सत्यम् । इच्चेत्युक्तंपि लाघवे विशेषाभावादिच्चेत्युक्तमिति तत्त्वम् भाष्यमानाऽपि क्वचित्सवर्णान् गृह्णातीति कुशकाशावलम्बेन वासिकम् ।

इच्च कस्य तकारेत्वं दीर्घो मा भूद्वतेऽपि सः ।

अनन्तरे प्लुतो मा भूत् प्लुतश्च विपर्ये स्मृतः ॥ इति ॥

अस्यार्थः—इच्चेति तकारेत्वं कस्य चिन् सिद्धये इति प्रश्नः । हेतो-



रपि सामान्यतः सम्बन्धित्वेनैव विवक्षायां षष्ठी, अन्यथा “हेता” (अष्टा० सू० २-३-२३) इति तृतीयो स्यात् । अत्र तकारस्येत्योक्तिरापातत इत्युक्तम् “एओङ्” (मा० सू० ३) सूत्रे । यद्वा तकारमेतीति तकारेत् । तपर इति व्याख्येयम् । तथा च भाष्यम्—“कस्य हेतोरिकारस्तपरः क्रियते” इति । ‘अभूभ्याम्’ इत्यादाविव भाव्यमानोप्यान्तरतम्यादीर्घो मा भूदित्युत्तरम् । कृतेऽपीति । इच्छेयंशादृतेपि “स्थाघ्नोः” (अष्टा० सू० १-२-१७) इति कित्त्वे सति “घुमास्था” (अष्टा० सू० ६-४-६६) इतीत्वेन सिद्धे विधानसामर्थ्यादनन्तरतमोऽपि ह्रस्वः सिद्धस्तत्किं तपरणेति पुनः प्रश्नः । अनन्तरे इति । असदृशे आदेशे क्रियमाणे ह्रस्व इव प्लुतोपि स्यात्स मा भूदित्यर्थः । प्लुतश्चेति । विषयविशेषे त्राक्यस्य टेरित्यधिकृत्य हि प्लुतो वक्ष्यते । अत एव “कुरुनगमन्न” इत्यादौ स्मृतः, न तु “आस्थित” इत्यादौ, अटित्वात् । तथा चेष्टापत्तिर्न कार्येति तत्परत्वं समर्थितम् । प्राञ्चस्तु अनन्तरेऽविद्यमानेपि विशेषे “घुमास्था” (अष्टा० सू० ६-४-६६) इतीत्वेन सिद्धेतीति यावत् । प्लुतो मा भूदित्येतदर्थं दीर्घः स्यात् “मोराजि” (अष्टा० सू० ८-३-२५) इतिवत् । अस्त्वेवमिति चेत्, न, प्रश्नाख्यानादिरूपे विषये प्लुतस्येप्यमाणत्वात् । तदेवं स्थलान्तरे भिन्नकालनिवृत्त्यर्थमपि तत्परत्वमिह दीर्घनिवृत्तिद्वारा प्लुतसिद्ध्यर्थं पर्यवस्यतीति व्याचष्टुः । अपरे तु यद्यनेन प्लुतो विधीयते तर्हि यत्राष्टमिकस्य विषयस्तत्राप्यनेनैव स्यात् तस्यासिद्धत्वात् । ततश्च पक्षेऽनुवाददोषः स्यात् । अतो ह्रस्व एव भाविष्यतीति तत्परकरणप्रत्याख्यानपरश्चतुर्थवरण इति व्याचष्टुः । एतच्च मतद्वयमत्ययुक्तम् । अनन्त्यस्यापीत्यादीनां टिसंज्ञा विरहादिहाप्रवृत्तेः । कैयटाऽपि मतद्वयखाण्डनपरतयैव नेयः । न्यासहरदत्तादयस्तु आष्टमिकग्रन्थैर्व्यादिभिश्च विरोधादुपेक्ष्यः । भाष्यं त्वस्मदुक्तव्याख्यानुगुणमेव । यदा विषयस्तदैव प्लुतेन भवितव्यमिति योजनया नेह प्लुतस्य विषयोऽस्तीति ध्वनितत्वादिति दिक् ॥

न क्त्वा सेट् (अष्टा० सू० १-२-१८) सेट् क्त्वा कित् स्यात् । देवि-  
त्वा । सेट् किम् ? इत्वा । क्त्वा किम् ? निगृहीतिः । अत्र वार्तिकम्—

नसेडिति कृतेऽकित्त्वे निष्ठायामवधारणात् ।

ज्ञापकान्न परोक्षायां सनि श्लघ्नहणं विदुः ।

इत्वं कित्सन्नियोगेन रेण तुल्यं सुधीवनि ।

वस्वर्य किदतोदेशाद् गृहीतिः क्त्वा च विग्रहात् ॥

अस्यार्थः—पूर्वार्द्धमेको ग्रन्थः । तत्रोत्तरार्धाभित्यपकृत्यते । क्त्वा-



ग्रहणं त्यक्त्वा नसेडित्येतावतापि योगेनाकिस्वे कृते 'गुधितः' इत्यादौ निष्ठायां नाकित्वम् । कुतः ? । अवधारणात् । "निष्ठाशीङ्" (अष्टा०सू० १-२-१९) इत्यनेन, शीङादिभ्य एव निष्ठा न किदिति नियमादित्यर्थः । विपरीतनियमस्तु लक्ष्यानुरोधान्न व्याख्यास्यते । न चैवं लिटि प्रतिषेधात् 'जग्मिव' इत्यादावुपधालोपो न स्यादत आह—ज्ञापकादिति । किं तत् ? तत्राह—सनीति । 'शिशयिषते' इत्यत्र कित्त्वं वारयितुं क्रियमाणम् "इको झल्" (अष्टा०सू० १-२-९) इति झलग्रहणं ज्ञापयति—“आतिदेशिकस्य कित्वस्य नायं निषेधः” इति । ननूत्तरार्थं झलग्रहणं स्यात् नेत्याह—इत्वमिति । 'उपास्थायिषतां हरिहरौ भक्तेन' इत्यत्र अस्था स आताम् इति स्थिते इत्वम्प्राप्तश्चिण्वद्भावश्च । परत्वाच्चिण्वद्भावे कृते युक् च प्राप्त इद्विधिश्च । अपवादत्वाद्युक्ति कृते यकारस्येत्प्रसङ्गः । तं वारयितुं झलग्रहणमिति ज्ञापकभङ्गवादिनो मतम्, तन्न, न सेडिति सिचोपि कित्वे निषिद्धे तत्सन्नियोगशिष्टतया इत्त्वस्याप्रवृत्तेः । अत्र द्रष्टान्तमाह—रेणेति । शोभना धीवानोस्यां 'सुधीव' इत्यत्र "अनो बहुव्रीहेः" (अष्टा०सू० ४-१-१२) इति ङीपो निषेधे "वनोरच" (अष्टा०सू० ४-१-७) इति रेफोपि न भवति तथेत्यर्थः । भाष्ये त्वभ्युपेत्यापि समाहितम् "इस्वे कृतेऽपि वृद्धिर्भविष्यात्" इति । युका हि आकारस्य वृद्धिर्वाध्यते न त्विकारस्यापीति भावः । 'जग्मिवान्' इत्यत्र कसोः कित्वनिषेधं वारयितुं त्काग्रह इति शङ्कते—वस्वर्थमिति । दूषयति—किदितिदेशादिति । औपदेशिकस्य निषेधेऽप्यातिदेशिकेन सिद्धम् । तदनिषेधस्य ज्ञापितत्वादिति भावः । स्यादेतत्—संयोगान्तेष्वातिदेशिककित्वाभावादौपदेशिकमेव शरणम् । अञ्जे 'आजिवान्' इति यथा । अत्राहुः—आनुपूर्व्यात्सिद्धम् । नलोपे कृते द्विर्वचने एकादेशे च "वस्वेकाज्" (अष्टा०सू० ७-२-६७) इतीद् । कृतद्विर्वचनानामेकाचामिति सिद्धान्तात् । न चेदानीं कित्वप्रतिषेधः, उपजीव्यविरोधात् । कित्वे हि प्रतिषिद्धे नलोपनिवृत्तौ द्विहलत्वान्नुटि एकाचत्वाभावादिडेव नावतिष्ठेत । किञ्च कसोश्छान्दसत्वात्सर्वधातुकत्वे "सर्वधातुकमपित्" (अष्टा०सू० १-२-४) इति डित्वात्सिद्धम् । एवं स्थिते सिद्धान्तमाह—गृहोतिरिति । किञ्चिवृत्त्यर्थं क्त्वाग्रहणमित्यर्थः । तितुत्रेष्वग्रहादीनामितीद् । कित्वात्संप्रसारणम् । एवं "क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः" (भ्वा०प० १८६) निकुञ्चितिः, कित्वान्नलोपः । उपस्तिहितिः, कित्वान्न गुणः । इदानीं क्त्वाग्रहणं प्रत्याचष्टे—क्त्वाचेति । विग्रहादिति । योगविभागादित्यर्थः । अयं भावः—न सेपिनिष्ठाशीङित्यादित्रिसर्गं पठित्वा "पूङः क्त्वाच" (अष्टा०सू० १-२-२२) इत्यत्र योगो



विभज्यते । पूङः परा सेणिनष्ठा किन्न स्यात् । ततः त्का च सेट् किन्नेत्यनुवतते पूङ इति निवृत्तम् । एवं चैकं क्त्वाग्रहणं प्रत्याख्यातम् । योगविभागस्तु पूर्वमेकसूत्रेण सह निर्मातव्यः ।

निष्ठाशीङ्स्विदिमिदिध्विदिधृषः [अष्टा०सू०१-२-१९] । एभ्यः परा सेणिनष्ठाकिन्न स्यात् । शयितः, शयितवान् । अनुबन्धनिर्देशो यङ्लुङ्-निवृत्त्यर्थः । शेषितः, शेषितवान् । “एरनेकाचः” (अष्टा०सू०६-४-२२) इति यण् । जिष्विदा स्नेहनमोचनयोः (भ्वा०आ०७४४) । भ्वादिः । प्रस्वेदितः, प्रस्वेदितवान् । यस्तु “ष्विदा गात्रप्रक्षरणे” (दि०प०११८८) इति दिवादिरजित् स नेह गृह्यते । जिद्धिः साहचर्यात् । “जिमिडा स्नेहने” (भ्वा०आ०७४३) । प्रमेदितः, प्रमेदितवान् । “जिष्विदा स्नेहनमोचनयोः” (दि०प०१२४५) इति दिवादिर्गृह्यते न तु “जिष्विदा अव्यक्ते शब्दे” (भ्वा०प०९७८) इति भ्वादिरपि, मिदिना साहचर्यादिति हरदत्तस्तत्त्वचिन्त्यम् । भ्वादिष्वपि मिदेः पठ्यमानत्वात् । तस्मादविशेषादुभयोग्रहणं न्याय्यम् । प्रक्ष्वेदितः, प्रक्ष्वेदितवान् । प्रधर्षितः प्रधर्षितवान् । सेट् किम् ? स्विन्नः, स्विन्नवान् । “आदितश्च” (अष्टा०सू०७-२-१६) इतोणनिषेधः । “विभाषा भावादिकर्मणोः” इति पक्षेऽभ्यनुज्ञायते । स कित्त्वप्रतिषेधस्य विषयः ।

मृषस्तितिक्षायाम् [अष्टा०सू०१-२-२०] । सेणिनष्ठा किन्न स्यात् । मर्षितः, मर्षितवान् । क्षमायां किम् ? अपमृषितं वाक्यम् । अविस्मृष्टमित्यर्थः । तितिक्षाग्रहणं ज्ञापकं भीमसेनादिकृतोर्थाभिनिर्देश उदाहरणमात्रं न तु परिसंख्येति ।

उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् [अष्टा०सू०१-२-२१] । उकारोपधाद्भातोः परा भावादिकर्मणोर्विहिता सेण् निष्ठा वा किन्न स्यात् । द्युतितम्, द्योतितम् । मुदितं, मोदितं साधुना । प्रद्युतितः, प्रद्योतितः । प्रमुदितः, प्रमोदितस्साधुः । उदुपधात्किम् ? कटितम्, खटितम् । भावेत्यादि किम् ? रुचितङ्कार्णापणम् । सेट् किम् ? कृष्टम् । “उदुपच्छिपः” इति भाष्यम् । शब्धिकरणेभ्य एवेत्यत इत्यर्थः । नेह-“गुधपरिवेषणे” (दि०प०११२०) दिवादिः । गुधितम् ।

पूङः क्त्वा च [अष्टा०सू०१-२-२२] । पूङः परे सेट्क्त्वानिष्ठे कितौ न स्तः । नित्योयं योगः विभाषयोर्मध्ये पाठात् । पवितः, पवितवान्, पवित्वा । “क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः” (अष्टा०सू०७-२-५०) “पूङश्च” (अष्टा०सू०७-२-५१) इतीट् । “नक्त्वासेट्” (अष्टा०सू०१-२-१८) इति सिद्धे क्त्वाग्रहणं प्राशुक्तीत्यायोगविभागेन तत्प्रत्याख्यानार्थम् । सन्नरीत्या



तत्तरार्थम् । तथा च भारद्वाजीयाः पठन्ति “नित्यमकिस्त्वमिडाद्योः क्त्वा-  
ग्रहणमुत्तरार्थम्” इति । कात्यायनस्तु, इह सेडिति निवर्त्य विकल्पं चा-  
नुवर्त्य अनिट एव क्त्वं विकल्प्य क्त्वाभावे ‘पवितः’ पवित्वा’ इत्या-  
दिसिद्धौ क्त्वापक्षे “श्रुकः किति” (अष्टा०सू०७-४-११) इतीणनिषेधात्  
‘पूतः’ ‘पूतवान्’ इत्यादिसिद्धौ सत्यां “पूडश्च” (अष्टा०सू०७-२-११) इति  
सत्रं प्रत्याचक्ष्यौ उत्तरसत्रे वाग्रहणं च । किन्त्वस्मिन्पक्षे उत्तरत्र सेडग्रह-  
णं मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तनीयमिति क्लेशः । पूर्वकृतं क्त्वाप्रत्याख्यानं  
त्विदानीं न सङ्गच्छते “मृडमृद” (अष्टा०सू०१-२-७) इति ज्ञापकाद्वा  
न क्त्वासेडित्यर्थः साधनीयः । न च स्वपिप्रच्छिग्रहणादित्कस्याप्य-  
क्त्वं स्यादिति वाच्यम् तस्य सनर्थत्वात् । अन्यथा क्त्वः क्त्वास्या  
वैयर्थ्यापत्तेश्चेति दिक् । इदं त्वत्रधेयम् । ‘पूडः क्त्वाच’ (अष्टा०सू०१-  
२-२२) इत्यत्र सानुबन्धनिर्देशः स्पष्टार्थो न तु पूडो निवृत्त्यर्थः । तत्रेदो  
दुर्लभत्वात् । इड्विधौ पूड एव निर्दिष्टत्वात् । नापि यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थः ।  
इड्विधावनुबन्धनिर्देशेन यङ्लुकि पूडोऽपोडभावात् । यत्तु यङ्लुक्याधेधा  
तुकस्येडितोडस्येव । न च “श्रुकः किति” (अष्टा०सू०७-४-११) इतीणनि-  
षेधः । तत्रैकाच इत्यनुवर्तनात् । उक्तं हि यङ्विधौ वार्त्तिककृता, एका-  
चश्चेदुपग्रहादिति । एवं यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थमनुबन्धोच्चारणम् इति मतम् ।  
अस्मिन् पक्षे पोपुवितः, पोपुवितवान् इति निष्ठायां भवति क्त्वायां तु गु-  
णे ‘पोपवित्वा’ इत्येव । ‘न क्त्वासेट्’ (अष्टा०सू०१-२-१८) इति क्त्वा-  
प्रतिषेधः । न च क्त्वाग्रहणसामर्थ्यात्तस्यापि यङ्लुकि प्रतिषेधः । तस्यो-  
त्तरार्थत्वात् । अनुबन्धनिर्देशस्य च निष्ठायां चरितार्थत्वात् । अत एव  
“क्त्वा च विग्रहात्” (का०वा०) इति वार्त्तिकं सङ्गच्छते । इह किञ्चित्  
अपो इतीति न्यायेन प्रकृत्युपयोगे हि तद्विरुध्येत । अत एव “क्त्वा-  
ग्रहणमुत्तरार्थम्” इति भारद्वाजीयांकिरपि सङ्गच्छते इति दिक् ।

नोपधात्थफान्ताद्वा [अष्टा०सू०१-२-२३] । निष्ठेति निवृत्तं चानुक-  
ष्टत्वात् । न कारोपधात् थान्तात् फान्ताच्च परः सेट् क्त्वा किञ्च स्या-  
द्वा । ग्रथित्वा, ग्रन्थित्वा । गुफित्वा, गुम्फित्वा । नोपधात् किम् ? “रि-  
फ कथनादौ” (तु०प०१३०७) रेफित्वा । इह “रलो व्युदधात्” (अष्टा०  
सू०१-२-२६) इति विकल्पोपि न प्रवर्तते । नोपग्रहणसामर्थ्यात् । ननु  
“तृफ तृम्फ हि (१) सायाम्” । (तु०प०१३०८-९) अत्राद्य ऋकारापधत्वात्

(१) हिसाङ्गमिति चिन्त्यम् । तृप्तावित्यस्य धातुपाठदर्शनात् । हिसा-  
यामिति तु तृफ तृम्फ धात्वोर्वर्ततेऽर्थ इति तावेवात्र वा बोध्यौ ।



नोपधग्रहणस्य व्यावर्त्योस्त्विति चेत्, मैत्रम्, अर्पित्वा, तृप्तिवा, तृप्ति-  
त्वा, इति त्रैशब्दस्य नोपधग्रहणसत्त्वात्सत्त्वयोरविशिष्टत्वात् । सति हि त-  
स्मिन् 'न क्त्वा सेट्' (अष्टा०सू०१-२-१८) इति प्रवृत्ते ऋदुपधस्य 'अर्पि-  
त्वा' इति भवति । नोपधस्य त्वस्मिन् विकल्पे तृप्तिवा, तृप्तित्वा,  
इति । असत्यपि नोपधग्रहणे सर्वत्र प्रकृतविकल्पप्रवृत्तौ सत्यां तदेव  
रूपत्रयम् ।

वञ्चिलुञ्च्युतश्च [अष्टा०सू०१-२-२४] । एभ्यः सेट् क्त्वा न कित्  
स्याद्वा । "वञ्चु गतौ" (भ्वा०प०१८९) भ्वादिः । 'वञ्चु प्रलम्भने'  
(चु०आ०१७०४) चुरादिः सोऽपि गृह्यते चुरादीनामनित्यण्यन्तत्वात् ।  
वञ्चित्वा, वञ्चित्वा । "उदितोवा" (अष्टा०सू०७-३-५६) इति वेट् । इड-  
भावे तु कित्त्वमस्त्येव । वक्त्वा । "लुञ्च अपनयने" (भ्वा०प०१८७) ।  
लुञ्चित्वा, लुञ्चित्वा । "ऋतेरीयङ्" [अष्टा०सू०१-२-२९] आर्धधातुके  
विकल्पितः । तदभावे ऋतित्वा, अतित्वा । सूत्रे उच्चारणार्थ इकारो  
वञ्चिलुञ्च्योति न त्विक् नलोपप्रसङ्गात् ऋदिति धातुरेव गृह्यते । न  
तु ऋदन्ताः पूर्वसूत्रेन्तग्रहणेनेह प्रकरणे यत्नं विना तदन्तविधिर्नेति  
स्थापितत्वात् ।

तृषमृषिकृषेः काश्यपस्य । (अष्टा०सू०१-२-२५) एभ्यः सेट् क्त्वा  
किद्वा स्यात् । काश्यपग्रहणं पूजार्थं, वेतिपक्रमात् । "न क्त्वा सेट्"  
(अष्टा०सू०१-२-१८) इति निषेधे प्राप्ते विकल्पोयम् । "तृष पिपासायाम्"  
(दि०प०१२२९) तृषित्वा, तृषित्वा । "मृष तितिक्षायाम्" (दि०उ०११६४)  
मृषित्वा, मृषित्वा । "कृश तनूकरणे" (दि०प०१२२८) कृशित्वा, क-  
शित्वा । न्यासग्रन्थे तु "कृष विलेखने" (भ्वा०प०९९०) इति क्वाचि-  
त्कः प्रमादपाठः । अनिट्त्वात् ।

रलो व्युपधाद्वलादेः सञ्च (अष्टा०सू०१-२-२६) उञ्च इञ्च घी ते  
उपधे यस्य तस्माद्वलादेरलन्तात् परा क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः ।  
द्युतिवा, द्योतिवा, द्युतिषते, द्योतिषते । "द्युतिस्वाप्योः" (अष्टा०  
सू०७-४-६७) इति सम्प्रसारणम् । रलः किम् ? देवित्वा, दिदेविषति ।  
व्युपधात् किम् ? वर्तित्वा, विवर्तिषते । हलादेः किम् ? एषित्वा, एषिषि-  
षति । इह नित्यमपि द्वित्वं गुणेन बाध्यते ओणेर्द्धित्करणेन सामान्यत  
उपधाकार्यस्य द्वित्वात्प्राबल्यज्ञापनात् । सेट् किम् ? भुक्त्वा, बुभुक्षते ।  
आदिग्रहणं स्पष्टार्थम् । व्युपधस्य हलन्तत्वाव्यभिचारात् ।

ऊकालोऽङ्गस्वदीर्घप्लुतः । [अष्टा०सू०१-२-२७] ह्रस्वदीर्घप्लुत इति  
समाहारद्वन्द्वः । सौत्रं पुंस्त्वम् । ऊ इति प्रधाणां प्रश्लेषेण निर्देशः ।

तत्र न तावदन्ते मात्रिकः । “विभाषा पृष्ठप्रतिवचनेहेः” (अष्टा०सू०८-२-२३) इति हेः प्लुतविधानात् । नापि मध्ये “सुपि च” [अष्टा०सू० ७-३-१०२] इति दीर्घविधानात् । द्विमात्रिकस्तु नान्ते । “ओमभ्यादाने” [अष्टा०सू०८-२-८७] इति प्लुतविधानात् परिशेषादेकमात्रद्विमात्रत्रिमात्राणां क्रमः सिद्धः । यत्तु—

“चित्त्वात्पूर्वम्भवेद् ह्रस्वः प्लुतोन्ते सन्धितो मतः” ।

इति मैत्रेयः । तद्भाष्यादर्शनप्रयुक्तम् । यतः व्यत्यासे एकमात्रस्य ह्रस्वत्वं त्रिमात्रस्य प्लुतत्वमित्येव दुर्लभमिति भगवतैव दूषितम् । “ईचाक्रवर्मणस्य” (अष्टा०सू०६-१-१३१) इत्यत्रेवेहापि सूत्रे केचिद् ई इति प्लुतद्योतिकां लिपिं लिखन्ति । तत्प्रामादिकं, दीर्घस्यैवौचित्यात् । तदयमर्थः—उश्च ऊश्च ऊ ३ श्र वः कालः परिच्छेदको यस्य सोच्छ्रमाद्भ्रस्वादिसंज्ञः स्यात् । संज्ञाप्रदेशः—“ह्रस्वस्य गुणः” (अष्टा०सू०७-३-१०८) हे हरे “दीर्घोऽकितः” (अष्टा०सू०७-४-८३) पापच्यते । “वाक्यस्य टेः प्लुतः” (अष्टा०सू०८-२-८२) एहि कृष्ण ३ । स्यादेतत्—उका-लोच्छ्रस्व इति वाक्यार्थे ह्रस्वेनोकारेणाण्त्वात्सवर्णग्रहः स्यात्, मैवम्, एवं सति ह्रस्वसंज्ञां न विदध्यात्, अचसंज्ञयैव सिद्धेः । तस्मात्संज्ञारम्भसामर्थ्यान्नेह सवर्णग्रहः । महासंज्ञाया अन्वर्थत्वाच्च कालशब्दसामर्थ्याच्च । “उरन्” इत्युक्तेऽपि यथा—श्रुतेऽङ्ग्रहणं व्यर्थम्, उकारस्यात्त्वाव्यभिचारात् । तेन सामर्थ्यादुसदृश इत्यर्थः । सादृश्यं च न स्थानतः, असम्भवात् । न यत्नतः, अव्यभिचारात् । परिशेषात्कालत एवेति सिद्धे कालग्रहणं गृह्यमाणेनैव परिच्छेदलाभार्थम् । “ह्रस्वनद्यापः” (अष्टा०सू०७-१-५४) इत्यादिलिङ्गाच्च । यदि हि लुप्तसंज्ञानां लोपसंज्ञेव दीर्घप्लुतसंज्ञयोर्ह्रस्वसंज्ञा व्यापिका तर्हि किं नद्याव्ग्रहणेन । न च निष्मार्थः सः । विध्यर्थत्वे लाघवादिति दिक् । यद्वा ‘अशब्दसंज्ञा’ इत्यनुवर्त्य समस्या विपरीणमस्य शब्दसंज्ञायां सवर्णग्रहणं नेति व्याख्येयम् । न चैवमुदात्तादिसंज्ञाविधावच्छब्दो न सवर्णं गृहीयादिति वाच्यम् । “वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः” (अष्टा०सू०८-२-८२) इति लिङ्गेनाशब्दसंज्ञायामित्यस्यानित्यत्वात् ।

अचश्च (अष्टा०सू०१-२-२८) । यत्र ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति शब्दैरज्विधीयते तत्राच इति पदं पूरणीयम् । “इको गुणवृद्धो” (अष्टा०सू०१-१-३) इत्यनेन तुल्यमेतत् । न त्वलोन्यस्य शेषोपवादो वा । तेन “शमामष्टानां दीर्घः” (अष्टा०सू०७-३-७४) इत्यत्र शमादिभिरचो विशेषणात् ‘शाम्यति’ इत्यादि सिद्धम् । “ह्रस्वो नपुंसके” (अष्टा०सू०१-२-४७)



इत्यत्र त्वजन्तस्य प्रातिपदिकस्येति व्याख्यानात्, अलोक्यस्य ह्रस्वः । अतिरि, अतिनु। नेह-सुवाक् ब्राह्मणकुलम् । “वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः” (अष्टा०सू०८-२-८२) अत्र टेः इति व्याख्यानात् । अग्निचित्, सोमसुत् । अजित्यनुवृत्तिसामर्थ्यात्स्वसंज्ञया विधाने इति लभ्यते । नेह-द्यौः, पन्थाः, सः ।

उच्चैरुदात्तः [अष्टा०सू०१-२-२९] तात्वादिषु भागवत्सु स्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते तत्र ऊर्ध्वभागे निष्पन्नोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात् । प्रदेशाः “आद्युदात्तश्च” (अष्टा०सू०३-१-३) इत्येवमादयः ।

नीचैरनुदात्तः (अष्टा०सू०१-२-३०) । स्पष्टम् । प्रदेशा “अनुदात्तौ सुप्पितौ” (अष्टा०सू०३-१-४) इत्यादयः ।

समाहारः स्वरितः [अष्टा०सू०१-२-३१] । समाहृतिः समाहारः । उदात्तत्वानुदात्तत्वयोरुज्झर्मयोर्मेलनम्, तद्वान् स्वरितसंज्ञः स्यात् । सूत्रे अर्शआद्यच् ।

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् [अष्टा०सू०१-२-३२] । अर्द्धह्रस्वशब्देना-र्द्धमात्रालक्ष्यते । प्रकृतत्वादेव सिद्धे तस्येति वचनेन दीर्घस्यापि स्वरितस्य ग्रहणात् । यद्वा-ह्रस्वग्रहणमविवक्षितम् । तेन स्वरितस्यादौ अर्द्धमात्रा अर्द्धं वा उदात्तं बोध्यम् । शिष्टं तु अनुदात्तं परिशेषात् । क्वचित्तु तस्य वाचनिकी एकश्रुतिः । तथा च बहुवृचप्रातिशाख्यम् ।

एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः ।

तस्यादात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्द्धमेव वा ॥

अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिर्न चेत् ।

उदात्तं वोच्यते किञ्चित् स्वरितं वाक्षरं परम् ॥ इति ।

पूर्वयोः उदात्तानुदात्तयोः । तस्य स्वरितस्य । अर्द्धमात्रा, उदात्तादुदात्ततरा स्वतन्त्रोदात्तादुच्चतरेत्यर्थः । अर्द्धमेव वेति द्वितीयव्याख्याभिप्रायम् । दीर्घप्लुतयोरनुरोधेनेदम् । सः शेषः । उदात्तश्रुतिः स्यात् । किमविशेषेण ? नेत्याह-नचेदिति । उदात्तस्वरितपरं विहायेत्यर्थः । अत्रायं निष्कर्षः—स्वरितो द्विधा-प्राकृतोऽप्राकृतश्च । तत्राद्यः “उदात्तादनुदात्तस्य” (अष्टा०सू०८-४-६६) इति विहितः । तच्छेषस्यैकश्रुतिनियता । अग्निमीळं, प्रत्यग्ने, इत्यादि । गार्ग्यादिमते तु अत्राप्यनुदात्तः शेषः । द्वितीयस्तु सूत्रान्तरैर्विहितः । तस्याप्युत्सर्गत एकश्रुतिः शेषः । व्यचक्ष्यत्स्वः, ते वर्धन्ते, इति यथा । उदात्तस्वरितपरत्वे तु शेषोऽनुदात्तः-क्व वोश्वाः३न्यध्न्यस्य । उदात्तपूर्वस्याप्राकृतस्य पूर्वरूपनिष्पन्नस्य दीर्घस्याप्येवम् । न ये राः । उदात्तपूर्वस्य किम् ? पुन-



स्तेमेषाम् । अत्र विशेषमनुपदं वक्ष्यामः । पूर्वरूपनिष्पन्नस्य किम् ? अस्मिन्त्वे एतत् । अप्राकृतदीर्घान्तरे तु, 'मध्ये तु कम्पयेत्कम्पम्' (पा० शि० ३०) इत्यादिवचनात् पूर्वोत्तरभागौ नीचौ मध्ये तूदात्तः । रथी२चेति । पुनस्ते२मास्वे ए२तत् । सर्वत्र च 'समाहारः स्वरितः' (अष्टा०सू० १-२-३१) इति पाणिनीयं लक्षणं निर्वाधम् । 'तस्यादितः' अष्टा०सू० १-२-३२ इति विषयविवेकस्तु प्रायो वादो विशेषे शिक्षादिभिर्बाध्यत इति दिक् । एवं स्थिते अर्धह्रस्वमित्यर्द्धमात्रोपलक्ष्यते । ह्रस्वग्रहणमतन्त्रमिति वृत्तिग्रन्थः पूर्वापरितोषेणोत्तरवाक्यमवतार्य व्याख्येयः । अर्द्धमात्रादित उदात्ता अर्द्धमात्रा तु अनुदात्ता एकश्रुतिर्वेति वृत्तिग्रन्थोऽपि विषयभेदेन व्यवस्थया बोध्यः । उभयत्रापि हरदत्ताग्रन्थो मूलापर्यालोचननिबन्धन इति सुधीमिराकलनीयम् । इत आरभ्य नवसूत्री इत उत्कृष्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (अष्टा०सू० ८-४-६६) इत्यस्मादुत्तरत्र पाठ्येति प्राञ्चः । तत्राव्यवधानपर्यन्तं नार्थः किं तूत्तरत्वमात्रम् । 'नोदात्तस्वरितोदयम्' (अष्टा०सू० ८-४-६७) इत्यत्र निषेध्यलाभानुरोधेन तदुत्तरत्र 'अ अ' (अष्टा०सू० ८-४-६८) इत्यतः प्रागियं नवसूत्रीति फलितोर्थः । तेनाष्टमिकस्यापि स्वरितस्येदं विभागकथनम् । न्य२ग्नि, ये२राः । उत्तरत्राप्युत्कर्षस्य प्रयोजनं तत्तत्सूत्रे वक्ष्यामः । उत्कर्षे लिङ्गं तु 'देवब्रह्मणोः' (अष्टा०सू० १-२-३८) इति सूत्रम् । नह्युत्कर्षं विना देवब्रह्मणोः स्वरितो लभ्यते त्रिपादीस्थत्वेनासिद्धत्वात् । ततः स्वरितात्तरमिदङ्गाण्डमिति स्थितम् ।

एकश्रुतिदूरात्संबुद्धौ (अष्टा०सू० १-२-३३) । सम्बुद्धिः सम्बोधनम् अन्तर्भावितव्यार्थाद् बुधेः किन् । दूरत्वं च प्राकृतप्रयत्नाधिकयत्नसापेक्षोच्चारणवत्त्वम् । दूरादनुष्ठेयतया बोधनायां करणीभूतं वाक्यमेकश्रुतिः स्यात् आगच्छ भो माणवक देवदत्ता ३ । स्वराणामविभागेनावस्थानमेकश्रुतिः । अन्यस्य तु 'वाक्यस्य टेः' (अष्टा०सू० ८-२-८२) इति प्लुतेनापवादत्वादेकश्रुतिर्बाध्यते । एकश्रुतिप्लुताभ्यामवयवभेदेन वाक्ये समुच्चिताभ्यां दूरात्सम्बोधना द्योत्यते । दूरात्किम् ? । त्रैस्वर्यमेव । तत्र आङ् उदात्तः 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि०सू० ८१) इति फिट्सूत्रात् । गच्छेति तिङ्निघातः । भोशब्दो निपातत्वादाद्युदात्तः शेषयोरामन्त्रितनिघातः । 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (अष्टा०सू० २-३-४९) इति कृत्रिमा सम्बुद्धिर्नेह गृह्यते । दूरादित्यपादानकारकान्वयाय क्रियाया एवाकाङ्क्षितत्वात् । तेन 'आगच्छत ब्राह्मणाः' इत्यादावपि भवति ।

यज्ञकर्मण्यजपन्यूडखसामसु । (अष्टा०सू० १-२-३४) यज्ञक्रियायां मंत्र एकश्रुतिः स्यात् जपादीन्वर्जयित्वा ।



अग्निर्मूर्द्धादिबः ककुत्पतिः पृथिव्या अबम् । अपां रेतांसि जिन्वतोम् ।  
यज्ञकर्मणीत्युक्तेः स्वाध्यायकाले त्रैस्वर्यमेव । अजपेत्यादिकिम् ? ममा-  
ग्नेवर्चोविहवेष्वस्तु । जपो नाम उपांशुप्रयोगो यथा जले निमग्नस्येत्याहुः ।  
युक्तं चैतत् । “जप मानसे च” (भा०प०३९७) इति धातोः “व्यधजपोर-  
नुपसर्गे” (अष्टा०सू०३-३-६१) इत्यपि जपशब्दनिष्पत्तेः । रूढश्चायमक-  
रणमन्त्रेषु यत्र जपतीति कल्पसूत्रकृतां व्यवहारः । अत एव याजुषत्वा-  
दुपांशुप्रयुज्यमानानामपि “इषेत्वा” इत्यादीनां जपत्वाभावादेकश्रुतिर्भव-  
त्येव । शाखाछेदनादिकं प्रति तेषां करणत्वात् । अकरणोभूतो मन्त्र  
इत्यन्ये । न्यूह्णानाम षोडश ओकाराः तेषु प्रथमसप्तमत्रयोदशाख्य उ-  
दात्ताः त्रिमात्राश्च । इतरे त्रयोदशानुदात्ता अर्धोकाराः । एतच्चाश्वला-  
यनेन “चतुर्थेऽहनि” (ऋ०ब्रा०) इति खण्डे स्फुटीकृतम् । वृत्तौ तु षडो-  
ङ्कारा इति प्रायिकः पाठः तत्र षट्त्वे मान्तस्त्वे च मूलान्तरं मृग्यम् ।  
गीतिषु सामाख्येति जैमिनिः । एविश्वं समन्त्रिणं दह । विश्वमन्त्रिणं पा-  
प्मानं सन्दहेति सम्बन्धः । एशब्दो गीतिपूरणः । निपात इत्यन्ये ।

उच्चैस्तरां वा वषट्कारः (अष्टा०सू०१-२-३५) । यज्ञकर्मणि वषट्-  
कार उच्चैस्तरां वा स्यादेकश्रुतिर्वा । वषट्शब्देनात्र वौषट्शब्दो लक्ष्यते ।  
तुल्यार्थत्वात् । द्वावपि हि देवतासम्प्रदानस्य दानस्य द्योतकौ । वौष-  
डित्येव तु नोक्तम् । प्रतिपत्तिलाघवेऽपि मात्रागौरवात् । कारग्रहणं शा-  
पकं समुदायादपि कारप्रत्ययो भवतीति तेन एवकार इत्यादि सिद्धम् ।  
उच्चैःशब्दोऽधिकरणप्रधानोऽपि तद्विशिष्टभवनक्रियायां वर्तते । तेन  
क्रियाप्रकर्षादामुप्रत्ययः । उदात्ततरो भवतीति फलितोर्थः । ब्रूहिप्रेष्यश्रौष-  
ड्वौषडवाहानामादेः” (अष्टा०सू०८-२-९१) इति सूत्रेण वौषट्शब्दस्यादेः  
प्लुत उदात्तो विहितस्तदपेक्षया अयमुदात्ततरोन्त्यस्य विधीयते । द्वयो-  
रप्ययमुदात्ततर इत्येके । तदा याज्यान्तापेक्षः प्रकर्षः । अन्ये तु स्वा-  
र्थिकस्तरवित्याहुः । तत्रोदात्तमात्रं प्रथमस्य सिद्धं द्वितीयस्थानेन वि-  
धीयते । अत्र प्रकर्षाविवक्षापक्ष एव प्रबलः । वषट्कारोन्त्यः । “सर्व-  
त्रोच्चैस्तराम्बलीयान् याज्यायाः” इति सूत्रितत्वात् । सोमस्याग्ने  
विही वौषट् ।

विभाषा छन्दसि (अष्टा०सू०१-२-३६) । छन्दसि एकश्रुतिर्वा स्यात् ।  
पक्षे त्रैस्वर्यम् । सम्प्रदायाव्यवस्थितो विकल्पस्तेन बहुचानां स्वाध्या-  
यकाले संहितायान्त्रैस्वर्यमेव । ब्राह्मणे त्वेकश्रुतिः । शाखान्तरेष्वपि यथा-  
सम्प्रदायं व्यवस्था । अत्र तन्त्रावृत्यादिना अछन्दसीति नञ्प्रश्लेषाद्भाषा-  
यामपि पेंचिल्लको विकल्पो बोध्यः । तथा च “दाण्डिनायन” (अष्टा०सू०  
शब्द. द्वितीय. 2.



६-४-१७४) आदिसूत्रे भाष्यम्-“एकश्रुतिर्हि स्वरसर्वनामेत्यादि” । अत एवाभियुक्तानां च विरुद्धस्वरकतत्पुरुषबहुव्रीह्याद्याश्रयणेन श्लिष्टकाव्यादिनिर्माणं सङ्गच्छते । “अलं बुसानां यात” इति “श्वेतो धावति” इति च अर्थवाक्यम् इति पस्पशान्ते भाष्यमपि । काव्यप्रकाशेऽपि वेद इव लोके स्वरो न विशेषाध्यवसायहेतुरिति । किमर्थं तर्हि “अल्युपोरामम्” (अष्टा० सू०६-१-१८०) “विभाषा भाषायाम्” (अष्टा० सू०६-१-१८१) इति सूत्रमिति चेत्, त्रैस्वर्येण प्रक्रमे पाक्षिकानुदात्तलाभायेति गृहाण । वेति प्रकृते विभाषाग्रहणं कुर्वन् सूत्रकारोऽपि तन्त्रादिकमभिप्रैति । यत्तु वृत्तिकृन्मतं विभाषाग्रहणं “यज्ञकर्मणि” (अष्टा० सू०१-२-३४) इत्यस्य निवृत्त्यर्थमिति, तच्चिन्त्यम् । “छन्दसि” इत्युक्तेऽपि तन्निवृत्तिसिद्धेः । अन्यथा पूर्वसूत्रस्य निर्विषयत्वापत्तेः । न च जपादिषु सावकाशस्य परस्य पूर्वोऽपवाद इति वाच्यम् । एवं हि सति परत्रैव जपादिग्रहणं कुर्यात् किं नञा किञ्च छन्दोग्रहणेन । एतेन ऊहितानामच्छन्दस्त्वात्तत्र सावकाशस्य मन्त्रेषु परेण बाधः स्यादिति हरदशोक्तं प्रत्युक्तम् । सिद्धान्तेऽपि अनूहितेषु परत्वादस्य प्राप्तिमाशङ्क्य यज्ञकर्मणीति कर्मग्रहणसामर्थ्यात्पूर्वस्यैव प्रवृत्तिरिति स्वोक्तिविरोधात् । यदपि हरदत्तेनोक्तम्, जपादिपर्युदासेन मन्त्राणामेव ग्रहणमिति पक्षे विभाषाग्रहणं व्यर्थं स्यादिति । तदपि इन्द्रशत्रुप्रस्तावे दूषितमस्माभिः । यदपीह वृत्तिकृता ‘अग्निमीले’ इत्याद्यप्येकश्रुतानुदाहृतं तत्सकलाध्यापकसम्प्रदायविरुद्धम् । छन्दोग्रहणवैयर्थ्यापादकञ्च । छन्दसि व्यवस्थितोऽन्यत्रैच्छिक इति विकल्पयोर्वैषम्यं सूचयितुं हि तत् । न च लोके विकल्पस्य वृत्तिकृतानुक्तत्वादसाम्प्रदायिकत्वं वाच्यम् । भाष्यादिसम्मतैरुक्तत्वात् “श्वेतः” इत्यादेर्वृत्तिकृतापि तत्र तत्रोदाहृतत्वाच्च । इत इत्यस्य हि “उडिदम्” (अष्टा० सू०६-१-१७१) इत्यन्तोदात्तता ‘श्वेतः’ इति तु एकोदात्तमिति कथं स्वरा नुसरणे तन्त्रं स्यादिति दिक् ।

न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः (अष्टा० सू०१-२-३७) । सुब्रह्मण्याख्ये निगदे “यज्ञकर्मणि” (अष्टा० सू०१-२-३४) इति “विभाषा छन्दसि” (अष्टा० सू०१-२-३६) इति च प्राप्ता एकश्रुतिर्न स्यात्स्वरितस्योदात्तश्च स्यात् । नितराङ्गद्यत इति निगदः । परप्रत्यायनार्थमुच्चैः पठ्यमानः पादबन्धरहितो यजुर्मन्त्रविशेषः । अपादबन्धे हि गदिर्वर्त्तते यथा गद्यमिति “नौगदनद्” (अष्टा० सू०३-३-६४) इति कर्मण्यप् । सुब्रह्मण्याशब्दो परित्यक्तस्थलिङ्ग एव तद्वति निगदे निरुद्धः । “सुब्रह्मण्योम् ३ इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेमेर्ष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्क-



न्द्रिगहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण गौतमब्रुवाण श्वः सुत्यामागच्छ  
मघवन् सुब्रह्मणि साधुरिति यत् । तित्वात् स्वरितः तस्य टापा सहे-  
कादेशः स्वरितानुदात्तयोरान्तर्यास्वरितः । ततो निपातेन ओंशब्देन  
“ओमाडोश्च” (अष्टा०सू०६-१-२५) इत्युदात्तस्वरितयोरेकादेशः स्वर-  
रित एव । “एकादेश उदात्तेनोदात्तः” (अष्टा०सू०८-२-५) इत्युदात्त-  
विधिस्तु नेह प्रवर्त्तते अनुदात्तस्येत्यनुवृत्तेः । ततः “स्वरितस्य तूदात्तः”  
(अष्टा०सू०१-२-३७) इति प्रकृतसूत्रेणैवोदात्तः इति वृत्तिकारकैयटहरद-  
त्तादयः । वस्तुतस्तु नेदं युक्तम् । “एकादेश उदात्तेन” (अष्टा०सू०८-२-५)  
इत्यत्रानुदात्तानुवृत्तौ प्रमाणाभावात् । ‘कावरस्मरुतः’ इत्यत्रोदात्तपाठा-  
च्च । अत एव प्रातिशाख्ये “उदात्तवत्येकीभावे उदात्तं सन्ध्यमक्षरम-  
नुदात्तोदये पुनः स्वरितं स्वरितोपधे” इत्युक्तम् । इह हि पूर्वार्द्धे अनुदा-  
त्तग्रहणमकुर्वत उत्तरत्र च कुर्वतः पुनःशब्देन पूर्वान्वयभ्रमं वारयतः  
स्पष्ट एवोक्त आशयः । यत्तु “तस्यादित” (अष्टा०सू०१-२-३२) इति  
सूत्रे “स्वरितोदात्तार्थञ्च” (का०वा०) इति वार्त्तिके “यः सिद्धः स्वरितः  
सुब्रह्मण्योम्” इति भाष्यम्, तत्प्रौढिवादमात्रं निष्कर्षे तु “देवब्रह्मणोः”  
(अष्टा०सू०१-२-३८) इतिवत् “स्वरितस्य तूदात्तः” (अष्टा०सू०१-२-३७)  
इत्यपि नवसूत्र्युत्कर्षजापकमेवेत्यवधेयम् । ‘इन्द्र’ इत्यामन्त्रितमाद्युदा-  
त्तम् । आष्टमिको निघातस्तु भिन्नवाक्यत्वान्न भवति । द्वितीयो वर्णो-  
ऽनुदात्तः । “उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः” (अष्टा०सू०८-४-६६) तस्या-  
नेनोदात्तः । न चास्मिन् कर्त्तव्ये स्वरितस्यासिद्धत्वम्, “एतत्काण्डमु-  
त्कृष्यते” इत्युक्तत्वात् । अत एवास्मिन्नुदात्ते कृते शेषनिघातोपि न ।  
यथोद्देशपक्षेऽप्यनुदात्तपरिभाषायां कर्त्तव्यायामसिद्धत्वेन वर्ज्यमानाभा-  
वात् । तेन द्वावप्युदात्तौ । आहुदात्तः ततः परस्य “उदात्तादनुदात्तस्य  
स्वरितः” (अष्टा०सू०८-४-६६) इति स्वरितस्यानेनोदात्तः । छकाराका-  
रोऽनुदात्तः । न च तस्य “उदात्तादनुदात्तस्य” (अष्टा०सू०८-४-६६)  
इति स्वरितः शङ्क्यः । प्रकरणोत्कर्षेणास्यासिद्धत्वात् । ‘हरिव आगच्छ’  
इत्यत्रोक्तप्रक्रियया चत्वार उदात्ताः । वकारच्छकारावनुदात्तौ ।  
मेधातिथेरिति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावः । आमन्त्रिताद्युदात्तः ।  
धाशब्दस्य “उदात्तात्” (अष्टा०सू०८-४-६६) इति स्वरितत्वे ऽनेनो-  
दात्तः । ततश्चत्वारोऽनुदात्ताः । वृषेति पूर्ववद् द्वावुदात्तौ पञ्चानु-  
दात्ताः । “इत्याधीवतम्” (ऋ०वे०) इति “अददा अर्भाम्” (ऋ०वे०) इति  
च ऋङ्मन्त्रावनुसन्धेयौ । तेन पराङ्गवद्भावे उपजीव्य सामर्थ्यं स्फु-  
टीभवति । ‘गौरा’ इत्यत्र गौरवदवस्कन्दतीति विग्रहः । “सरो गौरो



यथा पिब" इति मन्त्रवर्णात् । पूर्ववद् द्वाबुदात्तौ ततस्त्रयोनुदात्ताः । अहेत्युदात्तौ । चत्वारोऽनुदात्ताः । कौशीत्युदात्तौ । चत्वारोऽनुदात्ताः । गौतेत्युदात्तौ । चत्वारोऽनुदात्ताः । श्व इत्युदात्तम् । सुत्यामित्यन्तोदात्तम् । "संज्ञायां समज" (अष्टा०सू०३-३-९९) इति क्यपो विधाने उदात्त इत्यनुवृत्तेः । आगेति द्वाबुदात्तौ चत्वारोऽनुदात्ताः ।

अत्र वार्त्तिकानि—

असावित्यन्तः (का०वा०) । तस्मिन्नेव निगदे प्रथमान्तस्यान्त उदात्तः स्यात् । गार्ग्यो यजते । अित्स्वरेण प्राप्त आद्युदात्तोऽनेन बोध्यते ।

अमुष्येत्यन्तः (का०वा०) । षष्ठ्यन्तस्यापि प्राग्वत् । दाक्षेः पिता यजते ।

स्यान्तस्योपोत्तमं च (का०वा०) । चादन्तः । तेन द्वाबुदात्तौ । गार्ग्यस्य पिता यजते ।

वा नामधेयस्य (का०वा०) । स्यान्तस्य नामधेयस्य उपोत्तममुदात्तं वा स्यात् । देवतास्य पिता यजते ।

देवब्रह्मणोरनुदात्ताः [अष्टा०सू०१-२-३८] । "स्वरितस्य तूदात्तः" (अष्टा०सू०१-२-३९) इति पूर्वसूत्रशेषस्यायमपवादः । देवब्रह्मणोः स्वरितस्यानुदात्तः स्यात् सुब्रह्मण्यायाम् । देवा ब्रह्माण आगच्छत । द्वयोरप्यामन्त्रिताद्युदात्तत्वे शेषनिघाते च "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (अष्टा०सू०८-४-६६) तस्यानेनानुदात्तः । द्वितीयस्य आप्तमिको निघातस्तु न भवति "आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्" [अष्टा०सू०८-१-७२] इति पदात्परत्वाभावात् । ततः प्राचीनपदस्य तु भिन्नवाक्यस्थत्वात् । ये तु देवा ब्रह्माण इति सामानाधिकरण्येन व्याचक्षते । तन्मते "विभाषितं विशेषवचने" [अष्टा०सू०८-१-७४] बहुवचनमिति पक्षे विद्यमानतया द्वितीयस्य निघातः । प्रकृतसूत्रेण स्वरितनिघातस्तु वकारस्यैव । तथा च भाष्यम्—"देवब्रह्मणोरनुदात्तत्वमेके इच्छन्ति । देवा ब्रह्मागः इति द्विः पाठः । उदात्तौ द्वावेको वेति विकल्पाभिप्रायेण । तत्र द्वितीयपक्षे प्रकृतसूत्रे ब्रह्मग्रहणं न कर्तव्यम्" ।

स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् [अष्टा०सू०१-२-३९] । स्वरितात्परेषामनुदात्तानामेकश्रुतिः स्यात्संहितायाम् । इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति । अनुदात्तानामिति जातौ बहुवचनम् । तेनैकस्य द्वयोश्च भवत्येव । संहिताग्रहणं ज्ञापकम्—"अन्यत्र पञ्चमोनिर्देशे कालो न व्यवधायकः" इति तेन "तिङ्ङितिङः" (अष्टा०सू०८-१-२८) इति निघातः पदपाठेऽपि



भवति । अग्निमीळे, पुरोहितमित्यादौ त्ववग्रहेऽपि भवत्येकश्रुतिः । यथा सन्धीयमानानामित्यतिदेशात् । इति शब्दात्परस्य तु “पुरुहूत इति पुरुहूतः” इत्यादौ न भवति परिग्रहे त्वनार्णान्तादिति प्रातिशाख्ये विशेषवचनात् । एवमन्वेतवा इत्यादावपि । “पद्यादीस्तु इन्द्र्युदात्तानाम्” [ऋ०मा०] इतिनिषेधादिति दिक् ।

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (अष्टा०सू०१-२-४०) । उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात्तथाभूतस्यानुदात्तस्य अनुदात्ततरः स्यात् । अग्निम् । कन्या । स्यादेतत् । “इमं मे” इति मन्त्रे शुतुद्रिशब्दस्य पादादित्वेन निघाताभावाद्युत्ततया तस्मिन्परे सरस्वतीतीकारस्य सन्नतर इष्यते एकश्रुतिरेव तु प्राप्नोति । नवसूत्र्या उत्कर्षेणासिद्धतया सन्नतरायोगात् । उक्तं हि—“पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य” इति । सत्यम् । “नमुने” (अष्टा०सू०८-२-३) इत्यत्र नेति योगविभागात्त दोषः । ‘देवदत्तन्यङ्’ इत्यत्र तु “न्यधिच” (अष्टा०सू०६-२-५३) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे “उदात्तस्वरितयोर्यणः” (अष्टा०सू०८-२-४) इत्यञ्चत्यकारस्य स्वरितः पूर्वस्य सन्नतरं प्रति नासिद्धः । प्रकरणे उत्कर्षात् ।

स्वरसूत्रप्रसङ्गात्फिट्सूत्राणि ध्याख्यायन्ते—

फिषोन्त उदात्तः (फि०सू०१) । फिष् इति प्रातिपदिकस्य प्राचां संज्ञा । फिषोन्त उदात्तः स्यात् । उच्चैः ।

पाटलापालङ्काम्बासागरार्थानाम् (फि०सू०२) । एतदर्थानामन्त उदात्तः स्यात् । पाटला । “लघावन्ते” (फि०सू०४२) इति प्राप्ते । अपालङ्कः वृक्षविशेषः । इहापि प्राग्वत् । अम्बार्थः—माता । “उनर्वन्नन्तानाम्” (फि०सू०३२) इत्याद्युदात्ते प्राप्ते । सागरः—समुद्रः, “लघावन्ते” (फि०सू०४२) इति प्राप्ते ।

गेहार्थानामस्त्रियाम् (फि०सू०३) । गेहं—गृहम् । “नन्विषयस्य” फि०सू०२६ इति प्राप्ते । अस्त्रियां किम् ? शाला । अत एव पर्युदासाज्जापकाच्छालाशब्द आद्युदात्तः ।

गुदस्य च (फि०सू०४) । अन्त उदात्तः स्यान्न तु स्त्रियाम् । गुदम् । अस्त्रियां किम् ? आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यः । “स्वाङ्गशिष्टामदन्तानाम्” (फि०सू०२९) इत्यन्तरङ्गमाद्युदात्तत्वम् । ततश्चाप् ।

ध्यपूर्वस्य स्त्रीविषयस्य (फि०सू०५) । नित्यस्त्रीलिङ्गस्य धकारयकारपूर्वो योऽन्त्योऽच् स उदात्तः । अन्तर्धा । “स्त्रीविषयवर्णनास्त्राम्” इति प्राप्ते । छाया, माया, जाया । “यान्तस्थान्त्यात्पूर्वम्” (फि०सू०६२) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते । स्त्रीति किम् ? बाह्यम् । “बहिषष्टिलोपो यञ्



च" (का०वा०) इति यजन्तत्वादाद्युदात्तत्वम् । विषयग्रहणं किम् ? इभ्या क्षत्रिया । "यतोऽनावः" (अष्टा०सू०६-१-२१३) इत्याद्युदात्त इभ्य-शब्दः । क्षत्रियशब्दस्तु "यान्तस्यान्त्यात्पूर्वम् (फि०सू०६२) इति मध्योदात्तः ।

खान्तस्याश्मादेः (फि०सू०६) । नखम्, उखा, सुखम्, दुःखम् । नखस्य "स्वाङ्गशिष्टाम्" (फि०सू०२९) इत्याद्युदात्ते प्राप्ते । उखानाम् यवा-ग्वादि पाकार्थं यात्रिकैर्निर्मितो भाण्डविशेषः । तस्य कृत्रिमत्वात् "खय्यु-वर्णं कृत्रिमाख्याचेत्" (फि०सू०३१) इत्युवर्णस्योदात्तत्वे प्राप्ते । सुखदुःखयोः "नन्विषयस्य" (फि०सू०२६) इति प्राप्ते । अश्मादेः किम् ? शिखा, मुखम् । मुखस्य "स्वाङ्गशिष्टाम्" (फि०सू०२९) इति "नन्विषयस्य" (फि०सू०२६) इति वा आयुदात्तत्वं शिखायास्तु दीर्घान्ततया "स्वाङ्गशिष्टाम्" (फि०सू०२९) इत्यस्याप्राप्तावपि अश्मादेरिति पर्युदात्तेनाद्युदात्तत्वं ज्ञाप्यते । तथा च (१) "शीङो खो निदुधस्वश्च" इति उणादिषु निस्त्वमुक्तम् । वस्तु-तस्तु तदेव शरणम् । "शीङो निधो ललाटास्थिन" (अ०को०३-३-१८) इति कोशादस्थिवाचकस्य "स्वाङ्गशिष्टाम्" (फि०सू०२९) इत्याद्युदात्त-स्याव्यावृत्त्या चरितार्थस्याश्मादेरित्यस्य ज्ञापकत्वायोगात् ।

हिण्टवत्सरतिशयान्तानाम् (फि०सू०७) । एषामन्त उदात्तः स्यात् । अतिशयेन बहुलो बंहिण्टः । नित्वा(२)दाद्युदात्ते प्राप्ते । बंहिण्टैरश्वैः सु-वृत्ता रथेन, यदुबंहिण्टं नातिविदे इत्यादौ व्यत्ययादाद्युदात्तः । संवत्सरः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरो बाध्यते । सप्ततिः । अशीतिः । "लघावन्ते" (फि०सू०४२) इति प्राप्ते । चत्वारिंशत् । इहापि प्राग्वत् । अभ्युपार्जनाप्र-भृत्यस्यायोः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरोऽत्र बाध्यते ।

दक्षिणस्य साधौ (फि०सू०८) । अन्त उदात्तः स्यात् । साधौ किम् ? व्यवस्थायां सर्वनामतया "स्वाङ्गशिष्टाम्" (फि०सू०२९) इत्याद्युदात्तो यथा स्यात् । अर्थान्तरे तु "लघावन्ते" (फि०सू०४२) इति गुरुदात्तः । "दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्त्तिषु" इति कोशः ।

स्वाङ्गाख्यायामादिर्वा (फि०सू०९) । इह दक्षिणस्याद्यन्तौ पर्यायेणो-दात्तौ स्तः । दक्षिणो बाहुः । आख्याग्रहणं किम् ? प्रत्यङ्मुखमासीनस्य वामपाणिर्दक्षिणो भवति ।

( १ ) ननु बहुषूणादिपुस्तकेषु "शीङो ह स्वश्च" (उ०सू०७१२) इत्येव पाठः "शीङो खो निदुधस्वश्च" इति नास्ति इत्युच्येत-वस्तुतस्तु सति ।

( २ ) "जित्यादिर्नित्यम्" (अष्टा०सू०६-१-१९७) इत्यनेनेत्यर्थः ।



छन्दसि च [फि०सू०१०] । अस्वाङ्गार्थमिदम् । दक्षिणः । इह पर्वा-  
येणाद्यन्ताद्युदात्तौ ।

कृष्णस्यामृगाख्या चेत् [फि०सू०११] । “वर्णानान्तण” (फि०सू०३३)  
इत्याद्युदात्ते प्राप्तेऽन्तोदात्तो विधीयते । कृष्णानां व्रीहीणाम् । कृष्णो  
मोनाव वृषभः । मृगाख्यायान्तु । कृष्णो रऽयै ।

वा नामधेयस्य [फि०सू०१३] । कृष्णस्येत्येव । अर्थं वा कृष्णो  
अश्विना । कृष्ण ऋषिः ।

शुक्लगौरयोरादिः [फि०सू०१३] । नित्यमुदात्तः स्यादित्येके । वेत्य-  
नुवर्तत इति तु युक्तम् । “सरो गौरो यथा पिब” इत्यत्रान्तोदात्तदर्शनात् ।

अङ्गुष्ठोदकबकवशानां छन्दस्यन्तः [फि०सू०१४] । अङ्गुष्ठस्य  
“स्वाङ्गानामकुर्वादीनाम्” (फि०सू०५२) इति द्वितीयस्योदात्तत्वे प्राप्ते  
ऽन्तोदात्तार्थं आरम्भः । वशाग्रहणं नियमार्थम् । छन्दस्येवेति । तेन  
लोके आद्युदात्ततेत्याहुः ।

पृष्ठस्य च [फि०सू०१५] । छन्दस्यन्त उदात्तः स्यात् वा भाषायाम् ।  
भाषामात्रविषयं सूत्रमिदं “प्रागेकादशभ्योऽछन्दसि” (अष्टा०सू०५-  
३-४९) “श्ल्युपोत्तमम्” (अष्टा०सू०६-१-१८०) “विभाषा भाषायाम्”  
(अष्टा०सू०६-१-१८१) इत्यादिवत् । पृष्ठम् ।

अर्जुनस्य तृणाख्या चेत् [फि०सू०१६] । “उनर्वन्नन्तानाम्” (फि०  
सू०३२) इत्याद्युदात्तस्यापवादः ।

अर्थस्य स्वाभ्याख्या चेत् [फि०सू०१७] । “यान्तस्यान्त्यात्पूर्वम्”  
(फि०सू०६२) इति “यतोऽनावः” (अष्टा०सू०६-१-२१३) इति वाद्युदात्ते  
प्राप्ते वचनम् ।

आशाया अदिगाख्या चेत् [फि०सू०१८] । दिगाख्याव्यावृत्त्यर्थ-  
मिदम् । अत एव ज्ञापकादिकूपर्यायस्याद्युदात्तता । इन्द्र आशाभ्यस्परि ।

नक्षत्राणामाव्विषयाणाम् [फि०सू०१९] । अन्त उदात्तः स्यात् । आ-  
श्लेषानुराधादीनां “लघावन्ते” (फि०सू०४२) इति प्राप्ते ज्येष्ठाभविष्ठा-  
धनिष्ठानां इष्टान्तत्वेनाद्युदात्ते प्राप्ते वचनम् ।

न कुपूर्वस्य कृत्तिकाख्या चेत् [फि०सू०२०] । अन्त उदात्तो न ।  
कृत्तिका नक्षत्रम् । केचित्तु कुपूर्वो य आप् तद्विषयाणामिति व्याख्याय  
‘आयिका’ ‘बहुलिका’ इत्यत्राप्यन्तोदात्तो नेत्याहुः ।

घृतादीनाञ्च [फि०सू०२१] । अन्त उदात्तः । घृतं मिमिक्षे । आ-  
कृतिगणोयम् ।

ज्येष्ठकनिष्ठयोर्गयसि [फि०सू०२२] । अन्त उदात्तः स्यात् । ज्येष्ठ  
आह चमसा । कनिष्ठ आह चतुरः । वयसि किम् ? ज्येष्ठः, श्रेष्ठः ।



कनिष्ठोऽलिपष्ठः । इह नित्वादाद्युदात्त एव ।

विल्वतिष्ययोः स्वरितो वा [फि०सू०२३] । अनयोरन्तः स्वरितो वा स्यात् । पक्षे उदात्तः ।

॥ इति फिट्सूत्रेषु प्रथमः पादः ॥

अथादिः प्राक् शकटैः [फि०सू०२४] । अधिकारोऽयम् । “शकटि-  
शकट्याः” (फि०सू०६९) इति यावत् ।

ह्रस्वान्तस्य स्त्रीविषयस्य [फि०सू०२५] । आदिरुदात्तः स्यात् ।  
वलिः, तनुः ।

नन्विषयस्यानिसन्तस्य [फि०सू०२६] । वनेन वा षः । इसन्तस्य  
तु सापः । नप् नपुंसकम् ।

तृणधान्यानाञ्च द्वयाम् [फि०सू०२७] । द्वयामित्यर्थः । कुशाः,  
काशाः, माषाः, तिलाः । बह्वृचान्तु गोधूमाः ।

प्रः सङ्ख्यायाः (फि०सू०२८) । पञ्च, चतस्रः ।

स्वाङ्गशिष्टामदन्तानाम् (फि०सू०२९) । शिद् सर्वनाम । कर्णः,  
ओष्ठः, विश्वः ।

प्राणिनां कुपूर्वम् (फि०सू०३०) । कवर्गात् पूर्वमादिरुदात्तः । काकः,  
वृकः । शुकेषु मे । प्राणिनां किम् ? उदकम् ।

खय्युवर्णं कृत्रिमाख्या चेत् (फि०सू०३१) । खयि परे पूर्वामादि उव-  
र्णमुदात्तं स्यात् । कन्दुकः ।

उनर्गन्तानाम् (फि०सू०३२) । उन-वरुणं वोरिशादसम् । स्व-  
सारं त्वा कृणौ । वन-पीवानं मेषम् ।

वर्णानान्तणतिनितान्तानाम् (फि०सू०३३) । आदिरुदात्तः । एतः,  
हरिणः, शितिः, पृथिनः, हरित् ।

ह्रस्वान्तस्य ह्रस्वमनुत्ताच्छील्ये (फि०सू०३४) । ऋद्धर्जं ह्रस्वान्तस्या-  
दिभूतं ह्रस्वमुदात्तं स्यात् । मुनिः ।

अक्षस्यादेवनस्य (फि०सू०३५) । आदिरुदात्तः । तस्य नाक्षः ।  
देवने तु अक्षैर्मा दीव्यः ।

अर्धस्यासमद्योतने (फि०सू०३६) । अर्द्धो ग्रामस्य । समेऽशके तु  
अर्द्धं पिप्पल्याः ।

पीतद्रवर्थानाम् (फि०सू०३७) । आदिरुदात्तः । पीतद्रुः सरलः ।

ग्रामादीनाञ्च (फि०सू०३८) । ग्रामः, सोमः, यामः ।

लुबन्तस्योपमेयनामर्धस्य (फि०सू०३९) । स्फिगन्तस्येति पाठान्तर-  
म् । स्फिगिति लुपः प्राचां संज्ञा । चञ्चेव चञ्चा ।



न वृक्षपर्वतविशेषव्याघ्रसिंहमहिषाणाम् (फि०सू०४०) । एषामुपमेय-  
नाम्नां नादिरुदात्तः । ताल इव तालः, मेरुरिव मेरुः, व्याघ्रः, सिंहः,  
महिषः ।

राजविशेषस्य यमन्वा चेत् (फि०सू०४१) । यमन्वा वृद्धः । 'आङ्गः'  
उदाहरणम् । 'अङ्गाः' प्रत्युदाहरणम् ।

लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः (फि०सू०४२) । अन्ते लघौ द्वयोश्च  
लघ्वोः सतोः बह्वक्षस्य गुरुरुदात्तः । कल्याणः, कोलाहलः । इह  
गुरूणां मध्ये य आदिरित्यर्थोभिप्रेतः । तेन 'वृषाकपिः' इत्यत्र व्यपदे-  
शिद्भावेनादिभूते सिद्धम् । तेन "वृषाकप्यग्नि" (अष्टा०सू०४-१-३७)  
इत्यादिसूत्रस्था वृत्त्यादिग्रन्था न विरुध्यन्ते । "क्रीतवत्परिमाणात्"  
(अष्टा०सू०४-३-१४६) इत्यादिसूत्रस्थभाष्यादिग्रन्थाश्च सङ्गच्छन्ते ।  
नन्वेवमपि "अन्यतो ङीष्" (अष्टा०सू०४-१-४०) इति सूत्रे सारङ्गकलमाष-  
शब्दौ "लघावन्ते" (फि०सू०४३) इत्यादिना मध्योदात्ताविति हरदत्त-  
ग्रन्थो विरुध्यत इति चेत्, सत्यम् । आदिशब्द इह नान्वेतीत्येव  
सारम् ।

स्त्रीविषयवर्णाश्रुपूर्वाणाम् (फि०सू०४३) । एषां त्रयाणामादिरुदात्तः ।  
स्त्रीविषयः-मल्लिका । वर्णः-इयेनी, हरिणी । अश्रुशब्दात् पूर्वोऽस्त्ये-  
षान्तेश्रुपूर्वाः । तरश्रुः ।

शकुनीनाञ्च लघुपूर्वम् (फि०सू०४४) । पूर्वं लघूदात्तस्यात् । कुक्कुटः  
तित्तिरिः ।

नर्तुप्राण्यारुयायाम् [फि०सू०४५] । यथालक्षणं प्राप्तमुदात्तत्वं न ।  
वसन्तः, कृकलासः ।

धान्यानां च वृद्धक्षान्तानाम् (फि०सू०४६) । आदिरुदात्तः । कान्तः-  
इयामाकाः । षान्तः-माषाः ।

जनपदशब्दानामषान्तानाम् (फि०सू०४७) । केकयः ।  
हयादीनामसंयुक्तलान्तानामन्तः पूर्वं वा (फि०सू०४८) । हयिति  
हलः संज्ञा । पललम्, शललम् । हयादीनां किम् ? एकलः । असंयुक्तेति  
किम् ? मल्लः ।

इगन्तानाञ्च द्वयषाम् (फि०सू०४९) । आदिरुदात्तः । कृषिः ।

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

अथ द्वितीयं प्राणीषात् (फि०सू०५०) । "ईषान्तस्य हयादेः"  
(फि०सू०६६) इत्यतः प्राक् द्वितीयाधिकारः ।

इयच्चां प्राङ् मकरात् (फि०सू०५१) । "मकरवर्ष ढ" (फि०सू०५७)

इत्यतः प्राक् इयच् मित्यधिव

स्वाङ्गानामकुर्वादीनाम् (फि०सू०५२) । कवर्गरेफवकारादीन्वर्जयि-  
त्वा इयच् स्वाङ्गानां द्वितीयमुदात्तम् । ललाटम् । कुर्वादीनान्तु-कपोलः,  
रसना, वदनम् ।

मादीनाञ्च (फि०सू०५३) । इयच् द्वितीयमुदात्तम् । मलयः, मकरः ।

शादीनां शाकानाम् (फि०सू०५४) । शीतन्या, शतपुष्पा ।

पान्तानां गुर्वादीनाम् (फि०सू०५५) । पादपः, आतपः । लघ्वादी-  
नान्तु-अनूपम् । द्वयचान्तु-नीपम् ।

युतान्यण्यन्तानाम् (फि०सू०५६) । युतादित्रितयान्तानां द्वितीय-  
मुदात्तम् । युत-अयुतम् । अनि-धमनिः । अणि-विपणिः ।

मकरवर्णपरिवेतवितस्तेष्वार्जिद्राक्षाकलोमाकाष्ठापेष्ठाकाशीनामा-  
दिर्वा (फि०सू०५७) । एषामादिर्द्वितीयो वोदात्तः । मकरः, वरुण इत्यादि ।

लुन्दसि च (फि०सू०५८) । अमकराद्यर्थ आरम्भः । लक्ष्यानुसारादा-  
दिर्द्वितीयं वोदात्तं ज्ञेयम् ।

कर्दमादीनाञ्च (फि०सू०५९) । आदिर्द्वितीयं वोदात्तम् । कर्दमः ।

अन्धितेजनस्य ते वा (फि०सू०६०) । आदिर्द्वितीयन्तेशब्दश्चेति  
येणोदात्ताः । सुगन्धितेजनाः ।

फलान्तानाम् (फि०सू०६१) । आदिर्द्वितीयं वोदात्तम् । राजादन-  
म् ।

यान्तस्यान्त्यात् पूर्वम् (फि०सू०६२) । कुलायः ।

थान्तस्य च नालघुनी (फि०सू०६३) । नाशब्दो लघु च उदात्ते स्तः ।  
सनाथा सभा ।

शिशुमारोत्तुंबरबलीवर्दीष्टारपुकरवसाञ्च (फि०सू०६४) । अन्त्यात् पूर्व-  
मुदात्तं द्वितीयं वा ।

साङ्काश्यकापिल्यनासिक्यदार्वाघाटानाम् [फि०सू०६५] । द्वितीयमुदा-  
त्तं वा । साङ्काश्यमित्यादि ।

ईषान्तस्य हयादेरादिर्वा [फि०सू०६६] । हयादेः-हलादेः । हलीषा ।  
लाङ्गलीषा ।

उशीरदाशेरकपालपलालशैवालश्यामाकशारीरशरावहृदयहिरण्या-  
रण्यापत्यदेवराणाम् (फि०सू०६७) । एषामादिरुदात्तः स्यात् ।

महिष्यषाढयोज्ञायेष्टकाख्या चेत् (फि०सू०६८) । आदिरुदात्तः । महि-  
षी जाया । अपाढा उपदधाति ।

॥ इति तृतीयः पादः ॥



शकटिशकट्योरक्षरमक्षरं पर्यायेण [फि०सू०६९] । उदात्तम् । शकटिः । शकटी ।

गोष्ठजस्य ब्राह्मणनामधेयस्य [फि०सू०७०] । अक्षरमक्षरं क्रमेणोदात्तम् । गोष्ठजो ब्राह्मणः । अन्यत्र गोष्ठजः पशुः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ।

पारावतस्योपोत्तमवर्जम् [फि०सू०७१] । शेषं क्रमेणोदात्तम् । पारावतः ।

धूम्रजानुमुञ्जकेशकालवालस्थालीपाकानामधूजलस्थानाम् [फि०सू०७२] । एषाञ्चतुर्णां धूपभूर्तांश्चतुरो वर्जयित्वा शिष्टानि क्रमेणोदात्तानि । धूम्रजानुः, मुञ्जकेशः, कालवालः, स्थालीपाकः ।

कपिकेशहरिकेशयोश्छन्दसि [फि०सू०७३] । कपिकेशः, हरिकेशः । न्यङ्स्वरौ स्वरितौ [फि०सू०७४] । स्पष्टम् । न्यङ्कुत्तानः । व्यचक्षयत्स्वः ।

न्यर्बुदव्यल्कशयोरादिः (फि०सू०७५) । स्वरितः स्यात् ।

तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः [फि०सू०७६] स्वरितः स्यात् । तिलानां भवनं क्षेत्रं तिल्यम् । “यतोऽनावः” (अष्टा० सू०६-१-२१३) इति प्राप्ते ।

बिल्वभक्ष्यवीर्याणि च्छन्दसि [फि०सू०७७] । अन्तस्वरितानि ।

त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि [फि०सू०७८] । स्तरीकृत्वत् । उत त्वः पश्यन् । नभन्तामन्यके समे । सिमस्मै ।

सिमस्याथर्वणेन्त उदात्तः [फि०सू०७९] । अथर्वण इति प्रायिकम् । तत्र दृष्टस्येत्येवंपरं वा । तेन “वासस्तनुते सिमस्मै” इत्यृग्वेदेऽपि भवत्येव ।

निपाता आद्युदात्ताः (फि०सू०८०) । स्वाहा ।

उपसर्गाश्चाभिवर्जम् [फि०सू०८१] ।

एवादीनामन्तः [फि०सू०८२] । एवमादीनामिति पाठान्तरम् । एव, एवम्, नूनम् । सह ते पुत्र सूरिभिः सह । षष्ठस्य तृतीये “सहस्य सः” (अष्टा०सू०६-३-७८) इति प्रकरणे सहशब्द आद्युदात्त इति तु प्राञ्चः । तच्चिन्त्यम् ।

वाचादीनामुभावुदात्तौ [फि०सू०८३] । उभौग्रहणं “अनुदात्तं पदमेकवर्जम्” [अष्टा०सू०६-१-१५८] इत्यस्य बाधाय ।

चादयोऽनुदात्ताः [फि०सू०८४] । स्पष्टम् ।

यथेति पादान्ते [फि०सू०८५] । तन्नेमिष्टमवो यथा । पादान्ते किम् ?



यथा नो अदितिः करतु ।

प्रकारादिद्विरुक्तौ परस्यान्त उदात्तः [फि०सू०८६] । पटुपटुः ।

शेषं सर्वमनुदात्तम् [फि०सू०८७] । शेषं नित्यादिद्विरुक्तस्य पर-  
मित्यर्थः । प्रप्रायम् । दिवे दिवे ।

॥ इति शान्तनवाचार्यप्रणीतेषु फिदसूत्रेषु तुरीयः पादः ॥

प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतमनुसरामः—

अपृक्त एकाल् प्रत्ययः (अष्टा०सू०१-२-४१) । एकाल् प्रत्ययो यः सो-  
ऽपृक्तसंज्ञः स्यात् । संज्ञाप्रदेशा “वेरपृक्तस्य” (अष्टा०सू०६-१-६७) इ-  
त्यादयः । एकेति व्यर्थम् । ‘निपात एकाच्’ (अष्टा०सू० १-१-१४) इत्ये-  
कग्रहणेन “वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्” इति ज्ञापनेऽपि अलग्नग्रहणसामर्थ्या-  
देवेह व्यक्तिपरत्वात् । किञ्च सूत्रमेवेदं व्यर्थम् । अपृक्तप्रदेशेष्वलग्नग्रहणेनै-  
व सिद्धेः । न च सुरां सुनोतीति सुरासुत् तमाचक्षाण सुरा इत्यत्र  
धात्ववयवस्य सस्य लोपः स्यादिति वाच्यम् । प्रत्ययाप्रत्ययपरिभाषया  
गतार्थत्वात्, विभक्तिसाहचर्याच्च । यथासूत्रारम्भेऽपि तिसाहचर्या-  
त्सेरपि तिङ् एव ग्रहणात् ‘अमैत्सीत्’ इति सिचो न भवति । “वेरपृ-  
क्तस्य” (अष्टा०सू०६-१-६७) इत्यत्र तु वकारेकारयोरन्यतरमनुनासि-  
कमाश्रित्यापृक्तग्रहणं प्रत्याख्यास्यत एव ।

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः (आष्टा०सू०१-२-४२) । स-  
मानाधिकरणावयवस्तत्पुरुषः कर्मधारयसंज्ञः स्यात् । संज्ञाप्रदेशाः “पुं-  
वत्कर्मधारय” (अष्टा०सू०६-३-४२) इत्यादयः । समानाधिकरणे पदे  
आश्रयत्वेन स्तोऽस्येति अर्शआद्यच् । यदि तु “पूर्वकालैक” (अष्टा०सू०  
२-१-४९) इति प्रकरणस्यान्ते कर्मधारयश्चेति कृत्वा तत्पुरुषानुवृत्त्या प-  
र्याये लब्धे चकारात् “गतिश्च” (अष्टा०सू०१-४-६०) इत्यादाविव समु-  
च्चयः साध्यते तदेदं सूत्रं शक्यमकर्तुम् ।

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (अष्टा०सू०१-२-४३) । समास-  
विधायकं शास्त्रं समासः, तादर्थ्यात् । समस्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या वा ।  
तत्र प्रथमया यन्निर्दिश्यते तदुपसर्जनं स्यात् । द्वितीया श्रितादिभिः-  
कृष्णश्रितः । महासंज्ञाकरणमन्वर्थसंज्ञार्थम् । लोके ह्यप्रधानमुपसर्ज-  
नमाहुः । तेन राज्ञः कुमार्या राजकुमार्या इत्यत्रोभयोः “षष्ठी” (अष्टा०  
सू०२-२-८) इति सूत्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वाविशेषेऽपि राजैवोपसर्जनं न तु  
कुमारी । तेन कुमारीशब्दस्य न पूर्वनिपातो न वा “गोस्त्रियोः” (अष्टा०  
सू०१-२-४८) इति ह्रस्वः । न च राज्ञः कुमारीति प्रथमान्तेनैव विग्रह-  
इति भ्रमितव्यम् । मूलाभावात् तथा च “तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासममी”



(अष्टा०सू०६-२-२) इति सूत्रे परमे कारके परमेण कारकेणेत्यादावति-  
प्रसङ्गमाशङ्क्य लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाबलेन समाहितं भाष्ये ।  
“अनेकमन्यपदार्थे” (अष्टा०सू०२-२-२४) इति सूत्रेऽपि भाष्यकैयट्याः स्प-  
ष्टमेतत् । प्रथमान्तेनैव विग्रह इति नियमो नास्तीति परिनिष्ठितविभ-  
क्त्यैव विग्रहस्योचितत्वाच्च । अत एव “पूरणगुण” (अष्टा०सू०२-२-११)  
इति समानाधिकरणेन षष्ठीसमासनिषेधोऽपि सङ्गच्छते । अत एव च  
“एकविभक्तिचापूर्वनिपाते” [अष्टा०सू०१-२-४४] इत्यस्य विषयलाभः ।  
स्यादेतत्-उत्तरीत्या सूत्रभाष्यादिस्वरसान्ध्यायाच्च द्वितीयाद्यन्ततया  
परिनिष्ठितस्य प्रथमान्तेन विग्रहो नास्तीत्येवोच्यताम्, तत्किमुच्यते नि-  
यमो नास्तीति ? सत्यम् । अस्ति तत्राप्यालम्बनम् । तथाहि-राजकुमा-  
र्या इत्यादेः परिनिष्ठितस्यार्थप्रदर्शनपरे लौकिके विग्रहवाक्ये प्रकृति-  
भागमात्रं व्याख्येयं न तु समासात्तरविभक्तिरपि । नहि षष्ठी षष्ठ्या व्याख्ये-  
या किन्त्वनुवादमात्रं तत् । तत्र प्रातिपदिकार्थमात्रव्याचिख्यासायां प्र-  
थमया विग्रहः केन वार्यते । अत एव—

“हरीतर्की भुङ्क्व राजन् मातेव हितकारिणीम्” ।

इत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते । मातेति प्रथमान्तेन समासे बाधका-  
भावात् । अत एव पचतीति पाकचक्रस्तं पात्रकमित्याद्यपि सम्यगेवेति  
दिक् । तस्माद् द्वितीयाद्यन्तस्य परिनिष्ठितस्य प्रथमया परिनिष्ठितया  
वा विग्रहो न तु तदुभयभिन्नयेति निष्कर्षः । स्यादेतत्-यद्यन्वर्थसंज्ञेयं  
‘याचकवृन्दारकः’ ‘गोगर्भिणी’ इत्यादिषु विशेष्यस्य पूर्वनिपातो न स्यादि-  
ति चेत् । “वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्” (अष्टा०सू०२-१-६२)  
“चतुष्पादो गर्भिण्या” (अष्टा०सू०२-१-७१) इत्यादौ विधिवाक्ये प्रथ-  
मानिर्देशस्यानन्यार्थत्वाददांषः । तस्मात्सति सम्भवं व्यवस्थापकमन्व-  
र्थत्वमिति स्थितम् ।

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते (अष्टा०सू०१-२-४४) । अर्थाधिकारादिह  
समासार्थमलौकिकं विग्रहवाक्यं समासः । तत्र विशेष्यसमर्पके पदे प्र-  
योगभेदादनेकविभक्तियुक्तेऽपि यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्या-  
त्पूर्वनिपातेतरस्मिन्कार्ये । अतिक्रान्तो मालामतिमालः । इहातिक्रान्त-  
मतिक्रान्तेनेत्यादिक्रमेण सकलविभक्तियोगेपि मालाशब्दस्य द्वितीया-  
नियमात् संज्ञायां सत्यां “गोस्त्रियोः” [अष्टा०सू०१-२-४८] इति ह्रस्वः ।  
एवं निष्कौशास्त्रित्यादि । एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम् [का०वा०] ने-  
३-अर्द्धे पिप्पल्याः अर्द्धपिप्पली । नन्वेवं ‘पञ्चखट्वा’ न सिध्येत् । स-  
त्यम् । अत एव संज्ञापूर्वकतया व्यवस्थितविभाषाश्रयणेन वार्द्धपिप्पली

साधयित्वा “षष्ठ्यन्त” [का० वा०] इति वार्त्तिकं नारब्धव्यमिति प्रामा-  
णिकाः । वस्तुतस्तु एकदेशिसमासविषयकोऽयं निषेधः । न चात्र  
प्रमाणाभावः । ‘पञ्चखद्बी’ इति द्वितीयभाष्यस्य प्रमाणत्वात् ।

इति शब्दकौस्तुभे प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीये पादे

प्रथममान्हिकम् ।



अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (अष्टा० सू० १-२-४५) । डित्था-  
दीन्यव्युत्पन्नान्युदाहरणम् । अव्युत्पत्तिपक्षस्य चेदमेव ज्ञापकम् । यत्तु  
व्युत्पत्तिपक्षेऽपि निपातार्थमनुकरणार्थं चेदमिति हरदत्तेनोक्तम्, तन्न ।  
तत्राऽपि प्रकृत्यादिकल्पनसम्भवादिति बोध्यम् । वस्तुतस्तु ‘बहुपटवः’  
इत्याद्यर्थमिदम् । न च तद्धितग्रहणे मत्वर्थलक्षणया निर्वाहः । ‘पचत-  
कि’ इत्यादावतिव्याप्तेः । अव्युत्पत्तिपक्षस्तु कमिग्रहणेन सिद्धे कंसग्र-  
हणेनैव ज्ञाप्यः । ज्ञापिते च तत्राप्यनेनैव संज्ञा सिध्यति । नन्वेतदेव ज्ञा-  
पकम् । बहुपूर्वे कृतार्थत्वादित्यवधेयम् । अर्थवत्किम् ? घनं वनमित्या-  
दौ प्रतिवर्णं संज्ञा मा भूत् । स्यादेतत्-विशिष्टरूपोपादानविषयतया  
अर्थवत्परिभाषाया इहाप्रवृत्तावपि अधातुरप्रत्यय इति पर्युदासादेव सि-  
द्धम् । न च “अधीते” ‘यावकः’ इत्यादौ इङ्ङुनौ निरर्थकावपि धातुप्रत्य-  
यौ स्त इति वाच्यम् । अडादिव्यवस्थायै इङ् एवार्थवत्त्वस्वीकारात् ।  
स्वार्थिकानाञ्च प्रकृत्यर्थेनार्थवत्त्वात् । न चेदं कल्पनामात्रमिति वा-  
च्यम् । डित्यादावपि तथात्वात् । उक्तं हि—“अर्थवत्ता नोपपद्यते के-  
वलेनावचनात् सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्” इति । कल्पिताभ्यामि-  
ति हि तदर्थः । वस्तुतः पदस्फोटवाक्यस्फोटयोरेवार्थवत्त्वात् । सत्यम् ।  
उत्तरार्थमर्थवद्ग्रहणं इह तु स्पष्टार्थम् । अधातुः किम् ? अहन् । नलो-  
पो मा भूत् । न च “सुपोधातु” (अष्टा० सू० २-४-७१) इति धातुग्रहणात्  
धातोर्नैव संज्ञेति वाच्यम् । ‘इणेनायते’ इत्यादौ प्रत्ययान्ते धातुग्रहण-  
स्य चरितार्थत्वात् । अप्रत्ययः किम् ? ‘पचति’ इति तिपो मा भूत् । सुपो-  
प्येवम् । न चैवन्तदन्तेषु अतिव्याप्तितादवस्थ्यम् । उत्तरसूत्रे तद्धितग्रह-  
णस्य नियमार्थत्वात् । तद्धितान्तानामेव तत्त्वप्रत्ययान्तानामिति । न  
च तत्रापि संज्ञाविधित्वेन तदन्तग्रहणं दुर्लभमिति वाच्यम् । अर्थवदि-  
त्यनुवृत्तिसामर्थ्यात्तत्सिद्धेः । प्रशंसायां हि मतुप् । एकार्थिभावेन लौ-  
किकप्रयोगे प्रसिद्धत्वञ्च प्रशंसार्थः । अधातुप्रत्ययाविति सिद्धे नञ्द्वयो-  
पादानं स्पष्टार्थम् । महासंज्ञाकरणं प्राचामनुरोधात् ।

कृत्तद्धितसमासाश्च (अष्टा० सू० १-२-४६) । अर्थवन्त एते प्रातिपदि-



कसंज्ञाः स्युः । विशेषणसामर्थ्यात्तदन्तविधिः । न हि जहत्स्वार्थायां वृत्तौ कृतान्तद्धितानां चार्थोऽस्ति । भूतपूर्वगतिलभ्यस्तु न प्रशस्तः सः । भित्, छित् । अत्राधातुरिति पर्युदासे प्राप्ते कर्त्ता, हर्त्ता, अत्र तद्धितान्तानामवेति नियमेन निरासे प्राप्ते. सन्निहितत्वाच्च कृद्ग्रहणेन प्रागुक्तमेव बाध्यते न तु समासग्रहणकृतो नियमोऽपि । तेन कृद्ग्रहण-परिभाषानुपस्थानात् 'मूलकेनोपदंशम्' इति वाक्यस्य न भवति । ननु बाध्यसामान्यचिन्तायां समासनियमोऽपि बाध्येत । विशेषचिन्तायां तु मध्येपवादन्यायावतारात्तद्धितनियमोऽपि न बाध्येतेति चेत्, सत्यम् । आद्ये एवेह पक्षः । न च वाक्येऽतिप्रसङ्गः । शब्दाधिकारमाश्रित्येहार्थ-वच्छब्देनैकार्थीभावविवक्षणात् । अतिशये मतुप्स्मरणात् । वक्ष्यमाण-रीत्या "अप्रत्यय" इति निषेधः प्रत्ययान्तपर इति पक्षे तु मध्येपवाद-न्यायात् सर्वेष्टासिद्धिः । अप्रत्यय इत्यस्य प्रत्याख्यानपक्षेऽपि पुरस्ताद-पवादन्यायादिष्टसिद्धिरिति दिक् । तद्धितः-औपगवः । अत्राऽनेन पूर्वेण वा संज्ञा नियमविधीनां विधिरूपेण निषेधरूपेण वा प्रवृत्तिरिति मत-भेदस्योक्तत्वात् । एवं समासेऽपि । न चासमर्थसमासेषु विध्यर्थं समा-सग्रहणमिति वाच्यम् । अर्थवद्ग्रहणानुवृत्तेरुक्तत्वात् । असमर्थानां तर्हि कथं संज्ञेति चेत्, धर्मिग्राहकमानादेवेति गृहाण । "असूर्यललाटयोः" (अष्टा०सू०३-२-३६) इत्यादिना हि समास उपपदे कृद्धिधीयते । उपप-दश्च महासंज्ञाकरणबलाद्विभक्त्यन्तमेव । न चैवमपि स्त्रीप्रत्यये तदादि-नियमाभावात् 'राजकुमारी' इत्यादौ प्रत्ययान्ते विध्यर्थं तदिति वा-च्यम् । अन्तरङ्गस्याऽपि हल्ङयादिलोपस्य लुग्विषये प्रवृत्त्या श्रूयमाण एव सुपि समासप्रवृत्तेः । अत एव 'गोमत्प्रियः' इत्यादौ नुमादयो नेति वक्ष्यते । तस्मात्प्रकृते समासग्रहणं नियमार्थं सद्वाक्यस्य संज्ञां निवर्त-यतीति स्थितम् । नियमश्च सजानीयाऽपेक्षः । यत्र पूर्वो भागः पदमुत्त-रश्च प्रत्ययभिन्नः तादृशस्य समुदायस्य चेत्स्यात्तर्हि समासस्यैवेति । बहुविधेऽपि समासे पूर्वभागस्य पदत्वाव्यभिचारात् । तेन बहुच्पूर्व-स्यास्त्येव संज्ञेति 'बहुपटवः' इति टकारस्योदात्तना लभ्यते । प्रथमस्य जसो लुकि "चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्" (का०वा०) इति चित्स्वरे कृते पुनर्विभक्त्युत्पत्तेः । अन्यथा तु जसेवोदात्तः स्यात् । उत्तरश्चेत्यादि किम् ? 'हरिषु' इत्यादेरनेन व्यावृत्तिर्मा भूत् । एवमस्तु, को दोष इति चेत् ? शृणु । तथासति 'जन्मवान्' इत्यादौ तद्धितान्ते विध्यर्थं तद्धित-ग्रहणं स्यात् 'राजानौ' इत्यादेस्तु प्रातिपदिकत्वं केन वार्यताम् । न ता-वदनेन नियमेन, पूर्वभागस्यापदत्वात् । नापि तद्धितग्रहणेन, तस्योक्त-



रीत्या नियमार्थत्वायोगात् । न च “सुपोधातुप्रातिपदिकयोः” (अष्टा०सू० २-४ ७१) इति धातुग्रहणं प्रत्ययान्तानां प्रातिपदिकसंज्ञा नेति ज्ञापकमिति वाच्यम् । तस्य ‘प्रासादीयति’ इत्यादौ ‘हरिषु’ इतिवदप्रातिपदिके चरितार्थत्वात् । नापि डचाग्रहणं ज्ञापकम् । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सिद्धौ तस्यान्यार्थताया एव सिद्धान्तयिष्यमाणत्वात् । तस्मादुक्तमेव साधु । यद्यपि प्रकृतिप्रत्ययभावानापन्नसंघातविषयको नियम इत्यपि सुवचं तथापि “सरूप” (अष्टा०सू० १-२-६४) सूत्रे समुदायाद्विभक्त्युत्पत्तिरिति ग्रन्थं योजयितुमिदं गौरवमादृतम् । निष्कर्षे तु तथैवास्तु । तथा च तद्धितग्रहणं नियमार्थमेव । भेदसंसर्गद्वारकमर्थवत्त्वमिति कैयटस्याप्ययमेव भावः । भेदे परस्परपरिहारेण प्रयोगे सति यः संसर्गस्तद्वारकमित्यर्थात् न तु भेदः संसर्गो वा द्वयं वा वाक्यार्थ इत्याशयेन तद्ग्रन्थः । बहुच्समासयोर्वैरूप्यालाभात् । यद्वा-“सात्पदाद्योः” (अष्टा०सू० ८-३-१११) इतिसातिग्रहणात्प्रत्ययो न प्रातिपदिकमिति सिद्धे पूर्वसूत्रस्थं प्रत्ययग्रहणं सामर्थ्यात्तदन्तपरम् । तद्धितग्रहणन्तु विध्यर्थमेव । स्यादेतत्-पक्षत्रयेऽपि ‘राजपुरुषौ’ इत्यादौ ‘पुरुषौ’ इत्यादेः संज्ञा दुर्वारेति प्रातिपदिकावयवत्वात्सुपो लुक् स्यादिति चेन्मैवम् । जहत्स्वार्थायामानर्थक्यात् । अजहत्स्वार्थायामपि पूर्वपदविनिर्मुक्तस्य विशिष्टार्थविरहेण तत्सहितस्यैव विशिष्टार्थगमकत्वात् । प्रशंसायां हि मतुबित्युक्तम् । एवं ‘घटपटौ’ इत्यादावपि मिलितयोरेव पदयोः सहभूतार्थता । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वाच्च । “घटौ” इत्यंशो नार्थवानिति । एतेनासमर्थसमासे दशदाडिमादिवदनर्थके विध्यर्थे समासग्रहणं किं न स्यादिति चोक्तं प्रत्युक्तम् । अर्थवद्ग्रहणस्येहार्थताया एवोक्तत्वादिति दिक् । यदि तु नैयायिकरीत्या अर्थवत्त्वं वृत्तिमत्त्वं तच्च समासस्य नास्तीत्याश्रित्य समासग्रहणं विध्यर्थम् । तद्धितग्रहणमपि तथा । अप्रत्यय इति तु प्रत्ययवारणार्थमित्याश्रीयते तथापि न क्षतिः । तद्धितग्रहणस्य तद्विशिष्टपरतामाश्रित्य ‘बहुपटवः’ इत्यस्य सुसाधत्वात् । किन्त्वस्मिन्पक्षे सिद्धान्तविरोधः ‘मूलकेनोपदंशं’ पचत किं’ इत्यत्रातिप्रसङ्गश्चेति यथास्थितमेवास्तु । इह प्रकरणे यथाश्रुताः प्राचां ग्रन्था दुष्टा एवेत्यवधार्यम् । निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिकसंज्ञा वक्तव्या येषां द्योत्योप्यर्थो नास्ति तदर्थमिदम् । ‘अवद्यति’ । अनुक्तसमुच्चयार्थाच्चकारात्सिद्धमिदम् । अनुकरणेषु तु अनुकरणेन सहाभेदविवक्षायामर्थवत्त्वाभावाच्च प्रातिपदिकता, “भू सत्तायाम् (भ्वा०प० १) इति यथा । भेदविवक्षायां तु संज्ञा स्यादेव । “भूवो नृग” (अष्टा०सू० ६-४-



८८] इति यथा । न चाधातुरिति पर्युदासाऽपत्तिः । प्रकृतिवदनुकरण-  
मित्यतिदेशस्यानित्यतयोवङंशे प्रवृत्तावपि संज्ञांशे अप्रवृत्तिसम्भवात् ।  
एतच्च “ऋलृक्” [मा०सू०२] सूत्रे उपपादितम् ।

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य [अष्टा०सू०१-२-४७] । क्लीबे प्रातिप-  
दिकस्याजन्तस्य ह्रस्वः स्यात् । श्रीपे कुलम् । प्रातिपदिकग्रहणसाम-  
र्थ्यान्नेह—काण्डे, कुड्ये । इह तु “अन्तादिवच्च” (अष्टा०सू०६-१-८५)  
इत्यतिदेशेनाऽस्ति प्राप्तिः । न च द्विकपक्षे ‘वारिणी’ इति व्यावर्त्य  
कृतार्थतेति वाच्यम् । तत्रापि प्रातिपदिकमित्यस्यानुवृत्त्या सिद्धे साम-  
र्थ्यस्य सुवचत्वात् । लक्ष्यानुरोधेन पक्षान्तरस्यैव सुग्रहत्वाच्च । यद्वा-  
कार्यकालपक्षं प्रत्ययान्तस्य नेति प्रसज्यप्रतिषेधं चाश्रित्य समाधेयम् ।  
न चैवं ‘ब्रह्मबन्धुः’ इत्यत्र स्वादयो न स्मुरिति वाच्यम् । लिङ्गविशिष्ट-  
परिभाषया ‘स्वश्रूः’ इत्यत्रैव तत्सिद्धेः ।

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (अष्टा०सू०१-२-४८) । उपसर्जनं यो गोशब्द-  
स्तादृगेव च यत्स्त्रीप्रत्ययान्तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् ।  
चित्रगुः, निष्कौशाश्विः । उपसर्जनस्य किम् ? सुगौः, राजकु-  
मारी, स्त्रीशब्दः स्वर्यते । तेन स्थधिकारोक्तप्रत्ययग्रहणाच्चेह—अति-  
लक्ष्मीः, अतिश्रीः । कथं ‘गोकुलं’ ‘राजकुमारीपुत्रः’ इति चेत्, शृणु ।  
उपसर्जनस्य ससबन्धिकतया यस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो विधीयते  
तदर्थं प्रति यद्युत्तरपदभूतयोर्गोस्त्रियोगुणीभावस्तदेदं ह्रस्वत्वम् । न  
चेह नदस्ति । गोः कुलं प्रति गुणीभावेऽपि गां प्रत्ययतथात्वात् । कुमा-  
र्याश्च पुत्रं प्रति गुणीभावेऽपि राजानं प्रत्ययतथात्वात् । शास्त्रायं चेहो-  
पसर्जनं गृह्यते । कृत्रिमत्वात् । अत एव प्रत्ययमात्रस्य तथात्वासम्भवा-  
त्तदन्तलाभः । यदि तु लौकिकमुपसर्जनत्वं गृहीत्वा प्रत्यय एव विशो-  
ष्येत तदा हरीतक्याः फलानि ‘हरीतक्यः’ इत्यत्रातिव्याप्तिः स्यात् ।  
स्पष्टञ्चेदं “उपमानानि सामान्यवचनैः” (अष्टा०सू०२-१-५५) इति सूत्रे  
भाष्ये । अथ कथं राजकुमारीमतिक्रान्तः ‘अतिराजकुमारीः’ इति  
“अनुपसर्जने स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमो न” इत्युक्ततया राजकुमारीशब्द-  
स्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वादित्यवेहि । अतिक्रान्तमिति ह्यसावुपसर्जनं न तु  
राजानमप्रतीति विवेकः । अत्रत्यः कैयटस्तथापातत इत्यवधेयम् । अत्र  
वार्त्तिकम्—“ईयसो बहुव्रीहौ पुंवद्वचनम्” (का०वा०) इति । ईयसन्ताद्यः  
स्त्रीप्रत्ययस्तदन्तान्तो यो बहुव्रीहिस्तत्र ह्रस्वो नेत्यर्थः । “गोस्त्रियोः”  
(अष्टा०सू०१-२-४८) इति ह्रस्वो विहितः । तत्र पुंसि यथा स्त्रीप्रत्यया-  
न्तता नास्ति तथेह बोध्यमित्येवं वचनव्यक्त्या ह्रस्वाभावः पर्यवस्यति ।



बहुवचः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी । “ईयसश्च” (अष्टा०सू०५-४-१५६) इति कविनेधः । बहुव्रीहौ किम् ? अतिश्रेयसि ।

लुक्छितलुकि (अष्टा०सू०१-२-४९) । तद्धितलुकि सति उपसर्जन-स्त्रीप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । लुक् तावत्प्रत्ययस्यैव सम्भवति, न तु तदन्तस्य । अत एवोपसर्जनमिह लौकिकम् न तु पूर्ववच्छास्त्रीयम्, असम्भवात् । नहि प्रत्ययमात्रं शास्त्रीयमुपसर्जनम् । आमलक्याः फलमामलकम् । “नित्यं वृद्धशरादिभ्यः” (अष्टा०सू०४-३-१४) इति मयटः फले लुक् । ततोऽनेन गौरादिर्डीषो लुक् । इह पूर्वसूत्रस्यावकाशो ‘निष्कौशाम्बिः’ । अस्यावकाशः ‘आमलकम्’ । पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य ‘पञ्चन्द्रः’ इत्यत्र तु परत्वाल्लुगेव ।

इद्रोण्याः [अष्टा०सू०१-२-५०] । गोण्या इत्यात्तद्धितलुकि । लुकोऽपवादः । पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पटः पञ्चगोणिः । दशगोणिः । गोणी-शब्दः परिमाणवचन आवपनवचनश्च । तत्राद्यात् “प्राग्वतेष्टञ्” (अष्टा०सू०५-१-१८) द्वितीयादार्हीयष्टक् । तयोरध्यर्थेति लुक् ।

लुपि युक्तव्यक्तिवचने [अष्टा०सू०१-२-५१] । प्राचामिदं सूत्रं दूषणार्थं पाणिनिरनुवदति । लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालाः, क्षत्रियाः, पुल्लिङ्गबहुवचनविषयाः । तेषां निवासो जनपदः पञ्चालाः । पञ्चालस्यापत्यानि बहूनि । “जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्” [अष्टा०सू०४-१-१६८] “ते तद्राजाः” [अष्टा०सू०४-१-१७४] “तद्राजस्य बहुषु” [अष्टा०सू०२-४-६२] ततः “तस्य निवासः” [अष्टा०सू०४-२-६९] इत्यणो “जनपदे लुप्” [अष्टा०सू०४-२-८१] लुपि किम् ? लवणस्सूपः । “संसृष्टे” [अष्टा०सू०४-४-२२] “लवणाल्लुक्” [अष्टा०सू०४-४-२४] व्यक्तिवचने किम् ? हरीतकी पञ्चाला इत्यादिषु षष्ठ्या अतिदेशो मा भूत् । समासे उत्तरपदस्य बहुवचनस्य लुपः नियमार्थमिदम् । मथुरा पञ्चालाः । उत्तरपदस्यैवेति नियमाज्ञेह । पञ्चालमथुरे । बहुवचनस्य किम् ? गोदौ ग्रामो मथुरा च गोदमथुराः । पूर्वपदस्य द्वित्वातिदेशः स्यादेव ।

विशेषणानाञ्जातेः (अष्टा०सू०१-२-५२) । लुबर्थस्य विशेषणानामपि तद्वल्लिङ्गवचने स्तो जातिं वर्जयित्वा । पञ्चाला रमणीयाः । गोदौ रमणीयौ । अजातेः किम् ? पञ्चाला जनपदः । गोदौ ग्रामः । कथं तर्हि पञ्चाला जनपदौ रमणीय इति । जातिविशेषणत्वादिति गृहाण । पञ्चालविशेषकत्वे तु रमणीया इति भवत्येव । स्यादेतत्-लुपोऽन्यत्राऽपीदं तुल्यम्, ‘वदरीवृक्षः’ इत्यत्र सूक्ष्मकण्टका सूक्ष्मकण्टक इति प्रयोगयो-



विशेष्यभेदेन व्यवस्थास्वीकारात् । तर्हि सूत्रेण ? सत्यम् । गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानीति सूत्रार्थः । तथाहि-जातिभिन्नानि यानि विशेषणानि तेषां युक्तवत्, विशेष्यवदित्यर्थः । गुणवचनानामित्युद्देशेऽपि जातिभिन्नं गुणशब्दार्थः । तदुक्तममरेण—

स्त्रीदाराद्यैर्यद्विशेष्यं यादृशैः प्रस्तुतं पदैः ।

गुणद्रव्यक्रियाशब्दास्तथा स्युस्तस्य भेदकाः” [अ०को०३-१-२] इति ।

सामान्ये नपुंसकस्य न्यायप्राप्तस्यापवादोऽयम् । तेन शुक्लं पटा इति न भवति । अनित्यश्चायमतिदेशः । “संस्कृतं भक्षाः” (अष्टा०सू०४-२-१६) इत्यादिलिङ्गात् । लक्ष्यानुरोधाद्यवस्था । हरीतक्यादिषु व्यक्तिः । नियमार्थमिदम् । तेन वचनं न युक्तवत् । हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः । गौरादिङीष्णतात् “अनुदात्तादेश्च” [अष्टा०सू०४-३-१४०] इति लुप् । खलतिकादिषु वचनम् । अयमपि नियम एव । खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभवानि वनानि खलतिकं वनानि । खलतिको वरणादिः । मनुष्यलुपि प्रतिषेधः (का०वा०) मनुष्यलक्षणे लुबर्थे विशेषणानां प्रतिषेधः । लुबन्तस्य तु भवत्येव । चञ्चा तृणमयः पुमान् । स इव चञ्चाऽभिरूपः । “संज्ञायाम्” [अष्टा०सू०५-३-८७] इति कन् “लुम्भनस्ये” [अष्टा०सू०५-३-९८] इति लुप् । चर्मविकारविशेषो वर्धिका । स इव वर्धिका दर्शनीयः । तदिह द्वे वार्तिके आद्यस्य तृतीयन्तु द्वितीयस्यापवाद इति स्थितम् । इदं त्ववधेयम् । इहाभिरूपदर्शनीयपदयोर्विशेष्यलिङ्गे प्रतिषिद्धे नपुंसकत्वं प्राप्नोति । भाष्यकारीयोदाहरणसामर्थ्यान्न भवतीति ।

तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् [अष्टा०सू० १-२-५३] । तत्-युक्तवद्वचनम् । अशिष्यम्-अकर्तव्यम् । कुतः ? संज्ञानां प्रमाणत्वात् । अयं भावः-पञ्चाला वरणा इत्यादयो न यौगिकाः । तन्निवासोऽपि देशान्तरे अप्रयोगात् । “देशे तन्नास्ति” [अष्टा०सू० ४-२-६७] इत्यधिकृत्यादूरभवे प्रत्ययविधानाच्च । किन्तु संज्ञाशब्दा एते । ते च यल्लिङ्गसख्यतया लोके प्रसिद्धास्तत्र प्रमाणभूता एव । तदर्थप्रमाणका इत्यर्थः । यथा आपो दारा वनं गृहाः सिकता वर्षा इत्यादौ । नेह शास्त्रेणुशासनमारुह्य तदर्थमपि मास्तु । किञ्च—

लुब्धोगाप्रख्यानात् [अष्टा०सू० १-२-५४] लुब्धयशिष्यः । “जनपदे लुप्” (अष्टा०सू० ४-२-८१) “वरणादिभ्यश्च” (अष्टा०सू०४-२-८२) इति । कुतः ? योगस्यावयवार्थस्येह अप्रख्यानात् अप्रतीतेः । तथा चात्र “तस्य निवासः” (अष्टा०सू०४-२-६९) “अदूरभवश्च” (अष्टा०सू०



४-२-७०) इति तद्धितो नैवोत्पद्यते किं लुपो विधानेनेत्यर्थः ।

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् [अष्टा०सू० १-२-५५] । चकारो ह्यर्थे । यदि हि योगस्यावयवार्थस्येदं प्रमाणं बोधकं स्यात्तदा तदभावे न दृश्येत । दृश्यते च सम्प्रति । विनैव क्षत्रिययोगं जनपदे पञ्चालशब्दः । न च भूतपूर्वगतिः । क्षत्रिययोगादेशे देशयोगाद्वा क्षत्रिये शब्द इत्यत्र विनिगमकाभावेन वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वापत्तेरिति भावः । अतोऽक्षादिवज्जनार्था एवैते इति तत्त्वम् ।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् [अष्टा०सू० १-२-५६] । प्रत्ययार्थः प्रधानमित्येवरूपं वचनमपि अशिष्यं कुतः ? अर्थस्य लोकत एव सिद्धेः । आख्यातस्य क्रियाप्रधानतया व्यभिचाराच्चेत्यर्थः ।

कालोपसर्जने च तुल्यम् [अष्टा०सू० १-२-५७] । अतीताया रात्रेः पञ्चाद्वेन आगामिन्याः पूर्वाद्वेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः । विशेषणमुपसर्जनमित्यादिक्रमेण काल उपसर्जनं च पूर्वाचार्यैः परिभाषितं तत्रापि तुल्यम् । अशिष्यत्वं समानमित्यर्थः । लोकप्रसिद्धत्वादेवेति भावः ।

जात्याख्यायामेकास्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् [अष्टा०सू० १-२-५८] ब्राह्मणाः पूज्याः । ब्राह्मणः पूज्यः । एकोऽप्यर्थो वा बहुवदित्यतिदेशाद्विशेषणादपि सिद्धम् । बहूनां वचनं बहुवचनं प्रतिपादनमिति व्याख्यानाच्चातिदेशः फलितः ।

अस्मदो द्वयोश्च [अष्टा०सू० १-२-५९] । एकत्वे द्वित्वे च विवक्षितेऽस्मदो बहुवचनं वा स्यात् । वयं ब्रूमः । पक्षे अहं ब्रवीमि । आवां ब्रूव इति वा । सविशेषणस्य प्रतिषेधः [का० वा०] । पटुरहं ब्रवीमि । कथं तर्हि “त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुपञ्चाभिमानोन्नताः” (वै०श० २३) इति भर्तृहरिः । अन्नोन्नतत्वस्य विधेयत्वाद्भवत्येव । अनुवाद्यविशेषणपरत्वात्प्रतिषेधस्येति हरवत्तः । भाष्ये त्वेतत्सूत्रं प्रत्याख्यातम् । तथाहि-अहङ्कारावच्छिन्नमेध्यस्तानाञ्चक्षुरादीन्द्रियाणां तत्तादात्म्यादहमुल्लेखगोचरता भेदाभेदप्रतीतिश्च । अहं शृणोमीति वन्मम श्रोत्रं शृणोतीत्यपि व्यवहारात् तत्र चक्षुरादीनां बहुत्वाद्भेदस्वातन्त्र्ययोर्विवक्षायां ‘वयं ब्रूमः’ इति सिद्धम् । अभेदमात्रविवक्षायां तु एकवचनम् । न च गौणता । ‘गौरोऽहम्’ इत्यादीनां यावद्व्यवहारं बाधाभावात् । एतेन “पुण्यादिगुरावेकेषाम्” इति वृत्तिकारेण पठितमपि गतार्थम् । त्वं गुरुर्गुरु गुरव इत्यस्योक्तरीत्या सिद्धेः । अत एव “आचार्याः कथयन्ति” इत्यादिलौकिकप्रयोगोऽपि सङ्गच्छते ।



फल्गुनीप्रोष्ठपदानाञ्च नक्षत्रे [अष्टा०सू० १-२-६०] । द्वयोरित्यनु-  
कर्षाद् द्वित्वं बहुत्वप्रयुक्तं कार्यं वा विधीयते । तेन विशेषणस्य सि-  
द्धम् । पूर्वं फल्गुन्यौ पूर्वाः फल्गुन्यः । पूर्वं प्रोष्ठपदे पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ।  
नक्षत्रे किम् ? फल्गुन्यौ माणविके । फल्गुन्योर्जाते इत्यर्थः । “फल्गु-  
न्यषाढाभ्यां टानौ” (का०वा०) इति टः । टित्वान् ङीप् । एकस्यान्तु  
तारायां नेमौ शब्दौ प्रयुज्येते । उद्भूतावयवभेदे समुदाय एव निरु-  
द्धत्वात् । सूत्रे तु नक्षत्रे इति प्रथमाद्विवचनं नक्षत्रेयद्यभिधीयेते इत्यर्थात् ।

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् [अष्टा०सू० १-२-६१] । द्वयोरेकवचनं  
वा स्यात् । पुनर्वसुर्नक्षत्रमदितिर्देवता । पुनर्वसु वा । लोके तूद्भूताव-  
यवसमुदाये निरुद्धत्वाद् द्विवचनमेव । गाङ्गताविव दिवः पुनर्वसु ।

विशाखयोश्च [अष्टा०सू० १-२-६२] । प्राग्वत् । विशाखा नक्षत्रमि-  
न्द्राग्नी देवता । पक्षे विशाखे । छन्दसीत्यनुवृत्तेर्लोके ‘विशाखे’ इत्येव ।  
अमरस्तु-“राधाविशाखा” (अ०को० १-३-२२) इति प्रयुज्जानो द्विवच-  
ननियमं नेच्छति । सूत्रे तूदासीनम् ।

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् [अष्टा०  
सू० १-२-६३] । छन्दसीति न सम्बध्यते पूर्वत्र चकारेणानुवृत्त्यात् ।  
एतदर्थ एव हि पूर्वत्र योगविभागः । तिष्य एकः । पुनर्वसु द्वौ । तेषां  
द्वन्द्वो बह्वर्थः । तत्र बहुत्वं द्वित्ववद्भवतीत्यतिदेशोऽयम् । तिष्यपुन-  
र्वसु उदितौ । तिष्यपुनर्वसू इति किम् ? विशाखानुराधाः । नक्षत्रेति  
किम् ? तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः । तिष्यपुनर्वसुशब्दाभ्यां “नक्षत्रेण  
युक्तः कालः” (अष्टा०सू० ४-२-३) इत्यण् “लुबविशेषे” (अष्टा०सू०  
४-२-४) ततो जातार्थे “सन्धिवेलादि” (अष्टा०सू० ४-३-१६)  
सूत्रेणाण् । तस्य “श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधा” (अष्टा०सू० ४-२-३४) इत्या-  
दिना लुक् माणवकवृत्तिरयं द्वन्द्वो न तु नक्षत्रवृत्तिः । न चायं गौणः ।  
यौगिकत्वात् । ननु नक्षत्रे इत्यनुवृत्त्या सिद्धमेतत् । किं पुनर्नक्षत्रग्रह-  
णेन । अत्र भाष्यम्-“पर्यायाणामपि यथा स्यात्” इति । तस्याऽयं  
भावः-तिष्यपुनर्वस्वोः शब्दयोरभिधेये नक्षत्रे वर्तमानो यो नक्षत्रश-  
ब्दानां द्वन्द्व इति व्याख्यानात् । पुष्यपुनर्वसु सिध्यपुनर्वसु इत्यपि  
सिध्यतीति । स्यादेतत्-यथा “भावे चाकर्मकेभ्यः” (अष्टा०सू० ३-४-६९)  
इत्यकर्मकश्रुत्यान्तरङ्गं द्रव्यकर्म निषिध्यते न तु बहिरङ्गं कालादि कर्म  
तथान्तरङ्गस्य कालस्य व्यावृत्त्या बहवस्तिष्यपुनर्वसवोऽतिक्रान्ता  
इत्यादेः सिद्धावपि माणवकस्य बहिरङ्गस्य व्यावृत्तये पुनर्नक्षत्रग्रहण-  
मस्तु । यद्वा-तिष्यपुनर्वस्वोरिति योगं विभज्य देशान्तरस्थमपि



तिष्यस्य कार्यं नक्षत्र एवेति व्याख्यास्यते । तेन “तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोपः” (का वा०) इति सिद्धम् । तस्माद्बहिरङ्गव्यावृत्त्या योगविभागेन वा कृतार्थं नक्षत्रग्रहणं कथं पर्यायग्रहणार्थं स्यात् । उच्यते-अकर्म-कशब्दः श्रुत्यैव कर्म व्यावर्त्तयन् मुख्यमन्तरङ्गमेव व्यावर्त्तयतीति युक्तम् । नक्षत्रशब्दस्तु स्वार्थार्पणप्रनाड्या अर्थान्तरं व्यावर्त्तयन्नवि-शेषादुभौ व्यावर्त्तयतीति नाद्यं फलम् । नापि द्वितीयम् । पुष्यार्थवच-नस्यावश्यकत्वात् । अत एव पक्षद्वयेऽप्यपरितोषाद्भाष्ये पक्षान्तर-मुक्तम् । द्वन्द्व इति किम् ? यस्तिष्यस्तौ पुनर्वसू येषान्ते तिष्यपुनर्वसवः । तिष्यादय एव विपर्ययविषया इह बहुव्रीहिणोच्यन्ते । अतो भवत्ययं नक्षत्रसमासः न तु द्वन्द्वः । बहुवचनस्य किम् ? इदं तिष्यपुनर्वसु । सर्वौ द्वन्द्वो विभाषयैकवत् । न्यायसिद्धं चेदम् । प्राण्यङ्गादीनां समा-हार एवेति हि नियमः । न तु विपरीतः । “चार्थे द्वन्द्वः” (अष्टा०सू०) २-२-२९) इति पृथग्विधानात् । प्रकृतसूत्रे बहुवचनग्रहणाच्चेति दिक् ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीये पादे  
द्वितीयमान्हिकम् ।



सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ [अष्टा०सू०१-२-६४] । समानायां विभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषां मध्ये एक एव शिष्यते । अनैमित्तिकत्वेनान्तरङ्गोऽयमेकशेषः सुबुत्पत्तेः प्रागेव उच्यन्तावन्त-प्रातिपदिकानां प्रवर्त्तते । हरिणी मृगी हरितवर्णा च, तयोः सह विव-क्षायां हरिण्यौ हरिण्यः । क्षितिक्षान्तरयोः क्षमा । “वासोन सम्यक् क्षम-योश्च तस्मिन्” इति श्रीहर्षः, “श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य” इति च । “सकृच्छ्रुतात्सकृदर्थः प्रत्ययः” इति मते शब्दसारूप्येऽपि द्वन्द्वः स्यात् । अथाऽपि तन्त्रेणानेकार्थताभ्युपगम्यते एवमपि सर्वत्र तन्त्रेणैव बोधनीयमिति नियमाभावात् पाक्षिको द्वन्द्वो दुर्वारः । आरब्धे स्वेक-शेषे सुबन्तद्वयविरहात् द्वन्द्वस्याप्राप्तिरेव फलिता भवति । अत एव एकशेषस्य द्वन्द्वापवादकतैत्युद्धोषः । “इको गुणवृद्धी” (अष्टा०सू०१-१-३) इत्यस्य “अलान्त्य” (अष्टा०सू० १-१-५२) अपवादकतैति पक्षेऽपवा-दशब्दस्येत्यमेव व्याख्यातत्वात् । अत एव ‘घटा’ ‘घटाः’ इत्यादीन्य-पीहोदाहरणानि । तत्रापि ऐच्छिकस्यानेकव्यक्तिबोधोद्देश्यकस्यानेक-विशकलितशब्दप्रयोगस्य घटोऽयं घटोऽयमिति बहुशो दर्शनेन तद्व-देव सहविवक्षायां ‘घटौ’ इत्यादिद्वन्द्वस्य दुर्वारत्वात् । एतेन “व्यर्थेषु



च मुक्तसंशयम्” (का० वा०) इति वार्त्तिकं दृष्ट्वा नानार्था एवेहोदाहरणमिति भ्राम्यन्तः परास्ताः । न च पदार्थतावच्छेदकभेदाभावाद् ‘घटौ’ इत्यादौ द्वन्द्वप्रसक्तैर्नेति वाच्यम् । “चार्ये द्वन्द्वः” (अष्टा० सू० २-२-२९) इति सूत्रेण साहित्यमात्रं तद्विधानात् । तस्य चैतरेतर-योगद्वन्द्वे एकशेषे च विशेषणत्वं प्रयोगोपाधित्वं वा । समाहारद्वन्द्वे तु प्राधान्येन भानमित्यन्यदेतत् । न चैवमपि ‘घटकलशौ’ इत्यादि-द्वन्द्वापत्तिः । “विरूपाणामपि समानार्थानाम्” (का० वा०) इति वा-र्त्तिकेन एकशेषात् । वस्तुतस्तु सौत्र एवायमर्थः । रूप्यते बोध्यते इति रूपम्, अर्थः समानं रूपं येषामिति सरूपाः । “ज्योतिर्जनपद” (अष्टा० सू० ६-३-८५) इति समानस्य सभावः । सरूपाश्च सरूपाश्च तेषामिति एकशेषेण व्याख्यानात् । न च स्वाङ्गे स्वव्यापारायोगः वाक्यापरिसमाप्तिन्यायादिति वाच्यम् । उद्देश्यतावच्छेदकरूपाकान्त-तया “तुल्यास्यप्रयत्नम्” [अष्टा० सू० १-१-९] इति वत्स्वस्मिन्नपि प्रवृत्तेः । एतद्विषयविवेचनं तु “अइउण्” (मा० सू० १) इत्यत्रैव कृतम् । अत एव जननीवाचिनो मातृशब्दस्य धान्यमापवाचिनस्तृजन्तस्य च एकशेषं निषेद्धुं प्रवृत्ते “मातृमात्रोः प्रतिषेधः सरूपत्वात्” (का० वा०) इति वार्त्तिके स्वान्तर्गते मातृमात्रोरित्यत्रापि निषेधप्रवृत्तिः । नन्वर्थविशेषोपहितयोरेव तत्राऽनुवादः । अन्यथा जननीवाचिनोरपि निषेधप्रापत्तेः । तत्कथं शब्दरूपपरे स्वान्तर्गते निषेधप्रवृत्तिरिति चेत्, “प्रकृतिवदनुकरणम्” इत्यतिदेशादिति गृहाण । सूत्रमतेत्तरसूत्रादेव-कारोऽत्राऽनुकुर्यते । तेन एकविभक्तौ याति सरूपाण्येवेति व्याख्या-नात्परिच्छेदवाचिनश्च “अप्तृन्” (अष्टा० सू० ६-४-११) इति सर्वनामस्थाने दीर्घविधानादसारूप्यादेकशेषाभावः । न च वाचनिकैकशेषविरहेऽपि श्लिष्टरूपकस्थल इव तन्त्रन्यायाश्रयेण पाक्षिक एकशेषो मातृमात्रोः स्यादेवेति वाच्यम् । यान्येकविभक्तौ सरूपाण्येव तेषामेवैकशेष इति नियमात् । न चैवं ‘घटघटौ’ इति पाक्षिकं दुर्वारमिति वाच्यम् । तन्त्रा-वृत्त्याद्याश्रयणेन सरूपाणामेकशेष एवेत्यपरनियमाश्रयणात् । तस्मात् ‘घटकुम्भौ’ ‘कुम्भकुम्भौ’ ‘मातृभ्यां’ चेति पाक्षिकमनिष्टत्रितयं प्राप्तं सूत्रेणाऽनेन वार्यते । ‘घटौ’ इत्यादिसिद्धिस्तु स्यादेवैतद्विनापि हि । जातिपक्षे व्यक्तिपक्षेऽपीति निष्कर्षसंग्रहः । स्यादेतत्—देवदेव इत्या-दावपि तर्ह्येकशेषः प्राप्नोति । न च ‘एकविभक्तौ’ इत्यनेन तद्वारणम् । तस्य सारूप्योपलक्षणत्वादेकशेषस्य चानैमित्तिकत्वात् । अथ वक्ष्यमा-णरीत्या एकशेषविशेषणतां ब्रूषे, तथाप्यनिस्तारः । देवदेव इत्यत्रापि



षष्ठीसमासादुपरि एकविभक्तेः सत्वात् । अन्तर्वर्तिन्योस्तु लुका लुप्त-  
त्वेन प्रत्ययलक्षणाभावात् । अत्राहुः--सहविवक्षायामेव एकशेषः । इत-  
रेतरयोगद्वन्द्वस्य विषये इति यावत् । अत्र ह्यनेकस्यार्थस्य मिलितस्ये-  
तरान्वयः स तथाभूतो विषयः । उक्तञ्च--

“अनुस्यूतेव भिन्नानामेका प्रख्योपजायते ।

यदा सहविवक्षान्तामाहुर्द्वैकशेषयोः” इति ।

अयञ्च विषयनियमोऽभिधानबलालभ्यते “बुद्धोयूना” [अष्टा०सू०  
१-२-६५] इत्यादिसूत्रेषु सहयोगे तृतीयायाः प्रयोगाच्च । यद्वा--पूर्व-  
सूत्रात् ‘द्वन्द्वे’ इत्यनुवर्त्तते । अर्थाधिकाराच्चेतरेतरयोगद्वन्द्वावगमः ।  
तेन द्वन्द्वे प्रसक्ते सतीति व्याख्यानादुक्तविषयनियमसिद्धिः । न च  
द्वन्द्वे कृते इत्येव व्याख्यायतामिति वाच्यम् । स्वरसमासान्तादिदोष-  
प्रसङ्गेन “कृतद्वन्द्वानामेकशेषः” इति पक्षस्य दूषयिष्यमाणत्वात् । एतेन  
“सारवसारवोर्मिजः” इति श्रीहर्षप्रयोगोऽपि व्याख्यातः । सरव्यां  
भवाः सारवाः । ते च ते आरवसहिताश्चेति कर्मधारये सहविवक्षा-  
विरहात् । “विद्वन्मानसराजहंस” इत्यादिश्लिष्टरूपके तु मानसमेव  
मानसमिति तन्त्रेण प्रयोगो न तु सौत्र एकशेषः । सहविवक्षाविरहात् ।  
‘सारवः’ इत्यत्राऽपि तथा स्यादिति चेत्, पक्षे एवमेव । तावताऽपि  
उभयप्रयोगस्य निर्वाह्यत्वात् । न चैवं समाहारद्वन्द्वविषये एकशेषानु-  
शासनात्पाक्षिकं ‘घटघटम्’ इत्यादि दुर्वारमेवेति वाच्यम् । तत्राऽनभि-  
धानस्यैव शरणीकरणीयत्वात् । अस्तु वा तत्राप्येकशेषप्रवृत्तिः । न  
चैवं नपुंसकतापत्तिः । समाहारद्वन्द्व एव तदनुशासनात् । तथा च प्रत्यर्थं  
शब्दनिवेश इति पक्षे “न ब्राह्मणं हन्यात्” इत्यादौ सकलव्यक्तिसङ्ग्रहो  
भविष्यतीति प्रतिव्यक्तिलक्षणं नावर्तनीयम् । “एकवच्चास्यान्यतर-  
स्याम्” [अष्टा०सू०१-२-६९] इति ज्ञापकादेकशेषे कृते एकवच्चावो-  
नेति तु तत्त्वम् । एकश्च एकश्च द्वौ च द्वौ चेत्यादौ तु द्वन्द्वैकशेषौ  
उभावपि अनभिधानेनैव वारणीयौ । उत्सर्गतः संख्याशब्दोऽप्येवमे-  
वेति बोध्यम् । ‘विंशति’ इत्यादौ त्वेकशेष इष्ट एवेति दिक् । एवं  
स्थिते सूत्रारम्भपक्षेऽपि बहुशोऽनभिधानस्यैवाश्रयणाद् ‘घटघटौ’ इ-  
त्यादावापि तथैवास्तु किं तन्निरासार्थं सूत्रारम्भेणेत्याशयेन भगवता  
एकशेषप्रकरणं प्रत्याख्यातम् । न चैवं ‘पितरौ’ इत्यत्र मातुः, ‘इवशुरौ’  
इत्यादौ श्वश्र्वादेश्च प्रतीतिः कथं स्यादिति वाच्यम् । एकशेषारम्भेऽपि  
तौल्यात् । यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीति चेत् तर्हि द्विवचना-  
द्युपाधिविशेषपुरस्कारेण पित्रादिशब्दानामेव मात्रादौ शक्तिर्निरुद्धल-



क्षणा चेति फलितोऽर्थः । तथा च लोकव्यवहारादेव तद्ग्रहसम्भवे न किञ्चिदनुपपन्नम् । न चैवं 'अग्निचित्' इत्यादौ किवादयोऽपि प्रत्याख्यायतामिति वाच्यम् । प्रत्ययलक्षणेन तुगागमप्रातिपदिकसंज्ञार्थं तदारम्भात् । तदेवं सरूपाणां विरूपाणां च सर्वमेकशेषं प्रत्याचक्षणेनापि भगवता सरूपसूत्रमात्रं तु शास्त्रीये व्यवहारे संज्ञापरिभाषादिवद्विनापि सहविवक्षामेकशेषं विधातुं भाविष्यतीत्याशयेन "द्विवचनेचि" (अष्टा० सू०१-१-५९) इत्यत्र एकशेष इति भाष्येऽभिहितमिति दिक् । आरभ्यमाणे तु सूत्रे यद्यपि षट् पक्षाः सम्भवन्ति तथापि तत्र त्रयो दुष्टा एव त्रयस्तु निर्दोषा इत्यवधेयम् । तथाहि—“पृथक् सर्वेभ्यो विभक्तौ परत एकशेषः” । “एकवचनान्तानां” च “अकृतद्वन्द्वानां वा” “समुदायादेकविभक्तौ वा” “युगपदधिकरणवचने वा” “अनैमित्तिको वा” इति षट् पक्षाः । तत्राद्ये एकशब्दः समानपर्यायस्तथा च वृक्ष स् वृक्ष स् इति स्थिते आद्ययोर्निवृत्तौ स् स् वृक्ष स् इति स्थिते संयोगान्तस्य पदान्तस्य लोप इति व्याख्याने मध्यमस्य सोर्लोपः । संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्येति व्याख्याने तु हल्ङादिलोपः तत्रापि सुतिसीति प्रत्ययैः प्रकृतेराक्षेप इति पक्षे तु न कस्य चिल्लोपः । सर्वथाऽपीष्टरूपं न सिध्यत्येव । आद्यन्तयोर्निवृत्तौ तु स् वृक्ष स् स् इति स्यात् । परयोर्निवृत्तौ तु वृक्ष स् स् इति स्यात् । तथा वृक्षा अनित्या इत्यादावन्तसुप्रत्ययश्रवणं स्यादिति दुष्ट एव प्रथमः पक्षः । द्वितीये तु वृक्ष स् इति सविभक्तिकस्यावस्थानात्, द्विवचनबहुवचनयोरनुत्पत्तिरेकवचनश्रवणञ्च स्यात् । तृतीये तु द्वन्द्वे इति अनुवर्त्य अभिमतवाक्यार्थो यद्यपि लब्धुं शक्यते तथापि अश्व अश्व औ इति स्थिते विभक्त्यपेक्षाच्छेषात्पूर्वमन्तरङ्गत्वात्समासान्तोदात्ते कृते यदि पूर्वशेषस्तर्हि सर्वानुदात्तं पदं स्यात् । परशेषे त्वन्तोदात्तं स्यात् । इष्यते त्वाद्युदात्तम् । अशेः कनिव्युत्पादनात् । “यो अश्वोभिर्वहते विभवो ह्यश्वः” इत्यादौ तथैव प्रयोगाच्च । किञ्च ऋक्च ऋक्च ऋचावित्यत्रान्तरङ्गत्वात् “ऋक्पूः” (अष्टा० सू०५-४-७४) इति समासान्ते कृते विभक्तेरकारेण व्यवधानादेकशेषो न स्यात् । समासान्तो हि समासभक्तस्तमेव न व्यवदध्यात् । स्वरूपं तु व्यवदधात्येव । “समासार्थोत्तरपदस्यावयवः” इति भाष्यमतेऽपि विरूपत्वादेकशेषो दुर्लभः । “विरूपाणामपि समानार्थानाम्” (का० वा०) इति तु यद्यपि प्राप्नोति तथापि पक्षे ऋक् इत्यस्य शेषे टापि ‘ऋचे’ ‘ऋचा’ इत्याद्यपि स्यात् । एवं पथा पथौ इत्याद्यपि पक्षे स्यात् । अपि च ‘करौ’ ‘कराः’ इत्यादि न सिध्येत् । प्राण्यङ्गानां समा-



हार एवेति नियमात् । अपि च 'सर्वेषाम्' इत्यादौ "द्वन्द्वे च" ( अष्टा० सू०१-१-३१ ) "विभाषाजसि" ( अष्टा०सू०१-१-३२ ) इति प्रवर्त्तत । अत एव विरूपैकशेषो न कृतद्वन्द्वानां तेषामित्यादौ "त्यदादीनिसर्वैः" ( अष्टा०सू०१-२-७२ ) इत्येकशेषे सर्वनामत्वाभावप्रसङ्गात्तदेवं त्रयः पक्षा दुष्टा इति स्थितम् । सिद्धान्तस्तु त्रेधा । तथाहि-राम राम राम इत्य-  
 प्रावयवानामिव समुदायस्याप्येका प्रातिपदिकसंज्ञा तावदस्ति । मि-  
 लितेनार्थवत्त्वात् । न चार्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थमित्यु-  
 क्तैः कथमेतदिति वाच्यम् ? नियमस्य सजातीयविषयकत्वेन यत्र समु-  
 दाये पूर्वं भागः पदं तत्रैव प्रवृत्तेः । अत एव 'बहुपटवः' इत्यत्र प्राति-  
 पदिकत्वं भवत्येवेत्युक्तं "अर्थवत्" ( अष्टा०सू०१-२-४५ ) सूत्रे । तथा  
 चैकाजिद्विचनन्यायेन समुदायप्रातिपदिकादेव द्विवचनबहुवचनयोरु-  
 त्पात्तिः । तावताप्यवयवानां संख्यान्वयेनानुग्रहसम्भवात् । तथा च  
 समुदायादेकविभक्तौ परत एकशेषः । 'रामकृष्णौ' इत्यादौ तु यद्यप्यु-  
 क्तीत्या समुदायादेकविभक्तिः प्राप्ता तथापि द्वन्द्वविधावनेकं सुबन्तमि-  
 त्यस्यानुवृत्त्या बाध्यते । अस्मिन्पक्षे मातृमात्रोरपि एकशेषः प्राप्तः ।  
 एकविभक्तावित्यस्यावृत्त्या एवकारस्य चानुकर्षणेन एकविभक्तौ यानि  
 सरूपाण्येवेति व्याख्यानाज्ज भवति । यद्वा-युगपदधिकरणवचनतायां  
 द्विवचनबहुवचनान्तानामेकशेषः । द्वन्द्वोऽप्यवम् । अजहतस्वार्थायां हि  
 वृत्तौ "रामकृष्णौ" इत्यादौ पूर्वपदमप्युभावमभिधत्ते तावेवोत्तरपदमपि ।  
 न चान्यतरवैयर्थ्यम् । परस्परसमभिव्याहारैर्नैवोभयार्थताध्यवसा-  
 यात् । तथा च द्वन्द्ववृत्तेः प्रागेकैकार्थतावगमोऽपि वृत्तावुभयामिधाना-  
 त्प्रत्येकं द्विवचनाद्युत्पात्तिः । एवमेकशेषवृत्तावपि परार्थामिधानं वृत्ति-  
 रिति सिद्धान्तात् । तथा च रामश्च कृष्णश्चेति लौकिकवाक्यस्यादूर-  
 विप्रकर्षेण विग्रहतया प्रदर्शनेऽपि अलौकिकद्वन्द्वैकशेषयोः प्रक्रियावा-  
 क्ये राम औ कृष्ण औ इति प्रविशति । तथा च विभक्त्यन्तानामेकशे-  
 षोऽपि निर्वाध एव । अथ वा उपक्रम एव यथा व्याख्यातं तद्रीत्या अ-  
 नैमित्तिक एवैकशेषः । तथा च पक्षत्रयं स्थितं सिद्धान्ते । अत्रेदमव-  
 धेयम्-उक्तपक्षत्रयमध्येऽपि समुदायादेकविभक्ताविति पक्षस्तावत् दुष्ट  
 एव मातृमातरावित्यत्रातिप्रसङ्गं वारयितुं एकविभक्तावित्यस्य सरूपा-  
 ण्येवेत्येतद्विशेषणतया आवश्यकत्वे स्थिते एकशेषविशेषविशेषणत्वा-  
 योगात् । आवृत्तौ मानाभावात् फलाभावाच्च । न च 'पयः पयो जरय-  
 ति' इत्यादिव्यावृत्तिः फलम् । सहविवक्षायामित्यस्य द्वन्द्वग्रहणबले-  
 नावश्यवाच्यत्वात् । अन्यथा 'पयः पयो नयति' इत्यत्र गौणमुख्यक-



र्मणोरिकशेषापत्तेः । 'देवदेवः' इत्यादावतिप्रसङ्गाच्च । प्रत्युत आवृत्यो-  
भयविशेषणत्वे 'मैक्षम्' इति न सिध्येत् । तथा हि भिक्षा ३ आम् अ  
इति स्थिते "अन्तरङ्गानपि विधीन्वाहिरङ्गोऽपि" इति लुकि कृते लुका  
लुप्ते प्रत्ययलक्षणविरहादेकशेषो न स्यात् तथा युगपदाधिकरणवचन-  
तापक्षोऽपि दुर्बलः । जहत्स्वार्थायां वृत्तौ तदयोगात् । तथा च द्वितीये  
भाष्यम् । सेयं युगपदाधिकरणवचनता दुःखा च दुरूपपादा चेति । तच्च  
तत्रैव स्फुटीकरिष्यामः । तस्मात्प्रागुक्तषट्पक्षीमध्येऽनैमित्तिकत्वपक्ष  
एव प्रबलः । इतरे पञ्चापि हेया इति तदभिप्रायकतयैव सूत्रं व्याख्यात-  
म् । 'पचति' इत्यादौ तु धातोर्द्विन्द्वादिप्रसक्तिरेव नास्ति यद्वाक्यशेषो  
मृयेत । न च मिलितालुडादिप्रसङ्गः । धातोरित्येकत्वस्य विवक्षितत्वा-  
त् । न चैकस्मादेव कर्तृद्वये लद्वयं कर्तृबहुत्वे लकारबहुत्वञ्च स्यादिति  
वाच्यम् । इष्टापत्तेः । 'लस्य' (अष्टा०सू०३-४-७७) इत्यत्र जातिवि-  
वक्षया लद्वयस्य तसादयः बहूनान्तु झियादय इति सुवचत्वात् । वस्तु-  
तस्तु "वर्तमाने लट्" (अष्टा०सू०३-२-१२३) इत्यादौ व्यक्तिनिष्ठैकत्वस्य  
विवक्षणान्न कश्चिद्दोषः । अत एव 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' इत्यादौ नानैक-  
त्वाभिधानार्थं विभक्तिपरम्परा नेति दिक् । 'गर्गौ' इत्यादावपि पितुरे-  
कत्वात्प्रकृतिरेकाप्रत्ययास्तु बहवः । सर्वेषां प्रकृत्यर्थान्विताभिधायित-  
या "विरूपाणामपि समानार्थानाम्" (का०वा०) इति गर्ग्यशब्दस्य  
शेषः । न च पक्षे यशब्दमात्रस्यापि तदापत्तिः । विकल्पस्याष्टदोषदुष्ट-  
त्वात् । न च विनिगमकाभावः । "अणुरपि" इति न्यायेन स्पष्टप्रतिपत्ति-  
सामर्थ्यस्यैव विनिगमकत्वात् । यद्वा—यज इत्यपि व्यक्त्यैक्यं विवक्षि-  
तम् । प्रतिप्रधानञ्च गुणावृत्तिः । गार्ग्यशब्दत्रयस्य चैकशेषः । उभयथा  
यजन्तं यद्वहुष्विति लुक् । न चैवं काश्यपस्य प्रतिकृतिः काश्यपः । ततः  
प्रतिकृतीनां सहविवक्षायां 'काश्यपाः' इत्यत्राऽपि अजन्तं बहुषु वर्त्तत  
इति लुक् स्यादिति वाच्यम् । "यस्कादिभ्यो गोत्रे" (अष्टा०सू०  
२-४-६३) इत्यतो गोत्र इत्यनुवृत्तेः । यद्यप्यपत्याधिकारादन्यत्र  
लौकिकं गोत्रं तथा हि "ऋषिप्रजन एव गोत्रं विवक्षितम्" इति  
'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्सनजौ" (अष्टा०सू०४-१-८७) इति सूत्रे कैयटः ।  
तेन 'पौत्राः' 'दौहित्राः' इत्यत्र न लुगित्यवधेयम् । एतेन संख्य-  
या कर्मभेद इत्यस्य व्युत्पादनाय प्रवृत्ते पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभे-  
दः स्यादित्यधिकरणे "सप्तदश प्राजापत्यान्" इत्युदाहृत्य

"किं त्वयं तद्धितान्तानामेकशेषः कृतो भवेत् ।

किं वा कृतैकशेषाणां पश्चात्तद्धितसङ्गतिः ॥"



इति वदतां भट्टानां ग्रन्थोऽपि व्याख्यातः । एयप्रत्ययान्ताना-  
 मेकशेषः । एयप्रत्ययान्तानामेव वेति तदाशयात् । कृतैकशेषाणां  
 प्रजापतिर्देवता येषामिति कृतैकशेषयच्छब्देनोपस्थापितानां तद्धितस-  
 ज्ज्ञतिस्तद्धितवाच्यता । तथा च मिलितानां देवतासम्बन्धं बोधयितुं  
 लौकिकविग्रहे येषामिति निर्देशः । वृत्तौ तु देवतावद्वाचकस्य तद्धितस्यै-  
 कशेष इति मिलितेषु पशुषु देवतान्वयादेको यागः । अग्नीषोमीय  
 इत्यादौ मिलितयोर्देवतायामभेदान्वये यथेत्युदात्तवार्त्तिकस्याुत्तरा-  
 र्धेऽर्थोध्यवसेयः । युक्तं चैतत् । प्रत्ययार्थबहुत्वं हि प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।  
 तत्कृतं चैकशेषत्वमिति न प्रकृतौ भवेदित्युत्तरवार्त्तिकस्यानुगुण्यात् ।  
 स्यादेतत्-प्रत्ययार्थस्यैकदेशे प्रकृत्यर्थो विशेषणम् । अभेदश्चेह सम्बन्ध  
 आग्नेयादावियं स्थितिरिति पक्षे देवतावतां साहित्यं लभ्यते न तु सहि-  
 तानां देवतात्वे देवतायां प्रदेये च खण्डशः शक्तिरिष्यत इति पक्षेऽपि  
 एकप्रत्ययोपात्तदेवतान्वयस्यान्तरङ्गत्वादेवमेवेति चेत्, सत्यम् । प्रदेये  
 एव शक्तिः प्रकृतेस्तु प्रत्ययसमभिव्याहारादेवतायां निरुद्धलक्षणेत्या-  
 शयेनाऽयं ग्रन्थो नेयः । केवलाद्देवतावाची तद्धितोऽग्नेः समुच्चरन्नित्या-  
 दिग्रन्थास्तु मतान्तराभिप्रायेण नेयाः । न चैवमपि विरूपैकशेषपक्षे स-  
 मानार्थतालाभार्थं प्रकृत्यर्थान्वयस्य प्राथमिकत्वं स्वीकार्यमेवेति वाच्य-  
 म् । ययय इत्येषामेकविभक्तिं प्रति प्रकृतित्वाभावेऽपि विभक्तौ परतः सा-  
 रूप्यसम्भवेन सरूपैकशेष एवेत्याशयात् । प्रकृतमनुसरामः । स्वरभि-  
 ज्ञानां यस्योत्तरः स्वरविधिः स शिष्यत इति वक्तव्यम् । तेन पूर्वोदात्तते  
 'हरिण्यौ' इत्यत्र डीबन्तस्य पित्वादनुदात्तप्रत्ययकस्य शेषः । न तु जा-  
 तौ पुंयोगे वा यो डीष् तदन्तस्य प्रत्ययस्वेरणान्तोदात्तस्य । ननु "वर्णा-  
 दनुदात्तात्" [अष्टा०सू०४-१-३९] इति डीषन्तस्यापि उदात्तनिवृत्ति-  
 स्वेरणान्तोदात्तता स्यादेवेति चेत्, भ्रान्तोसि । उदात्तनिवृत्तेरेवाभा-  
 वात् । "वर्णानान्तणतिनितान्तानाम्" (फि०सू०-३३) इति फिट्सूत्रेण  
 प्रकृतेरनुदात्तत्वात् । तदुक्तं वर्णादनुदात्तादिति । तथा मीमांसते इति  
 'मीमांसकः' लिट्स्वरेण मध्योदात्तः । मीमांसांमवाति मीमांसकः ।  
 "क्रमादिभ्यो वुन्" (अष्टा०सू०४-२-६१) । नित्स्वरेणाद्युदात्तः । उभयोः  
 सहविवक्षायामाद्युदात्तः । उभयोः सहविवक्षायामाद्युदात्तः शिष्यते नि-  
 त्स्वरस्य परत्वात् । अक्षौ अक्षाः । "अक्षस्यादेवनस्य" (फि०सू०३५)  
 इति फिट्सूत्रेण शकटाक्षे आद्युदात्तः । देवनाक्षे तु "फिषः" (फि०सू०१)  
 इत्यन्तोदात्तः । यद्वा-अशेर्हवने इति प्रत्ययान्तत्वादान्तोदात्तः । शकटा-  
 वयवविभीतकयोस्तु घञन्तत्वादाद्युदात्तः । अत एव "प्राचेयाम्" इति



सूक्ते अक्षकितवनिन्दाप्रस्तावअक्षस्याहमेकपरस्येत्यादयाऽक्षेशब्दा ब-  
हवोन्तोदात्ता एव प्रयुज्यन्ते । 'तस्य नाक्षः' इत्यादौ तु रथावयवपर-  
त्वादाद्युदात्तः । उभयोः सहविवक्षायान्तु आयुदात्तस्य शेषः । इन्द्रिय-  
वाचिना क्लोबेन सहविवक्षायान्तु "नपुंसकमनपुंसकेन" (अष्टा०सू०१-  
२-६९) इति अक्षमक्षाणीत्याद्यूह्यम् । नन्वचेतनानां देवतानां कथं पुं-  
पुंसकादिव्यवस्थेति चेत्, उच्यते । लोकप्रसिद्धमवयवसंस्थानविशेषा-  
त्मकलिङ्गं तावन्न व्याकरणे आश्रीयते । दारान् इत्यादौ नत्वाभावप्रस-  
ङ्गात् । तदस्तटीतटमित्यादौ यथायथं लिङ्गात् त्रितयनिबन्धनकार्याणां  
मसिद्धिप्रसङ्गाच्च । किन्तु पारिभाषिकमेव लिङ्गत्रयम् । तच्च केवला-  
न्वयि । अयमर्थः इयं व्यक्तिरिदं वस्त्विति शब्दानां सर्वत्राप्रतिबद्धप्रस-  
रत्वात् । तत्र कश्चिच्छब्दः एकस्मिन्नेव लिङ्गे शक्तः कश्चित्तु द्वयोः क-  
श्चित् त्रिविविति लिङ्गानुशासनादिभ्यो निर्णयम् । कुमारब्राह्मणा-  
दिशब्दास्तु लौकिकपुंस्त्वविशिष्टे शास्त्रीये पुंस्त्वे शक्ताः लौकिकस्त्री-  
त्वविशिष्टे च शास्त्रीयस्त्रीत्वे । कथमन्यथा "कुमारी" 'कुमारः' इत्यादयः  
प्रयोगा व्यवतिष्ठेरन् । "करेणुरिभ्यां स्त्रिणेभे" (अको०३-३-५२) इत्यम-  
रस्याप्ययमेवार्थः । नन्वेवं पशुनेतिपुंस्त्वं विवक्षितमिति मीमांसको-  
द्धोषः कथं योज्यः । पारिभाषिकस्याव्यावर्त्तकतया तद्विवक्षया अकि-  
ञ्चित्करत्वात् । लौकिकस्य तु पशुशब्दादप्रतीतेरिति चेत्, सत्यम् ।  
"छागो वा मन्त्रवर्णात्" इति षष्ठान्त्याधिकरणन्यायेन पुंस्त्वस्य नियमो  
बोध्यः । छागशब्दस्य लौकिकपुंस्त्वविशिष्टपारिभाषिक शक्तत्वादिति  
दिक् । तच्च जातित्रयेके । उक्तं च हरिणा--

"तिस्रो जातय एवैताः केषां चित्समवस्थिताः ।

अविरुद्धो विरुद्धाभिर्गोमनुष्यादिजातिभिः" ॥ इति ।

भाष्ये तु "स्त्रियाम्" (अष्टा०सू०४-१-३) इतिसूत्रे प्रकारान्तर-  
मुक्तम् ।

"संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः ।

संस्त्याने स्त्यायतेर्ङ् स्त्रीसूतेः सप्रसवे पुमान् ॥

उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥" इति ।

अयमर्थः--संस्त्याने-स्त्री । सत्वरजस्तमोलक्षणानां गुणानामपचयः ।  
प्रसवो गुणानामुपचयः । स एव पुमान् । सूतेर्धातोः सप्सकारस्य प-  
कारादेश इत्यर्थः । सूडो डुमसुन्निति माधवः । यत्तु उज्ज्वलदत्तेन या-  
तेर्दमसुन्नित्युक्तम् । यच्च "पुंसोसुङ्ग" (अष्टा०सू०७-१-८९) इति सूत्रे  
न्यासरक्षिताभ्यां "पुनातेर्मकसुन् ह्रस्वश्च" इति सूत्रं पठितं तदुभयमपि



भाष्याननुगुणन्तयोरुपचयापचययोरभावे सति यदुभयोरन्तरसदृशं तन्नपुंसकम् । “नभ्राणनपात्” (अष्टा०सू०६-३-७५) इति निपातनादिति भावः । तथा च स्थितिमात्रं नपुंसकम् । अत एवाविर्भावतिरोभावयोरपि स्थितिसामान्यविवक्षासम्भवान्नपुंसकलिङ्गसर्वनामेति सिद्धान्तः । स्त्रीपुमान्नपुंसकमिति शब्दाश्च शुक्त्यादिशब्दवद्भर्मे धर्मिणि वर्त्तन्त इत्यवधेयम् । स्वकृतान्त इति । “कृतान्तौ यमसिद्धान्तौ” (अ०को०३-३-६४) इत्यमरः । वैय्याकरणसिद्धान्ते इत्यर्थः ।

वृद्धोयूनातल्लक्षणश्चेव विशेषः (अष्टा०सू०१-२-६५) । वृद्धो-गोत्रम् । “अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्” इति पूर्वाचार्यैः सूत्रितत्वात् । यूना सहोक्तौ वृद्धः शिष्यते गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतञ्चतयोर्वैरूप्यं कृत्स्नं स्यात् । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । तल्लक्षणं किम् ? भागवित्तिभागवित्तिकौ । कृत्स्नं किम् ? । गार्ग्यवात्स्यायनौ ।

स्त्री पुंवच्च (अष्टा०सू०१-२-६६) । यूना सह विवक्षायां वृद्धा स्त्री शिष्यते तदर्थश्च पुंवद्भवति । स्त्रीत्वस्य वैरूप्यकारणस्याधिक्यात्पूर्वेणाप्राप्तौ वाच्यम्, पुंवदिति विधातुश्च । गार्गी च गार्ग्यायणौ च गर्गाः । अस्त्रियामित्यनुवर्त्तमाने “यजजोश्च” (अष्टा०सू०२-४-६४) इति लुक् । दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी ।

पुमान् स्त्रिया (अष्टा०सू०१-२-६७) । सरूपाणां मध्ये स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते स च पुंवदेव स्यात्तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । सम्पृक्ता च संपृक्तं च सम्पृक्तौ । “यः शिष्यते स लुप्यमानार्थामिधायि” इति सिद्धान्तात्स्त्रीत्वस्यापि सत्वेन टाप् प्राप्तः पुंवदेवेत्यनुवृत्तेन भवति । हंसश्च वरटा चेत्यादौ हंसजातिसाम्येऽपि शब्दवैलक्षण्यस्य स्त्रीत्वपुंस्त्वमात्रप्रयुक्तत्वादेकशेषः प्राप्तः रूपग्रहणानुवृत्त्या वार्यते तदनुवृत्तौ च “भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्” (अष्टा०सू०१-२-६८) इति सूत्रं ज्ञापकम् । अन्यथा एकापत्यत्वस्य अपत्यत्वस्य वा साम्यात्तत्राऽपि “पुमान् स्त्रिया” (अष्टा०सू०१-२-६७) इत्येव सिध्येत् । नन्वेवमपि गौरीयंगौश्चायं तयोः सहोक्तौ एतौ गावौ इति नियमतो न स्यात् । नैष दोषः । इयमयमिति पदान्तरगम्येऽपि तल्लक्षणविशेषे “पुमान् स्त्रिया” (अष्टा०सू०१-२-६७) इत्यस्य प्रवृत्तिसम्भवादिति कैयटः । स्यादेतत्—तल्लक्षणविशेषरूपो विशिष्टाभावोऽत्र हेतुः । स च किन्नरैरप्यलोभिश्च क्रीडद्भिरित्यादौ विशेषणाभावात् । ‘गावौ’ इत्यत्र तु विशेष्याभावादित्यन्यदेतत् । तथा च किमर्थं पदान्तरगम्यत्वपर्यन्तमुक्तमिति चेत्, उच्यते । नेह विशिष्टाभावः प्रयोजकः किन्तु तन्मात्रप्रयुक्तो विशेषः प्रयोजकः । अन्यथा ‘भागवि-



‘त्तिभागवित्तिकौ’ इत्यत्र “वृद्धोयूना” (अष्टा सू०१-२-६५) इति स्यात् । इह हि कुत्सासौवीरत्वाभ्यां प्रयुक्तेऽपि ठकि युवप्रयुक्ततास्येवेति विशिष्टाऽभावो निर्बाधः । एवमिन्द्रेन्द्राण्यावित्यत्र प्रकृतसूत्रं प्रवर्त्तत । ‘हिमहिमान्यौ’ इत्यादौ चोत्तरसूत्रमिति दिक् । नन्वेवं गार्ग्यवात्स्यायनयोरतिप्रसङ्ग इति चेत्, योसौ विशेषः स तल्लक्षणश्चेदिति वचनव्यक्त्या पाठादुद्देश्यविधेयान्वयलाभात् । एवञ्च कृत्स्नस्य विशेषस्य तन्मात्रप्रयुक्तत्वं फलितम् । तेन पदान्तरपर्यन्तानुसरणं कैयटादीनां युक्तमेवेति दिक् । तदितरप्रयुक्तविशेषविरहरूपविशिष्टाभावविवक्षायान्तु सर्वं सुस्थम् । एतेन सा च स च तावितिव्याख्यातम् । अनैमित्तिकस्यैकशेषस्य तद् तद् इत्यवस्थायां प्रवृत्तावपि पुंस्त्वनियमस्यैतेन लभ्यत्वात् । ब्राह्मणवत्सश्च ब्राह्मणीवत्सा चेत्यत्र तु न भवति । स्त्रीपुंसयोः सहविवक्षायामेकशेषः । सहविवक्षा च प्रधानयोरेव । तेन यत्र प्रधानयोरेव स्त्रीपुंसयोर्विशेषप्रयोजकता तत्रैव एकशेषप्रवृत्तेः इह वा प्रधानकृतस्याऽपि विशेषस्य सत्त्वात् । एवकारानुवृत्तेर्नह-“इन्द्रेन्द्राण्यौ” । इह हि पुंयोगकृतोऽपि विशेषः । ‘आरण्यारण्यान्यौ’ । इह महत्त्वकृतोऽपि विशेषः । पुमानिति किम् ? प्राक् च प्रतीची च प्राक्प्रतीच्या स्तः । प्रपूर्वादश्चेः क्विबन्तादस्तातेरंचेलुगिति “तद्धितश्चासर्वविभक्तिः” (अष्टा०सू०१-१-३८) इत्यव्ययत्वादलिङ्गः प्राक्शब्दः ।

भातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ( अष्टा०सू०१-२-६८ ) । यथासंख्यं शिष्येते । भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ ।

नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् (अष्टा०सू०१-२-६९) । अकलीबेन सहोक्तौ क्ळां शिष्यते तच्च वा एकवत् स्यात् । तल्लक्षण एव चेद्विशेषः । शुक्लः कम्बलः, शुक्ला बृहतीका, शुक्लं वस्त्रं, तदिदं शुक्लम् । तानीमानि शुक्लानि । अनपुंसकेनेति किम् ? शुक्लं शुक्लञ्च शुक्ले । एकवच्चेति न भवति । अस्याति किम् ? उत्तरसूत्रे एकवद्भावानुवृत्तिर्मा भूत् ।

पिता मात्रा (अष्टा०सू०१-२-७०) । मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । पितरौ । मातापितरौ । अयं योगः शक्योऽकर्तुम् । तथाहि-“यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायि” इतिन्यायेनास्मिन् विषये पितृशब्द एव मातरमपि वक्तुमिति निर्विवादम् । तत्र च निरुद्धलक्षणा वा शक्तिरेव चेत्यन्यदेतत् । न च द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थं सूत्रम् । तस्याऽपि पक्षे इष्टत्वात् । एवं “इवशुरः इवश्वा” (अष्टा०सू०१-२-७१) इत्यत्रापि बोध्यम् । एतेन

“पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा” (या०स्मृ०१३५) ।



इत्यस्य व्याख्यावसरे विग्रहे क्रमप्रतीतिः “प्रथमं माता धनभाक् तदभावे तु पिता” इति विज्ञाने इवरग्रन्थश्चिन्त्यः । एकपदजन्ये बोधे क्रमाभावात् । सूत्रारम्भेऽप्येवमेव । प्रत्युत मुख्यार्थस्य प्रथमप्रतीतिरुचिता । न तु लक्ष्याया मातुः । यत्तु विग्रहे क्रमप्रतीतिरिति, तन्न । वृत्तिविग्रहयोः सहाप्रयोगात् । वृत्तेरेवेह व्याख्येयश्लोके प्रयोगात् । किं च वृत्तावपि प्रयुक्तायां विग्रहेऽपि स्मर्यतां कथञ्चित् । न तु तत्रापि पूर्वापरिभावे किञ्चिन्निया-मकमस्ति तस्मात्क्रमनिर्णये प्रमाणान्तरं मृग्यम् ।

इवशुरः इवश्वा (अष्टा० सू० १-२-७१) इवश्वा सहोक्तौ इवशुरो वा शिष्यते । इवशुरौ । श्वश्रूश्चशुरौ । श्वश्चेति सौत्रनिर्देशादेव प्रत्यया-न्तस्याऽपि प्रातिपदिकत्वम् । अन्यथा हि “प्रकृतिवदनुकरणम्” इति ऊढन्ततृतीया न स्यात् ।

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् (पा० सू० १-२-७२) । सर्वैस्त्यदादिभिरन्यै-श्च सहोक्तौ त्यदादीनि नित्यं शिष्यन्ते । प्रत्यासत्तैस्त्यदादिभिरेव सहोक्तावित्यर्थो मा भूदिति सर्वग्रहणम् । स च देवदत्तश्च तौ । द्वन्द्व-निवृत्त्यर्थं वचनम् । ‘तौ’ इति तु ‘सरूप’ (अष्टा० सू० १-२-६४) सूत्रेणैव सिद्धं देवदत्तस्यापि तच्छब्देनैव निर्देष्टुं शक्यत्वात् । त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते शब्दपरविप्रतिषेधात् । स च यश्च यौ । “पूर्वशेषोऽपि दृश्यते” इति भाष्यम् । स च यश्च तौ । अहं च भवांश्चावाम् । त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि (का० वा०) । आद्यादिस्वात्तसिः । त्यदा-दीनां शेषे सहविवक्षितो योर्थः पुमान् यश्च नपुंसकं तद्वशेन लिङ्गवच-नानि भवन्तीत्यर्थः । सा च देवदत्तश्च तौ । तच्च देवदत्ता च यज्ञदत्ता च तानि । पुंनपुंसकयोस्तु सहविवक्षायां नपुंसकवशेन व्यवस्थापर-त्वात् । तच्च देवदत्तश्च ते । अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानामिति वक्तव्यम् [का० वा०] । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्द्धं पिप्पल्या-स्तत् । अर्धपिप्पली च सा अर्धपिप्पल्यौ ते । इह “परवल्लिङ्गम्” (अष्टा० सू० २-४-२६) इति समासार्थस्य लिङ्गाऽतिदेशे कृते तद्विशेषणस्य सर्व-नाम्नस्तदेव लिङ्गम् । भाष्ये तु एतत्सूत्रं प्रत्याख्यातम् । यदाह- सामा-न्यविशेषवाचिनोश्च द्वन्द्वाभावात्सिद्धमिति । विशेषसन्निधौ हि प्रयुक्तः सामान्यशब्दो विशेषान्तरे वर्तते । ब्राह्मणा आगता वसिष्ठश्चेति य-था । तथाविधे विषये वाचनिकोऽयं द्वन्द्वनिषेधः । तेनैव तद्देवदत्तावि-त्यादिनिवृत्तेः सिद्धत्वादयमेकशेषो न वक्तव्य इत्यर्थ इति कैयटः । कथं तर्हि ‘शुद्धाभीरं’ ‘गोबलीवर्दं’ ‘तृणोपलम्’ इति, अत्राहुः-आभीरी जात्यन्तराणि ।



“ब्राह्मणादुग्रकन्यायामाभीरो नाम जायते ।

माहिष्योग्रौ प्रजायेते विद्शुद्राङ्गनयोर्नृपात्” ॥ इति स्मृतेः ॥

गोशब्दस्तु स्त्रीगवीपरोऽयं स्त्रीलिङ्गः । अपामुलप इति नामधेयमिति । अनित्योऽयं निषेधः । “प्राच्यभरतेषु (अष्टा०सू० १-२-६६) इति सूत्र-निर्देशादिलङ्गात् । तेन “प्रमाणप्रमेय” इत्यादिषु द्वन्द्वः सिद्धः । एतेन—

“अविद्या तच्चित्तो योगः षडस्माकमनादयः ।

मत्स्यादौ तद्विशेषयोः” इत्यादिप्रयोगा व्याख्याताः । सूत्रारम्भे त्वे-तेन सिद्धयेयुरेवेति सहृदयैराकलनयिम् ।

प्राग्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री (अष्टा०सू० १-२-७३) । एषु सहविव-क्षायां स्त्रीशिष्यते । “पुमान् स्त्रियां” (अष्टा०सू० १-२-१७) इत्यस्यापवा-दः । गाव इमाः । प्राग्यग्रहणं किम् ? खरव इमे । पशुग्रहणं किम् ? ब्राह्मणाः । सङ्घेषु किम् ? एतौ गावौ चरतः । एकशेषस्यानेकविषयत्वे लब्धे सङ्घग्रहणसामर्थ्याद् बहूनां सङ्घो गृह्यते । अतरुणेषु किम् ? वत्सा इमे । बर्करा इमे । अनेकशफेष्विति वक्तव्यम् ( का० वा० ) अश्वा इमे । गर्दभा इमे । एकशफत्वात्पुंशेष एव । “शफो वलीवे खुरः पुमान्” ( अ० को० २-८-४९ ) इत्यमरः । हरदत्तस्तु “शफाः खुराः” इति प्रा-युङ्क्त । तत्र शफशब्दस्य पुंस्त्वे मूलान्तरं मृग्यम् । उष्ट्राणां त्वारण्य-त्वात् स्त्रीशेषाभावः ।

॥ इति श्रीशब्दकौस्तुभे प्रथमाध्यायस्य द्वितीये पादे  
तृतीयमान्हिकं पादश्च समाप्तः ॥

श्वादयो धातवः (अष्टा०सू० १-३-१) । क्रियावाचिनो गणपठिता धातुसंज्ञाः स्युः । धातुत्वाल्लङादयः । भवति, एधते । क्रियावाचिनः किम् ? ‘याः पश्य’ इत्यादौ धातुत्वं मा भूत् । सति हि तस्मिन् “आतो-धातोः” (अष्टा०सू० ६-४-१४०) इत्यालापः स्यात् । न च “या प्रापणे” (या०सू० १०४९) इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः । तस्यापाणिनीयत्वात् । भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिशुरिति स्मर्यते । पाणिनिस्तु “भवेध” इत्या-द्यपाठीदिति भाष्यवार्तिकयोः स्पष्टम् । किञ्च अभियुक्तरपि कृतार्थनि-र्देशो नार्थान्तरनिवृत्तिपरः सुखमनुभवतीत्यादावधातुत्वप्रसङ्गात् ।  
उक्तञ्च—

“क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थः प्रदर्शितः ।

प्रयोगतोऽनुसर्त्तव्या अनेकार्था हि धातवः” ॥ इति ।



अत एव “कुर्वं खुर्वं गुर्वं गुर्वं क्रीडायामेव” (धा०सू०२१-२२-२३-२४) इत्येवकारः पठ्यते “श्लिष आलिङ्गने” (अष्टा०सू०३-१-४६) इत्यादि सूत्राण्यपीह ज्ञापकानि । तस्मात् ‘याः पश्य’ इत्यादिव्यावृत्तये क्रियावाचिन इति विशेषणं स्थितम् । गणपठिता इति किम् ? हिरक्, पृथक्, ऋने, इत्याद्यव्ययानां ‘शिङ्ये’ इति आवाचित्यङन्तस्य च मा भूत् । न चैवं सौत्रेष्वव्याप्तिः । स्तम्भवादीनामुदित्करणेन धात्वधिकारीयकार्यविधानेन च धातुत्वानुमानात् । न चैवमपि लौकिकानां चुलुम्पादीनामसङ्ग्रहापत्तिः । भ्वाद्यन्ते यजादिसमाप्त्यर्थं वृत्करणेऽपि भ्वादीनामसमाप्तेः । धातुवृत्तिषु तथैव व्याख्यातत्वात् । “काश्यनेकाज्ग्रहणं चुलुम्पाद्यर्थम्” (का०वा०) इति कात्यायनवचनेनाप्येतदलभ्यते । एवं भ्वाद्यन्ते वृत्करणस्य पुषादिसमाप्त्यर्थतया दिवादीनामपरिसमाप्तेः ‘भृग्यति’ इत्यादिसिद्धिः । वस्तुतस्तु चुरादीनामन्ते “बहुलमेतभिर्दर्शनम्” इति गणसूत्रेण सकलेष्टसिद्धिः । तद्धि धातुवृत्तिषु द्वेधा व्याख्यातम् । भ्वादिगणपठितेभ्योऽपि णिच् प्रयोगानुसाराज्जप इति । दशगणीपाठो दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थस्तेनान्येऽपि शिष्टप्रयुक्ता धातवः सङ्ग्राह्या इति च । स्यादेतत्-भूरादिर्येषामिति विग्रहे यणि सति भ्वादय इति स्यात् । क्रियावाचित्वञ्च सूत्रानारूढमेवेति । उच्यते-“भवनं भूः क्रियासामान्यम् । वदन्तीति वादयः वदेरौणादिक इञ्” इति भाष्यम् । यद्यपि “वसि वपि यजि राजि व्रजि सहि हनि घासि वादि वारिभ्य इञ्” [उ०सू०५७४] इत्यौणादिकसूत्रेण वदेर्ण्यन्तादिञ् विहितस्तथापि बहुलग्रहणात् केवलादपि भविष्यतीति न्यासकारादयः । वस्तुतस्तु “वदन्तीति वादयः” इति भाष्यमर्थकथनपरम् । ण्यन्तादेव त्विञ् । न चेह ण्यर्थानन्वयः । पचतिपाचयत्योस्तुल्यार्थत्वात् । भुवो वादय इति विग्रहः । तथाच क्रियावाचित्वं तावत्सूत्रारूढम् । निरनुबन्धानां शब्दिकरणानां भूप्रभृतीनां पाठसामर्थ्यात्पठितानामेव संज्ञेत्यनुमीयते । “सनाद्यन्ता धातवः” (अष्टा०सू०३-१-३२) इति सूत्रारम्भाच्च । अथ वा भूरादिर्येषामिति विग्रहः । निपातनाद् वुगागमः महासंज्ञाकरणं तु “वधति क्रियाम्” इति धातवः इत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानार्थम् । यद्वा-भूश्च वाश्चेति द्वन्द्वः । आदिशब्दयोस्तु व्यवस्थाप्रकारवाचिनोरेकशेषः । ततो भूवौ भावी येषामिति बहुव्रीहिः । भूप्रभृतयो वासदृशाः क्रियावाचिन इति यावत् । अथ वा वाइत्ययमादिर्येषामिति बहुव्रीहिः वाइत्यस्यादय इति तत्पुरुषः । तयोरेकशेषे स्वरभिन्नानामिति बहुव्रीहिशेषः । भुवो वादय इति षष्ठीतत्पुरुषः । वाच्यवाचकभावश्च षष्ठ्यर्थः । “द्विर्वचनेचि”



(अष्टा०सू०१-१-५९) इतिवत्तन्त्रावृत्त्यादिना वा उभयलाभः । सर्वथा-  
पि क्रियावाचिनो भवादय एव धातव इति स्थितम् । का०पुनः क्रिया ?  
उच्यते, करोत्यर्थभूता उत्पादनापरपर्याया उत्पत्त्यनुकूलव्यापाररूपा  
भावनैव क्रिया । तथाहि—अभवतो गगनादेरक्रियमाणतया भवतश्च  
घटादेः क्रियमाणतया भवत्यर्थकर्तुः करोतिकर्मत्वम् । तथा च करोत्य-  
र्थकर्तुर्भवितुप्रयोजकतया भवतेरुत्पत्त्यर्थाप्रयोजकव्यापारे णिजुत्पद्य-  
मानः करोत्यर्थमवलम्बते । उक्तञ्च—

“करोतिक्रियमाणेन न कश्चित्कर्मणा विना ।

भवत्यर्थस्य कर्ता च करोतेः कर्म जायते ॥

करोत्यर्थस्य यः कर्ता भवितुः स प्रयोजकः ।

भाविता तमपेक्षया प्रयोज्यत्वं प्रपद्यते ॥

प्रयोज्यकर्तृकैकान्तव्यापारप्रतिपादकाः ।

ण्यन्ता एव प्रयुज्यन्ते तत्प्रयोजककर्मसु ॥

तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः ।

प्रयोजकक्रियामाहुर्भाविनां भावनाविवः ॥” इति ॥

सा च सकलधातूनां वाच्यता । अत एव ‘किं करोति’ ? इति प्रश्ने  
‘पचति’ ‘पठति’ इत्याद्युत्तरं सङ्गच्छते । न चासौ मीमांसकोकरीत्या  
प्रत्ययवाच्यैवास्तामिति वाच्यम् । भोक्तव्यमित्यादावाव्याप्तं विनापि  
तत्प्रतीतेः । तथा च तत्रापि कारकापेक्षा दृश्यते । अस्ति च तत्रापि करो-  
तिसामानाधिकरण्यं, किं कर्त्तव्यं, भोक्तव्यम्, किं कृतवान्भुक्तवानि-  
ति । किञ्च, ‘भावयति घटम्’ इति वत् त्वन्मतं ‘भवति घटम्’ इत्यपि  
स्यात् ’तुल्यार्थत्वात् । दृष्टान्ते कर्तुः कुम्भकारस्य व्यापारं णिजाचष्टे,  
दार्ष्टान्तिके स्वाख्यातप्रत्ययः । ननु प्रयोजकव्यापारो णिजार्थः, कर्तृव्या-  
पारस्त्वाख्यातार्थः । इति वैषम्यमिति चेत्, कारकचक्रप्रयोजकतुः क-  
र्तृत्वे घटस्यातथात्वात् । यदि तु—

“धातुभोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृत्वेभ्यते”

इतिभर्तृहरिप्रतिपादितरीत्या प्राधान्येन धातूपात्तव्यापारस्वरूपं  
कर्तृत्वं तत्रापि सम्मतं कस्तर्हीदानीमाख्यातार्थः । व्यापारस्य धातुनै-  
वामिहितत्वात् । अपि च, धातोः सकर्मकाकर्मकत्वविभाग उच्छिद्येत ।  
‘अकर्मकावच’ (अष्टा०सू०१-३-२६) इत्यादिसूत्राणि च विरुद्ध्येरन् ।  
ननु सिद्धान्तेऽपि क्रियायाः कर्मापेक्षानियमात्कथमकर्मकतेति चेत्,  
न, फलव्यापारयोः सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्याभ्यां सकर्मकाकर्म-  
कविभागस्य दृश्यमाणत्वात् । किञ्च, ‘ज्योतिष्टोमयाजी’ इत्यादौ “कर-



णे यजः" (अष्टा०सू०३-२-८५) इति णिनिरस्मत्पक्षे सङ्गच्छते । धातु-  
त्वेन धातूपात्तां भावनां प्रति यजित्वेन तदुपात्तस्यांशान्तरस्य करणत्वा-  
त् । पच्यादयो हि धातुत्वेन भावनामाहुः । विक्लित्याद्यंशान्तरे तु पाच-  
त्वादिना प्रातिस्विकरूपणाहुः । तच्चांशान्तरभावतां प्रति प्रायेण भा-  
व्यतया सम्बध्यते । 'ज्योतिष्टोमयाजी' इत्यादौ तु करणतया 'ज्योति-  
ष्टोमाख्येन यागेन स्वर्गे भावितवान्" इत्यर्थप्रतीतिः । स्पष्टं चेदं णिनि-  
विधौ हरदत्तग्रन्थे । एतेन "द्यर्थः पचिः" इति भाष्यं व्याख्यातम् ।  
अट्टिश्चाह—

विभज्यसेनां परमार्थकर्मा सेनापतीश्चापि पुरन्दरोऽथ ।

नियोजयामास स शत्रुसैन्ये करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून्" इति ।

ननु क्रियाया धात्वर्थत्वे 'पचति' इत्यादौ एककर्तृका वर्तमाना पचि-  
क्रियेति क्रियाविशेष्यको बोधो न स्यात् । प्रत्ययार्थं प्रति प्रकृत्यर्थस्य  
विशेषणताया औपगवादौ क्लृप्तत्वादिति चेन्न, "प्रत्ययार्थः प्रधानम्"  
इति ह्युत्सर्गः स चेह त्यज्यते । "क्रियाप्रधानमाख्यातम्" इति स्मर-  
णात् । "पाचिका" इत्यादौ स्त्रीत्वस्य विशेषणत्वाभ्युपगमाच्च । प्रत्युत्त-  
तवैव 'पचति' इत्यादावनुपपत्तिः । 'पचन्तं तं पश्य' इत्यादौ शत्रुशान-  
चोः कर्तृप्राधान्यस्य सर्वसम्मततया तिङ्श्वपि तथात्वापत्तेः, शत्रादी-  
नां तिङाश्च लादेशत्वस्याविशिष्टत्वात्, आदेशानाञ्च स्थानिस्मारकत्वे  
स्थान्यर्थाभिधायित्वे वार्थैक्यध्रौव्यात् । अत एव हि युष्मदि समाना-  
धिकरणे मध्यमः, अस्मद्युत्तमः, इत्यादिपुरुषव्यवस्था सङ्गच्छते । अ-  
भिहिते कर्तरि प्रथमा, इत्यादि च । न च 'समानाधिकरणे' इत्यनेन  
स्वाभिधेयसंख्यान्वयित्वम्, अभिहितशब्देन चाभिहितसङ्ख्याकत्वं  
विवक्षितमिति वाच्यम् । सूत्राननुगुणत्वात् । कृत्तद्धितसमासैः संख्या-  
या अनभिधानात्तदभिहितेऽपि तृतीयाप्रसङ्गाच्च । न च कृत्यनभिधानमे-  
व कर्तुरनभिधानमिति वाच्यम् । भावार्थलकारेऽपि कर्तरि प्रथमापत्ते-  
रिति दिक् । स्यादेतत्—अस्तिभवतिविद्यतिषु क्रियावाचित्वमव्याप्त-  
म् । न हि तत्रोत्पादः प्रतीयते । एवन्तिष्ठतावपि तथा जायत उत्पद्यते  
इत्यत्राप्यव्याप्तिः उत्पत्तिर्हि आद्यक्षणसम्बन्धः । तदनुकूलव्यापारश्चो-  
त्पादना । तदनुभवश्चास्त्यादिभ्यो नास्त्येवः । अत एव 'किं करोति'  
इति प्रश्ने 'पचति' इत्यादिवत् 'अस्ति' इति न प्रतिश्रुवते इति चेत्,  
उच्यते, 'अस्ति' इत्यादेः स्वरूपधारणं 'करोति' इत्यर्थः । धारणञ्चो-  
त्तरकालसम्बन्धः । तथा सत्यपि करोत्यर्थे धात्वर्थान्तर्गतेन धारणेनैव  
भाव्याकाङ्क्षायाः पूरणात् 'जीवति' 'मृत्यति' आदिवदकर्मकता क्रिया हि



व्यापारव्यधिकरणैर्नोत्पत्तिरुच्यते । अत एव तत्र घटादीनां कर्मता । परसमवेतव्यापारफलीभूतोत्पत्तिशालित्वात् । जनिप्रभृतिभिस्तु व्यापारसमानाधिकरणैर्बोध्यते । अत एवाकर्मकता तेषाम् । सोत्पत्त्यनुकूलव्यापारभाजामपि सूक्ष्मरूपापन्नघटादीनां परसमवेतत्त्वघटितकर्मता-विरहात् । उक्तञ्च हरिणा-

“आत्मानमात्मना विभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते ।” इति ।

अन्येषाहुः—

“अस्त्यादावपि धर्म्यं भाव्येऽस्त्येव हि भावना ।

अन्यत्राशेषभावात्तु सा तथा न प्रकाशते” इति ॥

तथा पचौ विक्लिदौ च विक्लित्तिर्यद्यपि साधारणी तथाऽपि पचौ व्यापारव्यधिकरणा विक्लिदौ तु तत्समानाधिकरणा सेति सकर्मकाकर्मकविभागः । न हि धात्वर्थभूतफलशालित्वमात्रं कर्मत्वं किन्तु व्यापारव्यधिकरण्यमपि फलेऽपेक्ष्यते । यत्तुक्तं ‘किं करोति’ इति प्रश्ने इत्यादि । तदसिद्धम् । आसन्नविनाशं कञ्चिदुद्दिश्य ‘किं करोति’ इति प्रश्ने ‘अस्ति’ इत्युत्तरस्य सर्वसम्मतत्वात् । इतरत्र तु सुस्थतया निदिचते ‘किं करोति’ इति प्रश्नः पाकादिविशेषगोचर एवेत्यवधारणात् ‘अस्ति’ इति नोत्तरम् । एतेन—

“यावत्सिद्धमसिद्धे वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।

आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते” ॥

इत्यपि व्याख्यातम् । पूर्वापरीभावापन्नानेकक्षणविशिष्टस्योत्पत्तिः “आत्मास्ति” इत्यादावपि सुलभैवेति भावः । पचत्यादावपि हि अधिभ्रयणादिरधःश्रयणान्तो व्यापारकलापः क्रिया । अत एव तस्य युगपदसन्निकर्षाच्च प्रत्यक्षता । किन्तु एकैकस्याधिभ्रयणादिव्यापारस्य क्रमेणानुभवे सति मनसा सङ्कलना क्रियते । तदुक्तं भाष्ये—“क्रिया नामेयमत्यन्तापरिदृष्टा अशक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्” इति । ऐक्यमपि पारिभाषिकम् । एकफलावच्छिन्नत्वात् । उक्तं च—

“गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।

बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥” इति ॥

तदेवं भवत्यादौ क्रियावाचकत्वं सुवचम् । अत एव ‘अभूत्’ ‘अस्ति’ ‘भविष्यति’ इति कालयोगः । न हि क्रियात्वं विनाऽसौ सम्भवति । तदुक्तम्—

“क्रियाभेदाय कालस्तु सङ्ख्या सर्वस्य भेदिका” । इति ।

“कालानुपाति यदूपन्तदस्तीति प्रतीयते ।” इति च ।



भाष्ये तूक्तार्थसाधनाय निरुक्तकारवचनमुदाहृतम्--“षट्भाववि-  
कास इति ह स्माह भगवान्वाचार्थोपाणरिति । भावस्य क्रियायाः षट्  
प्रकाश इत्यर्थः । तेषु च जायतेऽस्तीति पाठात्सर्वक्रियान्वयः सिद्ध इ-  
त्यर्थः । कैयटस्तु प्रकाशस्तरेणापि व्याचख्यौ । भावस्य सत्ताया एते प्र-  
काराः सप्तैवानेकक्रियात्मिका साधनसम्बन्धादवसीयमानसाध्यस्वरूपा  
जन्मादिरूपतयावभासते” इति । तथा च--“जातिसमुद्देशेऽपि सम्बन्धि-  
भेदात्सत्तैवेत्युपक्रम्योक्तम्--

“प्राप्तकमविशेषेषु क्रिया सैषामिधीयते ।

क्रमरूपस्य संहारे तत्सत्त्वमिति कथ्यते” ॥ इति ॥

व्यापारविशेषाणां साध्यत्वात् क्रमिकत्वाच्च तदुपहिताभास्ते भवत  
इत्यर्थः । ‘पाकः’ इत्यादौ तु प्रकृत्या साध्यावस्थाया असत्त्वरूपाया  
उपस्थितिः । घञा तु सिद्धरूपायाः । उक्तञ्च --

“क्रियायाः सिद्धतावस्था साध्यावस्था च कीर्तिता ।

सिद्धतां द्रव्यमिच्छन्ति तत्रैवेच्छन्ति घञविधिम् ॥

आख्यातशब्दे भागाभ्यां साध्यसाधनवर्तिताः ।

प्रकल्पिता यथा शास्त्रे स घञादिष्वपि क्रमः ॥

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना ।

सत्त्वभावस्तु यस्तस्याः स घञादि निबन्धने” ॥ इति ।

लिङ्गसङ्ख्याकारकाद्यन्वययोग्येनावस्थाविशेषेण घञादिभ्य उप-  
स्थितिरित्यर्थः । एतेन “कृवमिहितो माधो द्रव्यवत्प्रकाशते” इति तृ-  
तीयाध्याये भाष्यमपि व्याख्यातम् । प्रकल्पितेत्यनेन पदस्फोटस्यैव वा-  
स्तवता इयनयति-साध्यत्वेनेति । अत एव तत्प्रतिकारकतया ओदना-  
देरन्वय इति भावः । अत एव ‘भोक्तुं पाकः’ ‘भुक्त्वा गमनम्’ इत्या-  
दौ तुमुनादयः सिद्धाः । कृत्वोर्थास्त्वनभिधानास्तेत्येव शरणम् । अत एव  
कचिद्व्यतेपि द्विर्वचनम् । ‘द्विरण्विधिः’ इति सूत्रवार्तिकयोः प्रयोगात् ।  
सत्त्वभावस्त्विति । अत एव ‘पाकं करोति’ इत्यादौ कारकत्वेन साऽन्वे-  
तीत्यर्थः । नन्वेवं “पश्य मृगो धावति” इत्यादौ मृगकर्तृकशीघ्रगतेर्दे-  
शान्प्रतिकर्मता न स्यात् । न च संसर्गमर्यादयेह कर्मताभावेऽपि प्रका-  
रत्वेनाभानाप्रोक्तदोष इति वाच्यम् । एवमपि ‘पचति’ भवति’ इत्यादा-  
वसङ्गतेः । एककर्तृका वर्तमाना पचिक्रिया एककर्तृका वर्तमाना भवन-  
क्रियेति हि तत्र वाक्यार्थः । तत्र च ‘भवति’ इति लकारार्थात् कर्तुर्देव-  
दत्तकर्तृकपचिक्रियां प्रत्यभेदेन संसर्गेण विशेष्यत्वस्यावाश्यकत्वात् ।  
तथा च देवदत्तवत्पचिक्रियायाः सत्त्वधर्मो दुर्वारः । अत्राहुः--“कर्तृत्व-



कर्मत्वयोस्तनुभवबलाद्भानं स्वीक्रियते । कारकान्तराभावमात्रे तु तात्पर्यम्” इति । “आख्यातशब्दे भागाभ्याम्” इत्युदाहृतश्लोकोप्येतदभिप्रायक एव । तत्र “यं प्रति” इत्युत्तरश्लोकानुरोधादिति तृतीये स्फुटीकरिष्यामः । एतेन ‘अपाक्षीत्’ ‘अपाक्षीः’ ‘पचतः’ ‘पचन्ति’ ‘पक्षयति’ ‘पक्षयतः’ इत्यादावपि ‘भवति’ इत्यनेन कर्तृत्वेनान्वयो व्याख्यातः । ‘भावी वर्त्तते’ ‘ध्वस्तोस्ति’ इत्यादाविव सूक्ष्मावस्थस्य वर्त्तमानसत्तासम्भवात् ।

उपदेशेऽनुनासिक इत् (अष्टा०सू०१-३-२) उपदेशेऽनुनासिकोजित्संज्ञः स्यात् । उपदिश्यतेनेनेत्युपदेशः । “कृत्यल्युटो बहुलम्” (अष्टा०सू० ३-३-११३) इति बाहुलकात्करणे घञ् । अन्यथा ल्युट् स्यात् । स च धातुपाठप्रातिपदिकपाठौ सूत्रवार्त्तिके च । एतैर्हि शब्दा उपदिश्यन्ते । तत्र शास्त्रकृता पठितस्याप्यनुनासिकस्य पाठ इदानीमपभ्रष्टः । अत एवाहुर्वृत्तिकाराः—“प्रतिज्ञानुनासिकयाः पाणिनीयाः” इति । तत्र एध, स्पर्थ, इत्यादावनुदात्तेत्वादात्मनेपदम् । एधते, स्पर्थते । ‘भवति’ इत्यत्रोगिस्वान्नुम् । भवान् । “लण्” (मा०सू०६) सूत्रे अकारस्येत्वाद्प्रत्याहारसिद्धिः । “आचारेऽवगलभङ्गीबर्होदेभ्यः” (का० वा० ) इति वार्त्तिकेऽवगलभादेरनुनासिकत्वेनानुदात्तेत्वात्तङ् । अवगलभते इत्यादि । उपदेशे इति किम् ? अत्र आँ अपः । “आङोनुनासिकश्छन्दसि” (अष्टा०सू० ६-१-१२६) इत्यनुनासिकः । नाऽसौ शास्त्रे पठितः । नन्वेवं “उञ्” (अष्टा०सू०१-१-१७) “ऊँ” (अष्टा०सू०१-१-१८) इत्यत्रातिप्रसङ्गः । विधानसामर्थ्याच्चेति तु प्रकृतेपि तुल्यम् । अथ “अनुबन्धा अनेकान्ताः” इति पक्षे ‘अत्र आँ अटितः’ इत्यादौ “आदितश्च” (अष्टा०सू०७-२-१६) इतीप्तिषेधार्थमित्संज्ञाकिञ्च स्यादिति चेन्न । एवमपि “आङ इत्” इति वक्तव्ये अनुनासिकविधानस्य वैयर्थ्यापत्तेः । एतेन दधि इच्छतीति दधि ब्रह्मणकुलं दधीयतेः क्लिप्यल्लोपयलोपयोर्ह्रस्वत्वे च “अणोऽप्रगृह्यस्य” (अष्टा०सू०८-४-५७) इत्यनुनासिकः । अत्र “इदितो नुम् धातोः” (अष्टा०सू० ७-१-५८) इति नुम् स्यात् । ‘दधि ‘मधु’ इत्यादिषु प्रातिपदिकेषु ‘भवति’ ‘पचति’ इत्यादिषु च इत्कार्यलोप एव स्यात् । तस्मादुपदेशग्रहणं कर्त्तव्यमिति परास्तम् । “अणोऽप्रगृह्य इत्” इति वक्तव्येऽनुनासिकविधानसामर्थ्यादित्संज्ञाविरहोपपत्तेः । सत्यम् । उत्तरार्थमुपदेशग्रहणम् । अजिति किम् ? मनिन्प्रत्यये मकारस्य मा भूत् । सत्यां हि तस्यां “अन्येभ्योपि दृश्यन्ते” (अष्टा०सू०३-२-७५) इति हलन्तेष्वन्त्यादच्च परः स्यात् । अनुनासिकः किम् ? चिरिणोति, जिरिणोति ।



हलन्त्यम् [अष्टा०सू०१-३-३]। उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । यद्यपि सर्वौ हल् तन्तमर्वाधि प्रत्यन्त्यो भवति तथाऽपि धातुप्रातिपदिकत्वाद्युपाधिपरिच्छिन्नसमुदायं प्रत्यन्त्य इह गृह्यते, अन्त्यग्रहणसामर्थ्यात् । “शीङ् स्वप्ने” (अदा०आ०) डित्वात्तङ् । शेते । उपदेशे किम् ? अभिचित् । “श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते” (अष्टा०सू०५-२-८४) “क्षेत्रियश्च परक्षेत्रे चिकित्स्यः” [अष्टा०सू०५-२-९२] इत्यादौ तु वाक्यार्थं पदवचनमिति पक्षेऽविद्यमानप्रकृतिप्रत्ययविभागेऽप्युपदेशेऽन्त्यत्वाद्भवत्येवेत्संज्ञा । ‘सनुतः’ इत्यस्य स्वरादिपाठादित्संज्ञा प्राप्ता उच्चारणसामर्थ्यान्न भवति । न च रिस्वरः प्रयोजनम्, अन्तोदात्तनिपातनवैयर्थ्यापत्तेः । स्यादेतत्-हलप्रत्याहारसिद्धेरेतत्सूत्रसापेक्षत्वादन्योन्याश्रयः । पदार्थबोधं विना वाक्यार्थज्ञानासम्भवात् । अत्राहुः-हल् च ल् चेति समाहारद्वन्द्वे संयोगान्तलोपेन लङ्कारोऽप्यत्र निर्दिश्यते । तेन लस्येत्संज्ञायां सत्यां “आदिरन्त्येन” [अष्टा०सू०१-१-७१] इति हलसंज्ञा । ततोऽन्त्यं हलित् इति वाक्यार्थबोधः । यद्वा-हल् इति तन्त्रावृत्त्येकशेषाणामन्यतमाश्रयणाद्धस्य समीपवर्त्ती लङ्कारो हल् स इदिति । सम्पूर्णसूत्रावृत्त्या हलसूत्रस्यान्त्यं हलन्त्यमिति वा । इह पक्षत्रये “पूर्वः पूर्वः प्रबलः, लाघवात्” इति तत्त्वम् । यद्वा-हलसूत्रे लङ्कारस्यैव ‘तवलकारः’ इतिवद् गुणभूतस्य निर्देशः । तस्य च “पुषादिद्युताष्टलुदितः [अष्टा०सू०३-१-५५] इति ज्ञापकादित्संज्ञा । न तु “उपदेशेऽजनुनासिकः” [अष्टा०सू० १-३-२] इति, अचसंज्ञाया अद्याप्यनिष्पादात् । यत्तु णलो लित्करणं ज्ञापकमिति, तच्चिन्नन्त्यम्, लित्वस्याद्याप्यसिद्धेः । न च ‘विभेद’ इत्यत्र लोपाभावार्थं हलङ्गादिसूत्रेऽप्युक्तं हलिति द्वितीयहलग्रहणं तत्र ज्ञापकमिति वाच्यम् । ‘भविता’ इत्यादौ डानिवृत्त्यर्थं हलग्रहणोपपत्तेः । न च सुतिसीतिप्रत्ययैः प्रकृतेराक्षेपाच्चैवमिति वाच्यम्, ‘या’ ‘सा’ इत्यादौ सुलोपानापत्तेः । न चैकदेशविकृतस्यानन्यत्वादेकादेशस्य च पूर्वान्ततया ग्रहणाद्धलन्तायाः प्रकृतेः परत्वेनेष्टसिद्धिः । ‘यः’ ‘सः’ इत्यत्रातिप्रसङ्गात् । तस्माल्लोपप्रवृत्तिकाले हलन्तत्वं वाच्यम् । तच्च ‘या’ ‘सा’ इत्यत्रापि नास्ति किं स्वाबन्तापरत्वमाश्रित्य लोपः कार्यः । न च तत्राबन्ता प्रकृतिः । उभयत आश्रयणेन्तादिवद्भावायोगात् । अथ “तदस्यां प्रहरणम्” (अष्टा०सू०४-२-६२) इति निर्देशादाबन्तस्थले उभयत आश्रयेऽप्यन्तादिवद्भावं ब्रूषे तथापि हलशब्दस्यैवाद्यापि शक्त्यग्रहे कथं हलग्रहणसामर्थ्याणलो लित्वं निश्चयेम् । न च “लिति” [अष्टा०सू०६-१-१९३] इति ज्ञापकम्, व्युडादौ चरितार्थत्वात् । तस्मादुक्तप्रकारचतुष्टयमेव शरणम् । स्यादे-



तत्-आद्ये हल्संज्ञातः पूर्वं कथं संयोगान्तलोपः, संयोगसंज्ञाया अनिष्प-  
त्तेः । द्वितीये हस्य ल् इति कथं समासः, सुप्संज्ञाया आनिष्पादात् ।  
एवं तृतीये हलोऽन्त्यमिति तत्पुरुषः कथम् । चतुर्थे च लृदित इति  
बहुव्रीहिः कथम् ? उच्यते । साधुत्वज्ञानोपयोगिनः शास्त्रस्याप्यर्थबोधो  
यदि तद्वोध्यसाधुत्वानां पदानां स्वार्थानुभावकतायामुपयुज्येत तदैष  
दोषः स्यात् । स च नोपयुज्यते प्रमाणाभावात्, शतशो व्यभिचाराच्च ।  
यथा चैतत्तथा “अइउण्” (मा०सू०१) इत्यत्रैव प्रतिपादितम् ।

न विभक्तौ तुस्माः (अष्टा०सू०१-३-४) । विभक्तिस्थास्तवर्गसंका-  
रमकारा इतो न स्युः । रामान्, पचेरन्, ब्राह्मणाः, पचतः, रामम्, अ-  
द्राक्षम्, विभक्तौ किम् ? “अचो यत्” (अष्टा०सू०३-१-९७) “ऊर्णाया युस्”  
(अष्टा०सू०५-२-१२३) “रुधादिभ्यः श्रम्” (अष्टा०सू०३-१-७८) “प्रा-  
ग्दिशोविभक्तिः” (अष्टा०सू०५-३-१) इति यत्र विभक्तिसंज्ञा तत्रायं नि-  
षेधो न भवति । “इदमस्थमुः” (अष्टा०सू०५-३-२४) इति मकारपरि-  
त्राणार्थमुकारानुबन्धासञ्जनाज्ज्ञापकात् । तेन “किमोत्” (अष्टा०सू०  
५-३-१२) ‘क’ इति सिद्धम् । स्यादेतत्-‘तदानीम्’ इत्यादौऽदानीमोऽपि  
तर्हि मित्वं स्यादिति चेन्न, यान्तत्वात्तस्य । यकारो ह्यन्त्यत्वमनुभवन्म-  
कारस्येत्संज्ञां प्रतिबध्नाति । “संयोगान्तस्य लोपः” (अष्टा०सू०८-२-२३)  
इति यलोपस्येत्संज्ञां प्रत्यसिद्धतया मकारस्यान्यत्वभावात् । यद्वा-  
“इदमस्थमुः” (अष्टा०सू०५-३-२४) इत्यनेनानित्यत्वमात्रं ज्ञाप्यते, न तु  
प्राग्दिशीयेष्वप्रवृत्तिः । “औत्” (अष्टा०सू०७-३-१२८) “इटोऽत्”  
(अष्टा०सू०३-४-१०६) इत्यत्र तु मुखसुखार्थस्तकारः न त्वित्संज्ञकः,  
तित्स्वरापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, ‘उरौ वाये’ ‘भक्षीय तवराधारा’ इत्यादौ  
‘उरौ भक्षीय’ इत्यनयोरेन्तोदात्ततादर्शनात् । “आयुदात्तश्च” (अष्टा०  
सू०३-१-३) इति सूत्रे ‘भविषीय’ इत्यत्र भाष्यकारैरेवान्तोदात्तत्वस्य सि-  
द्धान्तितत्वाच्च । यत्त्विह वृत्तिकृतोक्तम्, “किमोत्, (अष्टा०सू०५-३-१२)  
“इटोऽत्” (अष्टा०सू०३-४-१०६) इत्यत्रोऽयं निषेधो न भवति अनित्य-  
त्वादस्य विधेरिति, तत्स्वोक्तिविरुद्धम् । “इटोत्” (अष्टा०सू०३-४-  
१०६) इति तेनैवोक्तत्वात् । तस्मादभ्युपेत्यवादमात्रम् । यद्वा-“इटोत्”  
(अष्टा०सू०३-४-१०६) इत्यत्रास्य अकारमात्रस्य विधेः । अनित्यत्वा-  
दिति तु “किमोत्” (अष्टा०सू०५-३-१२) इत्येतत्परमिति व्याख्येयम् ।

आदिर्जिडुडवः (अष्टा०सू०१-३-५) । उपदेशे आदिभूताः जि डु ड एते  
इतः स्युः । “जिइन्धी” (रुधा०आ०१४४९) इद्धः । “डुवेष्ट” (भ्वा०आ०३६७)  
वेपथुः । “डुवप्” (भ्वा०उ०१००३) उष्निमम् । उपदेश इति किम् ? जि-



कारीयति । आदिः किम् ? पट्टयति । अस्ति हि पृथ्वादिषु पटुशब्दस्यो-  
पदेशः । अत्रेत्संज्ञायां सत्यामथुच् स्यात् । अवयवे ह्यचरितार्थं द्वित्वं  
समुदायस्य विशेषकं स्यात् ।

षः प्रत्ययस्य (अष्टा०सू०१-३-६) । प्रत्ययस्यादिः ष इत्यात् । “शि-  
ल्लिपिनि ष्वन्” (अष्टा०सू०३-१-१४५) नर्त्तकी । प्रत्ययस्येति किम् ? षोडश ।  
“षषउत्वम्” (का०वा०) इत्यत्रोपदेशस्थोऽयं षकारः । आदिः किम् ? अवि-  
षः, महिषः । “अविमहिष्यां टिषच्” (उ०सू०४८) । नन्वत्र प्रयोजनाभा-  
वादेव षकारस्येत्संज्ञा न भविष्यति ईकारस्य टित्वादेव सिद्धेः । न च  
पक्षे ङीषर्थः षकारः । ङीषोऽपि चितः परस्योदात्तनिवृत्तिस्वरणो-  
दात्तत्वात्, सत्यम्, विनिगमकाभावेन पक्षे टकारस्यापि श्रवणं  
स्यात् ।

चुट्ट (अष्टा०सू०१-३-७) । प्रत्ययाद्यौ चुट्ट इतौ स्तः । “गोत्रे कुञ्जा-  
दिभ्यश्चफञ्” (अष्टा०सू०४-१-९८) कौञ्जायन्यः । छस्य ईयादेशं व-  
क्ष्यति । जस् ब्राह्मणाः । झस्यान्तादेशो वक्ष्यति । सो(१)स्याभिजनः  
इत्यधिकारे “शण्डिकादिभ्यो ङ्यः” (अष्टा०सू०४-३-९२) शण्डिक्यः ।  
“चरेष्टः” (अष्टा०सू०३-२-१६) कुरुचरी । ठस्यैकादेशं वक्ष्यति । “स-  
प्तम्यां जनेर्ङः” (अष्टा०सू०३-२-९७) उपसरजः । ढस्यैकादेशं वक्ष्यति ।  
“धनगणं लब्धा” (अष्टा०सू०४-४-८४) इत्यतो ‘लब्धा’- इत्यनुवर्त्त-  
माने “अन्नाणः” (अष्टा०सू०४-४-८५) अन्नं लब्धा आन्नः । “चुटुषाः  
प्रत्ययस्य” इति कर्त्तव्ये योगविभागादनित्यमिदम् । तेन ‘केशचुञ्चुः’  
‘केशचणः’ इत्यत्र चकारस्येत्संज्ञा न । सत्यां हि तस्यां “चितः”  
(अष्टा०सू०६-१-१६३) इत्यन्तोदात्तः स्यात् । चित्करणं तु पर्यायार्थं  
स्यात् । “अवात्कुटारश्च” (अष्टा०सू०५-२-३०) इत्यतोऽवादित्यनुवर्त्त-  
माने “नते नासिकायाः” (अष्टा०सू०५-२-३१) इति टोटच्-अवटोटः ।  
यद्वा चुञ्चुच्चणपटोटचो यादयः, “लोपोव्योः” (अष्टा०सू०६-१-६६)  
इति यलोपे इति व्याख्येयम् ।

लशकतद्धिते (अष्टा०सू०१-३-८) । तद्धितभिन्ने प्रत्यये आदिभूता  
लशकवर्गो इतः स्युः । “ल्युट् च” [अष्टा०सू०३-३-११५] भवनम् ।  
“कर्त्तरि शप्” [अष्टा०सू०३-१-६८] भवति । “क्तवतू निष्ठा” (अष्टा०  
सू०१-१-२६) भूतः, भूतवान् । “प्रियवशेवदः खच्” (अष्टा०सू०३-२-  
३८) प्रियंवदः, वशंवदः । “ग्लजिस्थश्चग्लुः” (अष्टा०सू०३-२-१३९)

[१] “सोऽस्य निवासः” [अष्टा०सू०४-३-८९] इत्यतः सोऽस्य इत्य-  
नुवर्त्तमाने “अभिजनश्च” (अष्टा०सू०४-३-९०) इत्यधिकारे इत्यर्थः ।



जिष्णुः । “भञ्जभासमिदो घुरच्” [अष्टा०सू०३-२-१६१] भङ्गुरम् । डे-  
हरये । अतद्धिते किम् ? चूडालः । “प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्”  
(अष्टा०सू०५-२-२६) लोमशः । अत्र प्रयोजनाभावात्संज्ञेत्यपि सुव-  
चम् । ‘कर्णिका’ “कर्णललाटात्कनलङ्कारे” (अष्टा०सू०४-३-६५) इति  
भवार्थे कन् । अत्र “किति च” [अष्टा०सू०७-२-११८] इति वृद्धिः स्यात्  
रूपञ्च न सिद्ध्येत् । “इर उपसङ्ख्यानम्” [का०वा०] रुणद्धि । अयं वा  
रेफो “हलन्त्यम्” (अष्टा०सू०१-३-३) इतीत्संज्ञः । इकारस्तु “उपदे-  
शेऽजनुनासिकः” (अष्टा०सू०१-३-२) इति । स्यादेतत्-एवं सतीदि-  
त्वान्नुम् स्यात् । न च तत्क्रकुम्भीधान्यन्याय आश्रयितुं शक्यः,  
‘नन्दति’ इत्याद्यव्याप्तेः, सत्यम्, स्कन्दिर्प्रभृतीनां नकारपाठो ज्ञापकः  
अन्तेदितामेव नुमिति । यद्वा—“गोः पदान्ते” (अष्टा०सू०७-१-५७)  
इति सूत्रादन्तग्रहणमनुवर्त्तयिष्यते । तच्चावश्यमनुवर्त्यम् । चक्षिडो  
नुम् मा भूदिति । अथवा “न दशः” (अष्टा०सू०३-१-४७) इति ज्ञाप-  
कात् भविष्यति सति हि नुमि इगुपधत्वाभावादेव कसस्याप्राप्तेः किं  
तन्निषेधेन । यद्वा—“इरितो वा” (अष्टा०सू०३-१-५७) इति ज्ञापकात्स-  
मुदायस्येत्यंशः । अवयवे अचरितार्थस्य स्वरितत्वस्य समुदायविशेष-  
कत्वात्स्वरितत्वप्रयुक्तमात्मनेपदम् । तेन ‘रुन्धे’ इत्यादि सिद्धम् ।

तस्य लोपः [अष्टा०सू०१-३-२] । तस्येतो लोपः स्यात् । तस्यग्रहणं  
सर्वलोपार्थम् । जिटुङ्नामलोल्यस्य मा भूत् । “नानर्थकेऽलोल्यविधिः”  
(प०भा०) इति तु नास्ति । “अलोल्यात्पूर्वं उपधा” (अष्टा०सू०१-१-  
६५) इति सूत्रे तस्य प्रत्याख्यानात् ।

यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (अष्टा०सू०१-३-१०) । समसङ्-  
ख्यानां सम्बन्धो यथाक्रमं स्यात् । “नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः”  
(अष्टा०सू०३-१-१३४) नन्दनः, ग्राही, पचः । “समूलाकृतजांवेषु हन्-  
कृञ्ग्रहः” (अष्टा०सू०३-४-३६) ‘समूलघातं हन्ति’ इत्यादि । अत्रानुवा-  
द्ययोरपि धातूपपदयोर्यथाक्रमं बोध्यम् । स्यादेतत्—“विदिभिदिछिदेः  
कुरच्” (अष्टा०सू०३-२-१६२) इत्यादौ तच्छीलाद्यर्थत्रयेण यथासङ्ख्यं  
प्राप्नोति । एवं “ख्यत्यात्” (अष्टा०सू०६-१-११२) डसिडसोः इत्यादा-  
वपीति चेत् । अत्र भाष्यम्—“स्वरितेनेत्यपकृष्यते । तेन स्वारितत्वाभावा-  
न्नेह यथासङ्ख्यम्” इति । प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः । स्वरितत्वाभावा-  
देव “कर्तृकर्मणोश्च भूकृजोः” (अष्टा०सू०३-३-१२७) इति सूत्रे न यथासङ्ख्यं  
“नाडीमुत्थ्योश्च” (अष्टा०सू०३-२-३०) इति सूत्रे यथासङ्ख्यं च भवत्ये-  
वेति भाष्यम् । वृत्तिकारस्तु “कर्तृकर्मणोश्च” (अष्टा०सू०३-३-१२७) “ना-



डीमुष्ठ्योश्च” (अष्टा०सू०३-२-३०) इति सूत्रद्वयंऽपि भाष्य विपरीतं वद-  
न्नुपेक्ष्यः । “नाडीमुष्ठ्योश्च” (अष्टा०सू०३-३-३०) इति सूत्रे यथा सङ्ख्या-  
भावपरं भाष्यमपि पूर्वापरविरोधाच्चिन्त्यम् । एतदेव वा मतान्तरपरं स-  
त्तत्रत्यवृत्तेरालम्बनमस्तु । “कर्तृकर्मणोः” (अष्टा०सू०३-३-१२७) इत्यत्र  
तु वृत्तिश्चिन्त्यैव । “वैशोयशआदेर्भगाद्यल्खौ” (अष्टा०सू०४-४-१३१) इ-  
त्यत्राप्यस्वरितत्वादेव न यथासङ्ख्यम् । इह भाष्ये वृत्तौ चेत्यं स्थि-  
तम् । चतुर्थे तु वृत्तिकारो योगं व्यभजत् । “भगाद्यल्” इति “खच” इति च ।

स्वरितेनाधिकारः (अष्टा०सू०१-३-११) । “इत्थंभूतलक्षणे” (अ-  
ष्टा०सू०२-३-२१) तृतीया । अधिकारविनियोगः स्वरितत्वयुक्तशब्द-  
स्वरूपमधिकृतं बोध्यम् । “प्रत्ययः” (अष्टा०सू०३-१-१) “परश्च”  
(अष्टा०सू०३-१-२) इत्यादि । यथा प्रायेणोत्तरत्रोपस्थितिः । कच्चित्तु  
पूर्वत्रापि । तदुक्तम्—“अतिङित्युभयोर्योगायोः शेषः” इति । कियद्दूर-  
मधिकार इत्यत्र व्याख्यानं शरणम् । यथा आतृतीयाध्यायान्तं धात्व-  
धिकारो न तु प्राग्लादेशेभ्य एव । तथा आसप्तमाध्यायपरिसमाप्तेरङ्गा-  
धिकारो न तु प्रागभ्यासविकारेभ्य एवेत्यादि । यद्वा—‘स्वरिते’ इति  
सप्तम्यन्तम् । तेन तस्मिन्दष्टे अधिकारो निवर्तत इत्यर्थः । कः स्वरि-  
ताधिकारार्थः कश्च तन्निवृत्त्यर्थ इत्यत्र तु व्याख्यानमेव शरणम् । नन्वेवं  
व्याख्यानादेवानुवृत्त्यननुवृत्तीस्तां किमनेन सूत्रेण, सत्यम्, अर्थान्तराणि  
सङ्गृहीतुं सूत्रं कृतम् । तथाहि—स्वरितेनाधिकाररूपोर्थो ग्राह्यः । “गो-  
स्त्रियोः” (अष्टा०सू०१-२-४८) इत्यत्र च स्त्रीशब्दः स्वर्यते । तेन गोटा-  
द्ब्रह्मणं कृन्निवृत्त्यर्थमिति न वक्तव्यम् । किञ्च अधिकं कार्यमधिकारः ।  
गौणेऽपि शास्त्राप्रवृत्तिरित्यर्थः । तथा च गौणमुख्यन्यायो यत्र नेष्यते  
(अपादानाधिकरणादौ) तत्र स्वरितः पाठ्यः । अपि च अधिकः  
कारः कृतिरियम् । यत्पूर्वः सन् परं बाधते । तथा च पूर्वविप्रतिषेधा  
संगृहीता भवन्ति । तत्र तत्र स्वरितपाठेनैव गतार्थत्वादिति दिक् ।

॥ श्रीशब्दकौस्तुभे प्रथमस्याध्यायस्य तृतीये  
पादे प्रथमान्हिकम् ॥

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (अष्टा०सू०१-३-१२) । अनुदात्तेत्क उप-  
देशे यो ङित्तदन्ताद्धातोर्लस्थाने आत्मनेपदमेव स्यात् । एधते, स्पर्धते,  
बोभूयते, कृतीयते, कथं तर्हि ‘शेते’ इत्यादि, ङिदेव त्वयमिति चेत्,  
सत्यम् । व्यपदेशिवद्भावो बोध्यः । उपदेशे किम् ? ‘चुकुटिषति—“गाङ्कु-  
टादिभ्यः” (अष्टा०सू०१-२-१) इति सप्त आतिदेशिकं ङित्वम् । धातो-



रिति किम् ? अत्युतत् अदुहुवत्, इति डिदभ्यामङ्चङ्भ्यां मा भूत् ।  
 कथं पुनः “धातोः” इति लभ्यते इति चेत्, “भूयादि” (अष्टा०सू०१-३-१)  
 सूत्रान्मण्डूकप्लुत्याऽनुवृत्तस्य “धातवः” इत्यस्य विभक्तिविपरिणामा-  
 त् । “सादृश्यमात्रेण परिणामव्यवहारो वस्तुगत्या तु योग्यशब्दा-  
 न्तरमेव सन्निहितं भवति” इति कैयटः । यद्वा-आत्मनेपदेनैव लका-  
 रस्य धातोश्चाक्षेपः । “इको झल्” (अष्टा०सू०१-२-२) इत्यत्र सना  
 धातोराक्षेपवत् । अत एव डिता तस्य विशेषणान्तदन्तविधिव्या-  
 ख्यातः । “चिन्नीयते” इत्यादौ तु अवयवेऽचरितार्थेन ङकारेण क्यज-  
 न्तस्य विशेषणं ततो व्यपदेशिवद्भावाङ्ङिदन्ततेति दिक् । एतेन  
 ‘चिनुतः’ ‘सुनुतः’ इति व्याख्यातम् । यत्तु तत्र डितीव डिद्वदिति  
 व्याख्यानमाश्रित्य समाधानं, तदापाततः । ‘पचेते’ इत्यादौ “आतो-  
 ङितः” (अष्टा०सू०७-२-८१) इति इयादेशाभावप्रसङ्गात् । ननु “वृद्ध्यः  
 स्यसनोः” (अष्टा०सू०१-३-२२) इति सूत्रे स्पष्टहणेन “विकरणेभ्यो  
 नियमो बलीयान्” इति ज्ञापितत्वाच्चङङोः ‘चिनुतः’ इत्यादौ चानु-  
 पपत्तिरेव नास्तीति चेत्, उपजनिष्यमाणेनापि डिता उपसङ्गातनिमि-  
 त्तस्याऽपि परस्मैपदस्य बाधापत्तेः । “नियमो बलीयान्” इत्यस्यापि  
 पाक्षिकत्वाच्च । “वृद्ध्यः स्यसनोः” (अष्टा०सू०१-३-२२) इत्यस्य वि-  
 करणव्यवधानेऽपि नियमप्रवृत्तिरिति ज्ञापकताया अपि सुवचत्वात् ।  
 “शदेः शितः” (अष्टा०सू०१-३-६०) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोरिदं  
 स्पष्टम् । तस्माद्यथाव्याख्यानमेव मनोरमम् । हरदत्तस्तु डित इत्येव  
 व्याख्यत् । “धातोः” इति नापेक्ष्यते । “नियमो बलीयान्” इत्याश्रय-  
 णाच्चङादौ न दोषः । न च भाविना डिता बाधः । परत्वात्परस्मैपदस्यै-  
 वोचितत्वात्” इति तस्याशयः । उभयथापि यङीयङोर्ङित्वस्य गुण-  
 निषेधे चरितार्थतामाशङ्क्य यङः प्रागनुदात्तमकारं प्रश्लिष्य “जुचङ्-  
 कर्म्यदन्द्म्य” (अष्टा०सू०३-२-१५०) इति ज्ञापकाद्युजभावं वदन्तः  
 ईयङः प्रागिकारमीकारं वा प्रश्लिष्य आद्ये अन्तेदिच्वाभावान्न जुम्,  
 द्वितीये एकाच इत्यनुवृत्तेः “श्वीदितो निष्ठायाम्” (अष्टा०सू०७-२-१४)  
 इति नेणिनपेध इति कल्पयन्तः परास्ताः । स्यादेत्-यङ्लुक्क्यपि सर्व-  
 प्रातिव्याप्तिः, प्रत्ययलक्षणेन डिदन्तत्वात् । सत्यम्, डिद्वस्य प्रत्ययाप्र-  
 त्ययसाधारणतया ‘सुदृषत्’ इत्यत्र “सोमनसि” (अष्टा०सू०६-२-११७)  
 इतिस्वरस्यैव “अत्वसन्तस्य” (अष्टा०सू०६-४-१४) इति दीर्घस्येव  
 चेहात्मनेपदस्याप्रवृत्तेरिति निष्कर्षः । प्राञ्चस्तु ‘बोभूतु तेतिक्ते’ इत्यत्र  
 तिजैर्यङ्लुगन्तादात्मनेपदविधानं ज्ञापकं यङ्लुगन्तात्प्रत्ययलक्षणेनात्म-



नेपदं नांत । अत एव “चर्करतिं च” इत्यादादौ पठितस्य चकारात्पर-  
स्मैपदमिति व्याख्यानं ज्ञापकसिद्धार्थानुवाद इति सिद्धान्तः । नन्वे-  
वमपि ‘पास्पर्धीति’ इत्यादावात्मनेपदं दुर्वारम्, स्पर्द्धेरनुदात्तेत्वात् ।  
न चेदं प्रकृत्यन्तरमिति वाच्यम्, द्विःप्रयोगो द्विवचनं षाष्ठमिति वक्ष्यमा-  
णत्वात् । सत्यम्, “हितपा शपा” (का०वा०) इत्यादिना निषेधो बोध्यः ।  
अनुबन्धेन निर्देशो हि द्विधा । क चित्साक्षात्—“शीडः सार्वधातुके  
गुणः” (अष्टा०सू०७-४-२१) । “दीडो युट्” (अष्टा०सू०६-४-६३) इति  
यथा । “अनुनादात्तेतः” (अष्टा०सू०३-२-१४९) इत्यादौ स्वनुबन्धत्वेन ।  
यत्र तु नोभयथापि निर्देशस्तद्भवत्येव । “आडो यमहनः” (अष्टा०सू०  
१-३-२८) “भावकर्मणोः” (अष्टा०सू०१-३-१३) इत्यादि यथा । ननु  
“आडः” इति कथं नानुबन्धनिर्देश इति चेत्, न । प्रकृतिग्रहणे यङ्-  
लुगन्तस्य ग्रहणमित्यस्य ह्ययमपवादः । तेन प्रकृतेर्यत्रानुबन्धेन निर्देशः  
स एवास्य विषयः । अत एव ‘चेचितः’ ‘मरीमृष्टे’ इत्यादौ ‘किङिति  
च’ (अष्टा०सू०१-१-५) इति प्रवर्तत एवेति दिक् । अथ कथं “स ए-  
वायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम्” इति । अत्राहुः । “आभृषाद्धा”  
(ग०सू०) इति विकल्पितणिचः सहेरिदं रूपम् । यद्वा—चक्षिणे  
ङित्करणमनुदात्तेत्वलक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यतां ज्ञापयति । स हि  
अनुदात्तेत । “विचक्षणः प्रथयन्” इत्यादौ “अनुदात्तेतश्च हलादेः”  
(अष्टा०सू०३-२-१४९) इतियुच्चां दर्शनात् । न चायं ल्युट् । लिट्स्वरा-  
पत्तेः । अन्तोदात्तस्य च पाठ्यमानत्वादिति । एतेन “स्फायन्निर्मोकस-  
न्धि” इति मुरारिप्रयोगो व्याख्यातः । स्यादेतत्—लस्य तिबादयः ।  
लटः शतृशानचौ । लिटः कानज्वा । कसुश्च । “लटः सद्वा” [अष्टा०  
सू०३-३-१४] इत्यात्मनेपदपरस्मैपदयोर्विहितत्वादित आरभ्यापादप-  
रिसमाप्तेः प्रकरणं किमर्थमिति चेत्, नियमार्थमित्येवेहि । अत एवानु-  
दात्तङित आत्मनेपदमेवेति व्याख्यातम् । सोऽयं प्रकृतिनिबन्धः । उत्तर-  
सूत्रे च भावकर्मणोरात्मनेपदमेवेति अर्थनियमः । यत्रैवकारस्ततोऽन्यत्रा-  
वधारणमिति सिद्धान्तात् । तथाहि—

“तदसम्बन्ध्यसम्बन्धो व्याप्तिः सैवावधारणम् ।

व्यापकत्वद्योतकैव शब्दसम्बद्धभिन्नजम् ॥

न चास्मिन्पक्षे अनुदात्तेप्रभृतिभ्यः परस्मैपदं मा भूत् आत्मनेपदं  
त्वनिवत्त्वात् ‘अत्ति’ इत्यादावपि स्यादिति वाच्यम् । शेषात्परस्मैपदमेवेति  
नियमात् । ननु तत्र कर्त्तरात्युक्तेः कर्त्तरि परस्मैपदमेवास्तु । भावकर्म-  
णोऽपि । ‘जागर्यते’ ‘अद्यते’ इत्यादौ परस्मैपदं दुर्वारमेवेति चेन्न । भाव-



कर्मणोरात्मनेपदमेवेति नियतत्वात् । अस्तु वा प्रत्ययनियमः । आत्म-  
नेपदमनुदात्तञ्चित एवेति । भावकर्मणोरेवेति । न चैवमनुदात्तेप्रभृतिभ्यः  
परस्मैपदप्रसङ्गः । परस्मैपदस्यापि “शेषात्कर्त्तरि” (अष्टा०सू०१-६-७८१)  
इति नियतत्वात् । ननु कीदृशस्तत्र नियमः कर्त्तरि यदि परस्मैपदं भव-  
ति शेषादेवेति, शेषाद्यदि भवति कर्त्तर्येवेति वा, आद्ये अशेषात्कर्त्तरि  
मा भूत् । भावकर्मणोस्तु शेषादशेषाच्च परस्मैपदं दुर्वारम् । अन्ये शो-  
णाद्भावकर्मणोर्मा भूत्, अशेषात्तु भावकर्मकर्तृषु त्रिविधं प्राप्नोति । सत्य-  
म्, योगविभागेन नियमद्वयं बोध्यम् । शेषादेव तत्रापि कर्त्तर्येवेति ।  
तस्मादिह प्रकरणे प्रकृत्यर्थनियमः प्रत्ययनियमो वेति पक्षद्वयमपि स्थि-  
तम् । स्यादेतत्-विकरणव्यवधाने नियमो न प्राप्नोति । तथाहि-विक-  
रणानामवकाशो लादेशाभिन्नाः । “इक्षितपौ धातुनिर्देशे” (का०वा० )  
इति हितम् । “पात्राध्माघेद्दृशः शः (अष्टा०सू०३-१-१३७) । ताच्छो-  
ल्यादिषु चानश् । नियमस्यावकाशः लिट्लिङौ लुक्श्लुङ्गमश्च । पस्पर्थे,  
स्पर्थिषीष्ट, आस्ते, शेते, अस्ति, जुहोति, भिनत्ति, भूयात्, इत्यादि ।  
एधते, स्पर्थते, कुरुते, निविशते, इत्यादावुभयप्रसङ्गे परस्मान्नित्यत्वाच्च  
विकरणेषु तैर्व्यवधानान्नियमो न स्यात् । ततश्च प्रकृतिनियमपक्षे विक-  
रणान्तादुभयप्रसङ्गः । प्रत्ययनियमोऽपि तुल्यजातीयस्यैव नियमेन व्या-  
वृत्तिः धातोरनन्तरस्य लस्य यद्यात्मनेपदम् “अनुदात्तञ्चित एव” यदि  
तु परस्मैपदं, “शेषादेव” इत्यादि । तथा च धात्वन्तरात्तद्यावृत्तावपि  
विकरणव्यवधाने नियमाप्रवृत्तेः पदद्वयमपि स्यादेव । सत्यम्, विक-  
रणेभ्यो नियमो बलियान्” इति “वृज्यः स्यसनौः” (अष्टा०सू०१-३-९२)  
इतिस्यग्रहणेन ज्ञाप्यते । अतो नियमद्वयेऽप्यदोषः । तत्रापि प्रकृत्यर्थनि-  
यमपक्षो बलीयानित्यवधेयम् । तत्र हि शेषात्कर्त्तरि न वाच्यम्, किन्तु  
परस्मैपदमित्येव यत्र तच्चान्यच्च प्राप्तं तत्र परस्मैपदमेव स्यात् । प्रत्यय-  
नियमपक्षे तु शेषादिति कर्त्तरि न वाच्यम्, योगश्च विभजनीय इति  
दोषत्रयमधिकं स्यात् । तिबादिवाक्येन सह वाक्यभेदः परिसङ्ख्या-  
प्रयुक्तत्रिदोषता चेति दोषचतुष्कन्तु पक्षद्वयेऽप्यस्त्येव । यदि तु तदपि  
किमर्थं सोढव्यमिति बुद्धिस्तर्हि लस्य तिबाद्य इत्यनेन सहेदं प्रकरण-  
मेकवाक्यतया विधायकमिति व्याख्येयम् । अस्मिन्पक्षे शेषात्कर्त्तरि न  
कर्त्तर्यमेव । परस्मैपदमात्मनेपदमिति च सूत्रशाटकवद्भाविनी संज्ञाश्र-  
यणीया । अन्यथा विहितानां संज्ञा संज्ञया च विधानमित्यन्योन्याश्रयः  
स्यात् । अस्मिन्पक्षे विकरणेषु न कश्चिदोषः । लादेशेषु कृतेषु सार्व-  
धातुकमाश्रित्य विकरणप्रवृत्तेः । न च स्यादिषु दोषस्तदवस्थ एवेति



वाच्यम्, लमात्रापेक्षयान्तरङ्गेषु तिवादिषु कृतेषु लकारविशेषापेक्षतया बहिरङ्गाणां स्यादीनां प्रवृत्तेः ।

भावकर्मणोः (अष्टा०सू०१-३-१३) । अनयोर्विहितस्य लस्यात्मनेपदं स्यात् । सुप्यते, क्रियते । प्राग्वेदकवाक्यतया विधिः भिन्नवाक्यतया नियमो वेति बोध्यम् । नियमोऽपि द्विधा, प्रत्ययनियमोऽर्थनियमश्चेति । न चान्त्यपक्षे कर्मणि घञ् न स्यात् 'को भवता लाभो लब्धः' इति, "अकर्त्तरि च" (अष्टा०सू०३-३-१९) इत्यस्य त्वपादानादिरवकाश इति वाच्यम् । तुल्यजातीयस्य परस्मैपदस्यैव नियमेन व्यावर्त्तनात् । स्यादेतत्- "लूयते केदारः स्वयमेव" इत्यत्र परस्मैपदं प्राप्नोति । "कर्मवत्कर्मणा" (अष्टा०सू०३-१-८७) इत्यनेन हि शास्त्रं व्यपदेशो वाऽतिदिश्यते । तथा च तेन तेन शास्त्रेण तत्तत्कार्यं कर्त्तव्यम् । तत्र कर्मण्यात्मनेपदमित्यस्यावकाशः शुद्धं कर्म, कर्त्तरि परस्मैपदमित्यस्य शुद्धः कर्त्ता । कर्मकर्त्तृभयप्रसङ्गे परस्वात्परस्मैपदमिति । सत्यम्, प्राधान्यात्कार्यातिदेश एवेत्यात्मनेपदमेव परं बोध्यम् । पक्षान्तरे तु "शेषात्कर्त्तरि" (अष्टा०सू०१-६-७८) इत्यत्र "कर्त्तरि कर्म" (अष्टा०सू०१-३-१४) इत्यतः कर्त्तरीत्यनुवर्त्य कर्त्तैव यः कर्त्ता तत्र परस्मैपदं न तु कर्मकर्त्तरीति व्याख्यातम् ।

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे (अष्टा०सू०१-३-१४) । विनिमयविषयीभूतायां क्रियायां वर्त्तमानाद्धातोः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । व्यतिलुनीते । अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः । परस्परकरणमपि कर्मव्यतिहारः । सम्प्रहरन्ते राजानः । "व्यात्युक्षीमभिसरणग्लहामदीव्यन्" कर्त्तृग्रहणमुत्तरार्थम् ।

न गतिर्हिसार्थेभ्यः (अष्टा०सू०१-३-१५) । एभ्यः कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न स्यात् । व्यतिगच्छन्ति, व्यतिसर्पन्ति, व्यतिघ्नन्ति । प्रतिषेधे हसादीनामुपसङ्ख्यानम् (का०वा०) । हसादयो हसप्रकाराः शब्दक्रियाः । व्यतिहसन्ति, व्यतिजल्पन्ति । हरतेरप्रतिषेधः (का०वा०) सम्प्रहरन्ते राजानः । अर्थग्रहणसामर्थ्याद्ये शब्दान्तरनिरपेक्षा गतिर्हिंसयोर्वर्तन्ते त इह गृह्यन्ते । हरतिस्तूपसर्गवशाद्धिसायां वर्त्तत इति न तस्यायमप्रतिषेध इत्याहुः ।

"ततः सम्प्रहरिष्यन्तौ दृष्ट्वा कर्णधनञ्जयौ"

इत्यत्र तु 'योत्स्यमानौ' इति विधक्षितं न तु कर्मव्यतिहारः । वहेस्तु नायं प्रतिषेधः । अगत्यर्थत्वात् । प्रापणं हि वहेरर्थः । गतिप्रतीतिस्त्वाक्षेपात् ।



इतरेतरान्योन्योपपदाच्च (अष्टा०सू०१-३-१६) । आत्मनेपदं न स्यात् । परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) । इतरेतरस्यान्योन्यस्य परस्परस्य वा 'व्यतिलुनन्ति' । लौकिके शब्दव्यवहारे लाघवं प्रत्यनादरादितरेतरादिशब्दा व्यतीत्युपसर्गौ च कर्मव्यतिहारद्योतनाय समुच्चीयन्ते । तथात्मनेपदमपि समुच्चीयेतेति निषेधोऽयमारभ्यते । नन्वेवं-  
 "सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्" ।

इत्यत्र तद्ध कथं नेति चेत् ? करणविनिमये सत्यपि क्रियाविनिमयस्याविवक्षितत्वात् ।

नेर्विशः (अष्टा०सू०१-३-१७) । निपूर्वाद्विश आत्मनेपदं स्यात् । निविशते । नेः किम् ? प्रविशति । कथं तर्हि 'न्यविशते' न्यविक्षते' इति, अष्टा व्यवधानात् । न च स्वाङ्गमव्यवधायकमिति वाच्यम् । अङ्गभक्तस्याष्टो विकरणानां प्रत्ययवत्त्वेपि धातुप्रत्ययवयवत्वेन व्यवधायकत्वादिति । अत्राहुः-तिबादिविधेः प्राग्लावस्थायां धातोरेवाडागमः । "लुङ्लङ्" (अष्टा०सू०६-४-७१) इत्यत्र द्विलकारकनिर्देशस्य भाष्यकृता "असिद्धवत्" (अष्टा०सू०६-४-२२) सूत्रप्रत्याख्यानावसरे वक्ष्यमाणत्वात् । मतान्तरेऽपि लकारविशेषापेक्षत्वाद्वहिरङ्गमडागमं बाधित्वा लमात्रापेक्षत्वादन्तरङ्गेषु तिबादिषु कृतेषु नियमो भविष्यति । "विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्" इति सिद्धान्तात् । अत्र च "वृद्धयः स्यसनाः" (अष्टा०सू०१-३-९२) इति स्यग्रहणं ज्ञापकमिति बोध्यम् । अथेदं ज्ञापकं विकरणव्यवधानेपि नियमः प्रवर्त्तते इत्येवंपरतयानीयेत तथाप्यदोषः, अन्तरङ्गत्वात्तिबादिषु सत्सु शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्ययोरङ् विकरणयोर्मध्ये परत्वादट्प्रवृत्तेः । ननु विकरणः शब्दान्तरात्प्राप्तो न तु शब्दान्तरस्येति चेत्, किन्ततः ? न हि "शब्दान्तरस्य" इति वाचनिकम्, किन्तु न्यायोऽयम् । तथा च शब्दान्तरस्य प्राप्नुवत इव तस्मात्प्राप्नुवतोऽप्यनित्यत्वम् । यद्यक्तिसम्बन्धितया पूर्वं प्राप्नोति तद्यक्तिसम्बन्धितया पुनरप्राप्तेस्तुल्यत्वात् । अत एवोपसर्गनियमे "अव्यवाय उपसङ्ख्यानम्" (का०वा०) इति वार्त्तिकं प्रत्याख्यातम् "शद्वैः शितः" (अष्टा०सू०१-३-६०) इति सूत्रे भगवता भाष्यकारेणेति दिक् । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषया नेरुपसर्गस्य ग्रहणं तेनेह न-मधूनि विशन्ति भ्रमराः । कथं तर्हि—

"इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्गे निविशतीं भयात्" । (१०१२-३८) इति कालिदास इति चेत्, अङ्गानि विशतीमिति पाठ इति प्रामाणिकाः । यच्च पदसंस्कारपक्षेण समाधानं दुर्घटवृत्तौ कृतम्, तन्न । अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गप्रवृत्तेः । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । "वा लिप्सायाम्"



(का०वा०) इत्यादेर्वैयर्थ्यापत्तेश्चेति दिक् ।

परिव्यवेभ्यः क्रियः (अष्टा०सू०१-३-१८) । एभ्यः क्रीणातेरात्मनेपदं स्यात् । जित्वादेव सिद्धे सत्यकर्त्रभिप्रायार्थोयमारम्भः । परिक्रीणाते, विक्रीणाते, अवक्रीणाते । पर्यादय उपसर्गा इह गृह्यन्ते । तन्त्रावृत्त्याद्या-  
श्रयणेन क्रीणातेर्यै पर्यादयस्तेभ्यः क्रिय इति व्याख्यानात् । परस्पर-  
साहचर्याद्वा । तेनेह न-‘विक्रीणासि’ इति । अत्र त्वेकदेशविकृतस्या-  
नन्यत्वात्प्राप्नोति । न चायं विभक्तिविशिष्टस्य विरित्यस्य विकारो  
न तु विशब्दस्येत्युत्तरसूत्रस्थकैयटवाक्याद् भ्रमितव्यम्, विभक्तेर्लो-  
पात् । प्रकृतिभागस्यैव विकारात् । कैयटस्याप्ययमपरितोषोस्त्येव । अत  
एव वक्ष्यति-“पक्षिवाचिनो विशब्दस्य सम्भवे तु साहचर्यादुपसर्गग्र-  
हणं व्याख्येयम्” इति ।

विपराभ्याञ्जः (अष्टा०सू०१-३-१९) । स्पष्टार्थः । विजयते, पराजयते ।  
प्राग्वदुपसर्गग्रहणान्नेह-विजयति, पराजयति, सेना । परा उत्कृष्टा । ननु  
‘जेः’ इति कथं निर्देशः । “प्रकृतिवदनुकरणम्” इत्यतिदेशेन धातुतया  
इयङि ‘जियः’ इति वक्तव्यत्वात् । न च ‘नियः’ क्रियः’ इति दीर्घे सा-  
वकाशमियङं परत्वाद् “घेङिति” (अष्टा०सू०७-३-१११) इति गुणो वा-  
धत इति युक्तम् । ह्रस्वेष्वपि पूर्वविप्रतिषेधेनेयङ् इष्टत्वात् । अत एव  
‘क्षियः’ इति निर्दिश्यते । किञ्च “क्षियो दीर्घात्” (अष्टा०सू०८-२-४६)  
इति सूत्रे दीर्घग्रहणमपीह ज्ञापकम् । अन्यथा ‘क्षियः’ इति निर्देशादेव  
दीर्घस्य निर्णये किं तेन ? उच्यत-अनित्योयमतिदेशः । अतो नेयङ् । अ-  
नित्यतायां प्रमाणन्तु “कलृक्” (मा०सू०२) सूत्र एवोक्तम् । आविवक्षि-  
तार्थरूपमात्रानुकरणाद्वा । यत्तु “पराजेरसोढः” (अष्टा०सू०१-४-२६)  
इति सूत्रे इयङः परत्वाद् “घेः” (अष्टा०सू०७-३-१११) इति गुण इति  
हरदत्तनोक्तम्, तच्चिन्त्यम् । “क्षियो दीर्घात्” (अष्टा०सू०८-२-४६)  
इत्येतत्सूत्रस्थभाष्यकैयटवृत्तिग्रन्थैस्तत्रत्येहृत्यस्वग्रन्थाभ्याञ्च सह वि-  
रोधात् ।

आङो दोनास्यविहरणे (अष्टा०सू०१-३-२०) । आङ्पूर्वाद्ददातेर्मुख  
विकसनादन्यत्रार्थे वर्तमानादात्मनेपदं स्यात् । विद्यामादत्ते । अना-  
स्यविहरणे किम् ? मुखं ‘व्याददाति’ । आस्यग्रहणमविवक्षितम् । “उ-  
पेयिवाननाश्वान्” (अष्टा०सू०३-२-१०९) इत्यत्रोपशब्दवत् । तेनेहाप्रि-  
न-‘विपादिकां व्याददाति’ । पादस्फोटो विपादिका । नदीकूलं व्याद-  
दाति । पराङ्कर्मकादनास्यइति निषेधो नेष्यते । तथा च वार्त्तिकम्-  
स्वाङ्कर्मकाञ्चति (का०वा०) स्वमङ्गमिह स्वाङ्गं न तु “अद्रवं मूर्त्तिम-



त्” इति परिभाषितम् । व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम् । कथ-  
न्तर्हि—“व्यादत्ते विहगपतिमुखं स्वकीयम्” । कर्त्रभिप्राये भविष्यति ।  
अकर्त्रभिप्रायार्थो ह्ययमारम्भः । एतेन ‘मुखं व्यादाय स्वपिति’ इत्यत्र  
‘सुप्त्वा व्यादत्ते’ इति व्यत्यासेन प्रयोग इति प्रेत्य भावपरीक्षायां  
वाचस्पतिग्रन्थोपि व्याख्यातः । आङो डिद्विशिष्टस्य ग्रहणाच्चेह,—  
‘भिक्षामाददाति’ । अत्र स्मृतावाकार इति हरदत्तः ।

क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च (अष्टा०सू०१-३-२१) । “क्रीडृ विहारे” (भ्वा०  
प०३५०) अस्मादात्मनेपदं स्यात् अनुसम्परिभ्यः । चकारादाङः ।  
अनुक्रीडते, सङ्क्रीडते, परिक्रीडते, आक्रीडते । उपसर्गेण समा साहच-  
र्यादित्योः कर्मप्रवचनीयान्न । माणवकमनुक्रीडति । माणवकेन सहेत्यर्थः ।  
“तृतीयार्थे” (अष्टा०सू०१-४-८५) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । समो-  
ऽकूजने (का०वा०) सङ्क्रीडति शक्यम् । “मयास्य सङ्क्रीडति च-  
क्विचक्रः” इति श्रीहर्षः । कथं तर्हि—“क्रीडते नागराजः” इति । अपप्र-  
योग एवायमित्याहुः । आगमेः क्षमायाम् (का०वा०) ण्यन्तस्येदं ग्रहण-  
म् । आगमयस्व तावत् सहस्य कञ्चित्कालम्, मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः । एतेन  
“यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान्” इति श्रीहर्षप्रयोगो व्याख्यातः । यावत्प्र-  
तीक्षते इत्यर्थात् । शिक्षेर्जिज्ञासायाम् (का०वा०) धनुषि शिक्षते । “शि-  
क्ष विद्योपादाने” (भ्वा०आ०५०६) इत्यस्य नेह ग्रहणम् । अनुदात्तेत्वा-  
देव सिद्धत्वात् किन्तु शक्तेः सन्नन्तस्य । “सनिमीम” (अष्टा०सू०७-४-  
५४) इतीप् । धनुर्विषये ज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः । क्रियैव हि  
शक्तेरर्थं प्रति विषयतयैवान्वेति । भोक्तुं शक्नोतीत्यादिदर्शनात् । भो-  
जनविषयकशक्तिमानिति हि तदर्थः । “शकधृषज्ञाग्लाघटरभ” (अष्टा०  
सू०३-४-६५) इति तुमुन् । इह तु ज्ञानं विषयः । ज्ञातुमिति तु न प्रयु-  
ज्यते आत्मनेपदेनैव ज्ञानविषयकताया गमितत्वात् । न चैवं ‘जिज्ञा-  
सायाम्’ इत्यसङ्गतम् । ज्ञानेच्छा हि तदर्थः । लक्ष्ये तु ज्ञानं शक्तो वि-  
षयः । शक्तिस्तु सनर्थभूतायामिच्छायामिति व्याख्यानात्, सत्यम्,  
ज्ञानविशिष्टायाः शक्तेरिच्छाविषयतया ज्ञातस्यापि विषयतानपायात् ।  
एतावानेव परम्भेदः । इच्छा सन्वाच्या शक्तिस्तु प्रकृत्यर्थः । तस्यास्तु  
ज्ञानविषयकत्वमात्मनेपदेन द्योत्यतइति । आशिषि नाथः (का०वा०)  
अनुदात्तेत्वादेव सिद्धे नियमार्थं वार्तिकम्—“अशिष्येव” इति । न चैव-  
मनुदात्तेत्वं व्यर्थमिति वाच्यम् । तस्य ‘नाथने’ इति युज्यर्थत्वात् । ‘स-  
र्पिषो नाथते’ । “आशिषि नाथः” (अष्टा०सू०२-३-५५) इति कर्मणि  
षष्ठी । ‘सर्पिर्मे भूयादित्याशास्ते’ इत्यर्थः । कथं तर्हि—‘नाथसे किमु पति



न भूभृताम्” (कि०१३-५९) इति भारविः । उच्यते-नाधसे इति पाठः । त्वर्गचतुर्थस्थाने लिपिप्रमादाद् द्वितीयः पठ्यते । अत एव काव्य-प्रकाशे च्युतसंस्कृतेरुदाहरणम्--

“तत्पत्नीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-

दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः” ।

(का०प्र०७-५) इति ।

“अनुनाथति स्तनयुगम्” इति तु पठनीयमिति तत्रैवोक्तम् । अत्रापि धकारो वा पाठ्यः । हरतेर्गतताच्छील्ये (का०वा०) गतं प्रकारः । पैतृकमश्वानुहरन्ते । मातृकं गावोऽनुहरन्ते । पितुर्मातृश्रागतं प्रकारं सततं परिशीलयन्तीत्यर्थः । “ऋतघ्नम्” (अष्टा०सू०४-३-७८) “इसुसु क्काम्नात्कः” (अष्टा०सू०७-३-५१) । गतताच्छील्ये किम् ? मातुरनुहरति । सादृश्यमात्रमिह विवक्षितं न तु प्रकारताच्छील्यम् । किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेषु (का०वा०) विक्षेपार्थः किरतिः । हर्षादयस्तु विषयत्वेनोपात्ताः । तत्र हर्षो विक्षेपस्य कारणं जीविकाकुलायकरणे तु फलम् । एष्वेवार्थेषु “अपाञ्चतुष्पात्” (अष्टा०सू०६-१-१४२) इति सुङ्गविधीयते । अपस्किरते वृषो वृष्टः, कुक्कुटो भक्षार्थी, इवा आश्रयार्थी च । हर्षादिष्विति किम् ? “अपकिरति कुसुमम्” । इहात्मनेपदसुडागमौ न भवतः । हर्षादिमात्रसत्त्वे तु यद्यपि तद् प्राप्नोति, तद्विधौ चतुष्पाच्छकुनिकर्तृकत्वस्य निमित्तत्वेनानुपादानात्, तथापि शब्दशक्तिस्वाभाव्यास्तुटा सह समानविषयोऽयं तद् । तेन गजोऽपकिरति इत्येव भवतीत्याहुः । आङि नुप्रच्छव्योः (का०वा०) आनुते । उत्कण्ठापूर्वं शब्दं करोतीत्यर्थः । “णु स्तुतौ” (श्वा०प० १०३५) अदादिः । आपृच्छते । “प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्” (तु०प०१४१४) तुदादिः । “ग्रहिज्या” (अष्टा०सू०६-१-१६) इति सम्प्रसारणम् । “शप उपालम्भने” “शप आक्रोशे” (श्वा०उ०१०००) इति स्वरितेत् । तस्मात्वात्मनेपदमकर्तृगेऽपि फले वक्तव्यं शपथरूपेण । ‘देवदत्ताय शपते’ त्वत्पादौ स्पृशामि नैतन्मया कृतमित्येकं रूपं शपथं करोतीत्यर्थः । “श्लाघन्हूङ्स्थाशपाम्” (अष्टा०सू०१-४-३४) इति सम्प्रदानसंज्ञा । ज्ञीप्स्यमाने-विवदन्ते । तद्यथा—“यस्मै आख्यायते स सम्प्रदानम्” इत्येके । “य आख्यायते सः” इत्यन्ये । कथं तर्हि—

“नीर्वाग्प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण

सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि” । इति ॥

अत्राहुः—‘स्वाशयं प्रकाशयामि’ इत्येतावदिह विवक्षितं न तु श-



पथ इति ।

समवप्रविध्यः स्थः (अष्टा०सू०१-३-२२) । पश्यस्तिष्ठतेः प्रार्णवत् सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते । आङ्ः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम् (का०वा०) 'शब्दं नित्यमातिष्ठते' नित्यत्वेन प्रतिजानीते इत्यर्थः । वृत्तौ तु 'अस्ति सकारमातिष्ठते' 'गुणवृद्धी आगमा वा तिष्ठते, इत्युदाहृतम् । अस्यार्थः—आपिशलिर्हि "अस भुवि" (अ०प०१०१५) इति न पठति किं तु सकारमात्रम् । स्तः सन्तीत्युदाहरणम् । 'अस्ति' 'आसीत्' इत्यादिसिद्धये तु अडाटावागमौ प्रतिजानीते । तावैव गुणवृद्धीति ।

प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च (अष्टा०सू०१-३-२३) । तिष्ठतेरेतयोरर्थयोः रात्मनेपदं स्यात् । गोपी कृष्णाय तिष्ठते । स्वाभिप्रायं प्रकाशयतीत्यर्थः । "श्लाघह्नूङ्" (अष्टा०सू०१-४-३४) इति सम्प्रदानत्वम् । "संशय कर्णादिषु तिष्ठते यः" (कि०३-१४) कर्णादीन्निर्णेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थः । स्थेयो विवादपदनिर्णेतारो तिष्ठतेस्मिन्निति व्युत्पत्तेः । वृत्तौ तु 'तिष्ठन्त्यस्मिन्' इति प्रयुक्तम् । तत्र प्रकरणाच्छिदिना विवादपदनिर्णेतुः प्रतीतिर्न तु शाब्दीत्यामिप्रायेण परस्मैपदं बोध्यम् । "कृत्यल्युटोबहुलम्" (अष्टा०सू०३-३-११३) इति अधिकरणे "अचो यत्" (अष्टा०सू०३-१-२७) । उदोनूर्ध्वकर्मणि (अष्टा०सू०१-३-२४) । उत्पूर्वाच्चिष्ठतेरनूर्ध्वस्वविशिष्टे परिस्पन्दे वर्तमानादात्मनेपदं स्यात् ।

"उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथमिच्छता" । (शि०२-१०)

अनूर्ध्वेति किम् ? "जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः" (शि०१-१२) । इह क्रियाया अनूर्ध्वत्वं नाम उपरिदेशसंयोगफलकत्वाभावः । यद्यपि "उदेऽनूर्ध्व" इत्युक्तेरनूर्ध्वताविशिष्टक्रियावाचकत्वं लभ्यत एव धातोः क्रियावाचित्वाव्यभिचारोत्थापि लोकप्रसिद्धपरिस्पन्दात्मककर्मपरिग्रहार्थं कर्मपदम् । तेनेह न—'अस्माद् प्रामाञ्छतमुत्तिष्ठति' । उत्पद्यत इत्यर्थः । तथा च "उद ईहायाम्" (का०वा०) इति वार्त्तिकं सौत्रकर्मपदसिद्धार्थकथनपरम् ।

उपान्मन्त्रकरणे (अष्टा०सू०१-३-२५) । मन्त्रकरणं कारकविशेषतश्च तस्मिन्नर्थे वर्तमानादुपपूर्वकात्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यात् । आग्नेऽग्नीध्रमुपतिष्ठते, ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते । मन्त्रकरणे किम् ? भस्ममुपतिष्ठति यौवनेन । उपादेवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विवाच्यम् (का०वा०) देवपूजायां आदित्यमुपतिष्ठते । कथं तर्हि—

"स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती" (र०४-६) इति ।



देवतास्वारोपाद्भविष्यति । महीपतेदेवतांशस्वाद्धा । सङ्गतकरणेर-  
थिकानुपतिष्ठते । उपस्थित्यतित्यर्थः । एवं गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते इति ।  
मित्रकरणन्तूपश्लेषं विनाऽपि भवति । रथिकानुपतिष्ठते । अयं पन्थाः  
सुप्रमुपतिष्ठते । प्राप्नोतीत्यर्थः । वा लिप्सायामिति वक्तव्यम् । (का०  
वा०) भिक्षुको ब्राह्मणमुपतिष्ठते, उपतिष्ठति वा । लिप्सया हेतुभूतया  
उपगच्छतीत्यर्थः ।

अकर्मकाश्च (अष्टा०सू०१-३-२६) । उपपूर्वकात्तिष्ठतेरकर्मकादात्मने-  
पदं स्यात् । भोजनकाले उपतिष्ठते । सन्निधत्ते इत्यर्थः ।

उद्विभ्यां तपः (अष्टा०सू०१-३-२७) । आभ्यां तपतेरकर्मकादात्मने-  
पदं स्यात् । उत्तपते, वितपते । दीप्यत इत्यर्थः । स्वाङ्गकर्मकाच्चेति  
वक्तव्यम् (का०वा०) । स्वमङ्गं स्वाङ्गम् । नतु “अद्रवम्” इति परिभा-  
षितम् । उत्तपते, वितपते पाणिम् । अकर्मकात्स्वाङ्गकर्मकादित्युक्तेः स्व-  
मङ्गं स्वाङ्गमिति व्याख्यानाच्च नेह—‘देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पाणिमुत्त-  
पति’ । सन्तापयतीत्यर्थः । सुवर्णमुत्तपति । सन्तापयति विलापयति  
वेत्यर्थः । उद्विभ्यां किम् ? निष्ठपति । “निसस्तपतावनासेवने” (अष्टा०  
सू०८-३-१०२) इति मूर्धन्यः ।

आङो यमहनः (अष्टा०सू०१-३-२८) । आङ्पूर्वाभ्यामकर्मकाभ्यां  
स्वाङ्गकर्मकाभ्याञ्च यमिहनिभ्यामात्मनेपदं स्यात् । आयच्छते, आह-  
ते । आयच्छते पाणिम् । आहते शिरः । नेह—परस्य शिर आहन्ति । कथं  
तर्हि “आजग्ने विषमविलोचनस्य वक्षः” (कि०१७-६३) इति भारविः ।  
अत्र केचित्—‘आज’ इति पदं छित्वा ‘ग्ने’ इति भावे किपि चतुर्थ्यै-  
कवचनान्तमुक्ता ग्ने हन्तुं आज जगामेति व्याचख्युः, तन्न । अङ्गे-  
लिङि वीभावेन ‘विवाय’ इति सिद्धान्तात् । अन्ये तु विषमविलोचनस्य  
समीपमेत्येवं वक्षमास्फालितवानित्यर्थः । मल्लो ह्युत्साहाविष्करणाय  
एवं वक्षमास्फालयतीत्याहुः । भागवृत्तौ तु प्रमाद एवायमित्युक्तम् ।  
एवञ्च “मोहादाहध्वं मा रघूत्तमम्” इति भट्टिप्रयोगोपि चिन्त्यः ।

समो गम्यच्छिभ्याम् (अष्टा०सू०१-३-२९) । सम्पूर्वाभ्यामकर्मकाभ्यां  
गम्यच्छिभ्यामात्मनेपदं स्यात् । सङ्गच्छते, सम्यच्छिष्यते । अकर्मका-  
भ्यां किम् ? ग्रामं सङ्गच्छति । कथन्तर्हि “तच्चैक्यं समगच्छत” इति  
आर्षत्वात् । यद्वा—चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ् । एकं समपद्यतेत्यर्थः ।  
विदिपृच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम् (का०वा०) विदेर्ज्ञानार्थस्येह प्र-  
हणम् । परस्मैपादेभ्यां साहचर्यात् न लाभार्थस्य । स हि स्वरितेस्वा-  
हुभयपदी । सत्ताविचारणार्थयोस्त्वनुदात्तेत्वादात्मनेपदं सिद्धमेव ।



संविच्ते, संविदाते, संविदते । सम्पृच्छते, संस्वरते । अर्त्तिश्रुदशिभ्य-  
श्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) । ‘अर्त्ति’ इतिभ्वादिजुहोत्यादी द्वावपि गृ-  
ह्यते । “सर्त्तिशास्ति” (अष्टा०सू०३-१-५६) इत्यङ्विधौ तु शास्ति-  
ना लुप्तविकरणेन साहचर्याज्जुहोत्यादेरेव ग्रहणम् । परस्मैपदेषु इति  
तूत्तरार्थमनुवर्तमानमपि योगविभागसामर्थ्यादङ्विधौ न सम्बध्यते ।  
तेन ‘मासमृत’ ‘मासमृषातां’ ‘मासमृषत’ इति भाष्य-भ्वाद्यभिप्रायेण ।  
‘समारत’ ‘समारेतां’ ‘समारन्त’ इति वृत्तिस्तु जुहोत्याद्यभिप्रायेण  
योज्या । संशृणुते सम्पश्यते । “रक्षांसीति पुराऽपि संशृणुमहे” इति  
मुरारिप्रयोगस्तु चिन्त्यः । अकर्मकादित्यनुवृत्तेः । वृत्तिकारस्तु  
“समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्त्तिश्रुविदिभ्यः” इति पठित्वा “दृशे-  
श्च” इति वक्तव्यरूपेण पपाठ । तत्र वार्त्तिकानुपूर्वाभङ्गे केषाञ्चिदेव सूत्रे  
प्रक्षेपे दृशेश्च तद्वहिष्कारे बीजं न पश्यामः । अथास्मिन्नकर्मकाधिकारे  
ये सकर्मका हनिगमिप्रभृतयस्तेषां कथमकर्मकता । उच्यते—

“धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्गहात् ।

प्रसिद्धेराविवक्षातः कर्मणोकर्मिका क्रिया” ॥

‘वहति भारम्’ इति प्रापणे सकर्मको वहिः । स्पन्दने त्वकर्मकः ।  
‘वहन्ति नद्यः’ इति । प्राणविंशिष्टं धारणं जीवतिराह । गात्रविंशिष्टं  
विक्षेपश्च नृत्यतिः । अतो द्वावप्यकर्मकौ । प्रसिद्धेर्यथा-‘मेघो वर्षति’  
इति । कर्मणो ऽविवक्षातो यथा-“हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः”  
(किं०१-५) । “उपसर्गादस्यत्युहोर्वा” (का०वा०) इति वक्तव्यम् । इति  
आरभ्याकर्मकादिति न सम्बध्यते । निरस्यति, निरस्यते । समूहति,  
समूहते । उपसर्गात्किम् ? अस्यति, ऊहते । अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदी ।  
कथन्तर्हि “अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः” इत्यादि । चक्षिडो डित्करणे-  
नानुदात्तेत्त्वलक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यताज्ञापनात्समाधेयम् ।

निसमुपविभ्यो ह्रः (अष्टा०सू०१-३-३०) । स्पष्टोर्थः । निह्वयते ।  
अकर्त्रभिप्रायार्थं सूत्रम् । स्यादेतत्—‘निह्वास्यते’ इत्याद्युदाहरणमस्तु  
न तु ‘निह्वयते’ इति । आकारान्तस्य सूत्रे उपादानात् । एकारान्तस्य  
ग्रहणाभावात् । नहि विकृतिः प्रकृतिं गृह्णातीति चेत् ? उच्यते—आका-  
रान्तादपि कथमभ्युपैषि । नहि ‘ह्रः’ इति सूत्रे आकाशविशिष्टः पठितः ।  
प्रयोगसमवायिनां वाचकतेति सिद्धान्तरीत्या ‘ह्र’ इति वान्तस्य  
आकारान्तमर्थः । ‘दध्ना’ इत्यत्र नान्तस्य दधी वेति यदि तर्हि वान्त-  
स्यैव एकारान्तमर्थं इत्यपि तुल्यम् । प्रक्रियादशायां हि एकारान्तानु-  
करणे लक्षणवशादात्वं न तु आकारान्त इहानुकार्यः । तस्मान्न कि-



अदिहानुपपन्नम् । यत्तु न्यासकृतोक्तं “नव्यो लिटि” (अष्टा०सू०६-१-४६) इत्यात्वनिषेधके सूत्रे कृतात्वस्य ‘व्य’ इत्यस्य निर्देशाज्ज्ञापकाद्विकृतिरपि प्रकृतिं गृह्णातीति । सोऽयमस्थाने संरम्भः । उक्तरात्या पूर्वपक्षस्य शिथिलत्वात् । “एरनेकाचः” (अष्टा०सू०६-४-८२) “ओः सुपि” (अष्टा०सू०६-४-८३) इत्यादावपि विकृतिग्रहणे ‘शिशयिषत’ इत्यादावपि यणापत्तेः । विकृतेः प्रकृतिग्राहकत्वे ‘विश्वराजौ’ इत्यत्रापि “विश्वस्य वसुराटोः” (अष्टा०सू०६-३-१२८) इति दीर्घप्रसङ्गात् । ‘तुरासाहम्’ इत्यादौ मूर्धन्यप्रसङ्गाच्चेति दिक् ।

स्पर्धायामाहुः (अष्टा०सू०१-३-३१) । आङ्पूर्वात् ह्यतेरात्मनेपदं स्यात्स्पर्धाया विषये । मल्लमाह्वयते । स्पर्धमानस्तस्यावहानङ्करोतीत्यर्थः । स्पर्धायां किम् ? पुत्रमाव्हयति । यद्यपि स्पर्धायामप्ययं धातुः पठ्यते तथापि आङ्पूर्वकस्तत्र न वर्तते किं तु शब्दने । अत एव स्पर्धायां विषये अयं विधिरिति व्याख्यातम् ।

गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः (अष्टा०सू०१-३-३२) । सप्तस्वर्थेषु कृञ आत्मनेपदं स्यादकर्तृगेपि फले । गन्धनमिह सूचनम् । तथाहि-“गन्ध अर्दने” (चु०आ०१६८५) अर्द-हिंसायाम्” (चु०उ०१८२९) इति च चुरादौ पाठाद्वन्धनं हिंसा । सूचनमपि वधबन्धादिकरणत्वाद्धिसेति स एवेह गन्धनशब्दार्थः । उत्कुरुते सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपणं भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते भर्त्सयते इत्यर्थः । हरिमुपकुरुते सेवते इत्यर्थः । सहसा वर्त्तते साहसिकः । “ओजः सहोम्भसा वर्त्तते (अष्टा०सू०४-४-२७) इति ठक् । तस्य कर्म साहसिक्यम् । व्यञ् । परदारान्प्रकुरुते तेषु सहसा प्रवर्त्तते इत्यर्थः । प्रतियत्ने-एधो दकस्योपस्कुरुते । “अवोदैधौधम” (अष्टा०सू०६-४-२९) इति निपातः । समाहारद्वन्द्वः । कृञः प्रतियत्ने” (अष्टा० २-३-५३) इति षष्ठी । “उपाःप्रतियत्न” (अष्टा०सू०६-१-१३९) इत्यादिना सुट् । तस्य गुणान्तराधानं करोत्यर्थः । गाथाः प्रकुरुते । प्रकर्षेण कथयतीत्यर्थः । उपयोगः समीचीनो विनियोगः । शतं प्रकुरुते । धर्मार्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः । एषु किम् ? कटं करोति ।

अधेः प्रसहने (अष्टा०सू०१-३-३३) । अधिपूर्वात्कृञः प्राग्वदभिभवे क्षमायाञ्च । “वह मर्वणे” (श्वा०आ०८५२) अभिभवे चेति पाठात् । ये तु “अभिभवे छन्दसि” इति पठन्ति तेषामपि छन्दसोति प्रायोवाद इति हरदत्तः । तमधिचके । अभिभूतवान् सोढवान्नेत्यर्थः । यनेन



“भ(१)वाहशाश्चेदधिकुर्वते परान्” (कि०१-४३) इति भारविप्रयोगोऽपि व्याख्यातः । क्षमन्ते इत्यर्थात् ।

वेः शब्दकर्मणः (अष्टा०सू०१-३-३४) । विपूर्वात्कृञ् आत्मनेपदं स्यात् शब्दश्चेत्कर्म कारकं भवति । स्वराण्विकुरुते । उच्चारयतीत्यर्थः । शब्दकर्मणः किम् ? चित्ते विकरोति कामः ।

अकर्मकाच्च (अष्टा०सू०१-३-३५) । वेः कृञोर्कर्मकात्प्राग्वत् ।

“हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते” ।

सम्माननोत्सञ्जनआचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः (अष्टा० सू०१-३-३६) । एषु बोधनारियेषु नयतेरात्मनेपदं स्यात् । तत्रोत्सञ्जनज्ञानविगणनव्यया नयतेर्वाच्याः । इतरे प्रयोगोपाधयः । तथाहि आचार्यः शास्त्रे नयते । शास्त्रीयसिद्धान्तानुपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रापयतीत्यर्थः । ते च शिष्या युक्तिभिर्निश्चाय्यमानाः सम्मानिता भवन्ति तदीयाभिलाषितार्थसम्पादनात् । तथा चात्र नयतेः प्रापणमेवार्थः । शिष्यसम्माननन्तु तदीयं फलं सत्प्रयोगोपाधिः । उत्सञ्जने दण्डमुन्नयते । उत्क्षिपतीत्यर्थः । आचार्यकरणे-माणवकमुपनयते । विधिना आत्मसर्मापप्रापणमिह नयतेरर्थः । तत्फलं माणवकसंस्कारः । तस्य कर्तृगामित्वाभावादप्राप्तमात्मनेपदं आचार्यकरणे विधीयते उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेन हि कश्चिदतिशयोध्यापके जन्यते । स एवाचार्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् ।

“उपनीय ददद्देदमाचार्यः स उदाहृतः” (या०स्मृ०१-३४)

इत्यपि अतिशयविशेषपरिचायकपरम् । तथा आचार्यकरणं फलीभूतं प्रयोगोपाधिः । न च तस्य कर्तृगामित्वादात्मनेपदं सिद्धमेवेति वाच्यम् । नहि तदुपनयनक्रियायाः साक्षात्फलं किन्तूपनयनपूर्विकाया अध्यापनक्रियायाः । प्रयोगोपाधित्वं तु परम्परया फलीभूतस्याप्यस्तीति दिक् । “विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्” इत्यत्र तु आचार्यकरणस्याविवक्षितत्वान्न तद् । विवक्षा हि स्वायत्तेति “उपज्ञोपक्रमं तदा-

(१) “भवाहशाश्चेदधिकुर्वते रतिं” (कि०१-४३) इति पाठः । स च मल्लिनाथेन रतिं सन्तोषं अधिकुर्वते स्वीकुर्वते चेत् इति व्याख्यातः । तेनैव च “अत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात् करोतेः “अधः प्रसहने” (अष्टा०सू०१-३-३३) इत्यात्मनेपदं न भवति । प्रसहनं परिभवः इति काशिका । तथाऽप्यस्याः कर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात् । कर्त्रभिप्राये “स्वरितजितः” (अष्टा०सू०१-३-७२) इत्यात्मनेपदं प्रसिद्धम्” इत्युक्तम् ।



द्याचिख्यासायाम्" (अष्टा०सू०२-४-२१) इतीच्छासना ज्ञापितम् । ज्ञाने-  
तत्त्वं नयते । निश्चिनोतीत्यर्थः । श्रुतिर्वेतनम् । कर्मकरानुपनयते । श्रुति-  
दानेनात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । विगणनमृणादेर्निर्यातनम् । करं विनय-  
ते । राजदेयं भागं शोधयति । निर्यातयतीत्यर्थः । व्ययो धर्मादौ विनियो-  
गः । शतं विनयते । धर्मार्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः । एषु किम् ? घटं नयति ।

कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि (अष्टा०सू०१-३-२३) । नियः कर्तृस्थे  
कर्मणि यदात्मनेपदं प्राप्तं तच्छरीरावयवभिन्ने एव स्यात् । शरीरश-  
ब्देन तदवयवो लक्ष्यते । शरीरतादात्म्यापन्नस्य कर्तृतया शरीरस्य  
तत्स्थत्वासम्भवात् । अवयवानान्तु सम्बन्धविशेषेण तत्स्थत्वस्यानुभ-  
वात् । अत एव हि "करादि पुरुषत्वव्याप्यम्" इत्युद्धोषः । क्रोधं विन-  
यते । स्वकीयं क्रोधमपगमयतीत्यर्थः । क्रोधापनयनफलस्य चित्तप्रसा-  
दादेः कर्तृगतत्वात् "स्वरितजितः" (अष्टा०सू०१-३-७२) इति सूत्रेण  
सिद्धे नियमार्थमिदम् । तेनेह न-गडं विनयति । कथन्तर्हि "विगणय्य  
नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः" (कि०२-३५) इति भारविः ।  
कर्त्रभिप्रायत्वाविवक्षायां भविष्यति । केचित्तु अपनयने वर्त्तमानादने-  
नात्मनेपदं विधीयते । इह तु करोत्यर्थे प्राप्त्यर्थे वा वर्त्तते । धातूना-  
मनेकार्थत्वादित्याहुः ।

वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः (अष्टा०सू०१-३-३८) । क्रम आत्मनेपदं स्यादप्र-  
तिबन्धोत्साहस्फीततासु । वृत्तौ-ऋच्यस्य क्रमते बुद्धिः । न प्रतिहन्यत  
इत्यर्थः । सर्गे-व्याकरणाध्ययनाय क्रमते । उत्सहत इत्यर्थः । "सृजतेरु-  
त्साहार्थता येनेन्द्रलोकावजयाय सृष्टः" इत्यादौ प्रसिद्धा । तायने क्रम-  
न्तेस्मिन् शास्त्राणि । स्फीतीभवन्तीत्यर्थः । "तायूसन्तानपालनयोः"  
(भ्वा०आ०४८९) इत्यस्माद्युटि 'तायनम्' इति रूपम् ।

उपपराभ्याम् (अष्टा०सू०१-३-३९) । वृत्त्यादिषूपपराभ्यामेव क्रमेरा-  
त्मनेपदं स्यान्न तुपसर्गान्तरपूर्वात् । उपक्रमते । आभ्यामेवेति नियमा-  
ज्ञेह-सङ्क्रामति । वृत्त्यादिष्वित्येव । नेह-उपक्रामति पराक्रामति ।

आङ् उद्गमने (अष्टा०सू०१-३-४०) । आङ्पूर्वात्क्रमेऽद्गमने वर्त्तमा-  
नादात्मनेपदं स्यात् । आक्रमते आदित्यः । उदयत इत्यर्थः । ज्योति-  
रद्गमन इति वाच्यम् (का०वा) । नेह-आक्रामति धूमो हर्म्यतलात् । भा-  
ष्ये तु 'हर्म्यतलम्' इति पठ्यते । तत्रोद्गमनपूर्विकायां व्याप्तौ क्रमिर्दृष्टव्यः  
न तद्गमनमात्रे अकर्मकतापत्तेः । कथन्तर्हि "नभः समाक्रामति चन्द्रमाः  
क्रमात्" इति । उच्यते-व्याप्ताविह क्रमिर्वर्त्तते न तद्गमने ।

वेः पादविहरणे (अष्टा०सू०१-३-४१) । विपूर्वात्क्रमेः पादविहरणे



वर्त्तमानादात्मनेपदं स्यात् । साधु विक्रमते वाजी । पादविहरणं पादविक्षेपः । यद्यपि क्रमिस्तत्रैवार्थे पठ्यते तथापि धातुनामनेकार्थत्वात्सूत्रार्थोपादानम् । तेनेह न--विक्रामत्यजिनसन्धिः द्विधाभवति स्फुटतीत्यर्थः ।

प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् (अष्टा०सू०१-३-४२) । तुल्यार्थाभ्यां प्रोपाभ्यां क्रमेरात्मनेपदं स्यात् । समस्तुल्योऽर्थो ययोरिति विग्रहे शकन्ध्वादिस्वात्पररूपं सशब्द एव वा तुल्योर्थो बोध्यः । प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थता । प्रक्रमते, उपक्रमते । आरभते इत्यर्थः । समर्थाभ्यां किम् ? प्रक्रमति गच्छतीत्यर्थः । उपक्रमति । आगच्छतीत्यर्थः । “उपपराभ्याम्” (अष्टा०सू०१-३-३९) इति तु नेह प्रवर्त्तते । तत्र वृत्त्यादिग्रहणानुवृत्तेरुक्तत्वात् । इह च वृत्त्यादेरविवक्षणात् ।

अनुपसर्गाद्वा (अष्टा०सू०१-३-४३) । अनुपसर्गात्क्रमेरात्मनेपदं वा स्यात् । क्रामति, क्रमते । “उपपराभ्याम्” (अष्टा०सू०१-३-३९) इत्यस्य नियमार्थत्वाद्धृत्यादिसूत्रमनुपसर्गविषयकमेव । तेन वृत्त्यादौ नायं विकल्पः । तस्मादप्राप्तविभाषैवेयम् ।

अपन्हवे ज्ञः (अष्टा०सू०१-३-४४) । अपलापे वर्त्तमानाज्जानातेरात्मनेपदं स्यात् । शतमपजानीते अपलपतीत्यर्थः ।

अकर्मकाच्च (अष्टा०सू०१-३-४५) । अकर्मकाज्जानातेरात्मनेपदं स्यात् । सर्पिषो जानीते । सर्पिषा उपायेन प्रवर्त्तत इत्यर्थः । “ज्ञोविदर्थस्य” (अष्टा०सू०२-३-५१) इति करणे षष्ठी । ‘अकर्मकात्’ इत्यस्य स्थाने ‘संकरणात्’ इत्येव तु नोक्तम् । “स्वरेण पुत्रं जानाति” इत्यत्रातिव्याप्तेः ।

सम्प्रतिभ्यामनाध्याने (अष्टा०सू०१-३-४६) । आभ्यां जानातेरात्मनेपदं स्यादनाध्याने । शतं सज्जानीते । अवक्षत इत्यर्थः । शतम्प्रतिजानीते । अङ्गीकरोतीत्यर्थः । अनाध्याने किम् ? मातुः सज्जानाति । उत्कण्ठापूर्वं स्मरतीत्यर्थः । “अधीगर्थ” (अष्टा०सू०२-३-५२) इति कर्मणि षष्ठी । ननु तत्र “शेषे” इत्यनुवर्त्तते तेनात्र कर्मणः शेषत्वेन विवक्षितत्वात् “अकर्मकाच्च” (अष्टा०सू०१-३-४५) इति पूर्वेण प्राप्नोति, अत्राहुः-‘अनाध्याने’ इति विभज्यते । स चोभयोर्योग्योः शेषः तेनाध्याने पूर्वेणापि न भवतीति ।

भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः (अष्टा०सू०१-३-४७) । एष्वर्थेषु वदेरात्मनेपदं स्यात् । अत्रोपसम्भाषोपमन्त्रणे धातोर्वाच्यं । इतरे प्रयोगोपाधयः । भासनन्दीप्तिः । शास्त्रे वदते । भासमानो ब्रवीतीत्यर्थः । भासनं हेतुभूतं सद्भिः शेषणं शिष्यैः स्तूयमानो हि भासते ।



तथा चोपर्युपरि शास्त्रार्थप्रतिभासात्सुष्ठूक्तिर्निर्वहति । तेजोभङ्गे तु न शक्नुयाद्ब्रूदितुमिति भावः । उपसम्भाषो उपसान्त्वनम् । कर्मकरानुपवदते । उपसान्त्वयतीत्यर्थः । ज्ञाने-शास्त्रे वदते । उक्तिविषयकज्ञानवानिति फलितोर्थः । यत्नः उत्साहः । क्षेत्रे वदते । तद्विषयकमुत्साहमाविष्करोतीत्यर्थः । अत्राविष्करणरूपस्य वदत्यर्थस्य यत्नः कर्मेत्याहुः । विशिष्टोऽत्र वदतेरर्थ इत्यपि सुवचम् । विमतौ-क्षेत्रे विवदन्ते । विमत्या हेतुभूतया नानाविधं भाषन्त इत्यर्थः । उपमन्त्रणम् उपच्छब्दनम् । कुलभार्यामुपवदते । स्वाभिलषिते प्रवर्त्तयितुं प्रार्थयत इत्यर्थः । एष्विति किम् ? यत्किञ्चिद्वदति ।

व्यक्तवाचां समुच्चारणे (अष्टा०सू०१-३-४८) । मनुष्यादीनां सम्भूयोच्चारणे वदेरात्मनेपदं स्यात् । सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः देवा वा । यद्यपि वद धातुर्व्यक्तायामेव पठ्यते, तथापि “व्यक्तवाचाम्” इत्युपादानसामर्थ्याद्येषां प्रसिद्धतरं व्यक्तवाक्यन्तदेवेह गृह्यते । तेन शुकसारिकादीनां समुच्चारणे न भवति । “वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः” । नन्विह तनुशब्दस्य ह्रस्वान्तत्वे सम्बुद्धौ चेति गुणेन भाव्यं दीर्घान्तत्वे नदीलक्षणः कप् प्राप्नोति ? सत्यम्, तनुशब्दः स्त्रीजातौ कविभिः प्रयुज्यते । तस्मात् “ऊङुतः” (अष्टा०सू०४-१-६६) इत्युङि कृते कर्मधारयोऽयमिति हरदत्तः ।

अनोरकर्मकात् (अष्टा०सू०१-३-४९) । अनुपूर्वाद्भेदरकर्मकाद्यक्तवाग्विषयकादात्मनेपदं स्यात् । अनुवदते कठः कलापस्य । अनुः सादृश्ये । तेन ‘कलापस्य’ इति तुल्यार्थयोगे शेषलक्षणा षष्ठी । अकर्मकादिति किम् ? पूर्वोक्तमनुवदति । व्यक्तवाचामित्येव । अनुवदति वीणा ।

विभाषा विप्रलापे (अष्टा०सू०१-३-५०) । विप्रलापात्मके व्यक्तवाचां समुच्चारणे वर्त्तमानाद्भेदात्मनेपदं वा स्यात् । विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः । युगपत्परस्परविरोधेन वदन्तीत्यर्थः । विप्रलापे किम् ? सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः । व्यक्तवाचामित्येव । विप्रवदन्ति शकुनयः । समुच्चारण इत्येव । क्रमेण विप्रवदन्ति ।

अवाङ्गः (अष्टा०सू०१-३-५१) । अवपूर्वाद्भिरतेरात्मनेपदं स्यात् । अवगिरते । अवात्किम् ? गिरति । “गृणातेस्त्ववपूर्वस्य प्रयोगो नास्ति अनभिधानात्” इति भाष्यम् ।

समः प्रतिज्ञाने (अष्टा०सू०१-३-५२) । सम्पूर्वाद्भिरतेः प्रतिज्ञाने वर्त्तमानादात्मनेपदं स्यात् । शब्दं जित्यं सङ्गिरते । प्रतिजानीत इत्यर्थः । प्रतिज्ञाने किम् ? सङ्गिरति ग्रात्वम् ।



उदश्चरः सकर्मकात् (अष्टा०सू०१-३-५३) । उत्पूर्वात्सकर्मकाच्च-  
रतेरात्मनेपदं स्यात् । धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः । सक-  
र्मकात्किम् ? बाष्पमुच्चरति । उपरिष्ठाद्गच्छतीत्यर्थः ।

समस्तृतीयायुक्तात् (अष्टा०सू०१-३-५४) । सम्पूर्वाच्चरतेस्तृतीया-  
न्तेन युक्तादात्मनेपदं स्यात् । रथेन सञ्चरते । तृतीयायुक्तात्किम् ?

“उभौ लोकौ सञ्चरसि इमं चामुञ्च देवल” ।

हाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे (अष्टा०सू०१-३-५५) । सम्पूर्वाहाणस्तृती-  
यान्तेन युक्तादात्मनेपदं स्यात्सा चतृतीया चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छ-  
ते । कामुकः संस्त्यै ददातीत्यर्थः । अशिष्टव्यवहारे चतुर्थ्यर्थे तृतीया  
वक्तव्या (का०वा०) । एतच्चानेनैव ज्ञाप्यते । यद्वा—इह सूत्रे चेच्छब्द-  
श्चशब्दार्थे । निपातानामनेकार्थत्वात् । सा च चतुर्थ्यर्थे भवतीत्यर्थः ।  
“अशिष्टव्यवहार” इति तु वक्तव्यमेव । भाष्ये त्विदं सूत्रमपि प्रत्याख्या-  
तम् । तथाहि—“यो दास्या सह भुञ्जानस्तया दत्तं स्वयं भुङ्क्ते स्वयञ्च  
तस्यै ददाति तद्विषयेऽयं प्रयोग इष्यते । तत्र “सहयुक्ते” (अष्टा०सू०  
२-३-१९) इत्येव तृतीया । कर्मव्यतिहारे च तद्ध् । दानपूर्वके भोगे दा-  
ण्यातुर्बोध्यः” इति । नन्वारभ्यमाणे सूत्रे ‘सम्प्रयच्छत’ इत्यत्र कथं  
तद्ध् ‘समः’ इति पञ्चम्या आनन्तर्यलाभात् । अत्राहुः—‘समः’ इति विशे-  
षणषष्ठी तेन पूर्वसूत्रमपि ‘अश्वेन समुदाचरते’ इत्यादौ प्रवर्तत इति  
दास्या सम्प्रयच्छते इत्युदाहृत्य शिष्टव्यवहारे तु ‘ब्राह्मणीभ्यः सम्प्र-  
यच्छति’ इति प्रत्युदाहरन् भाष्यकारश्चेह व्याख्याने प्रमाणम् ।

उपाद्यमः स्वकरणे (अष्टा०सू०१-३-५६) । उपपूर्वाद्यमेः प्राग्वत्  
स्वीकारेऽर्थे । भार्यामुपयच्छते । यत्स्वस्य सतो रूपान्तरेण करणं तदिह  
न गृह्यते किं न्वस्वस्य सतो यत्स्वत्वसम्पादनं तदेव । च्विप्रत्ययस्तु  
सूत्रे न कृतः “समर्थानां प्रथमाद्वा” (अष्टा०सू०४-१-८२) इति विक-  
ल्पितत्वात् । तेनेह न—स्वं शाटकमुपयच्छतीति । अत्र वृत्तिकारः पा-  
णिग्रहण एवेष्यते । तेनेह न—देवदत्तो यज्ञदत्तस्य भार्यामुपयच्छति ।  
दासीत्वेन रूपेण स्वीकरोतीत्यर्थ इति । एतच्च भाष्यविरुद्धम् । तत्र  
स्वीकारमात्रे आत्मनेपदस्योक्तत्वात् । तथा च भट्टिः प्रायुङ्क्त—

“उपायंस्त महास्त्राणि शस्त्राण्यपायंसत जित्वराणि” ।

“नोपायंस्त दशाननः” । “उपायंसत नासवम्” इत्यादि ।

ज्ञाश्रुस्मृदशां सनः (अष्टा०सू०१-३-५७) । सन्नन्तानामेषामात्मनेपदं  
स्यात् । “अपन्हवे ज्ञः” (अष्टा०सू०१-३-४४) इत्यादिभिः सूत्रैर्जानाते-  
रात्मनेपदं विहितं श्रुदशोरपि “समोगम्युच्छिभ्याम्” (अष्टा०सू०१-३-



२९) इत्यत्रोपसङ्ख्यानम् । तस्मिंश्च विषये “पूर्ववत्सनः” (अष्टा०सू०१-३-६२) इत्येव सिद्धम् । विषयान्तरेऽनेन विधीयते स्मरतेस्तु अप्राप्त एव विधानम् । धर्मं जिज्ञासते, शुश्रूषते, सुस्मर्यते, दिदृक्षते ।

नानोर्ज्ञः (अष्टा०सू०१-३-५८) । अनुपूर्वाज्जानातेः सन्नन्तादात्म-  
नेपदं न स्यात् । पुत्रमनुजिज्ञासति । अनोः किम् ? धर्मं जिज्ञासते ।  
पूर्वसूत्रेण प्राप्तस्यायं निषेधः । “अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो  
वा” इति न्यायात् । तथा च सकर्मकस्यैव प्रतिषेध इति फलितम् ।  
पूर्वसूत्रस्य सकर्मकविषयत्वादकर्मकात् “पूर्ववत्सनः” (अष्टा०सू०  
१-३-६२) इत्यात्मनेपदं भवत्येव । “अकर्मकाच्च” (अष्टा०सू०१-३-४५)  
इति सूत्रेण केवलाद्विधानात् । (१) औषधस्यानुजिज्ञासते औषधेन  
प्रवर्तितुमिच्छतीत्यर्थः ।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः (अष्टा०सू०१-३-५९) । आभ्यां श्रुवः सन्नन्ता-  
दात्मनेपदं न स्यात् । प्रतिशुश्रूषति, आशुश्रूषति । उपसर्गग्रहणं चेदम्,  
परस्परसाहचर्यात् । तेनेह न—देवदत्तं शुश्रूषते । “लक्षणेत्थम्भूत”  
(अष्टा०सू०१-४-९४) इत्यादिना प्रतिः कर्मप्रवचनीयो नोपसर्गः ।

शदेः शितः (अष्टा०सू०१-३-६०) । शितः प्रकृतिभूतो यः शदि-  
स्तस्मादात्मनेपदं स्यात् । शीयते, शीयते, शीयन्ते । शितः किम् ?  
शत्स्यति, अशत्स्यत् । “शेषात्कर्त्तरि” (अष्टा०सू०१-३-७८) इति  
परस्मैपदम् ।

म्रियतेर्लुङ्लिटोश्च (अष्टा०सू०१-३-६१) । शितो लुङ्लिटोश्च  
प्रकृतिभूतो यो म्रियतिस्तत एवात्मनेपदं स्यान्नान्यस्मात् । तत्र शित-  
प्रकृतित्वं पूर्ववच्छिदुत्पत्तेः प्रागेव योग्यतया बोध्यम् । लुङ्लिटोस्तु  
सत्यामेवोत्पत्तौ बोध्यम् । म्रियते, म्रियताम्, अम्रियत, अमृत, मृषाष्ट ।  
नियमः किम् ? ममार, मर्त्तासि, मरिष्यति, अमरिष्यत् । डित्वं तु  
स्वरार्थम् । मा हि मृत । लुङि “तास्यनुदात्तेत्” (अष्टा०सू०६-१-१८६)  
इति डिल्लक्षणः सार्वधातुकनिघातः । “हि च” (अष्टा०सू०८-१-३४) इति  
तिङि निघातप्रतिषेधः ।

पूर्ववत्सनः (अष्टा०सू०१-३-६२) । सनः पूर्वं यो धातुस्तेन तुल्यं  
सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । येन निमित्तेन सनः प्रकृतेरात्मनेपदं वि-  
धीयते तदेव निमित्तं सना व्यवहितं सदप्यात्मनेपदं प्रवर्तयतीत्यर्थः ।  
इह सूत्रे “तेन तुल्यम्” (अष्टा०सू०५-१-११५) इति तृतीयान्ताद्वतिर्न तु  
पञ्चम्यन्तात्, लक्षणाभावात् । यथा च “ब्राह्मणेन तुल्यं वैश्यादधीते”

(१) “ज्ञोविदर्थस्यकरणे” (अष्टा०सू०२-३-५१) इत्यनेन पृष्टा ।



इत्यत्र ब्राह्मणादिवेति गम्यते तथेहापि पूर्वस्मादिवेति गम्यते । ब्राह्मणा-  
पादानकेध्यथने ब्राह्मणशब्दस्य लक्षणया ब्राह्मणापादानकाध्ययनसादृश्यं  
वैश्यापादानकाध्यापनमिति क्रियासाम्यं दृष्टान्ते निर्वाह्यम् । अन्यथा  
वतिप्रत्ययायोगात् । यदाह—“तेन तुल्यं क्रिया चेत्” (अष्टा०सू०५-  
१-११५) इति । एवञ्च प्रकृतेऽपि आत्मनेपदभावनस्य तुल्यत्वं बोध्यम् ।  
तदपि निमित्तस्य तुल्यत्वात्तद्वारकमिति फलितोर्थः । एतेन ‘शब्दो-  
ऽनित्यः, कृतकत्वात् । घटवत्’ इत्यादि व्याख्यातम् । तत्रापि भवन-  
क्रियायाः साम्यात् । अन्यथा वत्प्रत्ययासाधुतापत्तेः । अत एवानि-  
त्यो भवितुमर्हतीति प्राञ्चः प्रयुञ्जते । साध्यपदस्य ज्ञाने लक्षणया  
ज्ञानयोः साम्यं वाक्यार्थ इति वास्तु । सर्वथापि शब्दघटयोः साम्या-  
र्थं न तु शाब्दमिति दिक् । आसिसिषते, शिशयिषते, निविविक्षते,  
बुभुक्षते, इत्यादि । इह तु न भवति-शिशत्सति, मुमूर्षति । न ह्येषा  
शदिभ्रियतिव्यक्तिः शितः प्रकृतिः अतो नात्मनेपदनिमित्तम् । कृते हि  
सनि सन्नन्तमेव शितः प्रकृतिः । ‘शिशयिषते’ इत्यादौ तु प्रकृतौ  
ङित्वानपायान्निमित्तातिदेशः सम्भवत्येवेति वैषम्यात् । नन्वेवं ‘अनु-  
चिकीर्षति’ इत्यत्रातिप्रसङ्गः । गन्धनादेरर्थस्य अित्वस्य चात्मनेपदनिमि-  
त्तस्यातिदेशापत्तेरिति चेन्न । “अनुपराभ्यां कृञः” (अष्टा०सू०१-३-७९)  
इति वचनपर्यालोचनया अनुपूर्वकत्वाभावविशिष्टस्यैवात्मनेपदनिमि-  
त्तताध्यवसायात् । अस्तु वा प्राधान्यात्कार्यस्यैवातिदेशः प्राक्सनो येभ्य  
आत्मनेपदं दृष्टं तेभ्यः सन्नन्तेभ्योपि भवतीति । न चैवं ‘शिशत्सति’ ‘मु-  
मूर्षति’ इत्यत्रातिप्रसङ्गः “शदेःशितः” (अष्टा०सू०१-३-६०) “भ्रियतेर्लुङ्-  
लिङोश्च” (अष्टा०सू०१-३-६१) इति सूत्रद्वयेऽपि सनो नेत्यनुवर्त्य वाक्य-  
भेदेन सन्नन्ताभिषेधात् । ‘जुगुप्सते’ इत्यादौ तु यद्यप्ययमतिदेशो न प्रा-  
प्नोति । नित्यसन्नन्तततया प्राक् सन आत्मनेपदादर्शनात् । तथापि  
“अनुदात्तङितः” (अष्टा०सू०१-३-१२) इत्यनेनैवात्मनेपदम् । अवय-  
वे ह्यचारितार्थं लिङ्गं समुदायं विशिनष्टि सामर्थ्यात् । न चैवं ‘जुगुप्स-  
ति’ इत्यादावतिप्रसङ्गः । सन्पर्यन्तविशेषणेन चारितार्थ्ये सति ततो-  
ऽप्यधिकविशेषणे प्रमाणाभावात् । नन्वेवं ‘गोपयति’ ‘तेजयति’ इत्या-  
दावतिप्रसङ्गः । सन्निचोर्मध्ये कतरद्विशेषणीयं कतरन्नेत्यत्र विनिया-  
मकाभावादिति । अत्राहुः—यत्र निन्दादौ सन्निष्यते तदर्थका एवानुदा-  
त्तेतः नित्यसन्नन्ताश्चैते । अर्थान्तरे त्वननुबन्धका एव चुरादौ पा-  
ठ्याः । अन्यथा निन्दाक्षमादिभ्योन्यत्र यथा णिञ् भवति तथा लङा-  
दिरपि स्यात् ।



आमप्रत्ययवत्कञोनुप्रयोगस्य । (अष्टा०सू०१-३-६३) आमप्रत्ययो यस्मादित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । आमप्रकृतिभूतस्य धातोरिवा-  
नुप्रयुज्यमानात्करोतेरात्मनेपदं स्यात् । अित्वादेव सिद्धेऽकर्त्रभिप्रायार्थं  
सूत्रम् । ईहाञ्चक्रे । नन्वस्य विध्यर्थत्वात् 'इन्दाञ्चकार' इत्यादावपि क-  
र्त्रभिप्राये तद्ध प्राप्नोति, सत्यम्, पूर्ववदित्यनुवर्त्तते, तत्सामर्थ्याद्वाक्य-  
भेदेन नियमोऽपि क्रियते पूर्ववदेवात्मनेपदं न तु पूर्वविपरीतमपीति ।  
कृजः किम् ? ईहामास, ईहाम्बभूव । इह कृग्रहणसामर्थ्यान्न प्रत्याहा-  
रग्रहणम् । अतएव च ज्ञापकादनुप्रयोगविधौ प्रत्याहारग्रहणम् ।

प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु (अष्टा०सू०१-३-६४) । प्रोपाभ्यां युजेरयो-  
ग इत्यस्मादात्मनेपदं स्यादयज्ञपात्रेषु । प्रयुङ्क्ते, उपयुङ्क्ते । युजिरः स्व-  
रितेतो रुधादेरकर्त्रभिप्रायार्थोऽयं विधिः । "युज समाधौ (रु०उ०१४४५)  
इति दिवादेस्तु नेह ग्रहणम् । अनुदात्तेत्वादेव सिद्धेः । सूत्रे युजेरिती-  
कारस्य विवक्षितत्वाच्च । यज्ञपात्रविषयतायास्तत्रासम्भवाच्च । स्व-  
राद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम् [ का० वा० ] स्वरोऽच्चादिरन्तो वा  
यस्य तादृशेनोपसर्गेण सम्बद्धादित्यर्थः । सम निस् निर् दुस् दुर् एत-  
द्भिन्नाः सर्वेषूपसर्गाः सङ्गृहीताः । उद्युङ्क्ते, नियुङ्क्ते । अयज्ञपात्रेषु-  
किम् ? द्वन्द्वं न्यञ्चिपात्राणि प्रयुनक्ति ।

समः क्षणुवः (अष्टा०सू०१-३-६५) । सम्पूर्वात्क्षुधातोः प्राग्वत् ।  
"समोगम्यृच्छिभ्याम्" (अष्टा०सू०१-३-२९) इत्यतो विच्छिद्य पाठः स-  
कर्मकादपि विधानार्थः । संक्षुण्ते शस्त्रम् ।

भुजोऽनवने (अष्टा०सू०१-३-६६) । रक्षणातिरिक्तेऽर्थे वर्त्तमानाद् भु-  
जेः प्राग्वत् । "भुजोऽभक्षणे" इति वक्तव्येऽनवन इति वचनमर्थान्तरेष्व-  
पि यथा स्यात् । भुजेर्हि पालनाभ्यवहारादिवोपभोग आत्मसात्करणं  
चार्थः । ओदनम्भुङ्के अभ्यवहरतीत्यर्थः ।

'बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्' ।

"दि(१)वं मरुत्वानिव भोक्ष्यते महीम्" । (रु०३-४) ।

नेह पालनमर्थः किन्तुपभोग आत्मसात्करणं वा । एतेन "बृद्धो जनो  
दुःखशतानि भुङ्क्ते" इति व्याख्यातम् । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति ।  
रुधादेरेवेह ग्रहणम् । अवनप्रतिषेधात् । पठन्ति हि-  
"सयोगो विप्रयो-  
गश्च" इत्युपक्रम्य "विशेषस्मृतिहेतवः" इति । यथा दोग्ध्रीपर्यायो धेनु-  
शब्दः संसर्गिभिर्विशेषेऽवस्थाप्यते । 'सवःसा धेनुरानीयतां' 'सकिशो-  
राः' 'सवर्करा' इति, तथाऽत्रत्साऽकिशोराऽवर्करेति गौर्धेनुर्वडवा अजा

(१) 'भुवम्' इति पाठः मल्लिनाथकृतसञ्जीविन्याम् ।



च क्रमेणानीयते नात्या तथेहापि । तेन “भुजकौटिल्ये” (संभा० १४५५) इत्यस्य तुदाहरप्रहणाज्ञेह-विभुजति पाणिमिति ।

णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्त्ताऽनाध्याने (अष्टा० सू० १-३-६७) । ण्यन्तादात्मनेपदं स्यादनाध्याने । अणौ यत्कर्म णौ चेदिति द्वितीयं वाक्यम् । कर्मेह क्रिया णिचप्रकृत्युपात्ता या सैव चेण्यन्तेनोच्यते-त्यर्थः । सकर्तेति तृतीयं वाक्यम् । अणावित्याद्यनुवर्तते कर्मेह कारकं शब्दाधिकाराश्रयणात् । णिचप्रकृतेरर्थं प्रति यत्कर्म कारकं स चेण्यन्ते कर्त्तव्यार्थः । “णिचश्च” (अष्टा० सू० १-३-७४) इत्यात्मनेपदं सिद्धेऽपि अकर्त्रभिप्रायार्थमिदं सूत्रम् । कर्त्रभिप्रायेऽपि “विभाषोपपदेन प्रतीयमाने” (अष्टा० सू० १-३-७७) इति विकल्पबाधनार्थश्च । “अणाव-कर्मकात्” (अष्टा० सू० १-३-८८) इति परस्मैपदबाधनार्थश्च । न चाकर्त्र-भिप्राये चरितार्थस्यास्य विकल्पपरस्मैपदाभ्यां पराभ्यां बाधः स्यादिति वाच्यम् । पूर्वविप्रतिषेधाश्रयणात् । अत्र च प्रमाणं ‘दर्शयते राजा’ इति भाष्योदाहरणमिति दिक् । उदाहरणन्तु कर्तृस्थभावकाः कर्तृस्थक्रियाश्च । तत्र हि कर्मवद्भावो नास्तीति वक्ष्यते । प्रकृतसूत्रेणैव त्वात्मनेपदम् । तथा हि—विषयत्वापत्युपसर्जनविषयत्वापादानवचनो दृशिः सकर्मकाणामशब्दाभिधायितानियमात् । तत्र धातूपात्तव्यापाराश्रयः कर्त्ता धात्वर्थभूतव्यापारव्यधिकरणफलशालिकर्म तथा च ‘पश्यन्ति भवं भक्ताः’ इति प्रयोगः चाक्षुषज्ञानेन विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः । यदा तु सौकर्यातिशयविवक्षया प्रेरणांशस्त्यज्यते तदा ‘पश्यति भवः’ इति प्रयोगः विषयीभवतीत्यर्थः । उक्तञ्च—

“निवृत्तप्रेषणं कर्म स्वक्रियावयवैः स्थितम् ।

निवर्त्तमाने कर्मत्वे स्वेकर्तृत्वेवतिष्ठते” इति ॥

ततः पश्यन्तं प्रेरयन्तीति णिचि ‘दर्शयन्ति भवं भक्ताः’ इति प्रयोगः । पश्यन्तीत्यर्थः । उक्तञ्च—

“निवृत्तप्रेषणाद्धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते” इति ।

ततः पुनर्ण्यर्थस्य सौकर्यद्योतनार्थमविवक्षायां ‘दर्शयते भवः’ विषयीभवतीत्यर्थः । तदिह पश्यतिदर्शयत्योः समानार्थतया कर्तृस्थभावकत्वाच्च कर्मवद्भावविरहे प्रकृतसूत्रेणात्मनेपदम् । इह हि णिचप्रकृतिभूतेन दृशिना य एवार्थो द्वितीयकक्षायामुपात्तः स एवं चतुर्थ्याभाति सामानक्रियत्वमस्ति अणौ यत्कर्म प्रथमकक्षायाम् तदेव कर्तुं । एवं ‘आरोहयते हस्ती’ इत्यप्युदाहरणम् । “आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः” । न्य-  
यान्नमन्तीमर्षः । “आरोहति हस्ती” न्यग्भवतित्यर्थः । ततो निवृत्तप्रे-



षणाणिचि 'आरोहयन्ति' आरोहन्तीत्यर्थः । ततः पुनर्पर्यर्थत्यागे 'आरोहयते' न्यग्भवतीत्यर्थः । इहापि प्राग्वत्प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थ्योश्चा-  
र्थसाम्याच्चतुर्था कक्षा उदाहरणम् । सोऽयं निवृत्तप्रेषणपक्षः । आह च-

"न्यग्भावनं न्यग्भवनं रहौ शुद्धे प्रतीयते ।

न्यग्भावनं न्यग्भवनं ण्यन्तेऽपि प्रतिपद्यते" ॥

अवस्थां पञ्चमिमाह ण्यन्ततत्कर्मकर्त्तरि ।

निवृत्तप्रेषणाद्धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते" इति ॥

इह विशिष्टवाचकयोः शुद्धण्यन्तयोर्वाच्यावंशौ वाचकभेदात् द्वेधा  
गणयित्वा पूर्वोक्तप्रथमतृतीयकक्षायामवस्थाचतुष्टयञ्चतुर्थकक्षायान्तु  
पञ्चमी अवस्थेति श्लोकार्थोभिप्रेतः । यद्वा- 'पश्यन्ति भवं भक्ताः' । 'आ-  
रोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः' इति प्राग्वदेव प्रथमकक्षा । ततः सौकर्यद्यो-  
तनार्थं कर्मणा एव प्रेषणमध्यारोप्य णिच् क्रियते । 'दर्शयति भवः' 'आरो-  
हयति हस्ती' इति पश्यत आरोहतश्च प्रेरयतीत्यर्थः । ततो णिच्प्रकृतिभ्यां  
णिज्भ्याञ्चोपात्तयोर्द्वयोरपि प्रेषणयोर्युगपर्यागे 'दर्शयते' 'आरोहयते'  
इत्युदाहरणम् । विषयीभवति न्यग्भवतीति च पूर्ववदेवार्थः । सोऽयम-  
ध्यारोपितप्रेषणपक्ष इहाध्यारोपितप्रेषणपक्षे 'दर्शयति भवः' 'आरोह-  
यति हस्ती' इति द्वितीयकक्षायामतिव्याप्तिं वारयितुं समानक्रियत्वपरं  
द्वितीयं वाक्यम् । तेन प्रेषणाधिक्यान्नातिव्याप्तिः । निवृत्तप्रेषणपक्षे 'द-  
र्शयन्ति भवम्' 'आरोहयन्ति हस्तिनम्' इत्येवंरूपं तृतीयकक्षायामति-  
व्याप्तिं वारयितुमणौ यत्कर्म स चेणौ कर्त्तव्येवंरूपं तृतीयं वाक्यम् ।  
इह तु अणौ कर्मणोर्भवद्वस्तिनोः कर्मत्वमेव न तु कर्त्तृतेति नातिव्याप्तिः  
अत्र प्राञ्चः-अणौ यत्कर्मेति वाक्यं कर्मान्तरनिवृत्तिपरम् । तथा हि-  
यत्तदोर्नित्यसम्बन्धादिह यच्छब्देन तच्छब्द आक्षिप्यते । धर्मान्तरस्य  
चानिर्देशादुद्देश्यतयापि श्रुतं कर्मत्वमेव विधीयते । तच्च विधीयमानं  
सामर्थ्याणेरित्यस्य सन्निहितत्वाच्च ण्यन्तावस्थायामेव विधीयते ।  
न ह्यणौ तद्विधानं सम्भवति अणौ यत्कर्मेत्यनुवादसामर्थ्यादेव तत्सिद्धेः ।  
तदेवमणौ यत्कर्मेत्येतावत् एवाणौ यत्कर्म णौ चेत्तत्कर्मेत्यर्थः फलितः ।  
अनेन च कर्मान्तरनिवृत्तिः क्रियते । न स्वणौ कर्मणो णौ कर्मत्वं प्रति-  
पाद्यते । स कर्मेत्युत्तरवाक्येन तस्य कर्तृत्वप्रतिपादनात् । एकस्य युग-  
पदेकस्यां क्रियायां कर्मकर्तृत्वयोरसम्भवात्तस्मात् ,

"उद्देशप्रतिनिर्देशाल्लब्धे यत्सङ्ग्रहे पुनः ।

तद्गहो वाक्यभेदेन कर्मान्तरनिवृत्तये" ॥

ततो णौ चेदिति वाक्यान्तरम् । अणौ यदित्येव अणौ यत्प्राते-



पाद्यं वस्तु तदेव णौ प्रतिपाद्यञ्चेदित्यर्थः इति व्याचक्ष्युः । अत्रेदं चि-  
न्त्यम्-कर्मान्तरनिवृत्तिपरं व्याख्यानं यद्यपि कर्तुं शक्यं तथापि तस्य  
फलं दुर्लभम् । ‘आरोह्यमाणो हस्ती’ स्थलमारोहयति मनुष्या-  
न्’ इत्यस्य व्यावृत्तिः फलमिति चेन्न, तत्र समानक्रियत्वाभावात् ।  
“णौ चेत्” इति वाक्यं हि प्रतिपाद्यसाम्यार्थमिति वृत्तिपदमञ्जर्याः  
स्थितम् । न चेह तदास्ति । न चास्तु वृत्त्यादिमते दोषोऽयं भाष्यकैयट-  
योस्तु समानक्रियत्वस्यानुक्तत्वात्कर्मान्तरव्यावृत्तिफलकं वाक्यं सा-  
र्थकमेवेति चेत्, न, भाष्यमतेपि समानक्रियत्वस्य व्याख्येयत्वात् । त-  
स्यानुक्तत्वेऽप्यप्रत्याख्याततया सम्मतत्वात् । अन्यथा अध्यारोपितप्रेषणे  
द्वितीयकक्षायामतिप्रसङ्गात् । भाष्यवार्त्तिकयोः कर्मशब्दस्य क्रियापर-  
तयैव व्याख्यातुं शक्यत्वाच्च । अभ्युपेत्यापि ब्रूमः--मास्तु भाष्यमते  
समानक्रियत्वं तथापि ‘दर्शयते भृत्यान् राजा’ इत्युदाहरणं व्याचक्षा-  
णेन कैयटेन अणौ ये कर्तृकर्मणी तद्भिन्नं कर्म व्यावर्त्यते इति तावत्स्प-  
ष्टीकृतम् । तथा च ‘मनुष्यान्’ इत्यस्याणौ कर्तृतया गत्यर्थाद् दूहेणौ  
कर्मत्वेऽपि दुर्वारमात्मनेपदम् । मनुष्यस्थलयोरणौ कर्तृकर्मणोरेवेह  
कर्मतया तदितरकर्माभावात् । अपि च, सकर्त्तृत्यंशोऽपीह नास्ति ।  
हस्तिन एव कर्तृत्वात् । स्यादेतत्-‘आरोह्यमाणः’ इत्यत्राणौ कर्मणो  
हस्तिन एव कर्तृत्वं स एव च ‘स्थलमारोहयति’ इत्यत्रापि कर्त्तृति,  
तदपि न । प्रत्यासत्तिबलेनैवातिप्रसङ्गभङ्गात् । तथा हि-प्यन्तादात्मने-  
पदं स्यादणौ यत्कर्म स चेत्कर्त्तृत्युक्ते प्रत्यासत्तेरेतद्गम्यते । “येन णिच्चा-  
प्यन्तादात्मनेपदं विधित्सितं तत्प्रकृतौ यत्कर्म स चेत्कर्त्ता” इति । इह  
तु यत्रायमुपाधिः कृतमेव तत्रात्मनेपदम् । ‘आरोह्यमाणः’ इति यत्र  
तु न कृतं ‘स्थलमारोहयति’ इति न तत्रायमुपाधिरस्ति, येनातिव्याप्तिः  
स्यात् । यत्तु हरदत्तेनोक्तम्-“हस्तिपकानारोहयति हस्ती इत्यत्र मा  
भूत्” इति । तत्रेदं वक्तव्यम्-किमिदमध्यारोपितप्रेषणपक्षे द्वितीयक-  
क्षायामुदाहरणं किं वा निवृत्तप्रेषणपक्ष इति ? नाद्यः, णिच्चाव्यव्यापा-  
रभेदेन समानक्रियत्वाभावात् । न द्वितीयः, तत्राद्ययोः कक्षयोरण्यन्त-  
त्वात् । तृतीयस्यान्तु हस्तिनः कर्तृत्वायोगात् । हस्तिपकानां कर्मस्वास्-  
म्भवाच्च । तस्माच्चतुर्थी परिशिष्यते । तत्रापि न्यग्भवतीत्यर्थापर्यव-  
सानेन कर्मणो नान्वयः स्पष्ट एव । स्यादेतत्-‘दर्शयते भृत्यान् राजा’  
इति तावद्भाष्ये स्वीकृतं तत्समर्थनाय अणौ ये कर्तृकर्मणी तदितरकर्म-  
व्यवच्छेदोऽभिप्रेत इत्याह कैयटः । तस्याप्ययमाशयः-अणौ यत्क-  
र्मत्यत्र “कर्त्तरि कर्म” ( अष्टा०सु०१-३-१४ ) इत्यतोनुवृत्तं ‘कर्त्तरि’ इ-



त्येतत्प्रथमया विपरिणम्यते । यच्च यच्च यदिति “नपुंसकमनपुंसके-  
न” (अष्टा०सू०१-२-६९) इत्येकशेषः । तेन कर्मकर्त्राणौ कर्मत्वेऽप्यदोषः ।  
एवञ्च “करेणुरारोह्यते निषादिनम्” इति माघप्रयोगो-  
प्युपपद्यत इति । एवं स्थिते निवृत्तप्रेषणाध्यारोपितप्रेषणपक्षयो-  
र्द्वयोरपि चरमकक्षायामकर्मकतया भाष्यकैयटादिग्रन्थाः सर्वएवान-  
न्विताः स्युस्तर्त्तिक हरदत्तं प्रत्येव पर्यनुयोगेन । एतावानेव हि भेदः  
भाष्यमतेऽणौ ये कर्तृकर्मणोरिति व्याख्यानादुदाहरणमिदं वृत्तिकार-  
हरदत्तादिमते तु प्रत्युदाहरणम् । अणौ यत्कर्मत्येव व्याख्यानादिति ।  
अत्रोच्यते-अननन्वयस्तावदुरुद्धरः । बाधे दृढेऽन्यसाभ्यार्त्तिक दृढेऽन्यदपि  
बाध्यतामिति न्यायात् । ‘गम्भीरायां नद्यां घोषः’ इत्यत्र गम्भीरनदी-  
पदार्थयोरेभेदबोधानन्तरं तीरलक्षणायामपि प्राथमिकबोधमादाय  
गम्भीरपदसार्थक्यवदिहाप्यध्यारोपितप्रेषणपक्षे द्वितीयकक्षायां कर्म-  
ण्यन्विते ततो णिजर्थस्येव कर्मणोऽपि त्यागे णिचः कर्मपदस्य च प्रा-  
थमिकबोधमादाय कथं चित्सार्थक्यम् । स्वज्ञाप्यसम्बन्धो लक्षणेत्य-  
भ्युपगमात् । एषैव “अर्थवादैः प्राशस्त्यलक्षणायां गतिः” इति कैयटस्यो-  
क्तिसम्भवो बोध्यः । निष्कर्षस्तु कर्मव्यवच्छेदवाक्यार्थो भाष्यवार्त्तिक-  
योरनभिमत एव, उक्तरात्या प्रयोजनाभावात् । ग्रन्थस्तु कर्मपदस्य  
क्रियापरतायां सुस्थ एव । उदाहरणेषु तु भृत्यानित्यादेरविवक्षायां कर्म-  
व्यापारमात्रे विवक्षिते सिद्धं भवतीत्येवाशयो बोध्यः । “स्मरयत्येनं वन-  
गुल्मः स्वयमेव” इति भाष्यवृत्त्योर्व्याख्यावसरे एनमिति कर्मणो विवक्षायाः  
कैयटहरदत्ताभ्यामुभाभ्यामपि शरणीकृतत्वाच्च । यत्तु सूत्रशेषे कैयटेनै-  
नमित्यस्य विवक्षेति पुनः प्रतिपादितं तदेव त्वापातत इति दिक् ।  
तस्मात्-

“भृत्यादीनां परित्यागाच्छब्दभेदात्परिग्रहात् ।

कर्मवाक्ये च तादर्थ्यवर्णनात्सर्वमुज्ज्वलम्” ॥

इयदेतत्-सकर्मकाणां सर्वेषामंशद्वयाभिधायितया कर्मकर्त्तरि क-  
र्मवद्भावातिदेशादेव सिद्धानीह मूलोदाहरणानि । न चाध्यारोपितप्रेषण-  
पक्षे ‘आरोह्यतौ हस्तिनः’ कर्मत्वाभावात्समानधातौ च कर्मत्वाभावेन  
‘पचत्योदं देवदत्तः’ ‘राध्यत्योदं स्वयमेव’ इति वृत्तकर्मवद्भावो न प्रा-  
प्नोतीति वाच्यम् । निवृत्तप्रेषणप्रक्रियैव सकललक्ष्यसङ्गहात् । अध्या-  
रोपितप्रेषणपक्षपरित्यागेऽपि क्षत्यभावात् । न च दृशेः कर्तृस्थभावक-  
तया दृष्टश्च कर्तृस्थक्रियतया कर्मवद्भावो न प्राप्नोतीति वाच्यम् ।  
पञ्चभिधादिभ्यो वैलक्षण्यस्य दुरुपपादत्वात् । विक्लेदनाद्विधाभवनयो-



रपि कर्तृस्थतापत्तौ कर्मवद्भावातिदेशस्य निर्विषयतापत्तेः । तत्र व्यापारांशस्य कर्तृस्थत्वेऽपि विक्लित्तिद्विधाभवनरूपं फले कर्मस्थे इति । यदि तर्हि दृशिरोह्योरपि विषयत्वन्यग्भावौ कर्मस्थाविति तुल्यम् । तस्मादिह वैषम्ये बीजं वक्तव्यमिति चेत्, अत्राहुर्भर्तृहरिः-

“विशेषदर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता ।

क्रियाव्यवस्थात्वन्येषां शब्दैरेव प्रकल्पिता” इति ॥

अस्यार्थः-यत्र क्रियाप्रयुक्तो विशेषो दृश्यते यथा-प्रकेषु तण्डुलेषु यथा वा छिन्नेषु काष्ठेषु तत्र क्रिया स्थिता । तेन ‘पच्यते ओदनः “छिद्यते काष्ठम्” इति कर्मवद्भावः सिद्धः । अन्येषां मते-अन्येषां धातूनां वाशब्दैरेव क्रियाव्यवस्था । शब्देन कर्तृव्यापारस्यैव प्राधान्येनावगमात्कर्तृस्थतेत्यर्थः । उद्देशतापि क्वचित्कर्मस्थांशस्य क्वचित्तु व्यापारांशस्येति औत्सर्गिकं नियामकं बोध्यं तदिह दर्शनरोहणाभ्यां विषये न्यग्भूते च विशेषानुपलम्भात्कर्तृस्थ एवेह भावः क्रिया च । उद्देशानुरोधाच्च । ‘अहं पश्येयम्’ इति ह्युद्देशः न तु अयं विषयो भवत्वित्येवम् ‘अहमुपरि गच्छेयम्’ इत्युद्देशो न तु ‘हस्तिनो न्यग्भावो भवतु’ इति । उपरिगमनरूप एव च व्यापारविशेषो रुहेरर्थो न तु न्यग्भावनमात्रम् । भूमिष्ठवृक्षस्य शाखां हस्ताभ्यामवनमयत्यपि आरोहतीत्यप्रयोगात् । अत एव “यद्धितुपरं छन्दसि” (अष्टा०सू०८-१-५६) इत्यत्र भाष्यं-“रुहिर्गत्यर्थः” इति । “अत एव चाणौ कर्तृणौ कर्मत्वम् । पचिच्छिद्योस्तु विक्लित्तिद्विधाभवनरूपो विशेषः कर्मणि दृष्टः तदुद्देशेनैव च कारकव्यापार इति महद्वैषम्यम् । एवञ्च ‘आरुह्यते हस्ती’ इति कर्मवद्भावं प्रदर्शयन्तो भाष्यन्यायविराधादुपेक्ष्याः” इति कैयटः । एतेन--

“अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्धधाति च ।

यत्कृपावशतस्तस्मै नमोस्तु गुरवे सदा” ॥

इति प्रयोगो व्याख्यातः । न चैवं क्रियत इति न स्यादिति वाच्यम् । यत्नार्थतावादिनामेतद्दोषप्रसङ्गेऽपि भूवादिसूत्रस्थभाष्यानुसारेण करोतेरभूतप्रादुर्भावार्थतामभ्युपगच्छतामस्माकं सर्वसामञ्जस्यात् । एवञ्च कर्तृस्थभावक्रियेषु कर्मवद्भावाप्राप्तेर्विध्यर्थमिदं सूत्रमिति स्थितं भाष्ये । ‘लावयते स्वयमेव’ इत्यादौ तु कार्यातिदेशपक्षे परत्वात् “कर्मवत्कर्मणा” (अष्टा०सू०३-१-८७) इत्येवात्मनेपदम् । शास्त्रातिदेशे तु “भावकर्मणोः” (अष्टा०सू०१-३-१३) इत्येतदपेक्षया परत्वात् णेरणादिसूत्रेणेत्यवधेयम् । यदि त्वणौ ये कर्तृकर्मणी तद्भिन्नकर्मनिवृत्तिर्भाष्यकृतोभिप्रेता स्यात्तर्हि सकर्मकाणां मध्ये तत्सूत्रादाहरणतापत्तौ कर्म-



स्थक्रिया अण्युदाहरणं स्युः । न हि तत्रातिदेशः सुलभः । “कर्मवदकर्म-  
काणाम्” इति वक्ष्यमाणत्वात् । तथा नियमार्थत्वपराणां यत्किञ्चणोः प्र-  
तिषेधार्थं त्वित्यादिभाष्यवाक्तिकग्रन्थानामप्यसामञ्जस्यं स्यादिति दि-  
क् । तस्मादिहास्मदुक्तमेव वाक्यार्थत्रयं मुनित्रयसम्मतम् । जयादित्य-  
न्यासकारहरहत्तकैयटादिसकलग्रन्थकाराणामिह महानेव पूर्वापरवि-  
रोधो विपश्चिद्भिन्नरुद्धर्त्तव्यः । अस्मदुक्तिस्तु मात्सर्यमुत्सार्य परिभाव-  
नीयेत्यलं बहुना । यत्तु “करेणुरारोहयते निषादिनम्” इति माघे  
प्रयुक्तं तण्णिचश्चेति सिद्धम् । एतेन--

“स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः ।

कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्” ॥ (कि०१-१०)

इति व्याख्यातम् । बन्धुता तं पश्यति, तां दर्शयते । यद्वा-बन्धुतां  
कृताधिपत्यामिवलोकः पश्यति तां दर्शयते इत्यर्थः । आद्ये बन्धुता अणौ  
कर्त्री । द्वितीये त्वणौ सा कर्म । उभयथापि णौ कर्मत्वं निर्विवादमेवेति  
दिक् । णेरिति किम् ? आरोहतीति निवृत्तप्रेषणात्मा भूत् । न च “णौ  
चेत्” इति वाक्यशेषे श्रुतत्वाण्णरेव भविष्यतीति वाच्यम् । अणावित्य-  
स्यापि श्रुतत्वात् । किं चोत्तरार्थमवश्यं णेरिति वाच्यमेव । तदिहैव  
स्पष्टार्थमुक्तम् । हेतुमणिग्रहणार्थं च । भीष्म्योस्तस्यैव सम्भवात् । ते-  
न गणयते गणः स्वयमेवेति सिद्धम् । गणयतिर्हि विभज्य भागशोऽवस्था-  
पने वर्त्तते । तथा च कर्मस्थभावकादस्मान्निवृत्तप्रेषणाद्धेतुमणौ पुनः  
प्रेषणांशत्यागे सत्यात्मनेपदमिष्टम् । णेरिति हेतुमणिचा सन्निधाना-  
दणावित्यत्रापि तस्यैव ग्रहणाच्चुरादि णौ यत्कर्म तत्कर्तृकाद्धेतुमण्य-  
न्तादपि सिध्यतीति । यत्तु वृत्तिकृता गणयतीत्येव रूपमवस्थाचतुष्ट-  
येऽप्युदाह्रियते । तत्र सङ्ख्यानिमित्तस्य परिच्छेदस्य ज्ञानविशेषात्म-  
कतया कर्तृस्थस्य धातुवाच्यतामाश्रित्य कर्मवद्भावाप्रवृत्त्या द्वितीया-  
वस्थायां परस्मैपदमुपपादनीयम् । चतुर्थावस्थायां तु परस्मैपदमशु-  
द्धमेव । णेरणावित्यत्रापि “अणावकर्मकात्” (अष्टा०सु०१-३-८८) इत्य-  
त्रैव हेतुमणिच एव ग्रहणस्य न्याय्यत्वात् । तथैव भाष्ये स्थितत्वाच्च ।  
भागशोऽवस्थापनपरत्वे तु द्वितीयावस्थायामप्यात्मनेपदमिति विशेषः ।  
कर्मवद्भावस्य दुर्वारत्वात् । यत्किणौ तु “णिश्चिन्धि” (का०वा०) इत्या-  
दिनिषेधान्न स्तः इति दिक् । णौ चेदिति किम् ? निवृत्तप्रेषणाण्णौ  
‘आरोहयन्ति हस्तिपकाः’ इति तृतीयकक्षायां मा भूत् । असति हि णौ  
चेद्ग्रहणे श्रुतत्वादणावेव कर्मत्वं कर्तृत्वञ्च लभ्येत । न चैकस्योभय-  
रूपता बाधितेति वाच्यम् । प्रथमावस्थायां कर्मणो द्वितीयावस्थायां



कर्तृत्वस्य निर्विवादत्वात् । अनाधाने किम् ? स्मरति वनगुल्मङ्गो किलः । ततश्चतुर्थावस्थायां स्मरयति वनगुल्मः । उत्कण्ठापूर्वकस्मृतौ विषयो भवतीत्यर्थः । “स्मृ आधाने,” (अ०प०८८०७) घटादिः ।

भीस्म्योर्हेतुभये (अष्टा०सू०१-३-६८) । आभ्यां ण्यन्ताभ्यामात्मनेपदं स्यात्प्रयोजकादेव चेद्भयविस्मयौ स्तः । सूत्रे भयग्रहणं विस्मयस्याप्युपलक्षणम् । मुण्डो भीषयते । “भियो हेतुभये षुक्” (अष्टा०सू०७-३-४०) इति षुक् । “विभेतेर्हेतुभये” (अष्टा०सू०६-१-५६) इति वैकल्पिकात्वपक्षे तु ‘भापयते’ अत्र षुङ्गन् । तद्विधावीकारप्रश्लेषात् । जटिलां विस्मापयते । “नित्यं स्मयतेः” (अष्टा०सू०६-१-५७) इत्यात्वम् । “अस्तिही” (अष्टा०सू०७-३-३६) इति पुक् । हेतुभये किम् ? कुञ्चिकया भाययति । रूपेण विस्माययति । इह करणाद्भयविस्मयौ न तु हेतोः । यद्यपि हेतोर्व्यापारे णिज्विधानात्प्रयोजकसाध्यता दुर्वारा तथापि हेतुस्वरूपमेवान्यनिरपेक्षं धात्वर्थप्रयोजकञ्चेदित्यर्थः । विशेषणोपादानसामर्थ्यात् । अत एव ‘मौड्येन भापयति’ इत्यत्र न मौड्याख्यधर्मस्य भेदेन विवक्षणात् । उदाहरणे तु तादात्म्यस्य विवक्षणाद्धेतोरेव भयम् । एतेन-

“मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुं-विस्माययन्” । (२०२-३३)

इति व्याख्यातम् । इह हि न सिंहाद्विस्मयः किन्तु मनुष्यवाचेति करणात् । अत एवात्र “नित्यं स्मयतेः” (अष्टा०सू०६-१-५७) इत्यात्वं न । तद्विधाने “विभेतेर्हेतुभये” (अष्टा०सू०६-१-५६) इत्यतो हेतुभयानुवृत्त्या भयग्रहणस्य च स्मयोपलक्षणतया व्याख्यानात् । क्वचित्तु ‘विस्मापयन्’ इति पुगागमपाठः प्रामादिकः । यद्वा—वाक् विस्मापयते सिंहस्तु विस्मापयमानां वाचं प्रयुङ्क्ते विस्मापयति । ण्यन्ताणि चू । वाचेति तु प्रयोज्ये कर्त्तरि तृतीया न तु करणे इति समाधेयम् ।

गृध्रिवञ्चयोः प्रलम्भने (अष्टा०सू०१-३-६९) । प्रतारणार्थाभ्यामाभ्यां ण्यन्ताभ्यामात्मनेपदं स्यात् । माणवकं गर्धयते वञ्चयते वा । प्रलम्भने किम् ? इवानङ्गर्धयति । अभिकांक्षामस्योत्पादयतीत्यर्थः । अहिं वञ्चयति । वर्जयतीत्यर्थः ।

लियः सम्माननशालिनीकरणयोश्च (अष्टा०सू०१-३-७०) । सम्माननशालिनीकरणयोश्चकारात्प्रलम्भने च वर्त्तमानाण्यन्तालीधातोरात्मनेपदं स्यात् । “लीङ् श्लेषेण” (दि०आ०११३९) दिवादिः, “ली श्लेषेण” (क०पा०प०११०२) कथादिः, उभयोरपि ग्रहणम् । निरनुबन्धकपरिभाषा तु प्रत्ययविपरिणो । “वामदेवाङ्गञ्चयो” (अष्टा०सू०४-२-९) इति लिङ्कर-



णेन ज्ञापिता हि सा । ज्ञापकश्च सजातीयविषयकमैवेत्युत्सर्गः । सम्मानने--जटाभिरालापयते । पूजां समधिगच्छतीत्यर्थः । अकर्मकश्चायम् । धात्वर्थेन क्रोडीकृतकर्मत्वात् 'पुत्रीयति' इत्यादिवृत् । शालिनीकरणे-  
प्येतो वृत्तिकामुल्लापयते । न्यक्करोतीत्यर्थः । प्रलम्भने--बालमुल्लाप-  
यते । "विभाषा लीयतेः" (अष्टा०सू०६-१-५१) इति णावात्वं विधी-  
यते । तदस्मिन्विषये नित्यम् । अन्यत्र तु विकल्पः । व्यवस्थितविभाषा  
हि सा । न च "लीयतेः" (अष्टा०सू०६-१-५१) इति विहितमात्वं कथं  
लीनातेः स्यादिति वाच्यम् । लीनातिलीयत्योर्यका निर्देशायमिति सि-  
द्धान्तात् । सम्माननादिष्विति किम् ? बालकमुल्लापयति । ज्ञाश्ले-  
षयतीत्यर्थः ।

मिथ्योपपदात्कृजोऽभ्यासे (अष्टा०सू०१-३-७१) । ण्यन्तात्कृजौ  
मिथ्योपपदादात्मनेपदं स्यात्पौनःपुन्ये । पदं मिथ्या कारयते । सापचारं  
स्वरादिदुष्टमसकृदुच्चारयतीत्यर्थः । "नित्यवीप्सयोः" (अष्टा०सू०८-  
१-४) इति द्वित्वं तु न भवति । आत्मनेपदेनैवाभ्यासस्य द्योतितत्वात् ।  
करोतिश्चेहोच्चारणवृत्तिरकर्मकः । ण्यन्तस्तूच्चारणवृत्तिः सकर्मकश्च ।  
मिथ्योपपदात्किम् ? पदं सुष्ठु कारयति । कृजः किम् ? पदं मिथ्या वा-  
चयति । अभ्यासे किम् ? सकृत्पदं मिथ्या कारयति ।

स्वरितजितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (अष्टा०सू०१-३-७२) । स्वरि-  
रितेतो जितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्क्रियाफले कर्तृगामिनि सति ।  
यजते, सुनुते । कर्त्रभिप्राये किम् ? यजन्ति याजकाः, सुन्वन्ति दक्षि-  
णादि तु न फलम् । उक्तं हि हरिणा--

"यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभ्यन्ते पचादयः ।

तत्प्रधानफलं तेषां न लाभानि प्रयोजनम्" ॥ इति ।

पचा पाकः । विस्वादङ् । केचित्तु प्रयोजकव्यापारवृत्तिभ्यो  
धातुभ्यस्तद्द्योतकमात्मनेपदमनेन विधीयते । कुरुते । कारयतीत्यर्थः ।  
'कारयते' इत्यत्र तु प्रयोजकव्यापारद्वयमर्थः । णिजन्ताणिञि यथा  
'कर्त्रभिप्राये' इति सूत्रांशोऽपि कर्तृपदस्याहेतुकर्तृपरत्वादुक्तार्थतात्प-  
र्यक एवेत्याहुः । उक्तञ्च हरिणा--

क्रियाप्रवृत्तावाख्याता कैश्चित्स्वार्थपरार्थता ।

असती वा सती वापि विवक्षितानिवन्धना ॥

येषाञ्चित्कर्त्रभिप्राये णिच्वा सह विकल्पयते ।

आत्मनेपदमन्येषां तदर्थं प्रकृतिर्यथा ॥



क्रीणीष्व, पंचते, धत्ते, चिनोति, चिनुतेऽपि च ।

आप्तप्रयोगा दृश्यन्ते येषु ण्यर्थोऽभिधीयते” ॥ इति ।

असती चेत्यनेन “कमलवनोद्धाटनं कुर्वते ये” इत्यादयः प्रयोगाः समर्थिताः । तत्रापि स्वार्थताविवक्षायाः सम्भवात् । ण्यर्थस्य वाचकं द्योतकं वा आत्मनेपदमिति मतद्वयं सङ्गृहीतं केषां चिदित्यादिना श्लोकेन । चिनोति चिनुत इति, चिनोति चापयति चेति क्रमेणार्थः ।

अपाद्बदः (अष्टा०सू०१-३-७३) । अपपूर्वाद्वदतेरात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि फले संविधाने च । न्यायमपवदते । कर्त्रभिप्राये किम् ? अपवदति ।

णिचश्च (अष्टा०सू०१-३-७४) णिजन्तादात्मनेपदं कर्तृगे फले संविधाने च । कटं कारयते । कथं “कृतश्मश्रुरपि श्मश्रूणि कारयति” इति भाष्यम् । संविधाने इति व्याख्याने भविष्यति । आद्यपक्षे तु कर्तृगामि-स्वाविवक्षायां भविष्यति । अत्र कश्चित् लक्षयतेः स्वरितेत्करणाज्ज्ञापकाच्चुरादिणिजन्तादिदमात्मनेपदं न भवतीति । आह च—

स्वरितेत्स्याद्गहिः क्रयादौ लक्षिश्चैकश्चुरादिषु । इति ।

चन्द्रस्तु—“णिजभावपक्षे स्वरितेत्त्वस्य सार्थकत्वाच्चोक्तार्थज्ञापकता अतश्चुरादेरप्ययं विधिर्भवत्येव” इत्याह । मैत्रेयस्तु स्वरितेत्त्वमस्यानाकरमित्याह । तदेतद्वरदत्तोऽपि सञ्जग्राह—

एष(१) विधिर्नचुरादिणिजन्तात्स्यादिति कश्चन निश्चिनुते स्म ।

आप्तवचोऽत्र न किंचन दृष्टं लक्षयतेः स्वरितत्वमनार्षम्” ॥ इति ।

समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे (अष्टा०सू०१-३-७५) । एभ्यो यमः प्राग्वत्कर्तृगे फले संविधाने च न तु ग्रन्थे विषये । आङ्पूर्वकस्य वचनं सकर्मकार्थम् । अकर्मके तु “आङो यमहनः” (अष्टा०सू०१-३-२८) इत्येव सिद्धम् । ग्रीहीन्सयच्छते भारमुद्यच्छते वस्त्रमायच्छते । अग्रन्थे किम् ? उद्यच्छति चिकित्सां वैद्यः । इहाधिगमपूर्वकमुद्यमं यमेरर्थः । चिकित्साशास्त्रमधिगन्तुमुद्यमं करोतीत्यर्थः । कर्त्रभिप्राय इत्येव । संयच्छति, उद्यच्छति, आयच्छति ।

अनुपसर्गाज्ज्ञः (अष्टा०सू०१-३-७६) । अस्मात्प्राग्वत्कर्तृगे फले संविधाने च । “अकर्मकाच्च” (अष्टा०सू०१-३-४५) इत्येव सिद्धे वचनमिदं सकर्मकार्थम् । गाञ्जानीते । अनुपसर्गात्किम् ? स्वर्गं लोकं न प्रजानाति । कथं तर्हि भट्टिः—

(१) दोषकं नाम वृत्तमिदम्—“दोषकवृत्तमिदं भभभाद्गो” (वृ०र० ३-३४) इति तल्लक्षणान् ।



इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य । इति ।

कर्मण्ययं लिट् । 'नृपेण' इति तृतीयान्तस्य विपरिणामादिति ज-  
यमङ्गला ।

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने (अष्टा०सू०१-३-७७) । स्वरितेऽप्रभृतिभ्य आत्मनेपदं वा स्यात् समीपोच्चारितपदेन क्रियाफलस्य कर्तृगत्वे प्रती-  
ते । "स्वरितजितः" (अष्टा०सू०१-३-७२) इत्यादि पञ्चसूच्या यदात्म-  
नेपदं विहितन्तत् क्रियाफलस्य कर्तृगत्वे उपपदे न द्योतिते न प्राप्नोति ।  
उक्तार्थानामप्रयोगात् । तत्राप्राप्तविभाषेयम् । उपपदं चेह समीपे श्रूय-  
माणं पदं न तु पारिभाषिकम् । असम्भवात् । इह च पञ्चसूत्री अनुव-  
र्त्तते । स्वं यज्ञं यजति यजते वा । स्वं कटं करोति कुरुते वा । स्वं पुत्र-  
मपवदति अपवदते वा । स्वं व्रीहिं संयच्छति संयच्छते वा । स्वाङ्गां  
जानाति जानीते वा ।

शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम् (अष्टा०सू०१-३-७८) । आत्मनेपदनिमि-  
त्तहीनाद्धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं स्यात् । याति, वाति । कथं तर्हि—

स्मराग्नौ जुह्वानाः सुरभिष्टुतधाराहुतिशतैः । (श्लो०३३)

इति सौन्दर्यलहरी । सत्यम् । नायं शानच् किन्तु चानश् । एतेन  
“रसमानसारसेन (शि०६-७५) इति माघा व्याख्यातः ।

अनुपराभ्यां कृजः (अष्टा०सू०१-३-७९) । आभ्यां कृजः परस्मैपदं  
स्यात् कर्तृगेऽपि फले गन्धनादावपि । अनुकरोति, पराकरोति । ननु  
कर्मकर्तर्यपि प्राप्नोति । “अनुक्रियते स्वयमेव” इति । नैष दोषः । कार्या-  
तिदेशपक्षे “कर्मवत्कर्मणा” (अष्टा०सू०३-१-८७) इत्यात्मनेपदेन परेणा-  
स्य बाधान् । शास्त्रातिदेशे तु “भावकर्मणोः” (अष्टा०सू०१-३-१३)  
इत्यस्य पूर्वत्वात्परेणानेन यद्यपि भाव्यं तथापीह “कर्त्तरि कर्म (अष्टा०  
सू०१-३-१४) इत्यतः “शेषात्कर्त्तरि” (अष्टा०सू०१-६-७८) इत्यतश्च  
कर्तृग्रहणद्वयमनुवर्त्तते तेन कर्तैव यः कर्ता तत्रायं विधिर्न तु कर्मकर्त्त-  
रीति बोध्यम् ।

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः (अष्टा०सू०१-३-८०) । “क्षिप प्रेरणे”  
(तु०उ०१२८६) स्वरितेत् । अभिक्षिपति, प्रतिक्षिपति, अतिक्षिपति ।  
एभ्यः किम् ! आक्षिपते । कर्त्तरीत्येव । नेह-आक्षिप्यते सूत्रम् । द्विती-  
यकर्तृग्रहणानुवृत्तेः कर्मकर्त्तर्यपि न ।

प्रावहः (अष्टा०सू०१-३-८१) । “वह प्रापणे” (भा०उ०१००४) स्व-  
रितेत् । प्रवहति । प्रात्किम् ? आवहते ।



परैर्मृषः (अष्टा०सू०१-३-८२) “मृष तितिक्षायाम्” (दि०उ०११६४) स्वरितेत् । परिमृष्यति । परेः किम् ? आमृष्यते । इह परेरिति योगं विभज्य वह इत्यनुवर्त्तनात् परिवहति इति केचिदिच्छन्ति ।

व्याङ्गपरिभ्यो रमः (अष्टा०सू०१-३-८३) । “रम क्रीडायाम्” (श्वा०आ०८५३) अनुदात्तेत् । विरमति, आरमति, परिरमति, एभ्यः किम् ? अभिरमते ।

उपाच्च (अष्टा०सू०१-३-८४) । उपपूर्वाद्भ्रमेः प्राग्वत् । सकर्मका-  
र्थोयमारम्भः । अकर्मकात् विभाषां वक्ष्यति । स्यादेतत्—उपपूर्वको  
रमिर्निवृत्तिविनाशयोर्वतते । उपरतोध्ययनात् । “उपरता निधनानि”  
इति यथा । न चानयोरर्थयोः सकर्मकता सम्भवति । सत्यम् । अन्त-  
र्भावितण्यर्थोऽत्रोदाहार्यः । तद्यथा—यज्ञदत्तमुपरमति । उपरमयतीत्यर्थः ।

विभाषाकर्मकात् (अष्टा०सू०१-३-८५) । उपाद्भ्रमेरकर्मकात्परस्मैपदं  
वा स्यात् । उपरमति उपरमते वा । निवर्त्तत इत्यर्थः ।

बुधयुधनशजनेङ्फुडुसुभ्यो णेः (अष्टा०सू०१-३-८६) । एभ्यो ण्य-  
न्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात् । “णिचश्च” (अष्टा०१-३-७४) इत्यस्यापवादः ।  
बोधयति पद्मम् । बोधयति काष्ठानि । नाशयति दुःखम् । जनयति  
सुखम् । इह “अणावकर्मकात्” (अष्टा०सू०१-३-८८) इति न सिध्यति ।  
अचित्तवत्कर्तृकत्वात् । इङ्—अध्यापयति । फुडूसूणां “निगरणचल-  
नार्थेभ्यश्च” (अष्टा०सू०१-३-८७) इत्येव सिद्धे यदा न चलनार्थस्तदर्थं  
वचनम् । प्रावयति—प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयति—विलापयतीत्यर्थः ।  
स्त्रावयति—स्यन्दयतीत्यर्थः । स्यन्दनं द्रवत्वजन्यचलनम् । न चैवं चलना-  
र्थत्वात्सिद्धमिति वाच्यम् । द्रवत्वजन्यतावच्छेदकचलनत्वव्याप्यजाति-  
विशेषे शक्ततयास्य विशेषशब्दत्वेऽप्यपर्यायत्वात् ।

निगरणचलनार्थेभ्यश्च (अष्टा०सू०१-३-८७) । अभ्यवहारार्थेभ्यः क-  
म्पनार्थेभ्यश्च ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात् । निगारयति, आशयति, भो-  
जयति, चलयति, चोपयति, कम्पयति । सकर्मकार्थोऽचित्तवत्कर्तृका-  
र्थश्चायमारम्भः । “आदेः प्रतिषेधो वक्तव्यः” इति काशिका । भाष्यका-  
रस्तु “गतिबुद्धि” (अष्टा०सू०१-४-५२) इति सूत्रे इममर्थं वक्ष्यति । आ-  
द्यते देवदत्तेन । “गतिबुद्धि” (अष्टा०सू०१-४-५२) इत्यादिना णौ क-  
र्तुः कर्मसंज्ञा प्राप्ता “आदिखाद्योः प्रतिषेधः” (का०वा०) इति वचनात्  
भवति । कथं तर्हि “आद्यत्वन्नं बटुना” इति । अकर्त्रभिप्राये भविष्य-  
ति । कर्त्रभिप्राये प्राप्तस्य “निगरणचलन” (अष्टा०सू०१-३-८७) इत्यस्य  
ह्ययं निषेधो न तु “शेषात्कर्त्तरि” (अष्टा०सू०१-३-७५) इत्यस्य । कथं



तर्हि श्रीहर्षः—

इमां किमाचामयसे न चक्षुषी

चिरं चकोरस्य भवन्मुखस्पृशि । इति ।

न च नायं भक्षणार्थः ।

न पीयतां नाम चकोरजिह्वया

कथं चिदेतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका ॥ इति ।

पूर्वाधानुरोधेन पानार्थत्वादिति वाच्यम् । पानस्यापि भक्षणविशेषात्मकत्वात् । सामान्यग्रहेण विशेषस्यापि ग्राह्यत्वात् । अन्यथेहैव सूत्रे 'चोपयति' इत्युदाहरणासङ्गतेः । चुपेर्मन्दगत्यर्थकत्वात् । इमामित्यस्याकर्मकत्वासङ्गतिप्रसङ्गाच्च । गत्यादिसूत्रेण ह्यस्य कर्मसंज्ञा सा च प्रत्यवसानार्थतां विना दुरुपपादेति । अत एव "नपादिमि" (अष्टा०सू० १-३-८९) इति सूत्रे पाग्रहणं धेट उपसङ्ख्यातञ्च सङ्गच्छते । अन्यथा पाधेटोरप्याचमिवत्पानार्थत्वेन निषेधो व्यर्थः स्यात् । न चैवं बुधयुधादि-सूत्रे द्रवतिग्रहणं व्यर्थं चलनविशेषवाचकस्यापि चलनवाचकतानपायादिति वाच्यम् । चलनत्वव्याप्याया अखण्डाया एव जातेः प्रवृत्तिनिमित्ताया उक्तत्वात् । पानन्तु द्रवद्रव्यस्य गलादधः करणम् । तत्र द्रवद्रव्यांशस्याधःकरणे कर्माभूतस्याधिकस्य भानेऽपि भक्षयतेरर्थस्य भानं निर्विवादम् । यथा मन्दगतौ भासमानायां गतेर्भानम् । अधिकं प्रविष्टं न तु तद्भानिरिति न्यायात् । न च पानत्वमप्यखण्डस्यन्दनत्ववदिति वाच्यम् । तत्साधकानिरुक्तेः । दृष्टान्ते तु कार्यतावच्छेदकतया तत्सिद्धेरिति । उच्यते—'आचामय' इति लोडन्तं छित्वा "किं नाचामयेः" इति व्याख्येयम् । 'से' इति तु सम्बोधनं दमयन्त्याः । तथा हि—अस्य स्त्री ई-लक्ष्मीः तया सह वर्त्तमाना सेः तस्याः सम्बोधनं से । स-लक्ष्मीके इत्यर्थः ।

अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् (अष्टा०सू० १-३-८८) । णेः पूर्वम-कर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकाण्यन्तात्परस्मैपदं स्यात् । शेते कृष्णस्तं शाययति गोपी । अणौकिम् ! आरोहयमाणं प्रयुङ्क्ते आरोहयते । "णेरणौ" (अष्टा०सू० १-३-६७) इति सूत्रे उदाहरणत्वेन योऽकर्मको निर्णीतस्तस्माद् द्वितीये णौ मा भूत् । स हि णावकर्मकः निवृत्तप्रेषणाधारोपितप्रेषणयो-रुभयोरपि न्यग्भवतीत्यर्थे पर्यवसानस्योक्तत्वात् । अकर्मकात्किम् ! कटं कुर्वाणं प्रयुङ्क्ते कारयते । चित्तवत्कर्तृकात्किम् ? व्रीहीन् शोषयते । अत्र केचित् । चुरादिण्यन्ताद्धेतुमणौ "अणौ" (अष्टा०सू० १-३-८८) इत्यस्य प्रत्युदाहरणमाहुः । तत्तु भाष्यादिविरुद्धम् । तथा हि—बुधादिसूत्रादिह



णेरित्यनुवर्तते । बुधादिभ्यश्च हेतुमणिरेव सम्भवतीति निषेधोऽपि प्रत्यासत्तस्तस्यैव न्याय्यः । तेन चुरादिष्यन्तादपि हेतुमणौ भवत्येवेदं परस्मैपदमिति भाष्ये स्थितम् । यत्तु रूपयन्तं प्रयोजयति 'रूपयते' इति केन चित्प्रत्युदाहृतं तच्चुरादिष्यन्ताद्धेतुमणिच विधाय तस्य च सौकर्यातिशयात्प्रयोजकव्यापाराविवक्षायां प्रयोज्यव्यापारमात्रवृत्त्या अकर्मकतामाश्रित्य ततो द्वितीये हेतुमणिचि बोद्धव्यम् । अत एव 'प्रयोजयति' इत्याह । इह हि युजिना णिचा च प्रयुक्तिद्वयं वदता हेतुमणिद्वयं सूच्यते । अन्यथा 'प्रयुङ्क्ते' इत्येवादर्शयिष्यत् । एवञ्च चेतयमानं प्रयुङ्क्ते 'चेतयते' इति केषां चित्प्रत्युदाहरणं यद्वृत्तिकृता दूषितं तत्समर्थितं भवति । स्वार्थण्यन्तादेकस्मिन्नेव हेतुमणौ तु 'रूपयति' 'चेतयति' इत्येव बोध्यम् ।

न पादभ्याङ्यमाङ्यसपरिमुहुरुचिर्नृतिवदवसः (अष्टा०सू०१-३-८९) । एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं न स्यात् । तत्र पिबतिर्निगरणार्थः । इतरे चित्तवत्कर्तृकाः । नृतिश्चलनार्थोऽपि । तेन "अणावकर्मकात्" (अष्टा०सू०१-३-८८) इति "निगरणचलन" (अष्टा०सू०१-३-८७) इति प्राप्तमिह निर्बध्यते । "पा पाने" (श्वा०प०९२५) पाययते । "परक्षणे" (अ०प०१०५६) इत्ययन्तु न गृह्यते । "लुग्विकरणाऽलुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्" (प० भा०) इति परिभाषणात् । तेनाणावकर्मकत्वविवक्षायां परस्मैपदं भवत्येव । पालयति । "पातेर्लुग्वक्तव्यः" [का०वा०] इति लुगागमः । "दमु उपशमे" (दि०प०१२०३) दमयते । आङ्पूर्वो "यम उपरमे" (श्वा०प०९८४) । आयासयते । "न कस्यमिचमप" (ग० सू०) इत्यतो नेत्यनुवर्तमाने "यमोऽपरिवेषणे" (ग० सू०) इत्यनेनमित्संज्ञाप्रतिषेधः । उकारविशिष्टस्योपादानमुपसर्गप्राप्तपस्यर्थम् । तेनान्यान्वितादाकारात्परस्य न । आङ्पूर्वो "यसु प्रयत्ने" [दि०प०१२११] । आयासयते । परेपूर्वो "मुह वैचित्ये" [दि०प०११९८] । परिमोहयते, रोचयते, नर्त्तयते, वादयते, वासयते । "वस आच्छादने" [श्वा०प०१००५] इत्यस्य लुग्विकरणत्वादग्रहणम् । पादिषु धेट उपसङ्ख्यानम् (का०वा०) । "धापयेते शिशुमेकं सामीची" प्रत्यवसानार्थत्वाच्छिशुमित्यस्य कर्मत्वम् । सामीचीति प्रथमाद्विवचनम् । "वा छन्दसि" (अष्टा०सू०६-१-१०७) इति पूर्वसवर्णदीर्घः । स्यादेतत्, "वत्सान्पाययति पयः" । "दमयन्ती कमनीयतामदम्" । "अवीवदद्भिणां परिवादकेन" । "भिक्षा वासयति" इत्यादिप्रयोगास्तर्हि



कथमिति चेत्, अत्राहुः—कर्तृणे फले प्राप्तस्यः आत्मनेपदस्यापवादो यद्विहितं परस्मैपदं तस्यैवायं निषेधः । यस्वकर्त्रभिप्राये “शेषात्” [अष्टा० सू०१-२-७८] इति परस्मैपदं तन्निर्वाधमेवेति ।

वा क्यषः (अष्टा०सू०१-३-२०) । क्यषन्तात् परस्मैपदं वा स्यात् । लोहितायति, लोहितायते । नन्विह परस्मैपदाभावपक्षे लकार एवाश्रयेत न त्वात्मनेपदम् । तस्य प्रकृतिविशेषेऽर्थविशेषे च नियतत्वात् । सत्यम् । पूर्वसूत्रे तावदपवादमपनयता प्रतिषेधेनात्मनेपदं प्रवर्त्यत इति निर्विवादम् । स एव च प्रतिषेध इहानुवर्त्यते । तदनुवृत्तिसामर्थ्याच्चेह आत्मनेपदविकल्पः सिध्यति । आत्मनेपदप्रवृत्त्यविनाभूतेन निषेधेनात्मनेपदस्य लक्षणया उपस्थितौ तस्यैव विकल्पनात् । तेन मुक्ते “शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्” (अष्टा०सू०१-३-७८) भविष्यति । प्रकृत्यर्थनियमपक्षे एकवाक्यताविधिश्चेति पक्षे च परस्मैपदविकल्पेऽपि न कश्चिद्दोष इत्यवधेयम् ।

द्युभ्यो लुङि (अष्टा०सू०१-३-२१) । द्युतादिभ्यः परस्मैपदं वा स्याल्लुङि । अद्युतत्, अद्योतिष्ट । अलुठत्, अलोठिष्ट । लुङि किम् ? द्योतते, लोठते । अनुदात्तेत्वाच्चित्यं तड् । नन्विह विकल्पानुवृत्तिर्व्यर्था । “अनुदात्तेतः” (अष्टा०सू०१-३-१२) इत्यनेन प्रतिषिद्धस्य परस्मैपदस्यानेन प्रतिप्रसवे कृते “लट्य” (अष्टा०सू०३-३-७७) इत्युत्सर्गेणैव पाक्षिकस्यात्मनेपदस्य सिद्धेः । सत्यम् । परस्मैपदे प्रतिप्रसूते आत्मनेपदं न भवतीति ज्ञापयितुं वानुवृत्तिः । तेन ‘अनुकरोति’ इत्यादौ पाक्षिकमात्मनेपदं न भवति । यदा तु “अनुदात्तङितः” (अष्टा०सू०१-३-१२) इत्यादिप्रकरणेनात्मनेपदमेव विधीयते “शेषात्” (अष्टा०सू०१-३-७८) इत्यादिना च परस्मैपदम् । तदा ‘अनुकरोति’ इत्यादौ परस्मैपदेनात्मनेपदं बाध्यते येन नाप्राप्तिन्यायात् । पक्षे आत्मनेपदप्रवृत्त्यर्थं चेह वाग्रहणमित्यवधेयम् । पक्षद्वयमपीदं “अनुपराभ्याम्” (अष्टा०सू०१-३-७९) इति सूत्रे भाष्ये स्थितम् । “प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्” (अष्टा०सू०१-१-६२) इति सूत्रे नियमसूत्राणां विधिरूपेण निषेधरूपेण वा प्रवृत्तिरिति पक्षद्वयस्यापि तत्त्वं निरूपितमस्माभिः । तदप्येतस्माद्भाष्यादुत्थितमित्यवधेयम् ।

वृभ्यः स्यसन्तोः (अष्टा०सू०१-३-२२) । वृतुवृधुशुभ्यस्यन्दूभ्यः परस्मैपदं वा स्यात्स्ये सन्ति च । वत्स्यति, अवत्स्यत् । विवृत्सति, “न वृज्ज्य-अतुभ्यः” (अष्टा०सू०७-२-५९) इतीप्तिनिषेधः । पक्षे वर्त्तिष्यते, अवर्त्तिष्यत ।



विवर्त्तिषते । स्यसनोः किम् ? वर्त्तते । ननु द्युतादिष्वेव वृतादयः पठ्यन्ते । तथा च तक्रकौण्डिन्यायेनयं प्राप्तवृद्धः/पूर्वा प्राप्ति बाधेत । ततश्च 'अवृत्तत्, अवर्तिष्ट' इति लुङि पूर्वेण विकल्पो न सिध्येत् । तथाचोत्तरसूत्रे चकारः क्रियते । लुटीति विशेषविधिना स्यसनोरियं प्राप्तिर्मा बाधीति (?) । अन्यथा कृपेरपि वृताद्यन्तर्भावाद्नेनैव सिद्धे किञ्चकारेणेति चेत् ? सत्यम्, द्युतादिपाठसामर्थ्याद्वृतादिभ्यो लुङि भविष्यति । यद्वा लुङीति स्वरयिष्यते ।

लुटि च कल्पः (अष्टा०सू१-३-९३) । लुटि स्यसनोश्च कृपेः परस्मैपदं वा स्यात् । कल्पासि, कल्प्स्यति, अकल्प्स्यत् । चिकल्प्सति । "तासि च कल्पः" (अष्टा०सू०७-२-३०) इतीदृप्रतिषेधः । पक्षे कल्पितासे । कल्पिष्यते, अकल्पिष्यत । चिकल्पिषते । इहेणिनषेधो नास्ति । तत्र हि "गमेरिद् परस्मैपदेषु" (अष्टा०सू०७-२-५८) इत्यतः परस्मैपदेष्वित्यनुवर्त्तते । ऊदित्वात्पाक्षिक इडभावस्त्वस्येव । स्यादेतत्, स्यसनोरित्यस्य स्वरितत्वमेवास्तु "वा क्यषः" (अष्टा०सू०१-३-९०) इति वाशब्दस्य यथा । तथा च "स्वरितेनाधिकारः" (अष्टा०सू०१-३-११) इत्येव सिद्धे किञ्चकारेण ? सत्यम्, स्पष्टार्थश्चकारः । अत एवानुकर्षणार्थाः सर्वे चकारा भाष्ये प्रत्याख्याताः ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे प्रथमस्याध्यायस्य तृतीये पादे  
द्वितीयमाह्निकम् ॥ पादश्च समाप्तः ॥

आकडारादेका संज्ञा (अष्टा०सू०१-४-१) । इत ऊर्ध्वं कडाराः कर्मधारये (अष्टा०सू०२-२-३८) इत्यतः प्रागेकस्य एकैव संज्ञा स्यात् । तत्रोभयोः सावकाशत्वे "विप्रतिषेधे परम्" (अष्टा०सू०१-४-२) इति परैव । निरवकाशत्वे तु सैवेति विवेकः ।

तत्र परस्या उदाहरणं—'धनुषा विध्यति' इति । शराणामपायं प्रत्यवधिभूतस्यैव धनुषो व्यधनं प्रति साधकत्वमित्युभयप्रसङ्गे परत्वात्करणसंज्ञा अपादानसंज्ञां बाधते । तथा 'कांस्यपाण्याम्बुङ्के' इत्यधिकरणसंज्ञा 'धनुर्विध्यति' इति कर्तृसंज्ञा (१) च । तदुक्तम्—'अपादानमुत्तराणि' इति ।

निरवकाशायास्तूदाहरणम्—'अततक्षत्' इति । अत्र हि "संयोगे गुरु" (अष्टा०सू०१-४-११) इति गुरुसंज्ञा लघुसंज्ञां बाधते । तेन "सन्वल्लघुनि" (अष्टा०सू०७-४-१३) इत्येतन्न प्रवर्त्तते ।

( १ ) अपादानसंज्ञां बाधते इत्यर्थः ।



स्यादेतत् । भपदसंज्ञाभ्यां तर्हि अङ्गसंज्ञा बाधयेत् । तथा च 'गार्ग्यः' इत्यत्र "यस्येति च" (अष्टा०सू०६-४-१४८) इति लोपो न स्यात् । 'धातुष्कः' इत्यत्राङ्गस्योच्यमाना वृद्धिर्न स्यात् । अङ्गसंज्ञा तु 'कर्त्तव्यम्' इत्यादौ सावकाशा । नहि धातुप्रत्यये पूर्वस्य भपदसंज्ञे स्तः ।

अत्राहुः—“सुपि च” (अष्टा०सू०७-३-१०२) “बहुवचने झल्येत्” (अष्टा०सू०७-३-१०३) “तद्धितेष्वचामादेः” [अष्टा०सू०७-२-११७] इत्यादौ स्वादिषु तद्धितेषु चाङ्गस्य कार्यविधानं समावेशस्य ज्ञापकम् । द्विविधा हि स्वादयः—यजादयो वलादयश्च । तत्र यथाक्रमं भपदसंज्ञाभ्यां भाव्यम् । ताभ्यां चाङ्गसंज्ञाबाधे निर्विषया एव तत्तद्विधयः स्युः ।

गुरुलघुसंज्ञे वर्णमात्रस्य विधीयेते, नदीधिसंज्ञे तु तदन्तस्येति ताभ्यां समाविशतः । तेन 'वात्सीबन्धुः' इत्यत्र “नदी बन्धुनि” (अष्टा०सू०६-२-१०९) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वं, 'हे वात्सीबन्धो' इत्यत्र “गुरोरनुतः” (अष्टा०सू०८-२-८६) इति प्लुतश्च सिध्यति । तथा विश्वना च विनरौ “द्वन्द्वे त्रि” (अष्टा०सू०२-२-३२) इति पूर्वनिपातः । विनरावाचष्टे विनयति प्रविनय्य गतः । “त्यपि लघुपूर्वात्” (अष्टा०सू०६-४-५६) इति णेरयादेशः । यथा चायादेशे कर्त्तव्ये टिलोपो न स्थानिवत्तथा “अचः परस्मिन्” (अष्टा०सू०१-१-५७) इत्यत्र व्युत्पादितम् । यत्तु कं विन्त्रोर्भावो वैन्त्रम् “इगन्ताच्च लघुपूर्वात्” [अष्टा०सू०५-१-१३१] इत्याणिति, तच्चिन्त्यम् ; “द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च” [अष्टा०सू०५-१-१३३] इति वुञ्प्रसङ्गादिति कैयटः । पुरुषसंज्ञा तु परस्मैपदसंज्ञां न बाधते “णलुत्तमो वा” (अष्टा०सू०७-१-९१) इति ज्ञापकात् । अन्यत्रापि यत्र समावेश इष्टस्तत्र चकारादिना स्वस्थाने साधयिष्यते । भाष्ये तु पाठान्तरमप्युपन्यस्तम्—“प्राक्ङारात्परं कार्यम्” इति । अस्यार्थः—प्राक्ङारात्संज्ञाख्यं कार्यं परं स्यादिति । संज्ञाप्रकरणाद्धि संज्ञारूपमेवेह कार्यम् । परासंज्ञेत्येव तु न सूत्रितम् । “विप्रतिषेधे” (अष्टा०सू०१-४-२) इत्युत्तरसूत्रे परङ्कार्यमित्यस्यानुवृत्तिर्यथा स्यात् । तत्र यस्याः संज्ञायाः परस्याः पूर्वयाऽनवकाशया बाधः प्राप्तः सा पराऽनेन विधीयते । एतदेव च ज्ञापकमिह प्रकरणे संज्ञानां बाध्यबाधकभावस्य । तेन परयाऽनवकाशया सावकाशा पूर्वा बाध्यते । द्वयोस्तु सावकाशयोर्विप्रतिषेधे परया पूर्वा बाध्यते इति । अस्मिन्पक्षे अङ्गसंज्ञा परा कर्त्तव्या भपदसंज्ञे तु पूर्वं, एवं यत्र यत्र समावेश इष्टस्तत्र सर्वत्र बाध्यम् । अस्मिन्पक्षे ऋत्विय इति न सिध्यति । तथाहि, “ऋतोरण्” (अष्टा०सू०५-१-१०५) “छन्दसि घस्” (अष्टा०सू०५-१-१०६)



“सिति च” (अष्टा०सू०१-४-१६) इति पदसंज्ञैवेष्टा । तेन तत्र परं कार्य-  
मिति वचनाद्भसञ्ज्ञापि स्यात् । ततश्च “ओर्गुणः” [अष्टा०सू०६-४-  
१४६] प्रसज्येत । पदत्वप्रयुक्तेनावग्रहेण सित्करणं सार्थकं स्यात् ।  
“शेषो बहुव्रीहिः” [अष्टा०सू०२-१-२३] “शेषो व्यसखि” [अष्टा०सू०१-  
४-७] इति शेषग्रहणं चास्मिन्पक्षे कर्तव्यं स्यात् । अन्यथा हि ‘उन्मत्त-  
गङ्गम्’ इत्यादौ “अन्यपदार्थं च सञ्ज्ञायाम्” (अष्टा०सू०२-१-२१) इति  
सत्यामव्ययीभावसञ्ज्ञायां परङ्कार्यमिति वचनाद्बहुव्रीहिसञ्ज्ञाऽपि  
स्यात् । ‘मत्तै’ इत्यत्र नदीसञ्ज्ञापर्याये घिसंज्ञाऽपि स्यात् । ततश्च  
गुणप्रसङ्गः । वस्तुतो बहुव्रीहौ शेषग्रहणं पाठद्वयेऽपि कर्तव्यं, घिसंज्ञा-  
यान्तु पाठद्वयेऽपि न कर्तव्यमिति तत्रैव वक्ष्यामः ।

इदं त्ववधेयम् । एका संज्ञेति पाठेऽपि संज्ञाग्रहणं न कर्तव्यम् । एके-  
त्युक्तेऽपि सञ्ज्ञाधिकारादेव तल्लाभात् ।

स्यादेतत्, “आद्वन्द्वात्” इत्येवोच्यताम् । न हि “चार्थे द्वन्द्वः”  
[अष्टा०सू०२-२-२९] इत्यतः परत्रेदमुपयुज्यते । सत्यम्, तथा सति  
“द्वन्द्वश्च प्राणित्यर्थ” [अष्टा०सू०२-४-२] इत्यस्याप्यवधित्वं सम्भाव्येत ।  
ततश्च सम्बुद्धिसञ्ज्ञामन्त्रितसञ्ज्ञयोः समावेशो न स्यात् । ननु “आ-  
कडारात्” इत्युक्तेऽपि “प्राक्कडारात्समासः” [अष्टा०सू०२-१-३] इत्य-  
स्यावधित्वं कुतो न स्यादिति चेत् ? व्याप्तिन्यायाल्लिङ्गाच्च । यद्यं  
“तत्पुरुषः” (अष्टा०सू०२-१-२२) “द्विगुश्च” [अष्टा०सू०२-१-२३] इत्या-  
भते । समावेशार्थं हि च तत् । वस्तुतस्तु “संख्यापूर्वो द्विगुः” [अष्टा०  
सू०२-१-५२] इत्यत्रैव चकारः पाठ्यः । तावतैव “दिवः कर्म च” [अष्टा०  
सू०१-४-४३] “तत्प्रयोजको हेतुश्च” [अष्टा०सू०१-४-५३] इत्यादाविव  
समावेशलिङ्गेः । “द्विगुश्च” (अष्टा०सू०२-१-२३) इति सूत्रान्तरं तु न  
कर्तव्यमेव । एवं समानाधिकरणसमासप्रकरणं समाप्य “कर्मधार-  
यश्च” इत्येव पाठ्यम् । “तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः” [अष्टा०  
सू०१-२-४२] इति सूत्रं तु मास्त्विति दिक् ।

विप्रतिषेधे परङ्कार्यम् [अष्टा०सू०१-४-२] । विरोधे सति कृत्यर्हं  
यत्परं तत् स्यात् । विप्रतिपूर्वात्सेधतेर्घञ्, “उपसर्गात्सुनोति” (अष्टा०  
सू०८-३-६५) इति षत्वम् । उपसर्गवशाच्च विरोधार्थकत्वम् । ‘कार्यम्’  
इत्यत्र “अर्हं कृत्यतृचश्च” (अष्टा०सू०३-३-१६९) इत्यर्थार्थं कृत्यप्रत्ययः ।  
तेन तुल्यबलविरोध इति पर्यवस्यति । नह्यपवादादीनां सन्निधौ उत्स-  
र्गादीनां कृत्यर्हत्वं, तैर्बाधितत्वात् । तत्र नित्यमावश्यकत्वाद्वाधकम् ।  
अन्तरङ्गन्तु लाघवात् । अपवादस्तु वचनप्रामाण्यात् । तद्विज्ञस्तु प्र-



कृतसूत्रस्य विषयः । तदुक्तम्-“परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरस्य बलवत्त्वम्” [प०भा०३८] इति । जातिपक्षे विध्यर्थं सूत्रम् । वृक्षेषु, वृक्षाभ्याम् इत्यत्र हि लब्धावकाशयोरेत्वदीर्घत्वशास्त्रयोर्वृक्षेभ्य इत्यत्र युगपत्प्रसङ्गे सति गमकाभावादप्रतिपत्तिरेव स्यात् । तदुक्तम्-“अप्रतिपत्तिर्वोभयोस्तुल्यबलत्वात्” इति । तत्रास्माद्वचनात्परस्मिन्कृते यदि पूर्वस्यापि निमित्तमस्ति तर्हि तदपि भवति । यथा ‘भिन्धकि’ इत्यत्र परत्वाद्विभावे कृतेऽप्यकच् । तदुक्तं-“पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्सिद्धम्” (प०भा०३९) इति । व्यक्तिपक्षे तु तद्व्यक्तिविषयकयोर्लक्षणयोरन्यत्र चरितार्थत्वासम्भवाच्चतव्यत्तव्यानीयरामिव पर्याये प्राप्ते नियमार्थमिदं सूत्रम्-विप्रतिषेधे परमेव न तु पूर्वमिति । एतल्लक्षणारम्भाच्च तत्र पूर्वस्यानारम्भोऽनुमीयते । तथाच जुहुतास्त्वमित्यत्र परत्वात्तातडि कृते स्थानिवद्भावेन धित्वं न भवति । तदुक्तं-“सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्वाधितं तद्वाधितमेव” (प०भा०४०) इति । जातिव्यक्तिपक्षयोश्च लक्ष्यानुरोधाद्व्यवस्थेत्युक्तं पस्पशायाम् । नित्यादिषु तु नास्य प्रवृत्तिरित्युक्तम् । तेन रधेर्णिचि “अत उपधायाः” (अष्टा०सू०७-२-११६) इति वृद्धिः परामप्यनित्यां बाधित्वा “रधिजभोः” (अष्टा०सू०७-१-६१) इति नुमेव । न च सोऽपि शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यं पवेति वाच्यम्, कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्रेणापि क्वचिन्नित्यताभ्युपगमात् । तेन ‘रन्धयति’ इति सिद्धम् । तथा ‘अदुद्बुवत्’ इत्यादावन्तरङ्ग उवङ् परमपि लघूपधगुणं बाधते । तथा ‘शुनः’ इत्यत्रान्तरङ्गत्वात् “सम्प्रसारणाच्च” (अष्टा०सू०६-१-१०८) इति पूर्वत्वम् । अलोपे तु सति तस्य स्थानिवत्त्वाद्यण् स्यात् । ‘बहुश्वा नगरी’ इत्यत्र “अन उपधालोपिनः” (अष्टा०सू०४-१-२८) इति ङीप् स्यात् । सिद्धान्ते गौरादिलक्षणो ङीप् तु न, उपसर्जनत्वात् । यस्मिन् हत्यभाष्यं ‘बहुशुनी’ इति, तत्सिद्धान्तेन स्थितम्, अलोपाभ्युपगमपक्षे प्रवृत्तत्वात् । एतच्चेहैव कैयटे आभात्सूत्रीयभाष्यकैयटयोश्च स्पष्टं न्यायसिद्धञ्च । यत्तु “बहुश्चेत्येव भवितव्यम्” इति डाप्सूत्रे भाष्यम्, तदिह साधकतया न ग्राह्यम् । डाप्पक्षमेवोपक्रम्य ‘बहुशूका’ इति रूपं तिरस्कर्तुं तस्य प्रवृत्तत्वात् । ‘वृक्ष इह’ इत्यादौ त्वन्तरङ्गेन गुणेन दीर्घो बाध्यते । न चासौ अपवादः कथं बाध्यतामिति वाच्यम्, समानाश्रये तस्य चरितार्थत्वात् । तथा च वार्त्तिकम्-“इण्डिशीनामाद्गुणः सवर्णदीर्घत्वात्” (का०वा०) इति । इह शीनामिति नदीत्वान्नुट्, विभक्तिपरतया नित्यस्त्रीत्वात् । अत एव “औडः श्याम्” (का०वा०) इति प्रयोगः । उदाहरणन्तु ‘अयजं इन्द्रं, वृक्षे इन्द्रं, सर्वे इह’ इति बोध्यम् । इहान्तरङ्गं



बलवदिति लाघवव्यायमूलकमिति कैयटः । “अचः परस्मिन्” [अष्टा० सू०१-१-५७] इति सूत्रे भाष्यमप्येषम् । “असिद्धं बहिरङ्गम्” (प०भा०५०) इति तु “वाह ऊट्” (अष्टा०सू०६-४-१३२) इत्युद्ग्रहणेन ज्ञापितम् “षत्वतुकोः” [अष्टा०सू०६-१-८६] इत्यनेन तु तदपवादभूतं “नाजानन्तर्ये” (प०भा०५१) इति । तत्र “असिद्धम्” (प०भा०५०) इत्यनया ‘पचावेदम्’ इत्यादौ चित्वाभावार्थमवस्थाश्रयणयिया गतार्थत्वाद् “अन्तरङ्गबलीयः” इति न कर्तव्येतीह त्वं भाष्यं विरुद्धम् । न्यायसिद्धताया उक्तत्वात् । किञ्च सापवादयाऽसिद्धपरिभाषया कथं निरपवादाया गतार्थता ? अथ “षत्वतुकोः” (अष्टा०सू०६-१-८६) इत्यनेन “असिद्धं बहिरङ्गम्” (प०भा०५०) इत्यस्या अनित्यतैव ज्ञाप्यते, लाघवात्; न तु “नाजानन्तर्ये” (प०भा०५१) इति, गौरवात् । तर्हि प्रबलमिदं भाष्यम् । स्फुटीकृतं चेदम् “अचः परस्मिन्” (अष्टा०सू०१-१-५७) इति सूत्रेऽस्माभिः । एवञ्चाचोरानन्तर्यमिति द्वित्वं विवक्षितम् । नचेत्यादयोऽपि प्राचाङ्गलहा मुधैव । एवञ्च “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते” (प०भा०५२) इत्यपि गतार्थम् । “षत्वतुकोः” (अष्टा०सू०६-१-८६) इति वा कृतितुद्ग्रहणेन वाऽनित्यताज्ञापनात् “अद्विमानण्” (अष्टा०सू०४-४-१२६) “इवयुव” (अष्टा०सू०६-४-१३२) इत्यादिनिर्देशाच्च । तेन ‘गोमत्प्रियः’ इत्यादि सिद्धम् । आचारकिपि तवममादिबाधे च क्रमेण प्रत्ययोत्तरपदग्रहणस्य कृतार्थत्वात्तदीयज्ञापकता प्रवादोऽपि यथाश्रुताभिप्रायेणैवेति दिक् ॥

॥ इति श्रीशब्दकौस्तुभे प्रथमस्याध्यायस्य  
चतुर्थे पादे प्रथममह्निकम् ॥

यूत्रयाख्यौ नदी [अष्टा०सू०१-४-३] । इवर्णवर्णान्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः । दीर्घान्तयोरेषा संज्ञा व्यतिष्ठते, अण्वेन सवर्णग्रहणात् । ह्रस्वान्तयोस्तु प्राप्ताप्येषा परया घिसंज्ञया बाध्यते । तेन ‘मते, धेनो’ इत्यादौ “अम्बार्थनद्योः” [अष्टा०सू०७-३-१०७] इति ह्रस्वो न भवति । ननु शेषग्रहणाद् घिसंज्ञा कथं भवेदिति चेत् ? न, शेषग्रहणस्य प्रत्याख्यातत्वात् । तथाहि, एका संज्ञेति पाठे तावच्छेषस्य ग्रहणं व्यर्थमिति स्पष्टमेव । अपरङ्कार्यमिति पाठे तु दीर्घान्ते सावकाशां नदीसंज्ञां पुन्रपुंसकयोः सावकाशा घिसंज्ञा ‘हे मते’ इत्यादौ परत्वाद्वाधिस्यते । ‘मत्थै, धेन्वै’ इत्यादौ तु निरवकाशाऽपि “ङिति ह्रस्वश्च” (अष्टा०सू०१-४-६) इति नदीसंज्ञा घिसंज्ञां न बाधेत । अतः



शेषग्रहणं कृतम् । तदपि वस्तुतो व्यर्थमेव, नदीसंज्ञावचनसामर्थ्यादेव घिसंज्ञाबाधोपपत्तेः । ह्रस्वलक्षणा हि नदीसंज्ञा । सा च प्रत्ययापेक्षत्वाद्बहिरङ्गा । तत्रान्तरङ्गायां घिसंज्ञायां “घेङिति” (अष्टा०सू०७-३-१११) इति च गुणे कृते ह्रस्वाभावान्नदीसंज्ञा निर्विषया स्यात् । तदुक्तम्—  
 “तत्र वचनप्रामाण्यान्नदीसंज्ञायां घिसंज्ञाभावः” इति । यद्वा, ईश्च ऊश्च यू “वा छन्दसि” [अष्टा०सू०६-१-१०७] इति पूर्वसवर्णः । तेन दीर्घयोरेवेयं नदीसंज्ञा । न चैवं “ङिति ह्रस्वश्च” [अष्टा०सू०१-४-६] इति सूत्रे ह्रस्वांशेऽनन्वयः स्यादिति वाच्यम्, विभक्तिविपरिणामेन श्वोः सवर्णो यो ह्रस्व इति व्याख्यानात् । उदाहरणन्तु ‘गौर्यै’ ‘वध्वै’ इत्यादि । यू इति किम् ? मात्रे, स्वस्ते । स्त्रियाख्यौ किम् ? वातप्रभ्ये ।

स्यादेतत् । स्त्रियमाचक्षाते इति विग्रहे स्त्रियाख्यायाविति प्राप्नोति । “आतश्चोपसर्गे” [अष्टा०सू०३-१-१३६] इति कप्रत्ययस्य ‘सुगलः’ इत्यादौ सावकाशस्य परेण कर्मण्यणा बाधितत्वात् । सत्यम्, मूलविभुजादित्वात्कः । यद्वा, विचप्रत्ययो भविष्यति । एतेन “तत्प्रत्ययश्चान्यशास्त्रम्” (जै०सू०१-४-४) इति जैमिनिसूत्रमपि व्याख्यातम् । नन्वेवमपि स्त्रियामित्येवास्तु किमधिकेन ? मैवम्, आसमन्ताच्चक्षाते इति व्युत्पत्त्या नित्यस्त्रीत्वलाभार्थं तदुपादानात् । तेन ‘ग्रामण्ये सेनान्ये स्त्रियै’ इत्यत्र न भवति । ग्रामं सेनाञ्च नयतीति हि क्रियाशब्दावेतौ लिङ्गत्रयसाधारणौ । अत एव ‘आध्यै ब्राह्मण्यै’ इति भाष्योदाहरणं चिन्त्यमिति कैयटः, आध्यानकर्तृत्वस्यापि लिङ्गत्रयसाधारणत्वात् ।

स्यादेतत्, आसमन्ताद्धीर्यस्या इति विग्रहे उत्तरपदस्य नित्यस्त्रीत्वात् नदीत्वमस्तु “प्रथमलिङ्गग्रहणं च” (का०वा०) इति वक्ष्यमाणत्वात् । ‘अतिलक्ष्यै ब्राह्मणाय’ इतिवत् । तत्कुतो भाष्यस्य चिन्त्यतेति चेत् ? न, तथा सति यणो दुर्लभत्वात् । “गतिकारकपूर्वस्येभ्यते” इत्यत्र हि गतिसाहचर्यात्कारकपूर्वस्यापि नित्यसमासस्य ग्रहणम् । गतिसमासश्च प्रतिपदोक्त एव गृह्यते । तेन ‘दुर्धियः’ ‘निर्मियः’ ‘वृश्चिकमिया पलायमानस्य’ इत्यादावनित्यसमासत्वात् यणिति पुरुषोत्तमप्रभृतयः । अत एव “कृन्मेजन्तः” (अष्टा०सू०१-१-३९) इति सूत्रे “मानः समस्यदृक्” इति मन्त्रव्याख्यायां ‘दुर्धियः’ इति कैयटेनेयङ् प्रयुक्तः । अदूरविप्रकर्षेण बहुव्रीहिणेदमप्यर्थकथनम् । व्याख्येयमन्त्रे तु दुष्टं ध्यायतीति विग्रहे नित्यसमास एव बोध्यः । ततो यण् । “दुरो नाशदाश्वमभ्येषु” (का०वा०) इति पृषोदरादिसूत्रस्थवार्तिकेन उत्पद्युत्वे । यच्च तद्वार्तिकव्याख्यावसरे दुष्टं ध्यायतीति विगृह्य “आतश्चोपसर्गे”



(अष्टा०सू०३-१-१३६) इति कप्रत्यय इति कैयटहरदत्तादिभिरुक्तम्, तच्चिन्त्यम् । अन्तस्वरितानुरोधेन अथानुरोधेन च “ख्यत्वात्” (अष्टा० सू०६-१-११२) इतिवत्कृतयणादेशानुकरणतयैव वार्त्तिकस्य व्याख्येत्वात् । “सर्वस्य दुर्वधेः अहंतिरुपद्रवः नोस्मान् मा वधीत्” इति तृती-यचरणस्थेन सहान्वयः । “अमेरतिः” [उ०सू०५०८] इत्यनुवर्तमाने “हन्तेरंहच” [उ०सू०५११] इत्यंहादेशोऽतिश्च प्रत्ययः । अहंतिशब्दस्य-प्रादेशानं निर्घषणमपवर्जनमंहतिः (अ०को०२-७-३०)

इत्यमरकोशादिवलाहाने रुढौ तु प्रद्वेषयुक्तमाभिचारिकाद्यङ्गभूतमेव तदिह ग्राह्यम् । उणादीनामव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणादन्तोदात्तता । “वहिव-स्यतिभ्यश्चित्” (उ०सू०५०९) इति चिद्ग्रहणानुवृत्तेरिति तु तत्त्वम् । एतेन “मानो गर्वः” इति व्याचक्षाणा अपि प्रत्युक्ताः, पदद्वयत्वस्याध्यापकस-म्प्रदायसिद्धत्वात् वाक्यशेषानुगुण्याच्च । तस्माद् “आधयै ब्राह्मण्यै” इति भाष्योदाहरणं चिन्त्यमिति स्थितम् । प्राक्सुवृत्पत्तेर्यत्र समासस्तत्रैव गतिकारकपूर्वस्येष्यत इति यण् प्रवर्त्तत इति वदतां श्रीपतिदत्तादीनाम-पि मते कैयटोक्तं चिन्त्यं दृढमेव । वस्तुतस्तु आध्यानमाधोरिति व्युत्पाद्य-गुणगुणिनोरभेदविवक्षयैव प्रयोगोऽयमिति चिन्त्योद्धारोऽवधेयः । हर-दत्तस्वाह—नित्यस्त्रीत्वं नाम न लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं, किन्तु श-ब्दान्तरसमभिव्याहारं विनैव स्त्रियां वर्त्तमानत्वं तत् । वृत्तिस्वरसो-ऽप्येवम् । कथन्तर्हि ‘ग्रामण्ये’ ‘खलपत्रे’ इत्यादि प्रत्युदाहिषते इति चेत् ? शृणु । क्रियाशब्दत्वेऽप्यनयोः पुंसि मुख्या वृत्तिः । पुंसामेव त्व-यमौत्सर्गिको धर्मः यज्जामनयनं खलपवनं वा । आध्यानं तु स्त्रीपुंस-साधारणमेवेति वैषम्यम् । तस्माद्युक्तमेवेदं भाष्यमिति ।

अत्र वार्त्तिकम्—प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च । प्रयोजनं किञ्चलुक्समासाः । अस्यार्थः—यः पूर्वं स्थाख्यः पश्चादुपसर्जनतया लिङ्गान्तरविशिष्टं द्र-व्यान्तरमाह तस्य नदीसंज्ञा वक्तव्या । किपि कुमारीमिच्छति कुमारी-यति । ततः किप्, अलोपयलोपो, कौ लुप्तस्य स्थानिवत्त्वनिषेधान्न यण् । यद्वा, कुमारयतीति कुमारी, आचारकिञ्चन्तात्कर्त्तरि किप् । कु-मारी ब्राह्मणः । ड्यन्तत्वात्सुलोपः । तस्मै कुमार्यै ब्राह्मणाय ।

स्यादेतत् । इह क्यच्चिकपोः प्रकृतिभूतस्य डीवन्तस्यापि नित्यस्त्री-त्वं दुर्लभं पुंलिङ्गात्क्यच्चिकपोः निर्वृत्तेन त्रिलिङ्गेन समानाकारत्वादिति चेत् ? न, अर्थभेदेन शब्दभेदाश्रयणात् । तत्र प्रथमोदाहृतस्येत्यं रूपा-णि-कुमारीमिच्छन् कुमारीवाचरन् वा ब्राह्मणः कुमारी, ड्यन्तत्वात्सु-लोपः । कुमार्यौ । कुमार्यै । न चह “अनिश्चयात्” (अष्टा०सू०६-४-



७७) इतीयङ्प्रसङ्गः । “परनेकाचः” (अष्टा०सू०६-४-८२) इति यणा वा-  
धितत्वात् । अत एव अमि शसि च कुमार्यं, कुमार्यः; प्रध्यं, प्रध्य इति-  
वत् । न च “गतिकारकपूर्वस्यैव” इति निषेधः शङ्क्यः, तदितरपूर्वस्य  
नेत्यर्थात् विशिष्टाभावस्यापूर्वेषु सत्त्वात् । ऊयि कुमार्यं, कुमार्याः,  
कुमारीणां, कुमार्यां ब्राह्मणे, हे कुमारी ब्राह्मणे इत्यादि । पत्न्यादेस्तु  
संयोगपूर्वकत्वादियङ् । पत्नियौ, पत्नियः इत्यादि । शेषं प्राग्वत् । पुंलि-  
ङ्गाक्यच्चषडोर्निष्पन्नस्य तु अङ्यन्तत्वात्सुलोपो न । कुमारीः । हेकुमारीः  
अनदीत्वाद्भ्रस्वो न । कुमार्यं, कुमार्याः, कुमार्यां ब्राह्मणानां, कुमार्यं  
ब्राह्मणे इत्यादि । कुमारमात्मनमिच्छन्ती ब्राह्मणी कुमारीरित्यत्रापि कै-  
यटमते नित्यस्त्रीत्वाभावात्पुंवदेव रूपम् । हरदत्तमते तु लक्ष्मीवत् ।  
अमि शसि च यण्विशेषः ।

प्रकृतमनुसरामः । “लुम्भनुष्ये” (अष्टा०सू०५-३-२८) इति लुप् ।  
खरकुट्यै ब्राह्मणाय । यद्यप्यत्र युक्तवद्भावात्स्त्रीत्वमस्ति तथापि स्वा-  
श्रयस्य पुंस्त्वस्यापि सत्त्वानित्यस्त्रीत्वं नास्तीति कैयटहरदत्तादयः ।  
तच्चिन्त्यम्, ‘चश्चाः पश्य’ इत्यादौ शसो नत्वापत्तेः । तस्मादलुबन्तैः  
खरकुटीचश्चादिशब्दैः शास्त्रीयस्त्रीत्वविशिष्ट एव लौकिकः पुमानभि-  
धीयते इत्येव तत्त्वम् । एवञ्च लुपः प्रयोजितत्वेन कथं गणनेत्यपि चि-  
न्त्यम् । समासे अतिलक्ष्मीः, बहुश्रेयसी । “ईयसश्च” (अष्टा०सू०५-४-  
१५६) इति कग्निषेधः । “ईयसो बहुव्रीहेर्न” (का०वा०) इत्युपसर्जनह-  
स्वो न । उभयत्रापि सम्बुद्धौ ह्रस्वः डिंसु आडागमादिकञ्च नदी-  
संज्ञाकार्यं बाध्यम् ॥ अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम् ॥ समासे तावदवयवो  
लक्ष्म्यादिशब्दः स्त्रियामेव वर्त्तते इति तदानीमेव संज्ञाः । ततश्च व-  
र्णसंज्ञापक्षे समुदायस्य नद्यन्तत्वात्कार्यसिद्धिः । तदन्तस्य संज्ञेति पक्षे  
तु अङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेति वचनात् । वस्तुतस्तूक्तव-  
चनस्य प्रागेव दूषितत्वात्तदन्तत्वेनैव सिद्धिर्बोध्या । अतितन्त्रीबन्धुरि-  
त्यत्रापि “नदी बन्धुनि” (अष्टा०सू०६-२-१०९) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वं  
सिध्यति,—पूर्वपदस्य नद्या विशेषणात् । किञ्चुपोरपि अन्तरङ्गत्वात्कि-  
बादेः प्रागेव प्रवृत्ता संज्ञा बहिर्ङ्ग लङ्गान्तरयोगेन न निवर्तते त्वक-  
त्पितुकेऽकृज्वत् । “अकृतव्यूहाः” (प०भा०५६) इत्यस्यानित्यताया “अ-  
चः परस्मिन्” (अष्टा०सू०१-१-५७) इति सूत्रे वर्णितत्वात् ।

स्यादेतत् । इयङ्बुवङ्स्थानप्रतिषेधं यणस्थानप्रतिषेधप्रसङ्गोऽवय-  
वस्येयङ्बुवङ्स्थानत्वात् । यथा ह्यवयवस्य स्त्रीविषयत्वात्समुदायस्य  
नदीसंज्ञेत्युक्तम्, तथावयवस्येयङ्बुवङ्स्थानत्वात्समुदायस्य यणस्थान-



स्यापि प्रतिषेधः स्यात् । यथा स्त्रियै आध्वै प्रध्वै ।

अत्राहुः,—इडुवड्भ्यामङ्गमाक्षिप्यते,—अङ्गाधिकारे तयोर्विधानात् । तेन यस्याङ्गस्येयडुवडो निर्वर्तते तस्य नदीसंज्ञानिषेधः । ‘आध्वै’ इत्यत्र तु अवयवस्याङ्गत्वं नास्ति अङ्गस्य तु “एरनेकाचः” (अष्टा०सू०६-४-८२) इति यपिविधानादियडुवडः स्थानता नास्तीति निषेधाभावः । एतदर्थमेव च तत्र स्थानग्रहणम्, इयडुवडोर्यदा स्थितिस्तदा प्रतिषेधो यथा स्यात्, यदा त्वपवादेन बाधस्तदा मा भूदिति । एवं “ङिति ह्रस्वश्च” (अष्टा०सू०१-४-६) इत्यत्राप्यङ्गस्याक्षेपात्सोऽपि विधिरङ्गस्यैव स्त्रीत्वे भवति, नावयवस्य । शक्ये, अतिशकटये ब्राह्मणाय । श्रिये, अतिश्रिये ब्राह्मणाय । इह तु स्यादेव—अतिश्रिये अतिश्रिये वा ब्राह्मण्ये इति स्थितं भाष्ये । न चेह नित्यस्त्रीत्वं नास्तीति वाच्यम्, हरदत्तमते तत्सत्त्वात् । कैयटमते तु “ङिति ह्रस्वश्च” (अष्टा०सू०१-४-६) इत्यत्र स्त्रीग्रहणमात्रमनुवर्त्तते, न त्वाख्याग्रहणम् । एवञ्च सुधीशब्देऽपि रूपद्वयं निर्विवादम् । सुध्यादयः पुंवदिति प्रक्रिया तु प्रामादिक्येव । अतिलक्ष्म्यतिचम्बोर्वातप्रमीहूहूभ्यां साम्योक्तिरप्येवम् । तथा ‘स्वयंभूः पुंवद्’ इत्यपि प्रमाद एव ।

स्यादेतत्, ‘निष्कौशाम्बिः पुमान्’ इत्यत्रापि अन्तरङ्गतया नदीसंज्ञा स्यादतिलक्ष्म्यादौ यथा । सत्यम्, सत्यामपि तस्यां न कश्चिद्रूपे दोषः । न च सम्बुद्धिह्रस्वादिप्रसङ्गः, ह्रस्वादेशेन नद्या अपहारात् । वर्णस्य नदीत्वात् । स्त्र्याख्यत्वं तु तस्य शक्त्याश्रयतामात्रेण बोध्यम् । पर्याप्तयधिकरणताया अविवक्षितत्वात् । तदन्तस्य नदीसंज्ञेति पक्षेऽपि एकदेशविकारानभ्युपगमेन सर्वादेशस्यैव वक्तव्यत्वात् । न च स्थानिवद्भावः, अलिविधित्वात् । ‘प्रपठ्य’ इत्यत्रेडभावार्थं विशेषणतयाऽप्यलाश्रयणे निषेधस्य सिद्धान्तितत्वादिति दिक् । निष्कौशाम्ब्ये निष्कौशाम्ब्ये ब्राह्मण्ये इत्यत्र तु “ङिति ह्रस्वश्च” [अष्टा०सू०१-४-६] इति विकल्पो भवत्येवेति दिक् ।

नेयडुवड्स्थानावस्त्री (अष्टा०सू०१-४-४) । इयडुवडोः स्थितिः स्थानं निरपवादा प्रसक्तिर्यत्र तावीदूतौ नदीसंज्ञौ स्तः स्त्रीशब्दं विना । हे श्रीः । हे भूः । अस्त्रीति किम् ? हे स्त्रि । कथं तर्हि “विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे” इति कालिदासः । “हापितः क्वासि हे सुभ्रु” इति भट्टिश्च । “एकवंशप्रभवभ्रुव” इति श्रीहर्षश्च । प्रमाद एवायमिति हरदत्तः । “सामान्ये नपुंसकम्” (का० वा०) इति वा कथाञ्चि त्समाधेयम् । केचित्तु तदो दावचनेन “सकृद्वद्वन्मनित्यम्”



इति परिभाषाज्ञापनमाश्रित्यानित्योऽयं प्रतिषेध इति समादधुः । किं-  
न्त्वेतत्सकलप्रमादेषु सुवचम् । तदोदावचनप्रत्याख्यानपरभाष्यादिवि-  
रुद्धञ्च । अन्ये तु “वामि” [अष्टा०सू०१-४-५] इत्यतो वाग्रहणस्य  
सिंहावलोकितन्यायेनानुवृत्तस्य व्यवस्थितविभाषापरत्वेनेष्टसिद्धिमाहुः ।  
नदपि न, सिंहावलोकितन्यायस्येहाभिमतत्वे नञग्रहणस्य “वामि”  
(अष्टा०सू०१-४-५) इत्युत्तरसूत्रस्य च वैयर्थ्यापत्तेः । यत्तुक्तं दुर्घट-  
वृत्तौ भ्रूशब्दाद् “अप्राणिजातेश्च” (का०वा०) इत्यूङि समासे उपसर्ज-  
नह्रस्वत्वे च कृते “ऊङुतः” (अष्टा०सू०४-१-६६) इत्यूङि तस्य समुदा-  
यभक्तत्वाश्लोवङ्स्थानत्वमिति । तदतिस्थवीयः, प्रत्ययस्य भक्तताया  
निष्प्रमाणकत्वात् । तत्स्थानिकस्यैकादेशस्यान्तवद्भावेन भ्रूशब्दावय-  
वताया अनपायात्, अङ्गाधिकारे तदुत्तरपदग्रहणस्य निर्विवादतया  
समुदायभक्तेऽप्युवङ्प्रवृत्तेश्च । ‘सुभ्रवौ’ इत्यादिरूपाणां सर्वसम्मत-  
त्वाच्चेति दिक् ।

वामि (अष्टा०सू०१-४-५) । इयङुवङ्स्थानौ वा नदीसंज्ञौ स्तः  
स्त्रियामामि । श्रियाम्, श्रियाम् । भ्रूणाम्, भ्रूवाम् । द्वितीयैकवचनं  
तु नेह सूत्रे गृह्यते, तत्र नदीकार्याभावात् । अस्त्रीत्येव । स्त्रीणाम् । इह  
“वाचि ह्रस्वश्च” इत्येव कुतो न कृतम् । एवं हि द्वितीति न कर्तव्यमिति  
चिन्त्यम् । वस्तुतस्तु सन्निपातपरिभाषया ‘भ्रूणाम्’ इति नुद् न स्था-  
दत आसीत्युक्तम् । परिभाषा चेयमननैव ज्ञाप्यते इति ध्येयम् ।

द्वितीति ह्रस्वश्च (अष्टा०सू०१-४-६) । इयङुवङ्स्थानौ ह्रस्वौ च  
यू वा नदीसंज्ञौ स्तः स्त्रियां द्वितीति परे । श्रियै, श्रिये, भ्रूवै, भ्रूवे, कृत्यै,  
कृतये, धेन्वै, धेनवे । अस्त्रीत्येव । स्त्रियै । स्त्रीलिङ्गाविति किम् ? अग्नये,  
वायवे । इह प्रथमलिङ्गग्रहणं नास्ति । तेन निष्कौशास्मिर्हरिवदित्यु-  
क्तम् । स्त्रियमतिक्रान्तोऽतिस्त्रिरित्यत्र तु विशेषः । अतिस्त्रियौ, “स्त्रियाः”  
(अष्टा०सू०६-४-७९) इतीयङ् । अयं हि गौणत्वेऽपि भवति । किन्तु—

गुणनाभावौत्वनुङ्भिः परत्वात्पुंसि बाध्यते ।

क्रीवे नुमा च स्त्रीशब्दस्येयङित्यवधार्यताम् ॥

“जसि च” (अष्टा०सू० ७-३-११९) इति गुणः—अतिस्त्रियः । “वाम्-  
शसोः” (अष्टा०सू०६-४-८०) अतिस्त्रियम्, अतिस्त्रीम् । अतिस्त्रियौ ।  
अतिस्त्रियः, अतिस्त्रीन् । “आङो नाऽस्त्रियाम्” (अष्टा०सू०७-३-१२०)  
अतिस्त्रिणा । अतिस्त्रिभ्याम् । “घेङिति” (अष्टा०सू०७-३-१११) इति गुणः—  
अतिस्त्रिये, अतिस्त्रिः । अतिस्त्रियोः । “ह्रस्वनद्यापः” [अष्टा०सू०७-१-५४]  
इति नुद् अतिस्त्रीणाम् । “अच्च घेः” [अष्टा०सू०७-३-११९] अतिस्त्री ।



सङ्ग्रहश्च—

औकारे ओसि नित्यं स्यादमृशसोस्तु विभाषया ।

इयादेशोऽचि नान्यत्र स्त्रियाः [१] स्यादुपसर्जने ॥

एवं क्लीबे जुमा इयङ् बाध्यते । तेन 'अतिस्त्रि, अतिस्त्रिणी' इत्यादि वारिवत् । स्त्रियान्तु "ङिति ह्रस्वश्च" (अष्टा०सू०१-४-६) इति ह्रस्वान्त-त्वप्रयुक्तो नदीसञ्ज्ञाविकल्पः । अस्तीति तु इयङुवङ्स्थानावित्यस्यैव विशेषणम्, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः । न चेहावृत्त्योऽन्यविशेषणता, प्रमाणाभावात् । तेन अतिस्त्रियै, अतिस्त्रिये । "औत्" (अष्टा०सू०७-३-१२८) इति बाधित्वा "इदुङ्गयाम्" (अष्टा०सू०७-३-११७) इति डेराम्-अतिस्त्रियाम् । पक्षे "अच्चघेः" (अष्टा०सू०७-३-११९) अतिस्त्रौ ।

शेषो घ्यसखि [अष्टा०सू०१-४-७] । ह्रस्वौ यौ यू तदन्तं सखिभिन्न-मनदीसंज्ञं घिसंज्ञं स्यात् । हरये, भानवे । ह्रस्वौ किम् ? ग्रामण्ये, खलपत्रे । यू किम् ? मात्रे । असखि किम् ? सख्ये । शेषः किम् ? मत्तये । शेषग्रहणं व्यर्थमिति नदीसञ्ज्ञासूत्रे एवोक्तम् । समासे तु सुसखेरागच्छतीत्यादौ घिसञ्ज्ञा भवत्येव, समुदायस्य सखिशब्दाद्भन्नत्वात् । तदन्तग्रहणं तु नास्ति, विशेष्यसम्बन्धाभावात् । यत्तु "ग्रहणवता" (प०भा०३१) इत्यादि हरदत्तेनोपन्यस्तं ख्यत्यात्सूत्रे च कैयटेन । तत्पूर्वापरविरुद्धमिति "येन विधिः" (अष्टा०सू०१-१-७२) इति सूत्रे व्युत्पादितम् । न चैवं "य-स्येति च" [अष्टा०सू०६-४-१४८] इति सूत्रे इवर्णस्य ईति सखीत्युदाहरणं न युज्यते, सखिशब्दात् "सख्याशस्वीतिभाषायाम्" [का०वा०] इति ङोषि सति लोपे सवर्णदीर्घे वा विशेषाभावात् । यत्तु तत्र भाष्ये वृत्तौ चोक्तम्—असति लोपेऽतिसखेरागच्छतीत्यत्र सवर्णदीर्घस्य पूर्वं प्रत्यन्त-वङ्गावादसखीति घिसंज्ञाप्रतिषेधः स्यादिति, तदसखीति प्रसज्यप्रतिषेधमाश्रित्येति कैयटादौ स्पष्टम् । अत एवापाततः पर्युदासस्यैवेह स्थितत्वात् । अन्यथा वाक्यभेदादसमर्थसमासात् । 'सुसखेः' इत्याद्य-सिद्धापत्तेश्च । तस्मादीति लोपे फलं दुर्लभमिति चेत् ? अत्रोच्यते, सखी, सख्यौ, सख्यः इत्यादावनङ्गाणत्वे माभूनामिति इलोप एषितव्यः । न च सिद्धान्तेऽपि प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टग्रहणाद्दोषतादवस्थ्यम्, विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणात् । एतेन इकारलोपस्य तद्धिते एवोदाहरणं न त्वीति परत इति वदन् हरदत्तोऽपास्तः ।

पतिः समाल एव (अष्टा०सू०१-४-८) । पतिशब्दः समास एव घिसञ्ज्ञः स्यात् । भूपतये । नेह-पत्या, पत्ये । विपरीतनियमं वारयितु-

[१] 'पुंस्युपसर्जने' कचित् ।



मेवकारः । दृढमुष्टिना ।

स्यादेतत्, “शपोऽयसखिपती” इत्येवास्तु । समस्तस्य तु पूर्वो-  
क्तरित्या सिद्धम् । न चोत्तरसूत्रे सख्युरपि सम्बन्धापत्तिः, बाधकाभा-  
वात् । इष्टरूपस्य तावतापि सिद्धः । द्वितीयस्य तु साधारण्ये छन्दस्य-  
पठितस्यानापाद्यत्वात् । न चैवमुत्तरसूत्रे षष्ठीयुक्तग्रहो व्यर्थः स्यादिति  
वाच्यम्, इष्टापत्तेः । एवमेव हि “श्रीग्रामण्योच्छन्दसि” (अष्टा०सू०७-  
१-५६) इति श्रीग्रहणं “नित्यं मन्त्रे” [अष्टा०सू०६-१-२१०] इत्यादीनि  
च प्रत्याख्यातानि । “सम्बुद्धौ शाकल्यस्य” [अष्टा०सू०१-१-१६] इत्यत्रा  
नार्षग्रहणमप्येवम् । सत्यम् । यथा सखिगृहे गृहसखायावित्यत्र पूर्व-  
निपातानियमस्तथा पतिगृहे इत्यत्र मा भूत् । इह हि घित्वात्पूर्वनिपात  
एव । बहुचपूर्वस्य तु सुसखिन्यायेन घित्वाद् ‘बहुपतिना’ इत्यादि बोध्य-  
म् । अथ कथं “सखिना वानरेन्द्रेण”

“पतिना नीयमानायाः पुरः शुक्रो न दुष्यति” ।

“नष्टे मृते प्रव्रजिते लकीवे च पतिते पतौ” ।

इत्यादि ? अत्र हरदत्तः, छन्दोवद्वयः कुर्वन्तीति । अस्यायमाश-  
यः-असाधव एवैते त्रिशङ्काद्ययान्ययाजनादिवत्तपोमाहात्म्यशालिनां  
मुनीनामसाधुप्रयोगोऽपि नातीव बाधते । अस्मदादीन्प्रति तु स्मृति-  
पुराणाद्यध्ययनविधिबलादेव तदन्तर्गततत्पाठो न बाधकः । तथाच  
स्वातन्त्र्येणेदृशं प्रयुज्जाना अस्मदादयः प्रत्यवयवन्त्येवेति नदीसंज्ञासूत्रे  
भाष्यकैयटयोरपि स्थितमिदम् । यद्वा, सखेत्याख्यातः सखिः, पतिरि-  
त्याख्यातः पतिः, तेन सखिना, पतिना । आख्यातण्यन्तात्कर्मणि “अच  
इः” (उ०सू०५८८) इत्यौणादिक इप्रत्ययः । लाक्षणिकत्वाच्चैतयोर्यसंज्ञा-  
पर्युदासे ग्रहणं नास्तीति दिक् । एतेन—

अर्जुनस्य सखा कृष्णः कृष्णस्य सखिरर्जुनः ।

इत्यपि व्याख्यातम् । कथं “वचो वाचस्पतेरपि” इति माघः । न  
ह्ययं समासः, अलुग्विधायकादर्शनादिति । सत्यम्, “तत्पुरुषे कृति”  
(अष्टा०सू०६-३-१४) इति बहुलग्रहणादलुक् । एतेन दिवस्पतिवास्तो  
ष्पती व्याख्यातौ । “षष्ठ्याः पति” (अष्टा०सू०१-४-८) इत्यादिना सत्वम् ।  
ये तु तत्र छन्दसीत्यनुवर्तयन्ति “श्रियः पतिः” (शि०१-१) इत्यादिसि-  
द्धये तन्मते पारस्करादित्वात्सुट् । केचित्तु “द्यावापृथिवीशुनासीरमरु-  
त्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छच” (अष्टा०सू०४-२-३२) इति सा-  
मान्यापेक्षज्ञापकात् षष्ठ्या अलुक् । कस्कादित्वात्सत्वम् । इणः परस्य  
तु षत्वमित्याहुः ।



पदकारास्तु वाचस्पतिं विश्वकर्माणम् , वास्तोष्पते प्रतीत्यादौ पृथक् पदमधीयते ।

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा (अष्टा०सू०१-४-९) । षष्ठ्यन्तेन युक्तः पति-  
शब्दश्छन्दसि घिसंज्ञो वा स्यात् । क्षेत्रस्य पतिना वयम् । इह योगो  
विभज्यते । षष्ठीयुक्तश्छन्दसीति । ततो वा । छन्दसीत्येव । सर्वे वि-  
ध्यश्छन्दसि विकल्प्यन्ते इत्यर्थः । “बहुलश्छन्दसि” इत्यादिकस्त्व-  
स्यैव प्रपञ्चः ।

ह्रस्वं लघु (अष्टा०सू०१-४-१०) । ह्रस्वं लघुसंज्ञं स्यात् । लघूपधगु-  
णः-चेतति । न च ह्रस्वप्रदेशेष्वपि लघुसंज्ञयैव व्यवहारः सुकरः ‘सर्पि-  
ष्ट्वम्’ इत्यादौ “ह्रस्वात्तादौ तद्धिते” (अष्टा०सू०८-३-१०१) इति षत्वा-  
सिद्धिप्रसङ्गात् । गुरुसंज्ञया तत्र लघुसंज्ञाया बाधात् । तस्मादेकसंज्ञा-  
धिकाराद्बहिर्ह्रस्वसंज्ञाप्रणयनं सम्यगेव कृतम् । यद्येवंतर्हि दीर्घप्लुत-  
संज्ञायाः समावेशमाशङ्क्य एकसंज्ञाधिकारेऽयं योगः करिष्यते इति  
भाष्यं विरुध्यते, गुरुसंज्ञाया लघुसंज्ञाया इव गुरुलघुसंज्ञाभ्यां ह्रस्वसं-  
ज्ञाया बाधप्रसङ्गात् । न च निरवकाशता, लघुसंज्ञाप्रवृत्त्युपायतामात्रेण  
सार्थक्यात् । यथा पदं सङ्गं भवतीति व्याख्यायां पदसंज्ञायाः । सत्य-  
म्, चकारादिना समावेशः कर्तव्य इत्याशयः । एतदपरितोषादेव वा  
तत्र पक्षान्तराण्युक्तानीति दिक् ।

संयोगे गुरु (अष्टा०सू०१-४-११) । ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात्संयोगे परे ।  
शिक्षा, भिक्षा । “गुरोश्च हलः” (अष्टा०सू०३-३-१०३) इत्यकारप्रत्ययः ।

दीर्घश्च (अष्टा०सू०१-४-१२) । दीर्घं गुरुसंज्ञं स्यात् । ईहाञ्चके ।

यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (अष्टा०सू०१-४-१३) । प्रत्ययो  
यस्माद्विहितस्तदादिशब्दः प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात् । रामेण । विधिरिति  
किम् ? स्त्री ईयती । न चेह वतुपः स्त्रीशब्दादविधानेऽपि स विधिर-  
स्येवेति वाच्यम् , सन्निधानबलेन यस्माद्यः प्रत्ययो विहितस्तस्मि-  
न्तोऽङ्गमिति व्याख्यानात् । तदादि किम् ? वदामि, वदिष्यामि । “अ-  
तो दीर्घो यञि” (अष्टा०सू०७-३-१०१) इति दीर्घः । न चायमारम्भसा-  
मर्थ्यादेव भविष्यतीति वाच्यम् , “यय गतौ” “चय गतौ” (भा०आ०  
४७८) आभ्यां यङ्लुकि यायामि, यायावः, यायामः, चाचामि, चाचावः,  
चाचामः इत्यादौ चरितार्थत्वात् । प्रत्यये किम् ! प्रत्ययविशिष्टस्य तते-  
प्यधिकस्य वा मा भूत् । एवं हि ‘वन्नश्च’ इत्युरदत्वस्य परनिमित्तत्वं न  
लभ्यते । तथाच “अचःपरस्मिन्” (अष्टा०सू०१-१-५७) इति स्थानिवत्त्वा-  
भावाद्भकारस्य सम्प्रसारणप्रसङ्गः । न च प्रथमसूत्रेण स्थानिवद्भावः,



अल्विधित्वात् । अत एव हि सत्यपि प्रथमालिङ्गग्रहणे निष्कौशाभ्यादौ नदीकार्यं नेत्युक्तम् ।

इह “प्रकृत्यादिप्रत्ययेऽङ्गम्” इत्येव लाघवाद्भक्तुं युक्तम् । प्रकृति-  
मात्रस्य तु व्यपदेशिवद्भावात्सिद्धम् । योगविभागेन परिभाषार्थलाभार्थं  
तथोक्तमिति तत्त्वम् । कर्ता, कारकः । इह योगो विभज्यते । यस्मा-  
त्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्यये इति । परिभाषेयम् । प्रत्यये गृह्यमाणे य-  
स्मात्तस्य विधिस्तदादि गृह्यते इत्यर्थः । तेन “जित्यादिः” (अष्टा०सू०  
६-१-१९७) इत्यादौ यत्र प्रत्ययः सप्तम्या निर्दिश्यते तत्र तदादेशग्रह-  
णम् । तेन ‘देवदत्तो गार्ग्यः’ इति सङ्ज्ञातस्य अस्त्वरो न भवति । “सु-  
प आत्मनः क्यच्” (अष्टा०सू०३-१-८) इत्यत्राप्यनेन तदादिनियमः ।  
तत्र सुपा कर्मणस्तदादेर्वा विशेषणात्तदन्तविधिः । तेन ‘महान्तं पुत्रम्’  
इत्यादावतिप्रसङ्गो न । सति हि वाक्यात्क्यचि ‘महत्पुत्रायति’ इति  
स्यात् । तथा ‘देवदत्तश्चिकीर्षति’ इति सङ्ज्ञातस्य धातुसंज्ञा न, ‘देवदत्तो  
गार्ग्यः’ इति सङ्ज्ञातस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न, ‘देवदत्तो गार्ग्यायणः’ इति  
सङ्ज्ञानात्फङ् नेति दिक् ।

अस्यापवादः “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” (पा०भा०  
२८) इति । इह च “गतिरनन्तरः” (अष्टा०सू०६-२-४९) इत्यनन्तरग्रहणं  
ज्ञापकम् । तद्धि अभ्युद्धतशब्दे उच्छब्दव्यवहितस्याभिशब्दस्य प्रकृ-  
तिस्वरनिवृत्त्यर्थम् । न च परत्वाद् “गतिर्गतौ” (अष्टा०सू०८-१-७०)  
इति निघाते कृतं उदात्तग्रहणानुवृत्त्या विधीयमानः पूर्वपदप्रकृतिस्वरो न  
भविष्यतीति वाच्यम्, अपादादावित्यधिकारात्पादादौ निघाताप्रवृ-  
त्तेः । तदादिनियमे तु हृतशब्दस्य कान्तत्वेऽप्युद्धृतशब्दस्याक्तान्तत्वा-  
त्प्राप्तिरेव नेति किमनन्तरग्रहणेन ? प्रयोजनन्तु समासतद्धितस्वराः ।  
तथाहि, ‘अवतप्तेनकुलस्थितम्’ इत्यत्र “क्तेन” इत्यनुवर्त्तमाने “क्षेपे”  
(अष्टा०सू०२-१-४७) इति समासः । “तत्पुरुषे कृति” (अष्टा०सू०६-  
३-१४) इत्यलुक् । ‘सांकृष्टिनम्’ इत्यत्र “आणिनुणः” (अष्टा०सू०५-४-  
१५) इति सोपसर्गादण् । अत एव वादिवृद्धिरुपसर्गांशे पर्यवस्यति ।  
‘व्यावक्रोशी’ इत्यत्र “कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्” (अष्टा०सू०३-३-४३)  
इति णच् । ततो “णचः स्त्रियाम्” (अष्टा०सू०५-४-१४) इत्यञ् । “न क-  
र्मव्यतिहारः” [अष्टा०सू०७-३-६] इत्यैजागमानिषेधः । ‘दूरादागतः’ इत्यत्र  
याथादिस्वरान्तोदात्तत्वम् । ननु परिभाषां विनाऽपि “समासस्य”  
(अष्टा०सू०६-१-२२३) इत्यन्तोदात्तो भविष्यतीति चेत् ? मैवम्, आग-  
म्यते स्मेति हि कर्मणि क्तः । तथाच समासस्वरं बाधित्वा “गतिरन-



न्तरः” (अष्टा०सू०६-२-४९) इति मध्योदात्तं स्यात् । सत्यां तु परिभाषायां “थाथघञ्” (अष्टा०सू०६-२-१४४) इत्यनेन कृत्स्वरापवादगतिस्वरं बाधित्वा परत्वादन्तोदात्तत्वं भवति । ननु थाथादिस्वरस्याप्यपवादो गतिस्वरः । सत्यम्, गतेरुत्तरस्य कान्तस्य यदन्तोदात्तत्वं तस्यैवासावपवादः । कारकादुत्तरस्य तु थाथादिस्वर एव भवतीति वक्ष्यते । नन्वस्तु गतिस्वरेणाद्युदात्त आगतशब्दः । ततो दूरशब्दस्य “स्तोकान्तिक” [अष्टा०सू०२-१-३९] इति समासः । “पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः” (अष्टा०सू०६-३-२) इत्यलुक् । ततः सतिशिष्टत्वात्समासान्तोदात्त एव भविष्यति । सत्यम्, अन्यार्थं कृतया परिभाषया कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्ते आगतशब्दे प्राप्ते सगतेरपि कान्तत्वात्स्थानान्तरप्राप्तत्वाद्वृत्तिस्वरस्य बाधकस्यापि बाधेन थाथादिस्वरो भवतीत्येवाभिप्रेतं न तु स्वर एवानन्यथासिद्धं परिभाषादाहरणम् । तथाच परिभाषा प्रातिपदिकसंज्ञायां न प्रवर्तते,—मध्येपवादन्त्यायेन कृद्ग्रहणस्याप्रत्यय इति निषेधमात्रबाधकत्वात् । समासेतरपदसंज्ञकपूर्वभागघटितः संज्ञातो न प्रातिपदिकमिति निषेधस्तु परत्वादबाधक एव । तेन ‘मूलकेनोपदंशम्’ इत्यत्र न सुपो लुक् । न च समासविकल्पसामर्थ्यम्, “न समास” (का०वा०) इति शाकलनिषेधाप्रवृत्त्या दध्युपदंशदौ तत्सार्थक्यसम्भवात् । एतच्च “पुंयोगादाख्यायाम्” (अष्टा०सू०४-१-४८) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टमिति दिक् । “व्यङ्ः सम्प्रसारणम्” (अष्टा०सू०६-१-१३) इति सूत्रे भाष्ये तदादिनियमस्यापवादान्तरं पठितम् “स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने तदादिनियमो न” इति । एतच्च वाचनिकमेवेति सर्वादिसूत्रे व्याख्यातम् । यद्वा, इह “नेयकुवङ्स्थानौ” (अष्टा०सू०१-४-४) इत्यतोऽस्त्रीत्यनुवर्तते । तच्च यद्यपि तत्र स्वरूपपदार्थकं तथापीहार्थपरं सम्पद्यते । प्रत्ययग्रहणे तदादि ग्राह्यं, स्त्री चेन्नाभिधीयते इत्यर्थः । तेन स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमो नास्तीति फलितम् । न चैवम् ‘अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः’ इत्यत्र सम्प्रसारणप्रसङ्गः, अस्त्रीत्यनेन प्रधानस्त्रियामेव प्रतिषेधात् । “गौणमुख्ययोः” इति न्यायात् । तेन यावान् शब्दः स्त्रियं प्राधान्येनाह तावान् स्त्रीप्रत्ययान्तः न तु ततोऽधिकोऽपीति स्थितम् ।

सुप्तिङन्तं पदम् (अष्टा०सू०१-४-१४) । सुबन्तं तिङन्तञ्च पदसंज्ञं स्यात् । ब्राह्मणा ऊचुः । अन्तग्रहणमन्यत्र “संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति” (प०भा०२७) इति ज्ञापनार्थम् । गौरब्राह्मणितरा । घसंज्ञायां तरबन्तग्रहणे हि सति गौरीशब्दस्य “पुंवत्कर्मधारय”



(अष्टा०सू० ८-३-४२) इति पुंवद्भावं वाधित्वा पुंवद्भावाद् ह्रस्वत्वं "खि-  
द् घादिकेषु" इति ऋह्रस्वः स्यात् पठ्वितरेतिवत् । ब्राह्मणीशब्दस्य ह-  
स्वो न स्यात् । कथं तर्हि प्रातिपदिकसंज्ञायां कृत्तद्धितशब्दाभ्यां तद-  
न्तग्रहणमिति चेत् ? अत्र भाष्यकाराः-अर्थवद्ग्रहणं तत्रानुवर्तते । त-  
त्सामर्थ्यात्तदन्तग्रहणमिति ।

स्यादेतत् ; यद्यर्थवत्ता पारमार्थिकी विवक्ष्यते, तर्हि सा पदस्य  
वाक्यस्य वाऽस्ति, न तु कृत्तद्धितान्तस्य । तथाचार्थवत्सूत्रे वार्त्तिकम्-  
"अर्थवता नोपपद्यते केवलेनावचनादिति । अथ सिद्धं त्वन्वयव्यतिरे-  
काभ्यामिति" । तत्रत्योत्तरवार्त्तिकानुरोधेन प्रक्रियादशायां कल्पिता  
सा विवक्ष्यते, तर्हि कृत्तद्धितयोरपि सास्तीति चेत् ? सत्यम्, अत  
एवार्थवद्ग्रहणसामर्थ्यमुक्तम् । प्रत्ययान्तेन त्वेकार्थीभूतेन प्रतीयमानो-  
ऽर्थ इह गृह्यते, तस्य लौकिकार्थं प्रति प्रत्यासन्नतरत्वात् । मतुपः प्रा-  
शस्यपरतया तस्यैव ग्रहणात् । अत एव च तदुपादानं सार्थकम् ।  
पूर्वसूत्रे ऽधातुरिति पर्युदांसबलेनापि तल्लभसम्भवात् ।

नः कये (अष्टा०सू० १-४-१५) । कयचि कयङि कयषि च नान्तमेव  
पदसंज्ञं स्यात् । कयच्-राजीयति । कयङ्-राजायते । कयष्-चर्मा-  
यति, चर्मायते । सामान्यग्रहणार्थं कयषः ककार इति वदतो वृत्तिका-  
रस्य मतेनेदमुदाहृतम् । भाष्ये तु कयषः ककारस्य प्रत्याख्यानार्थकयच्-  
कयङोरेवेह ग्रहणम् । चर्मायतीति रूपं चासाधु, कयङन्ततया नित्यमा-  
त्मनेपदाभ्युपगमात् । तथा च वक्ष्यते-"लोहितडाङ्गभ्यः कयष्वचनं  
भृशादिष्वितराणि" (का०वा०) इति । एतच्च तृतीयएव स्फुटीकरि-  
ष्यामः । नान्तमेवेति किम् ? वाच्यति, स्मृच्यति, तपस्यति । ननु कय  
एव नान्तमिति विपरीतो नियमः कुतो नेति चेत् ? न, ङिसम्बुद्धोरिति  
ज्ञापकात् नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति ज्ञापकाच्च । अन्यथा हि "न-  
लोपः कये" इत्येव सूत्रयेत् ।

सिति च (अष्टा०सू० १-४-१६) । सिति प्रत्यये परे पूर्वं पदसंज्ञं  
स्यात् । भसंज्ञापवादः । "भवतष्टकञ्सौ" (अष्टा०सू० ४-२-११५) भव-  
दीयः "ऋतोरण्" (अष्टा०सू० ५-१-१०५) "छन्दसि घस्" (अष्टा०सू० ५-  
१-१०६) ऋतुः प्राप्तेऽस्य ऋत्वियः ।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (अष्टा०सू० १-४-१७) । कप्रत्ययावधिषु  
स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदसंज्ञं स्यात् । राजभ्यां, राजभिः । रा-  
जत्वं, राजता । सर्वनामस्थाने तु राजानौ, राजानः । भुवद्भ्यो, धार-  
यद्भ्यः इति पदसंज्ञाया उपसङ्ख्यानम् । "तसौ मत्वर्थे" (अष्टा०सू०



१-४-१९) इति भसंज्ञाया अपवादः । व्यत्ययेन भवतेः शपो लुक् ।

यच्च भम् (अष्टा०सू०१-४-१८) । यकारादिष्वजादिषु च स्वादिष्व-  
सर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं भसञ्ज्ञं स्यात् । गार्ग्यः, राज्ञः । वाचिकष-  
डिकयोस्तु यथा भत्वाभत्वे निर्वहतस्तथा पञ्चमे वक्ष्यते । नभोज्झिरो-  
मनुषां वत्युपसंख्यानम् ( का० वा० ) । नभसा तुल्यं वर्तते । इति  
नभस्वत्, भत्वादुत्वाभावः । मनुष्वदग्ने । “अङ्गिरस्वदङ्गिरः” ।  
“जनेरुसिः” (उ०सू०२८०) इत्यत्र बहुलग्रहणानुवृत्तेर्मन्यतेरुपिप्रत्य-  
यः “आदेशप्रत्यययोः” (अष्टा०सू०८-३-५९) इति षत्वम् । “वृषण्व-  
स्वश्वयोः” ( का० वा० ) वृषं वर्षुकं वसु यस्य सः वृषण्वसुः ।  
एवं वृषण्वः । कर्मधारये षष्ठीतत्पुरुषादिर्वा यथासम्भवं बोध्यः ।  
इहान्तवर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वे सति नलोपः प्रसज्येत । भत्वात्तु  
न पदत्वम् । अत एव “पदान्तस्य” [अष्टा०सू०८-४-३७] इति णत्वनि-  
षेधो न । “अल्लोपोनः” (अष्टा०सू०६०४-१३४) इति तु न भवति अङ्ग-  
सञ्ज्ञाया अभावात् । अङ्गस्येति तत्राधिकारात् । उपसंख्यानान्येतानि  
छन्दोविषयाणीति कैयटः ।

तसौ मत्वर्थे (अष्टा०सू०१-४-१९) । तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्व-  
र्थे प्रत्यये परे । विद्युत्वान् । भत्वाज्ज्ञत्वं न । उदकेन इवयति वर्धते उद-  
द्वित् । किप् “उदद्वितोऽन्यतरस्याम्” (अष्टा०सू०४-२-१९) इति निपा-  
तनात्सम्प्रसारणाभावः । “उदकस्योदः संज्ञायाम्” (अष्टा०सू०६-३-५७) ।  
उदद्वित्वान् घोषः । यशस्वी । मत्वर्थवृत्तित्वं मतुपो विनिप्रभृतीनां  
चाविशिष्टम् । अत उभयत्र भत्वप्रवृत्तिः । यथा देवदत्तशालास्था आ-  
नीयन्तामित्युक्ते देवदत्तोऽप्यानीयते उद्देश्यतावच्छेदकरूपक्रान्तत्वात् ।

अयस्मयादीनि छन्दसि (अष्टा०सू०१-४-२०) । एतानि छन्दसि  
साधूनि । भपदसंज्ञाधिकाराद्यथायोगन्तदुभयस्वरैषां साधुत्वं विधी-  
यते । तथा च वार्त्तिकम्—उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यमिति । अय-  
स्मयं पात्रम् । भत्वादुत्वन्न । अयसो विकार इत्यर्थे “द्वयश्छन्दसि”  
(अष्टा०सू०४-३-१५०) इति मयट् । एतेन “मयद्वैतयोर्भाषायाम्” (अष्टा०  
सू०४-३-१४३) इत्युक्तेः कथमिह मयडित्याशङ्क्यात एव निपातनादिति  
वदन् न्यासकृत्परास्तः । ससुष्टुभा सकृकता गणेन । इह ऋकतेति  
पदत्वात्कृत्वम्, भत्वाज्ज्ञत्वाभावः । जद्वत्विधानार्थायाः पदसंज्ञाया  
भत्वेन प्रतिबन्धात् ।

बहुषु बहुवचनम् (अष्टा०सू०१-४-२१) । बहुत्वे एतत्स्यात् । वृक्षाः ।  
कथन्तर्हि दारा इति ? अवयवबहुत्वस्यावयविनि आरोपान्नविष्यति ।



न चैवमेकस्मिन्नपि वृक्षे बहुवचनापत्तिः, तत्रारोपे प्रमाणाभावात् । दा-  
रादौ तु नित्यबहुवचनान्तत्वाग्राहककोशादेर्द्विव्यवहारस्य च मान-  
त्वेन वैषम्यात् ।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (अष्टा०सू०१-४-२२) । द्वित्वैकत्वयोरैते  
स्तः । वृक्षौ, वृक्षः । इह द्व्येकशब्दौ सङ्ख्यापरौ, न तु सङ्ख्येयपरौ ।  
अत एव द्व्येकयोरिति द्विवचनम् । अन्यथा बहुवचनं स्यात् । पूर्वसूत्रे-  
ऽपि बहुष्विति सङ्ख्यापरमेव । बहुवचनन्तु आश्रयगतं बहुत्वं धर्मे आ-  
रोप्य कृतम् । तत्फलन्तु बहुः पर्वत इति वैपुल्यवाचिनो नेह ग्रहणमिति  
सूचनमेव । वस्तुतो व्यर्थं तत् । परत्वादेकवचनसम्भवात् । यत्तु “आ-  
शतःसङ्ख्यासङ्ख्येय” इति, तत्प्रायोवादमात्रम् । अत्र श्लोकवार्त्तिकं-  
सुपाङ्गमादयोप्यर्थाः सङ्ख्या चैव तथा तिङ्गाम् ।

प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वा ।

“कर्मणि द्वितीया” (अष्टा०सू०२-३-२) इत्यादेः प्रकरणस्य “बहुषु  
बहुवचनम्” (अष्टा०सू०१-४-२०) इत्यादेश्च स्वादिसूत्रेण सहैकवाक्यतया-  
विधायकत्वम् । तथा “बहुषु बहुवचनम्” (अष्टा०सू०१-४-२०) इत्यादि-  
सूत्रयोस्तिबादिवाक्येनाप्येकवाक्यतेति पूर्वार्धस्यार्थः । तृतीयचरणेनार्थ-  
नियम उक्तः । चतुर्थेन तु प्रकृतार्थापेक्षः प्रत्ययनियम उक्तः । एषां पक्षाणां  
बलाबलाच्चिन्ता तु “तद्धितश्चासर्वविभक्तिः” (अष्टा०सू०१-१-३८) इति  
सूत्र एवास्माभिः कृता । इह “एकद्विबहुष्वेकवचनद्विवचनबहुवचनानि”  
इति कर्तुमुचितम् । बहुशब्दश्च सङ्ख्यावाच्येव ग्रहीष्यते, द्विशब्दसाहच-  
र्यात् । अत एव हि एकशब्दः सङ्ख्यावाच्येव गृह्यते । वस्तुनस्तु इदं  
सूत्रद्वयं मास्तु । एकवचनादिसंज्ञानामन्वर्थताश्रयणेन सकलेष्टसिद्धेः ।

॥ इति श्रीशब्दकौस्तुभे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थे

पादे द्वितीयमान्हिकम् ॥

कारके (अष्टा०सू०१-४-२३) । अधिकारोऽयम् । व्यत्ययेन प्रथमार्थं  
सप्तमी । तथाच ‘ध्रुवम्’ इत्यादौ प्रतिसूत्रं वाक्यं भित्त्वा कारकसंज्ञा  
विधायिते । तथाहि, अपाये ध्रुवं कारकसंज्ञं स्यात् । तत अपादानम् ।  
उक्तं कारकमपादानसंज्ञं स्यात् । पुनः कारकशब्दानुवृत्तिसामर्थ्याद्वि-  
शेषसंज्ञाभिः सह समावेशो न तु पर्यायः । अनुवृत्तिं विनापि प्रथमवा-  
क्यमात्रात्तिसिद्धेः । तेन ‘स्तम्बेरमः’ इत्यादौ अधिकरणत्वात्सप्तमी,  
कारकत्वाद् “गतिकारकोपपदाकृत” (अष्टा०सू०६-२-१३९) इति प्रक-  
ृतिस्वरद्वयं सिद्धः । थाथादिस्वरस्तु न भवति, अपा साहचर्यादेरच



एव तत्र ग्रहणात् । न चोपपदत्वादव कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरोऽस्त्विति वाच्यम्, “स्तम्बकर्णयोः” (अष्टा०सू०३-२-१३) इति निर्देशात्प्रातिपदिकयोस्तथात्वेऽपि सप्तमीविशिष्टयोरतथात्वात् । न हि सप्तमीविशिष्टं सप्तम्या निर्दिष्टम्, येनोपपदसंज्ञां लभेतेति दिक् ।

अन्वर्था चेयं संज्ञा करोतीति कारकमिति । तेन क्रियान्वयिनो न भवति । ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छतीति । इह हि ब्राह्मणः पुत्रविशेषणं न तु क्रियान्वयी । ननु पुत्रोऽपि कथं कारकम् ? प्रश्नो हि जिज्ञासा । तत्र प्रष्टुः कारकत्वेऽपि यं प्रति प्रश्नस्तस्य जनकत्वायोगादिति चेत् ? सत्यम्, मास्तु जनकता । क्रियान्वयमात्रमिह विवक्षितम् । तच्चास्त्येव । एतेन सम्प्रदानस्य कारकत्वं व्याख्यातम् । यद्वा, सम्प्रदानादेरपि प्रथमं बुद्ध्यारोहात्कारकता । एवं ज्ञायते करोतीत्यादौ कर्तृकर्मणोरपि बोध्यम् । कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तीनां कथं कारणतेति चेत् ? यथा यागस्येत्यवेहि । तत्र व्यापारोऽस्तीति चेत् ? न, तावताऽपि यागस्य पूर्ववर्तितानुपपादनात् । अव्यवहितपूर्ववर्तिस्वस्वव्यापारान्यतरकत्वं कारणत्वमिति चेत् ? न, व्यापारत्वस्य कारणत्वगर्भतया आत्माश्रयापत्तेः, स्वव्यापारस्यैव स्वज्ञानस्यापि प्रवेशसम्भवाच्च । अत एव ज्ञायमानं लिङ्गं पदञ्चानुमितिशब्दज्ञानयोः कारणमिति जरञ्जयायिकाः । ज्ञायमानाः पदार्थाः कारणमिति च मीमांसकाः । अत एव च रथन्तरसामादेरैन्द्रवाय्वाग्नत्वादौ निमित्ततेत्युद्घोषो मीमांसकानाम् । अथवा उपसर्जनसंज्ञा यथा राज्ञः कुमार्या राजकुमार्या इत्यादौ यथासम्भवमन्वर्थाऽपि ‘अर्धपिप्पली’ इत्यादौ वचनाद्भवति, तथा कारकसंज्ञापि प्रतिसूत्रं विधीयमाना वचनात्सम्प्रदानादौ भवति । प्रदेशेषु तु संज्ञाप्रकारक एव बोधः । तत्तद्रूपप्रकारको धेत्यन्यदेतत् ।

स्यादेतत् । ‘वृक्षस्य पर्णं पतति’ इत्यादौ पर्णविशेषणस्यापि वृक्षस्य कारकतापत्तिः, ‘वृक्षात्पतति, इतिप्रयोगानुरोधात् । तर्हि अस्मदीयशब्दप्रयोगवैलक्षण्यमात्रेण एकस्यैव जनकत्वाजनकत्वे व्यवतिष्ठेते इति चेत् ? अत्रेदं सिद्धान्तरहस्यम् । कारकत्वं तद्व्याप्यकर्तृत्वाविषट्कञ्च वस्तुविशेषेऽनवस्थितम् । विशेषणविशेष्यवत् तर्हि गौः सर्वं प्रति गौरेव न तु कश्चित्प्रत्यगौरितिबद्धिशेषणं विशेषणमेवेति सुवचम् । तथाच किं कारकं कः कर्त्ता किं कर्मत्यादिप्रश्ने सर्वमित्युत्तरम् । वक्ष्यमाणकर्तृत्वकर्मत्वादेरचेतनेषु अनादिषु च निर्बाधत्वात् कया पचिधातुव्यक्त्या उपस्थापितेऽर्थे किं कर्त्रादिकमिति प्रश्ने तु प्रकृतपचिव्यक्त्युपात्तव्यापाराश्रयः कर्त्ता । व्यापारव्यधिकरणफलाश्रयः कर्म ।



यद्यापारोत्तरभावित्वं क्रियाया विवक्ष्यते तत्करणम् । कर्तृकर्मणोरा-  
श्रयोऽधिकरणमित्यादि क्रमेणोत्तरम् । विक्लित्यनुकूलव्यापारो हि प-  
च्यर्थः । व्यापारश्चानेकधा । तत्र पचेरधिभ्रयणतण्डुलावपनैघोपक-  
र्षणापकर्षणफूटकारादितात्पर्यकत्वे तदाश्रयो देवदत्तः कर्ता । ज्वलन-  
तात्पर्यकत्वे त्वेधाः कर्तारः । तण्डुलधारणादिपरत्वे स्थाली कर्त्री ।  
अवयवविभागादिपरत्वे तण्डुलाः कर्तारः । अत एव कर्मकर्ता करण-  
कर्तृत्यादिव्यवहारः । एवं 'स्थाल्या पचति' इत्यत्र तृतीयोपात्तव्यापारा-  
श्रयोऽपि स्थाली करणमेव, न तु तदा कर्त्री; देवदत्तादिव्यापारस्यैव  
तत्र धातूपात्तत्वात् । तथा आदिखादिभ्यामुपात्तेर्ये बटुः कर्त्ता । तस्मि-  
न्नेवार्थे भक्षयतिनोपात्ते बटुः कर्म । अधिपूर्वैः शीङ्स्थाप्रभृतिभिरुपा-  
त्तेऽर्थे आधारः कर्म । तत्रैव केवलैरुपात्तेऽधिकरणमित्यादि । नन्वेव-  
मननुगम इति चेत् ? सत्यम्, कस्य कः पिता को भ्रात इत्यत्रैवाननु-  
गतस्यैव लक्ष्यत्वात् । अत एव प्रयोगाणां साध्वसाधुता व्यवतिष्ठते ।  
अन्यथा क्वचित्कर्तुः सर्वत्र कर्तृतापत्तौ सकलप्रयोगाः सङ्कीर्येरन् । उक्तं  
च हरिणा—

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम् ।

स्थाल्या पच्यत इत्येषा व्यवस्था दृश्यते यतः ॥ इति ॥

अत एव प्रयोजकव्यापारव्याप्यत्वाविशेषेपि पच्यादिधातुषु प्रयो-  
ज्यो न कर्म गम्यादिष्वेव तु कर्म तथा 'पौराणिकाच्छृणोति' 'नटस्य  
शृणोति' इत्यत्र पौराणिकोपादानं कारकञ्च, नटस्तु नोभयमित्यादि व-  
क्ष्यमाणं सङ्गच्छते । नन्वेवं "लः कर्मणि" (अष्टा०सू०३-३-६९) इत्यादि-  
विधिषु किं कर्म ग्राह्यमिति चेत् ? विनिगमकाभावात्सर्वमित्यवेहि ।  
यथा भस्येत्यत्र सर्वं भम । तर्हि टिघुभादिवत्पारिभाषिकमेव कारक-  
त्वकर्मत्वादिकं स्यादिति चेत् ? को वा ब्रूते नेति । एतावानेव परं मे-  
दः—टिघुभादीनां शब्दसंज्ञात्वमितरेषान्तवर्थसंज्ञात्वमिति । एवञ्च "क-  
र्मणि द्वितीया" (अष्टा०सू०२-३-२) इत्यनेन यथायथमाधारादावपि द्वि-  
तीया विधीयते इति फलितम् । 'रथेन गम्यते' 'रथो गच्छति' इत्या-  
दावपि कर्तृविभक्तिरुत्सर्गेणैव सिद्धेति न तत्र लक्षणाऽऽश्रयणीयेत्यव-  
धेयम् । विभक्तिनां वाच्यांशानिष्कर्षस्तु करिष्यते । एतेन ज्ञानस्य स्व-  
प्रकाशत्वे कर्तृकर्मविरोधमुद्गावयन्तः परास्ताः, शब्दविशेषोपाधिकस्य  
कर्तृत्वादेः प्रत्यक्षादावुक्तिसम्भवात् । एतेन परसमवेतक्रियाफलशा-  
लित्वं कर्मत्वं चेदपादानेऽतिव्याप्तिरित्याशङ्क्य धात्वर्थतावच्छेदकफल-  
शालित्वं तदिति परिष्कुर्वन्तोऽपि परास्ताः । 'ग्रामं गमयति देवदत्तम्'



इत्यादौ गन्तरि अव्याप्तेः । त्वन्मते गमनस्य प्रकृत्यर्थत्वेऽपि तथात्वा-  
नवच्छेदकत्वात् । तस्वे वा पाञ्चयत्यादिप्रयोज्यकर्तर्यतिव्याप्तेः । तत्र  
पारिभाषिकमनुशासनोपयोगिकर्मत्वं वचनबलाद्यवस्थितमिति चेत् ?  
अपादानेऽपि तर्हि तन्नास्तीत्यवेहि, एकसंज्ञाधिकारेऽनवकाशया बाधा-  
त् । अत एव 'आत्मानमात्मा हन्ति' इत्यादौ परया कर्तृसंज्ञया कर्मसं-  
ज्ञाबाधमाशङ्क्याहङ्कारादिविशिष्टात्मभेदमाश्रित्य तत्रतत्र भाष्ये समा-  
हितमिति दिक् ।

नन्वेवं करणं कारकमिति सामानाधिकरण्यं कथम्, अस्वातन्त्र्येण  
ण्वुत्प्रत्ययायोगात् । अन्यथा कर्तृसंज्ञापत्तौ करणसंज्ञायाः पर्यायापत्ते-  
रिति चेत् ? उच्यते, अधिकारसामर्थ्यात्कारकशब्दापनीतं स्वातन्त्र्य-  
मवस्थान्तरगतं विज्ञायते । अवस्थान्तरे यत्स्वतन्त्रं तत्साधकतमङ्कुर-  
णमिति । यथा 'कुरुक्षेत्रस्थाः काश्यां वसन्ति' इत्यादौ । कर्तुस्तु साम्प्र-  
तिकं स्वातन्त्र्यम् । तच्च कर्तृसंज्ञायामुपयुज्यते इति । यद्वा, कारक-  
शब्दः क्रिया परः, करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशानिति व्युत्पत्तेः । तथाच  
अपादानादिसंज्ञाविधौ क्रियायामित्यस्योपस्थित्या क्रियान्वयिनामेव  
तत्तत्संज्ञाः स्युः । "कारकाद्वैतश्रुतयोः" (अष्टा०सू०६-२-१४८) इत्यादौ  
तु कारकशब्दः स्वर्यते । तेनैतदधिकारोक्तं कर्त्रादिषट्कमेव गृह्यत इति ।

ध्रुवमपायेऽपादानम् (अष्टा०सू०१-४-२४) । अपायो विश्लेषो विभा-  
गस्तद्धेतुत्वोपहितो गतिविशेषश्चेह विवाक्षितस्तस्मिन्साध्येऽवधिभूत-  
मपादानसंज्ञं स्यात् । वृक्षात्पतति । 'ध्रुवम्' इत्यत्र "ध्रु गतिस्थैर्ययोः"  
(तु०प०१४००) इत्यस्मात्कुटादेः पचाद्यच् । ये तु "ध्रुव स्थैर्ये" इति  
पठन्ति । तेषामिगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । ध्रुवतीति ध्रुवं स्थिरम् । एक-  
रूपमिति यावत् । ध्रुवमस्य शीलमिति यथा । तथा चापाये साध्ये  
यदेकरूपमित्युक्ते प्रकृतधातूपात्तगत्यनाविष्टत्वे सति तदुपयोगीति ल-  
भ्यते । तच्चार्थादवाधिभूतमेव पर्यवस्यति । तेन 'धावतो ऽश्वात्पत-  
ति' इत्यादौ क्रियाया विशिष्टस्याप्यश्वस्य प्रकृतधातूपात्तक्रियां प्रत्यव-  
धित्वज्ञ विरुध्यते । तथा 'परस्परस्मान्मेषावपसरतः', इत्यत्र सृधा-  
तुना गतिद्वयस्याप्युपादानादेकगेषनिष्ठाङ्गतिं प्रत्यपरस्यापादानत्वं सि-  
ध्यति । उक्तञ्च हरिणा प्रकीर्णवाण्डे—

अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।

ध्रुवमेवातदावेशात्तदपादानमुच्यते ॥

पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात्पतत्यसौ ।

तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते ॥



मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक् ।

मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वञ्च पृथक् पृथक् ॥ इति ॥

अतदावेशादिति अपायानावेशादित्यर्थः ।

गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति कथ्यते ।

इति तत्रैवोक्तेरवधिनिरपेक्षस्य चलनस्यापायत्वाभावादिति भावः । ‘पर्वतात्पततोऽश्वात्पतति’ इत्यत्र तु पर्वतावधिकपतनाश्रयो योऽश्वस्तदवधिकं देवदत्ताश्रयं पतनमर्थः । पञ्चमी त्ववधौ शक्ता । तत्राभेदेन संसर्गेण प्रकृत्यर्थो विशेषणम् । प्रत्ययार्थस्तु क्रियायां विशेषणम् । कारकाणां क्रियैव सम्बन्धात् । अन्यथाऽसाधुत्वात् । क्रियान्वये सत्येव हि कारकसंज्ञा, तत्पूर्विका विशेषसंज्ञाश्च स्थिताः । अत एवाहुः—

नाज्ञो द्विथैव सम्बन्धः सर्ववाक्येष्ववस्थितः ।

सामानाधिकरण्येन षष्ठ्या वापि कचिद्भवेत् ॥ इति ।

सामानाधिकरण्येनेति ‘नीलो घटः’ इत्याद्यभिप्रायम् । ‘नीलं घटमानय’ इत्यादावप्यन्तरङ्गक्रियान्वयानन्तरमेकक्रियावशीकृतानां पार्ष्णिक्क्यबोधाभिप्रायश्च । षष्ठ्येति अकारकविभक्तेरुपलक्षणं ‘हरये नमः’ इति यथा । कचिदिति, अकारकविभक्तेरपि, ‘नटस्य शृणोति’ इत्यादौ क्रियान्वयदर्शनादिति भावः । एतेन ‘भूतले घटो न’ इत्यत्र भूतलाधेयत्वाभावो घटे भूतलाधेयत्वं वा घटाभावे विशेषणमिति द्वेधा व्याचक्षाणा नैयायिकाः परास्ताः, उभयथाऽपि क्रियान्वये कारकविभक्तेरसाधुत्वात्, अर्थाभावेऽव्ययीभावापत्तेश्च । तस्य नित्यसमासत्वात् । नन्वस्मदुक्तोऽपि बोधोऽस्मद्दर्शनव्युत्पन्नानामनुभवसाक्षिक इति चेत् ? सत्यम्, न हि वयं बोध एव नोदेतीति ब्रूमः । सर्वे सर्वार्थबोधनसमर्था इत्यभ्युपगमात् किन्तु तस्मिन्नर्थेऽसाधुताम् । तथाच “सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे” इति वार्तिकं व्याचक्षाणा भाष्यकारा आहुः—“समानायामर्थावगतौ साधुभिश्चासाधुभिश्च गम्यागम्येतिवन्नियमः क्रियते” इति । उक्तञ्च—

भेदाभेदकसम्बन्धोपाधिभेदनियन्त्रितम् ।

साधुत्वं तदभावेऽपि बोधो नेह निवार्यते ॥ इति ॥

एवञ्च कस्माद्वाक्यात्कीदृग् बोध इति प्रश्ने यो यथा व्युत्पन्नस्तस्य तादृगेवेति स्थितिः । कीदृशे बोधे साधुत्वं कुत्र नेति परं विचारविषय इति तत्त्वम् । एतेन ‘घटः कर्मत्वमानयनं कृतिः’ इत्यादीनां स्वरूपायोग्यतेति परास्तम्, तथा व्युत्पन्नस्य बोधानुभवात् । अन्यथा व्युत्पन्नस्य व्युत्पत्तिरूपसहकारिविरहात्कार्यानुदयेऽपि स्वरूपयोग्यतानपायात् । एतेन प्र-



कृत्यर्थप्रकारको बोधो यत्र विशेष्यतया तत्र विषयतया प्रत्ययजन्य इत्यादिकार्यकारणभावं कल्पयन्तोऽप्यपास्ताः, विपरीतव्युत्पादिते व्य-  
भिचारस्योद्भवात् । सिद्धान्ते तु घटः कर्मत्वमित्याद्यसाध्वेव । तथा-  
हि, “अभिहिते प्रथमा” इति वार्त्तिकं, तत्कथं घटः कर्मत्वमिति प्रथ-  
मा ? घटानयनयोरानयनकृती प्रति कर्मतया “कर्तृकर्मणोः” (अष्टा०सू०  
२-३-६५) इति षष्ठीप्रसङ्गाच्चेति दिक् ।

निर्दिष्टविषयं किञ्चिदुपात्तविषयं तथा ।

अपेक्षितक्रियञ्चेति त्रिधापादानमुच्यते ॥

यत्र साक्षाद्भातुना गतिर्निर्दिश्यते तन्निर्दिष्टविषयम् । ‘अश्वात्पत-  
ति’ यथा । यत्र तु धात्वन्तरार्थाङ्गं स्वार्थं धातुराह तदुपात्तविषयम् ।  
यथा ‘बलाहकाद्विद्योतते’ इति । निः सरणाङ्गे विद्योतने द्युतिर्वर्तते ।  
यथा वा ‘कुसुलात्पचति’ इति । आदानाङ्गे पाकेऽत्र पचिर्वर्तते । अपे-  
क्षितक्रियं तु तत्, यत्र प्रत्यक्षसिद्धमागमनं मनसि निधाय पृच्छति  
कुतो भवानिति, पाटलिपुत्रादिति चोत्तरयति; अर्थाध्याहारस्य  
न्याय्यताया उक्तत्वात् । इह ‘सार्थाङ्गीयते’ इत्यपि निर्दिष्टविषयस्यो-  
दाहरणम् ।

स्यादेतत् । परत्वात्सार्थस्य कर्तृसंज्ञा प्राप्नोति । उक्तं हि “अपादा-  
नमुत्तराणि” इति । किञ्च सार्थस्य कर्तृत्वाभावे त्यज्यमानस्य कर्मसं-  
ज्ञा न स्यात् कर्तृव्यापारव्याप्यत्वाभावात् । ततश्च हीयते हीन इति क-  
र्मणि लकारो निष्ठा च न स्यात् । न च कर्मकर्तर्यं लकार इति वाच्यम्,  
जहातेः कर्तृस्थक्रियत्वात्कर्मण्येवायं लकार इति इन्दुनोक्तत्वात् । य-  
न्तु “अपादाने चाहार्यरुहोः” (अष्टा०सू०५-४-४५) इति सूत्रे न्यासका-  
रेण सम्प्रदानसूत्रे कैयटेन चोक्तं कर्मसंज्ञायां कर्तृग्रहणं स्वातन्त्र्योप-  
लक्षणम् । अतो हानक्रियायां स्वतन्त्रेणापादानेनेप्यमानस्येह कर्मते-  
ति । तच्चिन्त्यम्, ‘माषेष्वश्वं बध्नाति’ इत्यत्र कर्मणोऽप्यश्वस्य वस्तु-  
तो भक्षणे यत्स्वातन्त्र्यं तदाश्रयकर्मसंज्ञापत्तेः । अत एव कर्मसंज्ञावि-  
धायकसूत्रशेषे कैयटेनोक्तम्-प्रयोजकव्यापारस्याशब्दार्थत्वात्तदपेक्षं  
कर्मत्वमयुक्तमिति ।

अत्राहुः-‘सार्थाङ्गीयते’ इत्यत्र कर्मकर्त्तरि लकारः । तथाहि, अपग-  
मना जहातेरर्थः । सा च क्षुदुपघातादिना देवदत्तस्यापगमते तत्सम-  
र्थाचरणम् । यदा तु क्षुदुपघातादिना स्वयमेवापगच्छति तदा कर्मक-  
र्तृत्वम् । स्फुटञ्चैदं हरदत्तमाधवग्रन्थयोः ।

स्यादेतत् । भ्रुवग्रहणं किमर्थम् ? न च ‘ग्रामादागच्छति शकटेन’ इत्यत्र



शकटेऽतिव्याप्तिवारणाय तदिति वाच्यम्, परत्वाच्चत्र करणसंज्ञाप्रवृत्तेः । यथा 'धनुषा विध्यति' इत्यत्र । इह हि शरनिःसरणं प्रत्यवधिभावोपगमेनैव व्यधने करणतेत्युभयप्रसङ्गः । 'वृक्षस्य पर्णं पतति' इत्यादौ तु वृक्षः पर्णविशेषणं न त्वपायेन युज्यते । न च संक्षिप्तिर्देशार्थं ध्रुवग्रहणम्, अपाये क्रियायां यदन्वेतीत्यस्याक्षिप्तस्य संक्षिप्तमर्थकत्वात् । यद्वा, कारके इति निर्धारणसप्तम्याश्रयणात्कारकमिति लभ्यते । पूर्वत्रापि प्रथमार्थे सप्तमीत्युक्तत्वाच्च । तस्माद् ध्रुवग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम् ।

जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम् (का०वा०) । अधर्माज्जुगुप्सते विरमति प्रमाद्यति वा । संश्लेषपूर्वको विश्लेषो विभागः । स चेह नास्ति । बुद्धिकालिपतस्तु गौणत्वान्न गृह्यते इति वार्त्तिकारम्भः । भाष्यकारास्तु जुगुप्सादयोऽत्र जुगुप्सादिपूर्विकायां निवृत्तौ वर्तन्ते इत्युपात्तविषयमेतत् । कारकप्रकरणे च गौणस्यापि ग्रहणम् । "साधकतमम्" (अष्टा०सू०१-४-४२) इति तमग्रहणाल्लिङ्गात् । अपायादिपदानां स्वरितत्वाद्वा "स्वरितेनाधिकारः" (अष्टा०सू०१-३-११) गौणोऽप्यर्थो गृह्यते इति व्यवस्थापनात् । तेन बुद्धिकालिपतस्याप्यपायस्य सत्वात्सिद्धम् । पूर्वं हि बुद्ध्याऽधर्मं सम्प्राप्य ततो दोषदर्शनाज्जिवर्तते इत्यस्त्यपायः । एवमुत्तरसूत्रेष्वपि प्रपञ्चत्वं बोध्यमिति दिक् ।

भीमार्थानां भयहेतुः (अष्टा०सू०१-४-२५) । भयं भीः, त्राणं त्राः, भयार्थानां त्राणार्थानाञ्च योगे भयहेतुः कारकमपादानं स्यात् । चोरेभ्य उद्विजते बिभेति, रक्षति वा त्रायते । भयहेतुग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम् । 'अरण्ये बिभेति' इत्यादौ तु परत्वादाधिकरणसंज्ञा ।

कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ।

इति रामायणश्लोकस्तु कस्य संयुगे इति योजनया व्याख्येयः ।

पराजेरसोढः (अष्टा०सू०१-४-२६) । परापूर्वस्य जयतेः प्रयोगेऽसोढो ह्योर्थोऽपादानं स्यात् । 'अध्ययनात्पराजयते' ग्लायतीत्यर्थः । अकर्मकश्चायम् । तत्र षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनम् । असोढः किम् ? शत्रून्पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः । असोढ इति क्त्वाभूतकालोऽत्राविवक्षितः । तेन 'अध्ययनात्पराजेष्यते' इत्यादि सिद्धम् । वस्तुतस्तु असोढग्रहणं व्यर्थं 'शत्रून्पराजयते' इत्यत्र परत्वात्कर्मसंज्ञासिद्धेः । इह सूत्रे पराजेरिति रूपं "विपराभ्याज्जेः" (अष्टा०सू०१-३-१२) इतिवत्समर्थनीयम् । यत्तु परत्वात् "घेर्जिति" (अष्टा०सू०७-३-१११) इति गुण इति हरदत्तेनोक्तं तत्सूत्रभाष्यादविरुद्धमिति प्रागेव प्रपञ्चितम् ।

वारणार्थानामात्मनः (अष्टा०सू०१-४-२७) । वारणार्थानां प्रयोगे



क्रियया आप्तुमिष्टं कारकमपादानं स्यात् । यवेभ्यो गां वारयति । “वृञ् वरणे” (चु०उ०१८१४) चुरादिः । प्रवृत्तिविघातो वारणम् । ईप्सित इति किम् ? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे । नन्विह परत्वादधिकरणसंज्ञा भविष्यति यथा कृतेऽपीप्सितग्रहणे गोषु इप्सिततमत्वप्रयुक्ता कर्म-संज्ञा । सत्यम्, चिन्त्यप्रयोजनमेवेप्सितग्रहणम् ।

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति (अष्टा०सू०१-४-२८) । अन्तर्धौविति सप्तमी । येनेति कर्तरि तृतीया । न च कृद्योगे षष्ठीप्रसङ्गः । उभयप्राप्तौ कर्मण्येवेति नियमात् । व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभा-वमिच्छति तत्कारकमपादानं स्यात् । मातुर्नीलीयते कृष्णः । “लीङ् श्लेषणे” (दि०आ०११३९) दैवादिकः । अत्रान्तर्धौविति चिन्त्यप्रयोजनम् । न ‘दिदृक्षते चोरान्’ इत्यत्र हि परत्वात्कर्मता सिद्धा । इच्छतीति किम् ? इच्छायामसत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् ।

आख्यातोपयोगे (अष्टा०सू०१-४-२९) । उपयोगो नियमपूर्वकं वि-द्यास्वीकरणम् । तस्मिन्साध्ये य आख्याता तत्कारकमपादानं स्यात् । उपाध्यायाद्धीते । उपयोगे किम् ? नटस्य शृणोति ।

जनिकर्तुः प्रकृतिः (अष्टा०सू०१-४-३०) । जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । पुत्रात्प्रमोदो जायते । इह जनिरुत्पत्तिः । “जनिरुत्पत्तिरुद्भवः” इत्यमरः (अ०को०१-४-३०) । “इजजादिभ्यः” (का०वा०) इति जनेर्भावे इञ् “जनिघ-सिभ्याम्” (उ०सू०५७९) इत्युणादिसूत्रेणेण् वा । “जनिवध्योश्च” (अष्टा० सू०७-३-३५) इति वृद्धिप्रतिषेधः । तस्याः कर्तेति षष्ठीतत्पुरुषः । “कर्तरि च” (अष्टा०सू०२-२-१६) इति प्रतिषेधस्त्वनित्यः, अत एव ज्ञापकात् । यद्वा, शेषषष्ठ्या समासोऽयम् । निषेधस्तु कर्मषष्ठीविषय इति “कारके” (अष्टा०सू०१-४-२३) इति सूत्रे कैयटः । तथा चार्थमात्रस्यैव ग्रहणाद्वा-त्त्वन्तरयोगेऽपि भवति ‘अङ्गादङ्गात्सम्भवति’ इति यथा । एतेन “इक्-दितपौ धातुनिर्देशे” (का०वा०) इतीका निर्देशोऽयमित्याश्रित्य “गम-हन” (अष्टा०सू०६-४-९८) इत्युपधांलोपमर्थासङ्गतिं चोद्भावयन्तो मी-मांसावार्तिककाराः समाहिताः । अत्र प्रकृतिग्रहणमुपादानमात्रपरमि-त्येकं । अत एव “प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्” (ब्र०सू०) इत्य-धिकरणे ब्रह्मणो जगदुपादानतायां “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इति पञ्चमीमुपष्टम्भिकामाहुः । अन्ये तु ‘पुत्रात्प्रमोदो जायते’ इति वृ-त्तिस्वरसात्प्रकृतिशब्द इह कारणमात्रपर इत्याहुः । अस्मिन्च पक्षे ‘यतो वा’ इति सामान्यशब्दोऽपि उपादानरूपविशेषपरः “छागो वा म-न्त्रवर्णात्” (जै०सू०६-८-९-३१) इति षाष्ठ्यायात् । “अहमेव बहु स्याम्”



इति हि सामानाधिकरण्यं श्रूयते । तच्च चतुर्धा-भ्रमे, बाधायाम्, अभेदे, तादात्म्ये च । प्रकृते तादात्म्ये, भिन्नत्वे सत्यभिन्नसत्ताकत्वम् आविद्यकः सम्बन्धविशेषो वा तादात्म्यमित्याद्युत्तरमीमांसायां स्पष्टम् ।

भुवः प्रभवः (अष्टा०सू०१-४-३१) । भूकर्तुः प्रभवः प्राग्वत् । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । कश्मीरेभ्यो वितरता प्रभवति । “तसु उपक्षये” (दि.प.१२१३) भावेक्तः । विगतस्ता वितस्ता । अशोष्येत्यर्थः । अत्रोपलभतेः कर्मव्यापारे प्रभवतिर्वर्तते । प्रकाशते इत्यर्थः । “मीमांसार्थानाम्” (अष्टा०सू०१-४-२५) इत्यारभ्यं सप्तसूत्री भाष्ये प्रत्याख्याता । तथाहि चोरेभ्यो विभेति । भयान्निवर्तते इत्यर्थः । प्रायते, रक्षणेन चोरेभ्यो निवर्तयतीत्यर्थः । पराजयते, ग्लान्या निवर्तते इत्यर्थः । वारयति, प्रवृत्तिप्रतिबन्धनिवर्तयति । निलीयते, निलयनेन निवर्तते इत्यर्थः । अधीते, उपाध्यायान्निसरन्तं शब्दं गृह्णातीत्यर्थः । ब्रह्मणः प्रपञ्चो जायते इत्यत्रापि ततोऽपक्रामति । यथा वृक्षात्फलमिति लोकप्रसिध्याश्रयेणापायो बोध्यः । प्रभवतीत्यत्रापि भवनपूर्वकं निःसरणमर्थः ।

अत्रेदं वक्तव्यं, निवृत्तिनिःसरणादिधात्वन्तरार्थविशिष्टे स्वार्थे वृत्तिमाश्रित्य यथाकथञ्चिदुक्तप्रयोगाणां समर्थनेऽपि मुख्यार्थपुरस्कारेण षष्ठीप्रयोगो दुर्वारः । ‘नटस्य शृणोति’ इतिवत् । न ह्युपाध्यायनटयोः क्रियानुकूलव्यापारांशे विशेषो वक्तुं शक्यः । अनभिधानब्रह्मात्ममाश्रित्य प्रत्याख्यानन्तु नातीव मनोरमम् । एवञ्च “जुगुप्साविराम” (का० वा०) इत्यादिवार्तिकमप्यवश्यारम्भणीयम् । तथाच सूत्रवार्तिकमतमेवेह प्रबलमिति यावद्बाधं साधु । तथा भुवं भयहेतुरसोढ इत्यादिसंज्ञिनिर्देशोऽपि सार्थकः परत्वात्तत्तत्संज्ञाप्राप्तावपि शेषत्वविवक्षायां न माषाणामश्रीयादित्यादाविव षष्ठ्या इष्टतया तत्रापादानसंज्ञाया वारणीयत्वादित्यवधेयम् ।

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (अष्टा०सू०१-४-३२) । कर्मणा करणभूतेन कर्ता यमभिप्रैति सम्बध्नाति ईप्सति वा तत्कारकं सम्प्रदानं स्यात् । न च युगपत्कर्मत्वं करणत्वञ्च कथमिति वाच्यम्, क्रियाभेदेनाविरोधात् । दानक्रियायां हि कर्म अभिप्रापणक्रियायां करणम् । दीयमानया गवा हि शिष्य उपाध्यायमभिप्रैति । उपाध्यायाय गां ददाति । अत्राभिप्रैतीति पदत्रयम् । न तु समासः । “उदात्तवता गतिमता च तिङा गतेः समासो वक्तव्यः” इति वार्तिकस्य छन्दोविषयत्वादिति हरदत्तः । भाषाविषयत्वे बाधकं तु तत्रैव वक्ष्यामः ।

अत्र वृत्तिकाराः-अन्वर्थसंज्ञेयं सम्यक् प्रदीयते यस्मै तत्सम्प्रदान-



मिति । तेनेह न-रजकस्य वस्त्रं ददाति । घनतः पृष्ठं ददाति । इह हि ददातिगौणः न तु वास्तवं दानमस्तीत्याहुः ।

भाष्ये तु नैतत्स्वीकृतं 'खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति' 'न शुद्राय मतिं दद्यात्' इत्यादिप्रयोगात् । 'रजकस्य ददाति' इति तु शेषत्वविवक्षायां बोध्यम् । नन्वेवम् 'अजान्नयति ग्रामम्' इति नयतिक्रियाकर्मभिरजैः सम्बध्यमानस्य ग्रामस्य सम्प्रदानत्वं स्यादिति चेत् ? न, यमभिप्रेतीत्युक्त्या हि यमिति निर्दिष्टस्य गवादेः शेषत्वं च प्रतीयते । यथा कर्त्रभिप्राये क्रियाफले इति कर्तुः शेषत्वं क्रियाफलस्य शेषत्वं च । न चेह ग्रामं प्रत्यजा शेषभूता । तथा च प्रयोजकलक्षणे प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानमित्याधिकरणे "क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति" इति दण्डदानं न प्रतिपत्तिः, किन्तु द्वितीयापेक्षया बलीयस्याचतुर्थीश्रुत्याऽर्थकर्मैत्युक्तम् । अत्र वार्त्तिकं-क्रियाग्रहणं कर्तव्यम् । पत्ये शेते । भाष्यकारास्तु सन्दर्शनप्रार्थनाध्यवसायैराप्यमानत्वात्क्रियापि कृत्रिमं कर्म । तथा च सूत्रेणैव सिद्धम् । प्रतीयमानक्रियापेक्षोपि हि कारकभावो भवत्येव । प्रविशपिण्डीमिति वत् । सूत्रकारश्चाह "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" (अष्टा०सू०२-३-१४) इति । न चैवमप्यददातिकर्मत्वात् क्रियाग्रहणं कर्तव्यमेवेति वाच्यम्, भाष्ये अन्वर्थसंज्ञात्वास्वीकारात् । नन्वेवं 'कटङ्करोति' इत्यादावपि सम्प्रदानत्वं स्यात् । वचनबलाच्च कर्मसम्प्रदानत्वयोः पर्यायप्रसङ्गः । अत्राहुः-नेदं वार्त्तिकं सार्वत्रिकम्, किन्तु प्रयोगानुसारान्नियतविषयं, धातूपात्तफलानाधार एव प्रवृत्तेः । भाष्यमते तु यत्र सम्प्रदानत्वमिष्टं तत्र सन्दर्शनादीनां क्रियायाश्च भेदो विवक्ष्यते । ततश्च तैराप्यमाना क्रियापि कृत्रिमं कर्मेति सिद्धं तथाऽभिप्रेयमाणस्य सम्प्रदानत्वम् । यत्र तन्नेष्टं तत्र भेदो न विवक्ष्यते । ततश्चोत्पत्तिविकिरयाद्येकफलावच्छेदेनैकीकृतया क्रियया व्याप्यमानस्य कर्मत्वमेव भविष्यति । 'कटङ्करोति' 'ओदनं पचति' इति । गत्यर्थेषु तु भेदोऽभेदश्चेत्युभयं विवक्ष्यते । तत्र भेदविवक्षायां 'ग्रामाय गच्छति' इति प्रयोगः । अभेदविवक्षायान्तु 'ग्रामं गच्छति' इति । तथाच "गत्यर्थकर्मणि" (अष्टा०सू०२-३-१२) इति सूत्रे प्रत्याख्यास्यते । उक्तञ्च हरिणा—

भेदस्य च विवक्षायां पूर्वा पूर्वा क्रियां प्रति ।

परस्याङ्गस्य कर्मत्वात्तत्क्रियाग्रहणं कृतम् ॥

क्रियाणां समुदाये तु पदैकत्वं विवक्षितम् ।

तदा कर्मक्रियायोगात्स्वाख्ययैवोपचर्यते ॥



भेदाभेदविवक्षा च स्वभावेन व्यवस्थिता ।

तस्माद्गत्यर्थकर्मत्वे व्यभिचारो न दृश्यते ॥

विकल्पेनैव सर्वत्र संज्ञे स्थातामुमे यदि ।

आरम्भेण न योगस्य प्रत्याख्यानं समं भवेत् ॥ इति ॥

अस्यार्थः—कर्म स्वाख्ययैव क्रियेप्सितत्वप्रयुक्तकर्मसंज्ञयैवोपचर्यते, व्यवह्रियते । न तु सम्प्रदानसंज्ञया गत्यर्थकर्मणि तु भेदाभेदौ द्वावपि विवक्ष्येते इति रूपद्वयसिद्धिः । व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गस्तु न दृश्यते । विवक्षाया व्यवस्थितत्वादेव । एतदेव द्रढयति—विकल्पेनेति । समं तु ल्यफलकम् । तस्मात्सूत्रं प्रत्याचक्ष्णस्य भगवतो विवक्षानियमोऽभिमतः । गत्यर्थेषु विवक्षाद्वयम् । ‘पत्ये शेते’ इत्यादौ तु भेदविवक्षैव । ‘ओदनं पचति’ इत्यादावभेदविवक्षैव । चेष्टायामनध्वनीत्येतत्प्रत्युदाहरणयोरपि अभेदविवक्षैव । ‘मनसा हरिं व्रजति’ अध्वानं गच्छति’ इति त्रिधा चेदम् । यदाह—

अनिराकरणात्कर्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम् ।

प्रेरणानुमतिभ्याञ्च लभते सम्प्रदानताम् ॥ इति ।

अनिराकर्तुं यथा—सूर्यायार्घ्यं ददाति । नात्र सूर्यः प्रार्थयते, न वानुमन्यते, न च निराकरोति । प्रेरकं यथा—विप्राय गां ददाति । अनुमन्तुं यथा—उपाध्यायाय गां ददाति । ननु दानस्य तदर्थत्वात्तादर्थ्यं चतुर्थी सिद्धैव तर्त्तिक सम्प्रदानसंज्ञया ? मैवम्, दानक्रियार्थं हि सम्प्रदानं न तु दानक्रिया तदर्थी, कारकाणां क्रियार्थत्वात् । सम्प्रदानार्थं तु दीयमानं कर्मेति वाक्यार्थभूतापादनक्रियाया अतादर्थ्यात्तादर्थ्यचतुर्थ्या अप्राप्तौ संज्ञारम्भादिति हेलाराजः । तदेतत्क्षुचितम्—त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितमिति । कर्मसम्प्रदानयोः करणकर्मत्वे वाच्ये । पशुना रुद्रं यजते । पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः । एतच्च वचनं उक्तोदाहरणमात्रविषयम् । अत एव सुव्यत्ययेन सिद्धत्वात्प्रत्याख्यायते । लोके तु यजेः पूजार्थत्वात्पशोः करणत्वं सिद्धम् ।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः (अष्टा०सू०१-४-३३) । सम्प्रदानं स्यात् । देवदत्ताय रोचने स्वदत्ते मोदकः । अत्राह हरिः—

हेतुत्वे कर्मसंज्ञायां शेषत्वे वापि कारकम् ।

रुच्यर्थादिषु शास्त्रेण सम्प्रदानाख्यमुच्यते ॥

अस्यार्थः—अन्यसमवेतोऽभिलाषो रुच्यर्थः । रोचते । अभिलाषविषयो भवतीत्यवगमात् । विषयीभवन्तं मोदकं देवदत्तः प्रयुङ्क्ते । लौक्यात्तदानुगुण्यमाचरतीति देवदत्तस्य हेतुसंज्ञायां प्राप्तायां सम्प्रदान-



संज्ञा कथ्यते । तथाच हेतुसंज्ञाविरहे णिजभावाद्धेतुसमवायिन्या द्वि-  
तीयस्याः क्रियाया अप्रतीतेर्मोदकः स्वक्रियायां धातुवाच्यायां कर्ता  
भवति, न तु कर्म । यदा तु रोचते प्रीणयतीत्यर्थः, तदा कर्मसंज्ञायां  
प्राप्तायां वचनम् । तथा च प्रीयमाण इति विशेषणम् । “प्रीञ् तर्पणे”  
( चु०उ०१८३६ ) इत्यस्मात्सकर्मकात्कर्मणि लट् । दैवादिकस्तु डि-  
दकर्मकः । तर्प्यमाण इत्यर्थः । यत्तु समर्थसूत्रे ‘रोचयामहे’ इति हरदत्तेन  
प्रयुक्तं, तदस्मिन्नेव पक्षेऽध्यारोपितप्रेषणपक्षमाश्रित्येत्यवधेयम् । यदा  
तु देवदत्तस्य योऽभिलाषस्तद्विषयो भवतीत्यर्थस्तदा शेषत्वात्पष्ठ्यां  
प्राप्तायां वचनमिति । प्रीयमाणः किम् ? देवदत्ताय रोचते मोदकः  
पथि । कर्मादाविवाधिकरणे मा भूत् । अत एव ‘आदित्यो रोचते’  
इत्यत्र दीप्त्यर्थे संज्ञा न भवति ।

श्लाघन्हुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ( अष्टा०सू०१-४-३४ ) । एषां  
प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात् । देवदत्ताय श्लाघते । श्लाघा  
स्तुतिः । देवदत्तं स्तौतीत्यर्थः । एवं हि देवदत्तः शक्यते ज्ञापयितुम् ।

अन्ये त्वाहुः-देवदत्तायात्मानं परं वा श्लाघ्यं कथयतीत्यर्थ इति ।  
तथा च भट्टिकाव्यम्—

श्लाघमानः परस्त्रीभ्यस्तत्रागाद्राक्षसाधिपः । इति ।

आत्मानं श्लाघ्यं परस्त्रीभ्यः कथयन्नित्यर्थः । तत्राद्ये पक्षे कर्मत्वे  
प्राप्ते द्वितीये तु कारकशेषत्वात् पष्ठ्यां प्राप्तायां वचनम् । ह्यैतिप्रभृ-  
तयोऽत्र स्वार्थोपसर्जनज्ञापनावचनत्वात्सकर्मकाः । तथाच ज्ञीप्स्यमान  
इति संज्ञिविशेषणमुपात्तमिति हेलाराजः । ‘देवदत्ताय न्हुते’ देवदत्तं  
न्हुवानस्तमेव न्हुतिं तमेव बोधयति । सन्निहितमपि देवदत्तं धनिका-  
देरपलपतीत्यर्थः । अथवा न्होतव्यं देवदत्तं बोधयतीत्यर्थः । ‘देवदत्ताय  
तिष्ठते’ ईदृशोहमित्यवस्थानेन बोधयतीत्यर्थः । ‘देवदत्ताय शपते’  
शपथेन किञ्चित्प्रकाशयतीत्यर्थः । ज्ञीप्स्यमानग्रहणाद् ‘देवदत्तः  
श्लाघते’ ‘गार्गिकया श्लाघते पथि’ इत्यादौ कर्त्रादिविषये संज्ञा न भवति ।  
‘ज्ञीप्स्यमाने विवदन्ते’ इति “शप उपालम्भे” इति वार्त्तिकोदाहरण-  
व्याख्यायां कैयटः । तत्र यस्मै आख्यायते स ज्ञीप्स्यमान इति मते तु  
यस्मा आख्यायमानः प्रत्युदाहरणम् । तस्माद् द्वितीया, ‘देवदत्तं श्ला-  
घते’ इति । आख्यायमानो ज्ञीप्स्यमान इति मते तु यस्मा आख्यायते स  
प्रत्युदाहरणम् । तस्माच्च षष्ठी, देवदत्ताय श्लाघते विष्णुमित्रो यज्ञद-  
त्तस्येति । “ज्ञप मिच्च” ( चु०उ०१६२४ ) इति चुरादिकात्प्रति कर्मणि  
ज्ञानञ्चि ज्ञीप्स्यमान इति रूपं बोध्यम् । न न ज्ञाघातोः तस्य बोधने



मित्त्वाभावात् । 'तज्ज्ञापयति' इत्यादिभाष्यप्रयोगात् । अत एव "मार-  
णतोषण" (ग०सू०) इत्यत्र निशानेष्विति पाठो न तु निशामनेष्विति ।  
निशानं तनूकरणम् । इयतेर्लुपृट् । 'संज्ञपितः पशुः' इत्युदाहरणम् । "आ-  
पूज्युधामीत्" (अष्टा०सू०७-४-१५) इत्यत्र तृभयोरपि ज्ञप्योर्ग्रहणमिति  
सिद्धान्तः । चौरादिकश्च मारणतोषणनिशामनेषु वर्तते इति माधवः ।

धारेरुत्तमर्णः (अष्टा०सू०१-४-३५) । अयमुक्तसंज्ञः स्यात् । "धृङ्  
अवस्थाने" (तु०आ०१४१३) । ण्यन्तः । उत्तमर्णो धनस्वामी ।  
उत्कृष्टार्थवृत्तेरुच्छब्दात्तमपि द्रव्यप्रकर्षत्वादात्मभावः । अर्तैः कः । ऋ-  
णम् । "ऋणमाधमर्ण्ये" (अष्टा०सू०८-२-६०) इत्यत्र कालान्तरदेयन्द्र-  
व्यविनिमयोपलक्षणार्थमाधमर्ण्यग्रहणम् । तेनोत्तमर्णेऽपि नत्वं भवति ।  
अस्मादेव निपातनान्निष्ठान्तस्य परनिपातो बहुव्रीहौ बोध्यः । देवद-  
त्ताय शतं धारयति । अग्रियमाणं स्वरूपेणावतिष्ठमानं स्वभावाद्ग्रन्थ-  
वमानं शतं प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः । कारकशेषे षष्ठ्यां प्राप्तायामिदं वचनम् ।  
उत्तमर्णः किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे । परत्वादिहाधिकरण-  
संज्ञा भविष्यतीति चेत् ? उत्तमर्णेऽपि तर्हि हेतुसंज्ञा स्यात् ।

स्पृहेरीप्सितः (अष्टा०सू०१-४-३६) । स्पृह ईप्सायां चुरादावदन्तः ।  
अस्य प्रयोगेऽभिप्रेतः सम्प्रदानं स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ईप्सित-  
मात्रं इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायान्तु परत्वात्कर्मसंज्ञा । पुष्पाणि स्पृह-  
यति । यदा त्वीप्सितमीप्सिततमं वा शेषत्वेन विवक्षितं तदा षष्ठ्येवेति  
हरदत्तादयः । हेलाराजस्तु "हेतुत्वे कर्मसंज्ञायाम्" (वा०प०) इति प्रागु-  
क्तश्लोकव्याख्यावसरे स्पृहयतियोगे कर्मसंज्ञायाः शेषषष्ठ्याश्च बाधि-  
केयं सम्प्रदानसंज्ञेत्याह । वाक्यपदीयस्वरसोऽप्येवम् । अस्मिन्पक्षे  
"परस्परेण स्पृहणीयशोभम्" इति कर्मण्यनीयर् दुर्लभः । 'दानीयो  
विप्रः' इतिवत्सम्प्रदान एव तु व्याख्येयः । तथा—

कुमार्य इव कान्तस्य त्रस्यन्ति स्पृहयन्ति च ।

इति षष्ठ्यप्यसंज्ञता । विभक्तिविपरिणामेन कान्ताय स्पृहयन्तीति  
तु व्याख्येयम् । हरदत्तमते तु यथाश्रुतावेव उक्तप्रयोगौ निर्वाधाविति ।

क्रुधदुहेर्ष्यासूयार्थानां यस्मिन् प्रति कोपः (अष्टा०सू०१-४-३७) । क्रोधा-  
र्थानां धातूनां प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं सम्प्रदानं स्यात् । देव-  
दत्ताय क्रुध्यति दुह्यति ईर्ष्यति असूयति वा । वाक्चक्षुरादिविकारानु-  
मेयः प्ररूढः कोपोऽत्र क्रोधः । अपकारो द्रोहः । असहनमीर्ष्या । गुणेषु  
दोषारोपणमसूया । ननु चित्तदोषार्थानामित्येवास्तु किं क्रोधादीनां वि-  
शिष्योपादानेनेति चेत् ? न, द्विषादावतिप्रसङ्गात् । "योऽस्मान्द्वेष्टि"



इत्यादौ ह्यनभिनन्दनं द्विषेरर्थः । अत एवाचेतनेष्वपि प्रयुज्यते 'औषधं द्वेष्टि' इति । यम्प्रतीत्यादि किम् ? भार्यामीर्ष्यति-मैनामन्योद्राक्षीदिति । नात्र भार्याम्प्रति कोपः किन्तु परैर्दृश्यमानां तां न क्षमते इत्येव । क्रुध-  
द्गुहोरकर्मकतया कारकशेषत्वात् 'नटस्य शृणोति' इतिवत् षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनम् । इतरयोस्तु सकर्मकत्वात् द्वितीयायां प्राप्तायाम् ।

क्रुधद्गुहोरुपसृष्टयोः कर्म (अष्टा०सू०१-४-३८) । सोपसर्गयोरनयोर्ये प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । पूर्वसुत्रापवादः । देवदत्तमभिकु-  
ध्यति, अभिद्रुह्यति ।

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः (अष्टा०सू०१-४-३९) । एतयोः कारकं स-  
म्प्रदानसंज्ञं स्यात् । यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते । कृष्णाय राध्यति  
ईक्षते वा । पृष्ठो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः । शुभाशुभपर्यालो-  
चनमिह धात्वर्थः । शुभाशुभरूपयोः कर्मणोर्धात्वर्थेनोपसङ्गहादकर्मका-  
वेतौ । षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनम् । अत एव राध्यतीति इयन्, अकर्मका-  
देव तद्विधानात् । तथाच दिवाद्यन्तर्गणसूत्रं "राधोऽकर्मकाद्भुद्धावेव"  
(ग०सू०) इति । अस्यार्थः-एवकारो भिन्नक्रमः । राधोऽकर्मकादेव । यथा  
वृद्धाविति । अत एव "कर्मवत् कर्मणा" (अष्टा०सू०३-१-८७) इति सूत्रे  
"राध्यत्योदनः स्वयमेव" इति भाष्यं सङ्गच्छते । तत्र हि सिध्यती-  
त्यर्थः । एतेन—

न दूये सात्वतीसुनुर्यन्मह्यमपराध्यति ।

क्रियासमभिहारेण विराध्यन्ते क्षमेत कः ॥

इति माघप्रयोगौ व्याख्यातौ । एतेनैतयोः कर्मकारकं सम्प्रदानं स्या-  
दिति व्याचक्षाणाः परास्ताः । यस्येत्यनर्थकं यम्प्रतीत्यनुवृत्त्यैवेष्टिसिद्धेः ।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता (अष्टा०सू०१-४-४०) । प्रतिपूर्व आ-  
ङ्पूर्वश्च शृणोतिरभ्युपगमे वर्तते । तस्य पूर्वो व्यापारः प्रवर्त्तनक्रिया,  
तस्याः कर्त्ता सम्प्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा ।  
विप्रेण मह्यङ्गां देहीति प्रवर्त्तितः प्रतिजानीते इत्यर्थः । हेतुसंज्ञायां  
प्राप्तायां 'देवदत्तेन प्रतिशृणोति' इति प्रयोगनिवृत्तये वचनम् । विव-  
क्षान्तरे तु 'देवदत्तो गां प्रतिश्रावयति' इति भवत्येवेति हरदत्तः । अत्रेदं  
चिन्त्यम्-उक्तरीत्या 'देवदत्तो रोचयति मोदकम्' इत्यपि प्रयोगो  
दुर्वारः । न चेष्टापत्तिः । तत्रत्यस्वग्रन्थेन हेलाराजग्रन्थेन च विरोधात् ।  
तत्र हेतुत्वबाधान्न णिजिति यदि, तर्हि प्रकृतेऽपि तुल्यम् । तस्मादिह  
वैषम्यं दुर्वचमिति ।

अनुप्रतिगृणश्च (अष्टा०सू०१-४-४१) । अनुपूर्वस्य प्रतिपूर्वस्य गु-



णातेः कारकं पूर्वस्य कर्तृभूतं सम्प्रदानं स्यात् । अनुप्रतिभ्यां गृणाः अनुप्रतिगृणाः तस्येति विग्रहः । अनुप्रतिपूर्वश्च गृणातिः शंसितुः प्रोत्साहने वर्त्तते । तत्र पूर्वो व्यापारः शंसनम् । होत्रे अनुगृणाति प्रति-गृणाति वा होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः 'ओथामोदेव' इत्यादिभिः शब्दैः प्रोत्साहयतीत्यर्थः ।

साधकतमं करणम् (अष्टा०सू०१-४-४२) । क्रियायां प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् । यद्यापारानन्तरं क्रियानिष्पत्तिः तत्प्रकृष्टम् । उक्तञ्च—

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।

विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ इति ।

काष्ठैः पचति । विवक्ष्यते इत्यनेन स्थाल्यादीनामपि वैवक्षिकं करणत्वमस्तीत्युक्तम् । आह च—

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तुव्यवस्थितम् ।

स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः

ननु कारकाधिकारादेव सिद्धे साधकत्वे पुनः श्रुतिः प्रकर्षार्थाऽस्तु किं तमपा ? सत्यम्, अस्मिन्प्रकरणे सामर्थ्यगम्यप्रकर्षो नाश्रीयते इति ज्ञापयितुं तमप् । तेन 'गङ्गायां घोषः' इति सिद्धम् । यदा च तीर-धर्म आधारत्वं प्रवाहे उपचर्यते तदेदं प्रयोजनम् । यदा तु गङ्गाशब्द एव तीरे वर्त्तते तदा न प्रयोजनम् । तत्राद्ये विभक्तिर्लाक्षणिकी । "सु-व्विभक्तौ न लक्षणा" इति तु "येन विधिः" (अष्टा०सू०१-१-७२) इति सूत्र एव निराकृतम् । द्वितीये तु प्रकृतिर्लाक्षणिकी । ननु उभयं मुख्य-मस्तु । परम्परासम्बन्धस्तु संसर्गः । मैवम्, कारकविभक्त्यर्थानां प्रकृत्यर्थे साक्षात्सम्बन्धेन विशेष्यताया व्युत्पन्नत्वात् । अपादानप्रकर-णोक्तानि च बहून्युदाहरणानि तमग्रहणस्य प्रयोजनानीति बोध्यम् ।

दिवः कर्म च (अष्टा०सू०१-४-४३) । दिवः साधकतमं कर्मसंज्ञं स्यात्, चकारात्करणसंज्ञम् । करणशब्दादुच्यते वक्ष्यमाणस्यान्यतर-स्यां ग्रहणस्याकर्षणेन वा संज्ञयोः पर्याये लब्धे समावेशार्थश्चकारः । तेन 'मनसा दीव्यतीति मनसादेव' इत्यत्र कर्मण्यण् करणे तृतीया चेत्युभयं सिध्यति । "मनसः संज्ञायाम्" (अष्टा०सू०६-३-४१) इत्य-लुक् । किञ्च 'अक्षैर्देवयते यज्ञदत्तेन' इत्यत्र सकर्मकत्वादणि कर्तुर्णो कर्मत्वं न, "अणावकर्मकात्" (अष्टा०सू०१-३-८८) इति परस्मैपदं च नेति दिक् ।

स्यादेतत्, यदि समावेशः, तर्हि 'अक्षान् दीव्यति' इत्यत्र परत्वा-



चतुर्था स्यात् । तथाहि, करणसंज्ञाया अवकाशः—‘देवना अक्षाः’ ।  
करणे ल्युट् । कर्मसंज्ञाया अवकाशः—दीव्यन्ते अक्षाः । “भावकर्मणोः”  
(अष्टा०सू०१-२-१३) इति यगात्मनेपदे । ‘अक्षान्’ इत्यत्र तूभयसंज्ञाप्र-  
युक्तकार्यप्रसङ्गे परत्वाच्चतुर्थीयैव प्राप्नोति । अत्राहुः, कार्यकालपक्षे “कर्म-  
णि द्वितीया” (अष्टा०सू०२-३-२) इत्यत्र पदस्योपस्थानं तस्यानवका-  
शत्वात् द्वितीयेति । ननु ‘दीव्यन्ते अक्षाः’ इत्यत्र कर्मण्यभिहितेऽपि  
करणत्वस्यानभिधानाच्चतुर्था स्यात् । तथा ‘देवना अक्षाः’ इति ल्युटा  
करणस्याभिधानेऽपि कर्मणोऽनभिधानात् द्वितीया स्यात् । मैवम्,  
एकैव ह्यत्र शक्तिः संज्ञाद्वययोगिनी । तथाचोभयत्राप्यभिधानमेव न  
त्वनभिहितत्वम् ।

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् (अष्टा०सू०१-४-४४) । नियत-  
कालं वेतनादिना स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं स-  
म्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् । शताय शतेन वा परिक्रीतः । परिशब्दः सामीप्यं  
द्योतयति । क्रयो नामात्यन्तिकं स्वीकरणम् । नियतकालन्तु तस्य स-  
मीपमिति भावः ।

आधारोऽधिकरणम् (अष्टा०सू०१-४-४५) । आध्रियन्तेऽस्मिन् क्रि-  
या इत्याधारः । “अध्यायन्यायोद्याव” (अष्टा०सू०३-३-१२२) इत्या-  
दिना करणे घञ् । क्रियाश्रययोः कर्तृकर्मणोर्धारणात् परम्परया क्रियां  
प्रति आधारः तत्कारकमधिकरणं स्यात् । कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति ।

स्यादेतत् । साक्षात्क्रियाधारयोः कर्तृकर्मणोरेव कुतो नेयं संज्ञेति  
चेत् ? न, पराभ्यां कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यां बाधितत्वात् । अत एवाहुः—

कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत्क्रियाम् ।

उपकुर्वत्क्रियासिद्धो शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ॥ इति ॥

अत एव ‘भूतले घटः’ इत्यादौ अस्तीत्यस्याध्याहारो नियतः ।  
यथा ‘पुष्पेभ्यः’ इत्यत्र स्पृहयते । अत एव च नञा सह कारकान्वयं  
वदन्तः परास्ताः । त्रिविधं चैतदधिकरणमिति “संहितायाम्” (अष्टा०  
सू०६-१-७२) इति सूत्रे भाष्यम्—औपश्लेषिकं वैषयिकमभिध्यापकञ्चेति ।  
कटे आस्ते, गुरौ वसति, तिलेषु तैलमिति ।

अधिशोऽध्यासां कर्म (अष्टा०सू०१-४-४६) । अधिपूर्वाणामेषां  
आधारः कर्म स्यात् । अधिशोते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ।

अभिनिविशश्च (अष्टा०सू०१-४-४७) । एतत्पूर्वस्य विशतेराधारः  
कर्म स्यात् । ग्राममभिनिविशते । अभिनिवेश आग्रहः, तद्वान् भवती-  
त्यर्थः । अकर्मकोऽयं, तत्राधिकरणस्य कर्मसंज्ञा विधीयते । प्रवेशनार्थं



तु सिद्धैव । “परिक्रियणे सम्प्रदानम्” (अष्टा०सू०१-४-४४) इति सूत्रा-  
दिहान्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतिन्यायेन । व्यवस्थितवि-  
भाषा चेयम् । “एष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्” इति समर्थसूत्रस्थभाष्यप्र-  
योगश्चेह मानम् । तेन ‘पापेऽभिनिवेशः’ इत्यादि सिद्धम् । इह सूत्रे  
नेरल्पाक्षरस्य परनिपाताकरणमीदृशानुपूर्वीकसमुदायविवक्षार्थम् ।  
तेनेह न ‘निविशते यदि शूकशिखापदे’ इति । कर्मत्वविवक्षायान्तु त-  
त्रापि भवितव्यमेव द्वितीयया ।

उपान्वध्याङ्वसः (अष्टा०सू०१-४-४८) । एतत्पूर्वकस्य वसतेराधारः  
कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति अधिवसत्यावसति वा ग्रामं सेना ।  
वसेरर्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ अर्थशब्दो निवृत्तिवचनः । व्यधि-  
करणे षष्ठ्यौ । वाच्यवाचकभावः षष्ठ्यर्थः । भोजननिवृत्तेर्वाचको  
यो वसिस्तस्य नेत्यर्थः । ग्रामे उपवसति । कथम् ‘उपोष्य रजनीमे-  
काम्’ इति ? “कालाध्वनोः” (अष्टा०सू०२-३-५) इति द्वितीया भवि-  
ष्यति । कथम् ‘एकादश्यां न भुञ्जीत’ इति ? उपपदविभक्तेः कारक-  
विभक्तिर्भविष्यति ।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म (अष्टा०सू०१-४-४९) । कर्त्रा यदाप्तुमिष्यते-  
तमां तत्कर्मसंज्ञं स्यात् । यद्यापाराश्रयत्वादसौ कर्ता तेनैव व्यापारेणा-  
प्तुमिष्टमिति सन्निधानाल्लभ्यते । तेन क्रियाफलशालित्वं पर्यवस्यति ।  
क्रिया हि फलेच्छापूर्वकेच्छाविषयः, फलमेव त्विष्टतमम् । तच्च धातु-  
नोपात्तमिति तद्विशिष्टत्वेनेच्छाविषयोऽत्र संज्ञी । स च त्रिविधः ।

उक्तञ्च—

निर्वर्त्यञ्च विकार्यञ्च प्राप्यञ्चेति त्रिधा मतम् ।

तत्रेप्सिततमं कर्म चतुर्धाऽन्यत्तु कल्पितम् ॥

औदासीन्येन यत्प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम् ।

संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम् ॥

तथा—

यदसज्जायते सद्वा जन्मना यत्प्रकाशते ।

तन्निर्वर्त्यं विकार्यन्तु कर्म द्वेधा व्यवस्थितम् ॥

प्रकृत्युच्छेदसंभूतं किञ्चित्काष्ठादिभस्मवत् ।

किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ॥

क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते ।

दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते ॥

‘तत्र निर्वर्त्यं यथा—‘घटं करोति’ इति । घटा ह्यसन्नेव जायते वैशे-



षिकादिमते । सङ्ख्यादिसत्कार्यवादिमते तु सन्नेवाभिव्यज्यते इत्य-  
स्ति विशेषलक्षणम् । सामान्यलक्षणन्तु कृधातूपात्तोत्पत्त्याख्यफल-  
शालित्वात् । एतेन करोतिर्यत्नार्थकं इति मतं प्रत्युक्तम्, यतते  
इतिवदकर्मकतापत्तेः । न च जानातिवद्विषयत्वापादनपर्यन्तार्थाभ्युपग-  
मेनापि निर्वाहः, लाघवेनोत्पादनमात्रपरत्वात् कर्तृस्थक्रियतया कर्मव-  
द्भावासिद्धिप्रसङ्गाच्च । प्रकृतेः प्रकृतिभूतस्यात्मन उच्छेदं सम्भूतं प्रा-  
प्तम् । तद्यथा, 'काष्ठं भस्म करोति' । गुणान्तरोत्पत्त्या यथा- 'सुवर्णं कु-  
ण्डलं करोति' इति । इह भस्मकुण्डलयोर्निर्वर्त्यत्वमेवेति बोध्यम् ।  
प्राप्यन्तु- 'आदित्यं पश्यति' इति । तथायुक्तमिति द्विविधम्- द्वेष्यमि-  
तरच्च । "अकथितं च" (अष्टा०सू०१-४-५१) इत्यपरम् । संज्ञान्तरप्रस-  
ङ्गे चान्यत्- "दिवः कर्म च" (अष्टा०सू०१-४-४३) इत्यादि । तदित्थं  
सप्तविधं कर्मेति स्थितम् । इह प्राप्ये यद्यपि विषयताख्यः क्रियाकृतवि-  
शेषोऽस्त्येव । अन्यथा कर्मत्वानुपपत्तेः । तथापि प्रतिपत्तव्यतिरिक्तपु-  
रुषापेक्षया विशेषो न गम्यते इत्युक्तम् । विकार्ये तु काष्ठादौ कथं धातू-  
पात्तफलाश्रयतेत्यवशिष्यते । तत्रेदं तत्त्वम् । प्रकृतिविकृत्योरभेदवि-  
क्षया निरुद्धया उत्पत्त्याश्रयता । यद्वा, काष्ठानि विकुर्वन् भस्मोत्पादय-  
तीत्यर्थः । तण्डुलान् विक्लेदयन्नोदनं निर्वर्तयतीतिवत् । एतच्च "द्य-  
र्थः पचिः" इति प्रक्रम्य भाष्ये व्युत्पादितम् । तत्र 'तण्डुलानोदनं पच-  
ति' इति प्रयोगे तण्डुलनिष्ठविक्लित्तोदोदोत्पत्तेश्चानुकूलो देवदत्तनिष्ठ-  
व्यापार इत्यर्थः । 'तण्डुलान्पचति' इत्यत्र तु विक्लेदयतीत्यर्थः । 'ओदनं  
पचति' इत्यत्र तु विकलित्या निर्वर्तयतीत्यर्थः । उक्तं च—

सम्बन्धमात्रमुक्तञ्च श्रुत्या धात्वर्थभावयोः ।

तदेकांशनिवेशे तु व्यापारोऽस्या न विद्यते ॥ इति ।

तस्माद्धातुत्वेन धातूपात्तां भावनां प्रति पचित्वेन पच्युपात्ता वि-  
किलिप्तिः कर्मतया करणतया वा यथायथं सम्बध्यते इति स्थितम् । इदं  
त्ववधेयम्, क्रियाया धातुना कर्तुरपि देवदत्तादिशब्देन लाभाद्यथा न  
द्वितीयार्थता तथेष्टतमत्वादेरपि, प्रयोगोपाधिमात्रत्वात् । अधिशीडा-  
दिवत् । एवञ्च तथायुक्तस्थल इवेहापि धातूपात्तफलाधारमात्रमर्थः ।  
आधेयमेव वा । तच्चाभेदेन फलेऽन्वेति । "अनन्यलभ्यः शब्दार्थः" इति  
न्यायात् । अन्यथा तथायुक्तत्वानाप्सितत्वयोरपि वाच्यतापत्तौ सकल-  
तान्त्रिकविरोधाच्च । एवन्तु फलाश्रयः कर्मेत्येवास्तां किं द्विसूयत्येव-  
शिष्यते । तत्रेदमुत्तरम्, 'अग्नेर्माणवकं वारयति' इत्यत्र माणवकस्य  
अपादानसंज्ञां बाधितुमीक्षिततममिति तावद्वक्तव्यम् । तस्मिंश्चोक्ते द्वे



व्योक्तासीनयोः सङ्ग्रहार्थं “तथायुक्तम्” (अष्टा०सू०१-४-५०) इत्यपि सूत्रणीयम् । अनीप्सितग्रहणन्तु सकयं प्रत्याख्यातुम् । तत्र च कर्तृकर्मविभक्त्योद्भवयोख्याधारो वाच्यः, अभ्येयं वा । व्यापारेण फलेन चान्वय इति तु व्यवस्थया शब्दबोधवैषम्यमिति स्थितम् । ‘मोदोदनी’ ‘पक्ता’ ‘पक्कः’ इत्यादिकृदन्तानां नामार्थेऽभेदान्वयानुरोधादाधार एवार्थः, फलभावनयोस्तु विशेषणविशेष्यभावो विपरीत इत्यवधेयम् ।

तथायुक्तश्चानीप्सितम् (अष्टा०सू०१-४-५०) । ईप्सिततमकर्तृकिययय युक्तमनीप्सितमपि कर्मसंज्ञं स्यात् । ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्शुपसर्पति । चौरान् पश्यति ।

अकथितञ्च (अष्टा०सू०१-४-५१) । अवादानादिविशेषैरविबक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । “नटस्य शृणोति” इत्यादावतिप्रसङ्गं वारयितुं परिगणनं कर्तव्यम् ।

बुद्ध्याचिरुधिप्रालिभिक्षिचिआमुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।

ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥

नीवह्योर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च ।

द्विकर्मकेषु ग्रहणं कर्तव्यमिति निश्चयः ॥

इह प्रणीत्यत्र “छे च” (अष्टा०सू०६-१-४३) इति तुङ् न कृतः, आगमशासनस्यानित्यत्वात् “सनाद्यन्ता धातवः” (अष्टा०सू०३-१-३२) “इको यणचि” (अष्टा०सू०६-१-७७) इतिवत् । उपयुज्यते इत्युपयोगो मुख्यं कर्म क्षीरादि तस्य निमित्तं गवादि दुह्यादीनां मुख्यकर्मणा सम्बध्यमानमिति यावत् । तथा ब्रुविशास्योगुणेन कारकेण कर्मणेति यावत् ; कारकाणां क्रियां प्रति विशेषणत्वात् । तत्रापि कर्मण एव प्रकृतत्वात् । यत्सचते सम्बध्यते । “षच समवाये” (स्वा० उ०९९७) स्वरितेत् । केचित्तु परस्मैपदिभिः सहैव धातुं पठन्ति । “षच समवाये, रप लप व्यक्तायां वाचि” इति । तन्मते “षच सेवने” (स्वा०भा० १६३) इत्यस्यानुदात्ततो वातूनामनेकार्कत्वासमवाये वृत्तिर्बोध्या । उभयथापि सम्बन्धातेः कर्मव्यापारे संचिर्षतते । अत एव कर्तृपदस्य कर्मपदेनार्थकथनं न विरुध्यते । “राधवत्योदनः” इत्यस्य पठ्यते इत्यनेन यथा । उभयत्राप्योदननिष्ठविकृतसेर्मानाविशेषात् । कविना मेधाविना सूत्रकारेण तदकीर्तितमित्काचरितं व्यवहृतमित्यर्थः । अपूर्वविधिविति । पूर्वोक्तानामपादानादिसंज्ञानां विषयश्रेष्ठास्तीत्यर्थः । न चैवं वक्ष्यमाणयोर्हेतुकर्तृसंज्ञयोर्विषयेऽतिप्रसङ्गः स्यादिति वाच्यम्, एकसंज्ञाधिकारेण पराभ्यां हेतुकर्तृसंज्ञाभ्यां कर्मसंज्ञाया बाधात् । प्राञ्चस्तु



पूर्वग्रहणमन्यमानोपलक्षणम् । तेन वक्ष्यमाणयोर्हेतुकर्तृसंज्ञयोर्विषये ना-  
तिप्रसङ्गः । सूत्रेऽप्यकथितमिति कथननिवृत्तिपरायाज्ञोदनात् भूतकालो  
न विवक्ष्यते । यथा “पराजेरसोढः” (अष्टा०सू०१-४-२६) इत्यत्रासहि-  
ष्यमाणस्याप्यपादानसंज्ञा भवति ‘अध्ययनात्पराजेष्यते’ इति तथेहा-  
पीत्याहुः । तच्चिन्त्यम्, उक्तरीत्या यथाश्रुतेऽपि सर्वसामञ्जस्यात् ।  
“नीवह्योः” इति श्लोके गत्यर्थानामित्युत्तरसूत्रोपात्तानामुपलक्षणम् ।  
अकारेण जयत्यादयो गृह्यन्ते इति कैयटः । माधवोऽप्याह—

जयतेः कर्षतेर्मन्थेर्मुषेर्दण्डयतेः पचतेः ।

तारैर्ग्राहेस्तथा मोचेस्त्याजेर्दार्पिश्च सङ्ग्रहः ॥

कारिकायाश्चशब्देन सुधाकरमुच्यते कृतः ॥ इति ।

एतन्निष्कर्षस्तु करिष्यते । क्रमेणोदाहरणानि—गान्देक्षेधि पयः ।  
अविनीतं विनयं याचते । गामवरुणद्धि व्रजन । माणवकं कथानं पृ-  
च्छति । पौरवं गां भिक्षते । वृक्षमवाचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं  
ब्रूते ज्ञास्ति वा । अजां नयति ग्रामं, वहति भारं ग्रामं हरति ज्ञा, गम-  
यति ग्राममित्यादि । जयतेः—शतं जयति देवदत्तम् । कर्षति शाखां  
ग्रामम् । क्षीरनिधिं सुधां मथ्नाति । मुष्णाति शतं देवदत्तेन । गर्मान्  
शतं दण्डयति । तण्डुलानोदनं पचति । तारयति कपीन् समुद्रम् । ग्रा-  
हयति बटुनेदम् । मोचयति त्याजयति ज्ञा कोपं देवदत्तम् । दीपयति  
शास्त्रार्थं शिष्यान् ।

स्यादेतत्, दुहादीनामर्थनिबन्धनेयं संज्ञा न तु स्वरूपाश्रया, “अ-  
हमपीदमचोद्यं चोद्ये” इति तद्राजसूत्रभाष्ये पृच्छिपर्यायस्य चुदेरपि  
द्विकर्मकत्वदर्शनात् । तथा च भट्टिः—

स्थास्तुं रणे स्मेरमुचो जगाद

मारीचमुच्चैर्वचनं महार्थम् ।

कालिदासोऽपि—

शिलोच्चयोऽपि क्षितिप्राप्तमुचैः

प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव । इति ।

भारविश्च—

उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः । इति ।

तथाच मिक्षेरर्थपरत्वाद्याद्येऽपि सिद्धम्, तुल्यार्थत्वात् । ‘पौरवं  
गामर्थयते’ इति यथा । तर्हि प्राप्तेः पृथग्रहणेनेति चेत् ? अत्राहुः, अ-  
नुनयार्थोऽत्र याचतिः । विनयं याचते । विनयायथानुनयतीत्यर्थात् ।  
अस्तु तर्हि याचरेव ग्रहणम् । तस्यानेकार्थत्वाद्भिक्षेरपि सिद्धमिति



चेत् ? न, अर्थभेदेन शब्दभेद इति दर्शनमाश्रित्यानुनयार्थस्यैव पाचेरिह प्रहणात् । अत एव हि नयतिग्रहणेनानुनयार्थस्यापि न गतार्थता । स्पष्टार्थं भिक्षेः पृथग्ग्रहणमित्यन्ये । चकारेण पचेग्रह इति यन्माधवादिभिरुक्तं तन्मतभेदेन । तथाच “कर्मवत्कर्मणा” (अष्टा०सू०३-१-८७) इति सूत्रे “दुहिपच्योर्वहुलं सकर्मकयोः” इतिवार्तिकव्याख्यावसरे पचेद्विकर्मकता कैयटेन स्फुटीकृता । यत्तु “कर्तुरीप्सिततमम्” (अष्टा०सू०१-४-४९) इति सूत्रे ‘द्वयर्थः पचिः’ इत्यादि भाष्यं तत्तु मतान्तरेण । अन्यथा ‘तण्डुलानोदनं पचति’ इति प्रयोगस्य यथाश्रुतस्योपपत्तौ किं मुधा क्लेशेन । अत एव अकथितशब्दो यद्यप्रधानार्थो गृह्येत तदा ‘पाणिना कांस्यपाड्यां दोग्धि पयः’ इति पाणिकांस्यपाड्योरितिप्रसङ्गः । करणाधिकरणयोस्तु पचत्यादिरवकाशः । न हि तत्रास्य प्रसङ्गो दुहादिपरिगणनादित्यकथितसूत्रे कथयतः कर्मवत्सूत्रे तु पचेद्विकर्मकतां ब्रुवतो हरदत्तस्य न पूर्वापरविरोधः, मतभेदपरत्वात् । अत एव पचिधातुनिरूपणे ‘तण्डुलानोदनं पचति’ इति प्रयोगं द्विकर्मकतयैव माधव उदाहृतवानिति दिक् । तथा ग्राहेद्विकर्मकत्वं बहवो न मनिरे । अत एव—

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।

पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥

इति कालिदासश्लोके पूर्वार्थे ग्रहेर्दुह्यर्थतया “गतिबुद्धि” (अष्टा० सू०१-४-५१) इति सूत्रेणाणौ कर्तुणौ कर्मत्वात्तमिति योजयित्वा उत्तरार्थे तेनेति विभक्तिविपरिणामेन व्याचख्युः । अत एव च—

अजिग्रहत्तं जनको धनुस्तद्येनादिदद्वैत्यपुरं पिनाकी ।

जिज्ञासमानो बलमस्य बाव्होर्हसन्नमाङ्गीद्रिघुनन्दनस्तत् ॥

इति भट्टिप्रयोगो जयमङ्गलायामित्थं व्याख्यातः । अजिग्रहत् अनेन धनुषा भगवता त्रिपुरदाहः कृत इति बाधितवानिति । युक्तञ्चैतत्, श्रीरघुपतिं प्रति नियोगकथनानौचित्येन स्वरूपोपस्थापनस्यैव कर्तव्यत्वात् । एतेन—

अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।

इति व्याख्यातम्, ग्रहेर्वुद्ध्यर्थत्वात् । यद्वा, इषिशक्योस्तुमुनन्तसमिव्याहृतयोर्द्विकर्मकताया भाष्ये स्थितत्वात्सिद्धमेतदिति माधवः । ग्राहेद्विकर्मताभ्युपगमपक्षे तु “जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्” (र०वं० २-१-१) इति न सिध्येत् । तत्र हि “ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः” इति प्रयोज्ये धेनुरूपे कर्मणि क्तः स्यात् । तथाच जायया गन्धमादये प्रतिग्राहिता



येति विग्रहे बहुव्रीहिरेव न स्यात्, त्रिकतः शेषस्य भाष्ये स्थितत्वात् । सत्यपि वा तस्मिन् पुंवद्भावो दुर्लभः । सिद्धान्ते तु प्रतिग्राहिते गन्धमालये ययेति विग्रहः । जायानिष्ठप्रेरणविषयीभूतं गन्धमालयकर्मकं यत्प्रतिग्रहणं तत्कर्त्रीमित्यर्थः । अन्यपदार्थान्तर्भावैव विशेषणविशेष्यवैपरीत्येनैवैकार्थ्यभावकल्पनात् । मासजातादिष्वत् । व्यपेक्षापक्षे तु तु अपष्टीविभक्त्यर्थे बहुव्रीहौ सर्वत्र व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनाऽस्त्येव । 'प्राप्तादेकम्' इत्यस्य हि उदककर्तृकप्राप्तिकर्मीभूतमर्थः । 'ऊढरथः' रथकर्मकवहनकर्ता । 'उपहृतपशुः' पशुकर्मकोपहारसम्प्रदानम् । 'उद्धृतौदनः' ओदनकर्मकोद्धरणापादानम् । 'वीरपुरुषकः' वीरपुरुषकर्तृकस्थायधिकरणमिति दिक् ।

स्यादेतत् । अपादानाद्यविवक्षायां द्विकर्मकताऽस्तु, तद्विवक्षायान्तु "जायाप्रतिग्राहित" इत्यादि सेत्स्यति । मैवम्, "हरतेश्च" इति चकारेण समुच्चितानां जयत्यादीनामकथितसूत्रविषयत्वेऽपि "तथैव च" इति समुच्चितानामणौ कर्तुणौ कर्मताभ्युपगमात् । गत्यर्थः साहचर्यात् । अत एव तार्यादयः पृथगेव सङ्गृहीताः । युक्तञ्चेतत्, ग्रहणकर्तृत्वस्याविवक्षायां प्रयोजकस्य हेतुत्वाभावे णिचो दुर्लभत्वात् । न चैवं दीपि-ग्रहणवैयर्थ्यमकर्मकत्वादेवाणौ कर्तुणौ कर्मत्वसिद्धेरिति वाच्यम्, प्यन्ताणिचि तत्सार्थक्यात् । शिष्याः तत्त्वं दीपयन्ति तानसौ प्रेरयतीत्यर्थः । नन्वेवं त्याजेः सङ्गृहीतत्वाद्यद्यपि "त्याजितैः फलमुत्खातैः" "मुक्ताहारश्चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या" इत्यादि सिद्धम् । तथापि गवा पयस्त्याजयतीत्यर्थ इति कैयटहरदत्तादिग्रन्थो विरुध्यते इति, चैत्रविशेषाविवक्षायां कर्मत्वेऽपि कर्तृत्वविवक्षायां तस्य निर्बाधत्वात् ।

स्यादेतत्, "कर्तुं णिप्सिततमं कर्म" (अष्टा०सू०१-४-४९) "तथा-युक्तञ्जानीप्सितम्" (अष्टा०सू०१-४-५०) इति सूत्राभ्यां सर्वमिदं सिद्धम् । तथाहि यथा विक्रित्युपसर्जनं विक्रेदने पचेरर्थः, न्यग्भावनं रुहेः, द्विधाभावनं मिदेः, तथा त्यजनोपसर्जनं त्याजनं दुहेः, दापनं याचेः भिक्षेश्च; अङ्गीकारणमपि याचेः, प्रवेशोपसर्जनमवस्थापनं रुधेः, आख्यापनं पृच्छेः, मोचनं चिजः, प्रतिवादनं ब्रूजः, तद्विशेषस्तु शासे-रित्यादि । एवञ्च धातूपात्तव्यापारविषयाश्रयत्वं गवादेः स्पष्टमेवेति । अत एवाकडारसूत्रे "अपादानमुत्तराणि, गान्दोग्धीत्यत्र परत्वात्कर्मसंज्ञा" इति भाष्ये सङ्गच्छते । पञ्चकं प्रातिपदिकार्थ इति पक्षेऽवधित्वफलश्रयत्वयोर्युगपद्विवक्षायां चेदम्, अवधिभूता या गौस्तन्निष्ठो यः क्षरणानुकूलव्यापारस्तद्विषयिणी गोपनिष्ठा प्रेरणेत्यर्थात् ।



अत्रोच्यते, कर्मणः शेषत्वेन विवक्षायां 'न माषाणामश्नीयात्' इति वस् षष्ठीं बाधितुं सूत्रम् । अपादानत्वमात्रविवक्षायां तु पञ्चम्येव, गोः क्षीरविश्लेषणत्वे तु षष्ठी भवत्येवेति न कश्चिद्दोषः । तथाचेह षष्ठीसम्बन्धमात्रं द्वितीयार्थ इति स्थितम् ।

अथेदं विचार्यते--कर्मणि विधीयमाना लकृत्यक्तखलर्याः किं द्विकर्म-कर्मयो मुख्ये कर्मणि स्युर्गौणे वेति । अत्र भाष्यम्--

प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् ।

अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥ इति ।

अभिधाने इति शेषः । अत्र द्विकर्मणामित्यनेन "नीवह्योर्हरतिश्च" इति च शब्दसमुच्चितः कृषिर्नयत्यादयश्च त्रय उच्यन्ते, अन्येषां विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा दुहादीनामित्यनेन कारिकोपात्ताः, चशब्दसमुच्चितेष्वहेतुमण्यन्ता दण्ड्यादयश्चोच्यन्ते । ण्यन्त इत्यनेन तु गत्यादि-सूत्रोपात्ताश्चशब्दसमुच्चितास्तार्यादयश्च । तत्र अणौ कर्म सस्याभिधाने लादय इत्यर्थः । तत्रापि बुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकेषु गुणकर्मणीति मतान्तरम् । तथाच भाष्यम्--

कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिर्गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे ।

ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाथ गुणे तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत ॥ इति ।

अत्र प्रधानकर्मणि लादिभिरभिहिते गुणकर्मणि षष्ठीत्येकीयमतदूषणपरः प्रथमः पादः । त्वस्या षष्ठ्याः सिधिरितीयं त्वस्य अन्यस्य मतिर्न तु ममेत्यर्थात् । सपरं गत्यादिसूत्रोपात्तसहिते दुहादौ गुणकर्मणि लादयः । गुणकर्मेति । पुरुषप्रवृत्तेः पयःप्रभृत्यर्थत्वाद् दुहादावप्रधानं गवाद्युच्यते । ण्यन्ते तु शब्दतः प्रयोजकव्यापारस्य प्राधान्यम् । प्रयोज्यव्यापारस्य त्वप्राधान्यमिति तदार्थधर्माद्युच्यते । ध्रुवयुक्तयोऽकर्मकाश्चेष्टितयुक्तयो गत्यर्थाः । एष्वगुणे प्रयोज्ये । न च बुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकेषु गुणकर्मण्येव स्यात् ण्यन्ते कर्तुश्चेत्यस्य सपर इत्यनेन बाधादिति वाच्यम्, अपर आहेति भाष्येण मतान्तरता-शङ्कसायात् ।

अत्रायं सङ्ग्रहः--

गौणे कर्मणि दुहादेः प्रधाने नीहकृष्वहाम् ।

बुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मसु चेच्छ्रया ॥

प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां ण्यन्तानामिह निश्चितः ।

लकृत्यक्तखलर्यानां प्रयोगो भाष्यपारगैः ॥

तत्र नीप्रभृतीनां प्रधानकर्मसम्बन्धोऽन्तरङ्गः । दुहादीनान्तु विप-



रीतम् । तेन तदंशे न्यायसिद्धो नियमः । इतरन्तु सर्वं वाचनिकम् । क्रमेणोदाहरणानि—गौर्दुह्यते पयः । दोह्या दुग्धा सुदोहा । अजा ग्रामं नीयते । नेया नीता सुनया । बोध्यते माणवकं धर्मः, मार्णवको धर्ममिति वा । देवदत्तो ग्रामं गम्यते गमयितव्यः गमितः सुगम इति । यत्तु कौमुद्यां दुह्याच्यर्थेत्यादिना दुह्यादीन् न्यादींश्च द्वैराद्येन पठित्वा न्यादयो मुख्ये दुह्यादयो गौण इत्युक्तम् । तत्र ग्रहेः पाठो निर्मूल एव । “जग्राह द्युतरं शक्रम्” इत्युदाहरणञ्चायुक्तम् । इतरेषान्तु द्विकर्मकतामात्रतात्पर्यकः पाठः । न्यादयो दुह्यादयश्चेत्युभयत्राप्यादिशब्दः प्रकारे इति सिद्धान्ताविरोधेन व्याख्येयम् । यथाश्रुते हि दण्डिमुषिभ्यां मुख्ये स्यात् । तथाच ‘गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्’ इति भाष्यं विरुध्येत । शतं त्वत्र प्रधानं, गर्गाः अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्तीति वाक्यशेषात् । दण्डिश्चेह ग्रहणार्थो न तु निग्रहार्थः । अत एव ह्यत्र समुदाये वाक्यसमाप्तिः, गुणानुरोधेन प्रधानावृत्तेः सम्भवात् । तथा मन्थेरपि प्रधाने स्यात् । इष्यते तु गौणे । तथा च भारविः—

येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसञ्ज्ञा

देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थ । इति ।

अमृतं ह्यत्रोद्देश्यतया मुख्यम् । अम्बुनिधिस्तु गौणः । यदपि अन्ये तु यथारुचीत्युक्त्वा “गोपीहावमकार्यत भावश्चैनानमनन्तेन” इत्युदाहृतम् । तदपि न, पयन्ते कर्तुश्च कर्मण इति सिद्धान्तात् । यद्वा, “कृविज्ञाने” इतिचुरादावात्मनेपदीबोपदेवेन पठितः । तस्येदमुदाहरणम्, बुद्ध्यर्थेषु पक्षद्वयस्योपपादितत्वात् । यत्तु श्रीहर्षः प्रायुक्तम्—

स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोन्निरुचन्द्र । इति,

तच्चिन्त्यम्, शिशुना चन्द्रं प्रार्थितेत्यप्रधाने कप्रत्यये बहुव्रीहयो गात् । वक्ष्यति हि—अप्रथमाविभक्त्यर्थे चायमिति । न च चन्द्रे कः, “अप्रधाने दुहादीनाम्” इत्युक्तः । अत एव “काकपक्षधरमेत्य याचितः” इति कालिदासः ।

कृत्षष्ठी गुणमुख्याभ्यां कर्मभ्यां प्राप्यते पृथक् ।

अविशेषाद् द्वितीयावन्नेता ग्रामस्य गोरिति ॥

यत्रत्येकेन शब्देन भिन्नकक्ष्यद्वयाभिधा ।

न शक्यते तत्र युक्तमेकस्यैवोपजीवनाम् ॥

प्रधाने नियता षष्ठी गुणे ह्युभयया भवेत् ।

इत्याह गोणिकापुत्र इति भाष्याद् गुणद्वयम् ॥

नेताश्वस्य स्रुप्तस्य स्रुप्तं वा । इह प्रधाने कर्मणि नित्या षष्ठी



भाष्यकारवचनान्तु गुणकर्मणि वैकल्पिकीति स्थितम् । नन्वकर्माणां प्राकृतकर्माभावात्कथं द्विकर्मकता ? तथाच ण्यर्थकर्मणि प्रत्ययोऽस्तु 'आस्यते माणवकः' इति । मासमिति तु प्रयोगोऽसङ्गतः । "ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु वाप्यगुणः" इति श्लोके ध्रुवग्रहणश्च व्यर्थमिति चेत् ? न, "कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्माणां, देशश्चाकर्मकाणाम्" इति भाष्याद्गन्तव्योऽध्वा अद्य गन्तव्यः । अस्मादेव निपातनाद् गन्तव्यशब्दस्य परनिपातः । गन्तव्यतया लोके प्रसिद्धस्य नियतपरिमाणस्य क्रोशयोजनादेरेव ग्रहणम् । तेन 'अध्वानं स्वपिति' इति न भवति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । यावता कालेन गौर्दुह्यते तावन्तं कालमास्ते इत्यर्थः । क्रोशमास्ते । कुरुन् स्वपिति । जन्यमात्रं कालोपाधिरिति पक्षे गोदोहादेर्यद्यपि कालत्वात्सिद्धं तथापि लोके मासादेरेव तथात्वेन प्रसिद्धत्वात्पृथग्भावग्रहणम् । देशशब्देन च ग्रामसमुदायविशेषाः कुरूपञ्चालादयो गृह्यन्ते इति कैयटः । तेन "अधिशीङ्स्थासाम्" (अष्टा० सू० १-४-४६) इत्यादेर्वैयर्थ्यं नेति ध्येयम् । "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (अष्टा० सू० २-३-५) इति तु गुणद्रव्ययोरर्थे आरम्भणीयम् । क्रोशं कुटिला । मासङ्कुडधानाः । सकर्मकार्थश्च । मासं वेदमधीते । यद्वा, आस्यादयस्तत्पूर्वके व्यापने वर्तन्ते । तथाचोत्सर्गेणैव सिद्धम्, मासमासनेन व्याप्नोतीत्यर्थात् । तथाच द्वितीये भाष्यम्—“प्राकृतमेवेदं कर्म” इति । न चैवं सकर्मकेष्वप्यतिप्रसङ्गः, लक्ष्यानुरोधेनाकर्मकाणामेवोक्तप्रकाराभ्युपगमात् । आह च—

कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः ।

सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते ॥ इति ।

हेलाराजस्त्वाह । सकर्मकेष्वपि मासमोदनं पचतीति भवत्येव । अत एवोक्तं सर्वैरिति । अकर्मकैरिति त्वविवक्षितमिति । कैयटोऽप्येवम् । अस्मिन्पक्षे 'मासमास्ते कटे' इति कटादेरपि द्वितीया प्राप्ता तथापि कालादेरेव व्यापनकर्मत्वं न तु कटादेरिति हेलाराजः । अनभिधानश्चेह शरणम् । "अधिशीङ्" (अष्टा० सू० १-४-४६) इत्यादिज्ञापकं वा बोध्यम् । इह च कर्मणि भावे च लकारे 'द्वदत्तेनास्यते मासौ मासं वा' इति रूपद्वयमपीष्टम् ।

स्यादेतत्, भावेचाकर्मकेभ्य इति वचनान्मासादिकर्मकात्कथं भाविल इति चेत् ? उच्यते, अकर्मकेभ्य इत्यनेनान्तरङ्गं द्रव्यकर्म व्युदस्यते न तु बहिरङ्गं कालादिकर्म । कर्मणीत्यत्र तु व्यक्तिपक्षाश्रयणादन्तरङ्गासन्निधौ बहिरङ्गे कालादिकर्मण्यपि प्रतिरविरुद्धा, जातिव्यक्तिपक्षयो-



लक्ष्यानुरोधेन व्यवस्थेति सिद्धान्तात् । उक्तञ्च हरिणा—

शक्तिप्रमाणसंख्यादेर्द्रव्यधर्माद्विशिष्यते

क्रियासु कालयोगोऽतः प्राग्योगो द्रव्यकर्मणा ॥ इति ॥

अतस्तैः कर्मभिर्धातुर्युक्तो द्रव्यैरकर्मकः ।

लस्य कर्मणि भावे च निमित्तत्वाय कल्पते ॥ इति च ।

एतेन—

“सस्तेमाद्यमद्याभिधानि यमुना गङ्गौघसङ्गे यया”

इति श्रीहर्षप्रयोगो व्याख्यातः ।

गतिबुद्धिशत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामाणि कर्ता स णौ (अष्टा० सू०१-४-५२) । गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मकाणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात् । नियमार्थमिदम्—णिजर्थेनाप्यमानस्य यदि भवति तर्हि गत्यर्थादीनामेवेति । तेन ‘पाचयति देवदत्तो यज्ञदत्तेन’ इत्यत्र प्रयोज्ये पूर्वप्रवृत्तकर्तृसंज्ञाया एव निरपवादत्वेनावस्थानान्तृतीया सिद्ध्यति ।  
आह च—

गुणक्रियायां स्वातन्त्र्यात्प्रेषणे कर्मताङ्गतः ।

नियमात्कर्मसंज्ञायाः स्वधर्मेणाभिधीयते ॥ इति ।

कर्तुः स्वधर्मेण तृतीययेत्यर्थः । ‘गमयति माणवकं ग्रामं’ ग्रामकर्मकं यद्रमनं तदनुकूलव्यापाराश्रय इत्यर्थः ।

नीवह्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ यद्यप्येतयोः प्रापणमर्थो न तु गतिस्तथापि विशेषणतया गतिरपि वाच्यकोटिनिविष्टेत्यावन्मात्रेण प्राप्तौ मत्वा प्रतिषेध उक्तः । नाययति वाहयति वा भारं देवदत्तेन । वहेरनियन्तृकर्तृकस्यैव प्रतिषेधः ॥ नियन्तृकर्तृकस्य प्रयोज्यः कर्मेति वक्तव्यमिति फलितोऽर्थः । वहन्ति वाहाः वाहयति वाहान् रथिनं सुतः । ‘या प्रापणे’ (अ०प०१०४९) इत्यत्र तु गतिरेव प्रापणशब्दार्थः, याति गच्छतीत्येकार्थप्रतीतिः । तेन ‘कालं पाचयति’ इत्यादौ प्रयोज्यस्य कर्मता बोध्या । बुध्यर्थग्रहणेन ज्ञानसामान्यवाचिन एव गृह्यन्ते न तु तद्विशेषवाचिनः स्मरत्यादयः । अत एव श्रुदशोरुपसङ्ख्यानं करिष्यते । बोधयति माणवकं धर्मम् । प्रत्यवसानं भक्षणम् । भोजयति आशयति माणवकमोदनम् ।

आदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ आदयति खादयत्यन्नं बहुना ।

भक्षेरहिसार्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ हेतुमणिजन्ते विधिरिति प्रतिषेधोऽप्यणावित्ययं सन्निधानात्तद्विषयः । तेन चुरादिणिजन्तेऽपि भक्षयतौ प्राप्तिस्त्वात्प्रतिषेध उपसङ्ख्यातः । भक्षयत्यन्नं बहुना । अ-



हिंसार्थस्येति किम् ? भक्षयन्ति बलीवर्दाः सस्यम् । भक्षयति बलीव-  
र्दान् सस्यम् । क्षेत्रस्थानां यवानां भक्ष्यमाणानां हिंसा द्रष्टव्या, तस्या  
मवस्थायान्तेषां चेतनत्वाभ्युपगमात् । शब्दः कर्मकारकं येषान्ते शब्द-  
कर्माणः, न त्विह “कर्तरि कर्मव्यतिहारे” (अष्टा०सू०१-३-१४)  
इत्यत्रेव कर्मशब्दः क्रियापरः, गतिबुद्धिप्रत्यवसानशब्दार्थेति वक्तव्ये-  
ऽर्थशब्दात्कर्मशब्दस्य पृथगुपादानात् अध्याययति पाठयति माणवकं  
वेदम् ।

जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम् ॥ जल्पयति विलापयति आभाषयति  
पुत्रं देवदत्तः ।

दृशेऽप्युपसङ्ख्यानम् ॥ दर्शयति हरिं भक्तान् । यद्यपि दृशेर्ज्ञानसा-  
मान्यपरत्वे बुध्यर्थत्वादेव सिद्धं तथापि ज्ञानविशेषार्थतायां न सिध्य-  
तीत्युपसङ्ख्यानमारब्धम् । ‘आवयति श्लोकं देवदत्तम्’ इति तु शब्द-  
कर्मत्वासिद्धम् । शब्दक्रियाणामिति व्याख्याने तु शृणोतेरुपसङ्ख्येयं  
स्यात् । ब्रूयति क्रन्दत्योश्च प्रतिषेध्यं स्यात् । ब्रूययति क्रन्दयति वा  
देवदत्तेन । दृशेस्तु भयथाप्युपसङ्ख्येयं स्यात् । शब्दायतेऽप्यभयथा प्रति-  
षेध्यम् । अकर्मकत्वादपि ह्यत्र प्रसङ्गः । शब्दलक्षणस्य कर्मणोन्तर्भा-  
वात् कर्मान्तरायोगाच्च । शब्दाययति देवदत्तेन । अकर्मकग्रहणेन तु  
येषां कालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति ते गृह्यन्ते, न त्वविवक्षितकर्मा-  
णोऽपि । तेन ‘मासमासयति देवदत्तम्’ इत्यादौ कर्मत्वं सिद्धम् । ‘देव-  
दत्तेन पाचयति’ इत्यादौ च न भवति । गत्यर्थकर्मकेति सूत्रेऽप्येवम् ।  
अत एवाविवक्षितकर्मकेभ्यः पचिददातिप्रभृतिभ्यः कर्तरि कौ न । अ-  
न्यथा ‘पक्ववान्’ ‘दत्तवान्’ इत्यर्थे ‘पक्वः’ ‘दत्तः’ इति स्यात् । ‘लः  
कर्मणि’ (अष्टा०सू०३-४-६९) इति सूत्रे तु अविवक्षितकर्मणामसम्भव-  
त्कर्मणां वा ग्रहणम् । अत एवाविवक्षितकर्मणां न भावे लादय इतीह  
सूत्रे वदतो “णेरणौ” (अष्टा०सू०१-३-६७) इत्यत्र तु ‘नेह पच्यते’ इति  
भावे लकार इति ब्रुवतो हरदत्तस्य मतभेदपरत्वान्न पूर्वापरविरोध  
इति दिक् ।

हुक्रोरन्यतरस्याम् (अष्टा०सू०१-४-५३) । हा च का चेति विग्रहः ।  
हुश्च क्रुश्चेति वा । अनयोरणौ कर्ता णौ वा कर्म स्यात् । नवेतिवि-  
भाषासूत्रे उभयत्रविभाषास्विदं वार्तिककृता पठितम् । तथाहि, ‘अभ्य-  
वहारयति माणवकमोदनं माणवकेन वा’ इत्यत्र प्रत्यवसानार्थत्वात्प्राप्ते  
‘विकुर्वते छात्राः, विकारयति छात्रान् छात्रैर्वा’ इत्यत्राकर्मकत्वात्प्राप्ते  
इतरत्र त्वप्राप्ते विभाषेयम् ।



अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वक्तव्यम् ॥ अभिवादयतेरप्राप्ते विभाषा । दृशेस्तु बुद्ध्याद्यर्थत्वादुपसङ्ख्यानान्नाह्वा प्राप्ते । अभिवादयति गुरुं देवदत्तः, अभिवादयते गुरुं देवदत्ते देवदत्तेन वा । “णिचश्च” (अष्टा०सू०१-३-७४) इत्यात्मनेपदम् । परस्मैपदे तु ‘अभिवादयति गुरुं देवदत्तेन’ । दर्शयते राजानं भृत्यान् भृत्यैर्वा । कर्मसंज्ञाभावपक्षे कर्मान्तरस्याभावात् “णेरणौ” (अष्टा०सू०१-३-६७) इत्यात्मनेपदमन्यत्र तु “णिचश्च” (अष्टा०सू०१-३-७४) इतीति प्राञ्चः । वस्तुतस्तु “णिचश्च” इत्येव युक्तम् । “णेरणौ” इत्यस्य तु नायं विषयः, णिज्वाच्यप्रयुक्तिभेदादिति तत्रैवोपपादितम् ।

स्वतन्त्रः कर्त्ता (अष्टा०सू०१-४-५४) । क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् । धातूपात्तव्यापाराश्रयत्वं स्वातन्त्र्यम् । आह च—

धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते । इति ।

कर्मकर्तर्येऽप्यस्तीदम् । फलव्यापारयोर्वैयधिकरण्यमात्रस्य पञ्चावौत्सर्गिकस्य परं त्यागः । विशकलितशक्तिपक्षे विशिष्टशक्तिपक्षे चेदं तुल्यम् । निवृत्तप्रेषणं कर्म स्वक्रियावयवे स्थितमिति पक्षे तु प्रधानभूतधात्वर्थ एवेह क्रिया, धातुत्वं तु भूतपूर्वभावनार्थत्वात् । एतेन कारकाणां क्रियान्वयनियमोऽपि द्वेधा व्याख्यातः । देवदत्तः पचति । स्थाली पचति । अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वादाश्रयो लकारार्थः । देवदत्तेन पच्यते । देवदत्तरूपो य आश्रयस्तद्विशिष्टो विक्रित्यनुकूलव्यापार इत्यर्थः । वैशिष्ट्यं चाधेयतारूपं संसर्गमर्यादया भासते ।

तत्प्रयोजकोहेतुश्च (अष्टा०सू०१-४-५५) । तस्य कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः स्याच्चात्कर्तृसंज्ञः । संज्ञासमावेशार्थश्चकारः । कुर्वन्तं प्रेरयति कारयति हरिः । हेतुत्वात्तद्यापारे “हेतुमति च” (अष्टा०सू०३-१-२६) इति णिच् । कर्तृत्वात्कर्तरि लकारः ।

॥ इति श्रीशब्दकौस्तुभे प्रथमस्याध्यायस्य

चतुर्थे पादे तृतीयमान्हिकम् ॥

प्राग्ग्रीश्वरान्निपाताः (अष्टा०सू०१-४-५६) । “अधिरीद्वरे” (अष्टा०सू०१-४-९७) इत्यतः प्राक् प्राङ् निपाता इत्यधिक्रियते, तन्त्राद्याश्रयणात् । तेन पूर्वं निपातसंज्ञाः सन्तः पश्चाद्द्रव्यादिसंज्ञा इत्यर्थात्संज्ञासमावेशः सिध्यति । अन्यथा गत्युपसर्गकर्मप्रवचनीयसंज्ञानां निपातसंज्ञायाश्च पर्यायः स्यात् । तन्त्रादौ प्रमाणं तु प्राग्ग्रहणसामर्थ्यमेव ।



अन्यथा रीश्वरादिति पञ्चम्यैव दिक्शब्दाक्षेपात्किं तेन ? न च परशब्दाक्षेपप्रसङ्गः । “चादयोऽसत्त्वे” (अष्टा०सू१-४-५७) “प्रादयः” (अष्टा०सू१-४-५८) इत्येतयोर्विधेययोर्लाभेनानन्वयापत्तेः । रेफविशष्टग्रहणं किम् ? “ईद्वरे तोसुन्कसुनौ” (अष्टा०सू०३-४-१३) इत्यस्य व्याप्तिन्यायेनावधित्वं मा भूत् । वस्तुतस्तु मास्तु रेफः प्रत्यासत्त्याऽभिमतासिद्धेः अव्ययीभावस्याव्ययसञ्ज्ञारम्भाच्च । न चासौ समासेऽप्यव्ययीभाव एवेति नियमार्थं स्यादिति वाच्यम्, गौरवग्रस्तं व्याप्तिन्यायमाश्रित्य नियमार्थत्ववर्णनापेक्षया प्रत्यासत्तेर्विध्यर्थतायाश्च न्याय्यत्वात् । अत एव “नलोक” (अष्टा०सू०२-३-६९) इति सूत्रे अव्ययात्पृथक् लोकादीनां ग्रहणमप्युपपद्यते इति दिक् ।

चादयोऽसत्त्वे (अष्टा०सू०१-४-५७) । चादयो निपातसञ्ज्ञाः स्युः न तु द्रव्ये । निपातत्वादव्ययत्वम् । च वा इत्यादि

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते ।

द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥

लिङ्गसंख्यानवयि द्रव्यमिति वा । असत्त्वे किम् ? पशुना यजेत, पशुशब्दश्चादिः । “चः समुच्चये” इत्यपि प्रत्युदाहरणम् । न चात्र “प्रकृतिवदनुकरणम्” (प०भा०३६) इत्यतिदेशात् निपातत्वं दुर्वारमिति वाच्यम्, अतिदेशस्यानित्यतायाः ऋलृक्सूत्रे एवोपपादितत्वात् । प्रसज्यप्रतिषेधः किम् ? वातीति वाः, विप्रातीति विप्रः । इह क्रियाविशिष्टद्रव्यवाचकतया क्रियायाश्चासत्त्वरूपत्वान्निपातता स्यात् । ततश्च वेप्रशब्दस्याप्यव्ययसञ्ज्ञा स्यात्, “प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम्” (म०भा०) इत्युक्तत्वात् ।

अथ चादयः—व वा ह अह एव एवं नूनं शश्वत् युगपत् भूयस् कूपत् प्रश्रवितर्कप्रशंसास्वयम् । एवं सुप्तपि । कुविदिति भूयोऽर्थे योगप्रशंसास्तिभावेषु च । नेदिति शङ्कायाम् । “नेज्जिज्ञायन्तो नरकं पताम” । “नेदेवलापुनजन्नदेवाः” इत्यादौ तु न इदिति पदद्वयं पठ्यते । तस्मान्निपातसमुदायोऽयं बोध्यः “निपातैर्यद्यदि” (अष्टा०सू० ८-१-३०) इति निघातनिषेधः । प्रतिषेधविचारसमुच्चयेऽप्यव्ययमिति तु शाकटायनः । चेत् । चण् । अयं चेदर्थे णित्, समुच्चयादौ त्वननुबन्धः । इदं च “निपातैर्यद्यदि” (अष्टा०सू० ८-१-३०) इत्यत्र स्फुटीभविष्यति । कच्चित् । यत्र । नह निश्चितनिषेधे । हन्त हर्षेऽनुकम्पाय च । माकिः माकीम् एतौ निषेधे । माकिर्नैश्वर्माकीं रिषन्माकीं संशारिके वष्टेत् किस्सम्भावितनिषेधेन किरिन्द्रत्वदुत्तरः । नकिरेवायथा-



त्वंहिकंनुकम् । सुकंआकी नकी नकिः । मार्कीं माकिः । आकृतमिति वेदनिघण्टुः । आमिश्राणि नवोत्तराणीति तद्याख्यायां यास्कः । माङ् । “माङि लुङ्” (अष्टा०सू०३-३-१७५) इतिविशेषणार्थो ङकारः । मा भवतु मा भविष्यतीत्यत्र निरनुबन्धो माशब्दः । नञ् । अकारो “नलोपो नञः” (अष्टा०सू०६-३-७३) इति विशेषणार्थः । नस्येत्युक्ते तु वा ‘पाम-नपुत्रः’ इत्यत्रापि स्यात् । न च सिद्धान्तेऽपि स्त्रेणपुत्रेऽतिप्रसङ्गं वारयितुम् “अलुगुत्तरपदे” (अष्टा०सू०६-३-१) इत्युत्तरपदाक्षितेन पूर्वपदेन नञोऽवश्यं विशेषणीयत्वात्तेनैव पामनपुत्रस्यापि सिद्धेः किं अकारेणेति वाच्यम्, “नैकधागमिकर्मीकृतनैकनीवृता” इत्यादौ निषेधार्थेन नशब्देन “सहस्रपा” (अष्टा०सू०२-१-४) इति समासेऽतिव्याप्तिं वारयितुं जित्वस्याप्यावश्य-कत्वात् । नञ् । पूर्वपदस्य विशेषणेऽपि अनन्यार्थान्तिव्यस्य निपातस्यैव ग्रहणं न तु वृद्धा चरितार्थजकारस्य तद्धितस्यापीति तु प्राचां ग्रन्थ-स्योक्तिसम्भवो बोध्यः । यावत् । तावत् । त्वै न्वै एतौ वितर्के । श्रौ-षट् । वौषट् । स्वाहा । वषट् । स्वधा । ॐ । तथा । हिस्क् । खलु । किल । अथ । सुष्ठु । आदहेति हि सोपक्रमकुत्सनेषु । ‘आदहस्व धा-मन्’ इत्यत्र तु पदकारा आदिति पृथक् पठन्ति । उपसर्गविभक्तिस्वर प्रतिरूपकाश्च ।

अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।

सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्ट्यते ॥

“अच उपसर्गात्तः” (अष्टा०सू०७-४-४७) इति घोरतत्वं न भवति, उपसर्गप्रतिरूपकत्वेऽप्यनुपसर्गत्वात् । विभक्तिप्रतिरूपको यथा-अहम् । शुभम् । अहंयुः, शुभंयुः-“अहंशुभमोर्युस्” (अष्टा०सू०५-२-४०) चिरेण । अन्तरेण । चिराय । अचिरात् । अकस्मात् । चिरस्य मम । ममत्वं गत-राज्यस्य । वेलायां मात्रायामित्यादि । एतेन “गेये केन विनीतौ वाम्” इति व्याख्यातम् । वामित्यस्याव्ययस्य युवामित्यर्थात् । आह आसेत्या-दीनि तु तिङन्तप्रतिरूपकाणि । स्वरास्तु सम्बोधनभर्त्सनानुकम्पापाद-पूरणप्रतिषेधेषु ययासम्भवं बोध्याः । अ अपेहि । आ एवं मन्यसे । इ इन्द्रं पश्य । ई ईशः । ऊ ऊपरे बीजं वपति । ए इतो भव । ओश्रावय । ऋ ऋ लृ ए औ एते मन्त्रस्तोमाः । पश्निति सम्यगर्थे । लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः । शुक्रमिति शीघ्रत्वे । यथा कथाचेत्यनादरे । पाट् प्याट् अङ्ग है हे भो अये इत्यादयः सम्बोधने । धेति हिंसाप्रातिलोभ्यपादपूर-णेषु । विषु इति नानार्थे । एकपदे इत्यकस्मादर्थे । निहन्त्यरीनेकपदे । पुत इति कुत्सायाम् । कुत्सितमवयवञ्छादयाति इति पुच्छः । डः ।



पुल्लिति लान्तमिति शाकटायनः । कुत्सितं कसति गच्छतीति पुल्ल-  
सः । अस्मीत्यहमर्थे । त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोत्र तिष्ठति ।  
आत इति इतोऽपीत्यर्थे । इत्यादि । आकृतिगणश्चायम् ।

प्रादयः (अष्टा०सू०१-४-५८) । एते निपातसंज्ञाः स्युर्न तु सत्त्वे । प्र  
परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि  
अति सु उत् आभि प्रति परि उप एते प्रादयः । तत्र निस् दुस् इमौ  
सान्तौ । “निसस्तपतावनासेवने” (अष्टा०सू०८-३-१०२) इतिनिर्देशा-  
दिति “उपसर्गस्यायतौ” (अष्टा०सू०८-२-१९) इति सूत्रे वृत्तिः । “निरः  
कुषः” (अष्टा०सू०७-२-४६) “सुदुरोरधिकरणे” इत्याद्यनुरोधाद्रेफा-  
न्तावपीति तत्रैव सूत्रे हरदत्तः । अद्रव्ये किम् ? विः पक्षी । पराः सेनाः ।

उपसर्गाः क्रियायोगे (अष्टा०सू०१-४-५९) । प्रादयः क्रियायोगे उप-  
सर्गसंज्ञाः स्युः ।

गतिश्च (अष्टा०सू०१-४-६०) । प्रादयो गतिसंज्ञाः स्युः क्रियायोगे ।  
पुल्लिङ्गोऽयं गतिशब्दः, “गतिरनन्तरः” (अष्टा०सू०६-२-४९) इति लि-  
ङ्गात् । अव्युत्पन्नश्चायं क्तिजन्तो वा । “न क्तिचि दीर्घश्च” (अष्टा०सू०  
६-४-३९) इति तु न प्रवर्तते, अत एव निर्देशात् । उपसर्गसंज्ञया सह  
समावेशार्थश्चकारः । अन्यथा पर्यायः स्यात् । तेन ‘प्रणयम्’ इत्यादौ  
णत्वं कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरश्च सिध्यति । निपातसंज्ञायास्तु समावेशः  
प्राग्रहणेन साधित एव । इह यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येव गत्युप-  
सर्गसंज्ञाः, योगग्रहणसामर्थ्यात् । तेन प्रवृद्धं कृतं प्रकृतमित्यत्र “गति-  
रनन्तरः” (अष्टा०सू०६-२-४९) इति स्वरो न, कर्मणि कान्तं प्रत्यगति-  
त्वात् । कृञर्थविशेषकत्वे तु स्यादेव । तथा ‘प्रवृद्धो भावः प्रभावः’ इत्यत्र  
“श्रिणीभुवोनुपसर्गे” (अष्टा०सू०३-३-२४) इति घञ् सिद्धः । एवं ‘प्रणा-  
ययति’ ‘अभिपाचयति’ इत्यादौ प्रकृत्यर्थगतप्रकर्षाभिमुख्यद्योतकतायां  
णत्वषत्वे स्तः । ण्यर्थविशेषकत्वे तु नेति बोध्यम् । निपातसंज्ञा तु क्रिया-  
योगं विनाऽप्यस्ति । एतदर्थमेव हि प्रादय इति योगो विभक्तः । तेन  
‘प्रगत आचार्यः प्राचार्यः’ इत्यत्राव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः सिध्यति ।

उपसर्गसंज्ञायां मरुच्छब्दस्योपसङ्ख्यानम् । मरुत्तः । उपसर्गसंज्ञा-  
विधानसामर्थ्यादजन्तत्वाभावेपि “अच उपसर्गात्तः” (अष्टा०सू०७-४-  
४७) इति तत्त्वं प्रवर्तते इत्याहुः । एवञ्च मरुन्नयतीत्यत्र णत्वमपि प्राप्नो-  
ति । तस्मात्तत्त्वं एव संज्ञा वक्तव्या । अत एव किविधिरङ् च न भवति ।  
निपातसंज्ञा तु नास्येष्टा । तेन “तृतीयाकर्मणि” (अष्टा०सू०६-२-४८) इति  
पूर्वपदप्रकृतिस्वरे कृते मरुत्तशब्दो मध्योदात्तः । निपातत्वे त्वाद्युदात्तः



स्यात् । न च “उपसर्गाश्चाभिवर्जम्” (फि०सू०८१) इति फिदसूत्रादोषता-  
दवस्थं शङ्क्यम् “निपाता आद्युदात्ताः” (फि०सू०८०) इत्येव सिद्धेऽभेः  
प्रतिषेधमात्रार्थं तत्सूत्रारम्भादिति हरदत्तादयः । अत एव नाभिरित्येव  
भूयताम् । मास्तु वा तदपि, एवादिषु अभेः सुपठत्वादित्यवोचाम ।  
एवञ्च “तत्पर्वमरुच्याम्” इति मरुतशब्दव्युत्पादने उपायान्तरं बोध्यम् ।  
तत्र च तपः पितृमेव सम्यक् । तन्निति निरुत्पठस्तु काचित्कः प्रामा-  
दिकः । अन्यथा मरुतशब्दस्याद्युदात्ततापत्तौ प्रकृतसूत्रस्थकैयटादिवि-  
रोधापत्तेः । प्रत्यर्थीयप्रकरणे तना निरुत्पठस्तु मरुतशब्दस्याद्युदात्ततां चाव-  
लम्ब्य प्रवृत्तौ हरदत्तग्रन्थस्तु चिन्त्यः । “पर्वतश्चिन्महि वृद्धो विभाषा”  
इत्यादौ पठ्यमानं पर्वतशब्दस्याद्युदात्तत्वं तु द्वेधापि सिध्यति । “नन्वि-  
ष्यस्यानिसन्तस्य” (फि०सू०२६) इति पर्वतशब्दस्याद्युदात्तत्वात् ।

श्रच्छब्दस्याङ्गविधायुपसङ्ख्यानम् ॥ श्रद्धा । भिदादिपाठाप्रज्ञाश्र-  
द्धेतिनिपातनाद्वा सिद्धम् ।

अन्तःशब्दस्याङ्गिविधिणत्वेषूपसङ्ख्यानम् ॥ एतच्च “अन्तरपरिग्रहे”  
(अष्टा०सू०१-४-६५) इत्यत्र भाष्ये स्थितम् । अन्तर्या । अन्तर्द्धिः ।  
अन्तर्हण्यात् । “हन्तेरत्पूर्वस्य” (अष्टा०सू०८-४-२२) इति णत्वम् । एव-  
ञ्च “अन्तरदेशे” (अष्टा०सू०८-४-२४) इति न कर्तव्यम् । देशे तु शुभ्रा-  
दित्वाणत्वभावः । अयनं चेत्यपि न कर्तव्यं “कृत्यचः” (अष्टा०सू०८-  
४-२९) इति सिद्धेः । देशे तु शुभ्रादिना बोध्येति कैयटः । देशे निषे-  
धार्थं सूत्रद्वयमिति तु हरदत्तः । पक्षद्वयेऽपि ‘अन्तर्णयति’ ‘अन्तर्भवानि’  
इत्यादौ यथायथं णत्वं बोध्यम् ।

सुदुरोः प्रतिषेधो नुम्विधितत्वषट्त्वणत्वेषु ॥ सुलभं । दुर्लभम् ।  
“उपसर्गात्खल्वजोः” (अष्टा०सू०७-१-६०) इति नुम् । न एतच्च प्रयो-  
जनमापाततः “नसुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्” (अष्टा०सू०७-१-६८) इति सू-  
त्रस्यावश्याभ्यत्वात् । अन्यथा ‘अतिसुलभम्’ इत्यत्र नुम् न स्यात् ।  
तत्त्वं-सुदत्तम् । “अच उपसर्गात्” (अष्टा०सू०७-४-४७) इति तत्त्वं  
मा भूत् । षत्त्वं-दुःस्थितिः । प्रक्रियाजालदुःस्थम् । सुसिक्तम् । सुस्तु-  
तम् । “सुःपूजायाम्” (अष्टा०सू०१-४-२४) इति तु कर्तव्यमेव पूजायामिति  
विशेषणार्थम् । तेन ‘सुषिक्तं किं तवान्न’ इत्यादौ षत्त्वं भवत्येव । कथं तर्हि—

फलवद्भावोद्भूतकथम्भावतिरोहिताः ।

नैवाङ्गानां कथं भावाः प्रादुष्यन्ति कथं च न ॥ इति ?

सत्यम्, नेदमुपसर्गत्वप्रयुक्तं किन्तु “उपसर्गप्रादुर्भ्याम्” (अष्टा०  
सू०८-३-८७) इत्यत्र प्रादुसः पृथग्रहणप्रयुक्तम् । एतेन ‘प्रादुष्यन्ति’



इति पठित्वा प्र आङ् दुस् इत्युपसर्गत्रिकपूर्वस्य स्यते: “उपसर्गात्सुनो-  
ति” (अष्टा०सू०८-३-६५) इत्यादिना षत्वमिति व्याचक्षाणाः परास्ताः,  
दुर उपसर्गतायाः षत्वविधौ निषेधात्, स्यतेरर्थस्य प्रकृतासम्बन्धाच्च ।  
णत्वम् । दुर्नीतम् । दुर्नयः । एतेन “दुरः परस्य णत्वं न” इति कोचिदिति  
पठित्वा सिद्धान्ते णत्वमिति भ्राम्यन्तः परास्ताः ।

गतिसंज्ञायां कारिकाशब्दस्योपसङ्ख्यानम् ॥ कारिकाकृत्य । कारि-  
काकृतम् । यत्कारिकाकरोति । “तिङि चोदात्तवति (अष्टा०सू०८-१-७१)  
इति गतेर्निघातः । निपातत्वादव्ययत्वे सति विभक्तेर्लुक् । कारिका क्रि-  
या । मर्यादास्थितिरित्यर्थः । यत्न इत्यपरे । “धात्वर्थनिर्देशे” इति  
ण्वुल् । यस्तु कर्तरि ण्वुलन्तः कारिका दासीति, यश्च श्लोकवाची, त-  
योर्नेह ग्रहणम्, क्रियायोगइति कारिकाशब्दस्य विशेषणात् । क्रिया-  
वृत्तेरेव ग्रहणात् ।

पुनश्चनसौ छन्दसि गतिसंज्ञाविति वक्तव्यम् ॥ पुनराधेयम् । गति-  
त्वात्समासः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण “यतोऽनावः” (अष्टा०सू०६-१-  
२१३) इति धेशब्द उदात्तः । पुनरुत्स्यूतं वासः । इहापि गतित्वात्स-  
मासः । स्वरस्तु प्रवृद्धादेराकृतिगणत्वादन्तोदात्तत्वम् । काठके-  
ह्यन्तोदात्तः पठ्यते । शेषनिघातेन पुनःशब्दोऽनुदात्तः । “गति-  
र्गतौ” (अष्टा०सू०८-१-७०) इति निघातं वदन् वृत्तिकार-  
स्तु परत्वात्तस्य न्याय्यतां मन्यते । चनीहितः ॥ “चायरन्ने ह्रस्वश्च”  
(उ०सू०६३९) इत्यसुन्नन्तवान्निपातत्वाद्वाऽऽद्युदात्तस्य चनःशब्द-  
स्य “गतिरनन्तरः” (अष्टा०सू०६-२-४९) इति प्रकृतिस्वरः ।

ऊर्यादिच्चिडाचश्च (अष्टा०सू०१-४-६१) । एते गतिसंज्ञाः स्युः क्रि-  
यायोगे । कृभ्वस्तियोगे चिडचौ विहितौ । तत्साहचर्याद्रूपादयोऽपि  
तद्योगे एव प्रयुज्यन्ते नान्यत्र, अनभिधानाच्च । तत्राप्याविःप्रादुःशब्दौ  
मुक्त्वाऽन्येषां करोतिनैव योग इति माधवादयः । यद्यपि संज्ञाविधौ  
प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति तथापीह सामर्थ्यात् चिडजन्तग्रह-  
णम् । न हि प्रत्ययमात्रस्य क्रियायोगः संभवति, स्वार्थिकत्वेनानर्थ-  
कत्वात् च्वेरश्रावित्वाच्च । ऊरीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य ।

इहेदमवधेयम् । श्रौषडादीनां स्वाहान्तानां चादिष्वपि पाठादक्रि-  
यायोगेऽपि निपातत्वम् । आविःशब्दस्य साक्षात्प्रभृतिषु पाठात्कञो यो-  
गे विकल्पः । भ्वस्तियोगे त्वनेन नित्यमिति । कथं तर्हि—

वारुणीमद्विशंकमथाविद्वक्ष्युषोभवदसाविव ।

इति माघः ?



अभवद्युगमद्विलोलोजिह्वायुगलीटोभयस्टक्वभागमाविः ।

इति च ? निरङ्कुशाः कवय इति हरदत्तः । वस्तुतस्तु नेह दोषले-  
शमपि पश्यामः । तथाहि, गतित्वाद्धातोः प्राक् प्रयोगः प्राप्नोतीति त्व-  
दायपूर्वपक्षसर्वस्वम् । तच्च भाष्यवार्तिकयोरेव निराकृतप्रायम् । “ते  
प्राग्धातोः” (अष्टा०सू०१-४-८०) इति सूत्रं हि द्वेधा व्याख्यातं—प्रयो-  
गनियमार्थं संज्ञानियमार्थं चेति । तत्रान्त्यपक्षे प्राक् चाप्राक् च प्रयो-  
क्तव्याः, प्राक्तु प्रयुज्यमानाः संज्ञां लभन्ते इति स्थितम् । इममेव च  
पक्षमाश्रित्य “अनुकरणं च” (अष्टा०सू०१-४-६२) इति सूत्रे ऽनितिप-  
रमिति प्रत्याख्यातम् । एवमेव “छन्दसि परेऽपि” (अष्टा०सू०१-४-८१)  
“व्यवहिताश्च” (अष्टा०सू०१-४-८६) इति सूत्रद्वयमपि प्रत्याख्यातम् ।  
अत एव “ते प्राग्” (अष्टा०सू०१-४-८०) इति सूत्रे ‘सुकटं कराणि  
वीणानि’ इति भाष्यं “कर्तृकर्मणोश्च भूकृजोः” (अष्टा०सू०३-३-१२७) इति  
सूत्रे ‘स्वायस्भवम्’ इति भाष्यवृत्तिग्रन्थौ, चव्यर्थयोः किम् ? स्वाख्येन  
भूयत इति वृत्तिग्रन्थश्च सङ्गच्छते । एतेन वृत्तेः प्रामादिकतां वदन् ‘आ-  
ख्येन सुभूयते’ इति पाठः कर्तव्य इति शिक्षयन् हरदत्तोऽप्यपास्तः “प-  
क्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति” इति न्यायेन संज्ञानियमपक्षे सर्वस्य सा-  
मञ्जस्यात् । एतेन—

पुरोरामस्य जुहवाञ्चकार ज्वलने वपुः ।

इति भट्टिः । “तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः” इति कालिदासश्च स-  
मर्थितः । न च “पुरोऽव्ययम्” (अष्टा०सू०१-४-६७) इत्यस्य कृष्णमात्रवि-  
षयत्वमिति भ्रमितव्यम्, कृजोऽनधिकारात् ‘तुरासाहं पुरोधाय’ इत्या-  
दिप्रयोगाच्चेति दिक् ।

जरी ऊरी उररी एते त्रयोङ्गीकारे विस्तारे च । विताली भूसी एतौ  
विस्तारे । शकला खंसकला ध्वंसकला भ्रंसकला एते चत्वारो हिंसा-  
याम् । शकला कृतेत्यादि । हिंसित्वेत्यर्थः । गुलुगुधा पीडार्थं । गु-  
लुगुधाकृत्य । पीडयित्वेत्यर्थः । सज्जः संहार्थं । फलफलां चिकली  
आकली एते विकारे । अलोष्टी केवली सेवाली शेवाली वर्षा-  
ली मसमसा भस्मसा एते हिंसायाम् । वषट् वौषट् स्वाहा स्व-  
धा पांपी करुणाविलापे । पापीकृत्य । करुणं विलप्येत्यर्थः । प्रादुः  
प्राकट्ये । श्रत् शीघ्रार्थं । श्रत्कृत्य । आविः प्राकट्ये । आविष्कृत्य । ग-  
णरत्ने त्वन्येऽपि सङ्गृहीताः । तथाहि, पापाली सङ्गृहा केवासी एते  
हिंसायाम् । वार्दाली यार्दाली आलम्बी एते प्राकाश्ये हिंसायां च ।  
इत्यूर्यादयः ।



अनुकरणञ्चानितिपरम् (अष्टा०सू०१-४-६२) । गतिः स्यात्क्रियायोगे । खात्कृत्य । अनितिपरं किम् ? खाडिति कृत्वा निरष्ट्विवत् । सति हि गतित्वे प्रयोगनियमपक्षे धातोः प्राक् प्रयोगः स्यात् । अनुकरणत्वजात्याक्रान्तस्येतिशब्दे परेऽयं निषेधः । तेन 'श्रौषड्वाषडिति कृत्वा निरष्ट्विवत्' इत्यत्र श्रौषट्शब्दस्यापि निषेधः । संज्ञानियमपक्षे तु अनितिपरग्रहणं न कर्तव्यमिति, परस्परसंज्ञाप्राप्तेरेवाभावात् ।

आदारानादरयोः सदसती (अष्टा०सू०१-४-६३) । क्रमाद् गतिसंज्ञस्तः । सत्कृत्य । असत्कृत्य । प्रीतिपूर्विका प्रत्युत्थानादिविषया त्वराऽऽदरेः । अवज्ञया प्रत्युत्थानादाबुपेक्षा त्वनादरः । एतयोः किम् ? सत्कृत्वा । असत्कृत्वा । शोभनमशोभनं च कृत्वेत्यर्थः ।

भूषणेऽलम् (अष्टा०सू०१-४-६४) । गतिसंज्ञं स्यात् । अलंकृत्य । भूषणे किम् ? अलंकृत्वौदनं गतः । पर्याप्तमित्यर्थः । “अनुकरणम्” (अष्टा०सू०१-४-६२) इत्यादयस्त्रयो योगाः स्वभावात्कञ्जविषया इति माधवः ।

अन्तरपरिग्रहे (अष्टा०सू०१-४-६५) । स्पष्टम् । अन्तर्हृत्य । मध्ये हत्वेत्यर्थः । अपरिग्रहे किम् ? अन्तर्हृत्वा मूषिकां इयेनो गतः । परिगृह्य गत इत्यर्थः ।

अत्रेदमवधेयम् । हत्वागमनं द्विधा । हतं त्यक्त्वा परिगृह्य चेति । आद्यमुदाहरणम् । द्वितीयं प्रत्युदाहरणम् । अपरिग्रहे इति च प्रयोगोपाधिर्न तु वाच्यकोटिनिविष्टमिति ।

कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते (अष्टा०सू०१-४-६६) । गती स्तः । कणे हत्य पयः पिबति । मनोहृत्य । कणेशब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातोऽभिलाषातिशये वर्तते । मनःशब्दोऽप्येवम् । अतिशयेनाभिलष्या तन्निवृत्तिपर्यन्तं पिबतीत्यर्थः । ततश्च श्रद्धाया अपगमात्तत्प्रतीघातो धातुगतिसमुदायगम्यः । श्रद्धाप्रतीघाते किम् ? कणेहत्वा गतः । मनोहत्वा । सूक्ष्मतण्डुलावयवः कणस्तस्मिन् हत्वेत्यर्थः । मनःशब्दस्तु चेत्तसि ।

पुरोऽव्ययम् (अष्टा०सू०१-४-६७) । “पूर्वाधरावराणाम्” इति व्युत्पादितोऽसिप्रत्ययान्तोऽव्ययं तथाभूतः पुरःशब्दो गतिसंज्ञः स्यात् । पुरस्कृत्य । “नमस्पुरसोः” (अष्टा०सू०८-३-४०) इति सत्वम् । अव्ययं किम् ? पूः पुरौ पुरः कृत्वा ।

अस्तञ्च (अष्टा०सू०१-४-६८) । अस्तमिति मान्तमव्ययं गतिसंज्ञं स्यात् । अस्तङ्कृत्य । अव्ययमित्येव । अस्तं काण्डम् । क्षिप्तमित्यर्थः ।

अच्छगत्यर्थवदेषु (अष्टा०सू०१-४-६९) । अव्ययमित्येव । अच्छगत्य । अच्छोद्य । अभिगत्य । अभिमुखमुक्त्वा चेत्यर्थः । अव्ययं किम् ?



जलमच्छे गच्छति ।

अदेऽनुपदेशे (अष्टा०सू०१-४-७०) । अदःशब्दस्यदादिः सोऽनुपदेशे गतिः स्यात् । अदःकृत्य । अदःकृतम् । यदा स्वयमेवेत्थं पर्यालोचयति तदेदमुदाहरणम् । अनुपदेशे किम् ? परं प्रति कथने माभूत् । अदः कृत्वा गतः ।

तिरोन्तर्धौ (अष्टा०सू०१-४-७१) । तिरोभूय । अन्तर्धौ किम् ? तिरोभूत्वा स्थितः । पाद्वर्ततो भूवेत्यर्थः ।

विभाषा कृजि (अष्टा०सू०१-४-७२) । प्राप्तविभाषेयम् “तिरोन्तर्धौ” (अष्टा०सू०१-४-७१) इत्यनुवृत्तेः । तिरःकृत्य । तिरस्कृत्य । “तिरसोऽन्यतरस्याम्” (अष्टा०सू०८-३-४२) इति वा सत्वम् । प्रत्युदाहरणे तु न सत्वम्, तद्विधौ गतिग्रहणानुवृत्तेः । तिरः कृत्वा काष्ठम् । केचिन्विहापि सत्वमिच्छन्तः परामये तिरस्कारशब्दप्रयोगं चानुरन्धानाः सत्वविधौ गतिग्रहणं निवर्तयन्तीति माधवः ।

उपाजेऽन्वाजे (अष्टा०सू०१-४-७३) । एतौ कृजि वा गतिसंज्ञौ स्तः । विभक्तिप्रतिरूपकौ निपाताविभौ दुर्बलस्य सामर्थ्याधाने वर्तते । उपाजेकृत्य । उपाजेकृत्वा । अन्वाजेकृत्य । अन्वाजेकृत्वा । उपष्टभ्येत्यर्थः ।

साक्षात्प्रभृतीनि च (अष्टा०सू०१-४-७४) । एतानि कृजि वा गतिः संज्ञानि स्युः । व्यर्थ इति वक्तव्यम् ॥ साक्षात्कृत्य । साक्षात्कृत्वा । असाक्षाद्भूतं साक्षात्क्रियते चेत्तदाऽयं प्रयोगः, न तु साक्षाद्भूतस्यैव रूपान्तरापादाने । व्यन्तेषु तु पूर्वविप्रतिषेधाद् “ऊर्यादिच्चि” (अष्टा० सू०१-४-६१) इति नित्यैव संज्ञा । तेन ‘लवणीकृत्य’ इत्यत्र मान्तत्वं न भवति । तद्विकल्पसन्नियोगेनेह गणे निपात्यते । यद्वा, लवणशब्दस्य लवणमिति मान्त आदेशः । तथाच मास्तु पूर्वविप्रतिषेधः । त्रैशब्द्यं हि नः साध्यम्-लवणकृत्य लवणकृत्वा लवणीकृत्येति । तत्र व्यन्ता-व्यन्तयोः पाक्षिके लवणमादेशे समं रूपम् । परेणापि विकल्पेन मुक्ते तु व्यन्तस्य नित्या संज्ञेति न कश्चिदोषः । इहाग्नौ वशेप्रभृतयो विभक्तिप्रतिरूपका निपाताः । प्रादुराविःशब्दयोरूर्यादित्वात्प्राप्ते विभाषा । साक्षात् मिथ्या चिन्तेति मनोव्यापारे । चिन्ताकृत्य । भद्रा आलोचनाप्रशंसामङ्गलेष्वयम् । रोचनेतीतिश्रद्धोत्पादे प्रशंसायां च । अमेति रहःसाहित्ययोः । आस्था श्रद्धा प्राजर्यावी जर्या जरणक्रियायाम् । प्राजरुहा बीजरुहेति रुहिक्रियायाम् । लवणम् । उष्णम् । शीतम् । उदकम् । आर्द्रम् । लवणादीनां पञ्चानां गतिसंज्ञासन्नियोगेन मान्तत्वं निपात्यते मान्तादेशो वेत्युक्तम् । अग्नौ वशे विकल्पेन विकसने प्रह-



सने सन्तपने । प्रादुस् नमस् आविस् । आकृतिगणोऽयम् ।

अनत्याधान उरसिमनसी (अष्टा०सू०१-४-७५) । एतौ निपातौ कृञि वा गतिसञ्ज्ञौ स्तः । उरसिकृत्य । उरसिकृत्वा । अभ्युपगम्येत्यर्थः । मनसिकृत्य । मनसिकृत्वा । निश्चित्येत्यर्थः । अन्याधानमुपश्लेषः । अत्र न । उरसिकृत्वा पाणिं शेते ।

मध्येपदेनिवचने च (अष्टा०सू०१-४-७६) । एते त्रयः कृञि गतिसञ्ज्ञा वा ह्युरनत्याधाने । मध्येकृत्य । मध्येकृत्वा । पदेकृत्य । पदेकृत्वा । पदन्तावेतौ निपातौ । निवचनं वचनाभावः । अस्याविशेषेण पदन्तता निपात्यते न तु सञ्ज्ञासन्नियोगेन, व्याख्यानात् । निवचनेकृत्य । निवचनेकृत्वा । वाचं नियम्येत्यर्थः । अनत्याधाने किम् ? हस्तिनः पदे कृत्वा शिरः शेते ।

नित्यं हस्ते पाणानुपयमने (अष्टा०सू०१-४-७७) । एतौ निपातौ कृञि नित्यं गतिसञ्ज्ञौ स्त उपयमने । दारकर्मणीत्येके । स्वीकारमात्र इत्यन्ये । हस्तेकृत्य पाणौकृत्य कन्यां महास्त्राणि वा । उपयमने किम् ? हस्तेकृत्वा सुवर्णं गतो भृत्यः ।

प्राध्वम्बन्धने (अष्टा०सू०१-४-७८) । प्राध्वमिति चादिषु पाठान्मान्तमव्ययमानुकूल्ये वर्तते । तत्कृञि नित्यं गतिसञ्ज्ञं स्याद्वन्धनहेतुकं चेदानुकूल्यम् । प्राध्वंकृत्य । बन्धने किम् ? प्राध्वंकृत्वा । प्रार्थनादिनानुकूलं कृत्वेत्यर्थः ।

जीविकोपनिषदावोपम्ये (अष्टा०सू०१-४-७९) । कृञि नित्यं गतिसञ्ज्ञौ स्तः । जीवयतीति जीविका जीवनोपायः । जीविकामिव कृत्वा जीविकाकृत्य । उपनिषदमिव कृत्वा उपनिषत्कृत्य । गतिसमासस्य नित्यत्वेऽपि स्वार्थमात्रनिष्ठत्वादगतिना विग्रहः । अत एव तत्र इव-शब्दप्रयोगः । औपम्ये किम् ? जीविकां कृत्वा ।

ते प्राग्धातोः (अष्टा०सू०१-४-८०) । ते गतिसञ्ज्ञा धातोः प्रागेव प्रयोऽयाः ।

छन्दसि परेपि (अष्टा०सू०१-४-८१) ।

व्यवहिताश्च (अष्टा०सू०१-४-८२) । स्पष्टम् । हरिभ्यां याह्योक्त आ । आमन्दैरिन्द्र हरिभिर्याहि । इह सञ्ज्ञानियमपक्षोऽपि भाष्ये स्थितः, ते इत्यनेन प्रादीनुपनिषत्पर्यन्तात् स्वरूपेण परामृश्य धातोः प्राक्प्रयुक्तानामेषां पूर्वसूत्रैकवाक्यतया सञ्ज्ञाविधानात् । अस्मिन् पक्षे “छन्दसि परेऽपि” “व्यवहिताश्च” इति सूत्रद्वयम् अनितिपरग्रहणं च च कर्तव्यमिति स्थितम् । सुकटङ्कुराणीति भाष्यं च सङ्गच्छते । प्रयोग-



नियमपक्षे तु “कृत्यल्युटः” (अष्टा०सू०३-३-११३) इति बहुलग्रहणेन समर्थनीयं स्यात् । यत्तु खलः खित्करणसामर्थ्यादनवयस्य प्राक् प्रयोगे निर्णीते सोः परिशेषाद्व्यवधानं सिध्यतीति । तच्चिन्त्यम्, सामर्थ्याद्यवहिते मुमः सम्भवात् कृद्ग्रहणे गतिपूर्वस्यापि ग्रहणाच्च ईषच्छब्दस्यागतिः सञ्ज्ञकतया ‘ईषदाख्यम्भवः’ इत्यत्र खलः खित्वस्योपक्षीणत्वाच्चेति दिक् । धातोः किम् ? प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षदित्यत्र सनः प्राक् प्रयोगो मा भूत् ।

कर्मप्रवचनीयाः (अष्टा०सू०१-४-८३) । रीद्वरात्प्रागिदमधिक्रियते । कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः बाहुलकात्कर्तर्यनयिर्, स च भूते । तेन सम्प्रति क्रियां न द्योतयन्तीति लभ्यते । आह च—

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः ।

नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥ इति ।

तथाहि, शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षदित्यत्रानुना न क्रियाविशेषो द्योत्यते । अनुभूयते सुखमित्यादौ यथा । नापि षष्ठ्येव सम्बन्ध उच्यते, द्वितीयैव तस्योक्तत्वात् । नापि प्रादेशं विपरिलिखति विमाय परिलिखतीत्यत्र विशब्देन मानक्रियेव क्रियान्तरमाक्षिप्यते, कारकविभक्तिप्रसङ्गात् । किन्तु संहितासम्बन्धिवर्षणमिति द्वितीयावगतः सम्बन्धो लक्ष्यलक्षणभावरूप एवेत्यवगमात्सम्बन्ध एवानुना विशेषऽवस्थाप्यते । क्वचित्तु क्रियागतविशेषद्योतकेऽपीयं सञ्ज्ञा वचनात्प्रवर्तते । “सुः पूजायाम्” (अष्टा०सू०१-४-९४) “अतिरतिक्रमेण च” (अष्टा०सू०१-४-९५) इति यथा ।

अनुर्लक्षणे (अष्टा०सू०१-४-८४) । लक्षणे द्योत्येऽनुः कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञाः स्यात् । “लक्षणेत्थम्भूत” (अष्टा०सू०१-४-९०) इत्यादिना सिद्धे हेतौ तृतीयां बाधितुमिदं सूत्रम् । तथाहि, लक्षणे कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञाया अवकाशः—यो न हेतुः, ‘वृक्षमनुविद्योतते विद्युत्’ इति । हेतुतृतीयाया अवकाशः—‘यनेन कुलम्’ इति । ‘संहितामनुप्रावर्षत्’ इत्यत्र तु हेतुभूतसंहितोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थाद्धेतुभूते लक्षणे परत्वात्तृतीया स्यात् । पुनः सञ्ज्ञाविधानसामर्थ्यात्तु द्वितीयैव भवति । आह च—

हेतुहेतुमतोर्योगपरिच्छेदेऽनुना कृते ।

आरम्भाद्वाध्यते प्राप्ता तृतीया हेतुलक्षणा ॥ इति ।

न च “तृतीयार्थे” (अष्टा०सू०१-४-८५) इति सूत्रेण गतार्थता शङ्का । तस्य पुरस्तादपवादव्यायेन “सहयुक्तेऽप्रधाने” (अष्टा०सू०२-३-१९) इत्येतन्मात्रबाधकत्वात् ।



तृतीयार्थे (अष्टा०सू०१-४-८५) । अस्मिन् द्योत्येऽनुरक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः । “विञ् बन्धने” (स्वा०उ०१२४८) अस्मात्कर्तरि कः ।

हीने (अष्टा०सू०१-४-८६) । हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत् । अनु हरिं सुराः । हरिप्रतियोगिकापकर्षरूपसम्बन्धवन्त इत्यर्थः । उत्कृष्टादेव द्वितीया न त्वपकृष्टात्, शक्तिस्वभावात् ।

उपोऽधिके च (अष्टा०सू०१-४-८७) । अधिके हीने च द्योत्ये उपः प्राक्संज्ञः । उपस्वार्या द्रोणः । खारीतोऽधिको द्रोणोऽस्ति । उभयमस्तीति फलितोऽर्थः । “यस्मादधिकम्” (अष्टा०सू०२-३-९) इति सप्तमी । हीने-उपहरिं सुराः ।

अपपरी वर्जने (अष्टा०सू०१-४-८८) । एतौ वर्जने द्योत्ये प्राग्वत् । अपविष्णोः परिविष्णोः संसारः । “पञ्चम्यपाङ्परिभिः” (अष्टा०सू० २-३-१०) इति पञ्चमी । “परेर्वर्जने” (अष्टा०सू०८-१-५) इति द्विवचनम् । तद्धि पञ्चमीसहितेन कर्मप्रवचनीयेन द्योतितेऽपि वर्जने भवत्येव, उभयोरपि विधानसामर्थ्यात् । वर्जने किम् ? परिविञ्चति । सर्वत इत्यर्थः । अत्रोपसर्गत्वात्षत्वम् ।

आङ् मर्यादावचने (अष्टा०सू०१-४-८९) । आङ् प्राग्वत् मर्यादा-शब्दो यस्मिन्सूत्रे उच्यते तत्रत्यश्चेत् । “आङ्मर्यादाभिविध्योः” (अष्टा०सू०२-१-१३) इत्यत्रोपात्तो व्यर्थ इत्यर्थः । आमुक्तेः संसारः । आवालेभ्यो हरिमक्तिः ।

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यन्तवः (अष्टा०सू०१-४-९०) एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः । लक्षणे—वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् । कञ्चित्प्रकारं प्राप्त इत्थंभूतस्तदाख्याने यथा—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति पर्यनु वा । भागे—यदत्र मास्प्रति स्यात्, परिस्यात्, अनुस्यात् । योऽत्र मम भागः स दीयतामित्यर्थः । स्वस्वामिभावो द्वितीयाऽर्थः । वीप्सा व्याप्तुमिच्छा साकल्यप्रतिपि पादयिषेति यावत् । भूतंभूतं प्रति पर्यनु वा प्रभुः । सकलभूतानामित्यर्थः । न च “इत्थंभूताख्याने” (अष्टा०सू०१-४-९१) इत्येव सिद्धम् । इदं तर्ह्युदाहरणं—वृक्षंवृक्षं प्रतिसिञ्चति, परिसिञ्चति, अनुसिञ्चति । इह वीप्सा द्विवचनेनैव द्योत्यते । परिशब्दस्तु क्रियैव सम्बध्यते । न चैवन्तस्य कर्मप्रवचनीयत्वं न म्यादिति वाच्यं वीप्साया विषयत्वानपायात् । अत एव वीप्सायां विषयभूतायामिति वृत्तिग्रन्थमवतारयन्हरदत्त आह—एते च लक्षणादयो यथा विभक्तिसमीपादयोऽव्ययार्थाः,



नैवं प्रत्यादीनामर्थाः । किन्तर्हि संज्ञायां प्रत्यादीनां विषयत्वेन निर्दिष्टा इत्याहेति । द्वितीया तु कर्मणि । कर्मप्रवचनीयसंज्ञा तूपसर्गत्वनिवृत्त्यर्था । तेन “उपसर्गात्सुनोति” (अष्टा०सू०८-३-६५) इति षत्वं न । परिशब्दयोगे पञ्चमी तु न भवति “पञ्चम्यपाङ्” (अष्टा०सू०२-३-१०) इत्यत्र वर्जनार्थेनापत्यनेन साहचर्यात् ।

अभिरभागे (अष्टा०सू०१-४-९१) । भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात् । वृक्षमभिविद्योतते । साधुर्मातरमभि । वृक्षमभिसिञ्चति । अभागे किम् ? यदत्र ममाभिरप्यात्तदीयताम् ।

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः (अष्टा०सू०१-४-९२) । उक्तसंज्ञः स्यात् । अभिमन्युरर्जुनात् प्रति । तस्य प्रतिनिधिरित्यर्थः । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् । “प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्” (अष्टा०सू०२-३-११) इति पञ्चमी ।

अधिपरी अनर्थकौ (अष्टा०सू०१-४-९३) । उक्तसंज्ञौ स्तः । कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । इहाधिकार्थविरहादनर्थकत्वमधिपर्योः, धात्वर्थमात्रानुवर्तित्वात्तु प्राप्ता गतिसंज्ञा । तद्वाधः संज्ञाफलम् । तेन “गतिर्गतौ” (अष्टा०सू०८-१-७०) इति निघातो न भवति ।

सुः पूजायाम् (अष्टा०सू०१-४-९४) । सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । पूजायां किम् ? सुषिकं किन्तवात्र । क्षेपोऽयं, न पूजा । कथं तर्हि सुष्टुतिरिति ? अतिशयमात्रं विवक्षितं न तु पूजेत्याहुः । पठन्ति च—

प्रशंसानुमते पूजा भृशकृच्छ्रसुखेषु सुः । इति ।

अतिरतिक्रमणे च (अष्टा०सू०१-४-९५) । अतिक्रमणे पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अतिक्रमणमुचितादधिकस्यानुष्ठानम् । अतिसिक्तम् । अतिस्तुतम् । बहुतरं समीचीनं वा सिक्तं स्तुतश्चेत्यर्थः ।

अपिः पदार्थसम्भावनाववसर्गगर्हासमुच्चयेषु (अष्टा०सू०१-४-९६) । एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः । सर्पिषोऽपि स्यात् । प्रार्थनायां लिङ् । तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यते । अनुपसर्गत्वान्न षः । सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे । न्यमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया तु नेह प्रवर्तते, सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात् । सम्भावनं नाम शक्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः । अपिसिञ्चेन्मूलसहस्रम् । अपिस्तुया-



द्विष्णुम् । अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा । अपिसिञ्च । अपिस्तुहि । गर्हा-  
याम्-धिदेवदत्तमपिस्तुयादृषलम् । समुच्चये-अपिसिञ्च । अपिस्तु-  
हि । सिञ्च च स्तुहि चेत्यर्थः । यथायथम् “उपसर्गप्रादुर्भ्याम्” (अष्टा०  
सू०८-३-८७) इति “उपसर्गात्सुनोति” (अष्टा०सू०८-३-६५) इति च  
प्राप्तं षत्वं कर्मप्रवचनीयसंज्ञया उपसर्गसंज्ञाया बाधितत्वान्न भवति ।

अधिराश्वरे (अष्टा०सू०१-४-९७) । स्वस्वामिभावे द्योत्येऽधिः  
कर्मप्रवचनीयः स्यात् । इह स्वात्स्वामिनो वा पर्यायेण कर्मप्रवचनीय-  
विभक्तिर्न तु “हीने” (अष्टा०सू०१-४-८६) “उपोऽधिके च” (अष्टा०सू०  
१-४-८७) इत्यत्रेवान्यतरस्मादेव । अधिभुवि रामः । अधिरामे भूः ।  
एतच्च संज्ञासूत्रं नारम्भणीयम् । उत्तरार्थत्वे तु योगो न विभजनीय इति  
“यस्मादधिकम्” (अष्टा०सू०२-३-९) इत्यत्र वक्ष्यामः ।

विभाषा कृञि (अष्टा०सू०१-४-९८) । अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो वा  
स्यात् । ईश्वर इत्यनुवर्तते । प्राप्तविभाषेयम् । यदत्र मामधिकरिष्यति ।  
विनियोज्यते इत्यर्थः । इह विनियोजकतुरीश्वरत्वं गुम्यते । कर्मत्वाद्  
द्वितीया । इह “तिङि चोदात्तवति” (अष्टा०सू०८-१-७१) इति निघातो  
न, गतिसंज्ञाया बाधितत्वात् । किञ्च ‘मामधिकृत्वा’ इत्यत्र प्रादिसमासो  
न, कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेध इत्युक्तेः । पक्षे ‘अधिकृत्य’ इति बोध्यम् ।

लः परस्मैपदम् (अष्टा०सू०१-४-९९) । लकारस्यादेशाः परस्मैपद-  
संज्ञाः स्युः । पचन्तं पश्य ।

तडानावात्मनेपदम् (अष्टा०सू०१-४-१००) । तङ्प्रत्याहारो लादे-  
शावानौ च तत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसंज्ञापवादः । आस्ते । आसीनः । चक्रा-  
णः । शानच्चक्रानचोरेवेह ग्रहणं लादेशत्वात्, न तु शानन्चानशोः ।  
तेन पूङ्ग्यजोः शानन् यजेरकर्तृगेपि फले भवति ‘रसमानसारसेन’  
इत्यादौ परस्मैपदिभ्योऽपि चानश् भवति ।

तिङ्स्त्रीणित्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (अष्टा०सू०१-४-१०१) । कृतद्व-  
न्द्वानामेकशेषात् प्रथमेत्यादयः षट् संज्ञाः तिङः षट् त्रिकाः क्रमात्प्रथ-  
मादिसंज्ञाः स्युः । शतृकस्वोः सावकाशाऽपि परस्मैपदसंज्ञा प्रथमादि-  
संज्ञाभिर्न बाध्यते “सिचिवृद्धिःपरस्मैपदेषु” (अष्टा०सू०७-२-१) इति  
लिङ्गात् । तथा परस्मैपदे लङ्धावकाशाऽपि प्रथमादिसंज्ञा तङ्क्ष्वात्म-  
नेपदसंज्ञया न बाध्यते कृतद्वन्द्वानामेकशेषेण तङ्क्षु प्रतिपदविधेरुक्त-  
त्वात् । न चैवमपि परस्मैपदात्मनेपदसंज्ञाभ्यां पुरुषसंज्ञायाः पर्यायः  
स्यादिति वाच्यम्, “णलुत्तमोवा” (अष्टा०सू०७-१-२१) इत्यस्य सा-  
मान्यापेक्षणापकत्वात् । इह सूत्रत्रयेऽपि महासंज्ञाकरणं पूर्वाचार्यानु-



शेषात् । इह त्रीणित्रीणीत्येकं पदम् । द्वे वेति हरदत्तः । तत्र सत्यामप्यवाप्तरपदसंज्ञायां महापदसंज्ञामाश्रित्य “संहितैकपदे नित्या” इत्यस्य प्रवृत्तेः । अन्यथा समासादावपि पृथक् छेदापत्तेः द्विरुक्तमध्ये पदान्तरप्रयोगापत्तेश्च । अत एव ‘ताता पिण्डानाम्’ इत्यादौ वेदेऽवग्रहः क्रियते । यथा च द्विरुक्ते महापदसंज्ञाऽवान्तरसंज्ञा च तथा “नित्यवीप्सयोः” (अष्टा०सू०८-१-४) इत्यत्र वक्ष्यामः ।

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः (अष्टा०सू०१-४-१०२) । तानि लब्धपुरुषसंज्ञानि त्रीणित्रीणि एकशः क्रमेण एकवचनादिसंज्ञानि स्युः । तानीत्युक्तिः समावेशार्था । अन्यथा पुरुषवचनसंज्ञयोः पर्यायः स्यात् । ततश्च “आहुतमस्य” (अष्टा०सू०३-४-२२) इत्यादिकार्यं पक्षे न प्रवर्तेत । एकश इति प्रथमान्ताद्वीप्सायां शस् ।

सुपः (अष्टा०सू०१-४-१०३) । सुपस्त्रीणित्रीणि क्रमादेकश उक्तसंज्ञानि स्युः । इहान्वर्थतामाश्रित्य “द्वेकयोर्द्विवचनैकवचने” (अष्टा०सू०१-४-२२) “बहुषु बहुवचनम्” (अष्टा०सू०१-४-२३) इति शक्यं त्यक्तुम्, एकवचनस्यौत्सर्गिकत्वेऽपि उपसर्जनकर्मप्रवचनीयादिसंज्ञावद्यथासम्भवमन्वर्थतायाः सुवचत्वात् ।

विभक्तिश्च (अष्टा०सू०१-४-१०४) । सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः । चकारः पुरुषवचनसंज्ञाभ्यां समावेशार्थः । तिङां विभक्तिसंज्ञायाः प्रयोजनं “न विभक्तौ तुस्माः” (अष्टा०सू०१-३-४) इति, सुपां तु त्यदाद्यत्वादिकमपि ।

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः (अष्टा०सू०१-४-१०५) । लकारेण समानाधिकरणे युष्मदि प्रयुक्तेऽप्रयुक्तेऽपि मध्यमः स्यात् । त्वं पचसि दृश्यसे च । समानाधिकरणे किम् ? त्वां पश्यति । त्वया दृश्यते । इह युष्मदि मध्यमोऽस्मद्युत्तम इत्येवास्तु युष्मद्यस्मदि च यो लकार इत्यर्थे सर्वसामञ्जस्यात् । यथा तु न कृतमित्येव । अत्वं त्वं भवति त्वद्भवतीत्यत्र तु न, मध्यमविकृतेरकर्तृत्वात् । प्रकृतिरेव हि विकाररूपापत्तौ कर्त्री । तथा च मन्त्रः “यदग्नेस्यामहं त्वं त्वंवाधास्याअहम्” इति । अहं त्वं स्याम्, त्वं वा अहं स्या इति प्रकृत्याश्रय एवेह पुरुषः ।

स्यादेतत् । ‘भवान् करोति’ इत्यत्रापि स्थानिन्यपीति मध्यमः स्यात् । अत्राहुः । अलिङ्गः सम्बोधनैकविषयश्च युष्मदर्थः । सालिङ्गः सम्बोध्यसम्बोध्यसाधारणश्च भवदर्थ इति । न च युष्मदः सम्बोधनैकविषयत्वे ततः सम्बोधन एव प्रथमा स्यात् । ततश्च आमन्त्रिताद्युदात्तत्वं पदा-



त्परत्वेन निघातश्च स्यादिति वाच्यम्, सम्बोधनस्य प्रातिपदिकार्थ एवान्तर्भावात् । “सम्बोधने च” (अष्टा०सू०२-३-४७) इति सूत्रं हि सम्बोधनाधिक्यार्थमिति वक्ष्यते । यत्तु केचिदिष्टापत्तिं कुर्वाणाः पठन्ति-

सम्बोधनार्थः सर्वत्र मध्यमे कैश्चिदिष्यते ।

तथा सम्बोधने सर्वा प्रथमां युष्मदो विदुः ॥

युष्मदर्थस्य सिद्धत्वान्नियता चाद्युदात्तता ।

युष्मदः प्रथमान्तस्य परश्चेन्न पदादसौ ॥ इति ॥

तन्न, उक्तन्यायविरोधात् लक्ष्यविरोधाच्च । दृश्यते हि पादादावप्यन्तोदात्तत्वं पदात्परत्वेऽप्यनिघातश्च । तद्यथा-युवं ह गर्भजगतीषु धत्थः । यूयं यातस्वस्तिभिः । ह ये देवा यूयमिदापयः स्थ इति ।

प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च (अष्टा०सू०१-४-१०६) । मन्यधातुरूपपदं यस्य धातोस्तस्मिन्प्रकृतिभूते सति मध्यमः स्यात् परिहासे गम्यमाने मन्यतेस्तूत्तमः स्यात्स चैकार्थस्य वाचकः स्यात् । द्वयोर्बहुषु च मन्तुषु एकवचनमेव स्यादिति फलिनोऽर्थः । एकवच्चेत्यन्वाचये चकारः । तेनैकवद्भावाभावेऽपि प्रधानशिष्टौ मध्यमोत्तमौ स्त एव । सत्यप्योदने परिहासशीलः शालकादिः प्रतारयन्प्रयुक्ते—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे भुक्तः सोऽतिथिभिः । एतम् एत वा मन्ये ओदनं भोक्ष्येथे भोक्ष्यध्वे । ओदनं भोक्ष्ये भोक्ष्यावहे इत्यादि, मन्यसे मन्येथे इत्यादिरर्थः । युष्मद्युपपदे इत्याद्यनुवर्तते । तेनेह न—एतु भवान्मन्यते ओदनं भोक्ष्ये इति । श्यना निर्देशाच्चेह—एहि मनुषे रथेन यास्यामिति । प्रहासे किम् ? यथार्थकथने मा भूत्—एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्य इति भुक्तः सोऽतिथिभिः ।

अस्मद्युत्तमः (अष्टा०सू०१-४-१०७) । लकारसमानाधिकरणेऽस्मदि स्थिते स्थानिन्यप्युत्तमः स्यात् । अहं पश्यामि दृश्ये वा । युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्ये तु परत्वादुत्तम एव । अहं च त्वं च वृत्रहत्स्वयुज्यावसनिभ्यआ ।

शेषे प्रथमः (अष्टा०सू०१-४-१०८) । मध्यमोत्तमविषयादन्यत्र प्रथमपुरुषः स्यात् । पचति, पचतः, पचन्ति ।

परः सन्निकर्षः संहिता (अष्टा०सू०१-४-१०९) । अतिशयितः सन्निधिवर्णानां यः स संहितासंज्ञः स्यात् । संज्ञाप्रदेशाः “संहितायाम्” (अष्टा०सू०६-१-७२) इत्यादयः ।

विरामोऽवसानम् (अष्टा०सू०१-४-११०) । वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् । संज्ञाप्रदेशा “वावसाने” (अष्टा०सू०८-४-५६) इत्याद-



यः । अभावस्यापि बुद्धिकृतं पौर्वापर्यमस्त्येव । यथोच्चरितप्रध्वंसिनां नित्यविभूनां वा वर्णानाम् । यद्वा, विरम्यतेऽनेनेति करणे घञ्, चरप्रवर्णश्च संज्ञी । अस्मिन्पक्षे “खरवसानयोः” इत्येकापि सप्तमी विषयभेदाद्भिद्यते । खरि परे रेफस्य विसर्गः, अवसाने च रेफे स्थानिनीति । अत्र वार्त्तिकम्—संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात्सिद्धमिति । तथा च सूत्रद्वयं माप्सित्वत्यर्थः ।

॥ इति श्रीपद्माक्षप्रमाणपारावारपारिणस्य लक्ष्मीधरसूरेः

सूनुना मट्टोजीभट्टेन कृते शब्दकौस्तुभे प्रथमस्या-

ध्यायस्य चतुर्थे पादे चतुर्थमान्हिकम् ॥

॥ पादश्चाध्यायश्च समाप्तः ॥

॥ अथ द्वितीयाध्याय आरभ्यते ॥

समर्थः पदविधिः (अष्टा०सू०२-१-१) । पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः । परिभाषेयम् । समर्थशब्दस्य तदाश्रिते लक्षणा । सामर्थ्यं चेहकार्थीभावः । प्रक्रियादशायां पृथगर्थत्वेन प्रथमगृहीतस्य विशिष्टैकार्थत्वमिति यावत् । राजपुरुषः । पुत्रीयति । कुम्भकारः । औपगवः । इह “गुणः कृतात्मसंस्कार” इति न्यायेन महाविभाषायाः सामर्थ्यविशेषणता । विकल्पेनैकार्थीभूतं षष्ठ्यन्तं समस्यते इत्याद्यर्थात् । विशेषणबलादेव च व्यपेक्षापक्षोऽपि सम्मतः । वृत्तिस्तु समासादिनियता । अत एव ‘ऋद्धस्य’ इति विशेषणं तत्र नान्वेति, शक्यैकदेशत्वात् । न हि श्वशुरशब्दजन्यप्रतीतौ पितृविशेषणत्वेनोपस्थितायां भार्यायां सुशीलाया इत्यादिविशेषणमन्वेति । न चैवं ‘देवदत्तस्य गुरुकुलम्’ इत्यादावेनन्वयापत्तिः, तत्रापि कुलेनैव देवदत्तशब्दोत्तरषष्ठ्यर्थस्यान्वयात् । सम्बन्धस्तु उपस्थितगुरुद्वारक एव षष्ठ्यर्थो न तु तदितरः । उक्तञ्च—

समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना ।

संपृश्यावयवांस्ते तु युज्यन्ते तद्वता सह ॥ इति ।

यद्वा, ससम्बन्धिकपदार्थस्यैकदेशत्वेऽपि भवत्येव विशेषणान्वयः ‘चैत्रस्य नप्ता’ इत्यादौ तथा दर्शनात्, श्वशुरशब्दोपस्थितायां भार्यायां तत्पतेर्विशेषणत्वाच्च । तदंशे उत्थिताकाङ्क्षत्वात् । उक्तञ्च—

सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।

स्वार्थवत्सा व्यपेक्षाऽस्य वृत्तावपि न हीयते ॥ इति ।

तस्मात्समाससुब्धानुकुत्तद्धितविशेषणे ।

न विशेषणसम्बन्धः सापेक्षे तु भवेदयम् ॥



स्यादेतत्, वाक्ये कलसयाऽवयवशक्त्योपपत्तौ माऽस्तु शक्त्य-  
न्तरम् । न चैवं विशेषणसम्बन्धापत्तिः 'सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य  
वा विशेषणयोगो न' इति निषेधस्य सम्भवादिति चेत् ? सत्यम् ।

बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनरेत्र साधने ।

स्यान्महद्गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आस्थितः ॥

चकारादिनिषेधोऽथ बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम् ।

कर्तव्यं ते न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थितिः ॥

तथाहि, 'धवखदिरौ' इति वृत्त्यैव क्रोडीकृतार्थत्वाच्चकारो न  
प्रयुज्यते । तथा चित्रगवादौ यत्पदम् । त्वया तु वचनं कर्तव्यम् । निरु-  
दलक्षणा तु शक्तितो नातीव भिद्यते, नैयायिकैश्चकारार्थं तदनभ्युप-  
गमाच्च । अकथितसूत्रे व्युत्पादितरीत्या नामार्थयोरभेदः "प्रत्ययार्थः  
प्रधानम्" इत्यादिव्युत्पत्तित्यागश्च, 'प्राप्तोदकः' इत्यादौ उदककर्तृकप्रा-  
प्तिकर्मत्याद्यर्थाभ्युपगमात् । एकार्थीभावे तु लाघवमिति । यद्यपि सि-  
द्धान्ते पदं वाक्यं वा शक्तं तथापि प्रक्रियादशायां लाघवादेकार्थीभाव  
इत्याशयः । यैव ह्यस्माकं प्रक्रिया सा परैः पारमार्थिकतया गृह्यते इति  
युक्तस्तान् प्रति गौरवोपन्यास इति दिक् ।

कच्चित्तु सापेक्षत्वेऽपि भाष्यप्रामाण्याद् वृत्तिः । तद्यथा-किमोदनः  
शालीनाम् । केषां शालीनामोदन इत्यर्थः । सक्त्वाढकमापणीयानाम् ।  
आपणीयानां सक्तूनामाढकमित्यर्थः । कुतो भवान्पाटलिपुत्रकः । द्वे  
पाटलिपुत्रे, तत्र कस्मात्पाटलिपुत्राद्भवानागत इत्यर्थः । "रोपधेतोः प्रा-  
चाम्" (अष्टा० सू० ४-२-१२३) इति बुज् । तथा नञ्समासा अपि केचित्सा-  
धवः-अश्राद्धभोजी ब्राह्मण इति यथा । केचित्तु न साधवः-अकिञ्चित्कु-  
र्वाणमिति यथा । किञ्चिदप्यकुर्वाणमित्यर्थः ।

अत्रेदमवधेयम् । वाक्ये त्रेधा सामर्थ्यम्-भेदः संसर्गो भेदसंसर्गो  
चेति । आद्ये ऽतद्यावृत्तिमात्रस्य शाब्दत्वम् । संसर्गस्त्वार्थः । द्वितीये  
विपरीतम् । तृतीये तूभयं शाब्दम् । अलौकिके प्रक्रियावाक्ये तु प्रथ-  
ममुक्तत्रितयान्यतमावगमेऽपि वृत्तिः कल्प्यते । परिनिष्ठिते विशेषणस-  
म्बन्धाद्यभावदर्शनात् । यथा शत्रादौ द्वितीयान्तादिसामानाधिकरण्यं  
दृष्ट्वा लकारे न्तकल्पनेति । अत एव चित्रत्वादेरन्यपदार्थपरतादर्शना-  
दलौकिके प्रक्रियावाक्येऽपि तत्कल्पना, "अन्यपदार्थे" इत्यादिसौत्रानु-  
वादेनैव देवताविग्रहवत्तत्सिद्धेश्चेति दिक् ।

॥ इति श्रीशब्दकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे प्रथममान्हिकम् ॥



सुषामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे (अष्टा०सू०२-१-२) । सुबन्तमामन्त्रिते परे पराङ्गवत्स्यात्स्वरे कर्त्तव्ये । तन्निमित्तग्रहणं कर्त्तव्यम् । तस्यामन्त्रितार्थस्य यन्निमित्तं तत्प्रतिपादकं यत्तदव पराङ्गवत्स्यान्नान्यदित्यर्थः । यत्ते दिवो दुहितमर्तभोजनम् । इह दिवःशब्दस्य पराङ्गवद्भावादाष्टमिको निघातः । तन्निमित्तग्रहणाग्रेह—एतेनाग्रे ब्रह्मणा वावृधस्व । अयमग्रे जरिता । अनेन मित्रावरुणावृतावृधावृतरूपृशाक्रतुवृहन्तमाशाथे इति ।

स्यादेतत्, ऋतशब्दस्तावद् घृतादित्वादन्तोदात्तः । तस्य तन्निमित्तग्रहणात्पराङ्गवद्भावा मा भूत् । किन्तु मित्रावरुणावित्यस्यापि न स्यात् । ऋतस्य वर्द्धयितारावित्यर्थे ऽन्नर्भावित्यण्यथाङ्घ्रिः क्तिप् “अन्येषामपि दृश्यते” (अष्टा०सू०६-३-१३७) इति पूर्वपदस्य दोषं सति हि ऋतावृधाविति व्युत्पादितम् । न च तत्र मित्रावरुणौ निमित्तम् । न च मा भूत्पराङ्गवद्भाव इति वाच्यम्, ऋतावृधावित्यस्य निघातानापत्तेः । द्वितीयपादादि त्वेनापादादाविति निषेधात् । अत एव हि “इमं मे गङ्गे” इत्यत्र पूर्वपूर्वामन्त्रितस्याविद्यमानवद्भावात्सर्वेषां मेशब्दात्परतामुपजीव्य क्रियमाणोऽपि निघानो ‘गङ्गे’ इत्यादित्रयस्यैव क्रियते न तु शुतुद्रादित्यस्यापि । अत्राहुर्वेदभाष्यकाराः तन्निमित्तग्रहणं मास्तु, सूत्रेणैव सकलेष्टसिद्धेरिति । युक्तं चैतत् । तथाहि, “व्यपेक्षां सामर्थ्यमेकं” इति समर्थसूत्रस्य भाष्यरीत्येह सामर्थ्यमुपस्थितम् । एकार्थीभावपक्षे तु सामर्थ्यस्येहानुवृत्तिः । शब्दाधिकारश्च बोधः । एतदर्थ एव चास्मिन्प्रदेशे एतत्सूत्रारम्भः । तथाच “ऋतेन मित्रावरुणौ” इत्येतयोः ‘आनशाथे’ इत्यर्थकनाशाथे इत्याख्यातेनान्वयात्परस्परमसामर्थ्येन पराङ्गवद्भावाभावात् षाष्ठ आद्युदात्तः, किन्त्वाष्टमिको निघातः । मित्रावरुणावित्यस्य तु पराङ्गवद्भावाद्वृतावृधाविति न पादादिरतो निहन्येत एव । न च सर्पिःकालकादिसिद्धये “इसुसोःसामर्थ्ये” (अष्टा०सू०८-३-४४) इत्यत्र पठितं “समानाधिकरणमसमर्थवद्भवति” इत्येतदिह प्रवर्त्तते ‘सर्पिष्पीयते’ इत्यादिसिद्धये अधात्वभिहितमिति विशेषितत्वात् । इह च धात्वभिहितत्वात् । नन्वेवं शुतुद्रिपदमपि निहन्येत पूर्वस्य सरस्वतिपदस्य पराङ्गवद्भावेनापादादिष्वादिति चेत् ? न, सचतेत्यनेन सर्वेषामन्वयेऽपि परस्परमसामर्थ्यात् । उक्तं हि—

सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम् । इति ।

न च गङ्गे इत्यादीनामेकवचनान्तानां सचतेति बहुवचनान्तेन ‘समानाधिकरण्याभावात्कथमेकवाक्यता ? तथा च कथं निघातोऽपि ? तत्र वार्तिककृता समानवाक्याधिकारस्य कृतत्वादिति वाच्यम् “युष्म-



शृपपदे” (अष्टा०सू०१-४-१०५) इति त्रिसूत्र्यां भाष्यवार्तिकयोरेव वचनमेदेऽपि सामानाधिकरण्यस्य समर्थितत्वात् प्रत्येकपर्यवसन्नैकत्वप्रकारकबाधविशेष्येष्वपि मिलितेषु संख्यानंतरान्वये बाधकानिरुक्तेश्च, अहं च त्वं च वृत्रहन्त्संयुज्यावसनिभ्य आ, समौ हि शिष्टैराज्ञातौ वत्स्यन्तावामयः सचेति वेदलोकयोः प्रचुरप्रयोगाच्च । एतेन “चन्द्रे कलङ्कः सुजने दरिद्रता” इत्यत्र “यशो विधातुः कथयन्ति खण्डितम्” इत्यस्यान्वयाय एते इत्यध्याहरन्तः प्रत्युक्ताः । एवञ्च सत्यध्याहृतेन एतच्छब्देनापि समं कलङ्कादेरनन्वयापत्तेः, ‘गङ्गे’ इत्यादौ निघातानापत्तेश्चेति दिक् । नन्वेवमपि मित्रावरुणावित्यस्य कथं पराङ्गवद्भावः “आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्” (अष्टा०सू०८-१-७२) इत्यविद्यमानवद्भावादिति चेत् ? मैवम्, परस्य हि कार्यं कर्त्तव्येऽसावतिदेशो न तु स्वस्य कार्येऽपि, पूर्वग्रहणवैयर्थ्यापत्तेः । न च पराङ्गवद्भावः परस्य कार्यं किन्तु स्वस्य । अत एव ‘वायो याहि’ ‘अग्ने नय’ ‘इन्द्र देह्यधिरथम्’ इत्यादौ आमन्त्रिताद्युदात्तत्वं भवत्येव । “तिङ्ङुडतिङः” (अष्टा०सू०८-१-२८) इति निघातः परं न भवति । अभ्युपेत्यापि ब्रूमः, प्रकृते मित्रावरुणावित्यामन्त्रितं सामान्यवचनं तद्विशेषणतया विशेषवचनमृतावृधाविति । अतो “नामन्त्रिते सामानाधिकरणे सामान्यवचनम्” (अष्टा०सू०८-१-७३) इति अविद्यमानवद्भावो निषिध्यते इति । नन्वेवमपि मित्रावरुणपदस्य पराङ्गवद्भावात्पादादित्वेनापादादिति पर्युदासः स्यादिति चेत् ? न, ह्ययं कार्यस्यातिदेशः किन्तु तादात्म्यस्य तस्मिन्नातिदिष्टे विशिष्टमामन्त्रितमिति बुद्ध्या यद्यत्कर्त्तुं शक्यं तत्क्रियते । किञ्च कार्यातिदेशेऽप्यशास्त्रीयस्य दौर्लभ्यं किमुत तादात्म्यातिदेशे । सुबिति किम् ? पीड्येपीड्यमाना । नन्विह एकार्थीभावविरहात् समर्थपरिभाषानुपस्थितावपि समर्थग्रहणानुवृत्त्या पराङ्गवद्भावो न भविष्यति । एवञ्चादुपदेशात्परत्वेनानुदात्तस्येष्टा उदात्तेनैकादेशे पीड्य इत्यन्तोदात्तं सिद्धम् । मैवम्, सामर्थ्यस्वेहापि सत्त्वात् । पीड्यमानसम्बोध्यका पीडिति हि वाक्यार्थः । आह च—

सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम् ।

व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥ इति ।

समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः । “आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्” इति वार्तिककारवचनादिति भावः । अङ्गग्रहणं किम् ? उभयोः पृथगाद्युदात्तता मा भूत् । वद्ग्रहणं किम् ? स्वाश्रयमपि यथा स्यात् । आमूकुण्डेनाटन् । “आम एकान्तरमामन्त्रितमनान्तिके” (अष्टा०सू०८-१-



५५) इत्येकान्तरता भवति । स्वर इति किम् ? 'कूपे सिञ्चन्' 'वर्म नमन्' षत्वणत्वे प्रति पराङ्गवद्भावो न भवति । समानाधिकरणस्योपसंख्यानमननन्तरत्वात् । तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन् । न च परस्य पराङ्गवद्भावे कृते पूर्वस्यापि सूत्रेणैव सिद्धमिति वाच्यम्, स्वरे इत्यवधारणात् । पराङ्गवद्भावे कर्तव्ये तस्य दुर्लभत्वात् । वस्तुतस्तु स्वरे इति न कर्तव्यम् । 'कूपे सिञ्चन्' इत्यत्र स्वाश्रयपदादि सत्त्वात् "सात्पदाद्योः" (अष्टा०सू०८-३-११) इति निषेधसम्भवात् । णत्वं तु पूर्वपदात्संज्ञाया-मेवेति नियमान्न भविष्यति । समासाभावेऽपि पूर्वं पदमिति यौगिकार्थमात्रस्य लक्ष्यानुरोधेन ग्रहीतुं शक्यत्वादिति भाष्यम् । यद्वा, आमन्त्रिते इत्यस्योपस्थितत्वादामन्त्रितत्वयुक्तकार्यं प्रत्येव सन्निधानात् पराङ्गवद्भावः । तथाच पराङ्गवद्भावे सामानाधिकरणस्योपसंख्यानं, स्वरग्रहणं चेत्युभयमपि न कर्तव्यमिति स्थितम् ।

परमपि छन्दसि पूर्वस्याङ्गवद्भवतीति वक्तव्यम् । आते पितर्मरुतां सुम्नमेतु । प्रतित्वा दुहितर्दिवः । वृणीष्व दुहितर्दिवः ।

अव्ययप्रतिषेधश्च । उच्चैरधीयान । अव्ययीभावस्य तु नायं निषेध इत्युक्तम् ।

प्राक्कारात्समासः (अष्टा०सू०२-१-३) । "कडाराः कर्मधारये" (अष्टा०सू०२-२-३८) इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते प्राग्रहणं चावर्तते । तेन पूर्वं समाससंज्ञा ततः संज्ञान्तरमपीति लभ्यते । तेनाव्ययीभावादिसंज्ञाभिः समावेशः सिध्यति । अन्यथा पर्यायः स्यात् ।

सह सुपा (अष्टा०सू०२-१-४) । इह सहेति योगो विभज्यते । सुबन्तं समर्थेन सह समस्यते । कतिपयतिङन्तमात्रविषयोऽयं योगः, सुप्सुपेति पुनरारम्भात् । अतोऽतिप्रसङ्गो नोद्भावनीयः । यो जात एव पर्यभूषत् । यः शम्बरं अन्वविन्दत् । योगविभागसिद्धस्यासार्वत्रिकत्वाच्चेह-सम्प्रयच्छवृष्ण्या इन्द्राय भागम् । अत एव "नित्यं क्रीडा" (अष्टा०सू०२-२-१७) इत्यधिकारे "उदात्तवता गतिमता च तिङा गतेः समासः" (का०वा०) इति वार्तिककृता यदुक्तं तदिहैव योगं विभज्य साधितं भाष्ये । एवम् "इवेन समासः" (का०वा०) इत्यपि सुप्सुपेत्यनेन सिद्धमित्युक्तम् । युक्तं चैतत् । अन्यथा वार्तिकरीत्या नित्यसमासतापत्तौ 'य आनयत्' 'आयोनयत् सम्प्रयच्छ' इत्यादेरसङ्गतत्वापत्तेः 'जीमूतस्येव' इत्यादौ तैत्तिरीयाणां पदद्वयत्वेन पाठासङ्गतिप्रसङ्गाच्च । अत एव 'उद्वाहुरिव' इत्यादौ व्यस्तव्यवहितप्रयोगोऽपि सङ्गच्छते, यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यात् । तिङ्समासस्तु छन्दस्येन । अत एव



“कर्मणा यमभिप्रैति” (अष्टा०सू०१-४-३२) इत्यत्रैकपद्यं नेति हरदत्तः । एतदपि असार्वत्रिकत्वादेव सिद्धम् । युक्तं चेदम्, छान्दस्त्वेनैव तत्र सुष्ठुको वक्तव्यत्वात् । अन्यथा “एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते” इति भाष्यात्समासादुत्पन्नस्य सोः पर्यभूषदित्यादौ हल्ङ्ङादिलोपसम्भवेऽपि यत्प्रकरोतीत्यादौ श्रवणापत्तेः । न च नपुंसकताभ्युपगमेन निर्वाहः ‘यत्प्रकुरुते’ इत्यादौ हुस्वापत्तेः, ‘प्रकुर्वीरन्’ इत्यत्र नलोपापत्तेश्च । तस्मात्काव्यादौ प्रभवतीत्यादिप्रयोगेषूपसर्गः पृथक् पदमेव । ‘वागर्थाविव’ इत्यादाविवशब्दस्तु समस्तः पृथग्वा । ‘उद्धाहुरिव वामनः’ ‘कन्नाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ’ (कि०स०१श्लो०३६) इत्यादौ पृथगेवेति तत्त्वम् । यत्तु कश्चिदिवेन समासश्छान्दस इत्याह । तन्निर्मूलम्, तैत्तिरीयपृथक्पाठविरुद्धं च । इवसमासे समासगां श्रौतीमुपमासुदाहरतामलङ्कारिकाणां प्रतिकूलं च । किञ्च—

हरीतर्कौ भुङ्क्ष्व राजन्मातेव हितकारिणीम् ।

अद्वैतमप्यनुभवामि करस्य बिल्व-

तुल्यं शरीरमहिनिर्लव्यनीव वीक्ष ।

इत्यादयः समस्तप्रयोगाः ‘नह्यस्ति प्रथमान्तेनैव’ इत्यन्यपदार्थसु-  
ग्रन्थभाष्यसम्मतताः । अत एव अग्निरिव राज्ञो वायुरिव पाश इत्यादि  
परिशिष्टोदाहरणमपि सङ्गच्छते । इत्यास्तां तावत् ।

इदं त्ववशिष्यते—तिङ्समासे कृतं परमपि “तिङ्ङितिङः” (अष्टा०  
सू०८-१-२८) इति निघातं बाधित्वं सन्निशिष्टत्वात्समासान्तोदात्तता  
प्राप्नोति । न चेष्टापत्तिः, ‘पर्यभूषत्’ ‘तदेवानुप्राविशत्’ इत्यादौ क्वापि  
अन्तोदात्तपाठदर्शनात् ।

अत्रेह तत्त्वम् । “तिङ्ङितोदात्तवति” (अष्टा०सू०८-१-७१) इति  
गतेर्निघातविधानं ज्ञापकं तिङ्समासेऽन्तोदात्ताभावस्येति । भाष्यमते  
तु “गतिकारकोपपदात्कृत्” (अष्टा०सू०६-२-१३२) इति सूत्रे कृद्ग्रहण-  
स्य प्रत्याख्यातत्वाच्च कश्चिद्दोष इति ।

इहेदमवधेयम् । सहेति तिङ्समासे सुप्सुपेति विहिते च ‘वाग-  
र्थाविव’ ‘पूर्वं भूतो भूतपूर्वः’ इत्यादौ अव्ययीभावादिविशेषसंज्ञाः  
सन्त्येव न, तत्तदधिकारेष्वस्यापाठात् । एवं ‘विस्पष्टपटुः’ ‘काकताली-  
यः’ इत्यादावपि, तत्रापि सुप्सुपेत्यस्य प्रवृत्तेः । “विस्पष्टादीनि गुणव-  
चनेषु” (अष्टा०सू०६-२-२४) “समासाच्चतद्विषयात्” (अष्टा०सू०५-३-  
१०६) इत्यादयः स्वरलुप्रत्ययार्थमारभ्यमाणा अपि वृद्धकुमारीवरन्यायेन  
समाससाधका इत्यस्मिन्नपि पक्षे विशेषसंज्ञाविरहस्तुल्य एव । समास-



अतुर्द्धेति तु प्रायोवादमात्रम् । अत एव पठन्ति—

कः समास इति प्रश्ने विस्पष्टपटुगोचरे ।

समासमात्रं ये ब्रूयुर्विस्पष्टपटवो हि ते ॥

इह विस्पष्टमिति पाटवस्य विशेषणम् । एकदेशान्वयस्याप्यत्र स्वीकारः । एवं “पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः” इत्यादि पूर्वाचार्यपरिभाषितम् । यद्यपीह तदीयमहासंज्ञाव्यवहारसामर्थ्यात्स्वीक्रियते, तथापि तत्सर्वमौत्सर्गिकमेव, अर्द्धपिप्पल्यादेस्तत्पुरुषस्य पूर्वपदार्थप्राधान्यात् ‘उन्मत्तगङ्गम्’ इत्यव्ययीभावेऽन्यपदार्थप्राधान्याच्चेति द्विक् ।

यद्यपि जहत्स्वार्थायां वृत्तौ वर्तिपदयोरानर्थक्यम् । अजहत्स्वार्थायां तूभयोरपि विशिष्टार्थता, तथापि एकार्थीभावात्पूर्वस्यामवस्थायां यौ पृथक् पदार्थौ तयोर्वृत्तौ प्राधान्याप्राधान्याभ्यां प्रवेशमाश्रित्योक्तानामौत्सर्गिकव्यवहाराणां निर्वाहो बोध्यः । षोढा चायं समासः । तथाहि,

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा ।

सुबन्तेनेति च प्रोक्तः समासः षड्विधो बुधैः ॥

सुपां सुपा-राजपुरुषः । तिङा-पर्यभूषत् । नाम्ना-कुम्भकारः । धातुना-कटष्कः । अजस्रम् । तिङान्तिङा-पिबतस्त्रादता । तिङां सुपा-जहिजोडः । इह समासे पूर्वपदोत्तरपदपुरस्कारेणायं विभागः । तेन मध्यमानामव्यवस्थितत्वेऽप्यदोषः । एहि रे याहि रे इत्यस्य सुबन्तपूर्वोत्तरपदत्वात् । सर्वेष्वमीषु पूर्वपदस्य पदत्वमव्यभिचारि । अत एव समासग्रहणं नियमार्थमित्ययं ग्रन्थो यत्र पूर्वो भागः पदं तद्विषयकः । तेन ‘बहुपटवः’ इत्यत्र टकाराकारस्योदात्तता सिध्यतीत्यर्थवत्सूत्रे व्युत्पादितम् ।

इवेन समासो विभक्त्यलोपः ॥ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ॥ इह उक्तयोगाभ्यां सिद्धं समासमनूद्य विभक्तिलोपाभावस्वरौ विधीयेते । तिङन्तापेक्षया इवशब्दस्य परनिपातस्तु राजदन्तादेशकृतिगणत्वात् । वासयसीव वेधसः । जीमूतस्येव भवति । येषां विशिष्य लक्षणं नास्ति ते समासाः “सह” “सुपा” इत्याभ्यां सिध्यन्तीति स्थितम् ।

अव्ययीभावः (अष्टा०सू०२-१-५) । अधिकारोऽयम् ।

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्युद्भवार्थाभावात्पयसासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भापपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु (अष्टा०सू०२-१-६) । अव्ययमिति योगो विभज्यते इति “गम्भीराञ्जयः” (अष्टा०सू०४-३-५८) “अव्ययीभावाच्च” (अष्टा०सू०४-३-५९) इति सूत्रे न्यासकारः । तेन ‘दिशोर्मध्यमपदिशम्’ इति सिद्धम् । शरदादित्वाद्वाच् ।



क्लीबाव्ययं त्वपदिशं दिशोर्मध्ये विदिक् स्त्रियाम् । (अ.को.३.१.५) इत्यमरः ।

वस्तुतस्तु योगविभागं विनापीष्टसिद्धिरिति सूत्रशेषे वक्ष्यामः । विभक्तिरिह कारकशक्तिः, विभज्यतेऽनया प्रातिपदिकार्थ इति व्युत्पत्तेः । वचनशब्दः कर्मसाधनः । स च प्रत्येकं विभक्त्यादिभिः सामानाधिकरण्येन सम्बध्यते । पूर्वनिपाताभावः सौत्रः । एष्वर्थेषु द्योतकतया वर्तमानं सुबन्तमव्ययं सुबन्तेन सह एकार्थभूतं सत् समाससंज्ञं प्राक्स्यात्ततोऽव्ययीभावसंज्ञमित्यर्थः । यद्यपि सुप्सुपेत्येव समासः सिद्धस्तथापि तस्यासार्वत्रिकता पुनः समासविधिभिर्ज्ञाप्यते । अत एव महाविभाषातः प्राक्पाठेऽपि अव्ययीभाववन्न तस्य नित्यसमासता । तथाच स्वपदविग्रह एव तत्र भवति । तथाच “भूतपूर्वं च रट्” (अष्टा०सू. ५-३-५३) इति सूत्रे वृत्तिः-“पूर्वं भूतो भूतपूर्वः । सुप्सुपेति समासः” इति । तथा शाकलसूत्रे-“सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेध इति नित्यग्रहणेन नार्थः । इदमपि सिद्धं भवति । वाप्यामश्चो वाप्यश्च नद्यामातिर्नद्यातिः” इति भाष्यं कैयटो व्याख्यत् । सुप्सुपेति समासः । संज्ञायामिति हि समासस्य नित्यत्वात्सिद्धः प्रतिषेध इति । तथा “अनुदात्तं पदमेकवर्जम्” (अष्टा०सू. ०६-१-१५८) इति सूत्रे “असिद्धवदत्र” (अष्टा०सू. ०६-४-२२) इति च सूत्रे कैयटेन स्वपदविग्रहो दर्शितः । ननूकरीत्या संज्ञायामिति वत्पङ्कजादिष्वपि अविग्रहत्वं स्यादिति चेत् ? सत्यम्, यौगिकार्थमात्रेण साम्यमाश्रित्य विग्रहकथनेऽपि पद्मत्वस्य समासैकगम्यतया वस्तुतस्तस्येष्टत्वात् । एतेन कृष्णसर्पलोहितशाल्यादयो व्याख्याताः ।

प्रकृतमनुसरामः, विभक्तौ-हरौ इत्यधिहरि । येन सुबन्तेन समासस्तद्धटकीभूतैव विभक्तिर्गृह्यते सन्निधानात् । तदर्थद्योतकश्चेह अधिशब्दः । न चैवमलौकिके सप्तम्येव दुर्लभा, निपातेनाधिकरणस्याभिहितत्वात्, तिङ्कृत्तद्धितसमासैरिति परिगणनस्य प्रत्याख्यास्यमानत्वादिति वाच्यम्, अर्थेन चतुर्थीसमासस्थले यथा वचनसामर्थ्यादुक्तार्थस्यापि प्रयोगः तथेह वचनसामर्थ्यादभिहितेऽपि सप्तमीत्यभ्युपगमात्, अवभक्षन्यायेन वचनग्रहणसामर्थ्येन च विभक्त्यर्थमात्रवृत्तेरव्ययस्य ग्रहणाच्चेह । ‘गृहस्थोपरि’ ‘ग्रामस्य पुरः’ । उपर्यादयो हि दिग्देशकालेष्वपि वर्तन्ते, न तु विभक्त्यर्थमात्रे । अत एव “क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः” इत्यादौ नातिप्रसङ्गः, इतिशब्दस्य सर्वनामवत् प्रकृतपरामर्शकत्वेन कर्मत्वमात्रानभिधायकत्वात् । एवञ्च विभक्तिशब्दः सप्तम्यां पर्यवस्यति । अत एव परिशिष्टे “आधिकरणे” इत्येव श्रुतितम् ।



पाणिनिस्तु मात्रालाघबमभिप्रेत्य विभक्तिशब्दं प्रायुङ्क्त । निपातेनाभिहितत्वात् प्रथमान्तनैवायं समासः षष्ठ्यन्तेन वेत्यपि मतद्वयं परिशिष्टे स्थितम् । तदपि विभक्तिग्रहणेऽधिकरणग्रहणे चाविशिष्टम् ।

समीपे—कृष्णस्य समीपमुपकृष्णम् । अव्ययीभाव इत्यन्वर्थसङ्ज्ञाश्रयणादसत्त्वरूपाव्ययार्थप्राधान्यएवायं समासः । समीपवर्तिप्राधान्ये तु बहुव्रीहिं वक्ष्यति “संख्ययाऽव्ययासन्न” (अष्टा०सू०२-२-२५) इति । उपदशा इति यथा । ननु ‘समया ग्रामं’ ‘निकषा लङ्काम्’ ‘आराद्विनात्’ इत्यादावतिप्रसङ्ग इति चेत् ? अत्राह रक्षितः—“अभितः परितः समयानिकषान्यारादिति द्वितीयापञ्चम्योर्विधानसामर्थ्यान्नाव्ययीभावः” इति । यत्तुक्तं दुर्घटवृत्तौ—‘चित्रस्य ग्रामं समया’ इत्यादौ सापेक्षत्वादसमासे चारितार्थ्याद्विभक्तिविधानस्य सामर्थ्यं नास्ति इति । तन्न, समासस्य नित्यतया “वृत्तस्य विशेषणयोगो न” इत्यस्यैव प्रवृत्त्यापत्तेः । अन्यथा स्थूलस्य कुम्भस्य कार इत्याद्यापि स्यात् ।

समृद्धौ तु—मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु “कुगति” (अष्टा०सू०२-२-१८) इति तत्पुरुषः । समृद्धा मद्राः सुमद्रा इति यथा ।

व्यूद्धौ—दुर्यधनम् । न चार्थाभावेनेह सिद्धिः । येन समस्यते तदीयार्थाभावे हि समासः । इह तु यवनानां नाभावः, किं तु तदीयाया वृद्धेः ।

अर्थाभावे—निर्मक्षिकम् । अविघ्नम् । संसर्गाभावेऽयं समासः, न त्वन्योन्याभावेऽपि, अर्थग्रहणसामर्थ्येन समस्यमानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यविरोधिन एवाभावस्य ग्रहणात् । अन्योन्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकेनैव सह विरोधात् । तस्य च प्रकारत्वेऽप्यविशेष्यत्वात् । ये तु वदन्ति—‘घटः पटो न’ इत्यत्रापि पटत्वात्यन्ताभाव एवार्थः आकृत्यधिकरणन्यायेन जातेः पदार्थत्वादिति, तेषामपि मतेऽर्थग्रहणसामर्थ्यादेवाक्षिप्तधर्म्यभावेऽयं समासो न तु धर्माभाव इति फलं तुल्यमेव । एष एवात्रत्यहरदत्तग्रन्थस्याप्याशयः । एतेन ‘भूतले घटो न’ इत्यत्र घटाभावं व्याचक्षाणाः परास्ताः । नित्यसमासप्रसक्त्याऽसाधुतापत्तेः कारकविभक्तेरयोगाच्च । अत एव सिद्धान्ते क्रियाध्याहारेण कारकविशिष्टक्रियाप्रतीतौ तस्या एव निषेधः शब्दः, भूतलाधारकघटाद्यभाव एवार्थः । गौरवं च प्रामाणिकं व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावश्चायम् । अत एव ‘शशशृङ्गं नास्ति’ इत्यत्रापि शब्दसाधुताऽर्थसाधुता चेप्यत एव । शशशृङ्गास्तित्वञ्च शब्दबलात्प्रतीतिं निषिध्यते ।



अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।

इत्यभ्युपगमात् । अयोग्यतानिश्चयस्तु न प्रतिबन्धकः । अन्यथा ध्युत्थम्प्रति शब्दो मूक एव स्यात्प्रतिवादिनः शब्दाद्वाक्यार्थाप्रतातः । तत्खण्डनकथाप्युच्छिद्येत । आहार्यः शब्दो बोध इति वास्तु । एतेन-  
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

(भ०गी०अ०१२श्लो०२३)

इत्यादि व्याख्यातम् । अन्यथा आत्मकर्मकच्छेददाहक्लेदशोषाप्रसि-  
द्धापार्थतापत्तेरिति दिक् ।

अत्ययः—हिमस्यात्ययः अतिहिमम् । अत्ययो ध्वंसः । ध्वंसत्वं  
चाभावत्वव्याप्यमखण्डमेवेत्यर्थाभावात्पृथगुपादानम् ।

‘सम्प्रति’ इत्यव्ययमधिकरणशक्तिप्रधानम् । तथाचोक्तममरेण-

एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा ।

(अ०को०३-४-२३) इति ।

न जातु अधिकरणकारकाक्षिप्ता युज्यते, इत्येषा क्रिया निषि-  
ध्यते । निद्रा इदानीं न युज्यते इत्यतिनिद्रम् । वृत्तौ तु अतितैसुकमा-  
च्छादनमित्युदाहृतम् । तिसृका नाम ग्रामः । तिसृभवि संज्ञायां कन्यु-  
पसंख्यानम् । तत्र भवं तैसुकमाच्छादनम् । तच्च विशिष्टकाले उपभो-  
ग्यम् । उष्णे शीते वा । तथाच नेदानोमुपभोगार्थं तैसुकमाच्छादन-  
मित्यर्थः । इह वृत्तावुपभोगक्रिया अन्तर्भूता ‘दध्युपसिक्त ओदनो दध्यो  
दनः’ इत्यत्रोपसंको यथा । आच्छादनापेक्षस्यापि तैसुकशब्दस्य गमक-  
त्वात्समास इति हरदत्तः ।

शब्दप्रादुर्भावे-इतिहरि । इतिशब्दः स्वरूपपरः । तस्य प्रकाश  
इति पृच्छ्यन्तेन विग्रहः ।

पश्चादर्थे-अनुरथम् । रथानां पश्चादित्यर्थः । वृद्धिशब्दस्याल्पा-  
क्षरस्यापूर्वेनिपातेनास्यानित्यत्वज्ञापनादिह वाक्यस्य साधुतेत्याहुः ।  
समीपादिवृत्तिभिरतद्धितान्तैः साहचर्यात्तथाविधस्यैवेह ग्रहणम् “ततः  
पश्चात्संक्ष्यते ध्वंस्यते च” इति भाष्याच्च । “अनेकमन्यपदार्थे”  
(अष्टा०सू०२-२-२४) इति सूत्रे ‘सर्वपश्चात्’ इति भाष्यप्रयोगाच्चेति  
तु तत्त्वम् ।

योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः । अनुरूपम् ।  
रूपस्य योग्यमित्यर्थः । वीप्सायां प्रत्यर्थम् । अर्थमर्थं प्रतित्यर्थः । इह  
वाक्यमपि साधु । न ह्यत्रावयवं वीप्सावृत्तिः, किंतु कर्मप्रवचनीयत्वा-



त्सम्बन्धमवच्छिनत्ति । वीप्सा तु द्विर्वचनेन प्रोक्ता । यद्वा, प्रतिशब्द-  
स्य वीप्सार्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानसामर्थ्यात्तद्योगे द्वितीयागर्भ-  
वाक्यमपि भविष्यति । यथाशक्ति । शक्तिमनतिक्रम्येत्यर्थः । हरेः सा-  
दृश्यं सहरि ।

अनुपूर्वस्याभाव आनुपूर्व्यम् । ब्राह्मणादित्वात् व्यञ् । व्यजः चित्क-  
रणात् स्त्रियामपि प्रयुज्यते । अनुज्येष्ठं ज्येष्ठानुपूर्व्येणेत्यर्थः ।

योगपद्ये-सचक्रम् । सहशब्दस्य समासः । “अव्ययीभावे चाकाले”  
(अष्टा०सू०६-३-८१) इति समासः । एवमग्रेऽपि ।

सादृश्ये-सदृशः सख्या ससखि । वृत्तौ तु ‘सकिखी’ इत्युदाहृतम् ।  
अपचितपरिमाणा शृगाली किखी । यथार्थत्वेनैव सिद्धे पुनः सादृश्य-  
ग्रहणं गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यादित्येवमर्थम् । ‘सदृशः सख्या  
ससखी’ इत्यत्र हि सादृश्यवतः प्राधान्यम् । तेनाव्ययार्थप्राधान्याभावात्  
‘समृद्धा मद्राः सुमद्राः’ इत्यत्रेवाव्ययीभावो न स्यात् ।

सम्पत्तिरनुरूप आत्मभावः । सब्रह्मगर्गाणां तेषामनुरूपो ब्रह्मभाव  
इत्यर्थः ।

साकल्ये-सतृणमभ्यवहरति । न किञ्चित्परित्यजतीत्यर्थः । न त्वत्र  
तृणभक्षणे तात्पर्यम् ।

अन्तवचने-साग्न्यधीते । अग्न्यादयः शब्दास्तदर्थे ग्रन्थे वर्तन्ते  
तदानीं परिगृहीतस्य प्रदेशस्याग्न्यादिरन्तो न तु ततः परेणाध्ययनं  
नास्तीति । अतः साकल्यात्पृथगन्तग्रहणम् । अग्नेरन्तत्वमिति षष्ठ्य-  
न्तेनास्वपदविग्रहः । इह वचनशब्दोऽतिरिच्यते । तेन द्वन्द्वसाकल्या-  
त्पृथगन्तग्रहणमाश्रित्य योगविभागफलीभूतम् ‘अपदिशम्’ इत्यादि सु-  
साधमिति तु निष्कर्षः ।

यथाऽसादृश्ये (अष्टा०सू०२-१-७) । पूर्वेण सिद्धे सादृश्यनिरासा-  
त् । यथेत्येतदसादृश्ये एव समस्यते न तु सादृश्ये इत्यर्थः । तेनेह  
.. । यथा हरिस्तथा हरः । हरेरुपमानत्वं यथाशब्दो द्योतयति । तत्र  
सादृश्य इति वा यथार्थ इति वा पूर्वेण प्राप्तिं निषिध्यते ।

यावदवधारणे (अष्टा०सू०२-१-८) । इयता परिच्छेदे वर्तमानं  
यावदित्येदद्वयं सुपा सह समस्यते सोऽव्ययीभावः । यावदमत्र ब्राह्म-  
णानामन्त्रयस्व । यावदित्यद्वयस्य नित्यसमासेऽपि तद्धितान्तेनान-  
व्ययेन स्वपदविग्रहः । यावन्त्यमन्त्राणीति । अवधारणे किम् ? यावद्वत्तं  
तावद्भुक्तम् । कियद् भुक्तमिति नावधारयामीत्यर्थः ।

सुप्रतिना मात्रार्थे (अष्टा०सू०२-१-९) । मात्रा बिन्दुः स्तोकमि-



त्यल्पपर्यायाः । मात्रार्थे वर्तमानेन प्रतिना सह सुबन्तं समस्यते सोऽव्य-  
यीभावः । शाकस्य लेशः शाकप्रति । सूपप्रति । मात्रार्थे किम् ? वृक्षं  
प्रति विद्योतते विद्युत् । सुग्रहणमव्ययाधिकारानिवृत्त्यर्थम् । अन्यथा  
हि 'दोषामन्यमहः' 'दिवामन्या रात्रिः' इति वृत्तिविषये सत्त्वप्रधानता-  
दर्शनात्तादृशाव्ययान्येव मात्रार्थे प्रतिना समस्येरन्निति भावः ।

अक्षशलाकासंख्याः परिणा (अष्टा०सू०२-१-१०) । एताः परिणा  
समस्यन्ते सोऽव्ययीभावः । द्यूतकारव्यवहारे चायं समास इष्यते ।  
पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति । तत्र यदि सर्वे  
उत्तानाः पतन्त्यवाञ्चो वा तदा पातयिता जयत्यन्यथा तु जीयते । तत्र  
पराजय एवायं समासः । अक्षेण विपरीतं वृत्तं अक्षपरि । शलाका  
परि । एकपरि । द्विपरि । त्रिपरि । परमेण चतुः परि ।

पञ्चसु त्वेकरूपेषु जय एव भविष्यति ।

अक्षादयस्तृतीयान्ताः पूर्वोक्तस्य यथा न तत् ॥

किं तव व्यवहारे स्यादेकत्वेऽक्षशलाकयोः ॥

परमेणेत्यादेर्वृत्तिग्रन्थस्यायमर्थः । परमेण अतिशयेनान्यतः परं  
पञ्चपरीति न भवतीति यावत् । अस्योपपादनाय श्लोकः-पञ्चस्त्विति ।  
एकरूपेस्त्विति । "पुमान् स्त्रिया" (अष्टा०सू०१-२-६७) इत्येकशेषः । तृती-  
यान्ता इति । कर्तृत्वादिति भावः । पूर्वं परिभाषितस्य यथा एकरूपं वर्त्तनं  
सम्प्रति यदि तन्नैत्यर्थः । विपरीतवर्तने परिणा द्योत्ये समास इति  
यावत् । एकत्वे इति । अन्यथा 'राजपुरुषः' इत्यादाविवामेदैकत्वम-  
वगम्येत न तु शुद्धमेकत्वम् । प्रकरणादिना द्वित्वाद्यवगमे च प्रसज्येत ।

भवद्भिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः ।

इत्यादाविवेति भावः ।

विभाषा (अष्टा०सू०२-१-११) । अधिकारोऽयम् ।

अपपरिवहिरञ्चवः पञ्चम्या (अष्टा०सू०२-१-१२) । एते पञ्चम्या वा  
समस्यन्ते सोऽव्ययीभावः । अपहरि संसारः, अपहरेः । परिहरि, परिहरेः ।  
बहिर्ग्रामम्, बहिर्ग्रामात् । प्राग्ग्रामम् । प्राग्ग्रामात् । इहापपरी परस्पर-  
साहचर्याद्वर्जनार्थो । तौ च कर्मप्रवचनीयौ "अपपरी वर्जने" (अष्टा०  
सू०१-४-८८) इति । तद्योगे पञ्चम्यैव भाव्यम्—“पञ्चम्यपाङ्परि-  
भिः” (अष्टा०सू०२-३-१०) इति । अञ्चतिरप्यपपारिसाहचर्यादव्ययमेव  
गृह्यते तद्योगेऽप्यञ्चूत्तरपदलक्षणया पञ्चम्या भाव्यम् । इत्थंस्थिते  
पञ्चम्येति ज्ञापनार्थं बाह्ययोगे षष्ठ्यर्थे पञ्चमी भवतीत्यस्य ।

आङ् मर्यादाभिर्विधयोः (अष्टा०सू०२-१-१३) । एतयोराङ् पञ्चम्य-



न्तेन वा समस्यते सोऽव्ययीभावः । आमुक्ति आमुक्तेर्वा संसारः । आ-  
बालं हरिभक्ति, आबालेभ्यः । इह मर्यादाभिविध्योरिति शक्यमकर्तुम् ।  
कर्मप्रवचनीयेनैव ह्याडा योगे पञ्चमी विहिता । कर्मप्रवचनीयता च  
एतयोरेवार्थयोः “आङ् मर्यादावचने” (अष्टा०सू०१-४-८९) इति । तत्र  
हि वचनग्रहणं मर्यादोक्तिमात्रे यथा स्यादित्येवमर्थम् । अस्तु वा तत्रै-  
वाभिविधिग्रहणम् ।

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये (अष्टा०सू०२-१-१४) । आभिमुख्यद्यो-  
तकावभिप्रती चिन्हवाचिना सह वा प्राग्वत् । अभ्यग्नि शलभाः पत-  
न्ति । प्रत्यग्नि । अग्निमभि । अग्निं प्रतीति विग्रहः । “अभिरभागे”  
(अष्टा०सू०१-४-९१) “लक्षणेत्थंभूत” (अष्टा०सू०१-४-९२) इति चा-  
भिप्रत्योः कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया । इहाभिप्रती लक्ष्यलक्षणभावमा-  
भिमुख्यं चेत्युभयं द्योतयतः । लक्षणेन किम् ? सुप्तं प्रतिगतः ।  
सुधनादागतस्तमेव प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । अत्र सुप्तः कर्माभूतो न तु  
लक्षणम् । अभिप्रती किम् ? येनाग्निस्तेन गतः । येन देशेनाग्निर्गत-  
स्तेन गत इति प्रतीतेर्भवति गमनस्याग्निर्लक्षणम् । आभिमुख्यमप्य-  
स्तीति येनतेनशब्दयोरग्निशब्देन सह समासः स्यात् । आभिमुख्य-  
इति किम् ? अभ्यङ्काः गावः प्रत्यङ्काः । अभिनवः प्रतिनवञ्चाङ्क आसा-  
मिति बहुव्रीहिः । अङ्कोऽत्र भवति गवां लक्षणम् । आभिमुख्यं तु ना-  
स्ति । नन्वव्ययार्थप्राधान्येऽव्ययीभाव इत्युत्सर्ग इत्युक्तम् । तत्कथमिह  
प्रसङ्गः ? सत्यम्, इह प्रकरणे बहुव्रीहिविषयेऽव्ययीभावो भवतीति  
ज्ञापनार्थमिदम् । तेन “संख्या वंश्येन” (अष्टा०सू०२-१-१९) ‘द्विमुनि-  
व्याकरणम्’ इत्यादि सिद्धम् ।

अनुर्यत्समया (अष्टा०सू०२-१-१५) । यं पदार्थं समया तेन लक्ष-  
णभूतेनानुः समस्यते सोऽव्ययीभावः । सूत्रे तु यदिति सामान्ये नपुंस-  
कम् । अनुवनमशानिर्गतः । वनस्यानु । वनस्य समीपं गत इत्यर्थः । अ-  
नुरिति किम् ? वनं समया । यत्समयेति किम् ? वृक्षमनु विद्योतते  
विद्युत् । “अव्ययं विभक्ति” (अष्टा०सू०२-१-६) इत्येव सिद्धे वि-  
भाषार्थं सूत्रम् ।

यस्य चायामः (अष्टा०सू०२-१-१६) । यस्यायामोऽनुना द्योत्यस्तेन  
लक्षणभूतेनानुः समस्यते सोऽव्ययीभावः । आयामो दैर्घ्यम् । अनु-  
गङ्गं वाराणसी । गङ्गाया अनु । इहायामो लक्षणत्वंचानुना द्योत्यते ।  
लक्ष्यं तु समासार्थः । अत एव वाराणस्या सामानाधिकरण्यम्, गङ्गा-  
यायदैर्घ्यं तदुपलक्षितेत्यर्थात् । गङ्गा च दैर्घ्यद्वारोपलक्षणम् । तेन गङ्गा-



दैर्घ्यसदृशदैर्घ्योपलक्षिता काशी उदीर्यतीति फलितोऽर्थः ।

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च (अष्टा०सू०२-१-१७) । एतानि निपात्यन्ते । तिष्ठन्ति गावो यमिन् कालविशेषे स तिष्ठद्गु दोहनकालः । चकार-एवकारार्थे । तेनैषां वृत्त्यन्तरं न भवति । 'परमतिष्ठद्गु' इत्यादि न भवतीत्यर्थः । कथं तर्हि—

आतिष्ठद्गु जपन् सन्ध्यां पश्चिमामायतीगवम् ।

इति भट्टिरिति चेत् ? अव्ययीभावविलक्षणं समासान्तरं व्यावर्त्यते । “आङ् मर्यादाभिविध्योः” (अष्टा०सू०२-१-१३) इतीहाव्ययीभावस्तु भवत्येवेति जयमङ्गला । इदं च ‘आयतीगवम्’ इत्येतदनुरोधेनावश्यं वाच्यम् । ‘अतिष्ठद्गु’ इत्यत्र तु पृथक्पदत्वं पञ्चम्याश्च लुगित्यपि सुवचम् । “नाव्ययीभावादतः” (अष्टा०सू०२-४-८३) इति निषेधादमृत्वपञ्चम्या इत्युक्तेऽप्ययतीगवादिनि केचित्पेठुः । खलेष्वादीनि प्रथमान्तानि । प्रातिपदिकार्थमात्रे एषां प्रयोगो नान्यत्रेत्यर्थः । तिष्ठद्गु । वहद्गु । शत्रादेशो निपातनात् । “गोस्त्रियोः” (अष्टा०सू०१-२-४८) इति ह्रस्वः । आयतीगवम् । इह शत्रादेशः पुंवङ्गावाभावः समासान्तश्च निपात्यते । खलेयवम् । खलेबुसम् । सप्तम्या अलुक् । लूनं यवम् । लूनमानयवम् । लूयमानबुसम् । संह्रियमाणबुसम् । एते कालशब्दाः । समभूमि । समपदाति । समत्वं भूमेरिति पूर्वपदार्थप्राधान्येऽव्ययीभावः । समभूमि समपदातीत्यपरः पाठः । तत्र समस्यान्तलोपः । संशब्देन वा समासः । सुषमम् । विषमम् । दुःषमम् । निःषमम् । अपसमम् । इह समस्य शोभनत्वं विगतत्वं निर्गतत्वमपगतत्वं चेति विग्रहः । आयतीसमा । आयतीसमम् । शत्रादेशः पूर्ववत् । पुंवङ्गावाभावश्च । समा संवत्सरः । एवं पापसमम् । पुण्यसमम् । प्राहम् । प्रमृगम् । प्रस्थम् । प्रदक्षिणम् । एषु चतुर्षु प्रगतत्वमन्ह इत्यादिविग्रहः । सङ्गतत्वं प्रति गतस्य सम्प्रति, विपरीतमसम्प्रति । “इच् कर्मव्यतिहारे” (अष्टा०सू०५-४-१२७) । दण्डादण्ड । अयमेव द्विदण्डादिष्वपि विधीयते इति तत्राप्यव्ययीभावत्वं बोध्यम् ।

पारमध्ये षष्ठ्या वा (अष्टा०सू०२-१-१८) । पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते सोऽव्ययीभावः । पदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते । पक्षे षष्ठीतत्पुरुषः । महाविभाषया ह्येकार्थीभावस्य पाक्षिकतामात्रं लभ्यते । सति त्वेकार्थीभावेऽव्ययीभावस्तत्पुरुषं बाधेत । अतः पाक्षिकं तत्पुरुषं लब्धुमिह पुनर्वाग्रहणम् ‘व्यपेक्षां सामर्थ्यमेकं’ इति पक्षे तु



ब्रूतोत्सर्गापवादं महाविभाषया विकल्प्यते तत्रापवादेन मुक्ते उत्सर्गो न प्रवर्तते इति ज्ञापनायेदम् । एवम् “उद्दिष्टोऽन्यतरस्याम्” (अष्टा० सू०४-२-१९) इत्यपि । तेन पूर्वं कार्यस्येत्येकदेशिसमासेन युक्ते षष्ठी-समासो न भवति । दक्षस्यापत्यं दाक्षिरितीजा युक्तेऽण् न भवति किं तूभयत्र वाक्यमेव । एकारान्तत्वनिपातनं तु यत्र सप्तम्यर्थो न सम्भवति तदर्थम् । पारेगङ्गात् मध्येगङ्गादानयेति यथा । सप्तम्यर्थसम्भवे तु “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” (अष्टा०सू०६-३-१४) इति बहुलग्रहणाद-लुप्यपि सिद्धम् ।

संख्या वंश्येन (अष्टा०सू०२-१-१९) । वंशो द्विधा-विद्यया जन्म-ना च । तत्र भवो वंश्यः । तद्वाचिना सह संख्या वा समस्यते सोऽव्य-यीभावः । द्वौ मुनी पाणिनिकात्यायनौ वंश्यौ द्विमुनि । व्याकरणस्य त्रिमुनि । जन्मना यथा—एकविंशति भारद्वाजम् । कथं तर्हि त्रिमुनि व्याकरणमिति सामानाधिकरण्यमिति चेत् ? विद्यया सह तद्वतामभे-दोपचारादिति वृत्तिकाराः । “लक्षणेनाभिप्रती” (अष्टा०सू०२-१-१४) इति सूत्रे आभिमुख्यग्रहणादेव तत्सिद्धमिति तु प्रागेवोक्तम् ।

नदीभिश्च (अष्टा०सू०२-१-२०) । नदीभिः संख्या प्राग्वत् । समाहारे चायमिष्यते । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम् । स्वरूपस्य सञ्ज्ञा । नद्याश्च नेह ग्रहणम्, बहुवचननिर्देशात् ।

अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम् (अष्टा०सू०२-१-२१) । अन्यपदार्थे विद्यमानं सुबन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते सञ्ज्ञायां सोऽव्ययीभावः । विभाषाधिकारेऽपि वाक्येन सञ्ज्ञानवगमादिह नित्यसमासतेति वृत्तिः । शाकलसूत्रे कैयटस्वरसोऽप्येवम् । न चैवं न्यायसाम्याद्बहुव्रीहेरपि नित्यतापत्तिः, ‘चित्रा यष्टीः प्रवेशय’ इत्यत्र वाक्येऽपि यष्टिधरप्रतीतेरिति दिक् । उन्मत्तगङ्गं नाम देशः । लोहितगङ्गम् । तूष्णीगङ्गम् । शनैर्गङ्गम् । अन्यपदार्थे किम् ? कृष्णवेणी । सञ्ज्ञायां किम् ? शीघ्रगङ्गो देशः ।

तत्पुरुषः (अष्टा०सू०२-१-२२) । अधिकारोऽयं प्राग्वहुव्रीहेः ।

द्विगुश्च । (अष्टा०सू०२-१-२३) । द्विगुरपि तत्पुरुषसञ्ज्ञः स्यात् । संख्यापूर्वो द्विगुश्चेति चकारपाठमात्रेण सञ्ज्ञासमावेशसिद्धेरिदं सूत्रं व्यर्थम् । द्विगोस्तत्पुरुषत्वे टजचौ प्रयोजनम् । पञ्चराजम् । “राजाहःस-स्त्रिभ्यः” (अष्टा०सू०५-४-९१) इति टच् । उत्तरपदस्यानकारान्तत्वात् स्त्रीत्वाभावः । समासार्थोत्तरपदान्ताः समासान्ता इति पक्षे तु पात्रादि-त्वं बोध्यम् । वृत्तौ तु ‘पञ्चराजी’ इति काचित्कोऽपपाठः । ह्यहः । “अह-ष्टसोरेव” (अष्टा०सू०६-४-१४५) इति टिलोपः । “रात्राहाहाः पुंसि”



(अष्टा०सू०२-४-२९) पञ्चगवम् । “गोरताद्धितलुकि” (अष्टा०सू०५-४-२२) इति टच् । प्राग्वत् स्त्रीत्वाभावः । द्यङ्गुलम् । “तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः” (अष्टा०सू०५-४-८६) इत्यच् ।

द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (अष्टा०सू०२-१-२४) । द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह समस्यते स तत्पुरुषः । कृष्णं श्रितः कृष्णाश्रितः । दुःखमतीतो दुःखातीतः । कूपपतितः । अत एव निपातनादिट् । अन्यथा “तनिपति” (का०वा०) इति विकल्पतेट् कत्वाद् “यस्य विभाषा” (अष्टा०सू०७-२-१५) इति निषेधः स्यात् । यद्वा, कृतीप्रभृतीनां “सेसिचि” (अष्टा०सू०७-२-५७) इत्यादिनेङ्वि कल्पान्निष्ठायामनिट्कत्वे सिद्धे इदित्करणं “यस्य विभाषा” (अष्टा०सू०७-२-१५) इत्यस्यानित्यतां ज्ञापयति । अत एव ‘धावितमिभराज-धिया’ इत्यादि सिध्यति । ग्रामगतः । तुहिनात्यस्तः । सुखप्राप्तः । सुखा-पन्नः । इह श्रितादिषु गत्यर्थत्वात्कर्त्तरि कः । अत्यासो व्यतिक्रमो गतिविशेष एव । प्राप्तिरपीह गतिरेव न तु फलम् । एवमापत्तिरपि । यद्वा, श्रित इत्यादावादिकर्मणि कः ।

स्यादेतत् । कर्मणि कान्तेन सह तृतीयार्थे बहुव्रीहिणाऽपि कृष्ण-श्रितादिरूपसिद्धौ किमनेन सूत्रेण ? कृष्णकर्मकश्रयणकर्तेति बोधस्योभ-यत्राविशेषात् । ननु “कर्मणि कः” इति पक्षे प्रत्ययार्थः कर्म श्रयणं प्रति विशेष्यं स्यादिति चेत् ? न, विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासेनैव बहु-व्रीहिस्थले एकार्थीभावोऽवश्यमाभ्युपेय इत्यकथितसूत्रएवोक्तत्वात्, एतं त्वुत्रे भाष्ये तथैवोक्तत्वाच्च । न च स्वरे भेदः । तत्पुरुषेऽपि हि श्रितप-तितगतेभ्यः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति । “अहीने द्वितीया” (अष्टा०सू०६-२-४७) इति वचनात् । अतीतादिभिस्तु स्वरसिद्धये विधीयतां तत्पुरुषः । तथाहि, तैस्तत्पुरुषे थाथादिस्वरेण भाव्यम्, न त्वहीनस्व-रेण; अतीतात्यस्तयोरहीन इति निषेधात् । प्राप्तापन्नयोस्त्वहीने द्वितीया-नुपसर्ग इति वचनात् । बहुव्रीहौ तु पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण भाव्यमिति । तस्माच्छ्रितपतितगतैः समासो न विधेयः । एवञ्च “अहीने द्वितीया” (अष्टा०सू०७-२-४७) इति सूत्रमपि मास्त्विति महदेव लाघवम् । नन्वेवं जात्यादिभ्यः परेषु श्रितादिषु स्वरे दोषः स्यादेव “जातिकालसुखादि-भ्योनाच्छादनात् कोकृतमितप्रतिपन्नाः” (अष्टा०सू०६-२-१७) इत्य-न्तोदात्तप्रसङ्गात् । तत्पुरुषारम्भपक्षे हि बहुव्रीहेरन्तोदात्तता तत्पुरुषस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरश्चेति द्वैस्वर्यं सिद्ध्यति । प्रत्याख्यानपक्षे त्वन्तोदात्त एवेति वैषम्यादिति चेत् ? न, बहुव्रीहावेव द्वैस्वर्यस्य सुसाधत्वात् ।



तथाहि, “वा जाते” (अष्टा०सू०६-२-१७१) इत्यत्र वाजातश्रितपतित-  
गतेष्विति वक्तव्यम् । न चैवं लाघवे विशेषो नेति वाच्यम् “अहीने द्वि-  
तीया” (अष्टा०सू०७-२-४७) इत्यस्यानारम्भेण लाघवस्य स्पष्टत्वात् ।

एतावांस्तु विशेषः—तवं समासद्वये द्वैस्वर्यं मम तु बहुव्रीहिणैव  
द्वैस्वर्यमिति । अत्राहुः । बहुव्रीहिणा ‘कृष्णश्रितः’ इत्यादि न सिध्यति  
“निष्ठा” (अष्टा०सू०२-२-३६) इति पूर्वनिपातप्रसङ्गात् । जातिकाल-  
सुखादिभ्यो हि निष्ठायाः परनिपात उपसंख्यातो न तु जात्यादिभ्यो-  
ऽन्यत्रापि । किञ्च जात्यादावपि रूपं भिद्यत्, पूर्वपदप्रकृतिस्वरपक्षे-  
ऽपि पाक्षिकशैषिककप्रसङ्गात् । त्वया बहुव्रीहावेव द्वैस्वर्यस्य सूत्रि-  
तत्वात् । सिद्धान्ते तु तत्पुरुषे “अहीने द्वितीया” (अष्टा०सू०७-२-४७)  
इति स्वरोऽस्ति न तु कप् । बहुव्रीहौ तु कवस्ति न तु पूर्वपदस्वरः ।  
तथा चोक्तस्वरकपौ न क्वापि समाविशतः । तस्माद्यथान्यासमेवा-  
स्तु । गौरवं च प्रामाणिकमिति स्थितम् ।

गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम् । ग्रामं गमी ग्रामगमी । “गमेरिनिः”  
(उ०सू०४-५४) इत्यौणादिक इनिः । स च भविष्यत्काले “भविष्यति  
गम्यादयः” (अष्टा०सू०३-३-३) इत्युक्तेः । यस्तु “आङि च णित्” (उ०  
सू०४-५५) इतीनिः, सोऽपि गम्यादिपाठाद्भविष्यति । णित्वाद्बुद्धिः ।  
आगामी । बाहुलकात्केवलदपि । तेन गामीति माधवः । ग्रामं गामी  
ग्रामगामी । “अकेनोर्भविष्यदाधमण्ययोः” (अष्टा०सू०२-३-७०) इति  
कृद्योगलक्षणषष्ठीनिषेधात् कर्मणि द्वितीया । केचित्तु आवश्यक-  
णिनिः । अभविष्यदर्थत्वेऽपि “गत्यर्थकर्मणि” (अष्टा०सू०२-३-१२)  
इत्यत्र द्वितीयाग्रहणमपवादविषयेऽपि विधानार्थमिति कृत्प्रयोगेऽपि  
द्वितीयैवेत्याहुः । तत्तु भाष्यविरुद्धम्, भाष्ये गत्यर्थसूत्रस्य प्रत्याख्या-  
ततया कृद्योगे षष्ठ्या एव स्वीकारात् । एतेन—

तथाविदूराद्रिरदूरताङ्गमी

यथा स गामी तव कोलिशैलताम् ।

इति श्रीहर्षप्रयोगो व्याख्यातः । अन्नं बुभुक्षुरन्नबुभुक्षुरित्यादि ।

स्वयं केन (अष्टा०सू०२-१-२५) । स्वयमित्येतत्सुबन्तं कान्तप्रकृति-  
केन सुबन्तेन समस्यते स तत्पुरुषः । ऐकपद्यं समासप्रयोजनम् । तेन-  
“आमएकान्तरम्” (अष्टा०सू०८-१-५५) इति निघातनिषेधः स्वायंक-  
तिरिति तद्धितश्च सिध्यति । द्वितीयाग्रहणं तूत्तरार्थतयाऽनुवृत्तमपि  
नेह सम्बध्यते, स्वयमित्यस्यात्मनेत्यर्थकस्य कर्त्रर्थकतया द्वितीयान्त-  
त्वानुपपत्तेः ।



खट्वा क्षेपे (अष्टा०सू०२-१-२६) । खट्वाप्रकृतिकं द्वितीयान्तं कान्तप्रकृतिकेन सुबन्तेन समस्यते निन्दायाम् । खट्वाकूढो जालमः । “जालमोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्” (अ०को०३-१-१७) इत्यमरः । वेदं व्रतानि च समाप्य समावृतेन हि खट्वाऽऽरोढव्या । ब्रह्मचर्य एव भूमिशयनार्होऽपि यः खट्वामारोहति सं जालमः । कूढश्चायम् । तेन खट्वामारोहतुं मावा निषिद्धानुष्ठानपरः सर्वोऽपि खट्वाकूढ उच्यते । अत एव विभाषाधिका-रेऽपि नित्यसमासोऽयम् । न हि वाक्येन निन्दा गम्यते इति वृत्तिकृतः ।

सामि (अष्टा०सू०२-१-२७) । सामीत्येतदव्ययमर्द्धशब्दपर्यायः । तस्यासत्त्ववाचित्वाद् द्वितीयया नास्ति सम्बन्धः । तत्सुबन्तं कान्तेन वा समस्यते स तत्पुरुषः । सामिकृतम् ।

कालाः (अष्टा०सू०२-१-२८) । कालवाचिनो द्वितीयान्ताः केन सह प्राग्वत् । अनत्यन्तसंयोगार्थं वचनम् । मासप्रमितः प्रतिपच्चन्द्रः । “माङ् माने” (दि०आ०११४२) आदिकर्माणि । कर्तरि क्तः । मासं परिच्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः । इह प्रतिपच्चन्द्रेण नास्त्यत्यन्तसंयोगः ।

अत्यन्तसंयोगे च (अष्टा०सू०२-१-२९) । अकान्तार्थं वचनम् । कालवाचिनः शब्दाः द्वितीयान्ताः अत्यन्तसंयोगे सुपा सह प्राग्वत् । मुहूर्तं सुखं मुहूर्तसुखम् । मुहूर्तव्यापीत्यर्थः । “कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे” (अष्टा०सू०२-३-५) इति द्वितीया ।

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (अष्टा०सू०२-१-३०) । तत्कृतेति पृथक् लुप्ततृतीयाकम् । तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेन अर्थशब्देन च सह समस्यते स तत्पुरुषः । तच्छब्देन तृतीयान्तपरामर्शना तदर्थो लक्ष्यते । तदर्थकृतत्वं च गुणवचनस्यार्थद्वारकं विशेषणम् । तथाच तृतीयान्तार्थकृतो यो गुणस्तद्वचनेति फलितोऽर्थः । शङ्कुलया खण्डः । शङ्कुलाखण्डः । किरिणा काणः किरिकाणः । “खडि भेदने” (चु०उ०१५८१) “कण निमीलने” (चु०उ०१७१५) आभ्यां घञि व्युत्पादितावेतौ कियारूपापन्ने गुणे वर्तित्वा पश्चान्मतुलोपादभेदोपचाराद्वा तद्वति द्रव्ये वर्त्तते इति गुणवचनौ भवतः । धान्येनार्थो धान्यार्थः । अर्थ्यते इत्यर्थः, प्रयोजनम् । अर्थनं वा अर्थः, प्रार्थना । अभिलाषः । सर्वत्र करणे तृतीयायाः समासः । तत् कृतेनेति किम् ? अक्षणा काणः । किञ्च यत्र शङ्कुलाखण्डादौ पूर्वोत्तरपदार्थयोः क्रियाकारकभावः सम्बन्धस्तत्र चरितार्थं वचनम् । यथा ‘दध्ना भुङ्क्ते पटुः’ इत्यादौ न भवति, असामर्थ्यात् । तथेहापि न स्यात्-‘दध्ना पटुः’ ‘कुङ्कुमेन लोहितं मुखम्’ इति । इह हि गम्यमानया करोतिक्कि-



यथा करणस्य सम्बन्धः । तस्माद्यत्रोत्तरपदे क्रिया न गम्यते तत्रापि तत्कृतत्वे सति यथा स्यात् भोजनादिद्वारके सामर्थ्यं मा भूदिति तत्कृतग्रहणम् । गुणवचनेनेति किम् ? गोभिर्वपावान् । गोसम्बन्धिदध्यादिभोजनादेवदत्तस्य वपावस्त्वं पवित्वमित्यस्ति तत्कृतत्वं न त्वसौ गुणवचनः । वचनग्रहणं किम् ? यावता अर्थेन समासासम्भवात्तद्वाची ग्रहीष्यते । अत्राहुः, गुणमुक्तवान् गुणवचनः । “कृत्यल्युटो बहुलम्” (अष्टा०सू०३-३-११३) इति भूते कर्तरि ल्युट् । गुणमुक्तता सम्प्रति गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनित्यर्थः । तेन ‘घृतेन पाटवम्’ इति गुणमात्रनिष्ठेन न भवतीति । गुणश्चात्र ‘सखे निविशतेऽपैति’ इति वक्ष्यमाणो गृह्यते ।

पूर्वसदृशसमोनार्थकलहानिपुणमिश्रश्लक्ष्णः (अष्टा०सू०२-१-३१) । एतैः सह तृतीयान्तं प्राग्वत् । अस्मादेव वचनात्पूर्वादियोगे तृतीया हेतौ वा द्रष्टव्या । मासेन पूर्वः मासपूर्वः । मात्रा सदृशः मातृसदृशः । मातृसमः । इह समसदृशाभ्यां योगे “तुल्यार्थैः” (अष्टा०सू०२-३-६२) इति तृतीया ।

स्यादेतत् । तुल्यार्थयोगे पक्षे षष्ठ्यप्यस्ति । ततः षष्ठीसमासेनैव सिद्धे किमिह सदृशग्रहणेन । न च “तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया” (अष्टा०सू०६-२-२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरार्थं तत् “सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये” (अष्टा०सू०६-२-११) इति, तत् सिद्धेः । न च तत्र सदृशग्रहणमेव मास्त्विति वाच्यम्, षष्ठीसमासपक्षे अन्तोदात्तत्वं वारयितुं तत्स्वीकारावश्यम्भावात् । न चानभिधानात्षष्ठीसमास एव मास्त्विति वाच्यम्, दास्याः सदृश इति रूपासिद्धिप्रसङ्गात् । इह हि “षष्ठ्या आक्रोशे” (अष्टा०सू०६-३-२१) इत्यलुक्समासः स्वीकृतो भाष्ये । नन्वेवमपि हेतुतृतीयान्तेन समासार्थं प्रकृते सदृशग्रहणमस्तु—विद्यया हेतुना सदृशो विद्यासदृश इति । नह्यत्र “तुल्यार्थैः” (अष्टा०सू०२-३-६२) इति षष्ठी लभ्यते, प्रतियोगिन्येव तद्विधानादिति चेत् ? न, तत्कृतत्वात्पूर्वणैव सिद्धेः । यो हि विद्यया सदृशः तस्य विद्याकृतं सादृश्यमस्तीति । सत्यम्, प्रत्याख्यातमेवेदं षष्ठे वार्तिककृता । ऊनार्थे-माणोनं कार्षापणम् । माषविकलम् । पूर्वसूत्रे अर्थशब्देन समासस्य साधितत्वादिह अर्थग्रहणमभिधेयनिर्देशार्थम् । तच्च ऊनशब्देनैव सम्बध्यते न तु पूर्वादिभिः । अत एव समसदृशौ पृथगुपात्तौ । वाककलहः । आचारनिपुणः । गुडमिश्रः । आचारश्लक्ष्णः ।

मिश्रग्रहणे सोपसर्गस्यापि ग्रहणम् । गुडसंमिश्रा धानाः । “मि-



अं चानुपसर्गमसन्धौ" (अष्टा०सू०६-२-१५४) इत्यत्र अनुपसर्गग्रहणाज्ज्ञापकादेतत् सिद्धम् ।

अवरस्योपसंख्यानम् । मासेनावरो मासावरः ।

कर्तृकरणे कृता बहुलम् (अष्टा०सू०२-१-३२) । कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन सह बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः । नखैर्भिन्नो नखभिन्नः । कृद्ग्रहणे गतिपूर्वस्यापि ग्रहणाक्षनिभिन्नः । कर्तृकरणे किम् ? भिक्षाभिरुषितः । हेतावियं तृतीया । बहुलग्रहणाच्छतृशानच्त्वतुप्रभृतिभिर्न । हस्तेन-कुर्वन्, भुञ्जानः, कृतवान्वा । कचिद्विभक्त्यन्तरमपि समस्यते बहुलग्रहणादेव । पादहारकः । ह्रियते इति हारकः । बाहुलकात्कर्मणि ण्वुल् । पादाभ्यामित्यपादानपञ्चम्यन्तस्य समासः । गलेचोपकः "चुप मन्दायां गतौ" (भ्वा०प०४०३) हेतुमणिजन्तात्कर्तरि ण्वुल् । गलेचोपकः । "अमूर्धमस्तकात्" (अष्टा०सू०६-३-१८) इत्यलुक् । कृतेति किम् ? काष्ठैः पचतितराम् ।

कृत्यैरधिकार्थवचने (अष्टा०सू०२-१-३३) । स्तुतिनिन्दाफलकमर्थवादवचनमधिकार्थवचनम् । तत्र कर्तरि करणे च तृतीया कृत्यैः सह प्राग्वत् । पूर्वसुत्रस्यैव प्रपञ्चोऽयम् । काकपेया नदी । शक्यार्थं कृत्यः । पूर्णतोयत्वात्तदस्यैरपि पातुं शक्येति स्तुतिः । काकैरप्येषा पातुं शक्या । अल्पतोयत्वादिति निन्दा वा ।

अन्नेन व्यञ्जनम् (अष्टा०सू०२-१-३४) । संस्कारद्रव्यं संस्कार्येण सह प्राग्वत् । दध्ना उपसिक्त ओदनो दध्योदनः । इह वृत्तानुपसंक्रियाऽन्तर्भवति स्वभावात् । अतो नासामर्थ्यम् । न च कारकाणां परस्परमसम्बन्धेऽपि वचनसामर्थ्यादसमर्थसमास एवात्रास्तु इति वाच्यम् 'किन्दध्ना ? ओदनो भुज्यताम्' इत्यादावतिप्रसङ्गात् ।

भक्ष्येण मिश्रीकरणम् (अष्टा०सू०२-१-३५) । खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यम् । खरं कठिनम् । विशदं विभक्तावयवम् । यत्प्रत्ययान्तस्य परजन्तस्य च भक्षयतेस्तत्रैव प्रयोगात् । 'अभक्षः' इत्यादौ तु नोक्तप्रत्ययान्तः किन्तु कर्मण्यणन्तः । तत्र गौण एवेत्यन्ये । भक्ष्येण सह मिश्रीकरणं प्राग्वत् । गुडेन मिश्रा धाना गुडधानाः । इह वृत्तौ मिश्रणक्रियान्तर्भावो बोध्यः ।

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः (अष्टा०सू०२-१-३६) । चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिना अर्थशब्दादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं समस्यते स तत्पुरुषः । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव समास इष्यते बलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात् । हितसुखग्रहणं तु न ज्ञापकम् । हितयोगे चतुर्थी



वक्तव्या । “चतुर्थी चाशिषि” (अष्टा०सू०२-३-७३) इति अतादर्थ्येऽपि चतुर्थीसम्भवात् । यूपाय दारु युपदारु । कुण्डलहिरण्यम् । नेह-रन्ध-नाय स्थाली । कथं तर्हि अश्वघासः, हस्तिविधेजिविधा ? अत्र विशेषः अत्र भाष्यम्—अश्वघासादयः षष्ठीसमासा इति ।

स्यादेतत् । चतुर्थीसमास एव तर्ह्यस्तु । न चैवं “चतुर्थी तदर्थ” (अष्टा०सू०२-१-३६) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्रसङ्गः । प्रकृतिविकारभावे एतत्प्रवृत्तेः । अन्यथा ‘गोरक्षितम्’ इत्यत्र “चतुर्थीतदर्थ” (अष्टा०सू०२-१-३६) इत्येव सिद्धे “के च” (अष्टा०सू०६-२-४५) इति व्यर्थं स्यात् । न च हीनार्थं तत् ‘गोहितम्’ इत्यत्र तादर्थ्याभावादिति वाच्यम् हिते चेति वक्तव्ये “केच” इति सामान्यवचनस्य ज्ञापकत्वात् । अत एव ‘कुबेरबलि’ इत्यादौ प्रकृतिविकृतिभावाभावात् न पूर्वपदप्रकृतिस्वरः किन्तु समासान्तोदात्तत्वमेवेति सिद्धान्तः । ‘रन्धनाय स्थाली’ इत्यादौ तु यदि षष्ठीसमास इष्टः तर्हि चतुर्थीसमास एवेत्येतां यथा गोघ्रासः, लीलाम्बुजं, क्रीडासरः, वासभवनं, नाट्यशालेति ।

यदि तु रन्धनस्थाल्यादौ षष्ठीसमासस्यानभिधानं तर्हि चतुर्थीसमासस्यापि तदस्तु । एवञ्च बलिरक्षितग्रहणमपि व्यर्थं, ज्ञाप्याभावात् । किञ्च यूपदार्वादावपि षष्ठीसमाससम्भवात्सूत्रमेवेदं मास्तु । “चतुर्थी तदर्थ” (अष्टा०सू०२-१-३६) इत्येतत्तु “षष्ठी तदर्थ” इति क्रियतां ज्ञापकाच्च स्वरस्य व्यवस्था भविष्यति ।

अत्राहुः । हितशब्देन तावत् षष्ठीसमासो न सम्भवति, तद्योगे चतुर्थ्या नित्यत्वादिति चतुर्थीसमास एव वक्तव्यः । ततश्च केचेत्यत्रापि चतुर्थीग्रहणं कर्तव्यं ‘गोहितम्’ इत्याद्यर्थम् । एवञ्च ‘गोरक्षितम्’ इत्यत्र न स्यात्, चतुर्थ्या असम्भवात् । षष्ठीतदर्थ इत्यस्य चाप्रसङ्गः, प्रकृतिविकृतिभावात् । अतो रक्षितेनापि चतुर्थीसमास एव विधेयः । अर्थशब्देनापि योगे तादर्थ्यसम्बन्धस्य नियमेन प्रतीयमानत्वाच्चतुर्थ्या भवितव्यमिति तेनापि चतुर्थीसमास एव वक्तव्यः । तथा बलिसुखग्रहणमपि कर्तव्यम् । तादर्थ्यस्य समासान्नियतप्रतीतिर्यथा स्यादित्येवमर्थम् । तस्मादारब्धव्यमेवेदं सूत्रम् । प्रकृतिविकारभाव एवेत्यस्य प्रयोजनं तु चिन्त्यमिति ।

अत्रेह वक्तव्यम् तादर्थ्यस्य भानं द्विधा—सम्बन्धत्वेन तद्व्याप्यतादर्थ्यत्वाख्यविशेषरूपेण चेति । तच्चाश्वानां घासोऽश्वेभ्यो घास इति वाक्ये तावद्वधवस्थितम् । तत्राद्ये समासः, द्वितीये तु नेष्यतइति भाष्यवार्तिकेनादिप्रामाण्येन निर्णयिते । यथा ‘न माषाणामभ्नीयात्’



इत्यादौ सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । कर्मत्वरूपविशेषे तु द्वितीया यथा वा 'प्रदीयतान्दाशरथाय मैथिली' इत्यत्र सम्बन्धिसामान्येऽण् । अपत्य-  
रूपतद्विशेषे तु इजैव । यथा वा "अभून्नुषो विबुधसखः" इत्यादौ  
भूतसामान्यविवक्षायां लुङ् । अनद्यतनत्वविवक्षायां तु लङ्भवेति ।  
अत एव "आतोऽनुपसर्गे कः" (अष्टा०सू०३-२-३) इति सूत्रे  
जीवद्वंद्व्यत्वरूपविशेषाविवक्षायां "प्रोवाच भगवान्कात्याः" इति प्रयुक्तं  
भाष्ये । अत एव "कृतलब्धक्रीतकुशलाः" (अष्टा०सू०४-३-३८) इत्यत्र  
जातलब्धाभ्यां कृतक्रीतयोर्न गतार्थता प्रकारभेदादिति चतुर्थे वृत्ति-  
कारः । त्वयापि तत्र तथैवोपपादयिष्यते । तत्र भव इत्येव सिद्धे  
"प्रायभवः" (अष्टा०सू०४-३-३९) "सोऽस्य निवासः" (अष्टा०सू०४-३-  
६९) इति सूत्रयोरप्येषैव गतिः । तथाच प्रयोजने स्पष्टे कथञ्चिन्त्यतां  
बुधे । ननु 'अश्वघासः' इत्यादावपि प्रकरणाद्विशेषाध्यवसायो भवत्ये-  
वेति चेत् ? सत्यम्, न तु तत्र विशेषप्रकारको बोधः, लुप्तं स्मृतं बोध-  
कमिति मते स्मृतषष्ठ्या सम्बन्धत्वप्रकारकबोधस्यैव जननात् । यः  
शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीति सिद्धान्तरीत्यापि चतुर्थालोपाभा-  
वेन विशेषप्रकारकबोधे असामर्थ्यात् । अतएवार्थप्रकरणायभिज्ञस्यापि  
दाशरथशब्दान्नापत्यत्वप्रकारिका धीः किन्तु सम्बन्धित्वप्रकारिकैवेत्या-  
दिशाब्दन्यायविदां स्पष्टम् । अत एवाहुः--"भेद्यभेदकसम्बन्धोपाधिभेद-  
नियन्त्रितम् । साधुत्वम्" इति । तस्मादश्वाश्वशब्दयोरिव स्वविषया-  
दन्यत्रासाधुता क्वचित्साधुतया न विरुध्यते इत्यवधेयम् । एवं स्थिते  
बलिरक्षितादिग्रहणं ज्ञापकमित्यादि प्रागुक्तमेव सम्यक् । यत्तु तादर्थ्य-  
स्य समासाज्जियमेन प्रतीत्यर्थं बलिसुखग्रहणमित्युक्तम् । तदपि न, तत्रा-  
पि पाक्षिकषष्ठीसमासस्य दुर्वारतया नियतप्रतीतितादर्थ्येन चतुर्थीवि-  
भक्तिराक्षिप्यते "तस्मै हितम्" (अष्टा०सू०२-१-५) इत्यतो वाऽनुवृत्त्य  
सिद्धेः, पूर्वपक्षावसरे त्वयैव तथोक्तत्वाच्चेति दिक् ।

अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् । द्विजायायं द्वि-  
जार्थः सूपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । तत्र नित्यत्वं न्यायासि-  
द्धम् । चतुर्थ्या तादर्थ्यस्योक्तत्वादर्थशब्देन विग्रहो न भविष्यति परव-  
लिङ्गतां बाधितुं विशेष्यलिङ्गतामात्रं वाच्यम् ।

स्यादेतत् । "तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ" (अष्टा०सू०५-१-१२) इत्यत्र त-  
दर्थसमर्थमिति सूत्रं क्रियताम् । तादर्थ्येन चतुर्थीविभक्तिराक्षिप्यते ।  
"तस्मै हितम्" (अष्टा०सू०२-१-५) इत्यतो वानुवर्तते । चतुर्थीसमर्था-  
स्तदर्थेऽभिधेये सार्थप् स्यात् । "आदिर्जिदुडवः" (अष्टा०सू०१-३-५) "वः



प्रत्ययस्य” (अष्टा० सू० १-३-६) इति द्विवचनकारकनिर्देशात्सकारस्येतत्सं-  
ज्ञा । “सिति च” (अष्टा० सू० १-४-१६) इति पदत्वम् । पित्र्वादनुदासः ।  
राजार्थः । गवार्थः । एवं चार्थे इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरौ न विधेयः । प्र-  
त्ययत्वाच्च न तेन विग्रहः । तद्धितत्वाद्भिधेयलिङ्गता च सिद्धेति ।  
अथम्, “षः प्रत्ययस्य” (अष्टा० सू० १-३-६) इत्यत्र सकारप्रभृतेषु मा-  
नाभावात् । वृञ्छणादिस्त्रेण तृणादिभ्यः सप्रत्यये ‘तृणसः’ इत्यादा-  
वतिश्याप्तेश्च । किञ्च सार्थपः प्रत्ययत्वे इच्छ्यर्थे भव्यमित्यत्रेयङुवङोः  
प्रसङ्गः । स्यादेतत् । ब्राह्मणोऽर्थः प्रयोजकोऽस्य स ब्राह्मणार्थ इति व-  
हुवोहिरस्तु । यो हि ब्राह्मणार्थः सूपस्तस्य ब्राह्मणोऽर्थः प्रयोजक इति  
यावत् । एवञ्च चतुर्थ्यन्तेन विग्रहाभावः । पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं विशे-  
ष्यलिङ्गता चेति सर्वं सिध्यति । नैतत् । ‘महदर्थम्’ इत्यत्रात्वकपोः  
प्रसङ्गात् । स्यादेतत् । “चतुर्थीतदर्थ” इति योगो विभज्यते । ततः  
“अर्थः” इत्यनेनांशेन तदर्थवाचिन उत्तरपदस्यार्थादेशो विधीयते । स  
च वैकल्पिकः, महाविभाषाधिकारात् । तेन यूपार्थं दारु, यूपदारुइत्यु-  
भयं भवति । न चार्थादेशेनोक्तार्थत्वाद्दारुशब्दप्रयोगानुपपत्तिः, अर्था-  
देशस्य सकलशब्दसाधारणतया विशेषस्फुटीकरणार्थन्तत्सम्भवात् ।  
ततो बलिरक्षितयोरपि विभाषार्थशब्द आदेशो भवति । कुबेरार्थो  
बलिः कुबेरबलिरित्यादि पूर्वेण सिद्धे ज्ञापनायेदं प्रकृतिविकृतिभाषा-  
दन्यत्र नित्योऽर्थादेश इति । तेन ‘रन्धनार्था स्थाली’ इत्यादि भवति ।  
न तु ‘रन्धनस्थाली’ इत्यादि । अश्वघासादयस्तु पूर्ववत् । तथाचार्थ-  
शब्दस्यादेशत्वात्तेन विग्रहो न भविष्यति । स्थानिलिङ्गं च भविष्य-  
ति, स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशत्वात्, स्थानिवद्भावाच्च । अर्थ इति  
पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्तु विधेय एवेति । नैतदपि । ‘उदकार्थो वीषधः’ इ-  
त्यत्र वीषधशब्दस्यार्थादेशो कृते स्थानिवद्भावेन मन्थौदनादिस्त्रेणो-  
दादेशप्रसङ्गात् ।

इयुवौ सार्थपि स्यातां बहुव्रीहौ कवाच्च हि ।

अर्थादेशे तूदभावो यथान्यासं वरं ततः ॥

पञ्चमी भयेन (अष्टा० सू० २-१-३७) । पञ्चम्यन्तं भयप्रकृतिकेन सु-  
बन्तेन सह प्राग्वत् । चौरभयम् । भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम् । वृक-  
भीतः । नेह-वृकेभ्यस्त्रासः । पूर्वस्यैव बहुलग्रहणस्यायम्पपञ्चः । तेन  
ग्रामनिर्गतो धर्मजुगुप्सुरित्यादि सिद्धम् ।

अपेतापोढमुकपतितापत्रस्तैरल्पशः (अष्टा० सू० २-१-३८) । एतैः सह  
अल्पं पञ्चम्यन्तं समस्यते स तत्पुरुषः । अल्पश इत्यत्र बह्वल्पाध्यादि-



ति कर्मणि शस् । यद्यपि “बहुलपार्थान्मङ्गलामङ्गलवचनम्” (का०वा०)  
इति वक्ष्यति, तथाप्यत एव निपातनाच्छसित्याहुः । सुखापेतः । कल्प-  
नापोढः । चक्रमुक्तः । स्वर्गपतितः । तरङ्गापत्रस्तः । अल्पशब्द इत्युक्ते-  
नैह-प्रासादात्पतितः । बहुलग्रहणस्यैवायं प्रपञ्चः ।

स्तोकान्तिकदुरार्थकृच्छ्राणि केन (अष्टा०सू०२-१-३९) । एतानि केन  
सह प्राग्वत् । स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्या-  
शादागतः । दूरादागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः । “पञ्चभ्याः स्तोकादिभ्यः” (अ-  
ष्टा०सू०६-३-२) इत्यलुक् । परःशतशब्दस्तु “नाज्झलौ” (अष्टा०सू०  
१-१-५०) इत्यत्र व्युत्पादितः । एवं परःसहस्रोऽपि ।

सप्तमी शौण्डैः (अष्टा०सू०२-१-४०) । सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिस्स-  
ह प्राग्वत् । अक्षशौण्डः । बहुवचननिर्देशादाद्यर्थावगतिः । ननु अर्थनिर्दे-  
शार्थं बहुवचनम् । तेन समासार्थं वा बहुवचनं किञ्च स्यादिति चेत् ? न,  
गणपाठवैयर्थ्यापत्तेः । स्यादेतत् । कारकाणां क्रियैव सम्बन्ध इति  
तावत्स्थितम् । तदिह ‘अक्षशौण्डः’ इत्यादौ सप्तम्यर्थः क्वान्वेतु, क्रि-  
याया अश्रवणात् ? सत्यम्, प्रसक्तिरूपा क्रिया वृत्ताविहान्तर्भवति  
तद्भारकमेव च सामर्थ्यं यथा दध्योदनगुडधानादिषु । अन्तःशब्दोऽत्र  
पठ्यते । तद्योगे अवयविन आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । यथा वृक्षेशा-  
खेति । वनेऽन्तर्वनान्तः । अस्य वैकल्पिकत्वात्पक्षेऽव्ययीभावः । अन्त-  
र्वनम् । “प्रनिरन्तः” (का०वा०) इति णत्वामेति हरदत्तः । अत्रेदं वक्त-  
व्यं, नायं विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावस्य विषयः, विभक्त्यर्थमात्रवृत्तेरव्यय-  
स्य स इत्युक्तत्वात् । अत्र मध्यस्यापि प्रतीतेः । कथमन्यथाऽव्ययवा-  
यविभावमवोचः । किञ्चाऽव्ययीभावस्य नित्यत्वात्तदुपदर्शितो वने  
अन्तरिति विग्रहोऽपि न सङ्गच्छेत । तस्मादधिकरणत्वमात्रवृत्तिना  
अन्तःशब्दान्तरेणाव्ययीभावो न तु मध्यवाचिनेत्यवधेयम् । अधिश-  
ब्दोऽत्र पठ्यते । तस्याधिकरणप्राधान्येऽव्ययीभावः । ‘अधिस्त्री’ इति ।  
आधेयप्राधान्ये त्वेनेन तत्पुरुषः “ब्राह्मणाधीनः” इति “अध्युत्तरपदात्तः” ।  
ब्राह्मणेष्वधीति विग्रहः । शौण्ड, धूर्त्त, कितव, व्याड, प्रवीण, संवीत,  
अन्तर, अधिकरणप्रधान एवायमिह पठ्यते । अधि, पटु, पण्डित,  
कुशल, चपल, निपुण । वृत् ।

सिद्धशुष्कपकबन्धैश्च (अष्टा०सू०२-१-४१) । एतैःसप्तमी प्राग्वत् ।  
साङ्काश्यसिद्धः । काम्पिल्यसिद्धः । सङ्काशेन निर्वृत्तं वनं साङ्काश्यम् ।  
कम्पिलेन काम्पिल्यम् । चातुरर्थिकः सङ्काशादिभ्यो ण्यः । तत्र तपसा  
सिद्ध इत्यर्थः । आतपशुष्कः । स्थालीपकः । चक्रबन्धः । “बन्धे च वि-



भाषा" (अष्टा०सू०६-३-१३) इत्युल्लुक् ।

ध्वाङ्गेण क्षेपे (अष्टा०सू०२-१-४२) । ध्वाङ्गवाचिना सह सप्तम्यन्तं प्राग्वन्निन्दायाम् । तीर्थे ध्वाङ्ग इव तीर्थध्वाङ्गः । तीर्थकाकः । यथा ध्वाङ्गास्तीर्थे चिरं नावतिष्ठन्ते तथान्योऽपि कार्येष्वनवस्थित एव मुच्यते । इवार्थस्य वृत्तावन्तर्भावात् पृथक् प्रयोगः । क्षेपे किम् ? तीर्थे ध्वाङ्गस्तिष्ठति ।

कृत्यैर्ऋणे (अष्टा०सू०२-१-४३) । सप्तम्यन्तं कृत्यप्रत्ययान्तैः सह प्राग्वदावश्यकैः । ऋणग्रहणमावश्यकोपलक्षणार्थम् । यत्प्रत्ययान्तेनैव ष्यते, अल्पश इत्यनुवृत्तेः । कृत्यैरिति बहुवचने तु प्रकृतिभेदाभिप्रायम् । मासे देयमृणम् । पूर्वाङ्गे गेयं साम । "तत्पुरुषे कृति" (अष्टा०सू०६-३-१४) इत्युल्लुक् ।

संज्ञायाम् (अष्टा०सू०२-१-४४) । सप्तम्यन्तं सुपा प्राग्वत्संज्ञायाम् । नित्यसमासोऽयम्, वाक्येन संज्ञानवगमात् । अरण्येतिलकाः । अरण्ये-माषाः । वनेकसेरुकाः । "इलदन्तात्सप्तम्याः" (अष्टा०सू०६-३-९) इत्युल्लुक् ।

केनाहोरात्रावयवाः । (अष्टा०सू०२-१-४५) । अन्हो रात्रेश्चावयवाः सप्तम्यन्ताः कान्तेन सह प्राग्वत् । पूर्वाङ्गकृतम् । अपराङ्गकृतम् । पूर्वा-त्रकृतम् । अपरात्रकृतम् । अवयवग्रहणं किम् ? अन्हि दृष्टम् । कथं तर्हि "रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यता" इति ? "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" (अष्टा०सू०२-१-३८) इति भविष्यति ।

तत्र (अष्टा०सू०२-१-४६) । तत्रेत्येतत्सप्तम्यन्तं कान्तेन सह प्राग्वत् । तत्रभुक्तम् । तत्रकृतम् । यद्यपि अभिहितः सोऽर्थोऽन्तर्भूत इति तत्रशब्दात्प्रथमैव युक्ता, तथापि 'तत्रभवान्' इत्यादौ विभक्त्यन्तरेऽपि दर्शनादधिकरणप्रतिपादने तत्रशब्दादपि सप्तम्येवापेक्ष्येति वृत्तिकृतो मन्यन्ते । वस्तुतस्तु "स्वयं केन" (अष्टा०सू०२-१-२५) इत्यत्र द्वितीयाधिकार इवेहापि सप्तम्यधिकारो बाध्यते, पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्याव्ययत्वेनापि सिद्धेः, सप्तम्या अपि लुका विभक्त्यन्तरसाधारणानुद्धाराच्चेति दिक् ।

क्षेपे (अष्टा०सू०२-१-४७) । सप्तम्यन्तं कान्तेन प्राग्वत् निन्दायाम् । अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् । यथा तप्ते प्रदेशे नकुला चिरमवतिष्ठन्ते एवं कार्याण्यारभ्य यश्चापलेन न चिरं तिष्ठति स एवमुच्यते । "कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्" (प०भा०२८) इति नकुलस्थितशब्देन समासः । उदकेविर्गणम् । प्रवाहेसूत्रितम् । भस्मनिहुतम् । निष्फलमित्यर्थः । तत्पुरुषे कृति बहुलम्" (अष्टा०सू०६-३-१४) इत्युल्लुक् ।



पात्रेसमितादयश्च (अष्टा०सू०२-१-४८) । एते निपात्यन्ते क्षेपे ।  
 येचात्र कान्तास्तेषां पूर्वेण सिद्धे पुनः पाठो युक्तारोह्यादित्वसिद्ध्यर्थः ।  
 युक्तारोह्यादिषु हि पात्रेसमितादयश्चेति पठ्यते । पात्रेसमिताः । भोज-  
 नसमय एव सङ्गता इत्यर्थः । पात्रेबहुलाः । भोजने एव सङ्गीभवन्ति  
 न कार्ये इत्यर्थः । उदुम्बरमशकः । योऽल्पे तृप्तः नास्मात्परमस्तीति  
 मन्यते अष्टद्विस्तारत्वात् स एवमुच्यते । उदुम्बरकृमिः । कूपकच्छपः ।  
 कूपमण्डूकः । कुम्भमण्डूकः । उदपानमण्डूकः । नगरकाकः । मातरिपुरुषः ।  
 पिण्डीशूरः । पिण्डीओदनपिण्डः । तत्रैव शूरो नान्यत्रेत्यर्थः । गेहेशूरः ।  
 गेहेनर्दी । गेहेछेडी । गेहेविजिती । गेहेव्याडः । गेहेधृष्टः । गर्भेतृप्तः । आख-  
 निकबकः । आखनिको जलस्रोतः खातं तस्मिन् बक इव यत्किञ्चिदात्मीये  
 आखनिके लभते तद्भक्षयति तथाऽन्येपीत्यर्थः । गोष्ठेशूरः । गोष्ठेवि-  
 जिती । गोष्ठेछेडी । गोष्ठेपटुः । गोष्ठेपण्डितः । गोष्ठेप्रगल्भः । कर्णेष्टि-  
 रिटिरा । कर्णेशुरुचुरा । आकृतिगणोऽयम् । चकारोऽवधारणार्थः । तेन  
 'परमाः पात्रे समिताः' इति वाक्यमेव भवति न तु "सन्महत्" (अष्टा०  
 सू०२-१-६१) इत्यादिना समासान्तरम् ।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलस्समानाधिकरणेन (अष्टा०सू०२-  
 १-४९) । एते सप्त सुवन्ताः समानाधिकरणेन सुपा सह समस्यन्ते  
 स तत्पुरुषः । पूर्वकालइत्यर्थनिर्देशः । अन्येषां षण्णां स्वरूपग्रहणम् ।  
 पूर्वकालोऽपरकालेन समस्यते, पूर्वत्वस्य ससम्बन्धित्वात् । "विशेषणं  
 विशेष्येण" (अष्टा०सू०२-१-५७) इति सिद्धे पूर्वकालादीनां पूर्वनिपात-  
 नियमार्थं वचनम् । एकशब्दस्य तु "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" (अष्टा०सू०  
 २-१-५०) इति नियमात्प्राप्त्यर्थमेव । पूर्व स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नाता-  
 नुलिप्तः । अत्र क्रियाशब्दत्वात्पाचकपाठकवत्पर्यायः प्राप्तः । एकशब्दी ।  
 शाटशब्दाज्जातिलक्षणो ङीष् । सर्वयाज्ञिकाः । जरत्तार्किकाः । पुराणमीमां-  
 सकाः । नवपाठकाः । केवलवैयाकरणाः । समानाधिकरणे किम् ? एकस्याः  
 शौक्यम् । षष्ठीसमासस्त्वह न भवति "गुणेन न" इति निषेधात् ।

दिक्संख्ये संज्ञायाम् (अष्टा०सू०२-१-५०) । समानाधिकरणेनेत्या-  
 पादपरिसमाप्तेरनुवर्त्तते । "विशेषणं विशेष्येण" (अष्टा०सू०२-१-५७)  
 इति सिद्धे नियमार्थमिदम् । दिक्संख्येसंज्ञायामेव समानाधिकरणेन स-  
 मस्यते नान्यत्र । पूर्वेषुकामशमी । पञ्चाग्रः । सप्तर्षयः । नेह—उत्तरा  
 वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः । पूर्वसूत्रमित्यादौ त्वदिग्वाचित्वात्समासः ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमे पादे द्वितीयमोहिकम् ।



तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च (अष्टा०सू०२-१-५१) । तद्वितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये समानाधिकरणेन सह समस्येते स तत्पुरुषः । पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः । समासे कृते “दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां जः” (अष्टा०सू०४-२-१०७) एवम्—आपरशालः ।

उत्तरपदे—पूर्वशालाप्रियः । इह त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषे सति समासान्तोदात्तत्वं लकाराकारस्य भवति । असति त्ववान्तरतत्पुरुषे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण पूर्वशब्दस्याद्युदात्तत्वं स्यात् । दिक्षु समाहारो नास्ति, अनभिधानात् । संख्यायास्तद्वितार्थे षाण्मातुरः । पाञ्चनापितिः । अनपत्य इत्युक्तत्वान्न लुक् । पञ्चकपालः । “संस्कृतम्भक्षाः” (अष्टा०सू०४-२-१६) इत्यण् । “द्विगोर्लुगनपत्ये” (अष्टा०सू०४-१-८८) इति लुक् । पञ्चगवधनः । अत्रापि त्रिपदे बहुव्रीहौ धनशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषे “गोरताद्वितलुकि” (अष्टा०सू०५-४-९८) इति टच् । ननु पाक्षिकं पञ्चगोधन इति दुर्वारम् । महाविभाषाधिकारेण तत्पुरुषस्य वैकल्पिकत्वात् । अत एव नित्यत्वमुपसंख्यातं वार्तिककृता “द्वन्द्वतत्पुरुषयोस्तत्तरपदे नित्यसमासवचनम्” (का०वा०) इति । अत एव वाक् च दृषच्च प्रिये अस्य वाग्दृषदप्रियः, छत्रोपानहप्रिय इति त्रिपदे बहुव्रीहौ पूर्वयोर्नित्यं द्वन्द्वः । तेन समासान्तोऽपि नित्यमेव । स्यादेतत् । समुदायस्यैकार्थी भावे सति अवयवयोरारवश्यक इत्युपसंख्यानं व्यर्थमिति चेत् ? मैवम्, त्रयाणां समासे कृतेऽन्यपदार्थोपसंक्रमेण परस्परसम्बन्धाभावात् सति तूपसंख्याने वचनसामर्थ्याद्वन्द्वतत्पुरुषयोः प्रवृत्तेः । न चैवं त्रिपदे बहुव्रीहौ ‘चित्राजरद्गुः’ इत्यत्रापि तत्पुरुषे चित्राशब्दस्य पुंवङ्गावापात्तिः । उपसंख्यानस्य “तद्वितार्थोत्तरपद” (अष्टा०सू०२-१-५१) इति सूत्रोक्त-तत्पुरुषमात्रविषयत्वात्तस्यैवोत्तरपदे प्रतिपदोक्तत्वात् । अत एव ‘खादिरेतरशास्त्रम्’ इत्यत्र पुंवङ्गावसिद्धये कर्मधारयोत्तरपदो बहुव्रीहिर्न तु त्रिपदे इति समर्थसूत्रशेषे कैयटः । यत्तु पूर्वतन्त्रे बाधलक्षणे पृष्ठस्य युगपद्विधेरेकाहबद्धिसामत्वमित्यधिकरणे पृष्ठयः षडहो बृहद्रथन्तरसामाकार्य इत्युदाहृत्य द्वन्द्वं कृत्वा बहुव्रीहिः कार्य इति कात्यायनवचनमुपपृष्ठम्भकमश्रित्य पूर्वपक्षितं, यच्च कात्यायनवचनं समासान्तविशेषमात्रविषयमित्याश्रित्य नेह द्वन्द्व इति सिद्धान्तितं, तदुभयं चिन्त्यम्, उत्तरपदे इत्युक्तेद्वन्द्वं कृत्वेत्यस्यासङ्गतैः । स्वरे विशेषस्य स्पष्टतया समासान्तपर्यन्तमाग्रहे बीजाभावाच्चेति दिक् ।



समाहारे-पञ्चमूली । पञ्चकुमारी । इह पञ्चानां मूलानां कुमारीणां च समाहार इति विग्रहः । न तु पञ्चमूलाः समाहृता इत्यादि । भाव-साधनो हि समाहारशब्दो न तु कर्मसाधनः । तथा सति 'पञ्चकुमारी' इत्यत्र कुमार्यर्थस्य प्राधान्यात्समासशास्त्रे च अप्रथमानोर्द्विष्टत्वादेक-विभक्तित्वाभावाच्चोपसर्जनत्वाभावेन "गोस्त्रियोः (अष्टा०सू०१-२-४८) इति ह्रस्वो न स्यात् । अथात्र नपुंसकह्रस्वत्वं ब्रूयाः, एवमपि पञ्चख-द्वी' न सिध्येत् । वा टावन्त इति स्त्रीलिङ्गत्वपक्षे हीदं रूपम् । तत्र च ह्रस्वाभावात् "द्विगोरतः" इति ङीप् न स्यात् सिद्धान्ते तु समासार्थं समाहारे नानाविभक्तिभिर्युज्यमानेऽपि कुमारीशब्दस्य नित्यषष्ठ्यैव योग इत्येकविभक्तिकत्वात्सिद्धमुपसर्जनत्वम् । न च "एकविभक्तावष-ष्ठ्यन्तवचनम्" (का० वा०) इति वार्तिकेन अर्धपिप्पल्यादाविव उपस-र्जनत्वनिषेधः शङ्क्यः, तस्यैकदेशिसमासमात्रविषयकत्वात् । अत्र चैत-त्सूत्रीयभाष्यमेव प्रमाणम् । यद्वा, "विभाषा छन्दासि" (अष्टा०सू०१-२-३६) इति सूत्राद्विभाषाग्रहणानुवृत्त्या व्यवस्थितविभाषाश्रयणाच्च "ए-कविभक्तित्व" (अष्टा०सू०१-२-४४) इत्युपसर्जनता एकदेशिसमासे न भवति । पञ्चखट्वादौ तु स्यादेव । स्पष्टं चैतन्न्यासग्रन्थे । तस्माद्भाव-साधन एवेह समाहार इति स्थितम् । "द्विगुरेकवचनम्" (अष्टा०सू०२-४-१६) इति तु "स नपुंसकम्" (अष्टा०सू०२-४-१७) इति वक्ष्यामी-त्यारभ्यते ।

स्यादेतत् । समाहारः समूह इति पर्यायौ । समूहश्च तद्धितार्थः, "तस्य समूहः" (अष्टा०सू०४-२-३७) इति सूत्रात् । तथाच तद्धितार्थ-इत्येव सिद्धे किं समाहारग्रहणेन ? न चैवं तद्धितश्रवणं स्यादिति वा-च्यम् "द्विगोर्लुङ्" (अष्टा०सू०४-१-८८) इति लुक्सम्भवात् । नन्वेवं लुक्कृतानि स्युः । तद्यथा-पञ्चमूली' इत्यत्र "अपरिमाणविस्त" (अष्टा०सू०४-१-२२) इति ङीप्प्रतिषेधः स्यात् । पञ्चगवम् । "गोरतद्धितलु-कि" (आष्टा०सू०५-४-९२) इति टच् न स्यादिति चेत् ? मैवम्, न त-द्धितलुक्कृततद्धितलुकीत्येतत्स्थाने समाहारशब्दपाठेन सर्वसामञ्जस्यम् । तथाहि, अपरिमाणविस्तादिभ्यः समाहारं नियमार्थमिदम्-एभ्यः समाहार एवेति । पञ्चानामश्वानां समाहारः पञ्चाश्वी । नेह-पञ्चभि-रश्वैः क्रीता पञ्चाश्वी । तथा- 'गोः' गान्तात्तत्पुरुषादृच् स्यात् । पुङ्गवः । ततः-समाहारः । गोरित्यनुवर्तते । सजातीयापेक्षो नियमः । गान्ताद् द्विगोस्समाहार एव टच् स्यात् । पञ्चगवम् । नेह-पञ्चभिर्गो-भिः क्रीतः पञ्चगुः ।



तदेतत्सकलमभिसन्धायोक्तं वार्तिककृता—समाहारसमूहयोरवि-  
शेषात्समाहारग्रहणानर्थक्यं तद्धितार्थेन कृतत्वादिति । समाहारसमूह-  
योरिति शब्दपरो निर्देशः । अतो नैकशेषः । अविशेषादिति । अर्थावि-  
शेषादित्यर्थः ।

अत्र भाष्यकाराः । एवं सति 'पञ्चकुमारी' 'दशकुमारी' इत्यत्र "लु-  
क्कद्धितलुक्" (अष्टा०सू०१-२-४९) इति स्त्रीप्रत्ययस्य लुक् स्यात् ।  
तस्मात्तद्धितनिवृत्त्यर्थं समाहारग्रहणम् । पृथक्समाहारग्रहणाद्धि समा-  
सस्यैव समाहारो वाच्यो न तु तद्धितस्येति व्याख्यानात्तद्धितो नोत्प-  
द्यते इति सिद्धमिष्टम् । अत एव च ज्ञापकात्तद्धितार्थं विषये इति व्या-  
ख्यातं न तु वाच्ये इति । अत एव 'पाञ्चनापितिः' इत्यादौ तद्धित उत्प-  
द्यते । समासेनैव तदर्थस्योक्तौ तु तद्धितो नोत्पद्येत । अत एव द्विगो-  
लुग्वचनमपि सङ्गच्छते इति दिक् ।

ननु पञ्च गावोऽस्य सन्ति पञ्चगुः पुरुष इत्यत्र मत्वर्थस्य तद्धिता-  
र्थत्वादयं समासः प्राप्नोति न तु बहुव्रीहिः, अशेषत्वात् । तस्य तु  
चित्रगवादिरवकाशः, यत्र दिक्संख्ये न स्तः । सति चास्मिन्समासे  
मनुषः श्रवणं स्यात् । न च द्विगोरिति लुक्, अप्राग्दीव्यतीयत्वात् ।

अत्रोच्यते । परत्वाद्वहुव्रीहिः । त्रिकतः शेषस्य भाष्यसम्मतत्वात् ।  
वार्तिककृता तु वचनमेवारब्धम्—मत्वर्थे प्रतिषेधः ।

संख्यापूर्वो द्विगुः (अष्टा०सू०२-१-५२) । "तद्धितार्थ" (अष्टा०सू०  
२-१-५१) इत्यत्रोक्तः संख्यापूर्वः समासो द्विगुसंज्ञः स्यात् । पञ्चक-  
पालः । "संस्कृतस्मक्षाः" (अष्टा०सू०४-२-१६) इत्येनोत्पन्नस्याणो "द्वि-  
गोलुगनपत्ये" (अष्टा०सू०४-१-८८) इति लुक् । पञ्चनावप्रियः । "नावो  
द्विगोः" (अष्टा०सू० ५-४-९९) इति समासान्तष्टच् । पञ्चमूली । "द्विगोः"  
(अष्टा०सू०४-१-२१) इति ङीप् । अनन्तरस्येति न्यायात्पूर्वसूत्रविषय  
एवेयं संज्ञा । एतदर्थमेव तत्र योगविभागः । अन्यथा "दिक्संख्ये संज्ञा  
तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारेषु" इत्येव ब्रूयात् । तेन 'सप्तर्षयः' इत्यत्र "इग-  
न्तकाल" (अष्टा०सू०६-२-२९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरो न भवति ।  
समासान्तोदात्त एव हि पठ्यते—"सप्तऋषयस्तपस्तेपे निषेदुः" इति  
यथा । कथन्तर्हि 'एकापूपी' इति ? अत्राहुः । नायं "पूर्वकालैक" (अष्टा०  
सू०२-१-४९) इति समासः किन्तु पूर्वसूत्रेण समाहारे । तथाहि, एक-  
मप्यपूपं कश्चित्कृपणो दददनेकं मन्यते । तथा दाने श्रद्धातिशयादपूप-  
महत्त्वाद्वाऽनेकस्मिन्निव यः संभ्रमस्तमेकस्मिन्नपि करोति । अनेन प्रति-  
ग्रहीता कृपणो व्याख्यातः । तत्रारोपितबहुत्वाश्रयः समाहारः । तत्र



समासे कृते द्विगुत्वे सति “अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्” (का० वा०) इति स्त्रीत्वे “द्विगोः” (अष्टा०सू०४-१-२१) इति ङीप् सिध्यति ।

कुत्सितानि कुत्सनैः (अष्टा०सू०२-१-५३) । “कुत्स अवक्षेपणे” (चु०भा०१६८७) । मत्यादिभूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्भर्तमाने कः । बहुवचननिर्देश उभयत्रापि स्वरूपग्रहणनिरासार्थः । कुत्स्यमान-वाचीनि कुत्सनैः सह प्राग्वत् । शब्दप्रवृत्तिर्निमित्तकुत्सायामेवायमिष्यते, सन्निधानात् । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थोऽयमारम्भः । वैयाकरण-सूचिः । “सूचयतेरिष्व” इतीकारः । यः पृष्ठः सन् प्रश्नं विस्मरयितुं सूचयति निरीक्षते कथयति वा अहो निर्मलं गगनमिति, स एवमुच्यते । अत्र व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वात्तदध्ययनं स्वरूपेण यद्यपि प्रशस्तं तथापि प्रतिमानाभवेन निष्फलत्वात्कुत्स्यते । याज्ञिककितवः । किन्तवास्तीति पृच्छन् धनमात्रोद्देशेन जात्यादिनिरपेक्षो ह्यने प्रवर्तमानः कितवः । तथाच श्रुतिः “सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामि” इत्यादि । इह तु कितव इव कितवः, यो याज्ञिको दक्षिणामात्रतत्परः सन्नयाज्यमपि याजयति स एवमुच्यते । मीमांसकदुर्दुरुदः । “दुल उत्क्षेपे” (चु०उ०१६००) । दुर्पूर्वः । औणादिकः कूढः प्रत्ययः । “बहुल-मन्यत्रापि” इति णिलुक् । रलयोरेकविषयत्वस्मरणाद् दुर्दुरुदः । प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायां किम् ? वैयाकरणो दरिद्रः ।

पापाणके कुत्सितैः (अष्टा०सू०२-१-५४) । एते सुबन्ते कुत्सितैः सह प्राग्वत् । पापाणकशब्दौ कुत्सनाभिधायिनौ । तयोः पूर्वसूत्रेण समासे परनिपातः स्यात् । तस्मात्पूर्वनिपातार्थमिदम् । पापनापितः । पापकुलालः । अणकनापितः । अणककुलालः ।

उपमानानि सामान्यवचनैः (अष्टा०सू०२-१-५५) । उपमानोपमेय-साधारणधर्मवचनैः सहोपमानानि प्राग्वत् । घनश्यामः । इह पूर्वपदं तत्सदृशे लाक्षणिकम् । अत एव सामानाधिकरण्यात् ‘मृगीव चपला मृगचपला’ इत्यादौ पुंवद्भावः । सादृश्यं चोत्तरपदोपस्थितश्यामत्व-चापलोद्विदारकमेव गृह्यते, तथैव व्युत्पत्तेः, श्रुतं विहायाश्रुतकल्पने गौरवापत्तेश्च । अत एव हि व्यस्तेऽपि ‘वागर्थाविव’ इत्यादिस्थले स-म्पर्कप्रभृतिसन्निहितद्वारकमेव सादृश्यं प्रतीयते । पूर्वनिपातनियमार्थं चेदं सूत्रम् । “विशेषणं विशेष्येण” (अष्टा०सू०२-१-५७) इति समासे हि पूर्वनिपातः पर्यायेणोभयोः स्यात्पाचकपाठकादिवत् । “तत्पुरुषे त-ल्यार्थे” (अष्टा०सू०६-२-२) इति सूत्रे प्रतिपदोक्तस्यास्यैवोपमानग्रहणेन ग्रहणार्थमपीदं सूत्रम् । अत एव मयूरव्यंसकादित्वात्समासे उपमान-



स्वरो न प्रवर्तते इति सिद्धान्तः । उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम् । उपपूर्व-  
कान्माङ्गः करणे ल्युट् । प्रादिसमासः । उपपूर्वकश्च माङ् सादृश्यहेतुके  
परिच्छेदे रूढः । येन वस्त्वन्तरं सादृश्येन परिच्छिद्यते तदुपमानम् ।  
तस्मात् तैरिव गवय इति । इह हि गौः करणं पुरुषः परिच्छेत्ता । स  
सादृश्येन गवयं परिच्छिनति । घनश्यामादौ तु घनादयः शब्दा  
यद्यपि घनादिसदृशे उपमेये संक्रान्तास्तथापि भूतपूर्वगत्या उपमानवा-  
चिता द्रष्टव्या । इदमेव दर्शयितुं लौकिके विग्रहवाक्ये इवशब्दः प्रयु-  
ज्यते न त्वसौ प्रक्रियोपयोगीत्यवधेयम् । सामान्यवचनत्वमपि तद्विशि-  
ष्टोपमेयपरत्वमेव बोध्यम् ।

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (अष्टा०सू०२-१-५६) । उप-  
मेयं व्याघ्रादिभिः सह प्राग्वत् साधारणधर्मप्रयोगेऽसति । विशेष्यस्य  
पूर्वनिपातार्थोऽयमारम्भः । पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । व्याघ्रादिरा-  
कृतिगणः । सामान्याप्रयोगे किम् ? पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः । कथं  
तर्हि “भाष्याब्धिः क्रातिगम्भीरः” इति कैयटः ? अत्राहुः—नेह गाम्भीर्यं  
साधारणधर्मत्वेन विवक्षितं किन्तु विततदुरवगाहत्वादि । तस्य चाप्र-  
योगोऽस्त्येवेति निर्वाधः समास इति ।

विशेषेण विशेष्येण बहुलम् (अष्टा०सू०२-१-५७) । भेदकं समाना-  
धिकरणेन भेदेन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । बहुलग्रह-  
णात्कचिन्नित्यसमासः । कृष्णसर्पः । लोहितशालिः । कचिन्न, रामो  
जामदग्न्यः । व्यासः पाराशर्यः । विशेषणविशेष्ययोः ससम्बन्धिक-  
तयाऽन्यतरोपादानमात्रेणेतराक्षेपसम्भवे उभयोपादानं स्पष्टार्थं “कु-  
त्सितानि कुत्सनैः” (अष्टा०सू०२-१-५३) इत्यादाविवेति कैयटमतम् ।  
हरदत्तस्त्वाह—विशेष्येणेत्युक्त्या विशेषणं लब्धम् । तस्य पुनर्विशेष-  
णत्वोक्तिर्विशेष्यते इति व्युत्पत्त्या विशेष्यत्वलाभार्थं, तथाच समस्य-  
मानपदद्वयजन्यबोधप्रकारयोः परस्परव्यभिचारित्वे समासोऽयं यथा  
नीलोत्पलादौ । तक्षकः सर्प इत्यादौ तु न भवति । नहि तक्षकत्वं सर्प-  
त्वव्यभिचारीति । अत्रेदं वक्तव्यम्—“शब्दशास्त्रसहकारपादपाद्” इति  
प्रयुज्जानेन प्रकृतसूत्र एव शिशपावृक्ष इति समासो भवत्येवेति वदता  
त्वयाऽपि शिशपावृक्षादिभ्यस्तक्षकः सर्प इत्यादौ विशेषो वक्तव्यः ।  
ननूक एवासौ, “लुब्धोगाप्रख्यानात्” (अष्टा०सू०१-२-५४) इति सूत्रस्व-  
रसेन शिशपादिशब्दानां फलेऽपि मुख्यतया शिशपात्वस्य वृक्षत्वव्य-  
भिचारादित्युपपादितत्वादिति चेत् ? न, “तक्षको नागवर्धक्योः”  
(अ०को०३-३-४) इति नानार्थकोशानुरोधेन तक्षकशब्दस्यापि वर्ध-



कौ रूढतया तक्षकत्वस्य सर्पत्वव्यभिचार इत्यविशेषात् । तक्षकत्वं सर्पत्वव्याप्यं भिन्नमेव । तच्च न व्यभिचारीति चेत् ? तर्हि शिशपा-  
त्वं वृक्षत्वफलत्वयोर्व्याप्यं चानेति न पर्यालोचये । किञ्च 'रामो जाम-  
दग्न्यः' 'अर्जुनः कार्तवीर्यः' इत्यादि प्रकृतसूत्र एव वृत्तौ प्रत्युदाहृतम् ।  
तत्र यदि रामत्वमर्जुनत्वं च दाशरथिधनञ्जयादिव्यावृत्तं भिन्नमेव तच्च  
व्याप्यमित्याशयस्तर्हि समं शिशपात्वे । अथ शिशपात्वं फलवृक्षयो-  
रेकं तर्हि नानार्थाच्छेदः तक्षकरामार्जुनादावतिप्रसङ्गश्च । उभयसाधारण-  
जातिसाधकं नास्तीत्यादि तु तुल्यमेव । तस्मादिह कैयटमतमेव प्रा-  
माणिकमित्यवधेयम् । अत एव 'कैलासाद्रिः' 'मन्दराद्रिः' 'भावपदार्थः'  
'तर्कविद्या' 'व्याकरणशास्त्रम्' इत्यादयः प्रयोगास्सङ्गच्छन्ते ।

इदं त्ववधेयम् । विशेषणविशेष्यभावे कामचारात्पाचकपाठकादा-  
विव नीलोत्पलादावप्यव्यवस्थितः पूर्वनिपातः प्राप्तः । तत्रायं सिद्धा-  
न्तः । उपसर्जनमिति तावदन्वर्थसंज्ञेत्युक्तम् 'अप्रधानमुपसर्जनम्' इति ।  
तदिह जातिगुणशब्दयोः सन्निपाते गुण एव विशेषणं तस्य द्रव्यावच्छे-  
दद्वारैव क्रियानिर्वर्तकत्वात् । श्रौतव्यवहारोऽप्येवम् । "श्वेतं छागमा-  
लभेत" इति हि चोदनायां श्वेतच्छागालाभे कृष्णच्छाग आलभ्यते न  
तु श्वेतमपि पश्यन्तरम् । क्रियाजात्योरप्युपनिपाते एवमेव । तेन 'नी-  
लोत्पलं' 'पाचकब्राह्मणः' इति व्यवस्थित एव प्रयोगः । यत्र तु गुणशब्दयोः  
क्रियाशब्दयोः गुणक्रियाशब्दयोर्वोपनिपातस्तत्रानियम एव । 'खञ्जकुञ्जः',  
कुञ्जखञ्जः । 'पाचकपाठकः, पाठकपाचकः' । 'खञ्जपाचकः, पाचकखञ्जः'  
इति । 'शिशपावृक्षः' इत्यत्र तु शिशपात्वस्य व्याप्यत्वात् वृक्षत्वस्य  
च व्यापकत्वात् विशेषणविशेष्यभावव्यवस्था स्पष्टैवेति दिक् ।

पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च (अष्टा०सू०२-१-  
५८)। एते सुबन्ताः समानाधिकरणेन सुपा सह प्राग्वत् । पूर्वैर्नैव सिद्धे पूर्व-  
निपातनियमार्थमिदम् । गुणक्रियाशब्दैः सह समासे पूर्वादीनामेव पूर्व-  
निपातो यथा स्यात् । पूर्ववैयाकरणः । अपराध्यापकः । इत्यादि । अप-  
रश्चासावर्द्धश्च पश्चावर्द्धः । "पश्चात्" ( अष्टा०सू०५-३-३२ ) इति सूत्रे  
पठिष्यमाणेन "अर्द्धेच" (का०वा०) इति वार्तिकेनापरस्य पश्चभावः ।

पश्चावर्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।

इति कालिदासः । अथ कथं "दत्तं सराजन्यकमेकवीरः" इति ?  
इह हि "पूर्वकालैक" (अष्टा०सू०२-१-४९) इति बाधित्वा परत्वादनेन  
समासे 'वीरैकः' इति स्यात् । सत्यम्, पूर्वविप्रतिषेधोऽत्र वक्तव्य इति  
दुर्घटवृत्तिकारादयः । न त्वत्रोपष्टम्भकं मुनित्रयवचनः पद्यामः । बहुल-



ग्रहणं वा शरणीकर्त्तव्यम् ।

श्रेण्यादयः कृतादिभिः (अष्टा०सू०२-१-५९) । अर्थः प्राग्वत् । श्रेण्यादिषु च्यर्थवचनम् । अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणिकृताः । एकेन शिलपेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणि । श्रेण्यादयः पठ्यन्ते । कृतादिराकृतिगणः । च्यन्तानां तु “कुगति” (अष्टा०सू०२-२-१८) इति नित्यं समासः परत्वात् । श्रेणि, एक, पूग, मुकुन्द, राशि, विषय, निचय, निधन, इन्द्र, देव, मुण्ड, भूत, श्रवण, वदान्य, अध्यापक, अभिरूपक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण, कृपण, इति श्रेण्यादिः ।

केन नञ्विशिष्टेनानञ् (अष्टा०सू०२-१-६०) । नञ्मात्राधिकेन कान्तेनानञ् कान्तं समस्यते स तत्पुरुषः । कृतं च तदकृतं च कृताकृतम् । एकमेव वस्तु एकदेशकरणात्कृतमेकदेशान्तरस्याकरणाच्चाकृतमित्युच्यते । पीतापीतम् । उदितानुदितम् । नुडिडाधिक्येऽपीष्यते । अशितानशितम् । क्लिष्टाक्लिशितम् । नुडिङ्ग्रहणमर्थाभेदकस्य विकारस्याप्युपलक्षणम् । “शाच्छोरन्यतरस्याम्” (अष्टा०सू०७-४-४१) छाताच्छितम् । पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रारम्भः ।

कृतापकृतादीनामुपसंख्यानम् (का०वा०) । कृतापकृतम् । भुक्तविभुक्तम् । पीतविपीतम् । गतप्रत्यागतम् । भावेक्तः । तत् क्षणभुवा प्रत्यागमनेन सहचरितं गमनं गतप्रत्यागतम् । यातं च तदनुयातं च तदानीमेव पुनर्गमनात् यातानुयातम् । क्रयाक्रयिका । “अल्पे” (अष्टा०सू०५-३-८५) इति कप्रत्ययः । तदन्तश्च स्वभावात्स्त्रियाम् । “अन्येषामपि दृश्यते” (अष्टा०सू०६-३-१३७) इति दीर्घः । महान् क्रयः क्रयशब्देनोच्यते, गोवलीवर्द्धन्यायात् । एवं पुटापुटिका, फलाफलिका, मानोन्मानिकेति ।

समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् (का०वा०) । शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । पृथिव्या ईश्वरः । “तस्येश्वरः” (अष्टा०सू०५-४-४२) इत्यञ् । लक्षणया सिद्धे उत्तरपदलोपो नोपसंख्येय इत्याहुः ।

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः (अष्टा०सू०२-१-६१) । एते पूज्यमानैः सह प्राग्वत् । गुणक्रियाशब्दैः सह समासे सदादीनां पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम् । सत्पाठकः । महावैयाकरणः । इत्यादि । पूज्यमानैः किम् ? उत्कृष्टो गौः । कर्दमादुद्धृत इत्यर्थः । ‘महाजनः’ ‘महोदधिः’ ‘महापापम्’ इत्यादौ तु पूजाभावेऽपि “विशेषणं विशेष्येण”



(अष्टा०सू०२-१-५७) इति समासः ।

वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् (अष्टा०सू०२-१-६२) । एतैः समानाधिकरणैः पूज्यमानं प्राग्वत् । व्याघ्रादेराकृतिगणत्वादेव सिद्धे पूज्यमानमेवेति नियमार्थं वचनम् । गोवृन्दारकः । गोनागः । गोकुञ्जरः । नेह—माणवकोऽयं नागः यस्मान्मूर्ख इति । केचित्तु सामान्यप्रयोगे विध्यर्थमिदमित्याहुः ।

कतरकतमौ जातिपरिग्रहे (अष्टा०सू०२-१-६३) । एतौ समर्थेन सह प्राग्वत् । कतरकठः । कतमकलापः । “गोत्रं च चरणैः सह” (भा०श्लो०वा०) कतमशब्दसाहचर्यात्कतरशब्दस्यापि तथाविधस्यैव ग्रहणे सिद्धे जातिपरिग्रहग्रहणं ज्ञापकं कतमशब्दोऽप्यन्यत्र साधुरिति । तथा च चिरन्तनवृत्तिषु प्रत्युदाहृतं कतरो भवतोर्देवदत्तः । कतमो भवतां देवदत्त इति ।

किं क्षेपे (अष्टा०सू०२-१-६४) । एतत्समानाधिकरणेन सह प्राग्वत् । किंराजा, यो न रक्षति । किंसखा, यो द्रुह्यति । किञ्जौः, यो न वहति । “किमः क्षेपे” (अष्टा०सू०५-४-७०) इति समासान्तप्रतिषेधः । क्षेपे किम् ? को राजा पाटलिपुत्रे ।

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्वक्ष्यणीप्रवक्तृश्रोत्रिया-  
ध्यापकधूर्तैर्जातिः (अष्टा०सू०२-१-६५) । नपुंसकं पोटा इति हरदत्तः ।  
अमरस्तु—“पोटा स्त्रीपुंसलक्षणा” (अ०को०२-६-१५) इति नपुंस-  
कपर्यायेभ्यः पृथगेवाह । स्तनश्मश्ववादियुक्ता स्त्री पोटेति तद्वशाख्या-  
तारः । उभयथापि शास्त्रीयस्त्रीत्वविशिष्टे पोटाशब्दो वर्तते । यथा  
शास्त्रीयपुंस्त्वविशिष्टे दारशब्दः । गृष्टिरेकवारप्रसूता । धेनुः प्रत्यग्र-  
प्रसवा । वशा बन्ध्या । वेहद् गर्भघातिनी । वक्ष्यणी तरुणवत्सा ।  
पोटादिभिः सह जातिः प्राग्वत् । इमपोटा । इमयुवतिः । अग्नि-  
स्तोकः । उद्दिष्टकतिपयम् । गोगृष्टिः । गोधेनुः । गोवशा । गोवे-  
हत् । गोवक्ष्यणी । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । कठाध्यापकः । क-  
ठधूर्तः । जातिः किम् ? देवदत्तः प्रवक्ता । ‘कठधूर्तः’ इत्यत्र यः कठः  
स धूर्त इत्यर्थो न तु कठत्वं कुत्स्यते । अतः “कुत्सितानि कुत्सनैः”  
(अष्टा०सू०२-१-५३) इत्यनेन गतार्थता न शङ्क्या, प्रवृत्तिनिमित्त-  
कुत्सायां तत्प्रवृत्तः । कथं तर्हि “जनयति कुमुदभ्रान्तिं धूर्तवको बा-  
लमत्स्यानाम्” इति । षकधूर्त इति हि युक्तम् ? सत्यम्, प्रमाद एवाय-  
मिति प्रामाणिकाः ।

प्रशंसावचनैश्च (अष्टा०सू०२-१-६६) । प्रशस्तवाचिभिः समानाधि-



करणैः सह जातिः प्राग्वत् ।

“मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्घतल्लजौ ।

प्रशस्तवाचकान्यमूनि” ( अ०को०१-४-२७ ) इत्यमरः । निय-  
तलिङ्गा एते न तु विशेष्यनिष्ठाः । गोमतल्लिका । गोमचर्चिका । गोप्र-  
काण्डम् । गवोद्घः । गोतल्लजः । प्रशस्ता गौरित्यर्थः । जातेः पूर्वनि-  
पातार्थं सूत्रम् । प्रशंसावचनपोटायुवतीत्येकयोगसम्भवे योगविभाग-  
स्य प्रयोजनं चिन्त्यम् । जातिः किम् ? कुमारी मतल्लिका । प्रशंसयेति  
वक्तव्ये वचनग्रहणं कृदिशब्दपरिग्रहार्थम् । तेन ये यौगिकाः प्रशस्तशो-  
भनरमणीयादयः, ये च विशेषवचनाः शुचिमृद्धादयः, ये च जातिश-  
ब्दाः सन्तः परत्र प्रयोगात्प्रशंसां गमयन्ति, सिंहो माणवक इति, ते  
सर्वे व्युदस्ताः ।

युवाखलतिपलितवलिनजरतीभिः (अष्टा०सू०२-१-६७) । जरद्भिरिति  
पाठान्तरम् । तत्रापि युवशब्देन जरत्याः सामानाधिकरण्यासम्भवा-  
त्तदन्यथानुपपत्त्या “प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” (प०भा०७३)  
इति परिभाषा ज्ञाप्यते । तथाच युवयुवतिशब्दयोर्द्वयोरपि खलत्यादि-  
भिश्चतुर्भिर्बभूवलिङ्गैः सामानाधिकरणैः सह समासे अष्टौ उदाहरणानि  
पर्यवस्यन्ति । तथाहि, युवा खलतिः युवखलतिः । युवतिः खलती  
युवखलती । “कृदिकारादक्तिनः” (का०वा०) “सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके”  
(का०वा०) इति ङीप् । युवपलितः । युवपलिता । युववलिनः । युव-  
वलिना । वलिशब्दः पामादिः । युवजरन् । युवजरती इति । जीर्यतेरतृन् ।  
“उगितश्च” (अष्टा०सू०४-१-३) इति ङीप् । युवत्यामेव जरतीधर्मोप-  
लम्भेन तद्रूपारोपात्सामानाधिकरण्यम् । यत्तु एवं सति पुंस्येव स्त्रीत्वा-  
रोपेण जरतीसामानाधिकरण्यं सम्भवतीति परिभाषाज्ञापनं कथमिति  
हरदत्तेनोक्तं, तत्रेदमुत्तरम् । आरोपं विनोपपत्तौ किं तेन ? नहि एकम-  
गत्या आरोपितमिति सर्वमेवारोपणीयम्, लक्ष्यानुरोधेन परिभाषाज्ञा-  
पनस्यैवौचित्यात् । “कुमारः श्रमणादिभिः” (अष्टा०सू०२-१-७०) इति  
षा ज्ञापकमस्तु, श्रमणादिषु स्त्रीलिङ्गानामेव बहूनां पाठात् । अश्वा-  
दिभ्यः कञ्चिद्वा “पुंसि जाते” (ग०सू०) इति गणसूत्रे पुंस्तीत्युक्तिर्ज्ञा-  
पिकेति तु तत्त्वम् । युवशब्दस्य पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम् । अनियमो  
हि प्रसक्तः, गुणशब्दत्वात् ।

कृत्यतुल्याख्या अजात्या (अष्टा०सू०२-१-६८) । कृत्यप्रत्ययान्ता-  
स्तुल्यपर्यायाश्चाजातिवचनेन सह प्राग्वत् । भोज्योष्णम् । भोज्यलव-  
णम् । तुल्यश्वेतः । सदृशश्वेतः । पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम् । अजा-



त्येति किम् ? भोज्य ओदनः । प्रतिषेधसामर्थ्याद्विशेषणमित्यपि न भवति । 'तुल्यमहान्' इत्यादौ तु परत्वाद्नेन "सन्महत्" (अष्टा०सू०२-२-६१) इति बाध्यते । तस्य तु अकृत्यतुल्याख्या अवकाशः । कथं तर्हि "तस्य सत्कृत्यशालिनः" इति भट्टिः ? "सन्महत्" (अष्टा०सू०२-१-६१) इत्यस्मात्परत्वाद्नेन समासे 'कृत्यसत्' इति स्यात् । सत्यम्, सतां कृत्यमिति षष्ठीसमासो बोध्यः । एवं 'परमपूज्यः' इत्यत्र ।

वर्णो वर्णेन (अष्टा०सू०२-१-६९) । समानाधिकरणेन सह प्राग्वत् । कृष्णसारङ्गः । सारङ्गदिचित्रः । स चाकृष्णोऽपि सम्भवति । अतः कृष्णो विशेषणम् । न चासम्भवः, नानारूपसमाहारादिचित्रमित्यभ्युपगमात् । चित्रत्वं रूपत्वव्याप्यं नीलत्वादिविरुद्धं जात्यन्तरमेवेति पक्षे तु कृष्णावयवके कृष्णशब्दस्य लक्षणा बोध्या ।

स्यादेतत् । "तृतीया तत्कृता" (अष्टा०सू०२-१-३०) इतीह सिद्धम्, सारङ्गत्वस्य कृष्णादिकृतत्वात् । एवञ्च "वर्णो वर्णेषु" (अष्टा०सू०६-२-३) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरोऽपि न विधेयः "तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया" (अष्टा०सू०६-२-२) इत्येव गतार्थत्वात् । मैवम्, 'कृष्णशुक्लः' 'हरितशुक्लः' इत्याद्यर्थे समासस्यावश्यंविधेयत्वात् । न हीह तत्कृतत्वमस्ति । तथा स्वरसूत्रमप्युभाभ्यां वक्तव्यम् । इह मा भूत् कृष्णैतः, लोहितैतः, इति । तथा चानेत इति निषेधार्थं विध्यर्थं वेति परं संशयः । तत्र कृष्णशुक्लादौ विध्यर्थमेवेति स्थितम् । प्रतिपदोक्तस्य समासस्य ग्रहणसम्भवात्स्वरसूत्रे "वर्णोनेत" इत्येवास्तु वर्णेष्विति न कर्तव्यमिति तु तत्त्वम् । वस्तुतस्तु "वर्णो वर्णेषु" (अष्टा०सू०६-२-२) इति यथान्यासमस्तु । प्रकृतसूत्रमेव तु न कर्तव्यं "विशेषणं विशेष्येण" (अष्टा०सू०२-१-५७) इत्येव समासस्य सिद्धत्वादिति ध्येयम् ।

मत्वर्थीयचिकीर्षायां न कर्मधारय इति वक्तव्यम् ॥ वीरपुरुषवान् ग्राम इति मा भूत् । तथाच प्रथमत एव मत्वर्थविवक्षया बहुव्रीहिरेव भवति । न्यायसिद्धं चेदमिति भाष्यम् । बहुव्रीहिमात्रेण लभ्येऽर्थे मतुवादेर्गौरवपराहतत्वात् । कृष्णसर्पवान्वल्मीकः, लोहितशालिमान् ग्रामः इत्यादि तु भवत्येव, कर्मधारयं विना जातिविशेषस्याप्रतीतेः । सर्वशब्दस्य त्वकारात्तैः कर्मधारय इष्यते । तस्माच्च ठनं बाधित्वेनिरेवेति वक्तव्यम् । सर्वधनी । सर्वबीजी । सर्वकेशी ।

कुमारः श्रमणादिभिः (अष्टा०सू०२-१-७०) । पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम् । येऽत्र स्त्रीलिङ्गाः पठ्यन्ते-श्रमणाः, प्रवजिता, कुलटा इत्येवमाद्यस्तैः सह स्त्रीलिङ्ग एव कुमारशब्दः समस्यते । ये तु पुंलिङ्गा अध्या-



पकादयस्तैरुभयथा, प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् ।  
कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा । श्रमणा । प्रव्रजिता । कुलटा । गर्भिणी ।  
तापसी । दासी । बन्धकी । अध्यापक । अभिरूपक । पण्डित । पटु ।  
मृदु । कुशल । चपल । निपुण ।

चतुष्पादो गर्भिण्या (अष्टा०सू०२-१-७१) । जातिरिति मण्डूकप्लु-  
त्यानुवर्तते चतुष्पाज्जातिवाचिनः सुबन्ता गर्भिणीशब्देन सह प्राग्वत् ।  
गोगर्भिणी । अजगर्भिणी । जातिः किम् ? कालाक्षी गर्भिणी । चतुष्पा-  
त्किम् ? ब्राह्मणी गर्भिणी । गर्भिणीशब्दस्य परनिपातार्थं वचनम् ।  
प्रत्युदाहरणे तु “विशेषणम्” (अष्टा०सू०२-१-५७) इति समासे पूर्व-  
निपातो बोध्यः ।

मयूरव्यंसकादयश्च (अष्टा०सू०२-१-७२) । एते समुदाया निपात्यन्ते ।  
चकारोऽवधारणार्थः समासान्तरं व्यावर्तयति । व्यंसको धूर्तः । मयूर-  
श्चासौ व्यंसकश्चेति विग्रहः । व्यंसकशब्दस्य गुणवचनत्वात्पूर्वनिपाते  
प्राप्ते वचनम् । एवं छात्रव्यंसकादीनां यवनमुण्डपर्यन्तानाम् ।

अन्ये त्वाहुः—मयूर इव व्यंसकः । छात्र इव व्यंसकः । कम्बोज इव  
मुण्डः । यवन इव मुण्डः । उपमानसमासोऽयम् । तत्र—“उपमानानि  
सामान्यवचनैः” (अष्टा०सू०२-१-५५) इत्येव सिद्धे पुनर्विधानं “त-  
त्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया” (अष्टा०सू०६-२-२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरो  
मा भूदिति । स ह्युपमानसंशब्देन विहिते समासे विधीयते । मयूर-  
व्यंसकः । छात्रव्यंसकः । कम्बोजमुण्डः । यवनमुण्डः । पादगृह्य, हस्त-  
गृह्य, लाङ्गूलगृह्य, पुनर्दाय, एते चत्वारश्च छन्दसि । यत्प्राक्षिणाः  
पितरं पादगृह्य । अग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय । पुनर्दाय ब्रह्मजायाम् ।  
पुनश्च नसौ छन्दसोति गतिसंज्ञा तु वार्तिककारोक्ता न तु सूत्रारूढेति  
गणकारेणेदं पठितम् ।

एहीडादयोऽन्यपदार्थे (ग०सू०) । एहीडेति यस्मिन्कर्माणि तदेही-  
डम् । एवम् एहियवम् । एहि वाणिजेति यस्यां क्रियायां सा एहिवा-  
णिजा । एवम् अपेहिवाणिजा । प्रेहिवाणिजा । एहि स्वागतमिति यस्यां  
क्रियायां सा एहिस्वागता । “ऊह वितर्के (भा०आ०६४१) लोणमध्यमैक-  
वचनम् । प्रोहकरटमिति यस्यां सा प्रोहकरटा । निपातनात्परस्मैपदम् ।  
प्रोहकटा । प्रोहकर्दमा । उद्धरचूडा । आहरवसना । आहरवनिता ।  
कृन्ताविचक्षणा । “कृती छेदने” (तु०प०१४३५) लोट् । सेहिः । मुचा-  
दित्वान्नुम् । कृन्त विचक्षण इति यस्यां क्रियायां सेत्यर्थः । गणरत्ने  
तु कृन्धि विचक्षणेति पाठः । तत्र “कृती वेष्टने” (रु०प०१४४७) इति



रुधादिबोधयः । उद्धरकोष्ठात् उत्सृज देहीति यस्यां क्रियायां सा उद्धरो-  
त्सृजा । “आख्यातमाख्यातेन” (ग०सू०) इति सिद्धे असातत्यार्थं वचनम् ।  
एवम्-उद्धमविधमा । उत्पच निपचा । उत्पतानिपता । इहैषां समासानाम-  
न्यपदार्थं स्त्रीलिङ्गत्वाद्वाप् । एषमग्रेऽपि उदक् च अवाक् च उच्चापचम् ।  
उच्चैश्च नीचैश्चोच्चनीचम् । आचितं चोपचितं च आचोपचम् । आ-  
चपचम् । निश्चितं च प्रचितं च निश्चप्रचम् । एते सर्वे निपात्यन्ते । न  
विद्यते किञ्चन यस्यासावकिञ्चनः । सकिञ्चनः । स्नात्वाकालकः । इह  
समासान्तोदात्तत्वं ल्यबभावश्च निपात्यते । समानकर्तृकत्वे तु अन्त-  
र्भूतक्रियापक्षं बोध्यम्, स्नात्वाकालकः संपन्न इत्यर्थावगमात् । पात्वा-  
स्थिरकः । भुक्त्वासुहितः । प्रोष्य पायान् उत्पत्य या कला उत्पतनं  
कृत्वा या पाण्डुर्भवति सोच्यते हस्तिज्वरः पाकलः । तद्विशेषस्तु कूट-  
पाकलः “कलमं कठोर इव कूटपाकलः” इति भवभूतिप्रयोगात् हस्ति-  
शास्त्रे तथादर्शनाच्चेत्यन्ये । निपात्यरोहिणी । निषद्ययामा । अपे-  
हिप्रणमा ।

जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति (का०वा०) ।  
जहीति लोपमध्यमैकवचनान्तम् । तत्कर्मणा बहुलं समस्यते आभीक्ष्ण्ये  
गम्यमाने समासेन चेत्कर्ताभिधीयते । जहिजोडमित्याभीक्ष्ण्येन य आह  
स जहिजोडः । जहिस्तम्बः । उज्जहिस्तम्बः ।

आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये (ग०सू० ) । अदनीतपिबतेत्येवं  
यत्र सततमभिधीयते सा ऽदनीतपिबता । एवं पचतभृज्जता । खादत-  
मोदता । खादतवसता । आहरनिचया । आहरनिष्कषा । उत्पचनिप-  
चा । मिन्धिलवणा । मिन्धि लवणमिति यस्यामभिधीयते सा क्रिया  
तथा । एवं पचलवणा । आकृतिगणोऽयम् । तेनान्येपि ज्ञेयाः । तत्र केचि-  
द्गणरत्नकृता संगृहीताः । तद्यथा-नास्ति कुतोपि भयं यस्य सः अकुतो-  
भयः । कान्दिशं गच्छामीति य आह स कान्दिशीकः । गणपाठसाम-  
र्थ्यादीकण् द्वितीयाया अलुक्च । “कान्दिशीको भयदुतः” (अ०को०  
३-१-४२) इत्यमरः । अहोपुरुषोऽहमिति यो मन्यते तस्य भाव आहोपुरु-  
षिका । मनोज्ञादित्वाद्वुञ् । अहं शक्तोऽहं शक्त इति यस्यां साहमहमि-  
का । या इच्छा अभिप्राय इति यद्वच्छा । एहिरेपाहिरा । एहि रे पाहि  
रे इति यस्यां सा तथेत्यर्थः । गणपाठादात्वम् ।

एहिरां पाहिरे नीता येन निश्चप्रचा अपि ।

तत्कर्म दग्धुं सेवेथा गोविन्दमकुतोभयम् ॥

उन्मृड्दि अवमृड्दीति यस्यां सा उन्मृजावमृजा । अत एव निपा-



तनादनयोरिहैव साधुत्वम् । अन्यद् द्रव्यं द्रव्यान्तरम् । अन्तरशब्दो भि-  
न्नवाची । भिन्नश्चाभेदेन सम्बन्धेन पूर्वपदार्थे विशेषणम् । पूर्वपदजन्य-  
बोधप्रकाराश्रयप्रतियोगित्वं भेदे व्युत्पत्तिसिम् । अवश्यकार्यम् । तदेव  
तन्मात्रम् । “मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे” (अ०को०३-३-१७७) इत्यादि ।

॥ इति श्रीशङ्खकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे  
तृतीयमाह्निकम् ॥ पादश्चायं समाप्तः ॥

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे (अष्टा०सू०२-३-१) । अव-  
यविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते स तत्पुरुषः, एकत्वसंख्याविशिष्टश्चे-  
दवयवी भवति । पूर्वं कायस्येति पूर्वकायः । अपरकायः, इत्यादि ।  
षष्ठीसमासापवादोऽयम् । तथाच ‘कायपूर्वः’ इति प्रयोगोऽनेन व्याव-  
र्त्यते । ‘पूर्वकायः’ इति प्रयोगस्तु पूर्वश्चासौ कायश्चेति कर्मधारयेणापि  
सिद्धः । समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेषु वर्तन्ते इति न्यायात्,  
ऊर्ध्वकाय इतिवत् । ननु षष्ठीसमासव्यावृत्तयेऽपि सूत्रं न कार्यं, षष्ठ्या  
एवह दुर्लभत्वात् । पञ्चम्या हीह भाव्यम्, दिशि दृष्टः शब्दो दिक्-  
शब्द इति व्याख्यानेन सम्प्रत्यदिग्वृत्तिनाऽपि योगे पञ्चमीस्वीकारात् ?  
सत्यम् । अवयववृत्तिभिर्योगे षष्ठ्येवेत्यते “तस्य परमाप्तेऽदितम्”  
(अष्टा०सू०८-१-२) इति लिङ्गात् । एकदेशिशब्दोऽयमवयवे रूढः । अत  
एव ततो मत्वर्थीयः ‘कृष्णसर्पवान्वल्मीकः’ इति यथा । यद्यपीह “एक-  
गोपूर्वात्” (अष्टा०सू०५-२-११८) इति ठञ् प्राप्तस्तथाप्यत एव निर्देशा-  
दिनिर्बोद्धव्यः । एकदेशवाचिनि तु एकदेशीयशब्द एव, बहुव्रीहिल-  
भ्येऽर्थे मतुवादयो नेत्युक्तत्वात् । एकदेशिना किम् ? पूर्वं नाभेः काय-  
स्य । नाभेः पूर्वा भागः स कायस्य सम्बन्धीत्यर्थः । नाभेरिति दिग्यो-  
गलक्षणपञ्चमी । अत्र पूर्वस्य भागस्य नाभिरवाधिर्न त्वेकदेशि, अतो  
न नाभ्या समासः । कायेन तु स्यादेव पूर्वकायो नाभेरिति, पूर्वशब्दस्य  
नित्यसापेक्षत्वात् । एकाधिकरणे किम् ? पूर्वं छात्राणामामन्त्रयस्व नेयं  
निर्धारणे षष्ठी, किन्तु समुदायसमुदायिसम्बन्धे । बहुवचनं तूद्भूता-  
वयवभेदसमुदायविवक्षया यथा ‘छात्राणां पञ्चमः’ इति । ततश्च छात्रा-  
णामेकदेशित्वमस्त्येव, किन्त्वेकत्वसंख्यावैशिष्ट्यं नास्तीति समासा-  
भावः । कथन्तर्हि ‘मध्याह्नः’ ‘सायाह्नः’ इति ? अत्राहुः-सर्वस्यैकदेशवा-  
चिनोऽह्ना समासः, ‘संख्याविसाय’ (अष्टा०सू०६-३-११०) इति ज्ञाप-  
कात् । नह्यन्यथा सायपूर्वत्वमद्वस्योपपद्यते । केचित्तु नेदं विशेषापेक्षं  
शब्दः द्वितीयः १३.



ज्ञापकमहेति, किन्तु सामान्यापेक्षम् । सर्व एकदेशवाची कालेन समस्यते इति ज्ञाप्यशरीरम् । तेन 'मध्यरात्रः' 'उपारताः पश्चिमरात्र-  
गोचराः' इत्यादि सिद्धम् । न चोर्ध्वकायवत्सामानाधिकरण्येन साया-  
हमध्यरात्रादेर्निर्वाहः शङ्क्यः, "अहःसर्वैकदेश" (अष्टा०सू०५-४-८७)  
इत्यादिना विहितस्याचः "अहोऽह एतेभ्यः" (अष्टा०सू०५-४-८८)  
इत्यहोदेशस्य चैकदेशिसमासं विनाऽनुपपत्तेः । कथन्तर्हि 'दिनमध्यः'  
'रात्रिमध्यः' इति ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रेत्यदोषः ।

अर्धं नपुंसकम् (अष्टा०सू०२-२-२) । नित्यस्त्रीबोऽर्धशब्द एकद्रव्ये  
विद्यमानेनावयविवाचिना सह प्राग्वत् ।

भित्तं शकलखण्डे वा पुंस्यर्थोऽर्धं समेऽशके । (अ०को०१-३-१६)

इत्यमरः । इह काकाक्षिन्यायेन वापुंसीति पूर्वोत्तराभ्यां सम्बध्यते ।  
तत्र शकलखण्डे इति नपुंसकत्वस्य रूपभेदान्निर्णये पुंस्त्वविकल्पाद-  
स्त्रियामिति फलितम् । न च स्त्रीलिङ्गरूपमेव किन्न स्यादिति वाच्यम्,  
भिन्नलिङ्गानां न द्वन्द्व इति तेन परिभाषितत्वात् । शकलश्चास्त्रीति निर्दे-  
शेनैव निर्णयात् । 'अर्धः' इत्यत्र तु रूपभेदात्पुंस्त्वावगतौ सत्यां वापुं-  
सीति तद्विकल्पेनाविशेषात्स्त्रीनपुंसके लभ्येते । तथा चार्धशब्दस्त्रि-  
ष्विति फलितोऽर्थः । समेऽशके तु अर्धं नित्यनपुंसकमित्यर्थः । अर्धं  
पिप्पल्याः अर्धपिप्पली । "एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्" (का०वा०)  
इति पिप्पलीशब्दस्यानुपसर्जनत्वान्न ह्रस्वः । एकाधिकरणे किम् ? अर्धं  
पिप्पलीनाम् । कथं तर्ह्यर्धपिप्पल इति ? अर्धानि पिप्पलीनामिति  
विग्रहे मा भूत् । खण्डसमुच्चये तु भविष्यति, अर्धपिप्पली च अर्धपि-  
प्पली चेत्यादि विग्रहात् । एकदेशिनेति किम् ? अर्धं पशोर्देवदत्तस्य ।  
देवदत्तोऽत्र स्वामी न त्ववयवीति न तेन समासः । पशुना तु स्यादेव-  
अर्धपशुर्देवदत्तस्येति । देवदत्तस्वामिकं पशोर्धर्मित्यर्थः । नपुंसकं  
किम् ? ग्रामार्धः । नगरार्धः । अर्धमिति निर्देशादेव सिद्धे नपुंसकग्रहणं  
सूत्रे लिङ्गनिर्देशो न विवक्षित इति ज्ञापयितुम् । तेन "तस्येदम्" (अष्टा०  
सू०४-३-१२०) इति लिङ्गत्रयेऽपि भवति । एतत्सूत्रं "परवलिङ्गम्" (अष्टा०  
२-४-२६) इत्यत्र भाष्ये प्रत्याख्यातम् । तथाहि, 'अर्धपिप्पली' इति  
कर्मधारयेण सिद्धम्, समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते इति  
न्यायात् । समप्रविभागादन्यत्र हि तवाप्येषैव गतिः । अर्धाहारः, अर्ध-  
हारः, अर्धजरतीयम्, अर्धवैशसम्, अर्धोक्तम्, अर्धविलोकितम्,  
इत्यादिदर्शनात् । न च समप्रविभागे षष्ठीसमासं बाधितुमिदं सूत्रमिति  
वाच्यम्, षष्ठीसमासस्यापीष्टत्वादिति । तथाच कालिदासः प्रायुङ्क-



“प्रमणा शरीरार्धहरां हरस्य” इति ।

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् (अष्टा०सू०२-२-३) । एतानि एकदेशिना सह वा प्राग्वत्स्थुरेकं चेद् द्रव्यम् । द्वितीयं भिक्षायाः द्वितीयभिक्षा, भिक्षाद्वितीयम् । तृतीयभिक्षा । ‘भिक्षातृतीयम्’ इत्यादि । एकदेशिना किम् ? द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य । एकाधिकरणे किम् ? द्वितीयं भिक्षाणाम् ।

स्यादेतत् पूर्वसूत्रवदिदमपि प्रत्याख्यातम् । तथाहि, समुदाय-शब्दस्यावयवे वृत्तौ कर्मधारयेण ‘द्वितीयभिक्षा’ इत्यादि सिद्धम् । ‘भिक्षाद्वितीयम्’ इत्यादि तु षष्ठीसमासेन सिद्धम् । मैवन्, “पूरण” (अष्टा०सू०२-२-११) इतिषष्ठीसमासनिषेधात् । सिद्धान्ते त्वस्मिन् सूत्रेऽन्यतरस्याग्रहणसामर्थ्यात्पक्षे षष्ठीसमासो लभ्यते, वाक्यस्य महाविभाषयैव सिद्धेः । नन्वेतत्सूत्रं विनापि “पूरणाद्भागे” (अष्टा०सू० ५-३-४८) इति स्वार्थेऽनप्रत्ययं कृत्वा तदन्तेन षष्ठीसमासं करिष्याम इति चेत् ? न, तत्रापि प्रतिषेधसाम्यात् । “पूरण”, (अष्टा०सू० २-२-११) इत्यत्र हि अर्थग्रहणं न तु पूरणाधिकारविहितप्रत्ययग्रहणम्, अर्थशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् । स्वार्थिकाश्च प्रकृत्यर्थेनार्थवन्त इति अन्नन्तस्यापि पूरणार्थतास्त्येवेति भाष्ये स्थितम् । अत एव “तान्युञ्जच्छष्ठाङ्कितसैकतानि” (र०व० ५-८) इत्यत्र समासः प्रामादिक इत्याहुः । वस्तुनस्तु “परवल्लिङ्गम्” (अष्टा०सू०२-४-२६) इति सूत्रे तत्पुरुषग्रहणं “द्विगुप्राप्त” इत्यादि वार्त्तिकं “पूर्वापर” (अष्टा०सू०३-१-५८) इत्यादिसूत्री च भाष्ये प्रत्याख्याता । तथाच भिक्षाद्वितीयादिसिद्धये संज्ञाप्रमाणत्वादिनिर्देशानां सामान्यापेक्षज्ञापकताश्रयणीया “पूरण” (अष्टा०सू०२-२-११) इत्यादिनिषेधोऽनित्य इति । एवञ्चोञ्जच्छष्टेत्यपि साध्विति दिक् । तुरीयास्यापीष्यते इति वृत्तिकाराः । एतच्च भाष्यादौ नास्ति ।

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया (अष्टा०सू०२-२-४) । एतौ द्वितीयान्तेन सह प्राग्वत् । पक्षे “द्वितीयाश्रित” (अष्टा०सू०२-२-२४) इतिसमासः । प्राप्तो जीविका प्राप्तजीविकः । जीविकाप्राप्त इति वा । आपन्नजीविकः । जीविकापन्नः । यद्यपि प्राप्ता जीविका येनेति कृत्वा कर्मणि कान्तेन बहुव्रीहौ ‘प्राप्तजीविकः’ इत्यादि सिध्यति, तथापि समासान्तोदात्तार्थवचनं ‘प्राप्तसुखः’ इत्याद्यर्थश्च । इह हि बहुव्रीहौ “जातिकालसुखादिभ्यः” (का० वा० ) इति निष्ठायाः परनिपातः स्यात् । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया प्राप्तशब्दस्याप्ययं समासः । प्राप्ता जीविका प्राप्तजीविकेति ।



ननु “एकविभक्ति” (अष्टा०सू०१-२-२४) इत्युपसर्जनतया जीविकाशब्दस्य ह्रस्वोऽस्तु नाम, प्राप्ताशब्दस्य तु कुतः सः ? अत्र भाष्यम्, “अ-च” इति पूर्वपदस्याकारोऽपि सुब्रेऽस्मिन् विधीयते, चकारेण समुच्चयार्थेनाकारप्रश्लेषस्यानुमानादिति । प्राप्तापक्षे समस्येते, अ च, अत्वं च भवति प्राप्तापन्नयोः । सौत्रत्वाच्च प्रकृतिभावो नेति भाव इति प्राञ्चः । वस्तुतस्तु द्वितीयेत्यस्यानन्तरमकारप्रश्लेषो बोध्यः । एवं हि प्रकृतिभावप्रसङ्ग एव नास्तीति बोध्यम् ।

कालाः परिमाणिना (अष्टा०सू०२-२-५) । परिमीयते परिच्छिद्यते येन तत्परिमाणं तद्वान्परिमाणी । परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन सह कालाः समस्यन्ते स तत्पुरुषः । मासो जातस्य यस्य स मासजातः । ननु जातो देवदत्तः तस्य च दिष्ट्यादि परिच्छेदकं न तु कालः, तस्य क्रियामात्रपरिच्छेदकत्वादिति चेत् ? सत्यम्, साक्षात्क्रियां परिच्छिन्दन्नपि कालस्तद्वद्वारा देवदत्तं परिच्छिनत्ति । यस्य हि जननादूर्ध्वं मासो गतः स मासजात इति व्यवहियते । तत्र व्यवहारकालजननक्षणयोरन्तरालभावी मासो जननद्वारा जातमपि परिच्छिनत्येव । विग्रहे षष्ठीनिर्दिष्टस्यापि वृत्तौ प्राधान्यमिह बोध्यम् । ‘दण्डी चित्रगुः’ इत्यादाविव विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासेनैव एकार्थीभावाभ्युपगमात् । तथाच हरिणा-  
कचिद् गुणप्रधानत्वमर्थानामविवक्षितम् ।

इत्युपक्रम्य—

आख्यातं तद्वितार्थस्य यत्किञ्चिदुपदर्शकम् ।

गुणप्रधानभावस्य तत्र दृष्टो विपर्ययः ॥

इति वदता आक्षिकवैयाकरणाद्युदाहरणानि स्पष्टीकृतानि । तथाच ‘मासजातः’ इत्यस्य मासप्राग्भाविजननाश्रय इत्यर्थः । अत एव मास जातो दृश्यतामित्यादिक्रियायोगो जातस्यैव भवति न तु अर्धपिप्पल्यादाविव पूर्वपदार्थस्य । ब्रह्मजातः । द्वयोरहोः समाहारः । “राजाहः सखिभ्यष्टच्” (अष्टा०सू०५-४-९१) । “न संख्यादेः समाहारे” (अष्टा०सू०५-४-८९) इत्यहोदेशप्रतिषेधः । कथन्तर्हि ‘ब्रह्मजातः’ इति ? उच्यते, नायं समाहारे द्विगुः किन्तुत्तरपदे द्वे अहनी जातस्य यस्येति त्रिपदतत्पुरुषाभ्युपगमात् । ननु सुप्सुपेत्येकत्वस्य विवक्षितत्वात्कथमेतदिति चेत् ? वचनादित्येवेहि । उक्तं हि वार्तिककृता-“उत्तरपदेन परिमाणिना द्विगोः समासवचनम्” इति । अस्यार्थः-परिमाणिवचनेनोत्तरपदेन द्विगोः सिद्धये समासो वक्तव्यः । अर्थाद् द्वयोर्युगपादिति भ्रम्यते । तथाच वचनाद्ब्रह्मनामप्ययं तत्पुरुषो भवति । एवं द्वौ मासौ



जातस्य पूर्वयोस्तत्पुरुषे सति “कालान्ते द्विगौ” (अष्टा०सू०५-१-८६) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरो भवति । द्वयोर्मासयोः समाहारो द्विमासम् । पात्रादिः । द्विमासं जातस्येति तु विग्रहः समासे कियमाणे सतिशिष्टत्वात्समासान्तोदात्तत्वं स्यात् ।

स्यादेतत् । यावद्वचनं वाचनिकमेति परिमाणिमात्रेण त्रिपद-  
त्पुरुषः, अन्यत्र तु द्विपद एवेति स्थितम् । तथाच “कथं त्रिलोकनाथेन  
सतां मखद्विषः” इति कालिदासः । “नवरसरुचिरम्” इति च  
काव्यप्रकाशकारः ? इह हि त्रिलोकनवरसशब्दयोर्न तावद् “विशे-  
षणं विशेष्येण” (अष्टा०सू०२-१-८७) इति समासः । “दिक्संख्ये  
संज्ञायाम्” (अष्टा०सू०२-१-५०) इति नियमात् । नापि समाहारे द्वि-  
गुः “द्विगोः” (अष्टा०सू०४-१-२१) इति डीप्प्रसङ्गात् । न च पात्रादित्वं  
कल्प्यम् ‘त्रिलोकी’ इति प्रयोगस्यासाधुतापत्तेः । तथा च परिशेषात्त्रि-  
पदत्वपक्ष एवावशिष्यते । द्विमासजातः । त्रिपदे तत्पुरुषे जातशब्दे  
उत्तरपदे परतः स चोक्तीत्या दुष्ट एवेति । अत्रोच्यते, लोकशब्दो-  
ऽत्र समुदायपरः । तथा च इयवयवो लोक इति मध्यमपदलोपी तत्पुरु-  
षः । इदञ्च, “द्विगोलुङ्गनपत्ये” (अष्टा०सू०४-१-८८) इत्यत्र भाष्ये एव  
स्पष्टम् । त्रयाणां लोकनाथ इति वा । नवरसा चासौ रुचिरेति बहुव्री-  
हिर्गर्भः कर्मधारयोऽपि सुवचः ।

प्रकृतमनुसरामः । ‘राजपुरुषः’ इत्यादौ यद्यप्यभेदैकत्वसंख्या भा-  
सते तथापि मासजाते न तथा किन्तु शूर्पेण क्रीतः शौरिक इत्यत्र  
शूर्पस्येव मासस्य मुख्यमेवैकत्वम् । अक्तपरिमाणस्य वाचके तथैव व्यु-  
त्पत्तेरिति ध्येयम् ।

नञ् (अष्टा०सू०२-२-६) । नञ् सुपा सह प्राग्वत् । अब्राह्मणः ।  
अवृषलः । उत्तरपदार्थप्रधानोऽयम् । तथाहि आरोपितत्वं नञाद्योत्यते ।  
तच्चोत्तरपदप्रवृत्तिनिष्ठम् । तथा चारोपितं यद् ब्राह्मणत्वं तद्विशिष्टं  
समासः शक्तः । विशेषणविशेष्ययोः संसर्गस्त्वारोप एव । तेन ब्राह्मणा-  
भिन्नत्वबोध आर्थः । अत एवानुपसर्जनत्वादतस्मिन्नित्यादिसर्वनाम-  
कार्यनिर्वाहः ।

स्यादेतत् । विघ्नानामभावोऽविघ्नमित्यत्रापि परत्वात्तत्पुरुषः  
स्यात् । अव्ययीभावस्तु ‘निर्मक्षिकम्’ इत्यादौ सावकाशः । मैवम्, उत्त-  
रपदार्थप्राधान्य एवास्य प्रवृत्तेः । उक्तं हि प्राक् “अव्ययीभावादिमहा-  
संज्ञाव्यवहारेण पूर्वाचार्योक्तार्थनियमोऽप्युत्सर्गतः स्वीक्रियते” इति ।  
नन्वेवम् ‘अनुपलब्धिः’ इत्यादौ का गतिः ? शृणु । “रक्षोहागमलत्वं



सन्देहाः” इति भाष्यप्रयोगात्पक्षे तत्पुरुषोऽपीष्यते । अत एव भूवादि-  
सूत्रे “अथासंहितया” इति “विरामोऽवसानम्” (अष्टा०सू०१-४-११०)  
इति सूत्रे तु “अदुतायामसंहितम्” इति द्विधापि भाष्यवार्तिकयोः प्रयु-  
क्तम् । यद्वा, अनुपलब्ध्यसन्देहादावपि लाक्षणिक आर्थो वा तद-  
भावबोधः ।

स्यादेतत्, अन्यपदार्थप्राधान्येऽयं समासः । भावप्रधानो ह्यत्र  
निर्देशः । न ब्राह्मणत्वं यस्मिन्नित्यर्थादुन्मत्तगङ्गादावव्ययीभाव इवेह  
तत्पुरुषो बहुव्रीहेर्बाधक इति । फलन्तु ‘अकर्ता’ ‘अभोक्ता’ इत्यादौ  
“नघृतश्च” (अष्टा०सू०५-४-१५३) इति कवभावः स्यात् । मैवम्,  
‘अतस्मिन्’ इत्यादौ सर्वनामकार्यगणकार्ययोरसिद्धिप्रसङ्गात् । ‘अव-  
र्षा हेमन्तः’ इत्यत्र हेमन्तस्येव तद्विशेषणस्याप्येकवचनापत्तेश्च । ‘अ-  
धनो ब्राह्मणः’ इत्यादावपि न्यायसाम्यात्तत्पुरुषपरवल्लिङ्गतापत्ते-  
रिति दिक् ।

मतान्तरस्तु—

तपःश्रुतञ्च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारणम् ।

तपःश्रुताभ्यां यो हिनो जातिब्राह्मण एव सः ॥

इत्यादिवचनप्रामाण्यात्सर्वे समुदायशब्दाः तत्तद्व्यक्तिभिरिव त-  
दीयगुणसमुदायेनाप्युपहितायाः सत्ताया जातित्वात् । तथाच ‘अ-  
पूर्णो ब्राह्मणोऽब्राह्मण’ इति सर्वथाप्युत्तरपदार्थप्राधान्यं निर्बाधम् ।  
अत्र च लिङ्गम्—“एतत्तदोः” (अष्टा०सू०६-१-१०२) इति सूत्रेऽनज्जसमा-  
सग्रहणम् । एवञ्च “अनेकमन्यपदार्थे” (अष्टा०सू०२-२-४) इत्यादावे-  
कवचनं सिद्धम् । माघश्च—“सेव्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया” इति ।  
कथन्तर्हि “पतन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः” इति ? अत्राहुः । अध्यारोपि-  
तैकत्वानां प्रकृत्यर्थतया तत्र वास्तवबहुत्वाभिप्रायंबहुवचनं न विरुध्यते  
इति । अनेकश्च, नेकश्चेत्येकशेषो वा । यत्तु—

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।

अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थः षट् प्रकीर्तिताः ॥

यथा—अब्राह्मणः, अ ए. अनश्वः, अनुदरा कन्या, अपचसि,  
अधर्मः, इति । तत्तु यथायथमात्रेकार्थमभिप्रेत्येति बोध्यम् । निरुद्धल-  
क्षणायाः शक्तिसमकक्ष्यतया । एतन्ते त्वतिरिक्तशक्तेरुक्ततया वृत्ति-  
विशेषे तदर्थान्तिर्भाव इति वा कथञ्चिन्नेयम् । इह न ब्राह्मणस्य भाव  
इति युगपदेव भावेनारोपितत्वेन च सम्बन्धे विवक्षिते समास एव



प्रथमं न तु परावपि त्वतलौ, प्रकृत्यर्थस्य सापेक्षत्वेनासामर्थ्यात् । नञ्-समासस्तु प्रधानस्य सापेक्षत्वान्निर्बाधः । ततश्च सतिशिष्टः प्रत्ययस्वरो लिट्स्वरश्च भवति न तु “तत्पुरुषे तुल्यार्थ” (अष्टा०सू०६-२-२) इत्ययम् ।

ईषदकृता (अष्टा०सू०२-२-७) । स्पष्टोऽर्थः । ईषत्पिङ्गलः । ननु ‘ईष-ज्जकम्’ ‘ईषदुन्नतम्’ इत्यादावव्याप्तिः । ईषद्गार्ग्यादावतिव्याप्तिश्च । सत्यम् । अत एव वार्तिककृतोक्तम्-“ईषद् गुणवचनेन” इति । अकृते-त्यपनीय तत्स्थाने गुणवचनेनेति पूरणीयमित्यर्थः । अतो नाव्याप्यति-व्याप्ती । यद्यपि गर्गापत्यत्वे उत्कर्षापकर्षौ न स्तस्तथापि तदेकार्थसम-वायिनां क्रियागुणानां तौ बोध्यौ । तथाच प्रयुज्यते-‘गार्ग्यतरः’ ‘गार्ग्य-कल्पः’ इत्यादि ।

षष्ठी (अष्टा०सू०२-२-८) । ‘षष्ठ्यन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह प्राग्वत् । राजपुरुषः । कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वाच्यम् (का०वा०) । इध्म-व्रश्चनः । प्रतिपदविधाना चेति निषेधस्यायमपवादः । वस्तुतस्तु स निषेधोऽयं तदपवादश्चेत्युभयमपि न वक्तव्यमिति वक्ष्यते ।

याजकादिभिश्च (अष्टा०सू०२-२-९) । एभिः षष्ठी समस्यते । “तृज-काभ्यां कर्त्तरि” (अष्टा०सू०२-२-१५) इत्यस्य प्रतिप्रसवोऽयम् । ब्राह्मण-याजकः । याजक, पूजक, परिचारक, परिवेषक, स्नातक, अध्यापक, उत्सादक, उद्धर्तक, होतृ, पोतृ, भर्तृ, रथगणक, पत्ति, गणक । वृत् ।

गुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) । इदञ्च वार्त्तिकं भाष्ये “सर्वे गुणकात्स्न्ये” (अष्टा०सू०६-२-२३) इति सूत्रे पठितम् । तरबन्तं यद् गुणवाचि तेन समास इत्यर्थः । “न निर्धारणे” (अष्टा०सू० २-२-१०) इति निषेधस्यायमपवाद इति वृत्तिकाराः । “पूरणगुण” (अष्टा०सू०२-२-११) इति गुणनिषेधस्येति भाष्यकाराः । सर्वेषां श्वेत-तरः सर्वश्वेतः । सर्वेषां महत्तरः सर्वमहान् ।

न निर्धारणे (अष्टा०सू०२-२-१०) निर्धारणे या षष्ठी सा न समस्यते । नृणां द्विजः श्रेष्ठः । अत्र द्विजशब्देन समासप्रसङ्गः । तदपेक्षा हि षष्ठी । कथं ‘पुरुषोत्तमः’ इति ? अत्र समाधानं “द्विवचनविभज्य” (अष्टा०सू०५-३-५७) इति सूत्रे स्थित्वा कैयट आह यस्मान्निर्धार्यते यश्चैकदेशो निर्धार्यते यश्च निर्धारणहेतुरेतत्त्रितयसन्निधाने निर्धारणं भवतीति तत्रैवायं निषेधो न तु त्रितयसन्निधानाभावेऽपीति । यद्वा, पुरुषेषूत्तम इति निर्धारणसप्तम्यां “संज्ञायाम्” (अष्टा०सू०२-१-४४) इति समासः । यत्त्वेवं सति “न निर्धारणे” (अष्टा०सू०२-२-१०) इति सूत्रं व्यर्थं स्यादिति । तत्र, स्वरे भेदात् । सप्तमीसमासे हि “तत्पुरुषे तुल्यार्थ” (अष्टा०सू०



६-२-२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः षष्ठीसमासे त्वन्तोदात्तत्वं स्यात् ।

प्रतिपदविधानां च षष्ठी न समस्यते इति वाच्यम् (का०वा०) । सर्पिषो ज्ञानम् । “ज्ञोविदर्थस्य” (अष्टा०सू०२-३-५१) इति षष्ठी । सा च प्रतिपदविधानां “षष्ठी शेषे” (अष्टा०सू०२-३-५०) इति विहायान्यस्याः सर्वस्या अपि तथात्वात् । न चैवमनेनैव गतार्थत्वात् “न निर्धारणे” (अष्टा०सू०२-२-१०) इति व्यर्थमिति शङ्काम् । “यतश्च निर्धारणम्” (अष्टा०सू०२-३-४१) इति सूत्रं हि षष्ठीं न विधत्ते किन्तु सप्तमीमेव । षष्ठी तु तथा मा बाधति प्रतिप्रसूयते इत्यन्यदेतत् । एवं “स्वामी-इवर” (अष्टा०सू०२-३-३९) इत्यादिष्वपि । तेन ‘गृहस्वामी’ ‘सर्वेइवरः’ इत्यादि सिद्धम् । वस्तुतस्तु “ज्ञोऽविदर्थस्य” (अष्टा०सू०२-३-५१) इत्यादिचतुर्दशसूत्रीमध्ये “दिवस्तदर्थस्य” (अष्टा०सू०२-३-५८) इत्यादिषट्सूत्रीं विहायावशिष्टायामष्टसूत्र्यां शेष इति वर्त्तते । तथाच ‘न माषाणामदनीयात्’ इत्यादाविव “षष्ठी शेषे” (अष्टा०सू०२-३-५०) इत्येव सिद्धे नियमार्थं प्रकरणम्-षष्ठी भवत्येव श्रूयत एव, न तु लुप्यते । तथाच लुक्प्रयोजिका समाससंज्ञैव न भवतीति फलितोऽर्थः । तस्मात् “प्रतिपदविधानां न” इति वचनं न कर्तव्यम् । एवं स्थिते “कृद्योगा च” (का०वा०) इत्यपि मास्तु । कर्तृकर्मणोः कृति” (अष्टा०सू०२-३-६५) इत्यत्र हि शेषे इति निवृत्तम् । तथाच षष्ठीविध्यर्थमेव (१)तदिति कुतः समासनिवृत्तिप्रसङ्गः । आह च—

साधनैर्व्यपदिष्टे च श्रूयमाणक्रिये पुनः ।

प्रोक्ता प्रतिपदं षष्ठी समासस्य निवृत्तये ॥ इति ।

कथन्तर्हि हरिस्मरणं-“विशेषस्मृतिहेतवः” “पदात् पदार्थस्मरणम्” इत्यादीति चेत् ? कर्मणिषष्ठ्या समासस्यानिषेधादिति गृहाण । तथा चेह कारकषष्ठ्या समासात्कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरो भवति । शेष-षष्ठीसमासे त्वन्तोदात्तता स्यात् । एवञ्चान्तोदात्तनिवृत्तये प्रकरणं ‘मातुःस्मृतम्’ इत्यादौ समासाभावार्थं च । न हि तत्र कारकषष्ठी लभ्यते “न लोक” (अष्टा०सू०२-३-६९) इति प्रतिषेधादिति निष्कृष्टोऽर्थः । आह च—

निष्ठायां कर्मविषया षष्ठी च प्रतिषिध्यते ।

शेषलक्षणया षष्ठ्या समासस्तत्र नेष्यते ॥ इति ।

पूरणगुणसुहितार्थसद्व्ययतव्यसमानाधिकरणेन (अष्टा०सू०२-२-११) । पूरणाद्यर्थैस्त्रिभिः सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते । पूरणे-सतां

(१) “कर्तृकर्मणोः” (अष्टा०सू०२-३-६५) इति सूत्रम् ।



षष्ठः । अत्र पुरणार्थाः प्रत्यया एव गृह्यन्ते न तु पुरणोद्भवादिशब्दा अपि । तेन “कुम्भपुरणभवः पटुरुच्चैः” इत्यादि सिद्धम् । अत्र च ज्ञापकं “लोपे चेत्पादपुरणम्” (अष्टा०सू०६-१-१३४) इति सूत्रप्रयोगः । पुरणाधिकारस्तु न गृह्यते । भागेऽन्त्यये सति तदन्तेनापि निषेधस्य “द्वितीयतृतीय” (अष्टा०सू०२-२-३३) इति सूत्रे भाष्ये एव स्पष्टत्वात् । अत एव ‘भिक्षाद्वितीयम्’ इत्यादावन्यतरस्याग्रहणसामर्थ्यात्समास इत्युक्तम् । अत एव च “तान्युच्छिष्टाङ्कितसैकतानि” (२०७०५-८) इति कालिदासस्य प्रमाद इत्याहुः । षष्ठ इत्याख्यातः षष्ठः, आख्यातण्यन्ताद्—“एरच्” (अष्टा०सू०३-३-५६) इति वा समाधेयम् ।

गुणश्चेह “सत्त्वे निविशतेऽपैति” इति लक्षितो गृह्यते केवलगुणस्य गुणोपसर्जनद्रव्यस्य च प्रतिपादकः, व्याप्तिन्यायात् । काकस्य काष्ण्यम् । ब्राह्मणस्य शुक्लाः । यदा र्थात्प्रकरणाद्वा दन्तादि विशेष्यं निर्वातं तदेदमुदाहरणम् । कथं तर्हि “गोसहस्रम्” इति । अत्राहुः । संख्यया नायं निषेधः “शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्” (अष्टा०सू०५-२-११९) “क्रोशशतजनशतरुपसंख्यानम्” (का०वा०) “खारीशतमऽपि न ददाति” (भा०इ०) इत्यादिमुनित्रयप्रयोगात् । अनित्यश्चायं गुणेन निषेधः । “संज्ञाप्रमाणत्वात्” “उत्तरपदार्थप्राधान्यम्” इत्यादि निर्देशात् । तेन ‘करणपाठवम्’ ‘अर्थगौरवम्’ ‘बुद्धिमान्द्यम्’ इत्यादि सिद्धम् । ‘चन्दनगन्धः’ इत्यादौ तु नायं निषेधः “तत्स्थैश्च गुणैः” इति समासस्य प्रतिप्रसवात् । गन्धत्वेन प्रतीयमानो हि गन्धो न कदापि गुणिसमानाधिकरणः । किन्तु स्वप्रधानः । यस्तु “वहति जलमयं पिनष्टि गन्धान्” इति प्रयुज्यते स चन्दनत्वादित्यादिनिमित्तको न तु गुणशब्दः, मालतीकुसुमादिष्वदर्शनादिति । एवं घटरूपमित्यादि । सुरभिःशुक्लादिशब्दास्तु न तत्स्थगुणप्रतिपादकाः, तेन रूपेण प्रतीयमानस्य गुणिसामानाधिकरण्यदर्शनात् । एवं “शौक्यम्” इत्यादावपि बोध्यम् । शौक्यसौरभादिशब्दैर्हि शुक्लत्वसुरभित्वादिप्रकारक एव गुणबोधः । तद्रूपापन्नस्य च द्रव्यसामानाधिकरण्यमस्त्येव ‘शुक्लः’ ‘सुरभिः’ इत्यादाविति दिक् ।

सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः । फलानां सुहितः । करणस्यैव शेषत्वविवक्षया षष्ठी । न च “न लोक” (अष्टा०सू०२-३-६९) इतिनिषेधः शङ्क्यः, तस्य कृद्योगलक्षणषष्ठीविषयकत्वात् । इह सुहितार्थयोगे करणस्य शेषत्वविवक्षैव नियतेत्याहुरिति हरदत्तः । तत्राहुरित्यपरितोषोद्भावनम् । तद्विजन्तु नियमे प्रमाणाभावः,



नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।

नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचने ॥

इत्यादिप्रयोगाणां पाक्षिक्यापि शेषे(१)षत्वविवक्षया सिद्धत्वात् ।  
अत एव करणत्वविवक्षया तृतीयां भट्टिः प्रायुङ्क्त—

फलैर्नानाविधैश्चित्रैः स्वादुर्शीतैश्च वारिभिः ।

तृप्तास्तां भ्राजथुमन्तीं प्रपच्छुः कस्य पूरियम् ॥ इति ।

नन्वेवं षष्ठीसमासे निषिद्धेऽपि तृतीयातत्पुरुषेण 'फलतृप्तः' इति स्यादेवेति चेत् ? इष्टापत्तेः । न चैवं निषेधवैयर्थ्यम्, स्वरे विशेषात् । तथाहि, षष्ठीसमासेऽन्तोदात्तत्वं स्यात्, तृतीयासमासे तु थाथादि-स्वरापवादः "तृतीया कर्मणि" (अष्टा०सू०६-२-४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । तृपिश्च सकर्मकोऽप्यस्ति, "पितृनताप्सीत्सममस्त बन्धून्" इति भट्टिप्रयोगात् । तेनास्मात्कर्मणि क्त्वा नास्तीति न शङ्कनीयम् । 'फलतर्पणम्' इत्यादौ तु स्पष्ट एव स्वरे भेदः, कारकात्परत्वेन कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरात् ।

सत्--द्विजस्य कुर्वन् कुर्वाणो वा । किंकर इत्यर्थः । शेषे षष्ठी । चोरस्य द्विषन् । इह "द्विषः शतुर्वा वचनम्" इति पाक्षिकी कर्मणिषष्ठी ।

अव्यय—ब्राह्मणस्य कृत्वा । तादर्थ्यरूपसम्बन्धस्य सामान्यरूपेण विवक्षायां षष्ठी । ब्राह्मणसम्बन्धिनी क्रियेत्यर्थः । 'पुरा सूर्यस्योदेतोः' इत्यप्यव्ययोदाहरणम् । इह कर्त्तरि षष्ठी "(२)अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्क-सुनोरप्रतिषेधः" (का० वा०) इति वचनात् । अत्र सत्त्व्याभ्यां साहचर्यात्कृदव्ययेनैव समासो निषिध्यते । तेन 'तदुपरि' इत्यादि सिद्धमिति रक्षितः । तथा च भट्टिप्रभृतयः प्रयुज्जते-यत्कृतेऽरीन्निगृह्णीमः,

आदेयाः किंकृते भोगाः कुम्भकर्णं त्वया विना ।

भवत्कृते खञ्जनमञ्जुलाक्षीति, तत्पाणिमात्मोपरि पातुकन्तु, किमु तदन्तरुमौ भिषजौ दिवः, इत्यादि च । तथा "अनेकमन्यपदार्थे" (अष्टा०सू०२-२-२४) इति सूत्रे 'सर्वपश्चात्' इति भाष्यप्रयोगोऽपीहानुकूलः । कैयटहरदत्तौ तु अव्ययप्रतिषेधे वृक्षस्योपरीत्युदाहरन्तौ (३)अकृदव्ययेनापि निषेधं मन्येते । तत्तु भट्टिर्ग्रीहर्षादिप्रयोगाणां प्रतिकूलम् ।

( १ ) 'विशेष' आदर्शः ।

( २ ) "न लोकाव्यय" (अष्टा०सू०२-३-६९) इति सूत्रेणेत्यादिः ।

( ३ ) 'कृदव्ययेनापि' आदर्शः ।



यद्वा, अस्मिन्पक्षे कृ(१)च्छब्दः सम्पदादिक्विवन्तः कार्यपरः । ततश्चतुर्थी । आत्मन उपरि पातुक इति विग्रहः । तस्यां यन्मध्यं तत्रेत्यर्थे “सप्तमी शौण्डेः” (अष्टा०सू०२-१-४) इति सूत्रोक्तरीत्या सप्तमीतत्पुरुषोऽव्ययीभावो वेति दिक् ।

तव्य-ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् । निरनुबन्धकस्य सूत्रे ग्रहणात्तव्यता समासो भवत्येव-स्वकर्तव्यम् । स्वरे भेदः । “गतिकारकोपपदात्” (अष्टा०सू०६-२-१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तत्र तव्यतस्त्वित्वेनान्तस्वरितता । तव्यस्य त्वाद्युदात्तत्वान्मध्योदा(२)त्तं पदमिति ।

समानाधिकरणेन-तक्षकस्य सर्पस्य । विशेषणसमासस्त्विवह बहुलग्रहणाच्चेत्युक्तम् ।

स्यादेतत्, इह षष्ठीसमासः प्राप्नोत्येव न । बाह्यसम्बन्धपेक्षा हीयं षष्ठी । तथा च कटोऽपि कर्म, भीष्मादयोऽपि न्यायेन द्वयोरपि षष्ठ्यन्तयोर्विषयप्रभृतिनाऽन्वये सति पश्चात्प्रातिपदिकार्थमात्रयोः पार्श्विकः सम्बन्धो वाच्यः । तथाच तक्षकस्येति सर्पस्येति च परस्परमसमर्थं कथं समस्यताम् ? अत एव ‘नीलोत्पलस्य’ ‘मेरुमहीभृतः’ इत्यादावपि प्रथमान्तयोर्विशेषणसमासे ततः षष्ठीति न्याय्यं न तु षष्ठ्यन्तयोर्विशेषणसमासः, उक्तरीत्याऽसामर्थ्यात् । किञ्च यथा ‘चित्रगुः’ इत्यादौ सम्बन्धस्याभिहितत्वात्प्रथमा तथेहापि षष्ठ्यन्तयोः समासे ततः प्रथमैव स्यान्न तु षष्ठी । उच्यते । कट एव कर्म भीष्मादयस्तु तत्समानाधिकरण्यमात्रात्तद्विभक्तिं लभन्ते इति पक्षे इदं बोध्यम् । समानाधिकरणेन निषेध एव चैतत्पक्षज्ञापकः । अत एव विशेषणविभक्तिः सा भुत्वार्थेत्युद्घोषोऽपि सङ्गच्छते । न चैवमपि समासात्षष्ठी न स्यादिति वाच्यम्, पञ्च(३)कपक्षे द्वितीयादेरिवोपपत्तेः । सकलविभक्तिसाधारणेन कर्मधारयेणान्यतरस्य स्फुटमनभिधानात् । एषैव च वैयधिकरण्यस्थले सर्वेषां गतिः । तथाहि, ‘राज्ञः कुमार्या राजकुमार्याः’ इति षष्ठ्यन्तस्य समासे पूर्वनिपातानियममाशङ्क्योपसर्जनसंज्ञाया अन्वर्थतामाश्रित्य समाहितमाकरे । न च तत्र त्वदुक्तस्यासामर्थ्यस्योक्तिसम्भवोऽपि, येन प्रथमान्तमेव समस्येत । तथाच राज्ञः-

( १ ) उपरिनिर्दिष्टप्रयोगत्रये कृते इत्यत्रेति यावत् ।

( २ ) तव्यप्रत्ययान्तेन सह समासे तु कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण मध्योदात्तं ‘स्वकर्तव्यं’ स्यादित्यर्थः ।

( ३ ) स्वार्थद्वयलिङ्गसङ्ख्याकारकाणि पञ्च प्रातिपदिकस्यैवार्थो विभक्त्यादि तु तदनुवादमात्रकमिति पक्षे ।



कुमारी, कुमार्यै, इत्यादय एव विग्रहा इति उपसर्जनसंज्ञाविधायकयोः सू(१)त्रयोः काशिकादौ स्पष्टम् । “अनेकमन्यपदार्थे” (अष्टा०सू०२-२-२४) इति सूत्रे “तत्पुरुषे तुल्यार्थे” (अष्टा०सू०६-२-२) इति सूत्रे च भाष्यकै- यटयोरपि स्पष्टमेवेदम् । तथाच प्रथमान्तेन विग्रह इति नियमाभावा- त्सर्वत्र त(२)त्पुरुषोऽपि द्वितीयादिविभक्तयः पञ्चकपक्षवदेवोपपादन्याया इति तत्त्वम् । राजपुरुषादौ सङ्ख्याया इवोत्तरपदार्थप्रविष्टसम्बन्धस्या- पि वृत्तावप्रवेशाच्च । प्रयोगाहं विग्रहे परं समासोत्तरविभक्तिसजा- तीयायाः प्रयोगात् । पचन्तीति पाचका इतिवत् । वाक्यसंस्कारपक्षे ऽलौकिकेऽपि बहुवचनवत्पृष्ठ्यादिकल्पनाया एव न्याय्यत्वादिति दिक् ।

यत्तु वृत्तावुदाहृतं शुकस्य माराविकस्य, राज्ञः पाटलिपुत्रकस्ये- ति । तत्र मारावीत्याहेति माराविकः । “तदाहेतिमाशब्दादिभ्य उपसं- ख्यानम्” (का० वा०) इति ठक् । शब्दनक्रियायाः प्रतिषेधको मा- राविकः । माराविदस्येति पाठे माराविशब्दं ददातीति स एवार्थः । एवं पाटलिपुत्रे भवः पाटलिपुत्रकः । इत्थं स्थिते यदीह समासोऽनिष्टः स्या- त्तेदं समानाधिकरण इत्यस्योदाहरणं सङ्गच्छेत । समास इष्ट इति तु वदता तेनैव नेदमुदाहर्तुं युक्तम् ।

यत्तु तत्रैव समर्थितम्-षष्ठीसमासे सति पूर्वनिपातानियमः स्यात् । विशेषणसमासे तु विशेषणस्यैव पूर्वनिपातः सिध्यतीति । तत्रेदं वक्त- व्यम् । विशेषणविशेष्यभावस्याव्यवस्थितत्वेनातिप्रसङ्गे प्राप्ते ‘अप्रधा- नमुपसर्जनम्, आर्थं चाप्राधान्यम्’ इत्यादिकमेण द्रव्यगुणादिशब्दे- षु व्यवस्थेयते । तच्च षष्ठीसमासेऽपि सुवचमिति किन्तन्निषेधेनेति ! वस्तुतस्तु गोधेनोः भोज्योष्णस्य कुमारश्रमणाय गो गर्भिण्या इत्यादी- नीहोदाहार्याणि । पोटायुवतीत्यादीनां विभक्त्यन्तरे विशेषणसमासं बाधित्वा चरितार्थानां परेण षष्ठीसमासेन बाधापत्तेः । तथाच विशे- षणस्यैवोपसर्जनतया पूर्वनिपातेऽप्यनिष्टं स्पष्टमेवेत्यवधेयम् ।

केन च पूजायाम् (अष्टा०सू०२-२-१२) । “मतिबुद्धि” (अष्टा०सू० ३-२-१८८) इति सूत्रेण विहितो यः कस्तदन्तेन षष्ठी न समस्यते । स हि पूजायां वर्तमानाद्विहित इत्येतावन्मात्रेण पूजाग्रहणं तस्योपल- क्षणं गृह्येव काफः । तेन मतिबुद्ध्यर्थाभ्यां कस्याप्ययं निषेधः । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा । “कस्य च वर्त्तमाने” (अष्टा०सू०२-३-६७) इति

- (१) “प्रथानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्” (अष्टा०सू०१-२-४३)  
 “एकविभक्तिचापूर्वनिपाते” (अष्टा०सू०१-२-४४) इति सूत्रयोरित्यर्थः  
 (२) ‘तत्पुरुषोपरि’ आदर्शः ।



षष्ठी । कथन्तर्हि “कलहंसराममहितः कृतवान्” इति भट्टिः ? “मह पू-  
जायाम्” (भवा०प०७३०) रामस्य महित इत्यर्थः तथा ‘राजपूजितः’  
इत्यादि । अत्राहुः । ‘केन च पूजायाम्’ (अष्टा०सू०२-३-१२) इत्यादिषु  
कारकषष्ठ्या एव समासो निषिध्यते । यदा तु कर्त्रादेरेव शेषत्वविव-  
क्षया षष्ठी तदा भवत्येव समासः । स्वरे च विशेषः—कारकषष्ठ्या स-  
मासे हि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः, शेषषष्ठ्या तु समासान्तोदात्तत्वमि-  
ति । अनुन्यासकारस्त्वाह—यदा वर्तमाने कस्तदा षष्ठी समासनिषेध-  
श्च । यदा तु भूते कस्तदा कर्तरि तृतीया । यथा “पूजितो यः सुरासु-  
रैः” इति । तस्याः “कर्तृकरणे कृता बहुलम्” (अष्टा०सू०२-१-३२)  
इति समासः । न च तत्ककौण्डिन्यन्यायाद्वर्त्तमाने क इह भूते कं बा-  
धते इति वाच्यम् (१) तेनेत्यधिकारे उपज्ञातइति निर्देशेनाबाधज्ञाप-  
नात् । न च ज्ञा(२)नार्थमात्रविषयकं ज्ञापकम्, उदाहृतप्रयोगानुरोधेन  
सामान्यविषयकत्वस्यैव न्याय्यत्वादिति ।

अधिकरणवाचिना च (अष्टा०सू०२-२-१३) केन षष्ठी न समस्यते  
इदमेषामासितं गतं भुक्तं वा । “कोऽधिकरणे च” (अष्टा०सू०३-४-७६)  
इति कः । “अधिकरणवाचिनश्च” (अष्टा०सू०२-३-६८) इति कर्तरि  
षष्ठी । “अधिकरणे च” इत्येव सिद्धे वाचिग्रहणं स्पष्टार्थम् । कथं तर्हि  
‘किवृत्तं’ ‘यद्वृत्तम्’ इति ? अत्राहुः—नायमधिकरणे कः, किन्तु भावे ।  
किमो वृत्तं यस्मिन्निति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । यद्वा, कर्तरि कः ।  
किमो वृत्तं निष्पन्नमिति च विग्रहः ।

कर्मणि च (अष्टा०सू०२-२-१४) । चकार इतिशब्दार्थः । कर्मणी-  
तिशब्दमुच्चार्य विहिता परिशोषिता वा या षष्ठी सा न समस्यते । चि-  
त्रज्ञान्दोहोऽगोपेन । यद्यनेन ‘कर्मषष्ठीमात्रं न समस्यते’ इत्यभिप्रेतं स्या-  
त्तर्हि तृजकाभ्यां(३)निषेधं नारभेत । यत्र हि कर्तरि तृजकौ तत्र कर्मणिष-  
ष्ठ्या भाव्यम् । ‘शब्दानुशासनम्’ इत्यादौ यथा न समासनिषेधस्तथोक्तं  
पस्पशायाम् ।

( १ ) “तेनैकदिकू” (अष्टा०सू०४-३-११२) इति तृतीयाधिकारे  
“उपज्ञाते” (अष्टा०सू०४-३-११५) इति तृतीयान्ताद् उपज्ञातेऽर्थे शैषि-  
कप्रत्ययविधायकेन निर्देशेनेत्यर्थः । अन्यथा भूते कस्य बाधे षष्ठ्या  
एव लाभादिति भावः ।

( २ ) ज्ञानार्थकधातुभ्य एव प्राप्तस्य भूते कस्य वर्तमानकेना-  
बाध इति यावत् ।

( ३ ) “तृजकाभ्यां कर्तरि” (अष्टा०सू०२-२-१५) इति यावत् ।



तृजकाभ्यां कर्त्तरि (अष्टा०सू०२-२-१५) । कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः । कर्त्तरीत्यकस्यैव विशेषणं न तु तृचोपि, अव्यभिचारात् । अपां स्रष्टा । पुराभ्येत्ता । वज्रस्य भर्त्ता । यद्यपि भर्तृशब्दो याजकादिषु पठितस्तथापि रुढेर्बलस्यस्त्वात्पतिपर्यायस्य तत्र ग्रहणम् । यौगिकस्य तु निषेध एव । ओदनस्य पाचकः । कर्त्तरि किम् ? इक्षूणां भक्ष-  
णमिभ्रुभक्षिका । “पर्यायार्हणोत्पत्तिषु ण्वुच्” (अष्टा०सू०३-३-१११) धात्वर्थानिर्देशे ण्वुल्वा(१) । कथं तर्हि घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधा-  
तुश्च कलहः ? अत्र न्यासकारः-तृन्नन्तमेतत् । “न लोक” (अष्टा०सू०-२-३-६९) इति षष्ठीनिषेधस्त्वन्तित्यः, इयकाभ्यामिति वक्तव्ये तृचः  
सानुबन्धकस्योपादानाज्ज्ञापकात् । कैयटस्तु शेषषष्ठ्या समास इत्याह ।  
“जनिकर्तुः प्रकृतिः” (अष्टा०सू०१-४-३०) “तत्प्रयोजको हेतुश्च” (अष्टा०  
सू०१-४-५४) इति ज्ञापकादनित्योऽयं प्रतिषेध इति तु बहवः ।

कर्त्तरि च (अष्टा०सू०२-२-१६) । कर्तृषष्ठ्या अकेन न समासः । भवतः शायिका । “पर्यायार्हण” (अष्टा०सू०३-३-१११) इति ण्वुच् । पूर्वत्र द्वन्द्वेन निर्दिष्टोऽपि तृच् नेहानुवर्त्तते, तद्योगे कर्तुरभिहिततया कर्तृषष्ठ्या असम्भवात् ।

नित्यं क्रीडाजीविकयोः (अष्टा०सू०२-२-१७) । एतयोरर्थयोर-  
केन नित्यं षष्ठी समस्यते । उद्दालकपुष्पभञ्जिका । क्रीडाविशेषस्येयं  
संज्ञा । “संज्ञायाम्” (अष्टा०सू०३-३-१०२) इति आवे ण्वुल् । पुष्पा-  
णामिति कर्मणिषष्ठी । जीविकायाम्-दन्तलेखकः । तत्र क्रीडायां विक-  
ल्पे प्राप्ते जीविकायां ‘कर्त्तरि च’ (अष्टा०सू०२-२-१६) इति निषेधे प्राप्ते  
वचनम् । जयादित्यस्तु “तृजकाभ्याम्” (अष्टा०सू०२-२-१५) इति सूत्रे कर्त्त-  
रीत्येतदनुवृत्तायाः षष्ठ्या विशेषणम् । तृ(२)जुत्तरार्थ इत्युक्त्वा “कर्त्तरि  
च” (अष्टा०सू०२-२-१६) इति सूत्रे कर्तृग्रहणं तृजकयोर्विशेषणतया व्या-  
ख्याय “नित्यं क्रीडा” (अष्टा०सू०२-२-१७) इति सूत्रे अकप्रत्ययमेवोदा-  
जहार । तत्रेदं वक्तव्यम्, प्रथमसूत्रे कर्तृग्रहणं तृजकयोरेव विशेषणं  
युक्तं, तयोः श्रुतत्वात्; न तु षष्ठ्याः । एवञ्च तृजुत्तरार्थ इत्यपि न क-  
ल्प्यम् । अकस्यैव चोत्तरत्रानुवृत्तिर्न तु तृचः, असम्भवात् । तथाच  
सूत्रद्वयस्य व्यत्यासेनार्थ उचित इति । वामनस्तु “अके जीविकार्थे”

(१) “धात्वर्थानिर्देशे ण्वुल्बक्तव्यः” ( का०वा० ) इत्यनेनेत्यर्थः ।

(२) ‘तृच्प्रत्ययेन कर्तुरभिधाने तद्योगे कर्तृषष्ठ्या असम्भवात्’  
इत्यादिः ।



(अष्टा०सू०६-२-७३) इति सूत्रे अके इति किम् ? रमणीयकर्तेति जीवि-  
कार्यां तृचं प्रत्युदाजहार । तस्यायमाशयः-मा भूत्कीडायां तृच्, लक्ष-  
णाभावात् । जीविकायान्तु “ण्वुल्तृचौ (अष्टा०सू०३-१-१३३) इति  
ण्वुलि तृजपि सुलभ ण्वेति । एतन्मते “नित्यं कीडा” (अष्टा०सू०२-२-  
१७) इत्यत्र तृजग्रहणासम्बन्धशङ्कावारणार्थं तृजुत्तरार्थं इत्यादि कुस्-  
ष्ट्यादरणमित्याहुः ।

कुगतिप्रादयः (अष्टा०सू०२-२-१८) । कुशब्दो गतिसंज्ञाः प्रादयश्च  
समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुः पापार्थे । कुपुरुषः । नित्यसमासविषय-  
स्याप्यस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरार्थमव्ययत्वमिष्यते । तथा च वार्त्तिकम्-  
“अव्यये नञ्कुनिपातानाम्” (का०वा०) इति । तस्मादयं स्व-  
रादिषु बोद्धव्यः । स एव चेह गृह्यते, न तु पृथिवीवृत्तिः ग(१)त्यादि-  
साहचर्यात् । गतिः-ऊरीकृत्य । प्रादिग्रहणमगत्यर्थम् । तद्विषयविभा-  
गार्थानि तु बहूनि वार्त्तिकानि । तथाहि, दुर्निन्दायाम्-दुः पुरुषः । स्व-  
ती पूजायाम्-सुपुरुषः, अतिपुरुषः । आङीषदर्थे-आपिङ्गलः । प्रायिकं  
चैतदुपाधिवचनम् । अन्यथा “ईषदर्थे च” (अष्टा०सू०६-३-१०५) इति  
कोः कादेशविधानमनुपपन्नं स्यात् । कोष्णम् । दुःकृतम् । दुरत्र कृच्छ्रार्थे ।  
अनभिधानात्तु भूते खल् न भवति । सुष्टुतम् । सुशब्दोऽतिशयः, न  
तु पूजायाम् । अत एवोपसर्गनिबन्धनं षत्वम् । अतिस्तुतम् । “अतिर-  
तिक्रमणे च” (अष्टा०सू०१-४-९५) इति क(२)र्मप्रवचनीयत्वम् ।

प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया । वृत्तिविषये गताद्यर्थवृत्तयः प्रादयो  
गतित्वाभावेऽपि प्रादिग्रहणेन समस्यन्ते इत्यर्थः । प्रगत आचार्यः प्रा-  
चार्यः । प्रान्तेवासी ।

अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया । अतिक्रान्ता मालामतिमालः ।

अवादयः कृष्टाद्यर्थे तृतीयया । अवकुष्टः कोकिलया अवकोकिलः ।

पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या । परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः ।  
अलं कुमार्यै अलंकुमारि । नित्यसमासत्वेऽपि चतुर्थ्याविधानसामर्थ्या-  
त्पक्षे वाक्यमिति राक्षितः । एतेन “एकविभक्ति चापूर्वनिपाते” (अष्टा०-

(१) अद्रव्यार्थकेत्यादिः ।

(२) ‘कर्मप्रवचनीयत्वाभावः’ इति पाठः । तत्त्वबोधिण्याम् “अति-  
रतिक्रमणे च” (अष्टा०सू०१-४-९५) इति सूत्रे अन्ये तूदाहरन्ति-“अति-  
सिक्तम् अतिस्तुतमिति” । इत्युक्तेः षत्वाभावाच्च कर्मप्रवचनीयसंज्ञा नि-  
र्वाधाऽत्रेति चिन्त्यम् ।



सू०१-२-१४४) इति सूत्रे 'अलंकुमारिः' इति भाष्यं "पर्यादयोऽलानाद्यर्थे इति समासः" इति कैयटवचनं च व्याख्यातम् । तदेव भाष्यमनित्य-  
तायां ज्ञापकमिति वास्तु । वस्तुतस्तु नेहानेन समासः, अलमोऽप्रादि-  
त्वात् । प्रादिसमासस्य त्वयं प्रपञ्च इत्याकरः । किन्तु "द्विगुप्राप्तापन्ना-  
लम्पूर्व" (का०वा०) इत्यनेन ज्ञाप्यमानो ऽलम्पूर्वस्तत्पुरुषः पृथग्गतिग्रह-  
णात्पर्याप्त्यर्थेनापि भवन्नभिधानानुरोधाच्चतुर्थ्यन्तेनैव भवति । तस्य  
चानित्यसमासत्वं निर्बाधमेवेत्यवधेयम् ।

निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या । निष्क्रान्तः कौशाभ्या निष्कौशा-  
म्बिः । प्रादिग्रहणस्य अगत्यर्थत्वादतिप्रसङ्गे प्राप्ते कर्मप्रवचनीयानां  
प्रतिषेधो दक्तव्यः । वृक्षम्प्राति विद्योतते विद्युत् । कथन्तर्हि अधीत्येति ?  
इह हि "अधिपरी अनर्थकौ (अष्टा०सू०१-४-९३) इति कर्मप्रवचनीय-  
त्वम् । उच्यते, "अध्यापकधूर्तैः" (अष्टा०सू०१-१-६५) इतिनिर्देशा-  
दनित्यः प्रतिषेधः । अत एव 'सुस्तुतम्' 'अतिस्तुतम्' इति षत्वाभावे  
ऽपि समास उदाहृतः । "स्वती पूजायाम्" (का०वा०) इति वचनाद्वा  
तत्सिद्धिः ।

उपपदमतिङ् (अष्टा०सू०२-२-१९) । उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं  
समस्यते । अतिङन्तश्च समासः । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । इह  
कुम्भ अस् कार इत्यलौकिकं प्रक्रियावाक्यम् । लडर्थाशाधिक्येऽप्य-  
दूरविप्रकर्षेण तूक्तं लौकिकं वाक्यं बोध्यम् । अतिङ् किम् ? मा भवान्  
भूत् । "माङ्गिलुङ्" (अष्टा०सू०३-३-१७५) इति सप्तमीनिर्देशान्माङ्ग-  
पपदम् । ननु सुपेत्यधिकारात्तिङन्तेन न भविष्यति ? सत्यम्, तन्नि-  
वृत्तिरनेन ज्ञाप्यते । तत्फलं त्वनुपदमेव स्फुटीकरिष्यामः । प्रथमान्तं  
तु सुप्रग्रहणमिहानुवर्तते एव । अत एव 'राजदर्शी' इत्यादौ पूर्वपदे  
नलोपादिपदकार्यं सिध्यति । सुसुपेतीह नानुवर्तते इति भाष्यवृत्त्या-  
दिग्रन्थास्तु मिलितं नानुवर्तते इत्येवंपराः । अतिङिति नोपपदस्य  
विशेषणं किन्तु समासस्येति यद्यपीह भाष्ये न स्पष्टं, तथापि "अने-  
वकलूप्यमर्षयोः" (अष्टा०सू०३-३-१४५) इति सूत्रे भाष्ये एव स्पष्टम् ।  
तत्र हि किंवृत्तस्यानधिकारादकिंवृत्तग्रहणानर्थक्यमित्युक्त्वा उपप-  
दसञ्ज्ञार्थं तर्हीत्याशङ्क्यातिङिति समासप्रतिषेधात्सञ्ज्ञानार्थक्यमिति  
सिद्धान्तितम् । एवं पूर्वसूत्रेपि गतिग्रहणं पृथक्कृत्य तेनाप्यतिङ्ग्रहणं  
सम्बन्धनीयम् । गतिः समस्यते अतिङन्तश्च समासः स्यादिति । तेन  
'प्रयवनि' इत्यादौ तेङन्तेन समासो न । अतिङ्ग्रहणाच्च सुपेति तृती-  
निवर्तत । तथाच "गर्गनकारकापपदानां कृद्भिः सह समासवचनं



प्राक् सुबुत्पत्तेः” (प०भा०) इति प्राचां परिभाषा एकदेशानुमतिद्वारा सामान्यापेक्षज्ञापकभूतेन अनिद्ग्रहणेन लभ्यते । गतीनां कारकाणामुपपदानां च कृद्भिः सह यः समासः स उत्तरपदात्सुबुत्पत्तेः प्रागेव कार्य इत्यर्थः । पूर्वपदन्तु सुबन्तमेवेत्युक्तम् ।

गतीनां तावत्—व्याजिघ्रतीति व्याघ्री । “आतश्चोपसर्गे” (अष्टा० सू०३-१-१३६) इति कः । “प्राघ्राध्मा” (अष्टा० सू०३-१-१३७) इति श-प्रत्ययस्तु न भवति “जिघ्रतेः संज्ञायां प्रतिषेधो वक्तव्यः” इत्युक्तेः । व्याङ्गिघ्रशब्देन गतिसमासः । स च यदि घ्रशब्दस्य सुबन्ततामपेक्षेत तर्हि सुबुत्पत्तये संख्याकर्मादियोगो विवक्षणीयः । तद्योगाच्च प्रागेव लिङ्गयोगः “स्वार्थमभिधाय” इत्यादिन्यायात् । ततश्च लिङ्गनिमित्तः प्रत्ययो भवन् टावेव स्यात् न तु ङीष्, घ्रशब्दमात्रस्य अजातिवाचि-त्वात् । ततश्च व्याङ्गिघ्रशब्देन समासः । ततो व्याघ्राशब्दस्य जातिवा-चित्वेऽप्यनकारान्तत्वाज्जातिलक्षणो ङीष् न स्यात् । सुबुत्पत्तेः प्रागेव जायमानस्तु समासो लिङ्गयोगानपेक्षत्वेन अन्तरङ्गवान्भवति । ततो ङीष् पूर्वपदस्य तु सुबन्तत्वात्पदकार्याणि स्युरेव । ‘निगतः’ इति रूपं ‘संयन्ता’ इति परसवर्णविकल्प इत्यादि ।

कारकाणाम्—अद्वैः क्रीता । अल्पैरग्नैर्लिप्ता । “कर्तृकरणे कृता बहुलम्” (अष्टा० सू०२-१-३२) इति समासः । स यद्युत्तरपदस्य सुबन्त-स्य स्यात्तर्हि पूर्ववद्वाप् स्यात् । ततश्च “क्रीतात्करणपूर्वात्” (अष्टा० सू० ४-१-५०) “क्तादल्पाख्यायाम्” (अष्टा० सू० ४-१-५१) इति ङीष् न स्यात्, अत इत्यधिकारात् । वचनसामर्थ्यात्स्यादिति चेत्तर्हि वाक्याप्रस्थायां स्यात् पूर्वशब्दस्य व्यवस्थावचनत्वसम्भवात् । अत इत्यधिकारो वा व्यवच्छिद्येत । तथाच—

सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।

इति भट्टिप्रयोगो न सिध्येत् । सिद्धान्ते तु “कर्तृकरणे “कृता” (अष्टा० सू०२-१-३२) इत्यत्र बहुलग्रहणात्कवचित्सुबन्तेन समासः । अतो न ङीष् ।

उपपदानाम्—कच्छेन पिबतीति कच्छपी । व्याघ्रीवत् । सु(१)पीति योगविभागात्क इत्यादि । यस्वतिद्ग्रहणमुपपदविशेषणमिति । तन्न, तथा सति प्रथामान्तसुबुग्रहणस्य निवृत्त्यापत्त्या बहुविप्लवापत्तेः एतेनातिङ् किम् ? एधानाहारको व्रजतीति प्रत्युदाहरणमपि प्रत्युक्तम् । यदपि कौ-

( १ ) “सुपि स्थः” (अष्टा० सू०३-२-४) इति सूत्रे ।



सु(१)यां “कुगति” (अष्टा०सू०२-२-१८) इति सूत्रे उक्तम्--“अत्र सु-  
पुपेभ्यननुवृत्तेस्तिङाऽपि समासः, ऊरीकरोति” इत्यादि । तदस्य-  
सत्, तत्र शेषीकृतेनातिङ्ग्रहणनैव विरोधात् । तिङ्समासस्तु सहेति  
योगविभागबललभ्यो वार्त्तिकोक्तविशेषविषयश्चाह सञ्ज्ञेति । प्रानेव  
प्रपञ्चितम् ।

अभेदाव्ययेन (अष्टा०सू०२-२-२०) । अभेव तुल्यविधानं यदुपपदं  
तदेवाव्ययेन सह समस्यते । स्वादुक्कारं भुङ्क्ते । सम्पन्नङ्कारम् । लवण-  
ङ्कारम् । “स्वादुमिणमुल” (अष्टा०सू०३-४-२६) । स्वादुमीत्यत एव  
निपातनात्पूर्वपदस्य मान्तात्वम् । स्वादुमीत्यर्थग्रहणम् । सम्पन्नलवण-  
शब्दावपि स्वादुपर्यायौ । येन वाक्येनाभेद केवलो विधीयते न तु प्रत्य-  
यान्तरसहितः, तस्मिन्, वाक्ये सप्तमीनिर्देशबलेन यस्योपपदसंज्ञा तदा  
मैव तुल्यविधानमित्युच्यते । सूत्रे च तुल्यविधानमित्यप्याहियते ।  
नियमाङ्गभूतस्वभावकारो नियमस्वभावादेव लभ्यते न तु सूत्राकृता । अ-  
भेव च यस्तुल्यविधानं यस्य प्रत्ययान्तरं प्रति उपपदत्वमेव नास्तीति  
अव्ययान्तरेण स समासो नाशङ्कनीयः । सूत्रस्य प्रयोजनस्तु “कालस-  
मयवेलासु तुमुन्” (अष्टा०सू०३-३-१६७) ‘कालः समयो वेला वा भो-  
क्तुम्’ इत्यत्र समासनिवृत्तिः । अभेवेति किम् ? अग्नेभोजम्, अग्नेभुक्त्वा,  
“विभाषाऽग्नेप्रथमपूर्वेषु” (अष्टा०सू०३-४-२४) इति क्त्वाणमुलौ । अभा-  
वान्येन च तुल्यविधानमेतम् । अव्ययेनेति किम् ? कु(२)म्भकारः । अ-  
स्मति ह्यव्ययग्रहणे अभेव यस्तुल्यविधानं तदेव समस्यते । न च पूर्व-  
सूत्रस्यानवकाशत्वादव्ययविषय एव नियम इति वाच्यम्, तथासत्यमैव  
नियमापत्तेः । अमन्तनोपपदस्य यस्समासः सोऽभेव तुल्यविधानस्यति ।  
तथा च ‘अग्नेभोजम्’ इत्यत्र मा भूत् । ‘अग्नेभुक्त्वा कालो भोक्तुम्’  
इत्यत्र तु स्यादेव ।

तृतीयाप्रभृत्यान्यन्यतरस्याम् (अष्टा०सू०२-२-२१) । “उपदंशस्तृती-  
यायाम्” (अष्टा०सू०३-४-४७) इत्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा  
समस्यन्ते । उभयत्र विभाषेयम् । यदभेव तुल्यविधानं तस्य प्राप्ते, यथा  
“उपदंशस्तृतीयायाम्” (अष्टा०सू०३-४-४७) इति । यत्पुनरमा चान्येन  
च तुल्यविधानं तस्याप्राप्ते, यथा “अव्ययेऽथवाभिप्रेताख्याने कृजः क्त्वा-  
णमुलौ” (अष्टा०सू०३-४-५९) इति । मूलकोपदंशम्भुङ्क्ते, मूलकेनो-  
पदंशम् । उच्चैःकारमाचष्टे । इह समासपक्षे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः

( १ ) प्रक्रियाकौमुद्याम् ।

( २ ) अत्र समासो न स्यादिति भावः ।



“मादिर्णमुल्यन्यतरस्याम्” (अष्टा०सू०६-१-१९४) इत्याद्युदात्तात्त्वम् । असमासपक्षे तु उच्चैरित्यन्तोदात्तम्, स्वरादिषु तथापाठात् । कादमित्याद्युदात्तम् । अमेत्ये(१)व । “पर्यासिवचनेऽवलमर्थेषु” (अष्टा०सू०३-४-६६) पर्यासो भोक्तुम् ।

क्त्वा च (अष्टा०सू०२-२-२२) । क्त्वाप्रत्ययेन सह तृतीयाप्रभृतीन्नुपपदानि वा समस्यन्ते । “अव्ययेयथाभिप्रेतास्थाने” (अष्टा०सू०३-४-५९) इति क्त्वाप्रत्ययः । समासपक्षे ल्यप् । उच्चैःकृत्वा । उच्चैःकृत्वा । तृतीयाप्रभृतीनीत्येव । अ(२)लङ्कृत्वा । अलङ्कृत्वा ।

शेषो बहुव्रीहिः (अष्टा०सू०२-२-२३) । अधिकारोऽयम् । दोषकिम् ? उन्मत्तगङ्गम् । “प्राक्कडात्परङ्कार्यम्” इति पा(३)ठे परत्वाद्बहुव्रीहिसंज्ञा मा भूत् । उपयुक्तादन्य शेषः । शिष असर्वोपयोगे (सु०उ०१४१८) । कर्मणि घञ् । येषां पदानां यस्मिन्नर्थेऽव्ययीभावादिसंज्ञा नोक्ता स बहुव्रीहिरित्यर्थः । एकसंज्ञाधिकारे तु त्रिकतः शेषो प्राणः । तत्राहिसप्तसु सुपां त्रिकेषु यस्य त्रिकस्य शृङ्गिप्रादिकया समासो नोक्तः सः शेषः । प्रथमेति यावत् । ततश्च प्रथमान्तानां बहुव्रीहिरित्यर्थस्तमानाधिकरणानां भवति । कण्ठेकाल इत्यादौ तु “सप्तमीविशेषणम्” (अष्टा०सू०२-२-३५) इति व्यापकारात्सद् इति ।

॥ इति श्रीशब्दकौस्तुभे द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीये पादे प्रथममाहिकम् ।

अनेकमन्यपदार्थे (अष्टा०सू०२-२-२४) । अनेकं सुवर्तमानं पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः । पदेन प्रकृत्यर्थोक्तसर्जनः प्रत्ययार्थोऽभिधीयते इति स्थिते त्रिकतः शेषस्त्वोक्तया अप्रथमाविभक्त्यर्थे बहुव्रीहिरिति फलितम् । त्रिकतः शेषो हि प्रथमा, तदन्यपदार्थश्च कर्मादिरिति । प्राप्तमुदकं च प्राप्तोदको प्राणः । उदककर्तृकप्राप्तिकर्माभूत इत्यर्थः । यद्यपि कप्रत्ययार्थस्य कर्तृधात्वर्थे प्रति विशेष्यतोचिता तथापि व्यपेक्षावादिभिरगत्या समासे भिन्नैव व्युत्पत्तिः स्वीकरणीया । सिद्धान्ते तु एकार्थीभावा-

(१) एतदग्रे ‘नेह’ इति शेषः ।

(२) अत्रोभयत्रापि “अलङ्कृतवोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा” इति क्त्वाप्रत्ययः । इदं सूत्रं च “उपदंशस्तृतीयायाम्” इत्यतः पूर्वमिति न तृतीयाप्रभृतित्वमिति बोध्यम् ।

(३) “प्राक्कडारात्समासः” इति सूत्रे इत्यर्थः ।



भ्युपगमात्सर्वं सुस्थमित्युक्तम् । ऊ(१)हरथोऽनङ्वान् । उपहतपशू रु-  
द्रः । उद्धृतौदना स्थाली । चित्रगुः । वीरपुरुषको ग्रामः । प्रथमार्थे तु  
न भवति-वृष्टे देवे गतः । अनेकोक्तेर्वहूनामपि चित्राजरतीगुः । त-  
न्वीदीर्घाजङ्घः । इह प्रथमो न पुंवत्, उत्तरपदत्वाभावात् । द्वितीयो-  
ऽपि न, अ(२)पूर्वपदत्वात् । उत्तरपदे नित्यसमासस्य तु नायं विषय  
इत्युक्तम् । एतच्च केषाञ्चिन्मतम् । परमार्थस्तु बाष्पभाष्यादिपर्यालो-  
चनया नेह पूर्वपदमाक्षिप्यते । “आनङ् क्रनः” (अष्टा०सू०६-३-२५)  
इत्यत्र यथा । इष्टसिद्धयनुरोधेन पूर्वपदं कचिदाक्षिप्यते न तु सर्वत्रेति  
“भोजः सहोभ्यः” (अष्टा०सू०६-३-३) इति सूत्रे हरदत्तेनोक्तत्वाच्च ।  
तेनोपान्त्यस्य पुंवदेव-चित्राजरद्गुरित्यादि । अत एव चित्राजरत्यौ  
गावौ यस्येति विग्रहेऽप्येवमेव । अदृष्टसदृशप्रजामिति तु कर्मधारयो-  
त्तरपदो द्वयोरेव बहु ३) व्रीहिः । अपि च परमस्वधर्मः । स्वशब्दस्य नि-  
रपेक्षपूर्वपदत्वाभावात्ततो धर्मशब्दः परो न तु केवलादिति नानिच् ।  
कर्मधारयपूर्वपदे तु भवत्येवेति वक्ष्यते । किञ्च—

सुसूक्ष्मजटकेशेन सुनताजिनवाससा ।

समन्तशितिरन्ध्रेण द्वयार्वृत्तौ न सिध्यति ॥

अयं श्लोकः समर्थसूत्रे भाष्ये पठितः । सुष्ठु सूक्ष्मा जटाः केशा  
यस्येति चतुर्णां बहुव्रीहौ “ऊचापोः संज्ञालन्दसार्वहुलम्” (अष्टा०  
सू०६-३-६३) इति बहुलवचनाद्भस्वत्वम् । यद्वा जटावन्तो  
जटाः, अर्शआद्यच् ; जटाः कृता जटा इति वा “तत्करोति” (ग०  
सू०) इति ण्यन्तादेरच् । एवं सुष्ठु नतम् अजिनं वास आच्छादनं  
यस्य तेन, समन्तानि शितानि रन्ध्राणि यस्येति विग्रहः । द्वयार्वृत्तौ  
हि केशवासो रन्ध्रेभ्यः पूर्व (४) उदात्तः स्यात् । इष्यते तु सुसमन्तयोः  
प्रकृतिस्वर इति भा(५)वः । एवं ‘नीलोज्ज्वलवपुः’ इहापि नीलशब्दस्य

( १ ) ऊढः रथो येन, उपहतः पशुः यस्मै, उद्धृतमोदनं यस्मात्,  
चित्रा गावो यस्य, वीराः पुरुषा यस्मिन्निति विग्रहाः ।

( २ ) पूर्वपदत्वाभावादित्यर्थः ।

( ३ ) सदृश प्रजा सदृशप्रजा, अदृष्टा सदृशप्रजा यस्येति रूपः ।

( ४ ) पूर्वं त्रयाणां कर्मधारयेण पश्चाद्बहुव्रीहौ समासे “बहुव्रीहौ  
प्रकृत्या पूर्वपदम्” इति पूर्वपदस्य प्रकृतिस्वर “समासस्य” इति सूत्रे-  
ण विशिष्टस्यैवान्तोदात्ततया केशवासोरन्ध्रेभ्यः पूर्व एवोदात्तः स्यात् ।

( ५ ) सर्वेषां युगपदेकस्मिन्नेव बहुव्रीहौ समासे तु आद्ययोरुदाह-  
रणयोः सौरन्त्ये समन्तस्य पूर्वपदत्वेन तयोरेव स्वर इति भावः ।



प्रकृतिस्वरः । न च 'चित्रगुः' इत्यत्र उत्तरपदस्याप्युपसर्जनसंज्ञार्थम् ।  
नेकग्रहणमिति वाच्यम्, प्रथमानिर्दिष्टत्वं विनाऽपि "एकविभक्ति"  
(अष्टा०सू०१-२-४४) इत्यनेन तत्सिद्धेः, प्रधानस्यान्यपदार्थस्य नाना-  
विभक्तियोंऽपि वर्तिष्यतीति प्रथमान्तत्वात् । न चैवं 'राजकुमारो  
पश्य' इत्यादावप्यतिप्रसङ्गः, तत्र द्वितीयाद्यन्तेनापि कुमारीशब्देन वि-  
ग्रहाभ्युपगमात् ।

अन्यग्रहणं किम् ? बहुव्रीहितत्पुरुषयोर्विषयविभागो यथा विज्ञा-  
येत । स्वपदार्थे हि सावकाशं तत्पुरुषं परत्वाद्व्यपदार्थं बहुव्रीहिर्वा-  
धते । असति त्वन्यग्रहणे 'कण्ठेकालः' इत्यादौ व्यधिकरणपदे बहूनां  
समुदाये च सावकाशं बहुव्रीहिं स्वपदार्थं इवान्यपदार्थेऽपि 'नीलोत्प-  
लं सरः' इत्यादौ समानाधिकरणे तत्पुरुषो बाधेत । पदग्रहणं किम् ?  
ग्राहवती नदी । इह हि 'तत्र मा स्नासीत्' इति वाक्यार्थो गम्यते ।  
अर्थग्रहणं किम् ? यावता पदे पदान्तरस्य वृत्त्यसम्भवादेव पदार्थं भ-  
विष्यति । सत्यम् । कृत्स्ने पदार्थे यथा स्यात् । अन्यथा 'चित्रगुः' इति  
षष्ठ्यर्थसम्बन्धमात्रपरं स्यात् । तथाच देवदत्तादिभिः सामानाधिक-  
रण्यं न स्यात् ।

समानाधिकरणानामेव बहुव्रीहिः, त्रिकतः शेषस्योक्तत्वात् । तेनेह  
न-१श्चभिर्भुक्तमस्य । 'पञ्च भुक्तवन्तोऽस्य' इत्यादौ तु न भवत्यन-  
भिधानात् ।

अव्ययानां वाच्यः ॥ उच्चैर्मुखः । उच्चैःशब्दस्याधिकरणप्रधानत्वा-  
द्व्यधिकरणयाद्वचनमित्याहुः । त्रिकतः शेष इत्युक्तीत्या प्रथमान्तस्या-  
पेक्षितत्वात्तस्य चेहापि सत्त्वाच्छक्यमकर्तुमिदं वचनम् । अत एव वा-  
क् च दृषत्त्व प्रिया यस्येति त्रिपदबहुव्रीहौ कृते अवान्तरद्वन्द्वो-  
ऽभ्युपगतः ।

प्रादिभ्यो धातुजस्य बहुव्रीहिर्विकल्पः, वा चोत्तरपदलोपः ॥ प्रपति-  
तपर्णः प्रपर्णः ।

नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपः ॥ अविद्यमानपुत्रः अपुत्रः ।  
अस्तिक्षीरादीनामुपसंख्यानमसुबन्तत्वात् ॥ अव्ययत्वात्सिद्धम् ।  
तथाहि । विभक्तिप्रतिरूपकत्वात्त्रिशतसंज्ञा, निपातोऽव्ययमित्यव्यय-  
संज्ञा । इह द्वौ द्वौ अर्द्धद्रोणश्च अर्द्धतृतीया द्रोणा इति व्यवहियते  
तत्र अर्द्धः तृतीयो येषामिति बहुव्रीहिः । उद्भूतावयवभेदः समुदायः  
समासार्थ इति बहुवचनम् । द्रोणशब्दश्च द्रोणयोरर्द्धद्रोणे च लक्षणया  
वर्त्तते इति सामानाधिकरण्यम् ।



संख्ययाऽऽयथासम्प्रदायाधिकसंख्याः संख्येये (अष्टा०सू०२-२-२५) । संख्येयार्थया संख्यया अव्ययादयः समस्यन्ते, स बहुव्रीहिः । दशानां समीपे ये वर्तन्ते ते उपदशाः । नव एकादश वेग्यर्थः । सामीप्यप्राधान्ये स्वव्ययीभाव इत्युक्तम् । उपविशाः । “बहुव्रीहौ संख्येये” (अष्टा० सू०५-४-७३) इति डच् । “ति(१)विंशतेर्द्वि” । आसन्नदशाः । अदुरदशाः । अधिकदशाः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । वाऽर्थेऽयं समासः । ततश्च वैकल्पिकौ द्वौ त्रयश्चेति पञ्च अस्माच्छब्दादुपतिष्ठन्ते । अत एव बहुवचनम् । उक्तं च सैषा पञ्चाधिष्ठाना वागिति । कार्यान्वये हि विकल्पो न त्वेतच्छब्दजन्यबोधविषयत्वेऽपीति भावः । त्रित्रिचतुराः । “च(२)तुरोऽवप्रकरणे द्युपाभ्यामुपसंख्यानम्” इत्यच् । द्विरावृत्ता दश द्विदशाः । अत्र वृत्तौ द्विशब्देन दशत्वावृत्तिगता द्वित्वसंख्योच्यते । ननु द्वित्रा इत्यत्र वार्धः, द्विदशा इत्यत्र सुजर्थश्चान्यपदार्थ इति पूर्वणैव सिद्धम् । न च मत्वर्थे पूर्वयोगः अमत्वर्थार्थं चेदमिति वाच्यम्, प्राप्तोदकादिषु मत्वर्थं विनापि तत्स्वीकारात् । सत्यम्, अन्यपदार्थप्राधान्ये पूर्वयोगः : इह तु वार्थसुजर्थो न प्रधानम् ।

दिङ्नामान्यन्तराले (अष्टा०सू०२-२-२६) । दिङो नामान्यन्तराले वाच्ये समस्यन्ते स बहुव्रीहिः । दाक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशोरन्तरालं दक्षिणपूर्वा । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रं पुंवद्भावो वक्तव्यः” इति भाष्यम् । अत एव “ठक्छलोश्च” (का०वा०) इति वार्तिकस्योक्तिसम्भवः । यद्यपि तत्र छसा साहचर्याद्भवतष्टगेव गृह्यते इति “न कोपधायाः” (अष्टा० सू०६-३-३७) इति सूत्रे कैयटहरदत्ताभ्यामुक्तम् । युक्तं चैतत् । गन्ध्या चरति धावन्त्या चरतीति प्राग्वहतीये ठकि ‘गान्त्रिकः’ ‘धावन्तिकः’ इति यथा स्याद् ‘गान्त्वकः’ ‘धावत्वकः’ मा भूदिति, तथापि भाष्यं दृष्ट्वा वार्तिककृतोऽप्रवृत्तेः । अत एव हि “एकतद्धिते च” (अष्टा०सू०६-३-६२) इति सूत्रस्याप्युक्तिसम्भवो लभ्यते इति दिक् । भवन्मयः । सर्वकाम्यति । सर्वकभायः । सर्वप्रियः इत्यादिवृत्तौ पूर्वभागतया प्रविष्टस्यैवा(३)यं पुंवद्भावः, नत्वन्यस्याः, “मल्लै(४)षाद्वा” इति लिङ्गात् । तेनाकचि एकशेषवृत्तौ च न । सर्विका, सर्वाः ।

(१) ‘इत्यनेन ति शब्दस्य लोपः’ इत्यस्य शेषः ।

(२) “द्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते” इति कौमुदीपाठः ।

(३) “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे” इति भाष्योक्तः ।

(४) “मल्लैषाजाह्लाद्वा” इति सूत्रे ‘एषा’ ‘ह्ला’ इत्यनयोः समासश्च ढक्त्वेऽपि पूर्वभागात्वेन तदप्रविष्टतया तदकरणेन निर्द्देशात् ।



न चान्तरालस्यान्यपदार्थत्वात्पूर्वैर्नैव सि(१)द्धमिति चेत् ? न, अप्रथमार्थं तदित्युक्तत्वात् । वैयधिकरण्याच्च “विभाषा दिक्समासे” (अष्टा०सू०१-१-२८) इत्यत्र प्रतिपदोक्तस्यास्यैव ग्रहणार्थमपीदम् । तेन या पूर्वा सोत्तरा यस्य मुग्धस्य तस्मै—‘उत्तरपूर्वाय’ इत्यत्र न वि(२)कल्पः ।

कवभावार्थं च । तथा हि, “शेषाद्विभाषा” (अष्टा०सू०५-४-१५४) इत्यत्र तन्त्रावृत्त्याद्याश्रयणेन एकः शेष उपयुक्तादन्यः, अपरः शेषाधिकारः तेनोत्तरपूर्वादौ न कप्, इह शेषग्रहणाननुवृत्तेः । द्वितीयशेषग्रहणान्तु ‘प्रियपथः’ प्रियधुरः’ इत्यादौ न कप् । यत्तु “तत्रतेनेदम्” (अष्टा०सू०२-२-२७) इति सूत्रे कैयटेनोक्तं—‘शेषाधिकार एव गृह्यते, न तूपयुक्तादन्यः’ इति । तत्तु तत्रत्यभाष्यस्योक्तिसम्भवमात्रपरम् ।

नामग्रहणं रूढपर्यम् । इह मा भूत्—ऐन्द्राश्च कौबेर्याश्चान्तरालमिति ।

तत्र तेनेदमिति सरूपे (अष्टा०सू०२-२-२७) सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धमित्यर्थं समस्यते कर्मव्यतिहारे स बहुव्रीहिः । इतिकरणाल्लौकिकविवक्षानात्पर्यकात् ग्रहणप्रहरणकर्मव्यतिहारयुद्धानि लभ्यन्ते । गृह्यतेऽस्मिन्निति ग्रहणं केशादि, प्रहरणं दण्डादि, कर्मव्यतिहारः परस्परग्रहणं परस्परप्रहरणं च । कैशेषु केशेषु गृहीत्वा युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि । मुष्टीमुष्टि । दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य युद्धं प्रवृत्तं दण्डादण्डि । “इच्च कर्मव्यतिहारे” (अष्टा०सू०५-४-१२७) इतीच्समासान्तः । तदन्तमव्ययं, तिष्ठद्गुप्रभृतिष्विच्प्रत्ययस्य पाठेन अव्ययीभावत्वात् । “अन्येषामपि दृश्यते” (अष्टा०सू०६-३-१३७) इति पूर्वपदस्य दीर्घः । अत एव ‘मुष्टामुष्टि’ इति प्रामादिकम् । न च सूत्रे इदं शब्दात् प्राक् आकारः प्रश्लिष्यतामिति वाच्यम्, भाष्यकैयटाद्यसम्मतत्वात् ‘अस्यसि’ इत्यादावतिप्रसङ्गाच्च । परिशिष्टे तु “आच्च गुणिनः” इति सूत्रितम् । गुणोऽस्त्यस्येति गुणीर्नामीति व्याख्याय ‘मुष्टामुष्टि’ इत्युदाहृतं, तदपाणिनीयम् ।

सरूपग्रहणं किम् ? हलैश्च मुसलैश्च युद्धम् । इदमपि सूत्रे वैयधिकरण्यार्थं प्रथमाविभक्त्यर्थं एकशेषवाधनार्थं च । कवभावार्थं चेति तु भाष्येऽभ्युच्चयमात्रं, शेषग्रहणस्य प्रागनुक्तपरतायाः पञ्चमे स्पष्टत्वात् ।

( १ ) अस्य ‘समसनम्’ इत्यादि ।

( २ ) सर्वनामसंज्ञाविकल्पः ।



तेन सहेति तुल्ययोगे- (अष्टा०सू०२-२-२८) । सहेत्येतत्तुल्ययोगे वर्तमानं तृतीयान्तेन सह वा समस्यते स बहुव्रीहिः । सपुत्र आगतः । सह पुत्रः । “वोपसर्जनस्य” (अष्टा०सू०६-३-८२) इति समासः । नन्वत्र पिता प्रधानमन्यपदार्थः । सत्यम् । व्यधिकरणयोः प्रथमार्थे च यथा स्यात्, कप् च मा भूदित्येवमर्थं वचनम् । तुल्ययोगेति किम् ?

सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ।

विद्यमानतावाची सहशब्दः । दशसु पुत्रेषु विद्यमानेष्वित्यर्थः । तुल्ययोगवचनं प्रायिकम्, ज्ञापकात् । यत्तु “विभाषा साकाङ्क्षे” (अष्टा०सू०३-२-११४) “विभाषा सपूर्वस्य” (अष्टा०सू०४-१-३४) इत्यादि निर्दिशति । तेन ‘स(१)कर्मकः’ ‘सलोमकः’ इत्यादिसिद्धम् ।

चार्थे द्वन्द्वः । प्रागनुक्तसमासमनेकं सुबन्तं चार्थं वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेत्तरेतरयोगसमाहाराश्रयार्थाः ।

परस्परानिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्प्राति सङ्बन्धिन्यन्वयः समुच्चयः । यथा “अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं वैवस्वतो न तृप्यति सुरायां इव दुर्मदः” इति, अत्र नयतिक्रियायामेकस्यां गवादीनां समुच्चयः । गम्यमानत्वान्तु चशब्दस्याप्रयोगः ।

यदा तु एकस्य प्राधान्यमितरस्यानुषङ्गिकता तदाऽन्वाचयः । यथा भिक्षामट, गां चानयेति । अत्र हि अदर्शनाद्गामनानयन्नपि भिक्षामटत्येव । अनटस्तु भिक्षां न गामानयति । तथा अटन्नपि नान्विष्य गामानयति ।

मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः ।

समूहः समाहारः । तत्र समुच्चयान्वाचययोर्न समासः, असामर्थ्यात् । एकार्थीभावे हि सति ‘पुष्पवन्तौ पश्य’ इत्यादाविव एकपदोपात्तौ मिलितावेव अन्वितातां, न तु प्रत्येकम् । ध(२)वखदिरौ वा(३)गृहषदम् ।

शेषः किम् ? नीलोत्पलम् । इह हि एकस्मिन्धर्मिणि अनेकधर्मसमुच्चयाद् द्वन्द्वः स्यात् । न चेष्टापत्तिः, पटुश्चासौ खञ्जश्चेत्यादावपि द्वन्द्वे सति “द्वन्द्वे धि” (अष्टा०सू०२-२-३२) इत्यादिनियमापत्तेः । “विशे-

(१) विद्यमानतावाची सहशब्दः । एवञ्चात्र कर्मादिसमानाधिकरणः सहशब्द इति तृतीयाया असम्भवेनानेन समासाप्राप्तौ “अनेकमन्यपदार्थे” इति समासः । अत एवात्र कप् सिद्ध इति बोध्यम् ।

(२) इतरेतरयोगे समासः ।

(३) समूहः समासार्थः ।



षण्म” (अष्टा०सू०२-१-५७) इत्यादिना तत्पुरुषे तु काणखञ्जवन्त्यः सिद्ध्यति । परं कार्यमिति पाठे चेदम् । एकसंज्ञाधिकारे तु विशेषविहितत्वात्तत्पुरुषसंज्ञैव भवति । सामानाधिकरण्याभावे तु द्वन्द्व एव । यथा प्रमाणप्रमेयेत्यादौ, साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामित्यत्र च । न ह्यत्राभेदान्वयो विवक्षितः । यद्यपि सामान्यविशेषयोर्वाचनिको द्वन्द्वनिषेधस्तथाप्यनित्यः स इति त्यदाद्येकशेषसूत्रे एवोपपादितम् ।

अनेकं किम् ? होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । न ह्यत्र द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वं कृत्वा पुनर्द्वन्द्वः कर्तुं शक्यः, होतृपोत्रोरप्यानङ्गापत्तेः । ‘वाकवक्स्त्रगृष्टदम्’ इत्यादौ त्वगादेरपि टजापत्तेश्च । न चोत्तरपदे नित्यसमासोपसंख्यानात्तथापि तदापत्तिः, सकृत्समुदाये प्रवृत्तस्य द्वन्द्वस्य एकाज्जिर्वचनन्यायेनावयवे पुनरप्रवृत्तेः । उपसंख्यानस्यान्यत्रोपक्षयात् । न चैवं ‘वाकवक्स्त्रगृष्टदम्’ ‘होतापोतानेष्टोद्गातारः’ इत्यादि न स्यादेवेति वाच्यम्, द्वयोर्द्वयोरेव सहविवक्षया द्वन्द्वं समुदाययोः पुनः सहविवक्षायां तदुपपत्तेः । पूर्वत्राप्यनेकग्रहणफलं दत्तमेव । तस्माद्यथायथं समासान्तपुंस्ङ्गावस्वराऽऽनङ्गां प्रवृत्तिरप्रवृत्तिश्चानेकग्रहणफलं स्थितम् ।

अनेकस्य चार्थे वृत्तिस्तु जहत्स्वार्थायां वृत्तौ मिलितस्यैव । पश्चान्तरे तु प्रत्येकम् । तदेतदुच्यते “युगपदधिकरणवचने द्वन्द्वः” इति । अधिकरणं वर्तिपदार्थः, तस्य युगपद्वचन इत्यर्थः । अत एव आज्ञश्च वाङ्मन्त्रश्च कालिङ्गश्चेत्यत्र सहविवक्षायां तेनै(१)व बहुष्विति लुकि ‘अङ्गवङ्गकलिङ्गा’ इति सिध्यतीति लुक्प्रकरणे भाष्ये एव स्पष्टम् । यत्त्विह सूत्रे “सैयं युगपदधिकरणवचनता दुःखा च दुरुपपादा च” इति भाष्ये उक्तम् । तस्यायमाशयः—अस्तु जहत्स्वार्थता, तथापि धवौ च खदिरौ चेत्यादिविग्रहोऽसङ्गतः, प्रक्रियादशायामपि प्रथमप्रवृत्तस्यैकवचनस्य त्यागायोगात् । अन्यथा षष्ठीतत्पुरुषादेरपि प्रथमयैव राजा चासौ पुरुषश्चेत्यादिविग्रहापत्तिः । “तत्पुरुषे तुल्यार्थ” (अष्टा०सू०६-२-२) इत्यादीनां निर्विषयतापत्तिश्च ।

स्यादेतत् । भूतपूर्वगत्या त(२)न्निर्वाहः, उत्तरपदार्थप्राधान्यादिवत् । अलुक्समासे तु “षष्ठ्या आक्रोशे” (अष्टा०सू०६-३-२१) इत्याद्यनुवादसामर्थ्यादेव निमित्तापायन्यायो नाश्रयिष्यते । मैवम्, ज्ञापकस्य सामान्यविषयतायां लाघवेन द्वन्द्वावयवेष्वपि द्विवचनाद्यलाभात् निमि-

( १ ) “तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्” इत्यनेनेत्यर्थः ।

( २ ) “तत्पुरुषे” इत्यादीनां निर्वाहः ।



त्तापायन्यायस्यानित्यत्वाच्च । न चैवं तद्रा(१)जलुगसिद्धिः । 'तेनैव'  
इति सौत्रमंशं 'बहुवचने परे' इति व्याख्यां च प्रत्याख्याय बहुषु वर्त-  
मानस्येत्यर्थस्य स्थापयिष्यमाणत्वात् । अत एव जहत्स्वार्थायामपि  
लुक् सिध्यति । सम्प्रति प्रतीयमानं यद्वहुत्वं तदाश्रयस्य तद्राजेन प्रा-  
गभिधानात् भूतपूर्वगतेश्च त्वयापि वाच्यत्वात् । न हि तद्धितवृत्तौ  
एकशेषवृत्तौ च तद्राजोऽर्थवान् । तद्राजात्तद्राजद्वन्द्वे तु वैकल्पिको लु-  
गिति वक्ष्यते । एवं स्थिते द्वन्द्वैकशेषयोरलौकिकवाक्येऽपि द्विवचनादि  
दुर्लभम् । लौकिके विग्रहे तु दुरापास्तं तदिति दुःखेत्यनेनोक्तम् । एतेन  
राजा चासौ पुरुषश्चेत्येव विगृह्यन्तो मीमांसकाः परास्ता इति दिक् ।

इह 'एकविंशतिः' 'द्वाविंशतिः' इत्यादौ "राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेन्ध-  
कवृष्णिषु" (अष्टा०सू०६-२-३४) "संख्या" (अष्टा०सू०६-२-३५)  
इति पूर्वपदप्रकृतिसवर इष्टस्तस्मात् द्वन्द्व एवायम् । स च समाहारे ।  
नेतरेतरयोगे, अनभिधानात् । पुंस्त्वन्तु लोकात् । यदा त्वेकाधिका  
विंशतिरिति शाकपार्थिवादिसमासः क्रियते, तदा समासान्तोदात्तत्व  
मपीष्यते इति पाञ्चमिकभाष्ये "बहुव्रीहौ संख्येये डच्" (अष्टा०सू०५-४-  
७३) इत्यत्र स्थितम् ॥

उपसर्जनं पूर्वम् (अष्टा०सू०२-२-३०) ॥ समासे उपसर्जनं पूर्वं  
प्रयोज्यम् । कृष्णश्रितः ।

राजदन्तादिषु परम् (अष्टा०सू०२-२-३१) । एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं  
स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । "वनम्पुरगा"  
(अष्टा०सू०८-४-४) इत्यादिना णत्वम् । इहैव गणे निपातनाद-  
लुक् । एवञ्चालुगिव णत्वमप्यस्तु । तथा च तत्र सूत्रे अग्रेग्रहणं शक्य-  
मकर्तुम् । आकृतिगणोऽयम् । धर्मादिष्वनियम इष्यते । अर्थधर्मौ, ध-  
र्मार्थावित्यादि । गणमध्य एव जम्पतीदम्पतीजायापतीति पाठात् जाया-  
शब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते ।

द्वन्द्वे घि (अष्टा०सू०२-२-३२) । द्वन्द्वे घ्यन्तं प्राक् स्यात् । हरिहरौ ।  
अनेकप्राप्तावेकत्र नियमोऽनियमः शेषे (का०वा०) । हरिगुरुहराः । ह-  
रिहरगुरवः । हरश्च हरिगुरु चेति विग्रहे तु हरस्य पूर्वनिपातः, अल्पा-  
न्तरत्वात् ।

अजाद्यदन्तम् (अष्टा०सू०२-२-३३) । इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । बहु-  
वचननियमः । अश्वरथेन्द्राः, इन्द्राश्वरथाः । घ्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रति-



षेधेन (का०वा०) । इन्द्राग्नी ।

अल्पाक्षरम् (अष्टा०सू०२-२-३४) । अत एव निपातनात्स्वार्थे तरप् कुत्वचुत्वयोरभावश्च । द्वन्द्वे अल्पाच् पूर्वं स्यात् । धवखदिरौ । कथं तर्हि प्रासादे धनपतिरामकेशवानामिति । धनपतेश्च रामकेशवयोश्चेति विग्रहः । पूर्वाभ्यामल्पाक्षरं विप्रतिषेधेन (भा०इ०) । वागग्नी, वागिन्द्रौ । एवमग्रेऽपि । कथं तर्हि “अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः” (नै०का०) इति । अधीत्या च बोधादिभिश्चेति विग्रहे भविष्यति । यद्वा, अनित्यमिदं प्रकरणं “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः” (अष्टा०सू०३-२-१२६) “समुद्राभ्राद् घः” (अष्टा०सू०४-४-१२८) इत्यादिनिर्देशात् । तेन “स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्” (कि०का०) “लोचनाधरकृताहतरागा” इत्यादि सिद्धम् । ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण निपातो वक्तव्यः (का०वा०) । हेमन्तशिशिरवसन्ताः । कृत्तिकारोहिण्यौ । समाक्षराणां किम् ? प्रश्नवसन्तौ । लघ्वक्षरं पूर्वम् (का०वा०) । कुशकाशम् । अभ्यर्हितश्च । मातापितरौ । “वासुदेवाजुनाभ्यां वुन्” (अष्टा०सू०४-३-९८) इति निर्देशेनदं ज्ञाप्यते इतिचतुर्थे भाष्यम् । वर्णानामानुपूर्व्येण (का०वा०) । ब्राह्मणक्षत्रियविद्वद्वाः । भ्रातुश्च ज्यायसः (का०वा०) । युधिष्ठिराजुनौ । संख्याया अल्पीयस्याः (का०वा०) । एतच्च द्वन्द्वान्द्वविषयकम् । द्वित्राः । द्वाविंशतिः । “द्वेकयोः” (अष्टा०सू०१-४-२२) इति तु सौत्रो निर्देशः ।

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ (अष्टा०सू०२-२-३५) । सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कण्ठेकालः । यदा कण्ठे किञ्चिदस्तीति निर्ज्ञाते काल इति विशेषणं तदेदं बोध्यम् । अन्यदा तु सप्तमीग्रहणं विनापि विशेषणत्वादेव सिद्धम् । सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् (का०वा०) । सर्वश्चेतः । द्विशुक्लः । कथं तर्हि तः परो यस्मात्स तपर इति, कथं च जहत्स्वार्थेति ? इह हि जहत् स्वं पदं यं स जहत्स्वः, सोऽर्थो यत्रेति बहुव्रीहिर्गर्भो बहुव्रीहिः । तथाच स्वपरशब्दयोः सर्वनामत्वात्पूर्वनिपातः स्यात् । सत्यम्, सूत्रभाष्यादिप्रयोगाद्वाजदन्तत्वं बोध्यम् । मिथोऽनयोः समासे तु संख्यापूर्वं शब्दपरविप्रतिषेधात् । एतदर्थमेव हि संख्यासर्वनाम्नोरिति नोक्तम् । द्वयन्यः । त्रयन्यः । वा(१) प्रियस्य पूर्वत्वम् (का०वा०) । गुडप्रियः, प्रियगुडः । गड्वादेः परा सप्तमीष्ठा (का०वा०) । गडुकण्ठः । क्वचिन्न-वहेगडुः । आकृतिगणोऽयम् ।

( १ ) कौमुद्यां ‘वा प्रियस्य’ इत्येव पाठः ।



निष्ठा (अष्टा०सू०२-२-३६) । निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । कृतकृ-  
त्वः । जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा बोध्या । “जातिकालसुखादि-  
भ्योऽनाच्छादनात्” (अष्टा०सू०६-२-१७०) इति ज्ञापकात् । सारङ्गो  
जग्धोऽनया सारङ्गजग्धी । “कादल्पाख्यायाम्” (अष्टा०सू०४-१-५१)  
इत्यनुवर्तमाने “अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा” (अष्टा०सू०४-१-५३) इति ङोप् ।  
मासजाता । सुखजाता । कथं तर्हि कृतकटः, पीतोदकः ? गङ्वादेरि-  
तिवत्प्राप्तबाधमात्रे तात्पर्यमिति वृत्तिकारः । कथं ‘चारुस्मितम्’ इति ?  
“नपुंसकेभावे कः” (अष्टा०सू०३-३-११४) इत्यस्य न पूर्वनिपातः, नि-  
ष्ठाशब्दोपादानेन विहितस्यैवैव ग्रहणादित्याहुः ।

वाहिताग्न्यादिषु (अष्टा०सू०२-२-३७) । एषु निष्ठान्तं वा पूर्वं  
स्यात् । आहिताग्निः । अग्न्याहितः । आकृतिगणोऽयम् । प्रहरणार्थेभ्यः  
परे निष्ठासप्तम्यौ वक्तव्ये (का०वा० । अस्युद्यतः । दण्डपाणिः । इहापि  
प्राप्तबाधमात्रं बोध्यम् । विवृतासिः ।

कडाराः कर्मधारये (अष्टा०सू०२-२-३८) । कडारादयः शब्दाः क-  
र्मधारये पूर्वं प्रयोज्याः । कडारजैमिनिः, जैमिनिकडारः । कडार, गडु-  
ल, काण, खज, कण्ड, खोड, खलति, गौर, वृक्ष, भिक्षुक, पिङ्ग, पिङ्ग-  
लतनु, जठर, बधिर, मठर, कुञ्ज, बर्बर । कर्मधारये किम् ? कडारपु-  
रुषको ग्रामः ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीये पादे द्वितीयमा-

न्हिकम् । पादश्चायं समाप्तः ।

८५१

अनभिहिते (अष्टा०सू०२-३-१) । अधिकारोऽयम् । तिङ्कृतद्वितसमा-  
सैरिति वक्तव्यम् (का०वा०) । तेन तिङाद्युक्ते कर्मणि द्वितीया न । तिङ्-  
सेव्यते हरिः । कृत-कृतः कटः । तद्धितं-शतेन क्रीतः-शल्पः, शतिकः ।  
“शताच्च ठन्यतावशते” (अष्टा०सू०५-१-२१) समासः-प्राप्तमुदकं च  
प्राप्तोदको ग्रामः । परिगणनं किम् ? कटं करोति भीष्ममुदारम् । इह  
विशेष्यात्कटादुत्पन्नया द्वितीयया गतार्थत्वाद्विशेषणात् द्वितीया न  
स्यात् । परिगणनसामर्थ्यान्तु भवति ।

स्यादेतत् । कटोपि कर्म भीष्मादयोऽपीति पक्षे सर्वेभ्यो द्वितीया  
उचितैव । अरुणैकहायनीत्यायेन हि पार्ष्णिनः परस्परवच्छेदः । अत  
एव हि ‘सकृद्वचो’ इत्यादौ कारकपूर्वत्वप्रयुक्तो यण् सिध्यति । “पुरण-  
गुण” (अष्टा०सू०२-२-११) इत्यत्र समानाधिकरणग्रहणाज्ज्ञापकात् ।  
अमेदान्वयस्थले विशेष्यविभक्तिर्विशेषणादपि भवतीति पक्षेऽप्येवम् ।



सकृल्लवाविति तु कारकेणाभेदेनान्वयवतो विशेषणस्यापि कारकत्वा-  
नपायात्समाधेयम् । तस्मान्नार्थः परिगणनेन । किञ्चानभिहिताधिकारे-  
णापि नार्थः । नहि 'कटः कृतः' इत्यादावतिव्याप्तिः, कप्रत्ययेनैव कर्म-  
त्वस्योक्तत्वात् उक्तार्थानामप्रयोगात् । तद्यथा 'बहुपटुः' इत्यादौ बहुवो-  
क्तार्थत्वाच्च कल्पवादयः । किं च 'कटं करोति' इत्यादौ सावकाशा द्वि-  
तीया 'कृतः कटः' इत्यादिषु प्रथमया बाधिस्यते, निरवकाशत्वात् । न च  
'वृक्षाः' 'प्लक्षाः' इत्यादिरवकाशः, तत्रापि प्रतीयमानास्तिक्रियां प्रति  
कर्तृत्वेन तृतीयाप्रसङ्गात् । अथ नीलमिदं न तु रक्तमित्यादौ विशेष-  
णान्तरनिवृत्तितत्पर्यकेऽप्यस्ति क्रियाया अनवश्यकत्वात् प्रथमाया-  
अवकाशं ब्रूषे; तर्हि विप्रतिषेधात् प्रथमाऽस्तु । न च ततोऽपि परत्वात्  
षष्ठीप्रसङ्गः, अशेषत्वात् ।

उच्यते, परिगणनं तावत्प्रत्याख्यातमेव भाष्ये । सूत्रं तु 'कर्तव्यः कटः'  
इत्यादिसिद्धये । इह हि प्रथमां बाधित्वा "कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा० सू०  
२-३-६५) इति षष्ठी स्यात् । न च कृत्येनोक्तार्थत्वाच्चेह षष्ठीति वाच्य-  
म्, संख्या विभक्त्यर्थ इति पक्षे सूत्रारम्भात् । कर्मणि यदेकत्वं तत्र  
कृत्योऽपि षष्ठ्येकवचनमिति हि वाक्यार्थः । तथाच षष्ठीवाच्यस्य कर्मैक-  
त्वादेः कृत्येनानुक्तत्वाद् दुर्धरा षष्ठी । कारकं विभक्त्यर्थ इति पक्षे तु  
मास्तु सूत्रमिति स्थितम् ।

आरब्धे तु सूत्रे पर्युदासोऽयं, न तु प्रसज्यप्रतिषेधः, असमर्थसमा-  
सापत्तेः वाक्यभेदापत्तेश्च । 'प्रासादे आस्ते' इत्यत्र सदिक्रियाया आसि-  
क्रियायाश्चैकमाधिकरणं प्रासादाख्यं, तच्च सदेः परेण घञा अभिहित-  
मिति सप्तमीनिषेधापत्तेश्च । पर्युदासे तु आसिक्रियानिरूपितमाधिकरणश-  
क्तिमनभिहिताभाश्रित्य सप्तमीविधिः प्रवर्तते । आसने आस्ते शयने शेते  
इत्यादौ तु लटः प्रकृतिभ्यां क्रियोपस्थितौ तद्योग्यम् अनुद्भूतशक्तिकं  
वस्तुमात्रं कृता उच्यते । तस्य च वर्तमानैककर्तृकानिङ्प्रकृत्युपस्था-  
प्यक्रियानिरूपितशक्त्युद्भवप्रतिपादनाय सप्तमीति दिक् ।

स्यादेतत् । यद्ययं पर्युदासस्तर्हि 'पक्वमौदनो भुज्यते' इति न सि-  
द्ध्योत् । भुजिप्रत्ययेनाभिहितेऽप्यौदने क्त्वाप्रत्ययेनानभिधानमाश्रित्य द्वि-  
तीयापत्तेः । भावे हि क्त्वेति वक्ष्यते । प्रसज्यप्रतिषेधे तु भुजिप्रत्ययेना-  
भिधानमाश्रित्य प्रसज्यप्रतिषेधः सुवचः । किन्तु प्रागुक्तदोषानिस्तारः ।

अत्रोच्यते । प्रधाननिरूपितशक्त्याभिधाने प्रथमैव, अभिहिते नैति  
प्रसज्यप्रतिषेधात् । 'आसने आस्ते' 'शयने शेते' इत्यत्र तु न प्रधानश-  
क्तेरभिधानं, येन प्रथमा स्यात् । एतच्च "स्वादुमि णमुल्" (अष्टा० सू०



३-४-२६) इति सूत्रे कैयटादौ स्पष्टम् । हरिरप्याह--

प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक् ।

शक्तिर्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते ॥

प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाभिधीयते ।

यदा, गुणे तदा तद्वदनुकापि प्रतीयते ॥ इति ।

पर्युदासेऽप्यनभिहितां प्रधानशक्तिमाश्रित्यैव विधिः प्रवर्तते । एतेन 'पक्वं भुङ्क्ते' 'दत्तं गृह्णाति' इत्यादि पक्षद्वयेऽपि समर्थितं भवति । वस्तुतस्तु 'पक्त्वा भुज्यते' इत्यादौ ओदनस्य पचिभुजिभ्यां न युगप-  
च्छाब्दोऽन्वयबोधः । किन्त्वन्यतरेण शाब्दः, अपरेणार्थः । तत्र च प्रथ-  
माद्वितीययोर्व्यवस्थैव । पक्त्वा भुज्यते ओदनः । अर्थादोदनमेव प-  
क्त्वेति । न हीष्टकाः पक्त्वेत्यादि सम्भवति । न चोपस्थितपरित्या-  
गोऽनुपस्थितकल्पना च न्याय्या । ओदनं पक्त्वेति प्रयोगे तु भुज्यते  
इत्यत्रार्थो ओदनस्य कर्मता । अत एव 'घटं कर्तुं शक्यते' इत्यपि भव-  
त्येवेति पस्पशायां कैयटः । तस्मात्पर्युदासे एकवाक्यत्वं समाससौष्टवं  
चेत्येव । गुणरूपन्तु पक्षद्वयेऽपि तुल्यमिति स्थितम् । एतेन—

विषयवृक्षोऽपि संबध्यं स्वयं छेतुमसाम्प्रतम् ।

इति व्याख्यातम् । साम्प्रतमिति निपातेनाभिहितत्वात् । युक्तमिति  
इति तदर्थः । परिगणनं तु प्रत्याख्यातमेव ।

इह हरदत्तेन भाट्टमते कारकविशिष्टा संख्या विभक्त्यर्थ इत्युक्तं  
तत्तु कर्त्रधिकरणस्थयथाश्रुतभाष्यस्वरसमनुसृत्य कथञ्चिन्नयम् ।  
वस्तुतस्तु भाट्टमते प्रकृत्यर्थेन संख्या च करणत्वादिशक्तयो विशेष-  
याः । अत एवैकशक्तिकोडीकृतानेकविधिस्तत्रतत्र स्वीकृत इति दिक् ॥

कर्माणि द्वितीया (अष्टा०सू०२-३-२) । द्वितीयादयः शब्दाः सुपां  
त्रिकेषु वर्तन्ते "समं स्यादश्रुतत्वात्" (जै०सू०१०-३-१३-१३) इति  
न्यायात् पूर्वाचार्यव्यवहाराच्च । इह स्वादिसूत्रेणैकवाक्यतया विधिः,  
मिन्नत्राक्यतया नियमो वा । सोऽपि प्रकृतानर्थानपेक्ष्य प्रत्ययानियमो  
वाऽर्थनियमो वेति सर्वे पक्षाः साधवः । उक्तं च--

सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ।

प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु च ॥ इति ।

व्याख्यातं चेदं प्रथमे । इह च तिङामिति स्वरसात्सुप्स्वपि कर्मा-  
द्येव वाच्यं न तु कर्मत्वम् । न च तिङ्स्वपि कर्मत्वमेवार्थ इति वाच्यं,  
"तयोरेव" (अष्टा०सू०३-४-७०) इत्युत्तरसूत्रेऽपि तथात्वापत्तौ 'घटः  
कृतः' इत्यादावभेदान्वयानुपपत्तिप्रसङ्गात् । तथा च "लः कर्माणि"



(अष्टा०सू०३-४-६९) “कर्मणि द्वितीया” (अष्टा०सू०२-३-२) इति सूत्र-  
स्वरसोऽपि सङ्गच्छते । घटमित्यत्र च घटः कर्मैत्यभेदान्वये आनय-  
नादौ कर्मत्वेन संसर्गेण विशेषणत्वम् । तथाच प्रकारतया संसर्गविध-  
या वेति द्विधा कर्मत्वादिभानमित्येकः पक्षः । “शक्तिः कारकम्” इति  
भाष्यस्वरसात्सैव वाच्येत्यपरः । अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थतया आधा-  
र आधेयं वा द्वितीयाऽर्थः । ‘ओदनं पचति’ इत्यत्र हि ओदनरूपो य  
आधारस्ताद्विशिष्टा विक्रित्तिर्भासते । वैशिष्ट्यं त्वाधेयता । ओदनाधेया  
वा विक्रित्तिरर्थः, आधेयरूपप्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थं प्रति विशेष्यत्वात् ।  
आधेयत्वमेव च संसर्ग इति पक्षान्तरम् । आकृत्यधिकरणन्यायेनाधा-  
रत्वाधेयत्वे एवार्थे इति चापरम् । संसर्गा एवैते । तात्पर्यग्राहिका एव  
परं विभक्त्य इति मतान्तरम् । सर्वेभ्यमी पक्षा हेलाराजीयादौ तत्रतत्र  
स्थिता भाष्यादिसम्भताश्चेति दिक् । ओदनं पचतीत्यादौ ।

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।

द्वितीयाभ्रैडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

अर्थः—उभयशब्दसर्वशब्दयोस्तसिलन्तयोः प्रयोगे द्वितीया  
कार्या । उभशब्देन ऋभयशब्दो लक्ष्यते, अन्यथा तसिलसम्भवात् ।  
उभशब्दो हि द्विवचनटाविवषय इत्युक्तम् । धिगित्यत्र सप्तम्या लुक्,  
“प्रकृतिवदनुकरणम्” (पा०भा० ) इत्यतिदेशात् । न त्वविभक्तिः ।  
‘भावित्ययमाह’ इत्यत्र यथा पदान्तत्वाभावात् “लोपः शाकल्यस्य”  
(पा०सू०८-३-१९) इत्यस्याप्रवृत्तिस्तथेह जश्वाप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न चा-  
यं गान्त एवेति वाच्यम्, “कस्य च इः” (पा०सू०५-३-७२) इत्यस्या-  
प्रवृत्तौ ‘धक्ति’ इत्यस्यासिद्धिप्रसङ्गात् । आभ्रैडितान्तेष्विति । कृत-  
द्विवचनेष्वित्यर्थः । उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णा-  
भक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्याधि लोकम् । अधोधो लोकम् ।  
(१) कथं तर्हि—

उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः ?

उच्यते, उपरिबुद्धीनां उत्तानबुद्धीनामुपरि चरन्तीत्यर्थः । एवं चा-  
भ्रैडितान्तत्वाभावात् द्वितीया । यद्वा, प्रतिपदोक्तस्य “उपर्यध्यधसः  
सामीप्ये” (पा०सू०८-१-७) इति कृतद्वित्वस्यात्र ग्रहणम् । तेन वीप्सा-  
द्विवचने सति नास्य प्रवृत्तिः । ततोऽन्यत्राप्युक्तम्, तान्परिगणयति  
वृत्तिकारः—अमितः परितः समयानिकषाहप्रतियोगेपीति । अमितः

(१) कथं बुद्धीनामिति षष्ठी उपपदविभक्तेर्द्वितीयायाः षष्ठ्यपवा-  
दत्वादित्यर्थः ।



कृष्णम् । उभयत इत्यर्थः । परितः कृष्णम् । सर्वत इत्यर्थः । “पर्यग्भिः  
भ्याञ्च” (पा०सू०५-३-९) इति तसिद्ध् । आभिमुख्यवृत्तिरपि विभक्तिः  
प्रतिरूपको निपातोऽभितःशब्दोऽस्ति सोऽपीह गृह्यते । समयानिकषा-  
शब्दौ समीपपर्यायौ । ग्रामं समया निकषा वा । हाशब्दः शोकवृत्तिः ।  
हा कृष्णाभक्तम्, तस्य शोच्यते इत्यर्थः । षष्ठ्यपवादो द्वितीया । स-  
स्वोद्यने त्वन्तरङ्गत्वात्प्रथमैव । हा तातेति यथा । एतेन धिङ्भूञ्चेति  
प्रयोगो व्याख्यातः । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । एष प्रतिश-  
ब्दः क्रियाविशेषकत्वादुपसर्गो न तु कर्मप्रवचनीयः । एवमन्येऽपि दृशि-  
ग्रहणात्साधनीयाः । तद्यथा, चैत्रं यावच्छीतमिति । परमपुरुषाराधनः  
मृत इति च । तथा च चान्द्रसूत्रम्-“ऋते द्वितीयाच्च” इति, चका-  
रात्पञ्चमी । सा चास्मच्छाले “अन्यारात्” (पा०सू०२-३-२९) इत्य-  
नेन विधास्यते ॥

तृतीया च होइछन्दासि (पा०सू०२-३-३) । जुहोतेः कर्मणि तृतीया  
स्याद् द्वितीया च छन्दसि । यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति । अग्निहोत्रश-  
ब्दोऽत्र हविषि वर्तते । “यस्याग्निहोत्रमधिश्चितम् अमेध्यमापद्यते”  
इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । अग्नये हूयत इति व्युत्पत्तेश्च । जुहोतिः प्रक्षे-  
पे । अस्मिन्नेव च प्रयोगे यवागूशब्दात्तृतीया, अग्निहोत्रशब्दाच्च द्वि-  
तीया । विरुद्धार्थकविभक्त्यनवरुद्धत्वान्नामार्थयोरभेदान्वयः । यवाग्वा-  
ख्यं हविरग्नौ देवतोद्देशेन त्यक्त्वा प्रक्षिपतीत्यर्थः । एतत्सूत्रं भाष्ये प्र-  
त्याख्यातम् । अग्निहोत्रशब्दो हि ज्योतिष्यपि वर्तते, अग्निहोत्रं प्रज्व-  
लितमिति दर्शनात् । हूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेश्च । जुहोतिश्च प्रीणने ।  
तद्यदा यवागूशब्दात्तृतीया तदा यवाग्वाग्निं प्रीणयतीत्यर्थः । यदा तु  
द्वितीया तदा यवाग्वाख्यमाग्निहोत्रं हविर्द्रव्यं प्रक्षिपतीत्यर्थ इति ।

मीमांसकास्त्वाहुः—अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयम्, तत्प्रख्यं चा-  
न्यशास्त्रमिति न्यायात् । दृश्यते च स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं द-  
र्शपूर्णमासावित्यादि । एवं स्थिते भावार्थाधिकरणन्यायेन करणकोटि-  
निक्षिप्ते होमे सामानाधिकरण्यापन्नस्याग्निहोत्रस्य करणत्वात्तृतीयायां  
प्राप्तायां पक्षे द्वितीयार्थमिदं वचनमिति, तन्तु सूत्रसन्दर्भाविरुद्धम् ।  
कर्मणीति ह्यनुवर्तते ॥

अन्तरान्तरेण युक्ते (पा०सू०२-३-४) । आभ्यां योगे द्वितीया स्या-  
त् । अन्तराशब्दः सप्तम्यन्तस्य मध्य इत्येतस्यार्थे वर्तते । अन्तरेणश-  
ब्दस्तु तत्र च विनार्थे च । अन्तरा त्वां मां च हरिः ।

मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं स ।



अन्तरेण हरिं न सुखम् । ननु मध्यस्यावध्यपेक्षतया यथावधिभू-  
ताभ्यां युग्मद्वयमर्थाभ्यां चामरद्वयेन च योगस्तथा आधेयेनापि सह ।  
तस्मादाधेयादपि द्वितीया स्यात् । मैवम् , तत्रान्तरङ्गतया प्रथमाया  
एधोऽपधोः । तस्माद्विशेषणार्थं षष्ठ्यपवादभूता द्वितीया न तु विशे-  
ष्यादपीति स्थितम् ।

अथ टाबन्तेनान्तराशब्देन तृतीयान्तेनान्तरेणेत्यनेन च योगो कुतो  
नेति चेत् ? प्रतिपदोक्ततया तयोरेवेह ग्रहणात् परस्परसाहचर्याच्च । तच्-  
था-गुरुभार्गवावित्युक्ते ग्रहयोरेव प्रतीतिर्नत्वाचार्यपरशुरामयोः । तेन  
किमनयोरन्तरेण गतेनेति सिद्धम् । किमनयोर्विशेषेण ज्ञातेनेत्यर्थः । युक्त-  
ग्रहणाच्चेह-अन्तरा त्वां मां च कृष्णस्य मूर्तिः । इह कृष्णाञ्च द्वितीया ।  
अन्तरेत्यनेनानन्वयात् ।

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (पा० सू० २-३-५) । इह द्वितीया स्यात् ।  
मासमास्ते । यद्यपीह कर्मत्वादेव सिद्धम् । कालभावाध्वगन्तव्याः कर्म-  
संज्ञा ह्यकर्मणामित्युक्तेस्तथापि सकर्मकार्थं गुणद्वयाभ्यां योगार्थं चेदम् ।  
मासमधीते । मासं कल्याणी । मासं गुडधानाः । क्रोशमधीते । क्रोशं कु-  
टिला नदी । क्रोशं पर्वतः । अत्यन्तसंयोगे किम् ? मासस्य छिरधीते ।  
“कृत्वोर्थप्रयोगे कालेधिकरणे” इति षष्ठी ।

अपवर्गे तृतीया (पा० सू० २-३-६) । अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्यो-  
त्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनु-  
वाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ।

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये (पा० सू० २-३-७) । शक्तिद्वयमध्ये चैव  
कालाध्वनौ ताभ्यां सप्तमीपञ्चम्यौ स्तः । अद्य भुक्त्वायं द्यावे ब्रह्माद्या  
भोक्ता । कर्तृशक्त्योर्मध्येयं कालः । इहस्थायं क्रोशे क्रोशाद्या लक्ष्यं वि-  
ध्येत् । कर्तृकर्मणोर्मध्येयं देशः । कालाध्वभ्यां विभक्त्योर्थयासंज्ञायं न-  
भवति, अस्वरितत्वात् ।

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (पा० सू० २-३-८) । स्पष्टोऽर्थः । हरिं  
प्रति पर्यनु वा ।

यस्मादधिकं यस्य चेद्वरवचनं तत्र सप्तमी (पा० सू० २-३-९) ।  
कर्मप्रवचनीययुक्ते इत्यनुवर्तते । यस्मादधिकं तदस्मिन्नधिकमिति च  
निर्देशादधिकशब्दयोगे पर्यायेण पञ्चमीसप्तम्यौ स्तः । प्रकृतसुत्रार्थस्तु  
यस्मादधिकं यस्य चेद्वरवचनं कर्मप्रवचनीययुक्ते तत्र सप्तमी स्यात् ।  
उपपराज्जे हरेर्गुणाः, परार्जादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिनोः  
पर्यायेण सप्तमी । तथाहि, ईश्वर इत्युच्यते येन तदीश्वरवचनं ऐश्वर्य-



यम् । अथवेश्वरशब्दो भावप्रधानः । यस्य स्वामिन ईश्वरत्वमुच्यते इत्यर्थः । अथवा यस्येति स्वं निर्दिश्यते यस्य स्वस्य ईश्वर उच्यते ततः स्वादित्यर्थः । पर्यायेण चेयं विभक्तिः शेषविषयकर्मप्रवचनीयविभक्त्या-  
रम्भात् विशेषणोदघोत्पन्नया सप्तम्या द्विष्टस्यापि सम्बन्धस्याभिधा-  
नात् । प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थे ऽति विशेष्यतया विशेषणादेव प्रत्ययौचि-  
त्याच्च । विशेष्यास्तु प्रथमैव । अधिरामे भूः । “सप्तमी शौण्डेः (पा० सू०  
२-१-४०) इति समासपक्षे तु रामार्थानेति भवति । “अषडक्ष” (पा० सू०  
५-४-७) इत्यादिना खः । विभक्त्यर्थवृत्तित्वं त्वव्ययीभावः । अधिरामम् ।  
स्वाद्धिमक्तौ अधिभुवि रामः । इह सूत्रे यस्यचेश्वरवचनमित्यंशः प्रत्या-  
ख्यातो भाष्ये । तथाहि, स्वामिन्याधारे भूः स्थिता तस्यां च स्वामी तत्र  
यदा यदधिकरणत्वेन विवक्ष्यते तदा तत्र सप्तमी भविष्यति । एवं चा-  
धिराश्वरे इति संज्ञासूत्रमपि न कर्तव्यम् । न चागत्युपसर्गत्वबाधार्थं  
तत् । ऐश्वर्यविषयस्य अधेः क्रियायोगाभावेनैव तदप्राप्तेः । उत्तरार्थ-  
मिति चेत्तर्हि योगविभागो न कार्यः ।

पञ्चम्यपाङ्परिभिः (पा० सू० २-३-१०) एतैः कर्मप्रवचनीयेर्योगे  
पञ्चमी स्यात् । अपविष्णोः परिविष्णोः संसारः । अपेन साहचर्यात्परे-  
वर्जनार्थस्य ग्रहणम् । तेन लक्षणादिषु न भवति । वृक्षं परि विद्योतते  
विद्युत् । आङ्मर्यादान्नचने । आपाटलिपुत्राहृष्टो देवः ।

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् (पा० सू० २-३-११) । तत्र कर्मप्रव-  
चनीययुक्ते पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति  
भाषान् । इह सूत्रे अनेनैव यस्मादिति पञ्चमी ।

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि (पा० सू० २-३-१२)  
अध्वमिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायां सत्याम् । ग्रामं ग्रामाय वा  
गच्छति । गत्यर्थेति किम् ? ओदनं पचति । कर्मणीति किम् ? अश्वेन  
व्रजति । चेष्टायां किम् ? मनसा हरिं व्रजति । अनध्वनीति किम् ? पन्था-  
नं गच्छति । आस्थितप्रतिषेधो वक्तव्यः (का० वा०) । आस्थितः । सम्प्राप्तः ।  
गन्त्रा अधिष्ठित इत्यर्थः । तेन यदा उत्पत्त्यात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते  
तदा भवत्येव चतुर्थी । उत्पत्तेन पथे गच्छति । ‘अजान्नयति ग्रामम्’ इत्यत्र  
तु न चतुर्थी, अगत्यर्थत्वात् । प्रतीयते ह्यत्र गतिः, न त्वसौ नयतेरर्थः,  
प्रापणवाचित्वात् । एवं स्त्रियं गच्छतीत्यत्रापि न चतुर्थी, असम्प्राप्तप्रे-  
प्ताभावात् । अनध्वनीति ह्यपनीय असम्प्राप्त इति पूर्यते । द्वितीयाग्रह-  
णमपवादविषयेऽपि यथा स्यात्, तेन कृद्योगलक्षणा षष्ठी न भवति ।  
अन्यथा चतुर्थीत्येव ब्रूयादिति वदन् वृत्तिकारो ग्रामं गन्तेति तृजन्त-



योगे उदाजहार । इदन्तु भाष्यविरुद्धम् । तथाहि, सन्दर्शनादिभिराप्य-  
मानत्वात्क्रियापि कृत्रिमं कर्मेति क्रिययाभिप्रेयमाणस्य सम्प्रदानत्वं सि-  
द्धम् । सन्दर्शनादीनां गमनस्य च भेदाविवक्षायां तु द्वितीयापि सिद्धे-  
ति सूत्रमिदं प्रत्याख्यातं भाष्ये । एवं हि वदता कृद्योगे वृष्टयेवेत्यते ।  
अत एव “अकेनोः” (पा० सू० २-३-७०) इति सूत्रे ‘ग्रामं गामी’ इत्युदा-  
हृतं भाष्ये ।

चतुर्थी सम्प्रदाने (पा० सू० २-३-१३) । स्पष्टम् । विप्राय गां ददाति ।  
तादर्थ्यं उपसंख्यानम् (का० वा०) । यूपाय दारु । इह दारुशब्दात् “हेतौ”  
(पा० सू० २-३-२३) इति तृतीया तु न भवति । षष्ठीविषये हि सा । प्रातिपदि-  
कार्यमात्रे प्रथमैव । ननूपसंख्यानस्यावश्यकत्वे सूत्रं व्यर्थमेवेति चेत् ? न,  
हरये रोचते इत्याद्यर्थं तस्याप्यावश्यकत्वात् । कल्पि सम्पद्यमाने च  
(का० वा०) । विकारवाचकाच्चतुर्थीत्यर्थः । स हि सम्पद्यते प्रादुर्भवति ।  
भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते । प्रकृतिविकारयोर्भेदविवक्षायां चतुर्थी । अमेदवि-  
वक्षायान्तु प्रथमैव । भक्तिर्ज्ञानं कल्पते इति केचित् । अन्ये त्वभेदविव-  
क्षायामपि चतुर्थीत्याहुः । जनिकर्तुरित्यपादानत्वविवक्षायान्तु पञ्चमी ।  
भक्तेर्ज्ञानं कल्पते इति । केचित्तु तत्रापि चतुर्थीमिच्छन्ति । उत्पातेन  
ज्ञापिते च (का० वा०) । प्राणिनां शुभाशुभयोः सूचको भूतविकार  
उत्पातः । वाताय कपिला विद्युत् । हितयोग च (का० वा०) । चतुर्थी-  
समासविधानाज्ज्ञाप्यते । ब्राह्मणाय हितम् ।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः (पा० सू० २-३-१४) । उप-  
पदं कृत्रिमन्तश्च क्रियार्थक्रियारूपं तुमुन्पुल्लोरेव सम्भवतीति विशेष-  
णमहिम्ना विशेष्यन्तुमुन् पुल्लन्तमेव लभ्यते । अप्रयुज्यमानस्य कर्म-  
णि चतुर्थी स्यात् । फलंभ्यो याति, फलान्याहर्तुमित्यर्थः । स्थानि-  
ब्दोऽप्रयुज्यमानपरतया वैयाकरणगृहे प्रसिद्धः ।

तुमर्थाच्च भाववचनात् (पा० सू० २-३-१५) । भाववचनाच्चेति सूत्रे-  
ण ये विहितास्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात् । यागाय याति । यागाय पचनाय  
भक्तये । भाववचनेनैव तादर्थ्यस्य द्योतितत्वाच्चादर्थ्यं चतुर्थी न स्या-  
दिति सूत्रारम्भः ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषड्योगाच्च (पा० सू० २-३-१६) । एभि-  
र्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी,  
प्रधानभूतक्रियासबन्धस्यान्तरङ्गत्वात् । नमस्करोति देवान् । कथन्तर्हि-  
“नमश्चकार देवेभ्यः” इति, “रावणाय नमस्कुर्वाः” इति च भट्टिः ? अथ  
माधवः-साक्षात्प्रभृतिषु पाठाद्वैकल्पिकं नमःशब्दस्य गतित्वम् । तत्र गति-



संज्ञापक्षे उपसर्गवद् द्योतकतया कृञ एव प्रणतिरर्थः । तत्कर्मणि द्वि-  
तीया नमस्यति देवानिति वत् । अगतित्वे तु करोतिक्रियाकर्मभावापन्नं  
विशेष्यभूतं प्रणाममाचष्ट इति देवादावकर्मणि नमः स्वस्तीति चतु-  
र्थ्येवेति ।

अत्रेदं वक्तव्यम्-उक्तरीत्या चतुर्थीसमर्थनेऽपि नमसो गतिसंज्ञाभा-  
वान्नमस्पुरसोर्गतयोरिति सत्त्वं न स्यात् । तथा च प्रयोगानिर्वाहस्तदव-  
स्थः । तस्मात् क्रियार्थोपपदस्यचेति चतुर्थी बोध्या, देवान् प्रसादयितुमि-  
त्यर्थात् । वर्धमानस्तु-“आद्वाय निगदमत” इति वत् क्रियाग्रहणं कर्तव्यमि-  
ति चतुर्थीत्याह । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा ।  
अलं मल्लो मल्लाय । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं  
प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि । कथन्तर्हि-“प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य” (मा. का.  
१.४९) इति माघः । उच्यते, पर्याप्त्यर्थस्यैवालमो ग्रहणं, न तु ‘अलं रोदनेन  
इत्यादौ वारणार्थस्यापीति व्याख्यानान्तरं भाष्ये स्थितम् । एवञ्च व्या-  
ख्याभेदात्प्रश्नादियोगे षष्ठ्यपि साधुः । अत एव सूत्रकारो द्वेधा निरदि-  
क्षत् । तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः (पा० सु० ५-१-१०१) सप्तर्षीप्रामणीः  
(पा० सु० ५-२-७८) इति च । तथाच भट्टिः-“नाप्रोथीदस्य कश्चन पुप्रोथासीं  
न कश्चन” इति । प्रोथृ पर्याप्तौ (त्रा० उ० ८६७) इत्यस्य रूपम् । ‘अलं रोदनेन’  
इत्यत्र तु करणे तृतीया, रोदनेन न किञ्चित्साध्यमित्यथाविगमात् । वष-  
ट्तिन्द्राय । चकारः पुनर्विधानार्थः । तेनाशीर्विवक्षायामपि षष्ठीं बाधित्वा  
चतुर्थ्येव भवति । स्वस्ति गोभ्यो भूयात् । अन्यथा स्वस्तियोगे चतुर्थ्या  
अवकाशः । स्वस्ति जालमायास्तीति । तत्त्वकथने कुशलायैराशिर्वात्यस्या-  
वकाशः । स्वस्तिभिन्नाः कुशलार्थाः । उभयप्रसङ्गे परत्वात् पक्षे षष्ठी स्यात्  
मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु (पा० सु० २-३-१७) । प्राणिवज्रं  
मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे । न त्वां तृणं मन्ये तृणाय  
वा । मन्यतिग्रहणं किम् ? न त्वां तृणं चिन्तयामि । इयना निर्देशाच्चेह-न  
त्वां तृणं मन्ये । मनु अवबोधने (त० आ० १४७०) । तनादेरुः । न च मन्योत-  
यका निर्देशः किं नस्यादिति वाच्यम्, अनभिहिते इत्यधिकारात् ।  
न हि यका योगे अनभिहितं कर्म सम्भवति । इयन्नपि दैवादिकधातूप-  
लक्षणमात्रं न तु स्वयं विवक्षितः । तेन—

तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽपि

वाणेन रक्षः प्रधनंश्चिरस्थत् ।

इति भट्टिप्रयोगः सङ्गच्छते । अनादरश्चात्र नादराभावमात्रमापि तु  
तिरस्कारः, कुत्सेति यावत् । अधर्मानृतादिवसजः प्रतिपक्षवाचि-



त्वात् । स च द्वेधा-उत्कृष्टस्यापकृष्टेनोपमानात् । यथा तृणाय मत्वेति ।  
तृणमिव मत्वेत्यर्थः । क्वचित्तु निषेधयोगेनोपमानायोग्यत्वप्रतीतिः ।  
यथा-न त्वां तृणं मन्ये इति । तृणतुल्यमपि त्वां न मन्ये इत्यर्थः ।  
इयांस्तु विशेषः अत्रात्यन्तमनादरः पूर्वत्र त्वनादरमात्रम् ! उभयत्रापि  
सूत्रेण सिद्धम् ।

वार्त्तिककारस्त्वाह-प्रकृत्य कुत्सितग्रहणं कर्तव्यमिति । यद्वाचिन-  
श्चतुर्थी ततोऽपि यदि कुत्सा न तु साम्यमात्रं तदा चतुर्थीत्यर्थः ।  
एवञ्च प्रतिषेधयुक्तायामेव कुत्सायां चतुर्थीविधानात् प्रागुक्तभट्टि-  
प्रयोगो विरुध्यते सूत्ररतिता तु सः । तथा चापिशलिरपि मन्यक-  
र्मण्यनादर उपमाने विभाषा, प्राणिष्वित्यसुत्रयत् । अप्राणिष्वित्यपनीय  
अनावादिष्विति पाठ्यमिति भाष्यम् । नौकाकान्तशुकशृगालाः नावादयः ।  
(का०वा०) तेन न त्वां नावमन्त्रं वा मन्ये इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न ।  
न त्वां शुने मन्ये इत्यत्र तु प्राणित्वेऽपि चतुर्थी भवत्येवेति दिक् ।  
अनादरेति कर्मणो विशेषणम् । अनादरद्योतकं यत्कर्मैति । तेन तृणा-  
देरेव चतुर्थी न तु युष्मदः, व्यवस्थितविभाषाविज्ञानाद्वा ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयपादे प्रथममाहिकम् ।

कर्तृकरणयोस्तृतीया (पा०सु०२-३-१८) । रामेण बाणेन हतो  
घाली । प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् (का०वा०) । प्रकृत्याभिरूपः ।  
क्रियाया अश्रवणात् कर्तृकरणयोरभावात् षष्ठीह प्राप्ता । ननु गम्य-  
मानकरोतिक्रियाकरणत्वात् सिद्धम् । करणान्तरव्युदासाय हि प्रकृतेरेव  
करणत्वं विवक्षितम् । स्वभावेनायमभिरूपः कृतो न त्वलङ्कारादिनेत्यर्था-  
त् । इदन्तर्हि प्रायेण याज्ञिकाः । प्रायशब्दो बह्वर्थः । बहवो याज्ञिका  
इत्यर्थः । ननु याज्ञिकशब्दाभिधेयमध्ययनं प्रति बाहुल्यं करणम् । सङ्गी-  
भूय यज्ञमधीयते इत्यर्थात् । यत्रापि विशिष्टत्वेन काञ्चिद् दृष्ट्वा प्रायेणायं  
याज्ञिक इत्यध्यवस्यति । तत्रापि गम्यमानज्ञानक्रियां प्रति करणत्वात्  
सिद्धम् । आचारादिबाहुल्येन याज्ञिकोऽयमिति जनैर्ज्ञाप्यते इत्यर्थात् ।  
केचित्तु प्रायेणशब्दो विभक्तिप्रतिरूपको निरातो नूनमित्यर्थे वर्त्तते  
इत्याहुः । दृश्यते च प्रायेण सामान्यविधौ गुणानामिति । प्रायेण नि-  
ष्कामति चक्रपाणाविति च । इदं तर्हि गोत्रेण गार्ग्यः, प्रथमा षष्ठी वा  
प्राप्नोति । नन्विहापि अनेनाहं ज्ञाये इत्यर्थात्सिद्धम् । इदन्तर्हि समेन  
विषमेणैति, अत्र समविषमाभ्यां द्वितीया प्राप्ता । ननु पथोऽपि गम-  
करणत्वात् समेन पथेत्यर्थोऽहं । इदं तर्हि द्विदोणेन धान्यं क्री-



णाति । पञ्चकेन पशून् गृण्हाति । द्वयोर्द्रोणयोः समाहार इति द्विद्रोणं पा. नादिः । द्वो द्रोणौ कृत्वंत्यर्थः । इह द्वितीया षष्ठी वा प्राप्ता । पञ्च परिमाणमस्य पञ्चकः सङ्गः । तत्र सङ्गसङ्गिनोरभेदविवक्षायां पशूनि-  
त्यनेन सामानाधिकरण्यात् द्वितीया प्राप्ता । एतदपि प्रत्याख्यातं भाष्ये । द्विद्रोणाद्यर्थे मूल्ये द्विद्रोणादिशब्दः तस्य च क्रयं प्रति करण-  
त्वम् । द्विद्रोणादीनां च यन्मूल्यं तेन द्विद्रोणाद्येव क्रियते इत्यर्थभेदोऽपि नास्तीति ।

सहयुक्तेऽप्रधाने (पा०सू०२-३-१९) । सहाय्येन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । पितुरत्र क्रियासम्बन्धः शाब्दः, पुत्रस्य तु आर्थ इति तस्याप्राधान्यम् । सहे ऽप्रधाने इत्येव वाच्ये युक्त-  
ग्रहणादर्थग्रहणम् । पुत्रेण सार्धम् । विनापि सहशब्देन तदर्थावगतौ स्यादेव, तथा च सौत्रप्रयोगः । “वृद्धोयूना” (पा०सू०१-२-६५) इति । प्रधानग्रहणं शक्यमकर्तुम् । न चैवं पितुरपि तृतीयापत्तिः । तत्र प्रातिपदिकमात्रापेक्षत्वादान्तरङ्गत्वेन प्रथमोपपत्तेः ।

येनाङ्गविकारः (पा०सू०२-३-२०) । येन शरीरविकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अर्शआद्यजन्तः सुत्रे अङ्गशब्दः । तद्विकारलक्षक-  
श्च प्रकृत्यर्थभूतोऽवयव एव गृह्यते, सन्निधानात् । स चार्थाद्विकृत एव न ह्यविकृतेनावयवेन शरीरस्य विकारः सम्भवति । तदेतदभि-  
सन्धाय वृत्तावुक्तम्-येनाङ्गेन विकृतेनेत्यादि । अक्षणाकाणः । पादेन खञ्जः । पाणिना कुणिः । सामान्योपक्रमे वाक्ये अक्षणेऽयुक्ते भवत्याकाङ्क्षा, नि-  
रूपयति वा काणो वेति । तत्र काण इत्यादिप्रयोगो न विरुध्यते । यद्यप्यक्ष्येव काणं तथापि तद्योगाच्छरीरेऽपि व्यवहारो निरुद्धः । षष्ठ्यपवादो योगः । अक्षिसम्बन्धिकाणत्ववानित्यर्थात् ।

इत्थम्भूतलक्षणे (पा०सू०२-३-२१) । कश्चित् प्रकारं प्राप्त इत्थम्भू-  
तस्तल्लक्षणे तृतीया स्यात् । जटाभिस्तापसः । जटाह्वाप्यतापसत्ववान् ।

संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि (पा०सू०२-३-२२) । सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात् । पित्रा पितरं वा सज्जानीते । “सम्प्रति-  
भ्यामनाध्याने” (पा०सू०१-३-४६) इति तङ् । कृद्योगे तु परत्वात्षष्ठी । पितुः सङ्ज्ञाता । यत्तु हरदत्तेनोक्तम्, आध्याने परत्वात् “अधीगर्थ” (पा०सू०२-३-५२) इति षष्ठी मातुः सज्जानातीति । तन्न, तत्र शेषाभि-  
कारात् । कर्मत्वविवक्षायां तृतीयाद्वितीययोरेवक्ष्याभ्युपेयत्वात् । मि-  
श्रविषयया षष्ठ्या विप्रतिषेधस्यान्यायत्वाच्चेति दिक् ।

हेतौ (पा०सू०२-३-२३) । हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । धनेन कुलम् ।



विद्यया यशः । हेतुरिह लौकिकः फलसाधनीभूतः, न तु तत्प्रयोजको हेतुश्चेति कृत्रिमः । तस्य चकारेण कर्तृसंज्ञाविधानात्कर्तृकरणयोरित्येव तृतीयायाः सिद्धत्वात् । न च लौकिकहेतोरपि करणत्वात्तुल्यो दोष इति वाच्यम्, लौकिकस्य द्रव्यादिसाधारण्यात् निर्व्यापारसाधारण्याच्च । करणस्य तु क्रियामात्रविषयत्वात् व्यापारनियतत्वाच्च ।  
आह च—

द्रव्यादिविषयो हेतुः कारकं नियतक्रियम् । इति ।

अनाश्रिते तु व्यापारे निमित्तं हेतुरुच्यते । इति च ।

तथा फलमपीह हेतुशब्देन गृह्यते । अध्ययनेन वसति । इदञ्च “प्रत्ययः” (पा०सू०३-१-१) इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम् ।

अकर्तर्युपे पञ्चमी (पा०सू०२-३-२४) । कर्तृवर्जितं ग्रहणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात् । तृतीयापवादः । शताद्वयः । अकर्तरिति किम् ? शतेन बन्धितः । शतामिह उत्तमर्णाय धार्यमाणत्वाद्ग्रहणन्तत्प्रयोजको हेतुश्चेति चकारेण कर्तृसंज्ञञ्च । ननु पूर्वसूत्रे लौकिकस्य हेतुर्ग्रहणमित्युक्तम् । अयन्तु शास्त्रीयः । सत्यम्, शास्त्रीयस्यापि लौकिकत्वमस्त्येव । व्यापकं हि लौकिकं न तु विरुद्धम् । अथ वा इहार्थतया पूर्वसूत्रेऽपि सामान्यग्रहणमस्तु ।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् (पा०सू०२-३-२५) । गुणहेतावस्त्रोल्लिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् । जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः । पाण्डित्यात्पाण्डित्येन वा मुक्तः । गुणे इति किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियां किम् ? बुद्ध्या मुक्तः । इह सर्वे निविशतेऽपैतीति लक्षितो गुणो गृह्यते । तदनुपत्त्वादुदाहरणप्रत्युदाहरणयोः । इह “विभाषा” इति योगो विभज्यते । तेनागुणेऽपि कचिद्भवति, एवं स्त्रियामपि । एतच्च “हेतुमनुष्येभ्यः” (पा०सू० ४-३-८१) इति सूत्रे हरदत्तग्रन्थे स्पष्टम् । केचित्तु गुणशब्दोऽत्र परतन्त्रमात्रपरः । यस्य द्विगुणस्य भावादित्यत्र यथा । तेन बह्विमान्धूमादित्यादावपि पञ्चमी सिद्धेत्याहुः । कथन्तर्हि नास्तीह घटोनुपलब्धेरिति । अत्राहुः, स्त्रियामपि कचिद्भवति विभाषागुणे इतियोगविभागात् । बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेरिति वार्त्तिकप्रयोगश्चेह ज्ञापक इति ।

षष्ठी हेतुप्रयोगे (पा०सू०२-३-२६) । हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अत्रस्य हेतोर्वसति ।

सर्वनाम्नस्तृतीया च (पा०सू०२-३-२७) । सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोः । निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् (का०वा०) । किञ्चि-



मित्तं वसति । केन निमित्तेन । कस्मै निमित्तायेत्यादि । एवं किं कारणम् । को हेतुः । किं प्रयोजनमित्यादि । असर्वनाम्नोप्येतद्भवति, वृत्तिकारेणेऽपि भाष्यकारेण “हेतौ” (पा०सू०२-३-२३) इत्यत्र पठितत्वात् । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये नस्तः । अस्मिन् कारणेन वसति । अस्माय कारणायेत्यादि । वार्तिके पर्यायोपादानं प्रपञ्चार्यम्, प्रयोजनादिशब्दानुरोधेनार्थपरत्वस्वीकारात् ।

अपादाने पञ्चमी (पा०सू०२-३-२८) । स्पष्टम् । ग्रामादागच्छति । ह्यल्लोपे कर्मण्यधिकरणे चोपसङ्ख्यानम् (का०वा०) । प्रासादात्प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते, प्रासादमारुह्य आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः । गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तिनिमित्तम्, प्रविश पिण्डीतिवत् । तेन कुतोभवान्, पाटलिपुत्रादित्यादि सिद्धम् । इह हि प्रत्यक्षादिसिद्धमागमनमुपजीव्यावधावेव प्रभोत्तरे प्रवर्तते । एतेन “प्रभ्राख्यानयोश्च” इति वार्तिकं प्रत्याख्यातम्, अपेक्षितक्रियाया दानत्वेनैव सिद्धत्वात् । अन्यथा कश्चन्द्र इत्यादावतिव्याप्तेश्च । यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी । (का०वा०) तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ (का०वा०) । कालात्सप्तमी च वक्तव्या (का०वा०) । वनाद्गामो योजने योजनं वा । कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे । कृत्तिकाभिर्युक्ता पौर्णमासी कार्त्तिकी । पौर्णमास्यां “लुबविशेषे” (पा०सू०४-२-४) इति लुङ् न भवति, “सास्मिन्पौर्णमासीति (पा०सू०४-२-२१) इत्यधिकारे “विभाषाफाल्गुनीश्रवणाकार्त्तिकीचैत्रीभ्यः” (पा०सू०४-२-२३) इति निर्देशात् । अग्रे हायनमस्या इति आग्रहायणी । प्रज्ञादेराकृतिगणत्वार्त्तं स्वार्थिकोऽण, आग्रहायण्यश्वत्थादिनिपातनाणत्वम् । तद्युक्तादिति । तेन पञ्चम्यन्तेन अर्थद्वारेण युक्तात्काले वर्त्तमानान्मासादिशब्दादित्यर्थः । अत्र भाष्ये कार्त्तिक्याः प्रभृतीति प्रयोगात्प्रभृतियोगे पञ्चमीति कैयटः । प्रभृतीत्यर्थग्रहणम्, तत आरभ्येत्यर्थ इति कैयटात् । स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्वानीति कुमारः ।

अन्यारादितरर्त्तदिकशब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते (पा०सू०२-३-२९) । एतैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अन्य इत्यर्थग्रहणम् । इतरग्रहणन्तु प्रपञ्चार्थम् । न च इतरस्त्वन्यनीचयोः (अ०को०३-३-२००) इत्यमरोक्तेर्नोचार्थकस्येदं ग्रहणमिति वाच्यम्, “अस्मात्तारो मन्दो वा” इत्यादाविव “पञ्चमीविभक्ते” (पा०सू०२-३-४२) इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । देवदत्तादन्यो भिक्षो विलक्षणेऽर्थान्तरं वेत्यादि । न चैवं ‘घटः पटो न’ इत्यत्रातिप्रसङ्गः, नञोऽप्यन्योन्याभावार्थकत्वात् । घटाद्देव इत्याद्यनुरोधेन धर्मि-



पर्यन्तविवक्षाया अयोगादिति वाच्यम्, नञो धातकताया उक्तत्वात् ।  
आराद्वेदत्वात् । इह “दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्” (पा०सू०२-  
३-३४) इति प्राप्तः । “आराद्दूरसमीपयोः” (अ०को०३-३-२५) “एते  
कृशानो न हि मन्त्रपूतम्” । अत्र ऋतेयोगे पाक्षिकी द्वितीयापीत्युक्तं  
प्राक् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः । तेन सम्प्रति देशकालवृत्ति-  
नाऽपि योगे भवति । ग्रामात्पूर्वो देशः । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । कथन्त-  
र्हि पूर्वं कायस्येति ? उच्यते, अवयववाचिभिर्योगे न भवति “तस्य  
परमाप्नेडितम्” (पा०सू०८-१-२) इति निर्देशात् । अञ्चूत्तरपदस्य  
दिक्शब्दत्वेऽपि “षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन” (पा०सू०२-३-३०) इत्येतद्वा-  
धनार्थं पृथग्ग्रहणम् । प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात् । न च तेन सध्यङ्ङि-  
त्यादौ पञ्चम्यर्थं तत्किञ्च स्यादिति वाच्यम्, दिक्शब्दसाहचर्येण प्रा-  
गादीनामेव ग्रहणात् । आच्—दक्षिणा ग्रामात् उत्तरा वा । आहि—  
दक्षिणाहि उत्तराहि ग्रामात् । “दक्षिणादाच्” (पा०सू०५-३-३६) । “आ-  
हि च दूरे (पा०सू०५-३-३७) “उत्तराच्च” (पा०सू०५-३-३८) इत्याजार्ही ।  
षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन (पा०सू०२-३-३०) । एतद्योगे षष्ठी स्यात् ।  
दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतः । “दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्” (पा०सू०५-३-  
२८) । एवं पुरःपुरस्तादुपर्युपरिष्ठात् ।

एनपा द्वितीया (पा०सू०२-३-३१) । एनबन्तेन योगे द्वितीया  
स्यात् । षष्ठ्यपीष्यते । सा तु ‘एनपा’ इति योगं विभज्य साधनीया ।  
दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण । “एनबन्त्यतरस्यामदूरेपञ्चम्याः”  
(पा०सू०५-३-३५) इत्येनप् । कथन्तर्हि—

तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयम् ।

“स्यधिकारात्परेण वासरूपविधिर्नावश्यं भवतीत्यादि” । एनबपि  
परशब्दात्पाक्षिकः । यदा तद्विधौ “उत्तराधरदक्षिणात्” (पा०सू०५-३-  
३४) इति नानुवर्तते । सत्यम्, अत एव चिन्त्यमेवेदमिति हरदत्तः ।  
उत्तरेणेति तृतीयैकवचनान्तं तोरणेनेत्यनेन समानाधिकरणमित्यन्ये ।  
अपरे तु धनपतिगृहानिति शसन्तं पठन्ति ।

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम् (पा०सू०२-३-३२) । अन्य  
तरस्याग्रहणं समुच्चयार्थम्, निपातानामनेकार्थत्वात् । मण्डूकप्लुत्या  
पञ्चम्यनुवर्तते । एभिर्योगे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः । वृत्तिकारस्त्वाह—  
“पृथग्विनानानाभिः” इति योगविभागाद् द्वितीयापीष्यत इति । पृथग्रा-  
मेण रामाद्रामं वा । एवं विना नाना । “हिरुङ् नाना चवर्जने” (अ०को०  
३-४-३) इत्यमरः । “नानानारीर्निष्फला लोकयात्रो” । इति प्रयोगः ।



करणे च स्तोकात्पकृकृतिप्रयस्यासत्त्ववचनस्य (पा०सू०२-३-३३) । अद्रव्यार्थेभ्य एभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः । स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः । असत्वेति किम् ? स्तोकेन विषेण हतः ।

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् (पा०सू०२-३-३४) । एतैर्योगे षष्ठी स्यात्पञ्चमी च । “पृथग्विना” (पा०सू०२-३-३२) इत्यत्र पञ्चमी समुच्यते इत्युक्तम् । इहाप्येकप्रघट्टकत्वात्तथैवेति द्रष्टव्यम् । दूरमन्तिकं वा ग्रामस्य ग्रामाद्वा ।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च (पा०सू०२-३-३५) । एभ्यो द्वितीया स्याच्चकारात्पञ्चमीतृतीये । प्रातिपदिकार्थे विधिरयम् । ग्रामस्य दूरं दूराद् दूरेण वा । अन्तिकमन्तिकादन्तिकेन वा । उत्तरत्राप्येतदनुवृत्त्या तत्तद्विषयेऽपि द्वितीयादयः स्युः । तथा चाधिकरणेऽपि प्रयुज्यते—दूरादावसथान्मूत्रमिति । आवसथस्य दूरे इत्यर्थः । असत्त्ववचनग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न—दूरः पन्थाः । दूराय पथे देहि । दूरस्य पथः स्वमिति ।

सप्तम्यधिकरणे च (पा०सू०२-३-३६) । चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । कटे आस्ते । दूरान्तिकार्थेभ्यः प्राग्विभक्तित्रयमुक्तम् । अनेन च सप्तमीति तेभ्यश्चतस्रो विभक्तयः फलिताः । कस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम् (का०वा०) । इनिति इन्नन्तः शब्दः । विषयो वृत्तिभूमिर्यस्य कान्तस्य तस्येत्यर्थः । अधीती व्याकरणे । अधीतमनेनेति विग्रहः । “श्राद्धमनेन भुक्तम्” (पा०सू०५-२-८५) इत्यतो ऽनेनेति वर्त्तमाने “इष्टादिभ्यश्च” (पा०सू०५-२-८८) इति सूत्रेण कर्त्तरीनिप्रत्ययः । ततस्तद्विधितार्थेन सहैकार्थीभूतस्याधीतस्य निष्कृष्य व्याकरणादिना सम्बन्धाभावात् । कप्रत्ययेनानभिहितं व्याकरणम् । तत्र कृतपूर्वी कटमितिबद् द्वितीया प्राप्ता । गुणभूतयाऽपि हि अध्ययनक्रियया कर्मणः सम्बन्धो न विरुद्धः, “सहाधीतवान् व्याकरणम्” इत्यादौ यथा । आह च—

अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः ।

क्रिया सम्बध्यते तद्वत् कृतपूर्व्यादिषु स्थिता ॥ इति ।

न विविच्य ग्रहो यस्याः सा अविग्रहा, गुणीभूतेत्यर्थः । ननु कालकर्मणोऽपि सप्तमी प्राप्नोति “मासमधीती व्याकरणे” इत्यादौ । मैवम्, तस्य बाह्यङ्गत्वात् । न चैवं तत्र द्वितीयापि न स्यादिति वाच्यम्, तद्विधाने लक्ष्यानुरोधेन व्यक्तिपक्षस्याश्रयणात् । साध्वसाधुप्रयोगे च (का०वा०) । साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले । अत्र साधुत्वासाधु-



त्वयोर्मात्रादिविषयत्वेऽपि क्रियाया अभावेनाधिकरणत्वाभावाच्चनम् ।  
 'साधुनिपुणाभ्याम्' (पा०सू०२-३-४३) इत्येव सिद्धे अनर्चार्थमत्र  
 साधुग्रहणम् । तेन तत्त्वकथनेऽपि भवति । सूत्रे अर्चाग्रहणन्तु निपुणा-  
 र्थम् । साधुग्रहणन्तु तत्र वार्त्तिकं दृष्ट्वा सूत्रस्याप्रवृत्तेरिति ध्येयम् । अर्हाणां  
 कर्तृत्वे अनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च (का०वा०) । सस्सु तरस्सु  
 असन्त आसते इत्यादि । यद्यपीदं "यस्य च भावेन" (पा०सू०२-३-३७)  
 इत्येव सिद्धम् । तथाहि 'लक्ष्यलक्षणभावाविवक्षायामपि यथा स्या-  
 दिति वचनमित्याहुः । निमित्तात्कर्मयोगे (का०वा०) । निमित्तमिह  
 फलम् । तद्वाचिनः सप्तमी स्यात् । यदि तस्य कर्मणा सह योगो योग-  
 विशेषः संयोगसमवायात्मकः ।

चर्मणि द्वीपिने हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।

केशेषु चमरीं हन्ति सीम्निपुष्कलको हतः ॥

चर्मफलकं द्वीपिकर्मकं हननमित्यर्थः । अत्र हेतुतृतीया प्राप्ता ।  
 तत्र हि फलमपि हेतुशब्देन गृह्यते । "अध्ययनेन वसति" इत्यादिसिद्धये  
 इति "प्रत्ययः" (पा०सू०३-१-१) इति सूत्रे कैयटे स्थितम् । अत्र द्वी-  
 पिचर्मणोः समवायः सम्बन्धः । चमरशब्दाज्जातिलक्षणो डोष् ।  
 पुष्कलकः शङ्कुः । ससीम्नि सीमज्ञानार्थं हतो निहतः निखात इत्यर्थः ।  
 निहन्यमानेन शङ्कुना सह सीम्नः संयोगः सम्बन्ध इति हरदत्तादयः ।  
 दुर्गवाक्यप्रबोधे तु कुलचन्द्रस्त्वाह-सीमा अण्डकोशः । पुष्कलको गन्ध-  
 मृगः । उक्तं च मेदिनीकोश—

सीमा घाटस्थितिक्षेत्रेष्वण्डकोशेषु च स्त्रियाम् । इति ।

अथ पुष्कलको गन्धमृगे क्षपणकीलयोः । इति च ।

कर्मयोगे किम् ? वेतनेन धान्यं लुनाति ।

यस्य च भावेन भावलक्षणम् (पा०सू०२-३-३७) । यस्य क्रिया  
 या क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात् । निर्वातकाला क्रिया  
 अनिर्वातकालायाः क्रियायाः कालपरिच्छेदकत्वात् लक्षणमित्युच्यते ।  
 गोषु दुह्यमानासु गतः । एवं देशपरिच्छेदिकाऽपि सति गुणे द्रव्य-  
 त्वमस्ति ।

षष्ठीचानादरे (पा०सू०२-३-३८) । अनादराधिक्ये भावलक्षणे  
 षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । इह सूत्रे अनादरे इति पूर्वेण सप्तसप्तमी । अना-  
 दरे सति यो भावः लक्ष्यतीति । तथाच तदाधिक्यं फलितम् ।  
 रुदति रुदतो वा प्राजाजित् । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य सन्यस्तवा-  
 नित्यर्थः ।



स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च (पा०सू०२-३-३९) ।  
एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकस-  
प्तम्यर्थे वचनम् । गवां गोषु वा स्वामी, ईश्वरो वेत्यादि । दायादादत्ते  
इति दायादः, सोपसर्गादप्यत एव निपातनात्कः । गवामित्येतन्न  
यद्यपि समुदायस्य विशेषणम्, तथापि दीयते इति दाय इति व्युत्प-  
स्या अवयवार्थभूतमंशं स्पृशत्येव । तेन गवात्मकस्यांशस्यादातेति  
फलितोऽर्थः । गवां प्रसूतः, गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः ।

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् (पा०सू०२-३-४०) । आभ्यां योगे  
षष्ठीसप्तम्यौ स्त आसेवायां गम्यमानायाम् । आसेवा तात्पर्यम् ।  
आयुक्तो व्यापारितः । कुशलो निपुणः । आयुक्तः कुशलो वा हरिभ-  
जनस्य हरिभजने वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे, ईष-  
द्युक्त इत्यर्थः ।

यतश्च निर्द्धारणम् (पा०सू०२-३-४१) । जातिगुणक्रियासञ्ज्ञाभिः  
समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्द्धारणं, यतो निर्द्धारणं ततः  
षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः । गवां गोषु वा कृष्णा  
बहुक्षीरा । गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः । अमीषां छात्राणां देव-  
दत्तः पटुः ।

पञ्चमी विभक्ते (पा०सू०२-३-४२) । विभागो विभक्तम् । निर्द्धार्यमा-  
णस्य यत्र भेद एव न तु शब्दोपात्तसामान्यरूपाकान्तता, तत्र निर्द्धार-  
णाश्रयात्पञ्चमी स्यात् । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः । न  
ह्यत्र गवां कृष्णा इत्यादिष्विव सामान्यविशेषभावः, किन्तु शब्दोपात्तध-  
र्मयोर्विरोध एव । इदञ्च सूत्रं बुद्धिकल्पितमपायमाश्रित्यापादानप्रक-  
रणे प्रत्याख्यातम् । आह च—

बुद्ध्या समीहितैकत्वात् पञ्चालान् कुरुभिर्यदा ।

पुनर्विभजते वक्ता तदापायः प्रतीयते ॥ इति ।

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः (पा०सू०२-३-४३) । आभ्यां  
योगे सप्तमी स्यादर्चायां गम्यमानायां, न तु प्रतेः प्रयोगे । मातरि सा-  
धुनिपुणो वा । “पुण कर्मणि शुभे” (तु०प०१३३३) अस्मान्निपूर्वादिगुपध-  
लक्षणः कः । “अर्च पूजायाम्” (भ्वा०प०२०४) अस्माद्वादिगाद् “गुरोश्च  
हलः” (पा०सू०३-३-१०३) इत्यप्रत्ययः । चौरादिकात् “ण्यासश्च”  
(पा०सू०३-३-१०७) इति युच् स्यात् । अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो  
भृत्यः । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् । साधुशब्दप्रयोगे त्वनर्चायामपि  
सप्तमी भवत्येव । साध्वसाधुप्रयोगे च (का०वा०) इति वार्त्तिकादिति



प्रागेवोक्तम् । अपत्यादिभिरिति वक्तव्यम् (का०वा०) । नेह-साधुर्नि-  
पुणो वा मातरम्प्रति पर्यनु वा ।

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च (पा०सु०२-३-४४) । आभ्यां योगे  
तृतीया स्याच्चात्सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा । “तत्परे  
प्रसितासक्तौ” (अ०को०३-१-७) इत्यमरः । उत्सुकसाहचर्यात्प्रसितोऽपि  
तत्पर एवेह गृह्यते । तेन प्रकर्षेण सितः शुक्ल इत्यर्थे न भवति ।

नक्षत्रे च लुपि (पा०सु०२-३-४५) । नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे सति यो  
लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्तृतीयासप्तम्यौ स्तो-  
ऽधिकरणेऽर्थे ।

मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् ।

मूले श्रवणे इति वा । “नक्षत्रेण युक्तः कालः” (पा०सु०४-२-३)  
इत्यणो “लुबविशेषे” (पा०सु०४-२-४) इति लुप् । अधिकरणे किम् ?  
पुष्यः । पुष्यं प्रतीक्षते । पुष्याय स्पृहयति ।

अत्र कंचित्-सूत्रे पञ्चम्यर्थे सप्तम्यौ । लुबन्तान्नक्षत्रवाचिन इति  
व्याचख्युः । तेषां लुबन्तविशेषणान्न स्यात् । “उत्तराभ्यां काल्गुनीभ्यां  
नोत्तराभ्यां गच्छेत्” इति यथेति हरदत्तः ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयपादे द्वितीयमाहिकम् ।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (पा०सु०२-३-४६) ।  
प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्रादिषु च प्रथमा स्यात् । इन्द्रान्ते श्रुत-  
त्वात्प्रत्येकं मात्रशब्दः सम्बध्यते । स चावधारणे । “मात्रं कात्यऽवधा-  
रणे” (अ०को०३-३-१८६) इत्यमरः । प्रातिपदिकार्थादीन्धेव तन्मात्र-  
मित्यस्वपदविग्रहः । “मयूरव्यंसकादयश्च” (पा०सु०२-१-७२) इति  
समासः । प्रातिपदिकार्थः सत्ता । उक्तं हि-“तस्यां सर्वे शब्दा व्यव-  
स्थिताः” इति ।

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते । इति च ।

उच्चैः । नीचैः । अत्र हि परिमाणविशेषोपहितं सत्तामात्रं प्रतीयते  
इत्याहुः । अन्ये तु नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थ इत्याहुः । अस्मि  
न्पक्षे ‘वृक्षः कुड्यं भित्तिः’ इत्यादीनां नियतलिङ्गानां प्रातिपदिकार्थमात्रे  
प्रथमेत्येव सिद्धम् । लिङ्गमात्रे इति तु तटस्तटीतटमित्याद्यर्थम् । न  
ह्यत्र पुंस्त्वादि नियतोपस्थितिकम् । अतः लिङ्गमात्राधिक्येऽपि विधी-  
यते । परिमाणमात्रे द्रोणो व्रीहिः । इह हि द्रोणलक्षणं यत्परिमाणन्त-  
र्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः । प्रकृत्यर्थस्य द्रोणस्य प्रत्ययार्थे परिमाणे



ऽभेदेन संसर्गेण विशेषणता, प्रत्ययार्थश्च । ब्रीहिषु परिच्छेद्यपरिच्छेदक-  
भावेन संसर्गेण विशेषणमिति बोध्यम् । वचनमात्रे-एकः द्वौ बहवः ।  
वचनं सङ्ख्या, तथैव प्राचां व्यवहारात् । तत्र प्रकृत्या उक्तायामपि  
सङ्ख्यायां यथा स्यादित्येतदर्थमिदं वचनम् ।

इह सूत्रे 'अर्थलिङ्गयोः प्रथमा' इत्येतावदेवावश्यकम्, इतरत्तु  
व्यर्थम् । तथाहि प्रातिपदिकग्रहणं तावद्व्यर्थम् । ऊयाप् प्राति-  
पदिकाद्धि स्वादयो विधीयन्ते । तत्रार्थे इत्यपेक्षायां यस्मा-  
त्स्वादिविधिस्तदर्थ इति लभ्यत एव । परिमाणमप्यनर्थकम्,  
'गौर्वाहीकः' इत्यादाविव मुख्यार्थमात्रे प्रथमायां सत्यां पदान्तर-  
समभिव्याहारेण गौणार्थप्रतीत्युपपत्तेः, वाहीके गोत्वस्यैव ब्रीह्यादौ  
द्रोणत्वादेशारोपसम्भवात् । एवं वचनग्रहणमपि व्यर्थम्, "न केवला  
प्रकृतिः प्रयोक्तव्या" इति "प्रत्ययः" (पा०सू०३-१-१) "परश्च" (पा०सू०  
३-१-२) इति सूत्रे वक्ष्यमाणतया प्रत्ययस्यावश्यकत्वात् । अनन्वितवच-  
नप्रयोगापेक्षया अनुवादकप्रयोगस्यैव न्याय्यत्वात् । मात्रग्रहणमपि  
व्यर्थम्, "सम्बोधनं च" (पा०सू०२-३-४७) इति ज्ञापकेन कर्माद्याधिक्ये  
प्रथमाया अप्रवृत्तेः । ननु 'वीरः पुरुषः' इत्यादौ अभेदसंसर्गस्याधिकस्य  
भानात् प्रथमा न स्यादिति चेत् ? न, संसर्गस्य वाक्यार्थत्वेन बहिरङ्ग-  
त्वात्प्रथमप्रवृत्तसंस्कारबाधानुपपत्तेः ।

वार्तिककारस्त्वाह--अभिहिते प्रथमेति । 'वृक्षस्तिष्ठति' 'कृतः  
कटः' 'शत्यः' 'प्राप्तोदको ग्रामः' इत्यादौ तिङादिभिरभिहिते कर्मा-  
दौ प्रथमा भवतीत्यर्थः । एवञ्च 'वीरः पुरुषः' इत्यादौ सत्य-  
प्याधिक्ये अभिहितत्वात् प्रथमा सिद्धेति । न च 'वृक्षः' 'लूक्षः'  
इत्यादावव्याप्तिः, अस्तीत्यध्याहारात् ।

अत्र भाष्यम्-अभिहितेनाभिहितेतिप्रसङ्ग इति । तथाहि, 'प्रासाद  
आस्ते' इत्यत्र सदिक्रियायाश्चासिक्रियायाश्चैकमधिकरणं प्रासादाख्यं  
तच्च सद्व्युत्पन्नेन घञाभिहितम् । आसेर्लटा त्वनभिहितम् ।  
तत्र सप्तमीं वाधिरत्वा परत्वात्प्रथमा स्यात् । अतिङ्समाना-  
धिकरणे प्रथमेत्युच्येत । तदपि न, 'देवदत्तः पचति' इत्यादिषु  
तिङां दौर्लभ्यापत्तेः । तथाहि, देवदत्तः पच लट् इति स्थिते याव-  
त्तिङो न कृतास्तावत्तिङ्समानाधिकरणयाभावात् प्रथमैवेति नियमो  
न प्रवर्तत । तथा च देवदत्तशब्दादविशेषोत्पन्नाः सर्वे स्वादयः सन्त्ये-  
वेति शतृशानचौ स्याताम् । तन्निमित्तभूतस्याप्रथमान्तेन सामानाधि-  
करण्यस्य सत्त्वात् । तिङ्विधेस्तु लिङ्गादिष्ववकाशः । स एव प्रथमै-



वेति नियमस्यापि “विदो लटो वा” (पा०सू०३-४-८३) इत्यादेस्तु विदि-  
मात्रप्रयोगे चरितार्थता । यथा “वेत्थ वेद” इत्यादि । स्थानिन्यपि  
मध्यमोत्तमयोर्विधानादर्थप्रकरणाद्वा निज्ञातस्य प्रयोगानावश्यकत्वा  
च्च । पाक्षिकश्चायं दोषः । शत्रादिविधौ हि ‘अप्रथमा’ इत्यादिः पर्युदासः  
प्रसज्यप्रतिषेधो वेति द्वैतम्, तत्र द्वितीये उक्तदोषस्यासङ्गतः प्रथमाया  
अपि सत्त्वेन शत्रादिनिषेधसम्भवात् ।

यत्तु भाष्ये पर्युदासपक्षे “विभक्तिनियमे दोषो न” इत्युक्तमातङ्गिन्यम्,  
तत्र हि द्वितीया कर्मण्येवेत्यादि वचनव्यक्त्याश्रयणात् । देवदत्ते द्वितीया  
मा भूत्, षष्ठी तु स्यादेव । सा हि शेष एवेति नियम्यते । यत्र च वि-  
भक्त्यन्तरस्य नियमो न प्रवृत्तः स शेषः । ततश्च तिङ्ः सामानाधिक-  
रण्यात् प्राक् शेषलक्षणषष्ठ्यां सत्यां दुर्वारौ शतृशानचाविति ।

सम्बोधने च (पा०सू०२-३-४७) । इह प्रथमा स्यात् । हे राम ।

सामन्त्रितम् (पा०सू०२-३-४८) । सम्बोधने या प्रथमा तदन्तं श  
ब्दरूपमामन्त्रितसङ्गं स्यात् । यद्यपि संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्र  
हणं दुर्लभं, तथापि महासंज्ञाकरणाल्लभ्यते आमन्त्रणमामन्त्रितम् । अ  
भेदोपचारात्तत्साधने शब्दे वृत्तिः । विभक्त्यन्तेन चामन्त्र्यते न तु के-  
वलया विभक्त्येति । संज्ञाप्रदेशाः, आमन्त्रितस्य चेत्यादयः । सेनि  
किम् ? प्रातिपदिकार्थसूत्रेणाऽपि या सम्बोधने प्रथमा तदन्तस्यापीयं  
संज्ञा यथा स्यात् । हे पचन्, हे पचमान । इह हि शतृशानचोः सम्बो-  
धने विधानादभिहितः सोऽर्थोऽन्तर्भूत इति पूर्वणैव प्रथमा । यदि तु  
विभक्तिरहितयोस्तयोः कर्त्राद्यभिधान एव सामर्थ्यमायथा द्विवचनरहि-  
तस्य लोटः, तेनेहापि “सम्बोधने च” (पा०सू०२-३-४७) इति पक्षः ।  
तदा सेति मास्तु, ‘अनन्तरस्य विधिर्वा’ इति प्रवृत्तेऽपि रूपनिष्पत्तेः ।

एकवचनं सम्बुद्धिः (पा०सू०२-३-४९) । आमन्त्रितप्रथमाया यदेक-  
वचनं तत्सम्बुद्धिसङ्गं स्यात् । हेपटो । “सम्बुद्धौ च” (पा०सू०७-३-१०६)  
इति वर्तमाने “ह्रस्वस्य गुणः” (पा०सू०७-३-१०८) । सु सम्बुद्धिरिति  
वाच्ये एकवचनग्रहणमेकोऽर्थ उच्यते, येन तावन्मात्रस्य प्रत्ययस्य  
संज्ञार्थम् । अन्यथा प्रक्रमामेदाय तदन्तस्य स्यात् ।

षष्ठी शेषे (पा०सू०२-३-५०) । कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः  
स्वस्वामिभावादिः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । ननु प्रत्यय-  
नियमपक्षे शेष एवेत्यवधारणार्थमस्तु नाम शेषग्रहणम् । अर्थनियमपक्षे  
तु षष्ठ्याश्चान्यस्य च प्राप्तौ षष्ठ्येवेति नियमसम्भवात्किन्तेनेति चेत् ? न,  
उत्तरार्थमवश्यकर्तव्यस्य शेषग्रहणस्य स्पष्टार्थमिद्वैव ग्रहणम् । न चा-



प्रधानाद्ये शेषग्रहणम् । तेन द्वयोः पर्यायेण वा न स्यादिति वा-  
क्यम्, प्रत्ययार्थस्य प्राधान्येनाप्रधानादेव षष्ठ्या स्यात्प्रत्ययार्थः । अत्र  
कृत्यर्थे पुरुषं तु 'राज्ञः' इति षष्ठ्यर्थस्य विशेषणत्वमुचितमेवेति दिक् ।

ज्ञोविदर्थस्य करणे (पा०सू०२-३-५१) । जानातेरज्ञानार्थस्य करणे  
शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । समासनिवृत्त्यर्थमिदं प्रकरणमिति "न  
निर्धारणे" (पा०सू०२-२-१४) इति सूत्रे "प्रतिपदविधाना च" (का०वा०)  
इति वार्तिकस्य प्रत्याख्यानावसरे एवोपपादितम् । सर्पिषो ज्ञानम् ।  
वस्तुतः करणीभूतं यत्सर्पिस्तत्सम्बन्धिनी प्रवृत्तिरित्यर्थः । ज्ञानपूर्वि-  
कायां प्रवृत्तौ जानातेर्लक्षणा ।

अधीगर्थदयेशां कर्मणि (पा०सू०२-३-५२) । एषां कर्मणि शेषे षष्ठी  
स्यात् । "इक् स्मरणे" (अ०प०१०४७) ककार इहैव विशेषणार्थः ।  
अधिशब्दोच्चारणस्तु सामान्यापेक्षज्ञापकं "इङ्किावध्युपसर्गं न व्यभि-  
चरते" इति । अत एव स्मृत्यर्थदयेषामिति नोक्तम् । सूत्रभङ्गपक्षेऽपि हि  
कित्वं कर्त्तव्यमेव "इण्वदिक" (का०वा०) इत्यत्र विशेषणार्थम् ।  
"एः" इत्युक्तेः "कटीगतौ" (श्वा०प०३२०) इत्यत्र प्रश्लिष्टस्यायतेर्ग्रहणा-  
यत्तेः । मातुः स्मरणम् । सर्पिषोऽद्यनमीशनं वेत्यादिवृत्त्यादिग्रन्थेष्विह  
प्रकरणे उदाहरणं प्रत्युदाहरणञ्च । यद्यपि तिङन्तं दृश्यते, तथापि त-  
सर्वमुपलक्षणतयाऽभियुक्तैर्व्याख्यातमेव ।

कृजः प्रतियत्ने (पा०सू०२-३-५३) । करोतेः कर्मणि शेषे षष्ठी  
स्यात् गुणाधाने । एधो दकस्योपस्करणम् । एधाश्चोदकञ्चेति विग्रहे  
"जातिरप्राणिनाम्" (पा०सू०२-४-६) इत्येकवद्भावः । "उपात्प्रतियत्न" (पा०सू०६-१-१३९) इत्यादिना सुट् ।

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः (पा०सू०२-३-५४) । भावकर्तृका-  
णां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । चौरस्य रो-  
गस्य रुजा । रुजो भङ्गे (तु०प०१४१६) । भिदादिपाठात्प्रकृतसूत्रएव नि-  
पातनाद्धाङ् । रुजाशब्दो व्याधौ रुढः । सूत्रं भाववचनानामिति कर्त्त-  
रि ल्युट् । प्रकृत्यर्थस्तु न विवक्षितः । तर्हि भावो वक्ता सम्भवति । त-  
स्मात् प्रत्ययस्य साधुत्वनिर्वाहाय वचिर्बोध्यः । अज्वरिसन्ताप्योरिति  
वाच्यम् (का०वा०) । रोगस्य चौरज्वरः, चौरसन्तापो वा । रोगकर्तृक-  
ञ्चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः । तपेर्हेतुमण्यन्तादेरच् । इह समासो  
भवत्येव ।

आशिषि नाथः (पा०सू०२-३-५५) । आशीरर्थस्य नाथतः शेषे  
कर्मणि षष्ठी स्यात् । सर्पिषो नाथनम् । आशिषीति किम् ? माणवक-



नाथनम्, तत्सम्बन्धिनी याञ्चेत्यर्थः । यद्यपि कर्मत्वविषक्षायां “कर्तृ-  
कर्मणोः” (पा०सू०२-३-६६) इति यदा षष्ठी तदा समासो भवत्येव,  
तथापि तत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । समासाग्नोदात्तत्वं तु याञ्चादावे-  
व न त्वाशिषीति निष्कर्षः ।

जासिनिप्रहणनाटकाथपिषां हिंसायाम् (पा०सू०२-३-६६) । हिं  
सार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । जसु ताडने ( चु० प० १७१८ )  
जसु हिंसायाम् ( चु० उ० १६६८ ) इति च चुरादिः, तस्येदं प्रहणं न तु  
दैवादिकस्य जसुमोक्षणे ( दि० प० १२११ ) इत्यस्य । जासीति निर्द्देशात्  
हिंसायामिति वचनाच्च । चौरस्योज्जासनम् । निप्राभ्यामुपसृष्टो हनो  
निप्रहणः । “हन्तेरत्पूर्वस्य (पा०सू०८-४-२२) इति णत्वम् । निप्रौ संहतौ  
विपर्यस्तौ व्यस्तौ च । चौरस्य निप्रहणनं प्राणिहननं निहननं प्रहणनं  
वा । प्रणीत्यत्र “नेर्गद” (पा०सू०८-४-१७) इति णत्वम् । नट अवस्थन्दने  
( चु० उ० १५४५ ) चुरादिः । नट नृत्तौ ( भ्वा० प० ७८१ ) इत्यस्य तु  
घटादेरप्रहणम्, दीर्घनिर्द्देशात् । चौरस्योन्नाटनम् । कथ हिंसायाम्  
( भ्वा० प० ८१ ) इति घटादौ पठ्यते तस्येह निपातनाहुद्धिरिति वृत्तिकारः ।  
अत एव “कथ हिंसायाम्” इति जुजादौ स्वरितेत्वं वदन्, देवस्तत्रैवानु-  
दात्तेत्वं पठन्, शाकटायनश्च मतान्तरपरतया नीतो माधवादिभिः ।  
चौरस्य क्राथनम् । मित्वन्तु “चिण्णमुलोः” ( पा० सू० ६-४-२३ ) इति  
दीर्घविकल्पार्थम् । अक्रथि अक्राथि । कथं कथम् । क्राथं क्राथम् । इह  
हि निपातनं बाधित्वा परत्वाद्दीर्घविकल्पः ।

यसु न्यासकृतोक्तं क्राथीति विकृतनिर्द्देशात् मित्वेऽपि वृद्धिर्यत्र  
तत्रैव षष्ठी । चङन्ते तु वृद्धाभावात् चोरमचिकथदिति । तन्मन्दम्,  
समासनिवृत्तये प्रकरणमिदमिति सिद्धान्तात् तिङन्तानामनुदाहरण-  
त्वात् चङन्तेऽपि शेषषष्ठ्या दुरपहवत्वादिति माधवः । न च  
क्राथेरेव शेषे षष्ठी न तु ह्रस्वस्येति व्याख्यानात्प्रकरणं मित्वा  
प्रकृते तिङन्तमप्युदाहरणमस्त्विति न्यासस्याशयो वाच्यः, एवमपि  
द्वितीयाया दुर्लभत्वात् प्रक्रमभेदे मानाभावाच्च । यद्यपि हरदत्ते-  
नोक्तं घटादिपाठः “घटादयः पितः” ( ग० सू० ) इति आतिदेशि-  
कषित्वे अङ् यथा स्यादित्येतदर्थ इति । तदपि मन्दम्, “घटादयः  
पितः” ( ग०सू० ) इति हि मध्ये सूत्रितम् । तेन पूर्वेषामेव पित्वं न तु परे-  
षामपि, परश्चायमिति दिक् । वृषलस्य पेषणम् । हिंसायां किम् ? धा-  
नापेषणम् । अन्तोदात्तः । शेष इत्यनुवृत्तेः कर्मत्वविषक्षायां द्वितीयैव ।  
तथा च भट्टिः-“अग्नौ द्विजान्देवयजीभिहन्मः” इति । “निजैजिसोज्जा-



सयितुं जगद्ब्रूहाम् । (मा० का० १-३७) इति माघस्तु शेषत्वे बोध्यः ।

व्यवहृपणोः समर्थयोः (पा०सू० २-३-५७) । शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता बोध्या । शतस्य व्यवहृ-  
णं पणनं वा । शतसम्बन्धी क्रयविक्रयरूपेण विनियोगो देवनं वेत्यर्थः ।  
समर्थयोः किम् ? शलाकाव्यवहारः, गणनेत्यर्थः । ब्राह्मणपणनम्,  
स्तुतिरित्यर्थः । “आयादयार्धधातुके वा” (पा०सू० ३-१-३१) इति आ-  
यस्य विकल्पः ।

दिवस्तदर्थस्य (पा०सू० २-३-५८) । इह शेषे इति न सम्बध्यते,  
उत्तरसूत्रद्वयारम्भात् । पूर्वसूत्रेणैव दिवेः पाठे तदर्थस्येति न कर्तव्यमि-  
ति । यद्यपि लाघवं तथापि योगविभाग उत्तरार्थः, शेषासम्बन्धार्थश्च ।  
व्यवहृपणिसमानार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात् । इह त्रिसूत्र्यां तिङ्-  
न्तमप्युदाहरणम् । शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति ।

विभाषोपसर्गे । (पा०सू० २-३-५९) । पूर्वयोगापवादः । शतस्य शतं  
वा प्रतिदीव्यति ।

द्वितीया ब्राह्मणे (पा०सू० २-३-६०) । ब्राह्मणविषये प्रयोगे दिवस्त-  
दर्थस्य कर्मणि द्वितीया वा स्यात् । षष्ठ्यपवादः । गामस्य तदहः स  
भायां दीव्येयुः । सौप्तसर्गस्य छन्दसि व्यवस्थितविभाषयापि सिद्धे नि-  
रूपसर्गार्थ आरम्भः ।

प्रेष्यब्रूवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने (पा०सू० २-३-६१) । इष्यतेर्देवादि  
कस्य गत्यर्थस्य लोपमध्यमपुरुषैकवचनं प्रेष्येति तत्साहचर्याद् ब्रुवि-  
रपि तथाभूतो गृह्यते । देवतासम्प्रदानं यस्यार्थस्य तत्र वर्तमानयोः प्रे-  
ष्यब्रूहीत्येतयोः कर्मणोर्हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात् षष्ठी स्यात् ।  
अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्यानुब्रूहि वा । प्रेष्यब्रूवोः किम् ?  
अग्नये छागं हविर्वपामेदो जुहुधि । हविषः किम् ? अग्नये गोमयानि  
प्रेष्य । देवतासम्प्रदाने किम् ? माणवकाय पुरोडाशान्प्रेष्य ! हविषः प्र-  
स्थितत्वेन विशेषणे प्रतिषेधा वक्तव्यः (का० वा०) । इन्द्राग्निभ्यां छागं  
हविर्वपामेदः प्रस्थितं प्रेष्य इह सूत्रे शेषग्रहणं न सम्बध्यते, तिङ्-  
न्तेन समासस्याप्रसक्तत्वात् । इदञ्च भाषायामपि प्रवर्तते, उत्तरत्र छ-  
न्दोग्रहणात् ।

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (पा०सू० २-३-६२) । षष्ठी स्यात् । पुरुष  
मृगश्चन्द्रमसे गोधाकालकादावाघाटस्ते वनस्पतनाम्, वनस्पतिभ्य  
इत्यर्थः । बहुलग्रहणाच्चन्द्रमसश्चतुर्थी । षष्ठ्यर्थे चतुर्थीत्यपि वक्तव्य-  
म् (का० वा०) । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः । व्यत्ययवचनात्सिद्धम् ।



यजेश्च करणे (पा०सू०२-३-६३) । इह छन्दसि बहुलं षष्ठी स्यात् । घृतस्य घृतेन वा यजते ।

कृत्वोर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे (पा०सू०२-३-६४) । इह षट्सुख्या विच्छिन्नमपि शेषग्रहणमनुवर्त्तते, उत्तरसूत्रे कर्मग्रहणात् । “कर्त्तरि च” (पा०सू०२-२-१६) इति हि नोक्तम् । शेषसम्बद्धं कर्मग्रहणं मानु-  
वृतादिति प्राञ्चः । वस्तुतो व्याख्यानमेव शरणम्, सन्निहितस्याधि-  
करणस्य निवृत्तये वा कर्मग्रहणसम्भवात् । पञ्चकृत्वोहो भोजनम् । द्वि-  
रहो भोजनम् । शेषे किम् ? अन्यथा विधिरेवायं स्यात् । तथाच द्वि-  
रहन्यधीत इति सप्तमी न स्यात् । षष्ठ्या बाधात् ।

कर्तृकर्मणोः कृति (पा०सू०२-३-६५) । शेषे इति निवृत्तम् । कृद्योगे  
कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । भवतः शायिका । अपां स्रष्टा । कर्तृक-  
र्मणोः किम् ? शस्त्रेण भेत्ता ।

स्यादेतत्, इह कर्तृकर्मभ्यां क्रिया आक्षिप्यते । तद्वर्चाह धातुरेव ।  
धातोश्च द्वये प्रत्ययाः-कृतस्तिङश्च । तत्र तिङः प्रयोगे “नलोक” (पा०  
सू०२-३-६९) इति प्रतिषेधेन भाव्यम् । ततश्च परिशेषात् कृद्योगएव  
षष्ठी भविष्यति तत् किं कृद्ग्रहणेन ? मैवम्, तद्धितान्तस्य वारणीय-  
त्वात्, यथा कृतपूर्वोक्तमिति । ननु कृतः कटः पूर्वमनेनेत्यस्मिन्वि-  
ग्रहे कस्य कर्मणि विधानात्तेनैव कर्मणोऽभिहितत्वात् द्वितीयया न  
भाव्यम् । एवं तदपवादभूतया षष्ठ्यापि, इहाप्यनभिहिताधिकारात् ।  
किञ्च कृतशब्दस्य कटसापेक्षतया समासो दुर्लभः । एवं तद्धितोऽपीति  
चेत् ? अत्रोक्तं हरिणा—

विशेषकर्मसम्बन्धे निर्भुक्तेऽपि कृतादिभिः ।

विशेषनिरपेक्षोऽन्यः कृतशब्दः प्रवर्त्तते ॥

अकर्मकत्वे सत्येवं कान्ते भावाभिधायिनि ।

ततः क्रियावता कर्त्रा योगो भवति कर्मणाम् ॥

अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः ।

क्रिया सम्बध्यते तद्वत् कृतपूर्व्यादिषु स्थिता ॥ इति ॥

अस्यार्थः-कृतादिभिः शब्दैः कटादिसमभिव्याहारात् विशिष्टकर्म-  
सम्बन्धे निष्कृत्य भुक्तेऽपि अनुभूनेऽपि कृतः पूर्वं कटोऽनेनेत्यवस्था-  
यामिति भावः, तस्यामवस्थायां वृत्तिविरहात् । कर्मसामान्यवचनो-  
न्य एव कृतशब्दः प्रवर्त्तते वृत्तिं लभते । अविवक्षितकर्मतायां नेह प-  
क्यते इत्यादावपि कर्मसामान्ये प्रत्ययाभ्युपगमादिति भावः ।

अविवक्षितकर्मणां भावे प्रत्यय इति मतान्तरमाह-अकर्मकत्व इति ।



ननु कर्मसामान्ये भावे वा क्तप्रत्यये कृते सापेक्षत्वाभावात् "सुप्सुपा" इति समासे कृते "पूर्वादिनिः" (पा०सू०५-२-८६) "सपूर्वाच्च" (पा०सू०५-२-८७) इति कर्त्तरि इतिप्रत्ययोऽस्तु नाम । कटस्य तु प्रथमपक्षे केनाभिधानं दुर्वारम् । यथा शक्यञ्च "क्षुदुपहन्तुम्" इत्यत्र क्षुधः कृत्यप्रत्ययेन । मैवम्, तद्धितार्थेनैकार्थीभूतस्य कृतशब्दार्थस्य निष्कृष्य कटेन सम्बन्धाभावात् ।

तदेतदाह-ततः क्रियावतेति । नन्वेवं क्रिययापि योगाभावे कथं द्वितीयेत्याशङ्क्याह-अविग्रहेति । विशिष्य ग्रहो ग्रहणं तद्ग्रहिताप्राधान्येनागृह्यमाणापीत्यर्थः । अयं भावः-गुणभूतयापि क्रियया कारकाणां सम्बन्धो दृश्यते, यथा कटं कृतवानिति । कृतपूर्वीशब्दश्चायं पूर्वं कृतमनेनेत्यस्मिन्नर्थे व्युत्पादितः । पूर्वं कृतवानित्यनेन समानार्थः सम्पद्यते । तत्र करोतिक्रियापेक्षमस्ति कटस्य कर्मत्वम् । अनभिहितञ्च नत् । अतोऽसति कृद्ग्रहणे षष्ठी स्यादेवेति स्थितम् ।

स्यादेतत्, ओदनः घट्यतेतमां, "गुरुर्धरित्री क्रियतेतरान्त्वया" (मा०कां०) इत्यादावपि ओदने धरिऽयादेः कर्मणः क्रियैव योगाद् द्वितीयैव स्यात् । क्रियाविशेषणीभूतेन लकारार्थेन कर्मान्वयश्चेत् कार्येनाप्यस्तु । क्रियायाः कारकेष्विव शक्तेरपि शक्तिमत्युत्थिताकाङ्क्षत्वाविशेषात् । किञ्चास्तु नाम कथञ्चित् कार्यपरित्यागेन वृत्तिः, राजपुरुषादौ सङ्ख्याविशेषस्य मासजातादौ गुणप्रधानभावादेश्च बहुशस्यागदर्शनात् । तथापि कृद्ग्रहणं व्यर्थमेव, "नलोक" (पा०सू०२-३-६९) इति निष्ठायोगे निषेधसिद्धेः । निष्ठान्तधातूपात्तक्रियायोगे न भवतीति हि तदर्थः । 'ग्रामं गतवान्' इत्यादावपि कारकाणां क्रियैवान्वयात् । न च 'पाचयति यज्ञदत्तो देवदत्तेन' इत्यत्र णिच्प्रकृत्यर्थं प्रति कर्तुः प्रयोज्यात्वर्ष्ठां वारयितुं कृद्ग्रहणम् । णिच् तु न कृदिति वाक्यम्, लयोगे नेत्येव निषेधसिद्धेः । लप्रकृत्या लान्तपदेन वा या क्रियोपात्ता तद्योगे नेत्यर्थात् । सा च क्रिया गुणभूता प्रधानभूता वेत्यत्र नाग्रहः । गौणमुख्यन्यायक्षु नाश्रीयते, लक्ष्यानुरोधात् स्वरितेनाधिकः कार इति व्याख्यानाच्च । अत एव तत्र तृतीया लभ्यते । 'भेदिका देवदत्तस्य' 'यज्ञदत्तस्य काष्ठानाम्' इत्यत्रोभाभ्याङ्कनृभ्यां षष्ठ्यप्यत एव । तस्माद्वर्थं कृद्ग्रहणमिति ।

अत्राहुः, कृत्येव यथा स्यात्तद्धिताधिक्ये मा भूदिति कृद्ग्रहणम् । व्याकरणं प्राज्ञः । "प्रज्ञादिभ्यश्च" (पा०सू०५-४-३८) इति स्वार्थेऽण् । एवञ्च वदतां मते 'ओदनस्य पाचकतमः'



इत्यत्रापि षष्ठी नेति लभ्यते । कृतपूर्वातिवक्तव्यपूर्वत्यादेर-  
भ्युपगमे तु तद्व्यदाद्यन्तेन समासादिनौ कृते कृद्ग्रहणव्यावर्त्यतापि  
सम्भवति । भाष्यं त्विहोदासीनमेवेत्याभियुक्तप्रयोगा अन्वेषणी-  
याः । “यन्तर्हि ध्यै रामोदमुत्तमम्” इति भट्टिः । उच्यते, अनित्येयं  
षष्ठी, तद्वर्हिमिति निर्देशात् । द्विकर्मकेभ्यस्तु कर्तरि कृति कृते प्रधाने  
नियताषष्ठी, गुणे तुभयथा भवेदित्यकथितसूत्रे एवोक्तम् ।

उभयप्राप्तौ कर्मणि (पा०सू०२-३-६६) । उभयोः प्राप्त्यर्थस्मिन्कृति  
तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन । अकाकारयोः  
प्रयोगे प्रतिषेधो नेति वक्तव्यम् (का०वा०) । मेदिका विभित्सा वा रुद्र-  
स्य जगतः । कथन्तर्हि किना बाधा न भवतीति, “स्थागापापचोभा-  
वे” (पा०सू०३-३-९५) इति सूत्रे वृत्तिः । तथा सुटा सीयुटो बाधा न  
भवतीति, “सुट्तिथोः” (पा०सू०३-४-१०७) इत्यत्र वृत्तिः । अत्र रक्षि-  
तः-अप्रत्ययादित्यकारप्रत्ययस्येह ग्रहणम्, प्राथम्यात् । बाधाशब्दे  
तु “गुरोश्च हलः” (पा०सू०३-३-१०३) इत्यकार इत्याह करणत्वविव-  
क्षायां तृतीयेति वा बोध्यम् । शेषे विभाषा (का०वा०) । स्त्रीप्रत्ययवि-  
षयमेवेदमित्येकं । विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः पाणिनिना वा ।  
केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनमाचार्येणा-  
चार्यस्य वा ।

कस्य च वर्तमाने (पा०सू०२-३-६७) । वर्तमानार्थकस्य योगे षष्ठी  
स्यात् । “नलोक” (पा०सू०२-३-६९) इति निषेधस्यापवादः । राज्ञां  
मतो बुद्धः पूजितो वा । “मतिबुद्धिपुजार्येभ्यश्च” (पा०सू०३-२-१८८)  
इति वर्तमाने कः । कथन्तर्हि नपुंसके भावे कस्य योगे षष्ठी, ‘छात्र-  
स्य हसितम्’ इति शेषविज्ञानात्सिद्धम् । कर्तृत्वविवक्षायां तृतीयैव,  
‘छात्रेण हसितम्’ इति ।

अधिकरणवाचिनश्च (पा०सू०२-३-६८) । कस्य योगे षष्ठी स्यात् ।  
इदमेषां शयितम् । इह कर्तरि षष्ठी । सकर्मकेभ्यस्त्वधिकरणे के कृते  
कर्तृकर्मणोर्द्वयोरपि षष्ठी, अनभिहितत्वाविशेषात् । इदमेषां भुक्तमोदन-  
स्य । “उभयप्राप्तौ कर्मणि” इत्ययं तु नियमः “कर्तृकर्मणोः कृति” इत्यस्या  
एव प्राप्तेः । इह गत्यर्थेषु धातुष्वयं भवति । इदमेषां गतमित्यधिकरणे ।  
इदमेते गता इति कर्तरि । इदमेभिर्गतमिति कर्मणि । इहैभिर्गतमिति  
नपुंसके भावे । कर्तृविवक्षाया इदमेषां गतमिति तत्रैव शेषविवक्षायाम् ।

नलोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् (पा०सू०२-३-६९) । जिघृक्षितरूप-  
विनाशप्रसङ्गात् तृनामिति णत्वं न कृत्म् । एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् ।



“कर्तृकर्मणोः कृति” (पा०सू०२-३-६५) इति प्राप्ता प्रतिषिध्यते । ला-  
 देशाः—ओदनं पचन् पचमानः पेचानः पेचिवान् । कथन्तर्हि—“वाग्निर्वज्रं”  
 “पपिः सोमं” “ददिर्गाः” इति । नहि किंकिनौ लकारौ नापि तदादेशौ । नैष  
 दोषः, “किंकिनौ लिट्च” (पा०सू०५०३-२-१७१) इत्यनेन लिट्कार्याति-  
 देशः क्रियते, न तु लिट्संज्ञा । “विशेषातिदेशे च सामान्यमप्यतिदिश्यते”  
 इति । उ—कटं चिकीर्षुः । कन्यामलङ्कारिणुः । उक—वाराणसीमा-  
 गामुकः । कमेर्भाषायामनिषेधः (का०वा०) । लक्ष्म्याः कामुकः । अव्य-  
 ये—कटं कृत्वा । तोसुन्कसुनोरप्रतिषेधः (का०वा०) । पुरा सूर्यस्योदेतो-  
 राधेयः । पुरा क्रूरस्य विसृपोविरप्शिन् । निष्ठा—ओदनं भुक्तवान् ।  
 देवदत्तेन कृतम् । खलर्थ—त्वया सुकरम् । ईषत्पानः सोमो भवता ।  
 तृन्निति प्रत्याहारः, “शतृशानचौ” इत्यारभ्य तृनो नकारात् । तेन  
 शानन्प्रभृतीनामपि ग्रहणम् । सोमं पवमानः । “पूङ्यजोः शानन्”  
 (पा०सू०३-२-१२८) । नटमाग्नानः । “ताच्छील्यादिषु चानश्”  
 अर्धायन् पारायणम् । “इङ्धार्योः” (पा०सू०३-२-१३०) इति  
 शता । तृन्, पाता सुतमिन्द्रो अस्तु सोमम् । द्विषः श-  
 तुर्वा । मुरस्य मुरं वां द्विषन् । सर्वत्र कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः । शेषे  
 षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । सत्यानुरक्ता नरकस्य जिष्णवः ।  
 छात्रस्य हसितम् । जनिकर्तुरित्यादि ।

इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ।

अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधाति विस्मयम् ।

(कि०का०२-२) इति च ।

यद्वा, “इक्ष्वाकूणां सिद्धयः” इत्यन्वयो न तु “इक्ष्वाकूणां दुरापे”  
 इति । तथा “वागधिपस्य विस्मयम्” इत्यन्वयो न तु “वागधि-  
 पस्य दुर्वचम्” इति दिक् । इह उश्च उकश्च ऊकाविति व्युत्पाद्य लश्च  
 ऊकौ चेति विग्रहीतव्यम् । ऊकारेण च कृतो विशेषणान्तदन्तविधिः ।  
 व्यपदेशिवद्भावात्केवलेनापि निषेधः ।

अकेनोर्भविष्यदाधमण्ययोः (पा०सू०२-३-७०) । भविष्यत्यकस्य  
 भविष्यदाधमण्यार्थे नश्च योगे षष्ठी न स्यात् । प्रधानाहारको व्रजति ।  
 व्रजङ्गामी । द्वितीयासमासप्रसङ्गे व्युत्पादितमेतत् । आधमण्ये—शतं  
 दार्थी । भविष्यदिति स्वर्यते । तेन भविष्यदधिकारविहितस्य ग्रहणा-  
 स्नेह-वर्षशतस्य पूरकः । पुत्रपौत्राणां दर्शकः । अयं हि, “ण्वुत्तृचौ”  
 (पा०सू०३-१-१३३) इत्यविशेषेण विहितो न तु “तुमुण्वुलौ” (पा०सू०  
 ३-३-१०) इतिवद्भविष्यदधिकारस्यः । इह यथासंख्यं वारयितुं भाष्ये



योगो विभक्तः । अकस्य भविष्यति, इत आधमर्ष्ये चेति ।

कृत्यानां कर्त्तरि वा (पा०सू०२-३-७१) । षष्ठी वा स्यात् । “कर्तृ-  
कर्मणोःकृति” (पा०सू०२-३-६५) इति नित्यं प्राप्ते विभाषेयम् । कर्तव्य-  
मिदं कृष्णेन कृष्णस्य वा । कर्त्तरीति किम् ? गेयो माणवकः साक्षाम् ।  
“भयगेय” (पा०सू०३-४-६८) इति कर्त्तरि यद्विधानादनभिहितं  
कर्म । इहापि भाष्ये योगविभागः कृतः । तद्यथा—कृत्यानाम् । उभय-  
प्राप्तौ नेत्यनुवर्तते । नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन । इह प्रधाने कर्मणि  
गवाण्ये कृत्यः, अप्रधानकर्मणः कर्तुश्च । कृत्येनानभिधानात्षष्ठी प्राप्ता  
निषिध्यते । ततः कर्त्तरि वा ॥ षष्ठी स्यात् । अन्यत्सर्वं निवृत्तम् ।

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् (पा०सू०२-३-७२) ।  
तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्याच्छेषे, पक्षे षष्ठी । तुल्यः सदृशः समो वा  
कृष्णेन कृष्णस्य वा । अतुलोपमाभ्यां किम् ? तुला उपमा वा कृष्णस्य  
नास्ति । कथन्तर्हि “तुलां यदा रोहति दन्तवाससा” इति कालिदा-  
सः । “स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना” (मा०का०१-४) इति माधवः ।

अत्राहुः, तोलनं तुला । अस्मिन्नेव सूत्रे “जिलुगङ्गोः” निपातनात्साधु-  
रिति माधवः । उपमितिरुपमा । तत्र धात्वर्थं प्रति करणीभूतयोः दन्त-  
वासः शम्भुशब्दयोस्तृतीया युक्तैव । यथा—उपमीयतेऽनेनेत्यादौ । प्रकृ-  
तसूत्रं तु शेषे षष्ठ्यपवादभूततृतीयाविधायकम् । नेह प्रवर्त्तते इत्यन्य-  
देतत् ।

यद्वा, “सहयुक्ते प्रधाने” (पा०सू०२-३-१९) इति तृतीयाऽस्तु ।

“स्ववालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैः समञ्चमर्थेव तुलाभिलाषिणः ।

इत्यत्र यथा । उक्तं हि, विनापि तद्योगं तृतीया । “वृद्धो यूना” (पा०  
सू०१-२-६५) इति निदर्शनादिति । तुल्यार्थैरित्यर्थग्रहणात् द्योतकाना-  
मिवादिशब्दानां योगे न, गौरिष गवयः । यथा—गौस्तथा गवय इति ।  
वेति वर्तमाने अन्यतरस्यां ग्रहणमुत्तरसूत्रे चकारेण स्वस्यानुकर्षणा-  
र्थम् । अन्यथा हि तृतीयैवानुक्रुष्येत, सन्निहितत्वात् ।

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रमद्रकुशलसुखार्थहितैः (पा०सू०२-३-  
७३) । सुखपर्यन्तानां द्वन्द्वाः । ततोऽर्थशब्देन बहुव्रीहिः । तथा च  
द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणात्प्रत्येकमर्थशब्दः सम्बध्यते । मद्रमद्रशब्दयोः पर्या-  
यतया सूत्रेऽन्यतरो न पठनीयः । केचित्तु अर्थशब्दोऽपि पृथगेव निमि-  
त्तम् । व्याख्यानाञ्च सर्वत्रार्थग्रहणमित्याहुः । आशिषिणम्यमानायामे-  
तैर्योगे शेषे चतुर्थी वा स्यात्, पक्षे षष्ठी । आयुष्यं चिरञ्जीवितं देव-  
दत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात् । एवं मद्रं मद्रं कुशलं निरामयं सुखं शं



अर्थः प्रयोजनं हितं पथं भूयादित्यादि । हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या (का०वा०) । इत्यस्य अनाशिषि च रितार्थत्वादाशिष्येन विकल्प एव । आशिषीति किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीये पादे तृतीयमान्हिकम् ।  
॥ समाप्तश्चायं पादः ॥

द्विगुरेकवचनम् (पा०सू०२-४-१) । वकीति वचनम् । बाहुलका-  
त्कर्तरि ल्युट् । सामान्ये नपुंसकम् (का०वा०) । समाहारद्विगुरेकार्थप्र-  
तिपादकः स्यात् । “तद्वितार्थ” (पा०सू०२-१-५१) इति सूत्रे हि भावसा-  
धन एव समाहार इति स्थितम् । तथा च न्यायसिद्धमेतत् । कर्मसा-  
धनताभ्रमं वारयितुमारभ्यते “स नपुंसकम्” (पा०सू०२-४-१७) इत्य-  
स्य प्रवृत्त्यर्थं च । दृश्यते च भ्रमनिवृत्तयेऽपि सूत्रकृतो यत्नः । यथा—  
“उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे” (पा०सू०२-४-६९) इति । तत्र हि  
अद्वन्द्वइत्यस्य द्वन्द्वग्रहणं नानुवर्तते इत्यर्थो भाष्ये स्थितः ।

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (पा०सू०२-४-२) । प्राण्यङ्गानां द्वन्द्व  
एकार्थः स्यात् । एवं तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानाञ्च । पाणिपादम् । मार्दङ्गिक-  
पाणविकम् । रथिकाश्वारोहम् । इह प्राणिसेनयोरङ्गं नामावयवः । तूर्य-  
स्य तु अङ्गं नामोपकारकं बोध्यम् । ‘मार्दङ्गिक’ इत्यादौ मृदङ्गवादनं शि-  
ल्पमित्यर्थं “शिल्पम्” (पा०सू०४-४-५५) इति टक् । ‘पाणिपादम्’ इत्या-  
दौ “जातिरप्राणिनाम्” (पा०सू०२-४-६) इत्येव सिद्धे व्यतिकरनि-  
रासार्थं वचनम् । ‘हस्त्यश्वं’ ‘हस्त्यश्वाय’ इत्यत्र तु सेनाङ्गत्वेऽपि  
परत्वात्पशुलक्षणो विकल्प इति “विभाषा वृक्षे” (पा०सू०२-४-१२)  
इत्यत्र भाष्यकैयटयोः स्थितम् । अथ कथं “रथवाजिपत्तिकरिणीसमा-  
कुलम्” इति । नपुंसकह्रस्वत्वेन हि भाष्यम् ।

उच्यते, रथादिसहिताः करिण्ये इति मध्यमपदलोपी समासो  
बोध्यः । यद्वा, रथश्च वाजी चेत्यादि विग्रहः । जातावेकवचनम् ।  
“फलसेनादीनां बहुप्रकृतिः” इति वक्ष्यमाणत्वाच्चैकवद्भावः । एतेन  
“पातितैरथनागाश्वैः” इति । “इत्थं रथाश्वेभनिषादिनां प्रगे”  
(मा०का०१२-१) इति माघश्च व्याख्यातः । इहापि मध्यमपदलोपादेक-  
वचनान्तेन विग्रहाद्वा ।

यद्वा, कृतद्वन्द्वानामेकशेषः । तथा च “तिडस्त्रीणि त्रीणि” (पा०  
सू०१-४-१०१) इति सूत्रे “लुटःप्रथमस्य” (पा०सू०२-४-८५) इति सूत्रे



च भाष्यम्—“उभयं हीयते बहूनि शक्तिकिटकानि” इति । माघटिप्पणे—“रथतुरङ्गाश्चेभे निषीदन्ति” इति णिन्यन्तेनोपपद-समास इति समाधानान्तरं सारम् । यद्यपि “चार्थे द्वन्द्वः” (पा०सू०२-२-२९) इत्येवेतरेतरयोगे समाहारे च द्वन्द्वो विहितः, समाहारस्यैकत्वाच्च सिद्धमेकवचनं, तथापि नियमार्थमिदं प्रकरणम्—प्राण्यङ्गादीनामेकवचने द्वन्द्व एव । समाहारद्वन्द्व एवेत्यर्थः । न च समाहारे एवामेवेति विपरीतं ग्राह्यम्, “तिष्यपुनर्वस्वोः” (पा०सू०१-२-६३) इति सूत्रे बहुवचनग्रहणात् । तद्धि समाहारैकवचनव्यावृत्तये क्रियते तिष्यपुनर्वस्वमिति ।

अनुवादे चरणानाम् (पा०सू०२-४-३)।चरणानां द्वन्द्व एकवत्स्यात् । चरणशब्दः कठकालापादिषु शाखाभेदेषु मुख्यः । तदध्यायिषु पुरुषेषु गौणः । उभयेषां चैषां “गोत्रञ्च चरणैः सह” (का०वा०) इति जातिसंज्ञा । तत्र शाखाभेदवाचिनां “जातिरप्राणिनाम्” (पा०सू०२-४-६) इत्येकवक्त्रा-वस्य सिद्धत्वाद्गौणोऽपि पुरुषवृत्तिरेवेह गृह्यते । उदगात्कठकालापम् । प्रत्यष्टात्कठकौथुमम् । इह यदा कठकालापेषूदितेषु प्रतिष्ठितेषु चावा-भ्यां तत्र गन्तव्यमिति संवादं कृत्वा तच्च विस्मृत्य कश्चिदास्ते तत्र प्रतीदमुच्यते—ननूदगात्कठकालापन्तत्किमास्यते इति । अतो भव-त्यनुवादः । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः । वैशम्पायनान्तेवासित्वाणि-निः । “कठचरकाव्लुक्” (पा०सू०४-३-१०७) “तदधीतेतद्वेद” (पा०सू०४-२-५९) इत्यण् । “प्रोक्ताव्लुक्” (पा०सू०४-२-६४) । कलापिशब्दात् “कलापिनोऽण्” (पा०सू०४-३-१०८) “नान्तस्य टि-लोपे सन्नस्य चारि” (का०वा०) इत्यादिना टिलोपः । अध्येत्रणो लुक् । एतेन कौथुमो व्याख्यातः । यदा तु उदयप्रतिष्ठे नानूद्यते, किन्तु अ-ज्ञाते ज्ञाप्यते तदा प्रत्युदाहरणम्—उदगुः कठकालापाः । स्थेणोर-द्यतन्यामेवेति वाच्यम् । स्थेणोः किम् ? अनन्दिषुः कठकालापाः । अद्यतन्यां किम् ? उद्यन्ति कठकालापाः ।

अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् (पा०सू०२-४-४) । अध्वर्युशब्दो यजुर्वेद-लक्षकः । तत्रोत्पन्नो विनियुक्तो वा यः क्रतुः तन्नाचिनामनपुंसकलि-ङ्गानां द्वन्द्व एकवत्स्यात् । अर्काश्चमेधम् । साहनातिरात्रम् । अध्वर्यु-क्रतुः किम् ? इषुवज्रौ । उद्भिद्वलभिदौ । सामवेद एषां विधानम् । अ-नपुंसकमिति किम् ? राजसूयवाजपेये । इमौ हि शब्दावर्ज्जर्वादिषु प-ठितौ । यदा नपुंसकलिङ्गौ तदा प्रत्युदाहरणम् ।

अध्यनतोऽविप्रकृष्टाख्यानम् (पा०सू०२-४-५) । अध्ययनेन नि-



मित्तेन येषामधिप्रकृष्टा प्रत्यासन्ना आख्या तेषां द्वन्द्व एकवत्स्यात् । पदकक्रमकम् । पदान्यधीते पदकः । क्रमादिभ्यो वुन् (पा०सू०४-२-६१)। एवं क्रमकः । क्रमकवार्तिकम् । वृत्तिः संहिता, तामधीते वार्तिकः । उक्थादिपाठादृक् । पदान्यधीत्य क्रमोऽध्येतव्य इति स्पष्टा प्रत्यास-  
त्तिः । क्रमकवार्तिकमित्यत्र तु संहितामनधीत्य क्रमोऽध्येतुं न शक्यते  
इत्येव प्रत्यासात्तिर्बोध्यः । अध्ययनत इति किम् ? पितापुत्रौ । अधि-  
प्रकृष्टाख्यानां किम् ? याज्ञिकवैयाकरणौ ।

जातिरप्राणिनाम् (पा०सू०२-४-६) । प्राणिवर्जजातिवाच्यवयवको  
द्वन्द्व एकवत्स्यात् । आराशस्त्रि । आराप्रतोदः । जातिः किम् ? नन्दक-  
पाञ्चजन्यौ । संज्ञाशब्दावेतौ ।

खड्गोऽस्य नन्दकः शङ्खः पाञ्चजन्यः प्रकीर्तितः ।

अप्राणिनां किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियविद्वद्भ्यः । नञ्निवयुक्तन्यायेन  
द्रव्यजातीनामेकवद्भावा न गुणक्रियाजातीनाम् । रूपरसौ । गमना-  
कुञ्चने । जातिप्राधान्य एवायमेकवद्भावः । यदा तु द्रव्यविशेषविवक्षा  
तदा बदरामलकानि । जातिविवक्षायान्तु बदरामलकम् । इहैकवद्भा-  
वो वैकल्पिक इति भाष्यस्वरसः । तथाच “विभाषा वृक्षमृग”  
(पा०सू०२-४-१२) इति सूत्रे “बहुप्रकृतिः” (का०वा०) इत्यादि वार्ति-  
कमुपक्रम्य बदरामलकं बदरामलकानीत्युदाहृतं भाष्ये । बदरामल-  
कानीति प्राप्ते इत्यर्थं व्याचक्षाणानां मते तु नित्यमेवेति तत्रैव कैयटः ।  
अत एव “तस्य भावस्त्वतलौ” (पा०सू०५-१-११०) इति सूत्रभाष्यस्थ  
ओषधिवनस्पतीनामिति प्रयोगः सङ्गच्छते । भाष्यप्रयोगान्नैकवद्भाव  
इति वदन् कैयटस्तु जातिविवक्षायामपि एकवद्भावाभावं मेने । एवं  
“लटः शतृशानचौ” (पा०सू०३-२-१२४) इति सूत्रस्थभाष्यकैयटादिग्रन्थो  
बोध्यः । कथं तर्हि “रञ्जितानुविविधास्तरुशैलाः” इति भारविः । न-  
ह्यत्र व्यक्तिविशेषविवक्षा ? सत्यं, तरुसहिताः शैला इति बोध्यम् ।

विशिष्टालिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः (पा०सू०२-४-७) । अग्रामा इत्ये-  
कवचनस्य स्थाने सौत्रं बहुवचनम् । विशिष्टलिङ्गानां भिन्नलिङ्गानां  
नदीवाचिनान्देशवाचिनाञ्च ग्रामवर्जितानां द्वन्द्व एकवत् स्यात् ।  
सूत्रे चत्वारोऽपि शब्दा अवयवधर्मेणावयविनि द्वन्द्वे बोध्याः । नदीदे-  
श इत्यसमासनिर्देशः । उध्यश्च इरावती च उध्येरावति । कुरवश्च  
कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम् । भिन्नलिङ्गाः किम् ? गङ्गायमुने । मद्रके-  
कयाः । नदीदेश इति किम् ? कुक्कुटमयूरौ । अग्रामाः किम् ? जा-  
म्बवं नगरं, शालकिनी ग्रामः, जाम्बवशालकिनी । अत्र पूर्वपदार्थ-



स्य अग्रामत्वेऽपि उत्तरपदार्थस्य ग्रामत्वात्तदाश्रयः प्रतिषेधः । तदुक्तम् “उभयतश्च ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः” इति । नदीग्रहणमदेशत्वात् । जनपदो हि देशः । अत एव पर्वतानां न-कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने ।

शुद्धजन्तवः (पा०सू०२-४-८) । एषां द्वन्द्व एकवत्स्यात् । यूकालिक्षम् । आनकुलात् शुद्धजन्तवः ।

येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः (पा०सू०२-४-९) । येषां नित्यं वैरं तेषां द्वन्द्व एकवत्स्यात् । गोव्याघ्रम् । गजसिंहमित्यादि । विरोधो वैरं न तु सहानवस्थानादिः, ‘छायातपौ’ इत्यादावतिव्याप्तेः । शाश्व-दिति त्रैकाल्यमाह । तत्र भवः इत्यर्थे “कालाट्टञ्” (पा०सू०४-३-११) । तान्तात्परत्वेऽपि निपातनादिकादेशः । अव्ययानां भमात्रे (का०वा०) इति प्राप्तस्य टिलोपस्याभावश्च सामान्यापेक्षमिकस्य केनाबाधे ज्ञाप-कमिदम् । तेन कान्दाविकादि सिद्धमिति काश्चित् । वस्तुतस्तु कन्बुः स्वेदनी, तत्र “संस्कृतं भक्षाः” (पा०सू० ४-२-१६) इत्यण् । कान्द-वम् । “तदस्य पण्यम्” (पा०सू०४-४-५१) इति ठक् । शाश्वतिकः किम्? चैत्रमैत्रौ कलहायेते । एतेन “देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थं” इति भारविप्रयोगो व्याख्यातः । तेषां हि अमृतादिप्रयुक्तः कादाचित्को विरोधो न तु नित्यः, मन्थनप्रवृत्तिकाले तद्विरहात् । इह (१)पशु-शकुनिद्वन्द्वावकाशो-महाजोरभ्रं, महाजोरभ्राः । हंसचक्रवाकं, हंसच-क्रवाकाः । “येषां च” (पा० सू० २-४-९) इत्यस्यावकाशः-श्रमणब्राह्म-णम्, मार्जारमूषकम्, अश्वमहिषं, काकोलूकमित्यत्रोभयप्रसङ्गे पर-त्वात्पशुशकुनि विभाषा प्राप्ता चकारेण पुनर्विधानाद् “येषांच” इति नित्यमेव भवति ।

शुद्धाणामनिरवसितानाम् (पा०सू०२-४-१०) । अयहिष्कृतानां शु-द्धाणां द्वन्द्व एकवत्स्यात् । तक्षायस्कारम् । रजकतन्तुवायम् । शुद्ध-शब्दोऽत्र त्रैवर्णिकेतरपरो न तु शुद्धत्वजातिपरः, अनिरवसितानामिति प्रतिषेधात् । निरवपूर्वात्स्यतेः कर्मणि कः । निरवसानं बहिष्करणम् , तद्वेह पात्राद्विवक्षितम् । यैर्भुक्ते पात्रं न शुध्यति “नस्मना शुध्यते कां-स्यम्” इत्यादिस्मृतिकारोक्तसंस्कारेणापि ते पात्राद्वहिष्कृताः । अ-निरवसितानां किम् ? चण्डालमृतपाः ।

गवाश्वप्रभृतीनि च (पा०सू०२-४-११) । एतानि द्वन्द्वरूपाणि कृतै-

(१) “विभाषा वृक्षमृग” (पा० सू० २-४-१२) इति विहितद्वन्द्व-स्यावकाश इत्यर्थः ।



कवद्भावानि साधूनि स्युः । गवाश्वकम् । गवाविकम् । गवैडकम् । अजाविकम् । अजैडकम् । एषां पशुद्वन्द्वविभाषायां प्राप्तायां वचनम् । कुञ्जवामनम् । कुञ्जकैरातम् । पुत्रपौत्रम् । इवचाण्डालम् । स्त्रीकुमारम् । दासीमाणवकम् । उष्ट्रजरम् । शाटीप्रच्छदम् । इहाप्राणिजातिवाचिनामबहुप्रकृत्यर्थः पाठः । उष्ट्रशशम् । सूत्रशकृत् । सूत्रपुरीषम् । यकृन्मेदः । मांसशोणितम् । दर्भपूतीकम् । अर्जुनपुरुषम् । तृणोलयम् । दासीदासम् । अत्र “पुमान् स्त्रिया” ( पा०सू०१-२-६७ ) इत्येकशेषो न । कुटीकुटम् । मांसशोणितम् । भागवतीभागवतम् । गवा इवप्रभृतिषु “यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तम्” इति वार्तिकम् । गणपाठे रूपमेषां विधक्षितं न तु पूर्वोत्तरपदनिर्देशमात्रे तात्पर्यामित्यर्थः । तेन अवकावेऽशोभावपक्षे न भवति । अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः ।

विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यद्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् ( पा०सू०२-४-१२ ) । वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्वः अद्ववडवेत्यादि द्वन्द्वत्रयं च विभाषा एकवत्स्थात् । वृक्षादौ विशेषाणां ग्रहणम् । तथाहि, वृक्षादिशब्दैः प्रत्येकं द्वन्द्वो विशेष्यते । न चैको वृक्षशब्दो द्वन्द्वः । न च द्वयोः सहप्रयोगः, एकशेषात् । एवं पर्याययोरपि, विरूपाणामपि समानार्थानामेकशेषारम्भात् । नापि ‘वृक्षश्च धवश्च’ इत्यादि, सामान्यविशेषयोर्वाचनिकद्वन्द्वनिषेधस्योक्तत्वात् । न च प्राच्यभरतेष्विति निर्देशादनित्यः स इति वाच्यम्, तथापि ‘वृक्षधवम्’ इत्यादि, प्रयोगादर्शनेन निषेधस्यैव प्रकृते प्रवृत्तेः । तस्माद्विशेषाणामेवेह ग्रहणं स्थितम् । प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः । रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः । कुशकाशम्, कुशकाशाः । व्रीहियवम्, व्रीहियवाः । दधिघृतम्, दधिघृते । गोमहिषम्, गोमहिषाः । तित्तिरिकपिञ्जलम्, तित्तिरिकपिञ्जलाः । अद्ववडवम्, अद्ववडवौ । पूर्वापरम्, पूर्वापरे । अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे ।

अत्र वार्तिकम्—बहुप्रकृतिः फलसेनावनसादिमृगशकुनिशुद्रजन्तुधान्यतृणानामिति ( का०वा० ) । एषां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवदित्यर्थः । नेह—बदरामलकौ, रथिकाद्वारोहौ, प्लक्षन्यग्रोधावित्यादि । इदं वार्तिकं विध्यन्तरशेषभूतं न तु स्वातन्त्र्येण विधायकम् । विधित्वे हि स नित्यश्चेत्तर्हि वनस्पत्यादीनामेतत्सूत्रोपात्तानामपि बहुप्रकृतित्वे विकल्पं बाधित्वा नित्यं स्यात् । अबहुप्रकृतिकत्वे च सूत्रो विकल्पः स्यात् । वैकल्पिकत्वे तु फलादीनामपि “जातिरप्राणिनाम्”



(पा०सू०२-४-६) इत्यादिलक्षणान्तरप्राप्तं नित्यमेकवद्भावं बाधित्वा बहुप्रकृतिकत्वे विकल्पः स्यात् । न च “बदरामलकं, बदरामलका-  
नि” इति भाष्यदर्शनादिष्टापत्तिरिति वाच्यम्, तत्र बदरामलकानी-  
ति काचित्कः पाठः, सोऽपि बदरामलकानांत्येवं प्राप्ते जातिलक्षणो नित्य  
एकवद्भाव इति व्याख्येय इति कैयटेनोक्तत्वात् । यत्तु नित्ये एकवद्भावे  
प्राप्ते विकल्पोऽनेन क्रियते इति मतान्तरं कैयटेनोक्तम् । तदापाततः,  
“बदरामलके तिष्ठतः” इति तदुत्तरभाष्यविरोधात् । उक्तीत्या प्रकृ-  
तवार्त्तिकस्य बहुप्रकृतिके विकल्पविधिपरत्वे हि अन्यत्र नित्य एकवद्भा-  
वो दुर्वारः स्यादिति दिक् ।

तत्रापि यदि “विभाषा वृक्ष” (पा०सू०२-४-१२) इत्यत्र पठितत्वा-  
दस्यैव शेषः स्यात्, तदा वनस्पत्यादिष्वबहुप्रकृतिकत्वे विकल्पाभा-  
वेऽपि “जातिरप्राणिनाम्” (पा०सू०२-४-६) इति नित्यो विधिः स्यात् ।  
तस्मात्सर्वप्रकरणशेषोऽयम् । एषां फलादीनां द्वन्द्वेऽनेन लक्षणान्त-  
रेण वा एकवद्भावन् बहुप्रकृतिरेवेति । तेन “लक्ष्यग्रप्रोधौ” इत्यत्र  
अयं विकल्पो “जातिरप्राणिनाम्” (पा०सू०२-४-६) इति नित्यश्च न  
भवति । एवं ब्रीहियवौ कुशकाशावित्यादि ।

प्रकृतसूत्रोपात्तान्तु इत्थं विषयविभागः—येऽत्राप्राणिनस्तेषां  
“जातिरप्राणिनाम्” (पा०सू०२-४-६) इति नित्यं प्राप्ते विक-  
ल्पो विधीयते । स च तेषां तैरेव । तथाच वृक्षादीनामन्यैः सह द्वन्द्वे  
यथाप्राप्तं नित्यं विकल्पो वा । तथाच—“ब्रीहिकुशलक्षम्” इत्यत्र “जा-  
तिरप्राणिनाम्” (पा०सू०२-४-६) इति नित्यः । “लक्षशब्दस्पर्शो”  
“लक्षशब्दस्पर्शाः” इत्यत्र तु “चार्थे द्वन्द्वः” (पा०सू०२-२-२४) इत्यु-  
भयत्र । न चेह “जातिरप्राणिनाम्” (पा०सू०२-४-६) इत्यस्य प्रवृत्तिः,  
अद्रव्यजातित्वात् । अप्राणिनामिति हि पर्युदास इत्युक्तम् । पशुग्रह-  
णन्तु हस्त्यश्वादिषु सेनाङ्गलक्षणस्य नित्यविधेर्बाधनार्थम् । मृगश-  
कुनिग्रहणं त्ववशिष्यते । तत्रेत्यं वचनं व्यज्यते—यो विभाषाप्राप्त एक-  
वचनो द्वन्द्वः स मृगविशेषाणां तैरेव नान्यैरिति । तेनैषामन्यैः सह  
इतरेतरयोग एवेति फलितम् । एवं ‘पूर्वापरम्’ ‘अधरोत्तरम्’ इत्य-  
त्रापि । पशुद्वन्द्वत्वादेव सिद्धे अश्ववडवग्रहणं प्रतिपदविधानार्थम् ।  
तेनैकवद्भावपक्षे “पूर्ववदश्ववडवौ” (पा०सू०२-४-२७) इत्येतद्व्याधि-  
त्वा “स नपुंसकम्” (पा०सू०२-४-१७) इति प्रवर्तते । तच्छब्दो हि  
एकवद्भावभाजं परामृशति । तेन एकवद्भाववन्नपुंसकत्वमपि प्रतिप-  
दविहितं सम्पद्यते । “पूर्ववदश्ववडवौ” (पा०सू०२-४-२७) इति त्वेक-



चङ्गावधिरहपक्षे प्रवर्त्तते । अश्ववडवौ । अश्ववडवान् ॥

विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि (पा०सू० २-४-१३) । विरुद्धा-  
र्थानामद्रव्यवाचिनां द्वन्द्व एकवद्वा स्यात् । अत्रेदं नियमशरीरम्-य  
एकवचनो द्वन्द्वो विभाषा प्राप्तः, स यदि विप्रतिषिद्धवाचिनां भवति,  
तदा अद्रव्यवाचिनामेवेति । तेन द्रव्यवाचिनामितरेतरयोग एव ।  
शीतोष्णे उदके स्तः । विप्रतिषिद्धं किम् ? नन्दकपाञ्चजन्यम् । इह  
द्रव्यवाचित्वेऽपि पाक्षिकः समाहारद्वन्द्वो भवत्येव । यस्तु वृत्तौ 'का-  
मक्रोधौ' इति प्रत्युदाहृतं, तत्रापि 'शीतोष्णं' 'सुखदुःखम्' इत्यादा-  
विव पाक्षिकस्यैकवङ्गावस्य दुर्वारत्वात् । नियमार्थं हि प्रकृतसूत्रमिति  
स्थितम् । न च अद्रव्यवाचिनाञ्चैवति तर्हि विप्रतिषिद्धानामेवेति  
तदाशयः कल्प्यः, "शीतोष्णे उदके" इत्यत्र पाक्षिकैकवङ्गावापत्त्या  
"अनधिकरणवाचीति किम् ? शीतोष्णे उदके" इत्येवंरूपस्वोक्तिविरो-  
धापत्तेः, सौत्रानुपूर्वीस्वरसमङ्गप्रसङ्गाच्चेति दिक् ।

न दधिपयआदीनि (पा० सू० २-४-१४) । एतानि नैकवत्स्युः ।  
दधिपयसी । मधुसर्पिणी । सर्पिर्मधुनी । इह त्रिषु व्यञ्जनत्वात्त्रिकल्पः  
प्राप्तः । ब्रह्मप्रजापती । शिववैश्रवणौ । स्कन्दविशाखौ । न चेह विरु-  
पाणामपीति एकशेषः शङ्क्यः,

"स्कन्दश्चैव विशाखश्च द्वौ सुतौ संवभूवतुः ।"

इति महाभारतस्वरसेनापर्यायत्वनिर्णयात् । परिव्राट्कौशिकौ ।  
प्रवर्ग्योपसदौ । शुक्लकृष्णे । इध्माबर्हिषी, निपातनादीर्घः । दीक्षातप-  
सी । श्रद्धातपसी । मेधातपसी । अध्ययनतपसी । उलूखलमुसले ।  
आद्यवसाने । श्रद्धामेधे । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । इह ब्रह्मप्रजापत्या-  
दिषु समाहारद्वन्द्वनिषेधमुखेनेतेतरयोगद्वन्द्वो व्यवस्थाप्यते । तत्सा-  
हचर्यात् 'दधिपयसी' इत्यादावपि तथैव । तेन तत्र व्यञ्जनत्वप्रयुक्त-  
विकल्पे निषिद्धेऽपि जातिलक्षणो नित्य एकवङ्गावोऽस्त्विति न  
शङ्कनीयम् । किञ्च नेह लक्षणाविशेषे आग्रहः, एकवङ्गावमात्रस्य निषे-  
धात् । यथा "न पट्स्वस्त्रादिभ्यः" (पा० सू० ४-१-१०) इत्यत्र स्त्रियां  
यदुक्तं तन्नेति सामान्यतो निषिद्धयते । तथाच वक्ष्यति-दोषस्त्वित्वे  
तस्मान्नोभाविति । ननु भवेदेवं यदि "जातिरप्राणिनाम्" (पा० सू०  
२-४-६) इति विधिः स्यात्, निषेधस्तु सः । तथाच तेनेतेतरयोगे  
प्रकृतसूत्रेण समाहारे च निषेधाद्दधिपयआदीनां द्वन्द्व एव न लभ्येत ।

अत्रोच्यते-नियमवाक्यानां विधिरूपेण निषेधरूपेण वा प्रवृत्ति-  
रिति पक्षद्वयं तावत्प्रत्ययलक्षणसूत्रे उपपादितम् "द्वयुद्भयो लुङि"



(पा० सू० १-३-९१) इत्यादौ भाष्यारूढं च । तत्र “जातिरप्राणिनाम्” (पा० सू० २-४-६) इत्यादौ विधिमुखतापक्षस्यैव लक्ष्यानुरोधेनाश्रयणात्तस्य च “न दधि” (पा० सू० २-४-१४) इत्यादिना निषेधात्सर्वं सुस्थम् ।

अधिकरणैतावत्त्वे च (पा० सू० २-४-१५) । द्रव्यसङ्ख्यावगमे नैकवत्स्यात् । दश दन्तोष्ठाः । ननु वर्त्तिपदार्थस्य सङ्ख्याविशेषे बोधनीये इतरेतरयोगद्वन्द्व एवेति न्यायसिद्धम् । अन्यथा हि “दशपञ्च पृत्यः” इति द्विगाविव प्रधानभूते समाहार एव दशत्वसङ्ख्या अन्विता न तु समुदायादिषु तर्कि निषेधेन ? सत्यम्, नानेन समाहारद्वन्द्वो निषिध्यते, किन्तु प्राण्यङ्गादीनां समाहार एवेति योऽसौ नियमः स एव निषिध्यते । असति हि निषेधे

पञ्चस्विहास्याङ्घ्रिकरेष्वभिख्या

भिक्षाऽधुना माधुकरीसदक्षा ।

इत्यादीनामसाधुत्वं स्यात्, समाहार एवेति नियमेनेतरेतरयोगे द्वन्द्वस्य दुर्लभत्वात् । तथाच सङ्ख्यावगतावेकवदेवेति नियमो न स्यादिति सूत्रार्थः फलितः । तस्मादितरेतरयोगद्वन्द्वस्य प्रतिप्रसवार्थमिदम् । एतेन “दश दन्तोष्ठाः” इत्यादौ समाहारद्वन्द्वस्येवेतरेतरयोगद्वन्द्वस्यापि दौर्लभ्याद्वाक्यमेव प्रयोज्यम् । अधिकरणैतावत्त्वेचेत्यनेन प्राण्यङ्गानां समाहार एवेत्यनेन चोभयोर्निषेधादिति प्रत्युक्तम् । “दश ब्राह्मण क्षत्रियाः” इत्यादौ प्रागुक्तन्यायबलेनैव समाहारद्वन्द्वो वारणीयः ।

विभाषा समीपे (पा० सू० २-४-१६) । अधिकरणैतावत्त्वस्य सामीप्येन परिच्छिन्नौ समाहार एवेत्येवंरूपो नियमो वा स्यात् । उपदशं दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः । “अव्ययं विभक्ति” (पा० सू० २-१-६) इत्यादिना सुबन्तसामान्येन विधीयमानोऽव्ययीभावः सङ्ख्यायापि भवति । बहुव्रीहिस्तु “सङ्ख्याव्ययासन्ना” (पा० सू० २-२-२५) इत्यादिना विशिष्य विहितः । तत्रैकवङ्गावपक्षे अव्ययीभावोऽनुप्रयुज्यते । एकार्थस्य त्वेकार्थ एवान्तरङ्गः । ऐकार्थ्यञ्च सामीप्यप्रधानत्वात् । यद्यप्यव्ययीभावो निःसङ्ख्यस्तथापि भेदाभावरूपमैकार्थ्यं बोध्यम् । सामानाधिकरण्यन्तु सामीप्यतद्वतोरभेदविवक्षया । अधिकरणैतावत्त्वं तु समाहारसमाहारिणोरभेदविवक्षया । पक्षान्तरे तु बह्वर्थस्य बह्वर्थो बहुव्रीहिरेवानुप्रयुज्यते । बह्वर्थत्वञ्च तस्य समीपिप्राधान्यात् । यदि तूभयत्राव्ययीभाव एवानुप्रयुज्यते, तदा तस्याव्ययत्वाद्



बहुत्वाभावाद्बहुवचनं न स्यात् । सत्यपि वा तस्मिन्मभावे कृते 'उपदश' इति न स्यात्, बहुव्रीहेरेवानुप्रयोगे तु उपदशस्य पाणि-  
पादस्येति षष्ठी स्यात् । उपदशं पाणिपादस्येति चेष्ट्यते । तस्माद्य-  
थोक्तमेव मनोरमम् ।

स नपुंसकम् (पा०सू०२-४-१७) । समाहारे द्विगुर्वन्वश्च नपुंसकः स्या-  
त् । परबलिङ्गापवादः । पञ्चगवम् । दन्तोष्ठम् । प्रकरणादेवानुवाचलाभे  
सग्रहणमेतत्प्रकरणानुपात्तस्यापि समाहारद्वन्द्वस्य सङ्ग्रहार्थम् । तथा  
च "युवोरनाकौ" (पा०सू०७-१-१) इत्यादानुच्यते-युवोरिति समा-  
हारद्वन्द्वे "सनपुंसकम्" (पा०सू०२-४-१७) इति क्लीबत्वं स्यादिति । अत  
एव प्रयुज्यते "कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्" इति । अकारान्तोत्तरपदो  
द्विगुः स्त्रियामिष्टः (का०वा०) । अत इत्यधिकारे "द्विगोः" (पा०सू०४-  
१-२१) इति ङीष्विधानमिह लिङ्गम् । पञ्चमूली । वाबन्तः (का०वा०) ।  
पञ्चखट्वा, पञ्चखट्वम् । स्त्रीत्वपक्षे उपसर्जनह्रस्वत्वम् । अनो नलोपश्च  
वा च द्विगुः स्त्रियाम् (का०वा०) । पञ्चतक्षं, पञ्चतक्षी । "उत्तरपदत्वे  
चापदादिविधौ" (का०वा०) इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् पदत्वाभा-  
वान्नलोपवचनम् । पात्राद्यन्तस्य प्रतिषेधः । पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् ।  
चतुर्युगम् । द्विसमासम् । पात्रादिराकृतिगणः ।

अव्ययीभावश्च (पा०सू०२-४-१८) । अयं नपुंसकं स्यात् । अधि-  
स्त्रि । उन्मत्तगङ्गम् । पूर्वपदार्थप्रधानस्य अलिङ्गत्वेऽन्यपदार्थप्रधानस्य  
तु विशेष्यलिङ्गत्वं प्राप्ते इदमुच्यते । अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः । तत्फ-  
लन्तु "पुण्यसुदिनाभ्यामन्हः" (का०वा०) । पुण्याहम् । सुदिनाहम् ।  
कर्मधारये "राजाहस्सखिभ्यष्टच्" (पा०सू०५-४-९१) । "रात्रान्हाहाः  
पुंसि" (पा०सू०२-४-२९) इत्यस्यापवादः । सुदिनशब्दः प्रशस्तवा-  
ची । तथा च प्रयुज्यते—

सुदिनासु सभासु कार्यमेतत् प्रविचिन्वीत विशेषतः स्वयञ्च । इति ।  
तेनेह दिनाहःशब्दयोः सहप्रयोगविरोधो न शङ्कनीयः । पथः स-  
ङ्ख्याव्ययादेः ( का०वा० ) । त्रयाणां पन्थाः त्रिपथम् । विरूपः पन्थाः  
विपथम् । प्रादिसमासः । कथन्तर्हि—"अतिपन्थाः सुपन्थाश्च" (अ०  
को०२-१-१६) इत्यमरः ? उच्यते, पथ इति कृतसमासान्तात्प्रथमा; संख्या-  
व्ययरूपादेः परः कृतसमासान्तः पथशब्दः क्लीबमित्यर्थः । पथः क्लीबतेति  
पाठेऽपि सङ्ख्यादिपथशब्दस्याव्यभिचरितसमासान्ततया तत्साहच-  
र्यादव्ययादेरपि तथाभूतस्यैव ग्रहणं बोध्यम् । तथाच क्लीबलिङ्गका-  
रिका—पथः सङ्ख्याव्ययात्पर इति । न चेह समासान्तोस्ति, "न पू-



जनात्” (पा०सू०५-४-५९) इति निषेधात् । कथन्तर्हि “सपथश्चार्चि-  
तेऽध्वनि” इति ? स्वतिभ्यामेवेति परिगणनात् । अथ कथं—

“व्यध्वो दुर्ध्वो विपथः कदध्वा कापथः समाः”

इत्यमरः (अ०को०२-१-१६) ? अत्र क्षीरस्वामिदुर्घटादयो विपथं  
कापथमित्येव पाठः कर्तव्यो लिङ्गकारिकाद्यनुरोधादित्याहुः । एवन्तु  
“व्यध्वौ विपथकापथौ” इति रभसकोशेऽपि पुंस्त्वं प्रामादिकामिति  
लभ्यते । वस्तुतस्तु पथे गतौ इत्यस्मात्पचाद्यच्चि पथते व्याप्नोतीति  
पथः, अकारान्तोऽयम् । तथाच त्रिकाण्डशेषः, “वाटः पथश्च मार्गः  
स्यात्” इति । तेन समासे पुंस्त्वञ्च । न चैवं ‘विपथः’ इति सिद्धावपि  
‘कापथो’ न स्यात्कादेशस्य दुर्लभत्वादिति वाच्यम्, ईषदर्थे चेति  
तत्सम्भवात्, कुत्सायामर्थतः पर्यवसानात् । यत्त्वकारान्तस्याभ्युपगमे  
“पथो विभाषा” (पा०सू०५-४-७२) इति सूत्रं व्यर्थं स्यादिति माधवे-  
नोक्तम् । तत्रायं समाधिः—“अपथं नपुंसकम्” (पा०सू०२-४-३०) इति  
सूत्रे कृतसमासान्तनिर्देशसामर्थ्यात् “नञस्तत्पुरुषात्” (पा०सू०५-४-  
७१) इत्यस्य नित्यं बाधः प्राप्तः । न च सोऽप्यकारान्तस्य निर्देशः,  
“पथःसङ्ख्याव्ययादेः” (का०वा०) इत्यत्रापि तथात्वापत्तौ सत्यामपथो  
विपथः कापथ इत्याद्यसिद्धापत्तेः । किञ्च “रात्रान्हाहाः” (पा०सू०२-  
४-२९) इति सूत्रात्परम् “अपथं नपुंसकम्” (पा०सू०२-४-३०) इति  
सूत्रे वार्त्तिकं पठ्यते । तथाच प्रक्रमानुरोधात्कृतसमासान्तनिर्देश एव  
न्याय्यः सम्प्रदायसिद्धश्च । अत एव “अपथं नपुंसकम्” (पा०सू०२-  
४-३०) इति सूत्रस्य वार्त्तिकेन गतार्थतामाशङ्क्य सूत्रस्य प्राच्यत्वाद-  
दोष इति कैयटः । एवं स्थिते ‘अपन्थाः’ इत्येतत्सिद्धये “पथो वि-  
भाषा” (पा०सू०५-४-७२) इति सूत्रम्, अमरस्य च न पूर्वापरविरो-  
ध इत्यवधेयम् ।

प्रकृतमनुसरामः—इदं क्लीबत्वविधानं परवल्लिङ्गताया अपवादः ।  
तेन “विपथा नगरी” इति बहुव्रीहौ न । पन्थानमतिक्रान्ता ऽतिपथे-  
त्यत्रापि न । इह हि “द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु न” (का०वा०)  
इति परवल्लिङ्गता प्रतिषिद्धा । यद्येवमुत्पथमिति प्रतीकमुपादाय “कु-  
गति” (पा०सू०२-२-१८) इति तत्पुरुष इति कैयटो विरुध्यते । मैवम्, न  
हि तत्र ‘पथ उद्गतः’ इत्यादिविग्रहः, किन्तु उत्कृष्टः पन्था इति । तथा  
च परवल्लिङ्गमेव प्राप्तम् । तस्मादुत्तरपदार्थप्राधान्य एवेदं लिङ्गवि-  
धानमिति स्थितम् । स्पष्टञ्चेदं माधवग्रन्थे । यत्तु वृत्तिग्रन्थे ‘सुपथम्’  
इत्युदाहृतम् । तत्र सुशब्दस्य वैपुल्यमर्थो न तु पूजेति समासान्तः



कृत इति माधवः । क्रियाविशेषणानाञ्च क्रियाया असत्त्वरूपत्वात्तद्विशेषणानां तद्वदलिङ्गत्वे प्राप्ते वचनमिदं वार्त्तिकानारूढमपि वृत्तिकारेण कृतमित्याहुः । मृदु पचति । प्रथमं पचति । “सामान्ये नपुंसकम्” (का० वा०) इति वा सिद्धम् । अत एव नियतलिङ्गेषु नेदं प्रवर्त्तते । आदि पचति । आदिभूता या विह्वलितस्तां करोतीत्यर्थः । धातुपात्तभाबनाम्प्रति कर्मत्वात्तत्सामानाधिकरण्याद्वा द्वितीया । अत एव ‘सकृद्वौ’ इत्यादौ कारकपूर्वत्वाद्यणित्याकरः । न च सकलकारकाणां क्रियाविशेषणत्वात् क्लीबतापत्तिः शङ्क्या, कारकाणां विभक्त्यर्थत्वरूपत्वाच्च । शक्त्याधारस्तु यद्यपि द्रव्यं नामार्थश्च; तथापि नासौ क्रियां प्रति विशेषणं, किन्तु क्रियाविशेषणीभूतकारकविशेषणमिति बोध्यम् । अत एव नामार्थस्य भेदेन धात्वर्थान्वयो नेति सिद्धान्तः । ‘स्तोकं पच्यते’ इत्यादावपि धात्वर्थव्याप्यस्यैव तण्डुलादेर्नाभिधानं न तु धातुक्रोडीकृतस्यापि “भावे चाकर्मकेभ्यः” (पा०सू०३-४-६९) इत्यत्र विशेषणसामर्थ्याद्वाह्यकर्मग्रहणे “लः कर्मणि” (पा०सू०३-४-६९) इत्यत्रापि तथैव निर्णयात् । अतो धातुना क्रोडीकृतस्य विशेषणं द्वितीयान्तमेव, न तु अभिहितत्वप्रयुक्तप्रथमान्तम् । न वा “स्तोकमोदनस्य पक्ता” इत्यत्र स्तोकशब्दात्कृद्योगलक्षणा षष्ठी । यत्र तु भावनाम्प्रति करणतया धात्वर्थविशेषस्यान्वयस्तत्र विशेषणानां तृतीयान्ततैव “ज्योतिष्टोमेन यजेत” इति यथा । स्पष्टं चेदं “करणे यजः” (पा०सू०३-२-८५) इति सूत्रे वृत्तिपदमञ्जरीः । न चैवं “ज्योतिष्टोमेन समीचीनं यजेत्” इति न स्यादिति वाच्यम्, भावनाविशेषणत्वे तदुपपत्तेः । तत्र च प्रथमान्ततैव । सन्दर्शनप्रार्थनादिभिर्व्याप्यमानत्वात्क्रियाया अपि कृत्रिमकर्मत्वे तु तद्विशेषणत्वेऽपि द्वितीयैव । तदिह क्रियाविशेषणानां क्लीबतेत्युत्सर्गः, नियतलिङ्गे तदभावात् । द्वितीयेत्यप्युत्सर्गः, प्रथमातृतीययोरप्युक्तत्वात् । एकवचनमप्युत्सर्गः । ‘हतशायिकाः शय्यन्ते’ इत्यादौ बहुवचनस्यापि “सार्वधातुके यक्” (पा०सू०३-१-६७) इति सूत्रे वक्ष्यमाणत्वादिति दिक् । ‘प्रातः कमनीयम्’ इत्याद्यव्ययविशेषणे तु क्लीबत्वं यद्यपि तुल्यं तथापि प्रथमैकवचनमेव न तु द्वितीयैकवचनम्, कर्मताभावात् । प्रातरादिरिति तु नियतलिङ्गमेवेति दिक् । यद्यप्येतानि वार्त्तिकानि भाष्ये “अपथं नपुंसकम्” (पा०सू०२-४-३०) इत्यत्र पठितानि तथापि “अव्ययीभावश्च” (पा०सू०४-३-५९) इति चकारसुचितार्थकथनपराणीत्याशयेन वृत्त्यनुरोधादिहैव व्याख्यातानि ।



तत्पुरुषोऽनङ्कर्मधारयः (पा०सू०२-४-१९) । अधिकारोऽयम् । कर्मधारयशब्दो भावप्रधानः । द्वन्द्वगर्भो नञा बहुव्रीहिः । न विद्येते नञ् च कर्मधारयत्वं चेत्युभे यत्र स तत्पुरुष इत्यर्थः । वक्ष्यति “विभाषा सेनासुरा” (पा०सू०२-४-२५) इत्यादि । तत्पुरुषः किम् ? दृढसेनो राजा । नञ् रहितः किम् ? असेना । कर्मधारयत्वरहितः किम् ? परमसेना । मध्यमसूत्रेष्वयमधिकारो नातीवोपयुज्यत इति तत्रैव वक्ष्यामः ।

संज्ञायां कन्थोशीनरेषु (पा०सू०२-४-२०) । कन्थान्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात्सा चेदुशीनरदेशोत्पन्नायाः कन्थायाः संज्ञा । सुशमस्यापत्यानि सौशमयः, तेषां कन्था सौशमिकन्थम् । संज्ञायां किम् ? वीरणकन्था । ऊशीनरदेशेषु किम् ? दाक्षिकन्था । इहानादिः संज्ञा गृह्यते । सा चोशीनरेषु तत्पुरुषभिन्ना नङ्समासरूपा कर्मधारयश्च नास्त्येवेतीह मन्दमधिकारस्य फलम् ।

उपज्ञोपक्रमन्तदाद्याचिख्यासायाम् (पा०सू०२-४-२१) । उपज्ञायते इत्युपज्ञा । “आतश्चोपसर्गे” (पा०सू०३-१-१३६) इति कर्मण्यङ् प्रत्ययः । उपक्रम्यते इत्युपक्रमः । कर्मणि घञ् । “नोदात्तोपदेशस्य” (पा०सू०७-३-३४) इति वृद्धिप्रतिषेधः । उपज्ञान्त उपक्रमान्तश्च तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात्, तयोरुपज्ञोपक्रमयोरिति प्राथम्यश्चेदाख्यातुमिष्यते । पाणिनेरुपज्ञा पाणिन्युपज्ञं ग्रन्थः । त्वदुपक्रमं सौजन्यम् । इच्छासनेह विवक्षैव शब्दव्युत्पत्तौ नियामिका न तु वस्तुस्थितिरिति ज्ञाप्यते । तेन क्रियासम्बन्धमात्रविवक्षायां न ‘देवदत्तोपज्ञो रथः’ इत्यादि । इह षष्ठीतत्पुरुषाद्विना तदादित्वासम्प्रत्ययादलभ्यमधिकारफलम् ।

छाया बाहुल्ये (पा०सू०२-४-२२) । छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्याद् बाहुल्ये सति चेच्छायाम् । यानि सम्भूयोपजीव्यां छायामारममाणान्यावरकद्रव्याणि तत्समर्पकात्पूर्वपदात्परदछायाशब्दश्चेदित्यर्थात्फलति । अत एवेह नाधिकारः फलवान् । इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम् । “विभाषासेना” (पा०सू०२-४-२५) इत्यादेर्विकल्पस्यापवादोऽयम् । कथन्तर्हि ‘इक्षुच्छायानिषादिन्यः’ (१००४-२०) इति ? उच्यते, आसमन्ताग्निषादिन्य इत्याङ्प्रश्लेषो बोध्यः ।

सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा (पा०सू०२-४-२३) । राजपूर्वा अमनुष्यपूर्वा च या सभा तदन्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् । इनसभम् । ईश्वरसभम् । पर्यायस्यैवेत्यते । तथाहि, अराजेतिच्छेदः । नञि त्रयुक्तन्याया-



ञ्जाराजा राजसदृशस्तत्पर्यायो गृह्यते । नेह, राजसभा । चन्द्रगुप्तसभा । कथं “नृपतिसभामगमन्न वेपमाना” (म०भा०) इति कीचकवधे ? गज-पतिवद्राजविशेषवाचित्वादिति रक्षितः । यद्वा, ना पतिर्यस्यां सभा-यामिति बहुव्रीहौ कृते पश्चात्कर्मधारयः । अनञ्कर्मधारय इत्यनुवृत्तेर्न क्लीबत्वम् । अमनुष्यशब्दो रूढ्या रक्षःपिशाचादीनाह । रक्षःसभम् । रूढ्यर्थाभावाच्चेह—काष्ठसभा ।

अशाला च (पा०सू०२-४-२४) । शालावाची सङ्घातवाची च सभाशब्दः । तत्र राजामनुष्यपूर्वत्वे पूर्वसूत्रेण पूर्वस्य क्लीबत्वमुक्तम् । सङ्घातवाचिनस्तु अनेन विधीयते । स्त्रीसभम्, स्त्रीसङ्घात इत्यर्थः । अशाला किम् ? अनाथसभा, अनाथकुटीत्यर्थः ।

विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् (पा०सू०२-४-२५) । एतदन्तस्य तत्पुरुषस्य क्लीबता वा स्यात् ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणसे-ना । यवसुरम्, यवसुरा । कुड्यच्छायम्, कुड्यच्छाया । गोशा-लम्, गोशाला । इवनिशम्, इवनिशा कृष्णचतुर्दशीत्याहुः । तस्यां हि इवान उपवसन्तीति प्रसिद्धिः । “शुनश्च तुर्दश्यामुपवसतः पश्या-मः” इति तिर्यगधिकरणे शाबरभाष्यम् ।

परवल्लिङ्गं द्रन्ध्रतत्पुरुषयोः (पा०सू०२-४-२५) । एतयोः परपदस्यैव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमौ, मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धं पिप्प-ल्या अर्धपिप्पली ।

स्यादेतत् यदि समासार्थस्य परवल्लिङ्गत्वमेनेनातिदिश्यते, तर्हि “पूर्ववदश्ववडवौ” (पा०सू०२-४-२७) इति सूत्रेणापि न्याय-साम्यात्समासस्यैवातिदेष्टव्यम् । ततश्च टाप् श्रूयेत समासार्थस्य पुंस्त्वेऽपि उत्तरपदार्थस्य स्त्रीत्वानपगमात् । यत्तु “गोस्त्रियोः” (पा० सू०१-२-४८) इति ह्रस्व इति । तन्न, “चार्थे द्रन्ध्रः” (पा०सू०२-२-२९) इत्यत्रानेकमित्यधिकारात्सर्वेषां प्रथमानिर्दिष्टत्वेऽपि प्राधान्यादुपस-र्जनसङ्घाविरहात् । अन्वर्थसंज्ञा हि सा । अत एव राज्ञः कुमार्याः राजकुमार्या इत्यत्र न ह्रस्व इत्युक्तम् । अत एव च ‘कुक्कुटमयूर्यौ’ इत्यत्र न ह्रस्वः । ननु मास्त्वन्वर्थता । तथाच ‘अश्ववडवौ’ इति सि-द्ध्यति । ‘राजकुमार्याः’ ‘कुक्कुटमयूर्यौ’ इत्यत्र तु ह्रस्वे कृते पुनः स्त्री-प्रत्ययात् सिद्धम् । तदुक्तम्—‘परवल्लिङ्गमिति शब्दशब्दार्थौ इति । तथाहि, लिङ्गशब्देन लिङ्गाभिधायी प्रत्ययोऽर्थश्च गृह्यते, तन्नाद्या-श्रयणात् । एवञ्च द्रन्ध्रार्थस्य तत्पुरुषार्थस्य च परस्यैव लिङ्गं स्यात् । तदभिधायी प्रत्ययश्च परस्येवेति सूत्रार्थः । तथा च यत्र ‘द्रव्यगुणौ’



‘गुणकर्मणी’ इत्यादौ लिङ्गाभिधायी प्रत्ययो न सम्भवति तत्रार्थ एवातिदिश्यते । उभयसम्भवे तूभयम् । यथा ‘कुक्कुटमयूरी’ इत्यादौ । ततश्च औपदेशिकस्य ह्रस्वत्वेऽप्यातिदेशिकस्य श्रवणं भविष्यति । न च पुनर्ह्रस्वः शङ्क्यः, अनुपसर्जनत्वात्तदन्यस्याप्रातिपदिकत्वाच्च । न चैवमपि ‘दत्तागार्यायण्यौ’ ‘दत्ताकारिषगन्धे’ इत्यत्र ह्रस्वत्वे कृते समासात्पुनः फक्क्यडौ स्यातामिति वाच्यम्, ‘भस्याडे तद्धिते’ (का०वा०) इति पूर्वोत्पन्नयोर्निवृत्तिसम्भवादिष्टापत्तेरिति । मैवम्, ‘दत्ता च युवतिश्च दत्तायुवती’ इत्यत्र तिप्रत्ययद्वयश्रवणापत्तेः । तत्राभत्वेन पुंवद्भावायोगात् । तस्मादुपसर्जनत्वं द्वन्द्वे नास्त्येव अन्वर्थत्वादिति स्थितम् । ‘अश्ववडवौ’ इत्यत्र स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तौ उपायान्तरं वक्तव्यमिति ।

अत्रोच्यते, “विभाषावृक्षमृग” (पा०सू०२-४-१२) इति सूत्रे ऽश्ववडवेत्यत्र टापो निवृत्तिर्निपात्यते । तदुक्तम्—“समासादन्यलिङ्गमिति चेदश्ववडवयोष्ठाब्लुग्वचनं निपातनात् सिद्धम्” इति । “द्विगुप्रासापञ्चालं पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः (का०वा०) । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः । प्राप्नो जीविकां प्राप्नो जीविकः । आपन्नजीविकः । अलङ्कुमारिः । निष्कौशाम्बिः । भाष्ये त्वेतत्प्रत्याख्यातम् । तथाहि, तत्पुरुषग्रहणं न करिष्यते । परवल्लिङ्गं द्वन्द्वस्येत्येव । कथं ‘पूर्वकायः’ ‘अर्द्धपिप्पली’ इति ? एकदेशिसमासोऽपि नारभ्यते । कर्मधारय एवायं-पूर्वश्चासौ कायश्च, अर्द्धश्चासौ पिप्पली चेति । ततश्च प्राधान्यादेवोत्तरपदार्थस्य लिङ्गं भवति । न च षष्ठीसमासबाधनार्थमेकदेशिसमासोऽवश्यारब्धव्य इति वाच्यम्, इष्टत्वादनभिधानाच्च । तथाहि, “द्वितीयतृतीय” (पा०सू०२-२-३) इत्यत्रान्यतरस्याद्ग्रहणात्सूत्रकारस्यापि षष्ठीसमास इष्टः, अर्धशब्देनापि षष्ठीसमासो भाष्यकाराणामिष्ट इति प्रागेवोक्तम् । ‘पूर्वापरम्’ इत्यत्र त्वनभिधानात्षष्ठीसमासो न भविष्यतीति । इदञ्च प्रत्याख्यानं दुर्बलम्, अनभिधानाश्रयणमगतिकगतिरिति सन्प्रत्ययविधौ भाष्य एवोक्तत्वात् ।

पूर्ववदश्ववडवौ (पा०सू०२-४-२७) । द्विवचनमतन्त्रम् । अर्थातिदेशश्चायम् । परवल्लिङ्गतापवादः । अश्ववडवौ, अश्ववडवान्, अश्ववडवैर्जवनैरित्यादि । “विभाषा वृक्ष” (पा०सू०२-४-१२) इत्यादिसूत्रेण समाहारद्वन्द्वपक्षे तु “स नपुंसकम्” (पा०सू०२-४-१७) इत्येव भवति, तच्छब्देन विशिष्य परामर्शार्थमेवाश्ववडवग्रहणात् । अन्यथा पशुग्रहणेनैव सिद्धौ तद्वैयर्थ्यापत्तेरित्युक्तम् ।



हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (पा०सू०२-४-२८) । पूर्ववदित्यनुवर्तते । हेमन्तश्च शिशिरे च हेमन्तशिशिरौ । अत्रेदमवधेयम्, शिशिरशब्दः पुंनपुंसकयोः । तथाच चक्रवर्जान्धकारेति सूत्रे तिमिरशिशिराणि नपुंसके चेति भगवान्पाणिनिः । अमरोऽपि—“हेमन्तः शिशिरोऽस्त्रियाम्” (अ०को०१-४-१९) इत्याह । तथा चात्र सूत्रे हेमन्तशिशिरात्रिति न कर्तव्यम् । अहोरात्रे शिवे स्याताम् । इह “रात्रान्हाहा” (पा०सू०२-४-२९) इति पुंस्त्वं प्राप्तम् । द्वित्वमतन्त्रम् । अहोरात्राणि विदधत् । न चेदं समाहारद्वन्द्वे सत्येकशेषात्सिद्धमिति वाच्यम्, तत्रापि पुंस्त्वस्योत्तरसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात् । छन्दसि लिङ्गव्यत्ययो वक्ष्यते तस्यैवायं प्रपञ्चः । लोके तु दुःखे हेमन्तशिशिरे । अहोरात्रौ पुण्यौ ।

रात्रान्हाहाः पुंसि (पा०सू०२-४-२९) । एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव । रात्रेः पूर्वा भागः पूर्वरात्रः । एकदेशिसमासः । “अहः सवैकदेश” (पा०सू०५-४-८७) इत्यच् समासान्तः । पूर्वाह्णः । “रात्राहः सखिभ्यः” (पा०सू०५-४-९१) इति टच् । “अन्होऽन्ह एतेभ्यः” (पा०सू०५-४-८८) इत्यन्हादेशः । “अन्होऽदन्तात्” (पा०सू०८-४-७) इति णत्वम् । इहः । “न संख्यादेः समाहारे” (पा०सू०५-४-८९) इत्यन्हादेशाभावः । “अन्हष्टखोरेव” (पा०सू०६-४-१८५) इति टिलोपः । परवल्लिङ्गापवादोऽयं योगः । वृत्तौ तु एते पुंसीत्युक्तम् । तत्राप्येतदन्ता इत्यर्थो बोध्यः । यत्तु रात्रादीनामेवानेन पुंस्त्वे कृते तदन्तस्य “परवल्लिङ्गम्” (पा०सू०२-४-२६) इत्येव सिद्धमिति । तन्न, समाहारे नपुंसकत्वापत्तेः । परवल्लिङ्गत्वापवादो हि “स नपुंसकम्” (पा०सू०२-४-१७) इति योगः । न च नपुंसकत्वे इष्टापत्तिः, ‘द्विरात्रः’ ‘त्रिरात्रः’ इति वृत्तिकारीयोदाहरणविरोधात् । तद्धि समाहारे द्विगुरिति सर्वैर्व्याख्यातम् । अमरोऽपि प्रायुङ्क्त—“ते तु त्रिंशदहोरात्रः” (अ०को०१-४-१२) इति, “मासेन स्यादहोरात्रः” (अ०को०१-४-२२) इति च । तस्मात्तदन्तस्यैवायं पुंस्त्वविधिः । यद्यपि सन्निधानात्परवल्लिङ्गताया एवायमपवादस्तथापि परत्वान्नपुंसकतां बाधते ।

अत्रेदं चिन्त्यम्—उक्तीत्या ‘अहोरात्रः’ इत्यत्र पुंस्त्वमस्तु । द्विरात्रादौ तु वृत्तिकारहरदत्ताद्युक्तं पुंस्त्वमसङ्गतम्, तत्र विशिष्टकलीबन्ताविधेः । तथाच लिङ्गानुशासनसूत्रम् । “अपथपुण्याहे नपुंसके” (लि० सू०१३२) । “संख्यापूर्वा रात्रिः” (लि०सू०१३२) इति । अमरोऽप्याह—“रात्रेः प्राक् संख्ययान्वितम्” (अ०को०३-५-२५) इति “गणरात्रं निशाबद्धाः” (अ०को०१-४-६) इति च । अनुवाकादयः



पुंसीति वक्तव्यम् (का०वा०) । अनुवाकः । शंयुवाकः । सूक्तवाकः । वाक्यविशेषस्यैताः सञ्ज्ञाः । कर्मणि घञन्ता इति नपुंसकत्वे प्राप्ते वचनम् ।

अपथं नपुंसकम् (पा०सू०२-४-३०) । इदं नपुंसकं स्यात्तत्पुरुषे । समासान्तरे तु अपथो देशः । अपथा नगरी । कृतसमासान्तनिर्देशा-  
ब्रह्म-अपन्थाः ।

अर्धर्चाः पुंसि च (पा०सू०२-४-३१) । अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः । ते च गणरत्ने संगृहीताः । तद्यथा--

अर्धर्चध्वजकुञ्जशीधुमधवो वर्चस्कूर्चाढकाः

पङ्कानीकपिनाकनिष्ककपटाष्टङ्कः किरीटः कुटः ।

कूटः कङ्कटकर्वटाण्डशकटा वल्मीकसानूनटाः

खण्डोद्योगविडङ्गशृङ्गसरकाः पुंखत्रजौ मोदकः ।

मधुर्मकरन्दे मये माक्षिके च द्विलिङ्गः ।

“मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः ।

अर्धर्चादिगणे पाठात्पुंनपुंसकयोर्मधुः” ॥

इति शाश्वतः । अमरस्तु-“मार्द्धिकं मधु न द्वयोः” इत्याह । चैत्रदैत्ययोस्तु पुंस्येव । वर्चस्कं शकृत् । कूर्चं दीर्घश्मश्रु । आढकं मानविशेषः । पङ्कः कर्दमपापयोः । अनीकं सैन्यम् । पिनाको रुद्रधनुस्त्रिशूलं च । निष्क आभरणम् । कपटं व्याजः । टङ्कः पाषाणभेदनः । किरीटो मुकुटम् । कुटो घटः । कूटे सङ्घातो माया च । कङ्कटं सन्नाहः । कर्वटं नद्यादिवेष्टितः खेटकग्रामः । अण्डं पक्ष्यादिप्रसवः । नटो नर्त्तकविशेषः । खण्ड इक्षुविकारः शकलं च । उद्योगमुत्साहः । विडङ्ग औषधम् । सरकं मद्यम् । शेषं प्रसिद्धम् ।

शाको मस्तककलकशुकनिकराः शुल्कं निदाघो नखो

बाणद्रोणसुवर्णभूषणरणाः कार्षापणस्तोरणः ।

काण्डस्ताण्डवदण्डमण्डपिटकाः सक्तुस्तटाकत्रणौ

पेटो मञ्चकवारबाणचरणा वल्लाम्बरैरावताः ।

कलक औषधनिर्यासः दम्भः पातकं च । शुकं धान्यादेः सूची । शुल्कं घट्टादावायस्थानम् । द्रोणो मानविशेषः पक्षिविशेषश्च । भूषणोऽलङ्कारः । काण्डः शरनालवर्गवारिसम्यकुत्सितेषु । मण्डो दध्यादेर्द्रवांशः । पिटको वंशनिर्मितः पात्रविशेषः । पेटः संहतिः । पेटावत-  
मिन्द्रगजः ।

नरकमटविटङ्गश्चेतिनाभूतवत्स-



प्रयुतघृतवसन्ता हस्तबुस्तापराह्णाः ।

पलितफलककण्टा नाम कर्माभिधाना-

ऽयुतशततृणनीडा यौवनोद्यानयानाः ।

चरकं ग्रन्थविशेषः । मठं व्रतिनां स्थानम् । विटङ्कं कपोतपाली ।  
श्वेडितो मुखध्वनिविशेषः । भूतः पिशाचे द्विलिङ्गः । क्रियाशब्दस्तु  
विशेष्यलिङ्गः । वृत्तं शीलम् । प्रयुते दशलक्षाः । घृत आज्यम् । हस्तं  
पाणिः । बुस्तं मांसशङ्कुली । पलितः पाण्डुरकेशः । फलकः खेटकम् ।  
कण्टं पापम् । अयं नामा अयं कर्मा, कार्यमित्यर्थः ।

कर्म व्याप्ये क्रियायाश्च पुनपुंसकयोर्मतम् ।

इति रुद्रः । यौवनो द्वितीयं वयः । उद्यान आरामः । यानो वाहनम् ।

तीर्थप्रोथौ नलिनपुलिनस्तेययोधौषधानि

स्थानः शूर्पो निधनशयनद्वीपपुच्छायुधानि ।

यूथं गूथं कुणपकुतपक्षेमवर्णासनानि

च्छत्राकाशप्रतिसरमुधाष्टापदारण्यवर्षाः ॥

प्रोथोऽश्वनासा । स्तेयश्चौर्यम् । योधो भटः । औषधो भेषजम् ।  
स्थानम् आधारः । शूर्पो वेणुपात्रम् । निधनो मृत्युः । शयनः शय्या ।  
यूथः पशुसमूहः । गूथो विष्टा । कुणपं शवः । कुतपः कालविशेषः ।  
वर्णमक्षरम् । प्रतिसरः कङ्कणम् । मुखो वदनम् । अष्टसु लोहेषु पदं प्र  
तिष्ठाऽस्तेयष्टापदं सुवर्णम् । “अष्टनः संज्ञायाम्” (पा०सू०६-३-१२५)  
इति दीर्घः । अरण्योऽटवी । वर्षः संवत्सरः ।

कमण्डलुर्मण्डपकुट्टिमाबुदावतंसपाराः शतमानचन्दनौ ।

समानपूषौ दृढमूषिकौदना दिनं विमानं च वितानलोहितौ ॥

अर्बुदो दशकोटिः । पर्वते तु पुलिङ्गः । तथाच मेदिनी—

अर्बुदो मांसपुरुषे दशकोटिषु न स्त्रियाम् ।

महीधरविशेषे ना इति । अवतंसं शेखरम् । पारः परतीरम् । शत-  
मानं रूप्यपलम् । समानः सदृशः । पूषो मुद्रादिनिर्यासः । मूषिक  
आखुः । ओदनं कूरः । दिनो दिवसः । लोहितः शोणितम् । गुणवाची तु  
वाच्यलिङ्गः ।

अंसक्षीरकषायबिम्बविटपा नेत्राढ्ययौ शेखरः

केदाराश्रमशल्यशूलवलयया बालस्तमालो मलः ।

गुल्माङ्गारविहारतोमररसाः पात्रं पवित्रं पुरम्

मध्यो बुध्नमृणालमण्डलनला नालप्रवालोत्पलाः ॥

अंसः स्कन्धः । क्षीरो दुग्धम् । कषायं तुवर्गो रसः । बिम्बो



मण्डलम् । विटपः स्तम्भः शाखा च । नेत्रो नयनम् । अव्ययमथे-  
त्यादि । शेखरमापीडः । केदारं क्षेत्रम् । आश्रमो मुनिस्थानम् ।  
शूलमायुधं रोगविशेषश्च । बलयो हस्ताभरणम् । बालः शिशुः  
केशश्च । तमालो वृक्षविशेषः । मलः पापं विट् च । गुल्मः  
प्रकाण्डम् । अङ्गारो दग्धकाष्ठम् । विहारः क्रीडास्थानम् । रसं मधुरा-  
दि । पात्रो भाजनम् । “त्रिषु पात्री पुटी वाटी” (अ०को०३-५-२२)  
इत्यमरादिहायोगव्यवच्छेदे तात्पर्यं न त्वन्ययोगव्यवच्छेदेष्वपि । एवं  
पवित्रः पावनम् , पुरः पुरीत्याद्यपि । बुध्नमधोभागः । नलः सुषिर-  
तृणम् । नालः पुष्करादीनां दण्डः । अयं स्त्रियामपि, “नाला मृणालाग्र  
भुजो भजामः” इति श्रीहर्षः । प्रवालं पल्लवो विद्रुमश्च ॥

जृम्भो वज्रकबन्धकर्षककुदाश्चक्रान्धकाराङ्कुश  
वक्रः संगमदेहदाडिमहिमाः पत्रं बलं वल्कलम् ।  
कार्पासामिषकाशकोशकुसुमप्रग्रीवमासेकसा  
निर्यासः कलशाम्बरीषकलला माषं करीषं कुशम् ॥

जृम्भो जृम्भणम् । वज्रः कुलिशं हीरकश्च । कबन्धं रुण्डः ।  
कर्षः पलचतुर्भागः । ककुदं श्रेष्ठे वृषांसे राजचिन्हे च । चक्रो रथा-  
ङ्गः । अङ्कुशः सृणिः । वक्रो मुखम् । सङ्गमो नद्यादेर्मेलनम् । देहं  
शरीरम् । दाडिमं फलविशेषः । हिमस्तुहिनम् । पत्रः पर्णं वाहनं च ।  
बलं सामर्थ्यं सैन्यं च । कुसुमः पुष्पम् । प्रग्रीवं वातायनम् । मासं त्रिंशद-  
होरात्रः । इक्षसश्चिक्सं गोधूमादिचूर्णम् । अमरस्तु चिक्कसमर्धर्चादौ  
पपाठ । निर्यासं वृक्षादेर्निष्पन्दः । कलशं घटः । अम्बरीषं भ्राष्ट्रम् ।  
कललं शुक्रशोणितयोः परिणामविशेषः । माषं परिमाणविशेषो धा-  
न्यविशेषश्च । करीषं शुष्कगोमयम् । कुशशब्दस्य विषयविवेकस्तु  
“दण्डमड” इत्यादिलिङ्गानुशासनसूत्रव्याख्यानावसरे वक्ष्यते ।

मुसलमुकुलमूलाः पाश्वर्पात्रीवपूर्वाः  
कमलहलचषालाः खण्डलं कुण्डलं च ।  
निगलफलपलाला मङ्गलं शालशीला  
विषचषकविशालाः पूलतेले कपालम् ॥

मूलः शिफा । पात्रीवं यज्ञोपकरणम् । कमलः पद्मम् । हलः सीर-  
म् । चषालं यज्ञपात्रविशेषः । खण्डलं खण्डम् । फलः प्रयोजनम् । शालो  
वृक्षविशेषः । शीलं चरितम् । विषो वत्सनागादिः । चषको मधुपान  
भाजनम् । पूलं बद्धतृणसंचयः ॥



समरतिमिरवारा राजसूयोपवासौ  
चमसदिवसकंसा वाजपेयो हिरण्यम् ॥

जठरदरशरीराऽऽरावकान्तराष्ट्राः

पटहगृहकवाटाः कुक्कुटाद्वौ च धाम ॥

वारः परिपाटी । “कंसोऽस्त्री पानभाजनम्” (अ०को०२-९-३३) इत्यर्थः । दरस्त्रासे रोगे अल्पे च । शरीरः कायः । आरावः शब्दः । गृहशब्दो नपुंसकेऽभिधेयवचनः । पुंसि तु बहुवचनान्त एव । “कवाटमररं तुल्ये” (अ०को०२-२-१८) इत्यमरः । अत्रैव कपाटशब्दोऽपि साधुरिति “शकौ हस्तिकपाटयोः (पा०सु०३-२-९४) इति सूत्रे वक्ष्यामः । आर्द्रः शृङ्गवेरम् । धाम गृहं तेजश्च ॥

पद्माषाढकपित्थषष्टिककुलान्यम्भोजवाजामृताः

स्थूलघृतखलीनलोहकवचाशोकक्षयानेकपाः ।

शङ्खस्तण्डकधर्मचर्मरजतस्नेहासिहंसापराः

सारः सैन्धवमध्यमाध्वरधनुर्मानस्तनस्थानवः ॥

पद्मो निधौ पुंसि, जलजे तु द्विलिङ्गः । आषाढं व्रतिदण्डो मासश्च । कपित्थो वृक्षविशेषः । वृत्तौ तु कवीयेति पठ्यते, अश्वमुखबन्धनरज्जुस्तस्यार्थः । उक्तं च बोपालितेन “नार्या करीखलीनं कवीयं वा ना तुरङ्गमुखमाण्डम्” इति । षष्टिकं ब्रीहिभेदः । कुलो वंशो गृहं च । अम्भोजः कमलम् । वाजं पिच्छम् । अमृतं सलिलम् । अशोकं तरुः । क्षयो गृहम् । अनेकपं हस्ती । शङ्खो निधौ पुमान्, जलजे द्विलिङ्गः । तण्डकश्छन्दोगानां ग्रन्थविशेषः । चर्मजिनम् । रजतं रूप्यम् । स्नेहं सौहार्दम् । असिः खड्गः । अपरोऽन्यः । सारो बलम् । सैन्धवो लवणम् । मानो दर्पः । स्थाणुः शङ्कुः ॥

महिमनेत्रकपञ्चकदण्डकाः क्रकचशम्बलकुण्डपकन्दराः ॥

कटकमालवमर्मरदैवताः शिखरकेसरदारुभगन्दराः ॥

महिमं महत्त्वम् । नेत्रकं शृङ्खलकण्टकम् । पञ्चकं विस्तारः । दण्डकं छन्दोविशेषः । क्रकचं काष्ठादिदारणसाधनम् । शम्बलं पाथेयम् । कुण्डपं क्रतुविशेषः । कन्दरा स्त्रियामपि । मालवो देशविशेषः । मर्मरं शुष्कपर्णध्वनिः । दैवतो देवः । दारुः काष्ठम् ॥

दीपोद्यमब्रह्मपिधानभावा वास्तुवतार्धप्रवराभिधानाः ।

अर्मो मुहूर्तो धनवप्रसौधा रेणुस्तलं लोपपटं विहायः ॥

दीपं प्रकाशविशेषः । भावः स्वभावः । वास्तुर्वैश्वम् । अर्मः चक्षुः । गःरो । धनो वित्तम् । पटं वस्त्रम् ॥



उटजचापनपुंसकपातको भुवनकोटरपल्लवगोमयाः ।

अविखरं हरिचन्दनमूलकौ भवनसङ्क्रान्ताण्डिवपत्तनाः ॥

उटजः पर्णशाला । चापो धनुः । पातकः पापम् । गाण्डिवोऽर्जुन-  
धनुः । दीर्घमध्येऽपि । एतच्च “गाण्ड्यजगात्सञ्ज्ञायाम्” (पा०सू०५-  
२-११०) इति सूत्रे वृत्त्यादौ स्पष्टम् ॥

कर्पूरकूर्पासकषष्ट्युशीरगाण्डिवानिष्ठेवसवर्णभस्त्राः ।

पिण्याकपुस्तौ नखरेषुखण्डवैनीतिकद्वीपिनखारकूटाः ॥

कर्पूरो घनसारः । कूर्पासकः कञ्चुकः । षष्टिः सङ्ख्यावाची । उशीरो  
नलदम् । निष्ठेवो निष्ठीवनम् । भस्त्रश्चर्मकोशः भस्त्रा च । पुस्तः पुस्त-  
कम् । नखरं नखः । इषुर्बाणः । अयं स्त्रीलिङ्गोऽपि । “पत्री रोष इषुर्द्वयोः”  
(अ०को०२-८-८७) इत्यमरः । तथाच श्रीहर्षः “कुसुमानि यदि स्मरेश्वरः”  
इत्युपक्रम्य “हृदयं यदमूमहन्नमूः” इति प्रायुङ्क्त । खण्डः पद्मादीनां  
समुदायः । विनीतानामिदं वैनीतिकम् । मनुष्यवाह्यं यानम् । द्वीपी  
व्याघ्रः । आरकूटः पित्तलम् ॥ अमरस्त्वाह —

पुन्नपुंसकयोः शेषोऽर्धर्चपिण्याककण्टकाः ।

मोदकस्तण्डकष्टङ्कः शाटकः कर्पटोऽर्बुदः ॥

पातकोद्योगचरकतमालामलकानडः ।

कुष्टं मुण्डं शीघ्रं वुस्तं क्ष्वेडितं श्रेम कुट्टिमम् ॥

सङ्गमं शतमानाम् शम्बलाव्ययताण्डवम् ।

कवियं कन्दकार्पासं पारावारं युगन्धरम् ॥

यूपं प्रग्रीवपत्रीवे पूषश्चमसचिकसौ ।

अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं वैदिकं ध्रुवम् ॥

तन्नोक्तमिह लोकेऽपि तच्चेदस्यस्तु शेषवत् । इति ॥

अर्मे चक्षुरोगः । “अर्तिस्तुसुहुस्तु” (उ०सू०१४५) इत्यादिना औणा-  
दिको मन्प्रत्यय इति तद्व्याख्यातारः । शम्बलं तालव्यादि दन्त्यादि  
चेति ते एव । इह यद्यपि अर्धर्चादीन् चिककसान्तानत्र पठितान्  
कूटोऽस्त्रीत्यादींश्च तत्र तत्र प्राक्पठितान् विहायान्येषां प्रसिद्धविलक्षणं  
पुंस्त्वादिकमित्युक्तम् । तेन घृतक्षीरदारुलोमासनमुखशरीरादयो लोके  
नियतलिङ्गा एवेति प्रतीयते । तथापि मुनित्रयवचनविरहाद्वैदिकत्वं  
निर्मुलम् । अत एवापरितोषालोकेऽपीत्याद्युक्तमित्याहुः ।

युक्तं चैतत् , लिङ्गानुशासनसूत्राणां घृतादिविषयकाणां लोकवेद-  
साधारण्येनैव प्रवृत्तेः । एवमन्येऽपि ये शब्दाः कोशादिना पुन्नपुंस-  
कलिङ्गतया निर्णीतास्ते सर्वे अर्धर्चादिषु बोध्याः ॥



इदानीं परवल्लिङ्गमित्यतिदेशे उपयुक्ततया प्रसङ्गात् पाणिनीयलिङ्गानुशासनसूत्राणि व्याख्यायन्ते ॥

लिङ्गम् ॥ स्त्री ॥ अधिकारसूत्रे एते ।

ऋकारान्ता मातृदुहितृस्वसृयातृननान्दरः ॥ ऋकारान्ता एते पञ्चैव स्त्रीलिङ्गाः, स्वस्त्रादिसप्तकस्यैव ङीष्निषेधेन कर्त्रीत्यादेर्ङीपा ईकारान्तत्वात् । तिसृचतस्रोस्तु स्त्रियामादेशतया विधानेऽपि प्रकृत्योस्त्रिचतुरोऽर्द्धदन्तत्वाभावात् ।

अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः । अनिप्रत्ययान्त ऊप्रत्ययान्तश्च धातुः स्त्रियां स्यात् । अविनिः । चमूः । प्रत्ययग्रहणं किम् ? देवयतेः क्तिप् द्यूः । विशेष्यलिङ्गः ।

अशनिभरणयः पुंसि च ॥ इयमयं वा अशनिः ।

मिन्यन्तः ॥ मिप्रत्ययान्तो निप्रत्ययान्तश्च धातुः स्त्रियां स्यात् । भूमिः । ग्लानिः ।

बन्धिवृष्णयः पुंसि ॥ पूर्वस्यापवादः ।

श्रोणियोन्यूर्मयः पुंसि च ॥ इयमयं वा श्रोणिः ।

क्तिन्नन्तः ॥ स्पष्टम् । कृतिरित्यादि ।

ईकारान्तश्च ॥ ईप्रत्ययान्तः स्त्री स्यात् । लक्ष्मीः ।

ऊडाबन्तश्च ॥ कुरुः ॥ विद्या ।

स्वन्तमेकाक्षरम् ॥ श्रीः । भूः । एकाक्षरं किम् ? पृथुश्रीः ।

विंशत्यादिरानवतेः ॥ इयं विंशतिः । त्रिंशत् । चत्वारिंशत् । पञ्चाशत् । षष्टिः । सप्ततिः । अशीतिः । नवतिः ।

दुन्दुभिरक्षेषु ॥ इयं दुन्दुभिः । अक्षेषु किम् ? अयं दुन्दुभिः, वाद्यविशेषोऽसुरो वेत्यर्थः ।

नाभिरक्षत्रिये ॥ इयं नाभिः ।

उभावप्यन्यत्र पुंसि ॥ दुन्दुभिर्नाभिश्चोक्तविषयादन्यत्र पुंसि स्तः । नाभिः क्षत्रियः । कथं तर्हि—

समुल्लसत्पङ्कजपत्रकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीविनाभिभिः ।

( कि०का० ८-२५ )

इति भारविः । उच्यते, दृढभक्तिरित्यादाविव कोमलैरिति सामान्ये नपुंसकं बोध्यम् । वस्तुतस्तु “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्च यत्वाल्लिङ्गस्य” इतिभाष्यात्पुंस्त्वमपीह साधु । अत एव—

नाभिर्मुख्यनृपे चक्रमध्यक्षत्रिययोः पुमान् ।

द्वयोः प्राणिप्रतीके स्यात्स्त्रियां कस्तूरिकामदे ॥



इति मेदिनिः । रभसोऽप्याह--

मुख्यराट्क्षत्रिये नाभिः पुंसि प्राणयङ्गके द्वयोः ।  
चक्रमध्ये प्रधाने च स्त्रियां कस्तूरिकामदे ॥ इति ।  
एवमेवंविधेऽन्यत्रापि बोध्यम् ।

तलन्तः ॥ अयं स्त्रियां स्यात् । शुक्लस्य भावः शुक्लता । ब्राह्मणस्य  
कर्म ब्राह्मणता । ग्रामस्य समूहो ग्रामता । देव एव देवता ।

भूमिविद्युत्सरिलुतावनिताभिधानानि ॥ भूमिर्भूः । विद्युत्सौदा-  
मनी । सरिन्निम्नगा । लता वल्ली । वनिता योषित् ।

यादो नपुंसकम् ॥ यादःशब्दः सरिद्वाचकोऽपि क्लीबे स्यात् ॥

भाःस्रक्स्त्रग्दिगुष्णिगुपानहः ॥ एते स्त्रियां स्युः । इयं भा इत्यादि ।

स्थूणोर्णे नपुंसके च ॥ एते स्त्रियां क्लीबे च स्तः । स्थूणम्, स्थूणा ।  
ऊर्णम्, ऊर्णा । तत्र स्थूणा काष्ठमयीद्विकर्णिका । ऊर्णा तु मेषादिलोम ।

गृहशशाभ्यां क्लीबे ॥ नियमार्थमिदम् । गृहशशपूर्वे स्थूणोर्मे यथा-  
संख्यं नपुंसके स्तः । गृहस्थूणम् । शशोर्णम् । “शशोर्णे शशलोमनि”  
( अ०को०२-९-१०८ ) इत्यमरः ॥

प्रावृट्पिष्टृदृट्दृट्द्वित्विषः ॥ एते स्त्रियां स्युः ॥

दर्विविदिवेदिखनिशान्यश्रिवेशिकृष्यौषधिकव्यङ्गुलयः । एते स्त्रियां  
स्युः । पक्षे डीष् । दर्वी, दर्विरित्यादि ।

तिथिनाडिहचिवीचिनालिधूलिकिकिकेलिच्छविराड्यादयः । एते  
प्राग्वत् । इयं तिथिरित्यादि । अमरस्त्वाह—“तिथयोद्वयोः” (अ०को०-  
१-४-१) इति । तथाच भारविः—“तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः”  
इति । स्त्रीत्वे हि बहुतिथ्य इति स्यात् । श्रीहर्षश्च—“निखिलान्निशि  
पौर्णिमातिथीन्” इति ।

शङ्कुलिराजिकुट्यशनिवर्तिभ्रकुट्टिबुट्टिवलिपङ्क्तयः । एतेऽपि स्त्रियां  
स्युः । इयं शङ्कुलिः ।

प्रतिपदापद्विपत्सपत्शरत्संस्तपविषदुषःसंबित्श्रुतपुन्र्मुत्समिधः ।  
इयं प्रतिपदित्यादि । उषा उच्छन्ती । उषाः प्रातरधिष्ठात्री देवता ।

आशीर्धूःपूर्णीर्द्वारः । इयमाशीरित्यादि ।

अप्सुमनस्समासिकतावर्षाणां बहुत्वं च ॥ अवादीनां पञ्चानां स्त्री-  
त्वं स्याद्बहुत्वं च । आप इमाः । “स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्” (अ०को० २-  
४-२७) । “सुमना मालती जातिः” (अ० को० २-४-७२) । देववाची तु  
पुंस्त्वैव । “सुपर्वाणः सुमनसः” (अ० को० १-१-७) । बहुत्वं प्रायिकम् ।  
“एका च सिकता तैलदाने असमर्था” इति अर्थवत्सूत्रे भाष्यप्रयोगात्



“समां समां विजायते” इत्यत्र समायां समायामिति भाष्याच्च । “विभाषा  
घ्राधेद्” (पा० सू० २-४-७८) इति सूत्रे “अग्रासातां सुमनसौ” इति  
वृत्तिव्याख्यायां हरदत्तोऽप्येवम् ॥

स्रक्त्वक्ज्योग्वाग्यवागूतैस्फिजः ॥ इयं स्रक् । त्वक् । ज्योक् । वा-  
क् । यवागूः । नौः । स्फिक् ॥

वृटि सीमासंबध्याः ॥ इयं वृटिः । सीमा । सम्बध्या ॥

चुलिवेणिस्वार्यश्च ॥ स्पष्टम् ॥

ताराधाराज्योत्स्नादयश्च ॥

शलाका स्त्रियां नित्यम् ॥ नित्यग्रहणमन्येषां क्वचिद्व्यभिचारं  
ज्ञापयति ॥

इति स्यधिकारः ॥

पुमान् ॥ अधिकारोऽयम् ॥

घञबन्तः । पाकः । त्यागः । करः । गरः । भावार्थ एवेदम्, नपुंसक-  
त्वविशिष्टे भावे कल्युङ्भ्यां स्त्रीत्वविशिष्टे तु किन्नादिभिर्बाधेन परिशे-  
षात् । कर्मादौ तु घञाद्यन्तमपि विशेष्यलिङ्गम् । तथाच भाष्यम्—  
“सम्बन्धमनुवर्तिष्यते” इति ।

घाजन्तश्च ॥ विस्तरः । गोचरः । चयः । जयः इत्यादि ।

भयलिङ्गभगपदानि नपुंसके ॥ एतानि नपुंसके स्युः । भयम् । लिङ्ग-  
म् । भगम् । पदम् ।

नङन्तः ॥ नङ्प्रत्ययान्तः पुंसि स्यात् । यङ्गः । यत्नः ॥

याञ्जा स्त्रियाम् ॥ पूर्वस्यापवादः ।

क्यन्तो घुः ॥ किप्रत्ययान्तो घुः पुंसि स्यात् । आधिः । निधिः ।  
उदधिः । क्यन्तः किम् ? दानम् । घुः किम् ? जग्निर्बीजम् ॥

इषुधिः स्त्री च ॥ इषुधिशब्दः स्त्रियां पुंसि च । पूर्वस्यापवादः ।

देवासुरात्मस्वर्गगिरिसमुद्रनखकेशदन्तस्तनभुजकण्ठखड्गशरपङ्का-  
भिधानानि ॥ एतानि पुंसि स्युः । देवाः सुराः । असुरा दैत्याः । आ-  
त्मा क्षेत्रज्ञः । स्वर्गो नाकः । गिरिः पर्वतः । समुद्रोऽब्धिः । नखः कर-  
रुहः । केशः शिरोरुहः । दन्तो दशनः । स्तनः कुक्षः । भुजो दोः । कण्ठो  
गलः । खड्गः करवालः । शरो मार्गणः । पङ्कः कर्दम इत्यादि ।

त्रिविष्टपत्रिभुवने नपुंसके ॥ स्पष्टम् । तृतीयं विष्टपं त्रिविष्टपम् ।  
स्वर्गाभिधानतया पुंस्त्वे प्राप्ते अयमारम्भः ।

द्यौः स्त्रियाम् ॥ द्यौर्विवोस्तन्नेणोपादानामेदम् ।

इषुवाहू स्त्रियां च ॥ चात्पुंसि ।



बाणकाण्डौ नपुंसके च ॥ चात्पुंसि । त्रिविष्टपेत्यादिचतुःसूत्री  
देवासुरेत्यस्यापवादः ।

नान्तः ॥ अयं पुंसि । राजा । तक्षा । न च चर्मवर्मादिष्वतिव्याप्तिः,  
“मन्त्र्यचकोर्कर्तरि” (लि० सू० १४५) इति नपुंसकप्रकरणे वक्ष्यमाणत्वात् ।

क्रतुपुरुषकपोलगुल्फमेघाभिधानानि ॥ क्रतुरध्वरः । पुरुषो नरः ।  
कपोलो गण्डः । गुल्फः प्रपदः । मेघो नीरदः ।

अभ्रं नपुंसकम् ॥ पूर्वस्यापवादः ॥

उकारान्तः ॥ अयं पुंसि स्यात् । प्रभुः । इक्षुः ।

“हनुर्दृष्टविलासिन्यां नृत्यारम्भे गदे स्त्रियाम् ॥

ध्वजोः कपोलाऽवयवे” इति मेदिनी । “करेणुरिभ्यां स्त्री नेमे”  
(अ० को० ३-३-५९) इत्यमरः । एवंजातीयकविशेषवचनानाक्रान्तस्तु  
प्रकृतसूत्रस्य विषयः । उक्तं च—

लिङ्गशेषविधिर्यापी विशेषैर्यद्यबाधितः । इति ।

एवमन्यत्रापि ।

धेनुरज्जुकुहूसरयुनतुरेणुप्रियङ्गवः स्त्रियाम् ॥ समासे रज्जुःपुंसि  
च । कर्कटरज्ज्वा, कर्कटरज्जुना ॥

इमश्रुजानुवसुस्वाद्वश्रुजतुत्रपुतालूनि नपुंसके ॥ वसु चार्थवाचि ।  
अर्थवाचीति किम् ? वसुर्मयूखाभिधनाधिपेषु ।

मद्गुमधु (१) शीघुसानुकमण्डलूनि नपुंसके च ॥ चात्पुंसि । अयं  
मद्गुः । इदं मद्गुः ।

रुत्वन्तः ॥ मेरुः । सेतुः ।

दारुकसेरुजतुवस्तुमस्तूनि नपुंसके ॥ रुत्वन्त इति पुंस्त्वस्याप-  
वादः । इदं दारुः ।

सकतुर्नपुंसके च ॥ चात्पुंसि । सकतुः । सकतुः ।

प्राग्रहमेरकारान्तः ॥ “रदिम दिवसाभिधानम्” (लि० सू० १००) इति  
वक्ष्यति, प्रागेतस्मादकारान्त इत्यधिक्रियते ।

कोपधः ॥ कोपधो ऽकारान्तः पुंसि स्यात् । स्तबकः । कल्कः ।

चिबुकशालूकप्रातिपदिकांशुकोल्मुकानि नपुंसके ॥ पूर्वसूत्रापवादः ॥

कण्टकानीकसरकमोदकचषकमस्तकपुस्तकतडाकनिष्कशुष्कवर्च-  
स्कपिनाकभाण्डकपिण्डककटकशण्डकपिटकतालकफलकपुलाकानि  
नपुंसके च ॥ चात्पुंसि । अयं कण्टकः । इदं कण्टकमित्यादि ।

टोपधः ॥ टोपधो ऽकारान्तः पुंसि स्यात् । घटः । पटः ।

(१) ‘सीधु’ इत्यधिकं कौमुद्याम् ।



किरीटमुकुटललाटवटवि(१)टशृङ्गाटकराटलोष्ठानि नपुंसके । किरीटमित्यादि ।

कुटकूटकपटकवाटकपटनटानिकटकीटकटानि नपुंसके च ॥ चात्पुंसि । कुटः कुटमित्यादि ।

णोपधः ॥ णोपधोऽकारान्तः पुंसि स्यात् । गुणः । गणः । पाषाणः ।

ऋणलवणपर्णतोरणरणोष्णानि नपुंसके ॥ पूर्वसूत्रापवादः ॥

कार्पाणस्वर्णसुवर्णव्रणचरणवृषणविषाणचूर्णतृणानि नपुंसके च ॥ चात्पुंसि ॥

थोपधः ॥ रथः । प्रस्थः ॥

काष्ठपृष्ठरि(२)कथोकथानि नपुंसके ॥ इदं काष्ठमित्यादि ।

काष्ठा दिगर्था स्त्रियाम् ॥ इमाः काष्ठाः ।

तीर्थप्रोथयूथगाथानि नपुंसके च ॥ चात्पुंसि । अयं तीर्थः इदं तीर्थम् ।

नोपधः ॥ अदन्तः पुंसि । इनः । फेनः ।

जघनाजिनतुहिनकाननवनवृजिनविपिनवेतनशासनसोपानमिथुन-  
श्मशानरत्नानिम्नचिन्हानि नपुंसके ॥ पूर्वस्यापवादः ।

मानयानाभिधान(३)नलिनोद्यानशयनासनस्थानचन्दनालानसमा-  
नमवनवसनसम्भावनविभावनविमानानि नपुंसके च ॥ चात्पुंसि ।  
अयं मानः । इदं मानम् ।

पोपधः ॥ अदन्तः पुंसि । यूपः । दीपः । सर्पः ॥

पापरूपोदुपतदपशिदपुष्पशष्पसमीपान्तरीपाणि नपुंसके ॥ इदं पापमित्यादि ।

शूर्पकुतपकुणपट्टीपविटपानि नपुंसके च ॥ अयं शूर्पः । इदं शूर्पमित्यादि ।

भोपधः ॥ स्तम्भः । कुम्भः ।

तलमं नपुंसकम् ॥ पूर्वस्यापवादः ।

जृम्भं नपुंसके च ॥ जृम्भम् । जृम्भः ।

सोपधः ॥ सोमः । भीमः ।

रुक्मसिध्म(४)युग्मेध्मगुल्माध्यात्मकुङ्कुमानि नपुंसके ॥ इदं रुक्ममित्यादि ।

सङ्क्रावदाडिमकुसुमाश्रमक्षेमशौमहोमोदामानि नपुंसके च ।  
चात्पुंसि । अयं संग्रामः । इदं संग्रामम् ।

(१) 'वीट' इति कौमुद्याम् । (२) 'सिकथ' इति कौमुद्याम् ।

(३) 'नलिनपुलिनोद्यान' इति कौमुद्याम् । (४) 'युध्म' इति कौमुद्याम् ।



योपधः ॥ समयः । हयः ।

किसलयहृदयेन्द्रियोत्तरीयाणि नपुंसके ॥ स्पष्टम् ।

गोमयकषायप्रलयान्धयाव्ययानि नपुंसके च ॥ गोमयः । गोमयम् ।

रोपधः ॥ क्षुरः । अङ्कुरः ।

द्वाराप्रस्फारतकवक्रवप्रक्षिप्रक्षुद्रच्छि(१)द्वनीरतीरदूरकच्छूरन्ध्रा-  
श्रवभ्रभा(२)रगभीरकूरीविचित्रकेयूरकेदारोदारजसशरीरकन्दरम-  
न्दारपञ्जराजरजठराजिरवैरचामरपुष्करगह्वरकुहरकुटीरकुलीरचत्वर-  
काशमीरनीरास्वरशिशिरतन्त्रयभ्रक्षत्रक्षेत्रमित्रकलत्रचित्रमूत्रसूत्रवक्र-  
नेत्रगोत्राङ्गुलित्रभलत्रशस्त्रशास्त्रवस्त्रपत्रपात्रच्छत्राणि नपुंसके ॥  
इदं द्वारमित्यादि ।

शुकमदेवतायाम् ॥ इदं शुकं रेतः ।

चक्रवज्राब्धकारसारवारपारक्षीरतोमरशृङ्गारभृङ्गारमन्दारोशीर-  
तिमिरशिशिराणि नपुंसके च ॥ चात्पुंसि । चक्रः । चक्रमित्यादि ।

षोपधः ॥ वृषः । वृक्षः ।

शिरीषर्जीषास्वरीषपीयूषपुरीषकिट्पिषकलमाषाणि नपुंसके ।

यूषकरीषमिषविषवर्षाणि नपुंसके च ॥ चात्पुंसि । अयं यूषः ।  
इदं यूषमित्यादि ।

सोपधः ॥ वत्सः । वायसः । महानसः ।

पनसबिसवुससाहसानि नपुंसके ।

चमसांसरसनिर्यासोपवासकार्पासवासभा(३)सकासकांसमांसानि  
नपुंसके च ॥ इदं चमसम् । अयं चमस इत्यादि ।

कंसं चाप्राणिनि ॥ कंसो ऽस्त्री पानभाजनम् । प्राणिनि तु कंसो  
नाम कश्चिद्राजा ।

रश्मिविवसाभिधानानि ॥ एतानि पुंसि स्युः । रश्मिर्मयूखः ।  
दिवसो घस्त्रः ।

दीधितिः स्त्रियाम् ॥ पूर्वस्यापवादः ।

दिनाहनी नपुंसके ॥ अयमप्यपवादः ।

मानाभिधानानि ॥ एतानि पुंसि स्युः । कुडवः । प्रस्थः ।

द्रोणाढकौ नपुंसके च ॥ इदं द्रोणम् । अयं द्रोणः ।

खारीमानिके स्त्रियाम् ॥ इयं खारी । इयं मानिका ।

दाराक्षतलाजासूनां बहुत्वं च ॥ इमे दाराः ॥

(१) 'च्छिद्र' इति नास्ति कौमुद्याम् । (२) 'भीर' इति कौमुद्याम् ।

(३) 'मास' इति कौमुद्याम् ।



नाड्यपजनोपपदानि व्रणाङ्गपदानि ॥ यथासंख्यं नाड्याद्युपपदानि  
व्रणादीनि पुंसि स्युः । अयं नाडीव्रणः । अपाङ्गः । जनपदः । व्रणादी-  
नामुभयलिङ्गत्वेऽपि क्लीबत्वनिवृत्त्यर्थं सूत्रम् ।

मरुद्गरुत्तरदृत्विजः ॥ अयं मरुतः ।

ऋषिराशिदृतिग्रन्थिक्रिमिध्वनिबलिकौलिमौलिरविकविकपिमुन-  
यः ॥ एते पुंसि स्युः । अयमृषिः ॥

ध्वजगजमुञ्जपुञ्जाः ॥ एते पुंसि ।

हस्तकुन्तान्तव्रातवातदूतधूर्तसूतचूतमुहूर्ताः ॥ एते पुंसि । अम-  
रस्तु—“मुहूर्तोऽस्त्रियाम्” इत्याह ।

षण्डमण्डकरण्डभरण्डवरण्डतुण्डगण्डमुण्डपाषण्डशिखण्डाः ॥  
अयं षण्डः ।

वंशांशपुरोडाशाः ॥ अयं वंशः । पुरो दाश्यते पुरोडाशः । कर्मणि  
घञ् । भवव्याख्यानयोः प्रकरणे “पुरोडाशपुरोडाशात्घञ्” ( पा० सू०  
४-३-७० ) इति विकारप्रकरणे “ब्रीहेः पुरोडाशे” ( पा० सू० ४-३-  
१४८ ) इति च निपातनात्प्रकृतसूत्र एव निपातनाद्वा दस्य डत्वम् ।  
“पुरोडाशभुजामिष्टम्” इति माघः ।

हृदकन्दकुन्दबुद्बुदशब्दाः ॥ अयं हृदः ।

अर्घपथिमथ्यभुक्षिस्त(१)म्बपूगाः ॥ अयमर्घः ।

पल्लवपल्लवकफरेफकटाहनिर्व्यूहमटमाणितरङ्गतुरङ्गगन्धस्कन्धमृ-  
दङ्गसङ्गसमुद्रपुङ्खाः ॥ अयं पल्लव इत्यादि ।

सारथ्यतिथिकुक्षिवस्तिपाण्यञ्जलयः ॥ एते पुंसि । अयं सारथिः ।

॥ इति पुल्लिङ्गाधिकारः ॥

नपुंसकम् ॥ अधिकारो ऽयम् ॥

भावे ल्युङन्तः ॥ हसनम् । भावे किम् ? पचनो ऽग्निः । इधमव-  
श्चनः कुठारः ।

निष्ठा च ॥ भावे या निष्ठा तदन्तं क्लीबं स्यात् । हसितम् । गीतम् ।  
त्वय्यञौ तद्धितौ ॥ शुक्लत्वम् । शौक्ल्यम् । व्यञः पितृत्वसामर्थ्या-  
त्पक्षे स्त्रीत्वम् । चातुर्यम् । चातुरी । सामग्यम् । सामग्री । औचित्य-  
म् । औचित्ती ।

कर्मणि च ब्राह्मणादिगुणवचनेभ्यः ॥ ब्राह्मणस्य कर्म ब्राह्मण्यम् ।

यद्यदग्यगजण्वुञ्छाश्च भावकर्मणि ॥ एतदन्तानि क्लीबानि । “स्ते-  
नाद्यन्नलोपश्च” ( पा० सू० ५-१-१२५ )—स्तेयम् । “सख्युर्यः” ( पा०

( १ ) ‘स्तम्भनितम्ब’ इति कौमुद्याम् ।



सू० ५-१-१२६) —सख्यम् । “कपिज्ञात्योदक” ( पा० सू० ५-१-१२७ ) —कापेयम् । “पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्” ( पा० सू० ५-१-१२८ ) —आधिपत्यम् । “प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्” ( पा० सू० ५-१-१२९ ) —औष्ट्रम् । “हायनान्तयुवादिभ्योऽण्” ( पा० सू० ५-१-१३० ) —द्वैहायनम् । “द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यो वुञ्” ( पा० सू० ५-१-१३३ ) —पितापुत्रकम् । “होत्राभ्यश्छः” ( पा० सू० ५-१-१३५ ) —अच्छावाकीयम् ॥

अव्ययीभावः ॥ अधिस्त्रि ।

द्वन्द्वैकत्वम् ॥ पाणिपादम् ।

अभाषायां हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च ॥ स्पष्टम् ।

अनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अधिकारोऽयम् ।

अनल्पे छाया ॥ शरच्छायम् ।

राजामनुष्यपूर्वा सभा ॥ इनसभमित्यादि ।

सुरासेनाच्छायाशालानिशा स्त्रियां च ॥

(१) परवत् । अन्यस्तत्पुरुषः परवलिलङ्गः स्यात् ।

रात्रान्हाहाः पुंसि ॥

अपथपुण्याहे नपुंसके ॥

संख्यापूर्वा रात्रिः । त्रिरात्रम् । सङ्ख्यापूर्वेति किम् ? सर्वरात्रः ।

द्विगुः स्त्रियां च ॥ व्यवस्थया । (२) पञ्चमूली । त्रिभुवनम् ।

इसुसन्तः ॥ हविः । धनुः ।

अर्चिः स्त्रियाञ्च ॥ इसन्तत्वेऽपि अर्चिः स्त्रियां नपुंसके च स्यात् ।

इयमिदं वा अर्चिः ।

छदिः स्त्रियामेव ॥ इयं छदिः । छद्यतेऽनेनेति छादेशचुरादिष्यन्तात् “अर्चिशुचि” इत्यादिना इम् । इस्मन्नित्यादिना ह्रस्वः । “पटलं छदिः” (अ०को०२-२-१५) इत्यमरः । तत्र पटलसाहचर्याच्छदिषः कृषितां वदन्तोऽमरव्याख्यातार उपेक्षयाः ।

मुखनयनलोहवनमांसरुधिरकार्मुकविवरजलहलधनान्नाभिधानानि । एतेषामभिधायकानि क्लीबे स्युः ॥ मुखमाननम् । नयनं लोचनम् । लोहं कालम् । वनं गहनम् । मांसमामिषम् । रुधिरं रक्तम् । कार्मुकं शरासनम् । विवरं बिलम् । जलं वारि । हलं लाङ्गलम् । धनं द्रविणम् । अन्नमशनम् । अस्यापवादानाह त्रिसूत्र्या—

सीराथौदनाः पुंसि ।

(१) ‘शिष्टः परवत्’ इति कौमुद्याम् । (२) ‘पञ्चमूली’ इति कौमुद्याम् ।



वक्रनेत्रारण्यगाण्डीवानि पुंसि च ॥ वक्रो वक्रम् । नेत्रो नेत्रम् ।  
अरण्योऽरण्यम् । गाण्डीवो गाण्डीवम् ।

अदधी स्त्रियाम् ॥

लोपधः ॥ कुलम् । कूलम् । स्थलम् ।

तूलोपलतालकुसुलतरलकम्बलदेवलवृषलाः पुंसि ॥ अयं तूलः ।

शीलमूलमङ्गलसालकमलतलमुसलकुण्डलपललमृणालबालनिग-  
लपलालबिडालखिलशूलाः पुंसि च । चात् क्लीबे । इदं शीलमित्यादि ।

शतादिः संख्या ॥ शतम् । सहस्रम् । शतादिरिति किम् ? एको-  
द्वौ बहवः । संख्येति किम् ? शतशृङ्गो नाम पर्वतः ।

शतायुतप्रयुताः पुंसि च ॥ अयं शतः । इदं शतमित्यादि ।

लक्षा कोटिः स्त्रियाम् ॥ इयं लक्षा । इयं कोटिः । “वा लक्षा नि-  
युतं च तत्” इत्यमरात् क्लीबेऽपि लक्षम् ।

(१)सहस्रः पुंसि ॥ अयं सहस्रः ।

मन् ह्यचकोऽकर्तरि ॥ मन्प्रत्ययान्तो ह्यचकः क्लीबः स्यान्न तु कर्त-  
रि । वर्म । चर्म । ह्यचकः किम् ? अणिमा । महिमा । अकर्तरि  
किम् ? ददाति इति दामा ।

ब्रह्मन् पुंसि च ॥ अयं ब्रह्मा । इदं ब्रह्म ।

नामरोमणी नपुंसके । मन्ह्यचक इत्यस्यायं प्रपञ्चः ।

असन्तो ह्यचकः ॥ यशः । मनः । तपः । ह्यचकः किम् ? चन्द्रमाः ।

अप्सरराः स्त्रियाम् ॥ एता अप्सरसः । प्रायेणायं बहुवचनान्तः ।

त्रान्तः ॥ पत्रम् । छत्रम् ।

यात्रामात्राभस्त्रादंष्ट्रावरत्राः स्त्रियामेव ॥

भृत्रामित्रछात्रपुत्रमन्त्रवृत्रमदोष्ट्राः पुंसि ॥ अयं भृत्रः । न मित्रममि-  
त्रः । “तस्य मित्राण्यमित्रास्ते” (मा०का०२-१०१) इति माघः । “स्या-  
ताममित्रौ मित्रे च” इति च । यत्तु “द्विषोऽमित्रे” (पा०सू०३-२-१३१)  
इति सूत्रे हरदत्तेनोक्तम्—“अमेर्द्विषति चित्” (उ०सू०६२३) इत्यौणादिक  
इत्रच् । अमेरमित्रम् । “मित्रस्य व्यथयेत्” इत्यादौ मध्योदात्तस्तु चिन्त्यः ।  
नञ्समासेऽप्येवम् । परवल्लिङ्गतापि स्यादिति तु तत्र दोषान्तरमिति,  
तत्प्रकृतसूत्रापर्यालोचनमूलकम् । स्वरदोषोद्भावनमपि “नञो जरमर-  
मित्रमृताः” (पा०सू०६-२-११६) इति षाष्ठसूत्रास्मरणमूलकमिति दिक् ।

पत्रपात्रपवित्रसूत्रच्छत्राः पुंसि च ॥

( १ ) ‘शङ्कुः पुंसि । सहस्रः कचित् । अयं सहस्रः । इदं सहस्रम्’ ।  
इति कौमुद्याम् ।



बलकुसुमशुल्बयु(१)द्वपत्तनरणाभिधानानि ॥ बलम् । वीर्यम् ।

पञ्चकमलोत्पलानि पुंसि च ॥ पञ्चादयः शब्दाः कुसुमाभिधाये-  
त्वेऽपि द्विलिङ्गाः स्युः । अमरोऽप्याह—“वा पुंसि पञ्चं नलिनम्” (अ-  
को०१-१०-४०) इति । एवं चार्धर्चादिसूत्रे तु जलजे पञ्चं नपुंसकमेवे-  
ति वृत्तिग्रन्थो मतान्तरेण नेयः ।

आहवसङ्ग्रामौ पुंसि ॥

आजिः स्त्रियामेव ॥

फलजातिः ॥ फलजातिवाची शब्दो नपुंसकं स्यात् । आमलकम् ।

आन्नम् ।

वृक्षजातिः ॥ स्त्रियामेव । कचिदेवेदम् । हरीतकी ।

विपज्जगत्सकृत्शकनृषत्शकृद्यकृदुदश्वितः ॥ एते क्लीबाः स्युः ।

नवनीतावतानानृतामृतनिमित्तचित्तचित्तपित्तव्रतरजतवृत्तपलितानि ॥

श्राद्धकुलिशदैवपीठकुण्डाङ्गदधिसक्थयक्ष्यास्यास्पदाकाशऋणबी-  
जानि ॥ एतानि क्लीबे स्युः ।

दैवं पुंसि च ॥ दैवम् । दैवः ।

धान्याज्यसस्यरूप्यपण्यवर्ण्यधृत्यहव्यकव्यकाव्यसत्यापत्यमूल्याशि-  
क्य(२)कुड्यहर्म्यतूर्यसैन्यानि ॥ इदं धान्यमित्यादि ।

द्वन्द्वबर्हदुःखवडिशपिच्छबिम्बकुटुम्बकवचवरशरबुन्दारकाणि ॥

अक्षमिन्द्रिये ॥ इन्द्रिये किम् ? रथाङ्गादौ मा भूत् ।

इति नपुंसकाधिकारः ।

स्त्रीपुंसयोः ॥ अधिकारो ऽयम् ।

गोमणियष्टिमुष्टिपाटलिवस्तिशालमलित्रुटिमसिमरीचयः ॥ इय-  
मयं वा गौः ।

मृत्युसीधुकर्कन्धुकिष्कुण्डुरेणवः ॥ इयमयं वा मृत्युः ।

गुणवचनमुकारान्तं नपुंसकं च ॥ त्रिलिङ्गमित्यर्थः । पटुः । पटुः ।

(३) पट्वी ।

। इति स्त्रीपुंसाधिकारः ।

पुन्नपुंसकयोः ॥ अधिकारोऽयम् ।

घृतंभूतमुस्तक्ष्वेलितैरावतपुस्तकबुस्तलोहिताः ॥ अयं घृतः ।

इदं घृतम् ।

(१) 'युद्ध' इति नास्ति कौमुद्याम् । (२) 'कुड्य मद्य' इति कौमुद्याम् ।

(३) पट्वी । अपत्यार्थस्तद्धिते । औपगवः । औपगवी ।' इति  
कौमुद्याम् ।



शृङ्गार्धनिदाघोद्यमशलयदृढाः । अयं शृङ्गः । इदं शृङ्गम् ।

व्रजकुञ्जकुथकूर्चप्रस्थदर्पाभार्धचर्चदर्भपुच्छाः ॥ अयं व्रजः । इदं व्रजम् ।

कबन्धौषधायुधान्ताः ॥ स्पष्टम् ।

दण्डमण्डखण्डशवसैन्धवपाश्वर्काशकुशकाशाङ्कुशकुलिशाः ॥ एते पुन्नपुंसकयोः स्युः ॥

कुशो रामसुते दर्भे योक्त्रेऽधीपे कुशं जले ।

इतिविश्वः । शलाकावाची तु स्त्रियाम् । तथाच “जानपद” (पा०सू०४-१-४२) इत्यादिसूत्रेणायोविकारे ङीषि कुशी । दारुणि तु टापा कुशा । “वानस्पत्याः स्थ ता भा यात” इति श्रुतिः । “अतः “कृकमि” (पा०सू०८-३-४६) इति सूत्रे कुशाकर्णीष्विति प्रयोगश्च । व्याससूत्रे च “हानौत्तूगयनशब्दे शेषत्वात्कुशाच्छन्दः” इति । तत्र शारीरकभाष्येऽप्येवम् । एवञ्च श्रुतिसूत्रभाष्याणामेकवाक्यत्वे स्थिते आच्छन्द इत्याङ्गप्रश्लेषादिपरो भामतीग्रन्थः प्रौढिवादमात्रपर इति विभावनीयं बहुश्रुतैः ।

गृहमेहदेहपट्टपटहाष्टापदाम्बुदककुदाश्च ।

॥ इति पुन्नपुंसकाधिकारः ॥

अविशिष्टलिङ्गम् ॥

अव्ययं कतिपुष्पदस्मदः ॥

ष्णान्ता संख्या ॥

शिष्टा परवत् । एकः पुरुषः । एका स्त्री । एकं कुलम् ।

गुणवचनं च ॥ शुक्लः पटः । शुक्ला शाटी । शुक्लं वस्त्रम् ।

कृत्याश्च ॥ करणा ।

करणाधिकरणयोर्युद् च ॥

सर्वादीनि सर्वनामानि । स्पष्टार्थेयं त्रिसूत्री ।

॥ इति पाणिनीयलिङ्गानुशासनं समाप्तम् ॥

प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतमनुसरामः ।

इदमोऽन्वादेशोऽनुदात्तस्तृतीयादौ (पा०सू०२-४-३२) । अन्वादेश-विषयस्येदमोऽनुदात्तोऽङ्गभादेशः स्यात्तृतीयादौ । प्रते बभ्रुविचक्षणं शंसामि, माभ्याङ्गा अनु । इह बभ्रुशब्देनोक्तयोरिदमा परामर्शेऽप्यन्वादेशो भवत्येव “अन्वादेशश्च कथितानुकथनमात्रम्, न तु इदमा कथितस्येदमैवानुकथनम् इति भाष्योक्तेः । न चैवम् “ईषदर्थे” इति श्लोके यच्छब्देनोक्तस्य पुनः कथनात् ‘एतम् आतम्’ इत्यत्रैनादेशः स्यादिति वाच्यम्, किञ्चिद्विधायान्यद्विधातुमनुकथनस्यैवान्वादेशत्वात् । ईषदर्थ्यादिवृत्तेस्त्वनुवादेऽप्यविधानात् । अशादेशवचनं साकच्चा-



र्थम् । अन्यथाऽन्वादेशोऽज्ञातार्थविवक्षायाम् 'इमकाभ्याम्' इत्यपि प्रसज्येत । ननु त्यदाद्यत्वेन सिद्धौ विधानसामर्थ्यात्सर्वादेशोऽस्तु किं शिञ्चेन ? मैवम्, 'आभ्याम्' 'एभिः' इत्यादौ विकाराभावार्थतापत्तेः, मोरार्जातिवत् । ननु 'आभ्यामिन्द्रपकम्' इत्यादावन्वादेशत्वविवक्षाविरहे यथा "ऊडिदम्" (पा०सू०६-१-१७१) इति विभक्तेरुदात्तता, तथा "माभ्यां गाः" इत्यत्रापि कुतो नेति चेत् ? न, तत्र प्रकृतेरनुदात्तविधानात् "ऊडिदम्" इति सूत्रे च "अन्तोदात्तादुत्तरपदात्" (पा०सू०६-१-१६९) इति सूत्रादन्तोदात्तादित्यस्यानुवर्त्तनात् । तथाचान्वादेशे 'आभ्याम्' इत्यादेः सर्वानुदात्तता, इतरत्र त्वन्तोदात्ततेति विवेकः ।

स्यादेतत्, "सावेकाचः" (पा०सू०६-१-१६८) इत्युदात्तेनेह भाव्यम्, "सुः सप्तमीबहुवचनम्" इति भाष्ये वृत्तौ चोक्तत्वात् । यस्तु "ऊडिदम्" इति सूत्रे हरदत्तेनोक्तम्--इह "अन्तोदात्तात्" (पा०सू०६-१-१२९) इत्यनुवृत्तिसामर्थ्यात् 'सावेकाचः' (पा०सू०६-१-१६८) इत्यपि न प्रवर्त्तते । न च "यदीमेनाउशतः" इतिशसो व्यावृत्तौ सामर्थ्योपक्षयः, एकाज्ग्रहणेनैव तद्यावृत्तेः । एकाच इत्यस्य चावश्यानुवर्त्यत्वात् । अन्यथा "ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि" "मत्स्यं नदीन उदनि क्षिपन्तम्" इत्यत्रातिप्रसङ्गात् । 'आसन्' इत्यादयो ह्यन्तोदात्ता एवादेशाः सूत्रे पठिता इति ।

अत्रेदं वक्तव्यम्--'आभ्याम्' इत्यत्र "सावेकाचः" (पा०सू०६-१-१६८) इत्यस्य प्राप्तिरेव नास्ति सप्तमीबहुवचनेषु 'एषु' इति रूपं न तादृगिहास्ति । तथाचात्रैवान्तोदात्तग्रहणस्य चरितार्थत्वात्सामर्थ्यविरहः । तथा च "माभ्याङ्गाः" "तदस्य प्रियम्" "तदस्मै नव्यम्" इत्यादेः सिद्धावपि भिसादौ दोषस्तदवस्थ एव । "एभिरग्रे" "सुन्वन्ति सोमान्वचसि त्वमेषाम्" "प्रेणा तदेषां निहितम्" "एषु धावीरवत्" इत्यादौ हि ए इत्येव रूपमस्त्येव । तथाच तत्र विभक्तेरुदात्तप्रसङ्गः । न च "सावेकाचः" (पा०सू०६-१-१६८) इत्येतत्सूत्रस्थकैयटपर्यालोचनयेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, अन्येत्विति वदता कैयटेन तन्मतेऽस्वरसाविष्करणात् । तद्वीजन्तु बहुतरवैदिकप्रयोगविरोध एव ।

अथोच्येत--"सावेकाचः" (पा०सू०६-१-१६८) इति सूत्रे हरदत्तोक्तीत्या सुः प्रथमैकवचनमेव । न च 'त्वया' इत्यत्रातिप्रसङ्गः, सावर्णेति निषेधात् । शेषलोपष्टिलोप इति पक्षे तु सावेकात्त्वाभावात्प्राप्तिरेव नास्ति । रूपविवक्षापि विफला । एवञ्च 'एभिः' इत्यादौ प्रा-



मिरेव नास्तीति । तदपि न, रूपविवक्षाभावे 'दोषभ्याम्' इत्यत्राति-  
प्रसङ्गात् । तैत्तिरीये हि "अंसाभ्यां स्वाहा दोषभ्यां स्वाहा" इति  
मध्योदात्तं पठ्यते । एवं स्थिते सुः सप्तमीबहुवचनमेव ग्राह्यम् । अन्य-  
था "इन्द्रो या तो वसितस्य राजा" इत्यत्र या इत्यन्तोदात्तं न स्यात् ।  
नाहि प्रथमैकवचनं यद्रूपं यानिति-तदिहास्ति । अत एव गोशुनोः  
प्रतिषेधः सार्थकः । तदेवमन्तोदात्तानुवृत्तिसामर्थ्यं प्रथमैकव-  
चनग्रहणं वा शरणमित्येवंरूपस्य बाष्पहरदत्तप्रत्ययलब्धस्य स-  
माधानद्वयस्यापि दुष्टत्वात् 'एभिः' इत्यादि-कथन्निर्वाह्यमिति फ-  
लितः पूर्वपक्षः ।

अत्रोच्यते, "सावेकाचः" (पा०सु०६-१-१६८) इत्यत्रापि "अ-  
न्तोदात्तात्" (पा०सु०६-१-१६९) इत्यस्यापकर्षाग्नोक्तदोषः । वृत्त्यादा-  
वननुवर्तितस्याप्यनुवृत्तिस्तु बहुधा दृष्टैव । अत एव "तुदस्तु" (पा०  
सु०७-३-५) सूत्रे 'स्तुवीत' इत्यादिसिद्धये पितृत्यस्य निवृत्तये सां-  
र्वधातुकप्रहणमिति स्थिते 'शाम्यति' इति इयनमिदं वारयितुं तिङी-  
त्यस्यानुवृत्तिर्वक्ष्यते ।

एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ (पा०सु०२-४-३३) । अन्वादेश-  
विषये एतदोऽश् स्यात्स चानुदात्तस्त्रतसोः परतः तौ चानुदात्तौ स्तः ।  
एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः, अथोऽत्रार्थमिहे, अतो न गन्तास्मः ।  
'अत्र' 'अतः' इति पदे सर्वानुदात्ते । ननु पञ्चमे, "एतदोऽन्" (पा०सु०५-३-  
५) इति भाष्यसम्मतः पाठः । न्यासरीत्या वृत्तिपाठोऽप्येवमेव । पद-  
मञ्जरीरीत्या तु "एतदोऽश्" इति वृत्तिपाठः । उभयथापि अकारे सिद्धे  
किमनेनेति चेत् ? पाञ्चमिकस्योदात्ततयाऽनुदात्तार्थमिह पुनर्वचन-  
मिति गृहाण । 'व्रतसोः' इति वचनं निमित्तभावार्थम् । अन्यथा "व्र-  
तसौ चानुदात्तौ" इत्यन्वाचयो विज्ञायेत ।

स्यादेतत्, व्रतसोः कृतयोः प्रकृतेर्लिट्स्वरः । ततः शेषानिघातेन  
व्रतसोरनुदात्तत्वं सिद्धम् । अश्मात्रस्य त्वनुदात्तत्वं विधीयताम् ।  
मैवम्, व्रतसोर्हि कृतयोः "येननाप्राप्ति" न्यायेनापवादत्वान्नित्यत्वा-  
च्चानुदात्तोऽशादेशः स्यात् । ततस्तद्विधानसामर्थ्याल्लिट्स्वरस्याप्रवृ-  
त्तानुत्सर्गः प्रत्ययस्वर एव व्रतसोः स्यात् । यथा—'गोऽपदम्' इत्यत्र णमु-  
लोपेन सहविधानाल्लिट्स्वराप्रवृत्तौ प्रत्ययाद्युदात्तत्वे सति छुत्त-  
रपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तं पदं भवति । तस्मात् "व्रतसौ चानुदात्तौ"  
इति कर्तव्यमेव ।

द्वितीयाटौस्त्वेनः (पा०सु०२-४-३४) । द्वितीयायाण्डौसोश्च परत



इदमेतदेरेनादेशः स्यात्स चानुदात्तः अन्वादेशे । इदमोऽत्र मण्डूक-  
प्लुत्याऽनुवृत्तिः । अथैनमद्रेः । एनेन, एनयोः । कथन्तर्हि—“अइउण्”  
(मा०सु०१-१-१) इत्यत्रोदाहृते “हे रोहिणि” इति श्लोके एनादेश  
इति चेत् ? “अयं श्रोणीतटं स्पृशति, एनं निवारय” इति व्यत्या-  
सेन योज्यम् ।

आशीविषेणः रदनच्छददंशदान-

मेतेन ते पुनरनर्थतया न शङ्क्यम् ।

इत्यादौ त्वन्वादेशत्वस्याविवक्षा बोध्या । ‘अभुन्वृप’ इत्यादावनद्य-  
तनत्वस्य यथा । अथ कथं “प्रक्षालयैतत्परिवर्तयैतत्” इति ? नपुंसकै-  
कवचने एनदिति वक्तव्यात् । वस्तुतस्तु सूत्र एवैनद्वक्तव्यः । एनम् एनौ  
इत्यादि तु त्यदाद्यत्वेन सिद्धम् । ‘एनं श्रित’ इति द्वितीयासमासे तु  
‘एतच्छ्रित’ इत्येव भवति; नत्वेन एनद्वा, “सुपो धातु” (पा०सु०२-४-  
७१) इति लुका बहिरङ्गाप्यन्तरङ्गाणां बाधनात् । न चैवं ‘प्रक्षालयै-  
नत्’ इत्यपि न स्यादिति वाच्यम्, अमो लुका लुसत्वेऽपि तकारोच्चार-  
णसामर्थ्यादेनदादेशप्रवृत्तेः । न चैवमेतच्छ्रितेऽपि एनदापत्तिः, एक-  
पदाश्रयत्वेनान्तरङ्गे स्वमोर्लुकि चरितार्थत्वेन बहिरङ्गे समासलु-  
कि अप्रवृत्तेः ।

आर्धधातुके (पा०सु०२-४-३५) ॥ अधिकारोऽयं “ण्यक्षत्रिय” (पा०  
सु०२-४-५८) इति यावत् । विषयसप्तमी चेयम् । तेनार्धधातुकोत्पत्तेः  
प्रागेवादेशेषु प्रवृत्तेषु यथायथं प्रत्ययाः । तथाहि, अस्तेः—भव्यम् । पर-  
सप्तम्यान्तु ण्यति कृते भाव्यमिति स्यात् । अजेः—प्रवेयम् । ण्यति  
तु प्रवेयमिति स्यात् । चक्षिङ्—आख्येयम् । ण्यति युकि आख्या-  
य्यमिति स्यात् । ब्रुवस्तु अजन्तत्वाद्यति वच्यमिति स्यात् । वा-  
च्यमिति चेष्ट्यते ।

स्यादेतत्, अङ्गाधिकारस्थे आर्धधातुकाधिकारे एव जग्ध्यादयो वि-  
धीयन्ताम् । मैवम्, ‘जक्षतुः’ ‘अधिजगे’ ‘अध्यगीष्ट’ ‘बभूव’ ‘विव्यतुः’  
इत्यत्र घस्लाद्यादेशानामसिद्धतया उपधालोपाऽऽल्लोपेत्ववुग्यणामभावा-  
पत्तेः । न चाऽतोलोपादयोऽप्यत्रैव विधीयन्तामिति वाच्यम्, ‘गतः’  
‘गतवान्’ इत्यत्रानुनासिकलोपस्यासिद्धत्वाभावादतोलोपापत्तेः । यदि  
त्वार्धधातुकोपदेशकाले यदकारान्तमिति व्याख्यायतेऽसिद्धवत्सूत्र-  
ञ्च प्रत्याख्यायते, तदाऽन्यतर आर्धधातुकाधिकारः शक्योऽकर्तुम् ।  
नन्वेकश्चेदार्धधातुकाधिकारस्तर्हि विषयसप्तमीत्वपरसप्तमीत्वे कथं व्य-  
वतिष्ठेयातामिति चेत् ? न, सूत्रद्वयारम्भपक्षेऽप्याङ्गस्यैकस्यैव ज्ञापक-



बलेनोभयरूपताश्रयणात् । यथा चैतत्तथा “न पदान्त” (पा०सू०१-१-५८) सूत्रे उपपादितम् ।

अदोजग्धिर्ल्यसि किति (पा०सू०२-४-३६) ॥ ल्यबिति लुप्तसप्तमीकं पृथक् पदम् । अत्तेर्जग्धिरादेशः स्यादल्यपि तादौ किति च । इकार उच्चारणार्थो न त्वनुबन्धः, नुमप्रसङ्गात् । एवं “ब्रुवो वचिः” (पा०सू०२-४-५३) इत्यादौ । प्रजग्ध्य, जग्धम् ।

जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात्तिकितीति ल्यबुच्यते ।

ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥

तथाहि, पदद्वयसापेक्षं समासं प्रतीक्षमाणो ल्यब्वहिरङ्गः, ततः प्राक्तिकितीति सिद्धौ जग्धेर्ल्यग्रहणन्तु हित्वदत्त्वात्वेत्वदीर्घत्व-शूडिठामन्तरङ्गाणामपि बाधं ज्ञापयति । “दधातेर्हिः” (पा०सू०७-४-४२) “जहातेश्च कित्व” (पा०सू०७-४-४३) हित्वा । नेह—विधाय । “दो दद्घोः” (पा०सू०७-४-४६) दत्त्वा । नेह—प्रदाय । “जनसनखनां सञ्जल्लोः” (पा०सू०६-४-४२) खात्वा । नेह—प्रखन्य, प्रखाय । इह हि “ये विभाषा” (पा०सू०६-४-४३) इति विकल्पः । “घातिस्यतिमास्थामिति किति” (पा०सू०७-४-४०) स्थित्वा । नेह—प्रस्थाय । “अनुनासिकस्य क्विञ्जलोः” (पा०सू०६-४-१५) इति दीर्घः, क्रान्त्वा । नेह—प्रक्रम्य । “च्छ्वोः शूट्” (पा०सू०६-४-१९) पृष्ट्वा । घृत्वा । नेह—आपृच्छण । प्रदीव्य । इट्—देवित्वा । नेह—प्रदीव्य । वस्तुतस्तु ल्यब्वग्रहणं नान्तरङ्गबाधं ज्ञापयितुं, किन्तु विधयर्थं व्यर्थमेव वा इति निरूपितम् “अचः परस्मिन्” (पा०सू०१-१-५७) इति सूत्रे ।

लुङ्सनोर्घस्तृ (पा०सू०२-४-३७) ॥ अदो घस्तृ स्यादल्लुङि सनि च । लृदित्वादङ् । अघसत् । जिघत्सति । यद्यपि घसिः प्रकृत्यन्तरमस्ति, तथापि अदेः ‘आत्सीत्’ ‘अदित्सति’ इत्यनिष्टं रूपं वारयितुं सूत्रम् ।

अच्युपसङ्ख्यानम् (का०वा०) ॥ प्राप्तीति प्रघसः । इदमपि अदेः पञ्चाद्यचि ‘अदः’ इति रूपं वारयितुम् ‘प्रघसः’ इत्यस्य प्रकृत्यन्तरेणैव सिद्धेः ।

घअपोश्च (पा०सू०२-४-३८) ॥ घञि अपि चादेर्घस्लादेशः स्यात् । घासः । प्रघसः । “उपसर्गेऽदः” (पा०सू०३-३-१९) इत्यप् ।

बहुलञ्छन्दसि (पा०सू०२-४-३९) ॥ अदो बहुलं घस्लादेशः स्यात् । बहुलञ्छन्दसि । घस्तान्नूनम् । लुङि “मन्त्रे घस” (पा०सू०२-४-७०) इत्यादिना ल्लेलुक् । “बहुलञ्छन्दस्यमाङ्योगे” (पा०सू०६-४-७५) इत्यङ्-भावः । सग्धिश्च मे । किति “घसिमतोर्हलि च” (पा०सू०६-४-१००)



इत्युपधालोपः । “समानस्य छन्दसि” (पा०सू०६-४-८४) इति सभावः । न च भवति-अत्ताम् । प्रकृत्यन्तरेण सिद्धे सूत्रस्य प्रयोजनं मृग्यम् ॥

लिङ्यन्यतरस्याम् (पा०सू०२-४-४०) ॥ अदेर्घस्त्व वास्याल्लिटि । जघास, जक्षतुः, जक्षुः । आद, आदतुः, आदुः । प्रकृत्यन्तरस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थमिदं सूत्रम् । तेन यत्र लिङ्गं वचनञ्च नास्ति तत्र तस्य प्रयोगो न । तत्र लृटिङ्करणं लुङि प्रयोगस्य लिङ्गम् । घसिञ्च सान्तेष्विति अनुदात्तपाठो वलादावार्द्धधातुके । “सुघस्यदः कमरच्” (पा०सू०३-२-१६०) इति वचनं कमराचि । भूवादौ परस्मैपदिषु पाठाच्छपि परस्मैपदेषु प्रयोगः । अत एवाशीर्लिङि कर्त्तरि नास्य प्रयोग इति माधवादयः । वेजो वयिः (पा०सू०२-४-४१) ॥ वेजो लिटि परे वयिर्वा स्यात् । उवाय, ऊयतुः, ऊयुः । “लिटि वयो यः” (पा०सू०६-१-३८) इति निषेधाद्यकारस्य न सम्प्रसारणम् । “वश्चास्यान्यतरस्यां किति” (पा०सू०६-१-३९) इति वकारादेशपक्षे ऊवतुः, ऊवुः । वयेरभावे-ववौ, ववतु, ववुः । “वेजः” (पा०सू० ६-१-४०) इति सम्प्रसारणनिषेधः ।

हनो वध लिङि (पा०सू०२-४-४२) ॥ हन्तेर्वध इत्यादेशः स्यादाद्धधातुके लिङि । वध्यात् ।

लुङि च (पा०सू०२-४-४३) ॥ हनो वधः स्याल्लुङि । अवधीत् । वधादेशोऽदन्तः । अलोपस्य स्थानिवद्भावात् “अतो हलादेर्लघोः” (पा० १०७-२-७) इति वृद्धिर्न ॥

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (पा०सू०२-४-४४) ॥ हनो वधः स्याद्वा आत्मनेपदं यो लुङ् तत्परे आर्धधातुके । आवधिष्ट, आवधिषाताम्, आवधिषत । आहत, आहसाताम्, आहसत । “आङो यमहनः” (पा०सू० १-३-२८) इत्यात्मनेपदम् । “हनः सिच्” (पा०सू०१-२-१४) इति क्त्वम् । “अनुदात्तोपदेश” (पा०सू०६-४-३७) इति नलोपः ।

इणो गा लुङि (पा०सू०२-३-४५) ॥ इणो गा स्याल्लुङि । अगात्, अगाताम्, अगुः । अगायि भवता ।

इणवदिक इति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ अध्यगात् । न केवलज्ञादेशमात्रस्यातिदेशः, किन्तु सकलकार्यस्य । तेन इणो यण् स्यात् । अधियन्ति । अधीत्य । “एतिस्तुशास्वृ” (पा०सू०३-१-१०९) इति क्यविति हरदत्तः । अन्ये तु गदेशस्यैवातिदेशमास्थाय “ससी-तयोराद्यवयोरधीयन्” इति भट्टिप्रयोगं समर्थयन्त इति तृतीये स्फुटीकरिष्यामः ।



णौ गमिरबोधने (पा०सू०२-४-४६) ॥ अबोधनार्थस्य इणो गमिरा-  
देशः स्थाण्णौ ॥ गमयति । बोधने तु प्रत्याययति । “इणवदिकः” (का०-  
वा०) । अधिगमयति ।

सनि च (पा०सू०२-४-४७) ॥ अबोधनार्थस्य इणो गमिः स्यात्स-  
नि । जिगमिषति । बोधने तु प्रतीषिषति । “इणवदिकः” (का० वा०)  
जिगमिषति ।

इडश्च (पा०सू०२-४-४८) । इडो गमिः स्यात्सनि । अधिजिगांसते ।  
गाड् लिटि (पा०सू०२-४-४९) । इडो गाड् स्यादिलिटि । अधिजगे ।  
घार्त्तिकमते लिटीति परसप्तमी । “द्विर्वचनेऽचि” (पा०सू०१-१-५९) इति  
स्थानिवद्भावेऽस्तु न भवति, लिटीति द्विलकारकनिर्देशेन लाघस्यायामेव  
गाड् प्रवृत्तेः । भाष्यमते तु आर्धधातुक्याः सामान्येन भवन्तीत्यभ्युप-  
गमात्परनिमित्तता नास्तीति प्रागेवोक्तम् । यद्यपि स्थानिवद्भावेन डि-  
त्वाच्चङ् सिद्धः, तथापि “गाड्कुटादि” (पा०सू०१-२-१) सूत्रेऽस्यैव ग्रह-  
णार्थं डिक्करणम् । न हि स्थानिवद्भावेन गाडिति रूपं लभ्यते । “गा-  
कुटादिभ्यः” इति तूच्यमाने “कै नै रै शब्दे” (भा०प०  
९४१-९४२-१४३) “इणो गा लुङि” (पा०सू०२-४-४५) इत्येतयोर-  
पि ग्रहणं स्यात् । ततश्च ‘अगासीश्रटः’ ‘अगासातां ग्रामौ देवदत्तेन’  
इत्यत्र ‘घुमास्था’ (पा०सू०६-४-६६) इतीत्वं स्यात् । “गाड् गतौ”  
(भा०आ०९७५) इत्यनेन सह सामान्यग्रहणार्थेऽयं डकार इति तु न  
अमितव्यम् । ‘गाते’ इत्यादौ तडं प्रवर्त्य तदीयडकारस्य निवृत्ताकाङ्क्षत-  
या उल्लिखितप्रक्षाप्यशरीरात्तु, यत्र सानुबन्धकात्पृष्ठी उच्चार्यते तत्रा-  
कृत्यायामेवेत्सङ्गायामादेश इति । सत्यामपि वा तस्यां तत्र स्थानिव-  
द्भावेनानुबन्धकार्यं नेति । प्रयोजनस्तु ‘नन्दना’ ‘कारिका’ इत्यत्रोगि-  
लक्षणडीबभावः । तथाहि ‘युवोरनाकौ’ (पा०सू०७-१-१) इति सूत्रे-  
ऽनुनासिकोकारौ युवु निर्दिष्टौ । अन्यथा ‘भुज्यः शङ्गुः’ इत्यत्रातिव्या-  
प्तेः । तथाच स्थानिवद्भावेनोगित्वात् ‘नन्दना’ ‘कारिका’ इत्यत्रोगि-  
लक्षणो डीप् स्यात् । ‘नन्दः’ ‘कारकः’ इत्यत्र चोगिलक्षणो  
नुम् स्यात् ।

ननु नुम् स्यादिति सत्यं, डीप् तु कारिकायामापाद्यताम् । न-  
न्दनायान्तु कथम् ?

व्युः कर्त्तरीमनिज् भावे को, घोः किः प्रादितोऽन्यतः

(अ०को०३-५-१५)

इयमरेण पुंस्त्वस्योक्तत्वादिनि चेत् ? न, एतत्सूत्रं “युवोः” (पा०



सू०७-१-१) इति सूत्रे च 'नन्दना' इति भाष्योदाहरणबलेन "ल्युः कर्त्तरि" इत्यमरस्य प्रायिकत्वात् । तथाच श्रीहर्षः प्रायुङ्क्त "विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना" इति । तस्मान् डाणुमोरभावो ज्ञापनफलमिति ।

अत्रोच्यते, 'युवोः' (पा०सू०७-१-१) इत्यत्रानुनासिकयणावेव युवू, न त्वनुनासिकोकारौ । अतो डाणुमौ न । तथा 'यजमानः' इत्यत्र टेरेत्वाभावोऽपि न ज्ञापनफलम् । "दित आत्मनेपदानाम्" (पा०सू० ३-४-७९) इत्यत्र प्रकृतानामेवात्मनेपदानां ग्रहणात् । तङामित्येव वाऽस्तु । अन्यत्रापि सम्प्रसारितानि ज्ञापकफलानि प्रत्याख्यातानि भाष्ये । प्रत्युत ज्ञापनाभ्युपगमे बाधकान्यपि सन्ति । तथाहि, 'अचिनवम्' इत्यत्र अमादेशस्य पितृत्वसिद्धयर्थं "तस्थस्थमीनाम्" इति वक्तव्यम् । "अणिञोरनार्षयोः" (पा०सू०४-१-७८) "क्लोत्यप्" (पा०सू०५०७-१-३७) इत्यादौ स्थानिनि अनुबन्धस्त्यक्तव्यः । 'वाराह्या' 'प्रकृत्य' इत्यादौ वृद्धिगुणप्रतिषेधश्च यथा स्यात् । तदेवं बहुसुत्रभङ्गापत्तेर्नदं ज्ञापकं सूत्रकृतोऽभिप्रेतं, किन्तु पूर्वोक्तमेव डित्वस्य फलं बोध्यम् ।

विभाषा लुङ्लङाः (पा०सू०२-४-५०) ॥ इङो गाङ् वा स्यात् लुङि लृङि च । "गाङ्कुट्" (पा०सू०१-२-१) इति डित्वम् । "घुमास्था" (पा०सू०६-४-६६) इतीत्वम् । अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत । अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैषत । अध्यगीष्यत । अध्यैष्यत ॥

णौ च संश्रद्धोः (पा०सू०२-४-५१) ॥ गाङ् वा स्यात् सन्परे चङ्परे च णौ । अधिजिगमपयिषति । अध्यापिपयिषति । "क्रीड्जीनां णौ" (पा०सू०६-१-४८) इत्यात्वम् । अध्यजीगपत् । अध्यापिपत् ।

अस्तेर्भूः (पा०सू०२-४-५२) ॥ अस्तेर्भूरादेशः स्यादार्धधातुके । भविता । भवितुम् । भवतिनैवाभिमतं रूपे सिद्धेऽस्तेः 'असिता' इत्यादिनिवृत्तये योगारम्भः । कथन्तर्हि 'ईहामास' इत्यादि ? अत्राहुः, अनुप्रयोगसामर्थ्यादस्तेर्भूभावो नेति । अन्यथा "कस् चानुप्रयुज्यते" इति "कृभ्वनुप्र" इति वा ब्रूयादिति तदाशयः । अथ कथं "तेनाऽऽस लोकः पितृमान्विनेत्रा" "प्रादुरास बहुलक्षयाच्छविः" इत्यादि ? उच्यते, तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययमिदमासेति । यद्वा, "अस गतिदीप्त्यादानेषु" (भ्या०७०८८६) इति भ्वादेः स्वरितेतो रूपमिदम् । भूभावस्तु नास्य शङ्क्यः, अस्तेरिति लुका निर्देशात् ॥

ब्रुवो वाचिः (पा०सू०२-४-५३) ॥ ब्रुवो वचिरादेशः स्यादार्धधातुके । "वच परिभाषणे" (अ०सू०१०६३) इत्यनेन सिद्धे ब्रुवोऽनिष्ट-



प्रयोगवारणार्थं सूत्रम्, क्रियाफलस्य कर्तृगामितायां स्थानिवद्भा-  
वेनात्मनेपदार्थश्च । 'शास्त्रार्थं वक्ष्यते मुनिः' ।

चक्षिडः ख्याञ् (पा०सू०२-४-५४) ॥ आर्धधातुके विवक्षिते । तृजा-  
दौ 'चक्षिता' इत्यादिनिवृत्तये सूत्रम्, कर्त्रभिप्राये फले आत्मनेपदार्थ-  
श्च । मुनिर्वेदं व्याख्यास्यते । 'आख्याता' इत्यादि तु "ख्या प्रकथने"  
(अ०प०१०६०) इत्यनेनापि सिद्धम् । अत्र वार्तिकानि—

चक्षिडः ख्याञ्क्शाञौ ( का० वा० ) । आकशाता ।

खशादिर्वा (का०वा०) ।

असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा ( का० वा० ) । अस्यार्थः । ख-  
कारशकारादिरादेशोऽनेन विधेयः । असिद्धकाण्डे तु णत्वप्रकरणान्तरं  
“खशाञः शस्य यो वा” इति वचनं कर्तव्यम् । तथाच चत्वे  
यत्वं सिद्धमिति खर्परत्वाभावेन “खरि च” (पा०सू०८-४-५५) इत्य-  
स्याप्रवृत्तेर्यत्वपक्षे 'आख्याता' इति सिद्धम् । यत्वाभावपक्षे तु चत्वेन  
'आकशाता' इति रूपम् ।

प्रयोजनं सौप्रख्ये बुञ्जविधिः (का०वा०) ॥ सुप्रचष्टे सुप्रख्यः ।  
“आतश्चोपसर्गे” (पा०सू०३-१-१३६) इति कः । तस्य भावः सौ-  
प्रख्यम् । व्यञ् । “योपधाद्गुरुपोत्तमात्” (पा०सू०५-१-१३२)  
इति बुञ् तु न भवति, यत्वस्यासिद्धत्वादित्यर्थः । तथा सुप्रख्येन  
निर्वृत्तो देशः सौप्रख्यः । तत्र भावः सौप्रख्यायः “वृद्धाच्छः” (पा०सू०  
४-२-११४) न तु “धन्वयोपधात्” (पा०सू०४-२-१२१) इति बुञ् ।

प्रयोजनान्तरमाह—निष्ठानत्वमाख्याते ॥ (का०वा०) 'आख्याते'  
इत्यत्र “संयोगादेरातो धातो र्यण्वतः” (पा०सू०८-२-४३) इति न भवति,  
यत्वस्यासिद्ध्या यण्वत्ताविरहात् । एवञ्च “न ध्याख्या” (पा०सू०८-२-  
५७) इति सूत्रे ख्याग्रहणं न कर्तव्यं भवति ।

रुविधिः पुङ्गयानम् (का०वा०) ॥ यत्वस्यासिद्धतयाऽम्परत्वाभा-  
वात् “पुमः खयि” (पा०सू०८-३-६) इति रुत्वं नेत्यर्थः ।

णत्वं पर्याख्यानम् (का०वा०) ॥ यत्वस्यासिद्धतया शकारेणाऽनटा  
व्यवायात् “कृत्यचः” (पा०सू०८-४-२९) इति णत्वं नेत्यर्थः ।

सस्थानत्वं नमःख्यात्रे (का०वा०) ॥ “शर्परे विसर्जनीयः” (पा०सू०  
८-३-३५) इति विसर्गः सिध्यतीत्यर्थः । 'सस्थान' इति जिह्वामूली-  
यस्य प्राचां संज्ञा । सस्थानत्वं त्विह नेति योज्यम्, णत्वादीनाम-  
प्यभावस्यैव प्रक्रान्तत्वात् । तस्माद् बुञ्जत्वणत्वणत्वानि सस्थानञ्चे-  
ति पञ्चकं प्राप्तं वारयितुं शस्य यत्वं कृतमिति स्थितम् ।



स्यादेतत्, “ख्या प्रकथने” (अ०प०१०६०) इति धातुमादाय बुजा-  
दिपञ्चकं दुर्वारम् । सत्यम्, सोऽपि खशादिः । यत्तु ‘अविधिरप्युभय-  
साधारणे बोध्यः’ इति हरदत्तमाधवादयः, कैयटस्तु नैतन्मेने । भाष्ये  
ख्याधातोः खशादित्वानुक्तेः, चक्षिडः ख्याजादेशमेवोपक्रम्य यत्व-  
विधानात् । “न ध्याख्या” (पा०सू०८-२-५७) इति सूत्रे ख्याग्रहण-  
न्तु कर्तव्यमेव ‘व्याख्यातः’ इत्यत्र नत्वाभावाय । ख्याजादेशस्तु  
लाक्षणिकत्वात्तत्र न गृह्यत इति, यत्वस्यासिद्धत्वात्प्राप्तिरेव नास्तीति  
च बोधयितुं प्राङ् नत्वग्रहणम् । णत्वं तु “लुब्धोगाप्रख्या-  
नात्” (पा०सू०१-२-५४) इति निपातनाज्ञ भवति । बुद्धत्वस-  
स्थानत्वानि तु ख्यातौ स्युरेव । ख्याजादेशे तु नेति तत्र रूपद्वयं बोध्य-  
म् । अस्मिन्मते आदेशे प्रख्यानादिति प्रयोगोपपत्तेः कथं निपातनमुप-  
न्यस्तमिति चिन्त्यम् । बुजादाविव णत्वांशेऽपि रूपद्वये इष्टापत्तिः,  
अनिष्टत्वे वाऽनभिधानात्कृत्यल्युटोबहुलग्रहणाच्च तत्र ल्युडेव नेति  
न्यायः पन्थाः ।

परमार्थस्तु ख्याधातुः सार्वधातुकमात्रविषयः । “सस्थानत्वं नमः  
ख्यात्रे” (का०वा०) इति वार्त्तिकं तद्भाष्यं चेह प्रमाणम्, आर्धधातुके-  
ऽपि तत्प्रयोगे उक्तप्रयोजनासङ्गतेः । एवं “णत्वं पर्याख्यानम्” (का०वा०)  
इत्यपि । तथा च “न ध्याख्या” (पा०सू०८-५-७) इति सूत्रे ख्याग्रहणं न  
कर्तव्यमेव । माधवहरदत्ताद्युत्प्रेक्षा तु गौरवग्रस्ता उपक्रमादिविरुद्धा ।  
सार्वधातुकेऽपि कशाप्रयोगे प्राप्तेऽनभिधानमात्रालम्बना चेत्यवधेयम् ।

वर्जने प्रतिषेधः (का०वा०) ॥ दुर्जनाः सञ्चख्याः, वर्जनीया इत्यर्थः ।

असनयोश्च (का०वा०) ॥ नृचक्षा रक्षः । छान्दसोवर्णविकारः । भाषा-  
यान्तु ‘नृचक्षो रक्षः’ इति भवतीति कैयटहरदत्तौ । माधवस्तु “हे अग्ने नृच-  
क्षाः मनुष्याणां द्रष्टा त्वं रक्षः परिपश्य” इति वेदभाष्ये व्याख्यत् । विचक्ष-  
णः । “अनुदात्तेतश्च हलादेः” (पा०सू०३-२-१४९) इति युच् । अत एवा-  
न्तोदात्तः पठ्यते-‘विचक्षणः प्रथयन्’ इति । ‘यत्रामृतस्य चक्षणम्’  
इत्यादौ तु ल्युट् । अत एव क्लृप्स्वरेणाद्युदात्तता । कथं तर्हि-‘पुंख्यानं’  
‘पर्याख्यानम्’ इति प्रागुदाहृतमिति चेत् ? वक्ष्यमाणबाहुलकादित्यवेहि ।

बहुलन्तप्यन्नवधकगात्रविचक्षणाजिराद्यर्थम् (का०वा०) । सर्व-  
प्रकरणापेक्षमेतत् । तणिति संज्ञाछन्दसोग्रहणम् । तत्र अन्नशब्दे  
जगध्यभावः । “अन्नाणः” (पा०सू०४-४-८५) इति निपातनाद्वा सिद्धम् ।  
‘वधकः’ इति । एबुलि वधादेशः । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद्बहुलभावः ।  
“कबुन् शिल्पिसंज्ञयोः” (उ०सू०२००) इत्यधिकारे “हनो वध च”



( उ०सू०२०४ ) इत्युणादिसूत्रेण मतार्थमेतत् । नात्रमिति । इणः औणादिके घृणि गादेशः । गाङ्धातुना वा सिद्धम् । अजिरमिति । वीभावो न । “अजिरशिशिर” (उ०सू०५६) इति निपातनात् सिद्धम् ।

वा लिटि (पा०सू०२-४-५५) ॥ चक्षिङः ख्याञ् वा ख्याल्लिटि च ख्यौ । चक्षौ । चक्षे ।

अजेर्व्यघञपोः ( पा०सू०२-४-५६ ) ॥ अजेर्धातोर्वी इत्यादेशः स्याद् दाङ्धातुके घञमपञ्च वर्जयित्वा । प्रवण्णीयः । प्रदापकः । अघञपोः किम् ? समाजः । उदाजः । समजः । उदजः । “समुदोरजः पशुषु” (पा०सू०३-३-६९) इत्यप् । दीर्घव्याख्यानं किमर्थम् ? संवीतिः ।

घञपोः प्रतिषेधे क्यप् उपसङ्ख्यानम् १ (का०वा०) ॥ समज्या । “संज्ञायां समज” (पा०सू०३-३-९९) इति क्यप् । इह पूर्वसूत्राद्वेत्यनुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन घञ्मप्यप्सु न । समाजः, समजः, समध्या, इति ।

वलादावार्धधातुके ल्युटि च वा (का०वा०) ॥ प्राजित्वा, प्रवेता । प्राजनं, प्रवयणम् । एवञ्च नार्थो घञपोः प्रतिषेधेन, नापि क्यप् उपसङ्ख्यानेन, नापि “वा यौ” (पा०सू०२-४-५७) इति सूत्रेण । तस्मात्-अजेर्वी वेति घञपोः क्यपि चायं न सम्मतः ।

वलादौ यौ च वाऽन्यत्र नित्यमित्येष निर्णयः (का०वा०) ॥

आर्धधातुके इत्यस्य विषयसप्तमीत्वात् प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्वीभावे हलादित्वाद्यङ् । वेवीयते । नात्र यङ्लुगस्ति यतो लुका यङ् आर्धधातुकस्य विषयत्वापहाराज्जाङ्धातुकव्यक्त्यभिव्यक्तिरिति वीभावस्य नैव प्रसङ्गः । उक्तञ्च “न लुमताऽङ्गस्य” (पा०सू०१-१-६३) इति सूत्रे कैयटेन-लुका यङो विषयत्वापहाराद्विषयसप्तम्याश्रयेणऽप्यसिद्धिरिति ।

वा यौ (पा०सू०२-४-५७) ॥ अजेर्वी वा स्यात् यौ । प्रवयणम् । प्राजनम् । इदञ्च पूर्वसूत्रे एव प्रत्याख्यातम् ।

आर्धधातुकाधिकारः समाप्तः ।

ण्यक्षत्रियार्षजितो यूनि लुगाणिजोः (पा०सू०२-४-५८) ॥ क्षत्रिय-शब्दः क्षत्रियगोत्रपरः । ऋषेरपत्यमार्षम् । “इतश्चानिजः” (पा०सू०४-१-१२२) इति ढकि प्राप्ते शिवादिपाठादण् । दगपीष्यते, “आर्षेयं वृणीते” इति दर्शनात् । तस्माच्छुभ्रादिष्वपि पठनीयः । ण्यप्रत्ययान्तात् क्षत्रियगोत्रापत्यप्रत्ययान्तादप्यभिधायिनो गोत्रप्रत्ययान्तात् जितश्च परयोः युवाभिधायिनोरणिजोर्लुक् स्यात् । “कुर्वादिभ्यो ण्यः” (पा०सू० ४-१-१५१) । तस्माद्यूनि इज् । तस्य लुक् । कौरव्यः पिता,



कौरव्यः पुत्रः । ननु कौरव्यशब्दस्तिकादिषु पठ्यते । ततः 'कौ-  
रव्यायणिः' इति हि फिञा भाव्यमिति चेत् ? न, तत्र हि "कुरुनादि-  
भ्यो ण्यः" (पा०सू०४-१-१७२) इत्यनेन विहितस्य क्षत्रियगोत्रस्य  
ग्रहणम् । इदन्तु ब्राह्मणगोत्रम् । "ऋष्यन्धकवृष्णकुरुभ्यश्च" (पा०सू०  
४-१-११४) इत्यण् । तस्माद्युनि इञ् । तस्य लुक् । श्वाफलकः पिता,  
इवाफलकः पुत्रः । क्षत्रियवसिष्ठाद्व्यण् तत इञ् । तस्य लुक् । वासि-  
ष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः । आर्षः बिदाद्यञ् तस्माद्युनीञ् । तस्य लुक् ।  
वैदः पिता, वैदः पुत्रः । तैकायनिः पिता, तैकायनिः पुत्रः । कुत्सातः  
सौवीरगोत्राद्वाऽन्यत्रेदम् । अन्यथा "फेइलुच" (पा०सू०४-१-१४९) इति  
छप्रसङ्गात् । यमुन्दश्चेत्यादिपरिगणनस्य भाष्यविरुद्धत्वात् । पश्यः  
किम् ? "शिवादिभ्योऽण्" (पा०सू०४-१-११२) । ततो युनि इञ् । कौह-  
डः पिता, कौहडिः पुत्रः । युनि किम् ? वामरथस्य छात्राः वामर-  
थाः । "कुर्वादिभ्यो ण्यः" (पा०सू०४-१-१५१) । तस्मात् "कण्वादि-  
भ्यो गोत्रे" (पा०सू०४-२-१११) इति शैबिकोऽण् । वामरथस्य क-  
ण्वादिवत्स्वरवर्जमिति कुर्वादिषु पाठात् । अत्र शैबिकस्याणो न लु-  
क् । अणिजोः किम् ? दाक्षेरपत्यं युवा दाक्षायणः ।

अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानम् (क०वा०) ॥ मात्रश-  
ब्दः कात्स्न्ये । क्षत्रियादिजातिं विनापि अब्राह्मणत्वमात्रेण ततः परस्य  
अणिङ्भ्यां भिन्नस्यपि लुगित्यर्थः । मण्डिजङ्घकर्णखरकौ वैश्यौ,  
ताभ्यामतइञ्, तदन्तात्फको लुक् । माण्डिजङ्घिः पिता पुत्रश्च । एवं  
कार्णखरकिः ॥

पैलादिभ्यश्च (पा०सू०२-४-५९) ॥ पश्यो युवप्रत्ययस्य लुक्  
स्यात् । "पीलाया वा" (पा०सू०४-१-११८) इत्यण् । तस्मात् "अणो झ-  
चः" (पा०सू०४-१-१५६) इति फिञ्, तस्य लुक् । पैलः पिता पुत्रश्च ।  
आकृतिगणोऽयम् ।

तद्राजाद्याणः (ग०सू०) ॥ इत्यन्तर्गणसूत्रम् । तद्राजसंज्ञकादणः परस्य  
युवप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । "झञ्मगध" (पा०सू०४-१-१७०) इत्यण-  
न्तादाङ्गशब्दात् "अणो झचः" (पा०सू०४-१-१५६) इति फिञो लुक् ।  
आङ्गः पिता पुत्रश्च ।

इञः प्राचाम् (पा०सू०२-४-६०) ॥ गोत्रे य इञ्, तदन्ताद्युवप्रत्यय-  
स्य लुक् स्यात्तच्छेत्तोत्रं प्राचां भवति । इह "प्राचामवृद्धात्" (पा०सू०  
४-१-१६०) इत्यादिवत्प्राग्रहणं विकल्पार्थं नेत्यत्र व्याख्यानं शरणम्  
पक्षं प्राप्तम् अगारं येन स पञ्जागारः । तत इञ् "यमिजोश्च" (पा०सू०



४-१-१०१) इति फक् । पान्नागारिः पिता पुत्रश्च । मन्थरा मन्दीभूता एषणा यस्य स मन्थरैषणः । मन्थरैषणिः पिता पुत्रश्च । प्राचां किम् ? दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः ।

न तौल्वलिभ्यः (पा०सू०२-४-६१) ॥ तौल्वल्यादिभ्यः परस्य युत्रप्रत्ययस्य लुक् न स्यात् । पूर्वेण प्राप्तो निषिध्यते । तुल उपमाने (सु०प० ६६) । औणादिको वलच् । तुल्वलः । तत इजिं फक्-तौल्वलिः पिता, तौल्वलायनः पुत्रः । तौल्वलि । तैल्वलि । धारयतिपारयतिभ्यो नन्त्यादि-त्वाल्ल्युः, तत इज्-धारणि । पारणि । दैवलिपि । दैवामिञि । दैवयञि । देवा मित्रमस्य, देवेभ्यो यज्ञोऽस्येति विग्रहः । प्राणेहति । चापट्कि । आनराहनि । श्वाफट्कि । आनुमति । आहिसि । आसुरि । आयुधि । नैमिषि । आसिबन्धकि । वैकि । पौष्कि । पुष्करे सीदतीति पुष्करसत्, अनुहरतीत्यनुहरत् बाह्वादी अनुशतिकादी च—पौष्करसादि । आनुहरति । पुष पुष्टौ (भा०प०७००) यत् । पुष्यः पौष्यि । वैराकि । वैहति । विलक्षणौ कर्णावस्य विकर्णः—वैकर्णि । कामलि । करेणुं पालयतीति करेणुपालः—करेणुपालि ॥

इति श्रीशब्दकौस्तुभे द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थे पादे प्रथममाहिकम् ॥

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् । (पा०सू०२-४-६२) ॥ बहुष्वर्थेषु विद्यमानस्य तद्राजस्य लुक् स्यात्तेनैव लुग्भाज्जातीयेनैव कृतं चेद्बहुत्वं, न तु स्त्रियाम् । अङ्गाः । वङ्गाः । सुह्राः । पुण्ड्राः । मगधाः । “ते तद्राजाः” (पा०सू०४-१-१७४) इत्यादीनामिह संज्ञा । लोहध्वजाः । ग्रीहिमताः । इह तु “ऋादयस्तद्राजाः” (पा०सू०५-३-११९) इति । तद्राजस्येति किम् ? औपगवाः । राघवाः । यादवाः । कथन्तर्हि “रघूणामन्वयं वक्ष्ये” इति “निरुध्यमाना यदुभिः कथंचित्” इति च ?

उच्यते, रघ्वपत्ये रघुशब्दो लक्षणया वर्तते । एतच्च “वह्व इजः” (पा०सू०२-४-६६) इति सूत्रे पदमञ्जर्यां स्पष्टम् । नन्वेवं “परश्च” (पा०सू०३-१-२) इति सूत्रे ‘बभ्रुर्मण्डुर्लमक’ इत्यादीनामपशब्दत्वपरं भाष्यं विरुध्येतेति चेत् ? न, भाष्यस्य शक्तिभ्रमप्रयुक्तपरत्वात् । इष्येते हि गोणीशब्दस्य गोणीसादृश्यशक्तिभ्रमाभ्यां गवि प्रयुक्तस्य साधुत्वासाधुत्वे । एतेन—

सोऽयमित्यभिसम्बन्धात्तद्धितेन विना यदि ।

बभ्रवादयः प्रयुज्येरन्नपत्यनियमो भवेत् ॥



इति हरिश्लोकोऽपि व्याख्यातः । बहुषु किम् ? आङ्गः । वाङ्गः । ते-  
नैव किम् ? आङ्गदेवदत्तयज्ञदत्ताः । यद्यपीह बहुत्वमाङ्गेऽप्यन्वेति तथा-  
पि नेदं लुगभाजोऽर्थ एव विश्रान्तम्, देवदत्तादिगतत्वात् । नन्वेवं  
“भार्गवश्च वात्स्यश्च आग्रायणश्च भृगुवत्साग्रायणाः” इत्यत्र लुङ् न  
स्यात्, उत्तरसूत्रेष्वपि तेनैवेत्यधिकाशात् । आग्रायणे च नडादिफ-  
क्रो लुगभावात् ?

सत्यम्, तेनैवेत्यस्य तज्जातीयेनेति व्याख्यातत्वाददोषः । अपत्य-  
तयेह साजात्यात् । यद्येवं ‘गार्ग्यश्च काश्यपश्च गालवश्च’ इत्यत्र  
गालवे ऋष्यणो लुगभावेऽपि अपत्यतया साजात्याद्यजत्रोलुक्प्रसङ्गः ।

अत्राहुः, लोप्यलोपिभिरपत्यप्रत्ययैः कृते बहुत्वे विकल्पः । “भृगुव-  
त्साग्रायणेषु” “अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्” इत्युभयथापि सूत्रनिर्दे-  
शात् । अस्त्रियां किम् ? आङ्ग्यः स्त्रियः ।

स्यादेतत्, आङ्गस्यापत्यानि बहूनि-“अणो ह्यचः” (पा०सू०४-१-  
१५६) इति फिञ् । तस्य “तद्राजाच्चाणः” इति गणसूत्रेण “अत्रा-  
ह्मणगोत्रमात्रात्” (का०वा०) इति वार्त्तिकेन वा लुक् । अङ्गाः ।  
वैदस्यापत्यानि बहूनि-“अत इञ्” (पा०सू०४-१-९५) । “ण्यक्षत्रिय”  
(पा०सू०२-४-५८) इति लुक् । विदाः । अत्र यूनि बहुत्वान्वयेऽपि गोत्रस्य  
तद्राजवाच्यस्यैक्याल्लुङ् न स्यात् । किञ्च विदानामपत्यं माणवकः  
वैदः, वैदौ । अत्र युवबहुत्वाभावेऽपि गोत्रबहुत्वादतिव्याप्तिः ।

सत्यम्, “गोत्रस्य बहुषु लोपिनो बहुवचनान्तस्य प्रवृत्तौ ह्येकयो-  
रलुक्” “एकवचनद्विवचनान्तस्य प्रवृत्तौ बहुषु लोपो यूनि” इति वार्त्ति-  
कद्वयेन सिद्धम् ।

यद्वा, अव्याप्त्युद्धारः सूत्रेणापि सुकरः । तथाहि, तद्राजान्तं यद्-  
हुष्विति व्याख्यास्यामः । न चैव प्रतिकृतिबहुत्वेऽतिप्रसङ्गः, तेनैवेत्यस्य  
‘लोपिप्रत्ययार्थजातीयेन’ इत्यर्थात् । गोत्रयूनोरपत्यतया सजातीय-  
त्वेऽपि प्रतिकृतेर्विजातीयत्वात् । नापि ‘वैदः’ ‘वैदौ’ इत्यत्रातिव्याप्तिः ।  
“गोत्रेऽलुगचि” (पा०सू०४-१-८९) इति सूत्रेण इञि विवक्षित एवालु-  
क्प्रवृत्तेः । न च यून्युपसङ्क्रमानन्तरं पुनर्युवबहुत्व इव तद्वद्वित्वैक-  
त्वस्थले लुक् प्राप्तिरस्ति युवबहुत्वे तु पुनर्लुक् । न च पुनरलुक् शङ्क्यः,  
“समर्थानां प्रथमात्” (पा०सू०४-१-८२) इत्यधिकारात् । विभक्तिविप-  
रिणामेन हि गोत्रप्रत्ययस्य प्रथमस्य अलुगित्यर्थः । प्राथम्यं च अर्था-  
न्तरेऽनुपसङ्क्रान्तत्वम् । अत एव ‘अत्रिभरद्वाजिका’ इति सिद्ध्यति ।  
अत्रैरपत्यानि “इतश्चानिजः” (पा०सू०४-१-१२२) इति ढक् । भरद्वाज-



स्यापत्यानि विदाद्यञ् । तत उभयत्र युवबहुत्वे “अत इञ्” (पा० सू०४-१-९५) तस्य “ण्यक्षत्रिय” (पा०सू०२-४-५८) इति लुक् । ढको “अत्रिभृगु” (पा०सू०२-४-६५) इति, अञो “यजञोश्च” (पा०सू०२-४-६४) इति । ततो अत्रिभरद्वाजानां मैथुनिकेति द्वन्द्वाद् बुन्, तस्या-  
कादेशः । यदि द्वितीयमर्थमुपसंक्रान्तस्यापि अलुक् स्यात्तदा इहा-  
प्यञः स स्यात् । गोपवनादिगणे गर्गभार्गाविकाग्रहणं चेह ज्ञापकम् ।  
गर्गशब्दाद्यञ्, तस्य लुक् । भृगुशब्दादृष्यण्, तदन्तादूनि “अत इञ्”-  
(पा०सू०४-१-९५), तस्य लुक् । गर्गभृगूणां मैथुनिकेति बुन् । अत्रात्रिभृ-  
ग्विति प्राप्तलुकं निषेद्धुं हि गोपवनादिषु पाठः । स च द्वितीयार्थापेक्ष-  
ङ्क्रमेऽप्यलुगिति पक्षे व्यर्थः स्यात् ।

इदं त्ववधेयम्, आज्ञी च वाङ्मय सौहृद्वेति द्वन्द्वे आज्ञीशब्देन  
स्त्रीत्वयुक्तानामर्थानामभिधानात्तदणो लुक् न भवति । अन्यस्य तु  
स्यादेव । आज्ञीवङ्मसुहा इति । इह भाष्ये तेनैवेति प्रत्याख्यातम् ।  
अतो गार्ग्यश्च चैत्रश्च मैत्रश्चेत्यत्रापि लुगभवतीति प्रतीयते, तज्जातीय-  
त्वस्यानुक्तेश्च । तथापि सूत्रशेषे “अथ यो लोप्यलोपिनां समास” इति  
भाष्यं व्याचक्षाणेन कैयटेन तेनैवेति वचनादलोपिसान्निधिकृतं बहु-  
त्वमिति माकारि लुगित्युक्त्या तेनैवेत्यंशस्य भाष्याभ्युपगतत्वं ल-  
भ्यते । अत एवाजन्तं यद्वहुत्विति पक्षे “काश्यपस्य प्रतिकृतयो बह्वः  
काश्यपाः” इत्यत्रापत्यबहुत्वाभावान्मा भूत् । आज्ञस्य प्रतिकृतयो बह्व-  
इत्यत्र तु स्यादेव । इह गोत्रग्रहणाभावादित्याशङ्क्य तेनैव ग्रहणबलेन  
समाहितं हरदत्तेनेति ध्येयम् । ननु ‘आज्ञश्च’ इत्यादेविग्रहे भाष्यादि-  
सम्मतोऽपि लुक् दुरुपपादः, तद्राजान्तस्य बहुवचनेति चेत् ?  
न, अजहत्स्वार्थायां बहुषु वृत्तेः स्पष्टत्वात् । कथं तर्हि “सेयं दुःखा च”  
इत्यादि प्रागुक्तमिति चेत् ? द्विवचनबहुवचनान्तैर्विग्रहो नेत्याशये-  
नेति गृहाण । तथाहि, लौकिके विग्रहवाक्ये स्वार्थमात्रवृत्तिता स्पष्टा ।  
प्रक्रियावाक्येऽपि वृत्तिप्रवेशात्प्राक् प्रवृत्तमेकवचनं दुर्वारमेव । राज-  
पुरुषादौ षष्ठ्यादिवत् । अथ कथं--

कौरव्याः पशवः क्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलम् ।

इति वेणीसंवरणम् ?

उच्यते, “कुरुनादिभ्यो ण्यः” (पा०सू०४-१-१७२) इति कौरव्यश-  
ब्दं व्युत्पाद्य “तत्र साधुः” (पा०सू०४-४-८९) इति यत् कार्यः । एतेन  
“तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः” (र०वं०४) इति व्याख्यातम् । “वृद्धेत्कोसल”  
(पा०सू०४-१-१७१) इत्यत्र “पाण्डोर्ज्यण्” (का०३।०) इत्युपलङ्घ्या-



नात् ल्यणस्तद्राजत्वेऽपि 'पाण्ड्ये साधवः पाण्ड्याः' इति यत्प्रत्यया-  
न्तत्वेन साधुत्वनिर्वाहात् ।

यस्कादिभ्यो गोत्रे (पा०सू०२-४-६३) । एभ्यः परस्य गोत्रप्रत्यय-  
स्य लुक् स्यात् । बहुषु तेनैवास्त्रियामित्यनुवर्तते । "गोत्रे कुञ्जादिभ्य-  
श्चफञ्" (पा०सू०४-१-२८) इतिगोत्रप्रत्ययप्रकरणं, ततोऽन्यत्र लौकिक  
स्य गोत्रस्य ग्रहणम् । अपत्याधिकारे तु गोत्रग्रहणसामर्थ्यादेव पा-  
रिभाषिकस्य ग्रहणम् । यद्यपि कृत्रिमस्यैवाऽन्यत्र ग्रहणं प्राप्तं तथापि  
लौकिकस्य ज्ञापकं वक्ष्यते । तेनानन्तरापत्येऽपि लुक् । यस्काः । लह्याः ।  
बहुष्विति किम् ? यास्कः । लाह्याः । स्त्रियां तु यास्काः स्त्रियः । गोत्रे  
इति किम् । यास्काः छात्राः । यस्क, लह्य, द्रुह्य, अयःस्थूण, तृणकर्ण,  
एते पञ्च शिवादिषु पठ्यन्ते । ततः परेभ्यः षड्भ्य इज् । सदामत्त,  
कम्बल(१)भार, अ(२)हिर्यौग, कर्णाटक, पिण्डोजङ्ग, बकसकथ । ततः  
परेभ्यश्चतुर्भ्यः "शुभ्रादिभ्यश्च" (पा०सू०४-१-१२३) इति ढक् । (३)वि-  
स्ति, कुद्रि, अजवस्ति, मित्रयु । ततः परेभ्यो द्वादशभ्य इज् । रक्षोमुख,  
जङ्गारथ, म(४)न्थक, उत्कास, कटुक, पुष्करसत्, (५)विषपत्, उप-  
रिमेखल, क्रोष्टुमान, क्रोष्टुपाद, क्रोष्टुमाय, शीर्षमाय । नन्विह पु-  
ष्करसदः पाठो व्यर्थः । स हि बाव्हादित्वादिजन्तः । "बाव्हच इजः प्रा-  
च्यभरतेषु" (पा०सू०२-४-६६) इत्येव सिद्धम् । न चायं प्राच्यो नेति  
भ्रमितव्यम्, तौल्वल्यादिष्वेतत्पाठस्य वैयर्थ्यापत्तेः । तस्य हि "इजः  
प्राचाम्" (पा०सू०२-४-६०) इति प्राप्तस्य लुकः प्रतिषेधः फलम् ।

अत्राहुः, "न गोपवनादिभ्यः" (पा०सू०२-४-६७) इति प्रतिषेधं  
वाधितुमिहास्य पाठः । गोपवनादिगणे हि तौल्वल्यादय इति कैश्चि-  
त्पठ्यत एव । येन पठ्यते तैरप्यत एव ज्ञापनात् तौल्वल्यादिप्रकृतिभा-  
गानां तुल्वलादीनां गोपवनाद्यन्तर्भावोनुमेय इति । (६)खरपद, अस्य  
नडादित्वात्फक् । पदक । क्रमक । आभ्रामतइज् । भलन्दन । अस्माच्छि-  
वाद्यण् । भडिल । भडिक । भडिव । भण्डित । एभ्यश्चतुर्भ्यः "अइवादि-  
भ्यः फञ्" (पा०सू०४-१-११०) ।

( १ ) 'हार' इति कौमुद्याम् ।

( २ ) 'बहिर्यौग' 'कर्णाटक' इति कौमुद्याम् ।

( ३ ) 'विश्वि' इति कौमुद्याम् । ( ४ ) 'मथक' इति कौमुद्याम् ।

( ५ ) 'विषपुट' इति कौमुद्याम् ।

( ६ ) 'खरप यदक वर्षुक भलन्दन भडिल भण्डिल भडित  
भण्डित' इति कौमुद्याम् ।



यजजोश्च (पा०सू०२-४-६४) । गोत्रे यौ यजजौ तदन्तं यद्-  
हुषु तदवयवयोर्यजजोर्लुक् स्यान्न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ।  
बिदाः । उर्वाः । स्त्रियां तु गार्ग्यः स्त्रियः । गोत्रे किम् ? “द्वीपादनुस-  
मुद्रं यज्” (पा०सू०४-३-१०) द्वैष्याः । “उत्सादिभ्योऽज्” (पा०सू०४-१-  
१६) औत्साः । अथ कथं-‘पौत्राः’ ‘दौहित्राः’ विदाद्यजन्तत्वात् ?

उच्यते, अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रन्तश्चेऽहं प्रवराध्याय-  
प्रसिद्धम् । न च पौत्रादिस्तथा । इदं च “स्त्रीपुंसाभ्याम्” (पा०सू०४-  
१-८७) इति सूत्रे कैयटेन स्फुटीकृतम् ।

यजादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसंख्यानम् (का०वा०) ।  
एकद्वयोरिति भावप्रधानो निर्देशः । गार्ग्यस्य गार्ग्ययोर्वा कुलं गर्ग-  
कुलं, गार्ग्यकुलं वा । यजादीनां किम् ? आज्ञकुलम् । एकद्वयोः किम् ?  
गर्गाणां कुलं गर्गकुलम् । तत्पुरुषे किम् ? गार्ग्यस्य समीपमुपगा-  
र्यम् । षष्ठ्याः किम् ? परमगार्ग्यः ।

अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च (पा०सू०२-४-६५) ॥ एभ्यो  
गोत्रप्रत्ययस्य लुक् स्यात् बहुत्वे । अत्रिशब्दात् “इतश्चानिजः” (पा०  
सू०४-१-१२२) इति ढक् । इतरेभ्य ऋण्यण् । अत्रयः भृगव इत्यादि ।

बह्वच इजः प्राच्यभरतेषु (पा०सू०२-४-६६) ॥ बह्वचः परो य  
इज् प्राच्यगोत्रे भरतगोत्रे च वर्त्तमानस्तस्य लुक् स्यात् । पञ्जागाराः ।  
मन्थरैषणाः । भरतापत्ये तु युधिष्ठिराः । अर्जुनाः । युधिष्ठिरार्जुनश-  
ब्दाभ्यां कुर्वादिण्यापवादो बाह्वादिलक्षण इज् । भरतापत्ये अभेदोप-  
चाराद्भरतशब्दः । ते च भरताः प्राच्या एव । द्वन्द्वस्तु गोबलीवर्द्धन्या-  
येन । सामान्यविशेषवाचिनोर्वाचनिकद्वन्द्वनिषेधो यद्यप्युक्तस्तथापि  
तस्यानित्यता अनेनैव ज्ञाप्यते । तत्फलं तूक्तमेव । प्राग्रहणं नैव सिद्धे  
भरतानां पृथगुपादानमन्यत्र प्राग्रहणं एषां ग्रहणं नेति ज्ञापनार्थम् ।  
तेन “इजः प्राचाम्” (पा०सू०२-४-६०) इति लुक् भरतयुवप्रत्ययस्य न  
भवति । आर्जुनिः पिता, आर्जुनायनः पुत्रः ।

न गोपवनादिभ्यः (पा०सू०२-४-६७) ॥ एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् न  
स्यात् । विदाद्यजन्तर्गणोऽयम् । स च हरितात्प्रागेव । तथा च वार्तिकम्-  
गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्वरितादिभ्यः (का०वा०) इति । आगणा-  
न्ताङ्ग्रहणे प्राप्ते हरितात्प्राक् वृत्करणं कर्त्तव्यमिति भावः । गोपव-  
नाः । शौप्रवाः । नेह—हरिताः ।

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे (पा०सू०२-४-६८) ॥ एभ्यो गोत्रप्रत्यय-  
स्य बहुषु लुक् स्याद् द्वन्द्वे । यद्यपि द्वन्द्वरूपाण्येव गणे पठ्यन्ते तिका-



दीनि पूर्वपदानि कितवादीन्युत्तरपदानि, तथापि “तिकादिभ्यः” (पा० सु०४-१-१५४) इत्युक्तेः पूर्वपदेष्वेव लुगाशङ्क्येत । इष्यते तत्तरपदेष्वपि । अतः ‘तिकाकितवादिभ्यः’ इत्युक्तम् । तैकायनयश्च कैतवायनयश्च “तिकादिभ्यः फिञ्” (पा० सु०४-१-१५४) । तस्य लुक् । तिकाकितवाः ।

उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे (पा० सु०२-४-६९) ॥ एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य बहुत्वे लुक् वा स्यात् द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च । सूत्रशेषस्य अद्वन्द्वे इत्यस्य तु द्वन्द्वग्रहणमिह नानुवर्त्तते इत्यर्थः । एषां मध्ये त्रयो द्वन्द्वास्तिककितवादिषु पठ्यन्ते । औपकायनाश्च लामकायनाश्च “नडादिभ्यः फक्” (पा० सु०४-१-९९) । तस्य लुक् । उपकलमकाः । भ्राष्ट्रककपिष्ठलाः । कृष्णाजिनयः । कृष्णसुन्दराः । एषां पूर्वेण नित्यमेव लुक् । अद्वन्द्वे त्वनेन विकल्पः । उपकाः । औपकायनाः । लमकाः । लामकायनाः । भ्राष्ट्राः । भ्राष्ट्रकयः । कापिष्ठलाः । कापिष्ठलयः । कृष्णाजिनाः । कार्ष्णाजिनयः । कृष्णसुन्दराः । कार्ष्णसुन्दरयः । शेषाणान्तु द्वन्द्वेऽपि विकल्प इति वृत्तिः । भाष्ये तु ‘भ्राष्ट्रकिकापिष्ठलयः’ इत्युदाहरणात्तिककितवादिष्वस्य पाठोऽनार्थ इति कैयटः ।

आगस्त्यकौडिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् (पा० सु०२-४-७०) ॥ एतयोरेवयवस्य गोत्रप्रत्ययस्य अणो यजश्च बहुषु लुक् स्यात् अवशिष्टस्य प्रकृतिभागस्य यथासङ्ख्यमगस्ति कुण्डिनच् एतावादेशौ स्तः । अगस्तयः । कुण्डिनाः । कुण्डिनीशब्दस्य यञि “भस्याद” (का० वा०) इति पुंवद्भावे “नस्तद्धिते” (पा० सु०६-४-१४४) इति टिलोपे ‘कौण्ड्यः’ इति प्राप्तम् । अस्मादेव तु निपातनात् पुंवत् । ईकारस्य “यस्य” (पा० सु०६-४-१४८) इति लोपः । तस्य स्थानिवस्वादाभीयत्वेनासिद्धत्वाद्वा टिलोपो न । चकारः स्वरार्थः । मध्योदात्तो हि कुण्डिनीशब्दः । ‘कुण्डमस्त्यस्याः’ इति मत्वर्थीयस्य इनेरुदात्तत्वात् । तदादेशोऽपि आन्तरतम्यात्तथा स्यात् । कथं तर्हि—

वासिष्ठकुण्डिनौ तद्वदुपमन्युपराशराः ।

चतुर्णामेकगोत्रत्वात् विवाहः परस्परम् ॥ इति ?

उच्यते, नायं कुण्डिनजादेशः, किन्तु “कुडि दाहे” (भ्वा० आ० २७१) इत्यस्मादौणादिके इनच्प्रत्यये उज्ज्वलदत्तादिभिर्न्युत्पादितः स्वतन्त्र एवायं शब्दः । अत एव “वासिष्ठमैत्रावरुणकौण्डिन्येति होता कुण्डिनवन्मित्रावरुणवद्वसिष्ठवदित्यध्वर्युः” इति बौधायनसूत्रं सङ्गच्छते !



आपस्तम्बसूत्रमप्येषम् । एतेन—

वसिष्ठमित्रावरुणौ कुण्डिनश्च महातपाः ।

इति मत्स्यपुराणप्रवराध्यायप्रयोगोऽपि व्याख्यात इति-दिक् ।

इह यदि लुक् निवर्त्य विशिष्टयोरेवादेशौ क्रियेते, तदा 'कौण्डिनाः' इत्यस्य सिद्धावपि 'आगस्तीयाः' इति न सिद्ध्यति । तथाहि, अगस्त्यशब्दादप्यणि आगस्त्यः । ततो बहुवचनान्तादृद्धाच्छेदो विवक्षिते "गोत्रेऽलुगाच्च" (पा०सू०४-१-८९) इति लुक्प्रतिषेधः । प्रत्ययविशिष्टस्यागस्त्यादेशपक्षे तु तन्निषेधाभावादृद्धत्वापगमे शैषिकोऽणोव स्यात् । उपपादितं चेदं "प्रत्ययस्य लुक्श्लु" (पा०सू०१-१-६१) सूत्रे ।

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (पा०सू०२-४-७१) ॥ एतयोरवयवस्य सुपो लुक् स्यात् । पुत्रीयति । राजपुरुषः ।

अदिप्रभृतिभ्यः शपोः (पा०सू०२-४-७२) ॥ एभ्यः शपो लुक् स्यात् । अस्ति । कथं तर्हि—

"वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यं देवमुपासते" इति ?

उच्यते, 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' (श्वा०उ०९११) इति श्वादेरुभयपदिनो रूपमिदम्, उपादत्ते इत्यर्थात् । अथ कथम् "आश्वसेयुर्निशाचराः" इति भट्टिः "न विश्वसेत्पूर्वाविरोधितस्य" इति च पञ्चतन्त्रम् ? पचाद्यजन्तादाचारविविधमभिप्रेयति । "गणकार्यमनित्यम्" इति तु जयमङ्गला । तत्र ज्ञापकं तु "घटादयः पितः" इत्यत एव सिद्धे "क्षमूष् सहने" (श्वा० आ०४४३) इति शिक्करणम् ॥

बहुलं छन्दसि (पा०सू०२-४-७३) ॥ छन्दसि बहुलं शपो लुक् स्यात् । वृत्रं हनति । अहिः शयते । अन्येभ्योऽपि भवति । आश्वं नो देवाः ॥

यङोऽचि च (पा०सू०२-४-७४) ॥ यङोऽच्प्रत्यये परे लुक् स्यात् चकाराद्बहुलमन्यत्रापि । लोलुवः । पोपुवः । पचाद्यच् । इदमेव अचि लुग्विधानं ज्ञापकं "सर्वधातुभ्यः पचाद्यच्" इति । बाहुलकात् 'बेमिदीति' 'चेच्छिदीति' इत्यादि । इह अजिति प्रत्याहारो न गृह्यते । तथाहि सति "अणि" इत्येवावश्यत्, यङन्तादन्यस्याचोऽसम्भवात् इति हरदत्तः । न च 'पापच्ये' 'पापच्यै' इत्यत्र सम्भवः, शपा व्यवधानस्त, एकादेशस्य स्थानिवद्भावात् । "लिटस्तश्चयोः" (पा०सू०३-४-८१) इत्येशः सम्भवोस्तीति चेत् ? न, आम्प्रसङ्गात् । यदि तु "अमन्त्रे" इति निषेधात् मन्त्रे कथांचित्तत्सम्भवस्तर्हि यङो साहचर्यादिति युक्त्यन्तरमन्वेष्टनीयम् ।



जुहोत्यादिभ्यः इलुः (पा०सू०२-४-७५) ॥ एभ्यः शपः इलुः स्यात् । जुहोति । मण्डूकप्लुत्येह शबनुवर्तते । न त्वनन्तरोपि यङ्, “श्लौ” (पा०सू०६-१-१०) इति सूत्रारम्भात् । अन्यथा यङो लुकीव श्लावपि “सन्धङोः” (पा०सू०६-१-९) इत्येव सिद्धे किं तेन ?

बहुलं छन्दसि (पा०सू०२-४-७६) ॥ दाति प्रियाणि । अन्येभ्यश्च भवति—पूर्णा विवष्टि । जनिमासविधिकः ।

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचिः परस्मैपदेषु (पा०सू०२-४-७७) ॥ एभ्यः सिचो लुक् स्यात्परस्मैपदेषु । इह मण्डूकप्लुत्या लुगनुवर्तते न त्वनन्तरोऽपि इलुः, व्याख्यानात् । यद्यपि गामोदाग्रहणेऽप्यविशेषस्तथापि ‘गाति’ इति निर्देशादिह “इणो गा लुङि” (पा०सू०२-४-४५) इत्यस्य ग्रहणम् । गादेशस्यैव ह्ययं श्रितपि शब्दलुका निर्देशः ।

नेनुं नायं गादेशः, लुङ्येव तद्विधानात् । सत्यम्, तथापि “प्रकृतिवदनुकरणम्” इति स्थानिवद्भावातिदेशाच्छब्दलुक् । “भवतेरः” (पा०सू०७-४-७३) इत्यादौ तु अस्त्यादेशानुकरणे अतिदेशातिदेशेन प्राप्तोऽपि शब्दलुक् “प्रकृतिवत्” इत्यस्यानित्यत्वाच्चैत्यवधेयम् । हरदत्तस्तु स्थानिवद्भावात् “प्रकृतिवदनुकरणम्” इति वा गातिरित्यत्र शब्दलुगित्याह । तत्र शब्दस्यासङ्गतिः स्पष्टैव । वस्तुतस्तु “गापोग्रहणे इणपिबत्योः” (का०वा०) इति वार्तिकमेवात्र शरणम् । निर्देशादेव व्यक्तम् । लुग्विकरणग्रहणमिति तु भाष्ये प्रौढिवादमात्रम्, निर्देशस्य सन्दिग्धत्वात् । गायतेरपि हि सिचि कृतात्वस्यानुकरणं गातीति सम्भवत्येवेत्यवधेयम् । अगात् । अस्थात् । अदात् । अधात् । पिबतेरेवेह ग्रहणं न तु पातेः, “लुग्विकरणा लुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव” (प०भा०) इति परिभाषया । अपात् । अभूत् । भूधातोः स्त्रतन्त्रस्यास्त्यादेशस्य चेदं रूपं तुल्यम् । न चादेशस्य लुग्विकरणत्वात्पातिवद्ग्रहः शङ्क्यः । आर्धधातुकैकविषयतया हेतोः स्वरूपासिद्धेः गापोग्रहणेन इणादेशपिबत्योरेव ग्रहणमित्युक्तम् । नेह—‘कै गै रै शब्दे’ । अगासीत् । ‘पा रक्षणे’ । अपासीत् । “यप्ररम” (पा०सू०३-२-७३) इतीदृशकौ । ‘पै शोषणे’ इत्यस्यापि लाक्षणिकत्वाद्ग्रहणं बोध्यम् । परस्मैपदेषु किम् ? अगासातां प्रामौ देवदत्तेन । अत्र कश्चित् सूत्रे भीधातोर्जसौ निर्देशः । “परनेकाचः” (पा०सू०६-४-८२) इति यण् । तेन ‘मा भैः शशाङ्क मम शीघुनि नास्ति राहुः’ इति प्रयोगः सङ्गच्छत इत्याह । एवं तु

“मा स्म भैषीस्त्वयाऽद्यैव कृतार्थो द्रक्ष्यते यतिः”

इति भाट्टिर्विरुध्यते । मा भैरिति तु प्रामादिकम् । यद्वा, आगमशा-



सन्नानित्यतया “अस्मिन्सिचः” (पा०सू०७-३-२६) इतीदो विरहे सिपो  
“हल्ङ्या” (पा०सू०६-१-६८) इति लोपे सिचो विसर्गः ।

विभाषा ब्राधेऽशाच्छासः (पा०सू०२-४-७८) ॥ एभ्यः सिचो वा  
लुक् स्यात्परस्मैपदेषु । घटः पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते विभाषेयम् । अ-  
घ्रात्, अधात्, अशात्, अच्छात्, असात् । पक्षेऽघ्रासीदित्यादि ।  
परस्मैपदेषु किम् ? अघ्रासन्तं सुमनसो देवदत्तेन । कर्मणि तङ् ।

तनादिभ्यस्तथासोः (पा०सू०२-४-७९) ॥ एभ्यः सिचो वा लुक्  
स्यात्तथासोः परतः । अततः । अतथाः । अतनिष्टः । अतनिष्ठाः । असातः ।  
असाथाः । “जनसन” (पा०सू० ६-४-४२) इत्यात्वम् । पक्षे असनिष्टः ।  
असनिष्ठाः । श्रूयमतनिष्टेत्यत्र तु न लुक्, आत्मनेपदेनैकवचनेन च  
थासा साहचर्यात्तथाभूतस्यैव तशब्दस्य ग्रहणात् ।

मन्त्रे घसवहरणशवृदहादृच्कृगमिजानिभ्यो लेः (पा०सू०२-४-८०) ॥  
एभ्यो लेर्लुक् स्यान्मन्त्रे । अक्षन्नमीदन्त हि । “लुङ्सनोर्घस्तु” (पा०  
सू०२-४-३७) । “गमहन” (पा०सू०६-४-२८) इत्युपधालोपः । “शा-  
सिवासि” (पा०सू०८-३-६) इति षत्वम् । अट् । “विभाषा छन्दस्यमाङ्-  
योगेऽपि” (का०वा०) इत्यङभावे तु मा त्वावृकासो अशिवासउ क्षन् । ‘वृह  
कौटिल्ये’ अस्य कृतगुणस्यानुकरणं हरेति, अकारस्तूच्चारणार्थः ।  
मा वृहमित्रस्य । धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य । “नशोर्वा” (पा०सू०८-२-६३) इति  
कुत्वम् । पक्षे “वश्च” (पा०सू०८-२-३६) इति षत्वे नङिति रूपं बोध्यम् ।  
वृ इति वृङ्वृजोः सामान्यग्रहणम् । सुरुचो वेन आवः । दह-मानआ-  
धक् । आदित्याकारान्तग्रहणम् । प्रा पूरणे । आङ्पूर्वः । आप्रा द्यावा-  
पृथिवी अन्तरिक्षम् । वृज्--परावर्गभारभृद्यथा । अक्रन् कर्म कर्मकृतः ।  
त्वेरयि जागृत्सो अनुगमन् । अज्ञत वा अस्य दन्ताः । यद्यप्येतरेयब्रा-  
ह्मणे हरिश्चन्द्रं प्रति वरुणस्येदं वचनं तथापि मन्त्रग्रहणमिह सूत्रे छन्द-  
स उपलक्षणमिति ब्राह्मणेऽपि लुक् सिध्यति । इह सूत्रे विभाषेत्यनुव-  
र्तते । तेन-“न ता अगृभ्णन्नजनिष्ट हिषः” इत्यादि सिद्धम् । एतेन इह  
सूत्रे ‘सिच’ इत्यनुवर्त्य सिच्स्थानिभूतो यो लिरिति व्याख्यानाल्लि-  
ङ्गालोदोर्नेति हरदत्तग्रन्थः परास्तः । लोपस्य वैकल्पिकतया छन्दसि  
रूपान्तरस्यानापाद्यतया च सिज्जनुवृत्तेर्वैकल्यात् । अत एव सिचि प्र-  
कृते लिग्रहणम् “आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्” (पा०सू०६-१-१८७) इत्ये-  
तस्याप्रवृत्त्यर्थमिति प्रकृतसूत्रस्थहरदत्तग्रन्थः “चिल्लुङि” (पा० सू०  
३-१-४३) इत्यत्रत्यकैयटग्रन्थश्च परास्तः ।

आमः (पा०सू०२-४-८१) ॥ आमः परस्य लुक् स्यात् । ईहांत्रके ।



“लक्षणप्रतिपदोक्त” (पा०भा०) परिभाषया नेह । “अम गत्यादिषु”-आम । आमतुः । तिवाद्यपवादत्वात्वावस्थायामेवायं लुक् । तेनामन्तस्थातिङ-  
न्तत्वादिनिघातस्ततः परस्य निघातश्च सिध्यतीति “न लुमता” (पा०सू०  
१-१-६३) इति सूत्रे प्रतिपादितम् । न चैवमामन्तस्य पदत्वं न स्या-  
दिति वाच्यम्, सुबन्ततया तत्सिद्धेः । यथा च सुपो न श्रवणं तथा  
“कृन्मैजन्तः” (पा०सू०१-१-३९) इति सूत्रे प्रतिपादितम् ।

अव्ययादाप्सुपः (पा०सू०२-४-८२) ॥ अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च  
लुक् स्यात् । तत्र शालायाम् । अथ । अत्र वार्तिकम्—  
“अव्ययादापो लुग्वचनानर्थक्यं लिङ्गाभावात्” इति । न च “स्त्रिया-  
म्” (पा०सू०४-१-३) इति सूत्रे ‘स्त्रिसमानाधिकरणात्’ इति पक्षः  
स्थितः, ‘भूतमियं ब्राह्मणी’ इत्यादावतिव्याप्तेः । विहितविशेषणान्नेह—  
अत्युच्चैसौ ॥

नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः (पा०सू०२-४-८३) ॥ अदन्तादव्य-  
यीभावात्सुपो न लुक् पञ्चमीभिन्नस्य तु सुपोऽमादेशः स्यात् ।  
उपकुम्भं तिष्ठति । अपञ्चम्याः किम् ? उन्मत्तगङ्गादागतः । अतः  
किम् ? अधिहरि ।

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् (पा०सू०२-४-८४) ॥ अनयोर्बहुलमम्  
स्यात् । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते आरम्भः । उपकुम्भमुपकुम्भेन वा कृतम् ।  
उपकुम्भमुपकुम्भे स्थितः । अतः वार्तिकम्—

सप्तम्या ऋद्धिनदीसमाससंख्यावयवेभ्यो नित्यम् ॥ ऋद्धिः-सुम-  
द्रम् । नदीसमास-उन्मत्तगङ्गम् । संख्यावयव-एकविंशतिभरद्वाजम् ।  
त्रिपञ्चाशद्भौतमम् । एकविंशतिभरद्वाजा वंश्यास्त्रिपञ्चाशद्भौतमा वंश्या  
इति विग्रहः । “संख्या वंश्येन” (पा०सू०२-१-१९) इति समासः । ननु  
भरद्वाजात् विदाद्यञो “यञञोश्च” (पा०सू०२-४-६४) इति लुक्  
प्राप्नोति, एवं गोतमादृश्यणः “अत्रिभृगु” (पा०सू०२-४-६५) इत्यार-  
म्भात् । न च “वर्तिपदानां स्वार्थोपसर्जनैकत्वविशिष्टार्थान्तरोपसंक्र-  
मात्लुगभावः” इति कैयटांकं युक्तम्, वृत्तिप्रवेशात्प्रागेव प्राप्नुवतोऽ-  
न्तरङ्गस्य लुको दुर्वारत्वात् । अन्यथा गर्गाणां कुलं गर्गकुलमित्यपि  
न स्यात् ।

अत्राहुः, “भाष्यकारप्रयोगादेव लुगभावोऽत्र बोध्य” इति ।  
इदं च वार्तिकं बहुलग्रहणसिद्धार्थकथनपरम् ।

लुटः प्रथमस्य डारौरसः (पा०सू०२-४-८५) ॥ लुडादेशस्य प्रथम-  
पुरुषस्य डारौरसः क्रमात्स्युः । अत्ता । शयिता । ननु पदद्वये द्वौ त्रिकौ



प्रथमपुरुषौ, तथा च षट् स्थानिनः त्रय आदेशाः तत्कथं वैषम्ये संख्या-  
तानुदेशः ? अत्राहुः, डारौरसश्च डारौरसश्चेति कृतद्वन्द्वानामेकशेषात्  
षडेवादेशाः । यद्वा, अर्थत आन्तर्याह्यवस्था एकार्थस्यैकार्थो  
द्वयस्य द्वय इत्यादि । एकार्थत्वादिनिर्णयस्तु व्यवहारात् ।  
यद्यपि “तानुबन्धकृतमनेकालम्बम्” (पा०भा०६) तथापि डा इत्यस्य  
सर्वादेशत्वमानुपूर्व्याद्बोधम् । प्रतिपादितं चेदम् “अने-  
कालशित्” (पा०सू०१-१-५५) इति सूत्रे । न चात्मनेपदे अध्येता  
अध्येतारौ इत्यादौ डारौरस्सु कृतेषु टेरेत्वं स्यादिति चेत्, न, अस्मि-  
न्नेव प्रयोगे सकृत्प्रवृत्ततया चरितार्थत्वात् । तथाहि, एत्वं डादयश्चे-  
त्युभयमपि शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यम्, तत्र परत्वादेत्वे कृते पुनः प्रसङ्ग-  
विज्ञानाद् डादयः । यद्वा, तिङ् आदेशेषु टेरेत्वं न भवति, एशिरेचो-  
स्थासः सेश्च एकारोच्चारणाज्ज्ञापकात् । स्यादेतत्, तिस्रयोर्द्वयोरपि  
डादेशेऽन्तोदात्तत्वेदमिष्यते । तत्र तिवादेशस्यान्तरस्यादनुदात्तत्वे  
सत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेणोदात्तत्वं सिद्ध्यति, तद्देशस्य तु न सिध्यति ।  
तथाहि, तप्रत्ययस्य डादेशे कृते लसार्वधातुकस्वरात्परत्वाद्विलोपः ।  
न चेदानीमुदात्तनिवृत्तिस्वरः लभ्यः, अनुदात्तत्वात्प्रागेव लोपात् । ननु  
स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन्नित्यो डादेशः, शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्ननुदात्तो-  
ऽप्यनित्यः, उभयोरनित्ययोः परत्वादनुदात्तत्वे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञाना-  
द् डादेशे कृते उदात्तनिवृत्तिस्वरः सुलभ इति चेत् ? न, अन्तरङ्गत्वा-  
द् डादेशप्रवृत्तेः ।

अत्राहुः, अस्तु करीत्या परत्वाद्विलोपः, तथाप्यसौ अनुदात्ते अविद्य-  
मानोदात्ते पर इत्यर्थः । “अनुदात्तस्य च” (पा०सू०६-१-१६१) इति सूत्रे ह्यनु-  
दात्तग्रहणं प्रत्याख्यास्यते, तत्स्वीकारेऽपि शास्त्रीयोऽनुदात्तो न गृह्यते, कि-  
न्तुदात्तभिन्नः । न च प्रत्ययाद्युदात्तप्रवृत्तेरिदमपि दुर्लभमिति वाच्यम्,  
परिहृत्य चापवादविषयमिति न्यायेन लसार्वधातुकानुदात्तविषये प्रत्य-  
यस्वराप्रवृत्तेः । न च तासेः प्रत्ययस्वरात्प्रागेव परत्वाद्विलोपः शङ्क्यः,  
प्रत्ययस्वरस्य प्रत्ययसंनियोगशिष्टत्वेनान्तरङ्गत्वात् । तथाच भाष्ये  
संप्रदक्षलोकौ—

प्रत्ययस्वरापवादो लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् ।

तेन तत्र न प्रसक्तः प्रत्ययस्वरः कदाचित् ॥

प्रत्ययस्वरश्च तासेर्वृत्तिसंनियोगशिष्टः ।

तेन चाप्यसावुदात्तो लोप्यते तथा न दोषः ॥



वृत्तिः प्रवृत्तिः । यदैव तासिः प्रवर्तते तदैवागवादाभावानुदात्तत्व-  
युक्त इत्यर्थः ।

मुनित्रयोक्तिसद्वेणीपरिशीलनशालिनाम् ।

महतामपि मान्योऽसौ धार्यते येन कौस्तुभः ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणस्य लक्ष्मी-

धरसूरेः सूनुना भट्टोजिमद्वेन कृते श्रीशब्दकौस्तुभे

द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थे पादे द्वितीयमा-

न्हिकम् । पादश्च समाप्तोऽध्यायश्च ॥

प्रत्ययः (पा०सू०३-१-१) ॥ प्रत्ययशब्दः संज्ञात्वेनाधिक्रियते आ-  
पञ्चमसमासे । स्यादेतत्, प्रकृत्युपपदोपाधिविकारागमानामपि तर्हि  
संज्ञा स्यात् । “हरतेर्दतिनाथयोः पशौ” (पा०सू०३-२-२५) । हरते-  
रिति प्रकृतिः । दतिनाथयोरित्युपपदम् । पशावित्युपाधिः । “हनस्त च”  
(पा०सू०३-१-१०८) इत्यादिर्विकारः । “त्रपुजतुनोः शुक्” (पा०सू०४-३-  
१३८) इत्यागमः । नन्वेषां प्रत्ययत्वे सति किं स्यादिति चेत् ? शृणु,  
प्रकृतिप्रत्यययोः परस्परापेक्षं परत्वं पर्यायेण स्यात्, शब्दान्तरापेक्षं वा  
प्रकृतेः । उपपदस्यापि परत्वं स्यात् । “उपसर्जनं पूर्वम्” (पा०सू०२-२-  
३०) इति तु राजपुरुषादिषु सावकाशं परत्वात् “परश्च” (पा०सू०३-१-२)  
इत्यनेन बाध्येत । ननु सुबिधौ प्रातिपदिकाधिकाराद्राजपुरुषादौ कथं  
सावकाशतेति चेत् ? सत्यम्, एवमपि समाससंज्ञाविरहस्थले उप-  
पदस्य परत्वं स्यादेव । तथा च भोक्तुं व्रजतीत्येव स्यात्, न तु व्रज-  
ति भोक्तुमिति । उपाधेस्तु अर्थत्वेन परत्वासम्भवेऽपि तद्वाचकशब्द-  
स्य परत्वं नियतं स्यात् । आद्युदात्तत्वं च स्यात् । अङ्गसंज्ञा तु विधा-  
नायत्ता । न च प्रकृत्यादयः कुतश्चिद्विहिता अतो न प्रकृत्यादिषु परेषु  
पूर्वस्य तत्प्राप्तिरिति प्रागुक्ता एव दोषाः । विकारागमयोरपि यथायथं  
परत्वमाद्युदात्तत्वं तयोः परतः पूर्वस्याङ्गत्वं च स्यादिति दुष्टोऽयं प्रत्य-  
याधिकारः ।

अत्राहुः, प्रकृत्यादीनां सनाद्युत्पत्तौ निमित्तत्वेनोपादानात् पारा-  
श्यात् स्वसंस्कारं प्रति न प्रयोजकत्वम् । यथा ‘योऽश्वे स देवद-  
त्तः’ इत्युक्ते नाश्वस्य देवदत्तसंज्ञा । किञ्च हरतेर्दतिनाथयोः कर्मणो-  
रुपपदयोः पशौ कर्त्तरि इत्प्रत्ययो भवतीति वाक्यार्थपर्यवसाने कथं  
प्रकृत्यादीनां संज्ञाप्राप्तिः ? न च आबुत्या ते च हरत्यादयः प्रत्ययसं-



ज्ञका इति द्वितीयं वाक्यं कल्प्यम्, मानाभावाद् गौरवपराहतत्वा-  
च्च । यत्तु सनादीनामप्यसतां संज्ञानुपपत्तेः वाक्यभेदेनैव संज्ञा विधे-  
या । ततश्च यथा एकेन सनादीनां विधिरपरेण संज्ञाविधिः, एव प्र-  
कृत्यादीनामपि स्यादेवेति । तन्न, वृद्धिसूत्रशेषे वर्णितया रीत्या सन्प्र-  
त्ययो भवतीत्यादिकमेण संज्ञाविशिष्टस्य संज्ञिन एकवाक्येनैव विधि-  
सम्भवात् । नहि 'उद्भिदा यजेत' इत्यादौ नामधेयसम्बन्धलाभाय वि-  
ध्यावृत्तिं मन्वते न्यायविदः । अभ्युपेत्य ब्रूमः, संज्ञापरं द्वितीयं वा-  
क्यमपि 'गुप्तिज्ञकिद्भ्यः सन् प्रत्ययः' इत्यादिरूपमेव । तथाच विरुद्ध-  
विभक्त्यवरुद्धानां प्रकृत्यादीनां प्रथमान्तेन प्रत्यय इत्यनेन सामानाधि-  
करण्यमसम्भाव्येव । न च द्वितीयवाक्ये प्रकृत्यादीनां विभक्तिविपरि-  
णामेन प्रथमा कल्प्या, योग्यविभक्तिनिर्दिष्टेषु सनादिषु संज्ञायाश्चरि-  
र्यत्वात् । अपि च आद्यवाक्ये सनादीनामेव अपूर्वविधानविषयतया  
प्राधान्यम् । एवञ्च द्वितीयेऽपि संज्ञिनमपेक्षमाणा संज्ञा पूर्वत्र प्रधानत-  
या कल्पसमेव गृह्णीयात् न त्वप्रधानमपि । नन्वेवमपि विकारागमानां  
विधेयतया प्राधान्यात्संज्ञा दुर्वारेति चेत् ? मैवम्, अन्वर्थसंज्ञाविज्ञा-  
नात् । प्रतियन्त्यनेनार्थमिति हि प्रत्ययः । विकारागमौ त्वनर्थकौ । न चै-  
वम् "अवेः कः" (पा०सू५-४-२८) इत्यादीनां समासान्तानां च प्रत्यय-  
संज्ञा न स्यात्, अनर्थकत्वादिति वाच्यम्, 'स्वार्थिका अपि प्रकृत्य-  
र्थेनार्थवन्त एव' इति सिद्धान्तात् । यत्तु कल्पनामात्रमेतदिति । तन्न,  
प्रकृतिप्रत्ययार्थविभागस्य सर्वस्यापि काल्पनिकत्वाविशेषात् । नैषा  
कल्पना शास्त्रकृतसम्भवेति चेत् ? न, "द्वितीयः" (पा०सू०२-२-३) इति  
सूत्रे पूरणार्थात्स्वार्थे अन्प्रत्ययस्यापि पूरणार्थताया भगवतैवोक्तेः  
इहापि प्रत्याटयन्त इति व्युत्पत्त्यन्तरमप्याश्रित्य प्रकृत्या अभिव्यज्य-  
मानार्थत्वं स्वार्थिकानामस्तीति भाष्यकैयटयोः स्वीकाराच्च । न चै-  
वं विकारागमयोः सम्भवति, प्रकृत्यवयवतया तदर्थ एवोपक्षयात् ।  
अपि च प्रयोजनाभावान्नामीषां संज्ञा । न च परत्वमेव प्रयोजनम्,  
षष्ठ्या विकाराणां स्थानसम्बन्धस्य आगमानामवयवत्वेन सम्बन्ध-  
स्य च प्रतिपादनात् । न चाद्युदात्तत्वं प्रयोजनम्, आगमानामनुदा-  
तत्वविधानात् । यत्र तु प्रयोजनं लभ्यते तत्रेयत् एवागमस्यापि प्र-  
त्ययत्वम् । यथा श्रमः शकारस्येत्संज्ञार्थमिति ।

इदं त्ववशिष्यते, "हनश्च वधः" (पा०सू०३-३-७६) "नामिनमं  
च" (ग०सू०) "विराग विरङ्गश्च" (ग०सू०) इत्यादावादेशानां संज्ञा  
स्यात् अर्थवन्त्वाद्विधेयत्वेन प्राधान्यात् योग्यविभक्तिकत्वाच्चेति ।



संज्ञाप्रयोजनं तु स्थानिन आदेशेन निवर्तितत्वेन शब्दान्तरापेक्षया परत्वमस्तीति । तस्मात्कर्तव्योऽत्र यत्न इति हरदत्तः ।

अत्रेदं वक्तव्यम्, हनश्चेत्यादिचकारो न प्रत्ययसंज्ञामा-  
प्रस्यानुकर्षणार्थः, अधिकारादेव तल्लाभात् । किन्तु संज्ञिविशिष्ट-  
स्य । एवञ्च तेनैव निराकाङ्क्षा संज्ञा कथं वधादिभिः सम्बध्येत ?  
“क्षेमप्रियमद्रेऽणच” (पा०सू०३-२-४४) इत्यादौ तु णिच्वादिसामर्थ्या-  
दावृत्त्या संज्ञालाभः । किञ्च नभं विरङ्गमिति द्वितीयान्तं न तु प्रथमा-  
न्तम्, असावमुमादेशं लभते इत्याशयेन प्राचां व्यवहारात् । उक्तञ्च  
प्रातिशाख्ये—“असावमुमिति तद्भावामुक्तम्” इति ।

“समानाक्षरमन्तस्थं समकण्ठ्यं स्वरोदयम्” इति च ।

“इकोयणाचि” (पा०सू०६-१७७) इति तदर्थः । एवं स्थिते नभ-  
विरङ्गयोः संज्ञया सह विरुद्धविभक्त्यवरोधोऽपि स्पष्ट एवेति दिक् ।

अथ सनः सशब्दादारभ्य कपः पकारेण सपिति प्रत्या-  
हारमाश्रित्य सप्रत्यय इत्येव कुतो नोक्तमिति चेत् ? न,  
प्रत्यासत्त्या सिपः पकारेण ग्रहणापत्तेः । व्याप्त्या तु “तसन-  
सनथनाश्च” (पा०सू०७-१-४) इति तनपः । तस्माद्यथान्यासमेवा-  
स्तु । संज्ञाप्रयोजनं तु कर्तव्य इत्यादौ धातोरङ्संज्ञाप्रवृत्तावाङ्गो गु-  
णः । यत्तु प्रत्ययाद्युदात्तत्वं फलमिति । तदापाततः, “आद्युदात्त  
श्च” (पा०सू०३-१-३) इत्याधिकारमाश्रित्य तस्य सुसाधत्वात् ।

परश्च (पा०सू०३-१-२) ॥ अयमधिकारः परिभाषा वा । लिङ्गवती  
चेयम् । लिङ्गं तु प्रत्ययसंज्ञा । “गुप्तिज्जकिद्भ्यः सन्” (पा०सू०३-१-५)  
इत्यादौ अपादानत्वासम्भवाद्दिग्योगलक्षणपञ्चमी, तत्र परः पूर्वो वेत्य-  
नियमेनाध्याहारे प्रसक्ते पर एवेति नियमार्थमिदम् । “गापोष्टक्”  
(पा०सू०३-२-८) इत्यादौ षष्ठीनिर्देशोऽपि आनन्तर्यरूपषष्ठ्यर्थस्य पूर्व  
परयोरविशेषादनियमस्तुल्य एव । स्यादेतत्, “विभाषा सुपे बहुचपुर-  
स्तात्तु” (पा०सू०५-३-६८) इत्येतन्नियमार्थमस्तु बहुजेव पुरस्ताद्भवति  
नान्य इति । ततश्च बहुचि पूर्वत्वस्य नियतत्वादन्यः प्रत्ययः पर एव  
भविष्यति । न चैवमपि षष्ठीनिर्देशेषु मध्यशब्दाध्याहारेण मध्येऽपि  
प्रसङ्ग एवेति वाच्यम्, “अव्ययसर्वनाम्नाम्” (पा०सू०५-३-७१) इत्यनेन  
अकजेव प्रकृतिमध्ये नान्य इति नियमात् । न च बहुजेव पुरस्ताद-  
कजेव मध्ये इति नियमे बहुजकचोर्नियमो न लभ्येतेति वाच्यम्, देश-  
नियमार्थयोरपि वाक्ययोः बहुजकचोर्देशसम्बन्धप्रतित्या निराका-  
ङ्क्षतया तयोर्देशान्तरसम्बन्धे मानाभावात्, विकल्पस्यानेकदोषदुष्ट-



त्वाच्च । न चाकजेव प्राक् ढेरिति नियमे प्रत्ययान्तरं द्विप्राग्भागरूप-  
 मध्यविशेषे मा भूत्, मध्यान्तरे तु स्यादेवेति वाच्यम्, लक्ष्यसिद्ध-  
 ये मध्यसामान्यापेक्षनियमाभ्युपगमे बाधकाभावात् । किञ्च “गुप्तिज-  
 किद्वयः” (पा०सू०३-१-५) इत्यादौ भ्यसादीनां परस्वदर्शनेन अङ्गसं-  
 ज्ञासूत्रे प्रत्यये इति सप्तमीबलेन च “ङ्घ्रात्प्रातिपदिकात्” (पा०सू०  
 ४-१-१) इत्यादौ परशब्दाध्याहारे निश्चिते तदैकरूप्याय प्रत्ययविधि-  
 परायामष्टाध्याय्यां न पूर्वादिपदान्तराध्याहारो न्याय्यः, तत्किं परश्चेति  
 सूत्रेण ? उच्यते, प्रयोगनियमार्थमिदं, पर एव प्रत्ययो न केवल इति ।  
 अन्यथा प्रत्ययार्थमात्रविवक्षायां किमस्य द्वयसमित्याद्यपि प्रयुज्येत ।  
 यदि तु प्रकृतिविशेषोद्देशेनैव प्रत्ययस्य विधानात्केवलो न प्रयोक्ष्यत  
 इति ब्रूये, एवमपि प्रकृत्यर्थमात्रविवक्षायां केवला प्रकृतिः प्रयुज्येतैव ।  
 यथा पच् पठ् इति । अतः प्रत्ययः परो भवत्येवेति नियमार्थमिदम् ।  
 आपदत्वनिर्वृत्तेश्चायं नियमः । तदेतत्तत्रतत्रोच्यते—“न केवला प्रकृतिः  
 प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः” इति “अपदं न प्रयुज्जीत” इति च । अप-  
 रिनिष्ठितं न प्रयुज्जीतेति तस्यार्थ इत्युक्तम् । यत्त्विह भाष्ये बभूवर्ण्डु-  
 र्लमक इत्यादीनामपशब्दत्वमुक्तम्, यच्च पदमञ्जरीं तारतम्यादिश-  
 व्दानाम्, तत्सर्वं लाक्षणिकत्वमनादृत्य प्रयुक्तेषु बोध्यम् । इष्यते हि  
 गोणीशब्दस्य गवि गोणीसादृश्यशक्तिभ्रमाभ्यां प्रयुक्तस्य साध्वसा-  
 धुत्वव्यवस्था । अत एव “बह्वच इजः” (पा०सू०२-४-६६) इति सूत्रे  
 रघुशब्दस्य तदपत्ये लक्षणया साधुत्वं हरदत्तेनोक्तम् । प्रकृतसूत्रेऽपि  
 ‘नो खल्वारभ्यमाणमप्येतल्लक्षणया प्रयोगं निवारयितुमर्हति’ इत्युक्तत्वे-  
 नैव । अत एव तारतम्यमित्यस्य शब्दपरस्यार्थं लक्षणया साधुत्वं कै-  
 यटेन “साधकतमङ्करणम्” (पा०सू०१-४-४२) इति सूत्रे ध्वनित-  
 मिति दिक् ।

आद्युदात्तश्च (पा०सू०३-१-३) ॥ अयमप्यधिकारः परिभाषा वा  
 प्राग्वत् । तित्तिरिणा प्रोक्तमधीते तैत्तिरीयं ब्राह्मणकुलं, “तित्तिरि-  
 वरतन्तुखण्डिकोखाच्छण” (पा०सू०४-६-१०२) “छन्दोब्राह्मणानि च  
 तद्विषयाणि” (पा०सू०३-२-६६) “तदधीते तद्वेद” (पा०सू०४-२-  
 ५९) । “प्रोक्ताल्लुक्” (पा०सू०४-२-६४) । आयन्नादिषूपदेशेवद्वचनं  
 स्वरसिद्ध्यर्थम् । इह रीशब्द उदात्तः । स्यादेतत्, अस्वरकस्याच्च  
 उच्चारणासम्भवात् सर्व एव स्वरविधिर्नियमार्थः । तत्र चित एवान्तो-  
 दात्तः । रित एव मध्योदात्तः । तिदेव स्वरितः । सुप्पितावेवानुदात्तौ ।  
 दूरात्सम्बुद्धावेवैकश्रुत्यमिति स्वरान्तराणामन्यत्र नियमात्पारिदोष्या-



प्रत्यय आद्युदात्त एव भविष्यति नास्वरकः, नाप्यन्यस्वरकः, तात्कि-  
मनेन सूत्रेणेति चेत् ? मैवम्, उक्तरित्या आद्युदात्तत्वमपि “जित्यादिः”  
(पा०सू०६-१-११७) इत्यादौ नियम्यते । किञ्च त्वदुक्तनियमे चिदादी-  
नामनियमः स्यात्, अतश्चितोऽन्त एवेत्यादि व्याख्येयम् । ततश्च छणा-  
दीनामनियतस्वरत्वं स्यात् । अपिच रित्येवेति नियमेऽन्यत्रोपोत्तमरूप-  
मध्यविशेष उदात्तो मा भूत् । मध्यान्तरं तु स्यादेव । सामान्यापेक्षनि-  
यमे च व्याख्यानमेव शरणीकरणीयं स्यात् । तस्मात्सुत्रारम्भ एवो-  
चितः । स्यादेतत्, “जित्यादिर्नित्यम्” (पा०सू०६-१-१२७) “प्रत्यय-  
स्य च” “लसार्धधातुकमनुदात्तम्” “सुप्पितौ च” इति षष्ठ एव सूच्य-  
ताम् । एवं स्वरप्रकरणे पाठात्सन्दर्भशुद्धिः, आद्युदात्तानुदात्तशब्दयो-  
स्तत्रत्ययोरेवोपजीवनाललाघवं च । नन्वेवं प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तद-  
न्तस्य स्वरः स्यात् । इह तु क्रियमाणे “आद्युदात्तश्च” (पा०सू०३-१-३)  
इत्यस्य प्रतियोगमुपस्थाने सत्युत्पद्यमान एव तव्यादिरुदात्तः, एवं ति-  
वादिरनुदात्तः । अतः प्रत्ययसञ्ज्ञासन्नियोगेन स्वरो विधीयत इति चेत् ?  
मैवम्, षाष्ठत्वेऽपि ज्ञापकेन तदन्तविधिनिराससम्भवात् । तथाहि,  
“प्रत्ययस्य च” इत्यत्र न तदन्तविधिः “जित्यादिः” (पा०सू०६-१-  
१२७) इत्यारम्भात् । “सुप्पितौ च” इत्यत्रापि न, “धातोः” (पा०सू०६-  
१-१६२) इत्याद्यारम्भात् । यदि हि प्रत्ययान्तस्यानुदात्तत्वं स्यात्तर्हि  
धातुप्रातिपदिकयोरन्तोदात्तविधिर्निर्विषय एव स्यात् । यत्र हि  
प्रत्ययोऽनुदात्तो ‘याति’ ‘वृक्षान्’ इत्यादौ, तत्रैव प्रकृतिस्वरः श्रूयते ।  
यातो यान्ति वृक्षत्वं वृक्षतेत्यादौ तु सतिशिष्टेन प्रत्ययस्वरेण बाध्य-  
ते । तस्मात् षष्ठे सूत्रकरणमेवोचितमिति चेत् ? मैवम्, गोपायति  
धूपायतीत्यत्र उत्पत्तिसंनियोगेनाद्युदात्तत्वे कृते ततः “सनाद्यन्ताः”  
(पा०सू०३-१-३२) इति धातुत्वे “धातोः” (पा०सू०६-१-१६२) इत्य-  
न्तोदात्तो भवति । यदि तु “जित्यादिर्नित्यम्” (पा०सू०६-१-१२७)  
“प्रत्ययस्य च” इत्युच्येत । तदा परत्वाद्धातुस्वरं प्रत्ययस्वरो बाधेत ।  
सूत्रस्य सूत्रान्तरेण निमाने फलं वाच्यम् । “सुप्पितौ च” इत्यस्य षष्ठे न्या-  
सोऽप्यनुचितः, तथासति तदन्तविधेर्दुर्वारित्वात् । यत्तु कं प्रकृतिस्वरवि-  
धानं ज्ञापकमिति । तन्न, ‘आस्ते शेते’ इत्यादौ लसार्धधातुकमात्रस्या-  
नुदात्तत्वे सति धातुस्वरस्य साधकाशत्वात् । प्रातिपदिकान्तो-  
दात्तस्यापि अग्निमान् अग्नीनामित्यादौ “ह्रस्वनुद्भ्यां मतुप्”  
(पा०सू०६-१-१७६) “नामन्यतरस्याम्” (पा०सू०६-१-१७७) इति  
स्वरसिद्ध्यर्थत्वात् । तत्र ह्यन्तोदात्तादित्यनुवर्तते ‘तमस्याममधुमन्तम्’



इत्यादौ मा भूदिति । भित्त्वा प्रकरणं सोढ्वा गौरवं चेह सूत्रेण फलं धातुस्वरस्तद्वत्तदन्ताग्रहणं स्थितम् । न च स्वरान्तरमपि, तथाहि, भवितव्यमित्यादौ प्रत्ययोत्पत्तिकाल एवाद्युदात्तत्वे कृते पश्चाद्भवन्निट् अनुदात्तः सिध्यति । अन्यथा तु 'भू-तव्य' इति स्थिते आद्युदात्तत्वं शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यम्, इदं तु स्वरभिन्नस्येत्युभयोरनित्ययोः परत्वादिति कृते तस्यैव प्रत्ययावयवत्वादुदात्तत्वं स्यात् । मैत्रम्, यासुडुदात्तवचनेन 'आगमा अनुदात्ता' इत्यस्यार्थस्य ज्ञापितत्वात् । न च चिनुयादित्यादौ पिङ्गके यासुटि चरितार्थमुदात्तवचनं कथं ज्ञापकमिति वाच्यम्, एवं हि उदात्तो डिञ्चेत्यपहाय अपिञ्चेत्येव ब्रूयात् । 'अपिचव लिङ्' इत्युक्त्वा हि "सार्वधातुकमपित्" (पा०सू०१-२-४) इति डिञ्चमपि सिध्यत्येव । अवश्यञ्चोक्तज्ञापकं त्वयाऽप्यादर्तव्यम् । अन्यथा प्रत्ययसंज्ञासन्नियोगेनाद्युदात्तविधावपि भविषीयेत्यादौ स्वरो न सिध्येत् । तत्र हि लावस्थायामनक्तत्वात्प्रत्ययस्वरे असति परत्वाद्भिन्नशेषविहितत्वाच्च सीयुटि कृते पश्चाल्लादेशे प्रत्ययाद्युदात्तत्वं सीयुट एव स्यात् । ज्ञापकाश्रयणे तु सीयुडनुदात्तः । "इटोऽत्" (पा०सू०३-४-१०६) इत्यकार उदात्तः । न च तित्वात्स्वरितत्वं शङ्क्यम्, तकार उच्चारणार्थो न त्वित्संज्ञकः । इत्संज्ञाऽभ्युपगमपरो वृत्तिग्रन्थस्तु अत्रत्यभाष्यादिविरोधात् 'भक्षीयतवराधस' इत्यन्तोदात्तलक्ष्यविरोधाच्च प्रामादिक इति "नविभक्तौ तुस्माः" (पा०सू०१-३-४) इत्यत्रावोचाम । नन्वेवमपि सीयुटि कृते अकारस्यादित्वं विच्छिन्नं तत्कथमुदात्तत्वमिति चेत् ? यासुट उदात्तवचनेन प्रत्ययाद्युदात्तत्वे कर्तव्ये आगमा अविद्यमानवद्भवन्तीति ज्ञापितत्वात् । तर्ह्यविद्यमानवद्भावमात्रज्ञापनेनोपक्षीणं लिङ्गमागमानामनुदात्ततां न ज्ञापयतीति चेत् ? वाचनिकं तर्हि तदस्तु । तथा च भाष्यम्—“यद्येवं वचनादथापि ज्ञापकादागमा अनुदात्ता भवन्ति” इति । अवश्यं च त्वयाऽपीदं वाच्यम्, भवितव्यमित्यादौ पूर्वमुदात्तत्वे सत्यपि पश्चाद्भवन्निट् ज्ञापकश्च वचनं वाचनिकमित्यनुदात्तो भवेत् शेषनिघातेनेति चेत् ? नायं शेषनिघातस्य विषयः, स्वरविधिशेषत्वात्तस्य । 'यस्मिन्पदे यस्यामवस्थायां यस्याच्च उदात्तः स्वरितो वा विधीयते तस्मिन्पदे तस्यामवस्थायां सन्निहितमजन्तरं निहन्त्यते' इत्यर्थः । न चायं प्रकारोऽत्र सम्भवति । तस्मादिटोऽनुदात्तत्वं नात्र सूत्रारम्भस्य फलमिति स्थितम् । इदं तर्हि फलं 'सुप्ते भवा स्त्रौष्णी' अण उत्पत्तिवेलायामेवोदात्तत्वे सति उदात्तानिवृत्तिस्वरेण डीयुदात्तः । अन्यथा 'स्त्रौष्ण ई' इति स्थिते "प्रत्ययस्य च" इत्या-



द्युदात्तत्वं बाधित्वा परत्वात् “यस्य” (पा०सू०६-४-१४८) इति लोपे कृते उदात्तनिवृत्तिस्वरो न लभ्येतेति चेत् ? मैवम्, परस्यापि यस्येति लोपस्य डीबुत्पत्तिमपेक्षमाणस्य अन्तरङ्गेण बाधात् । तवापि हि आत्रेयीशब्दे इयमेव गतिः । तथाहि, अत्रेरपत्यम् “इतश्चानिजः” (पा०सू०४-१-१२२) इति ढक् । आयन्नादिषु उपदेशिवद्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थमिति प्रत्ययस्वरात्पूर्वमेयादेशः । “टिड्ढा” (पा०सू०४-१-१५) इति डीप् । आत्रेय ई इति स्थिते तद्धितस्य “कितः” (पा०सू०६-१-१६५) इति स्वरं बाधित्वा परत्वात् “यस्य” (पा०सू०६-४-१४८) इति लोपे कृते उदात्तनिवृत्तिस्वरो न स्यात् । तस्मान्नेदं फलमिति स्थितम् । अस्तु तर्ह्यनुदात्तस्यात्र प्रदेशे करणे फलान्तरम् । तथाहि,

पित्स्वरात्तित्स्वरश्चापि चित्स्वरश्चापि पित्स्वरात् ।

कार्यशब्दाद्यापि स्वरितत्वात्प्रागेकादेशे कृते तस्य पूर्वं प्रत्यन्तवद्भावात्तित्स्वरः प्राप्नोति परं प्रत्यादिवद्भावात्पित्स्वरश्च परत्वात्स्वरितो भवति । यदि तु “लसार्वधातुकमनुदात्तम्” “सुप्पितौ च” इत्युच्यते तर्हि परत्वादनुदात्तत्वं स्यात् । एवम् ‘आम्ब’ इत्यत्र यङ्च्वाप्येकादेशे कृते पित्स्वरात्परत्वाच्चित्स्वरो जायते । तदपि विपरीतं स्यादिति चेत् ? मैवम्, ‘कार्या’ इत्यत्र हि टाबुत्पत्तेः प्रागेव स्वरितो भवत्यन्तरङ्गत्वात्सत्यपि वा टापि स्वरितैकादेशयोरुभयोरनित्ययोः परत्वात्स्वरिते कृते आन्तर्यतः स्वरितानुदात्तयोरेकादेशः स्वरित एव भवति । आम्ब-पठ्यायामपि चापश्चित्करणसामर्थ्यादेव चित्स्वरो भविष्यति । सामान्यग्रहणे चित्त्वमुपक्षीणमिति चेत् ? न, एवं हि टाप्प्रकरण एव “यङ्” इति सूत्रयेत् ।

अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा०सू०३-१-४) ॥ पूर्वस्यापवादः । सुप्प्रत्याहारः पिच्च अनुदात्तः स्यात् । प्रत्याहारश्च सुपः पकारेण न तु कपः, टाबोदीनां पित्करणात्, सुपः पकारस्यानन्यार्थत्वाच्च । ढषदः । पठति, पचति ।

गुप्तिङ्किद्वयः सन् (पा०सू०३-१-५) ॥ एभ्यः परः सन्प्रत्ययः स्यात् । “धातोः कर्मणः” (पा०सू०३-१-७) इति सूत्रे वाग्रहणं विभज्य त्रिसूत्रीशेषतया सम्बध्यते । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन प्रथमसूत्रद्वये अर्थविशेषोपहितेभ्य एव धातुभ्यः सन् । स च विशेषो मुनित्रयेण साक्षादनुक्तोऽपि वृत्तिकारादिभिरुपनिबद्धः ।

तत्र गुपेर्निन्दायाम् (का०वा०) । जुगुप्सते ।

तिजेः क्षमायाम् (का०वा०) । तितिक्षते ।



कितेर्व्याधिप्रतीकारे अपनयने नाशने निग्रहे च (का०वा०) । चिकित्सति वैद्यः । “क्षेत्रियचपरक्षेत्रे चिकित्स्यः” (पा०सू०५-२-१२) इति सूत्रे वृत्तिग्रन्थः । क्षेत्रियाणि तृणानि सस्यार्थं क्षेत्रे जातानि चिकित्स्यानि अपनेयानि विनाशयितव्यानि वा । तथा क्षेत्रियः पारदारिकः । परदाराः परक्षेत्रं तत्र चिकित्स्यो निग्रहीतव्यः । विपूर्वः संशयेऽपि-विचिकित्सति मे मनः । “विचिकित्सा तु संशयः” (अ०को०१-५-४) इत्यमरः । अर्थान्तरे तु गोपयति । हेतुमणिञ् । तेजयति । संकेतयति । हेतुमणिञ् चुरादिणिञ्वा । भूवादौ चुरादौ चानयोः पाठादिति न्यासकारः । वस्तुतस्तु सर्वत्र चुरादिणिजे व न तु हेतुमणिञ् इत्यनुपदमेव स्फुटीकरिष्यामः । इह गुपितिजिभ्यां सन्नन्ताभ्यां कथं तडित्याशङ्क्य अवयवे ह्यचरितार्थं लिङ्गं सामर्थ्यात्समुदायस्य विशेषकमिति भाष्ये समर्थितम् । युक्तं चैतत्, भवादौ अनुदात्तेऽसुगुप गोपने “तिज निशाने” (भ्वा०आ०९५, ९६) इत्यनयोः पाठात् । मैत्रेयस्तु तत्रैव ‘गुप गोपनकुत्सनयोः’ इति पपाठ । एषां च नित्यं सन् । तथा च भाष्यम्—“नैतेभ्यः प्राक्सन आत्मनेपदं नापि परस्मैपदं पश्यामः” इति । एवं च ‘गोपते’ ‘तेजते’ इति स्वाभ्युक्तः केवलात्तडः प्रयोगः प्रत्युक्तः । नन्वेवं गोपयति तेजयतीति णिजन्तेऽपि तड्प्रसङ्गः । सन्नन्ते तडं प्रवर्त्य अनुदात्तेत्वं चरितार्थमिति चेत् ? णिचि प्रवर्त्यतां न तु सनीति विपरीतं कुतो न; इति चेत् ?

अत्रोच्यते, भिन्नार्था धातवो भिन्ना एव । एवं च निन्दाक्षमादौ यत्रार्थे सन्निध्यते तदुपहिताः सानुबन्धा भवादयो भिन्ना एव, यत्र तु णिजिष्यते तत्रानुबन्धका एव चुरादौ बोध्याः । अवयवे कृतं लिङ्गमिति भाष्यस्यायमेवाशयः । स्पष्टं चेदं “पूर्ववत्सनः” (पा०सू० १-३-६२) इति सूत्रे पदमञ्जरीम् । एवञ्च भ्वादिभ्यो हेतुमणिजिति प्रागुक्तन्यासग्रन्थोऽसङ्गत एव ।

अत्राभरणकारः—गुपादिसूत्रे गुप्तिज्जकिन्मानित्युपक्रम्य गुपादि-स्वनुबन्धकरणमात्मनेपदार्थमिति भाष्ये वार्तिके चोक्तत्वात्कितिः परस्मैपदिषु पठितोऽप्यात्मनेपदी बोध्यः । न च गुपादिष्विति बहुवचनं वक्ष्यमाणमानुबन्धाद्यपेक्षमिति वाच्यम्, भाष्ये विशिष्य कितेरप्युपक्रमदित्याह । एतदनुसारी वर्धमानोऽपि “स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु” इति खण्डनस्य व्याख्यावसरे “चिकित्सतामिति तु युक्तम्” इत्याह । माधवस्तु नैतन्मेने, अनेकमहाग्रन्थविरुद्धत्वात् । तथाहि, धातुपाठे तावदयमुदात्तेऽपि वृत्तिकारोऽपीह परस्मैपदमुदाजहार । कैयटोऽ-



प्याह-क्रमदर्शनाय कितिः पठितो न त्वयमनुदात्तेदिति । हरदत्तोऽप्याह 'कितिस्तु परस्मैपदी' इति । स्वामी काश्यप इन्द्रश्चेत्यादयोऽपीत्यमेव प्रत्यपीपदन् । तस्मात् श्रीहर्षोक्तिरेव युक्ता वर्धमानोक्तिरयुक्तेति दिक् ।

तथा च प्रयुज्यते—तस्य चिकित्सतो भ्रम एवं विद्वान्विचिकित्सतीत्यादि । सनो नकारः स्वरार्थः । धातुस्वरस्तु न भवति नित्करणसामर्थ्यात् । यः स्तोतारं जिघांसति सखायम् । न चार्धधातुके अतोलोपेन भाव्यम्, सार्वधातुके तु शपा सहैकादेशन, तथा च सनोकारो मास्त्विति चेत् ? न, दित्सधित्सादिभ्य एकाच्चेत्यङ्प्रसङ्गात् 'दित्स्यम्' 'धित्स्यम्' इत्यत्र ण्यप्रसङ्गाच्च । 'कास्यनेकाङ्ग्रहणं चुलुम्पाद्यर्थम्' इति वार्तिकस्य प्रत्ययग्रहणमपनीयानेकाङ्ग्रहणं कर्त्तव्यमित्येवंपरत्वेन 'दित्साञ्चके' इत्याद्यसिद्धयापत्तेश्च । एतेन सन्यङोरिति सप्तमी व्याख्याय 'प्रतीषिषति'—'अट्ठत्यते' इत्यादौ तु सन्यङोरकारोच्चारणसामर्थ्यादुद्धित्वमिति वदन्तः प्रसादकारादयः परस्ताः, उक्तरीत्या अकारोच्चारणस्य चरितार्थत्वात् । न्यासहरदत्तादिग्रन्थास्तु सन्यङोद्धित्वमपि फलमित्येवंपराः । ते च षष्ठीव्याख्यानमेव गृहीत्वा योज्या इति दिक् ।

मानबधदानशान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य (पा०सू०३-१-६) ॥ एभ्यः सन्स्यात् अभ्यासस्य इकारस्य दीर्घश्च । अत्रापि पूर्ववदर्थविशेषोपहितेभ्यः सानुबन्धेभ्यो नित्यः सन् । अर्थान्तरोपहितानि तु धात्वन्तराणि चुरादौ बोद्धव्यानीति निष्कर्षः । तत्र—

मानेर्विचारे (का०वा०) । मीमांसते । ननु ज्ञानार्थान्मानेरुत्तरसूत्रेणैव सन्नस्तु, मैवम्, दीर्घविधानार्थमिडभावार्थञ्चास्यावश्यकत्वात् । धातोरित्यविधानाद्धि सनोऽत्र नार्धधातुकत्वमतो नेट् । यत्तत्तरतन्त्रे वाचस्पत्यादौ मीमांसाशब्दो 'माङ् माने' (दि०आ०३६) इत्यस्माद्व्युत्पन्न इत्युक्तम्, तस्यायमाशयः—इह सन्प्रकृतिस्तावदात्मनेपदाहञ्चुरादिकाङ्गिष्वेवेति स्थितम् । तत्र "मान पूजायाम्" इत्यादिवृत्तिकारग्रन्थो भङ्क्त्वा व्याख्येय एव । न हि तस्मादयं सन् । एवं स्थिते सन्प्रकृतिरनुदात्तेकैवेत्यत्र मानाभावात्, ङीदेव सास्तु, नुक्सूत्रे च निपात्यतां मुण्डमिश्रादि पा०सू०३-१-२१) सूत्रे हलिकल्योरदन्तत्ववत् । न च वैयाकरणानामुपायेष्वाग्रहः,

उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः । इत्युक्तेः ।

न चैवं "सनिमीमा" (पा०सू०७-४-५४) इतीम्प्रसङ्गः, ष्वादिसाहचर्येणञ्छासन्धेव ताद्विधानात् इति ।



बधेश्चित्तविकारे (का०वा०) । बीभत्सते ।

दानेरार्जवे (का०वा०) । दीदांसते ।

शानेर्निशाने । (का०वा०) । निशानं तीक्ष्णिकरणम् । शीशांसति, शी-  
शांसते । चुरादीनां तु-मान पूजायाम् (चु०प०३११) मानयति । बध-  
बन्धने (चु०प०७४) बाधयति । दान अवगुण्ठने (भा०प०१०१२) दानयति । शान तेजने (भा०प०१०२०) शानयति । अत्र सन्प्रकृ-  
तिभूतौ मान्बधी अनुदात्तौ, शेषौ स्वरिते तौ । चुरादयस्त्वननुबन्धाः ।  
ननु त्रयाणामर्थभेदाद्भेदोऽस्तु शानेस्तु णिचसुनोरर्थक्यात्कथं भेद इति  
चेत् ? धुनाति धुनोत्यादीनामिवेति गृहाण । स्यादेतत्, इह दीर्घश्रुत्या  
अच इत्युपस्थितं तच्चेदभ्यासेन विशेष्यते तदा अभ्यासस्याचो विधी-  
यमानो दीर्घो हलादिशेषात्प्राक् स्यात् । अत्रा अभ्यासविशेषणे तु अज-  
न्तस्याभ्यासस्य विधीयमानो हलादिशेषं प्रतीक्षतां ततोऽधिकस्य प्रती-  
क्षायां कारणाभावात् विशेषविहितत्वाच्च समनन्तरमेव भवन् बधेरि-  
त्वस्य शेषाणां ह्रस्वस्य च बाधकः स्यात् । ततश्चाभ्यासे आकारः श्रूयेत  
नत्वीकार इति चेत् ? सत्यम् । अत एव आभ्यासस्येति च्छेदः कृतः ।  
अभ्यासस्य विकार आभ्यासः, स चेत्वमेव । तथाहि लोपस्तावन्नवि-  
कारः, लोपागमवर्णविकारश्च इति पस्पशायां द्वौ चापरौ वर्णविकार-  
नाशाविति वार्तिके च, पृथगुपादानात् । अभावस्यादेशविधानायोगा-  
च्च, अच इत्युपस्थितेश्च । यदि तु ह्रस्वस्य स्यात्तर्हि तद्धितनिर्देशो  
व्यर्थः स्यात् । तस्मादित्वमेव तद्धितेन प्रत्याख्यते । यद्वा, सन्याहत्य  
विहितस्य विकारस्य ग्रहणमस्तु । तदेतदभिसन्धाय व्याख्यातं प्राक्  
'आभ्यासस्य विकारस्य' इति । अथ वा "दीर्घोऽकितः" (पा०सू०७-४-८३)  
इत्यादिङ्ग्रहणेन अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्तीति ज्ञाप्य-  
ते । तद्धि 'यंयस्यते' 'रंरस्यते' इत्यादौ लुकि कृते मा भूदिति कृतम् । वि-  
शेषविहितेन नुका अनजन्तत्वादेव दीर्घो न भविष्यतीति किं तेन ? अत  
एव 'डोढौक्यते' 'तोत्रौक्यते' इत्यादौ ह्रस्वे कृते गुणो भवति । अन्य-  
था 'बबाधे' इत्यादौ चरितार्थं ह्रस्वत्वं 'पापच्यते' इत्यादौ चरितार्थो  
दीर्घः परत्वाद् बाधेत ।

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (पा०सू०३-१-७) ॥  
इषेः कर्म तेनैव च समानकर्तृको यो धातुः तस्मादिच्छायामर्थे सन्प्रत्य-  
यो वा स्यात् । धातोः कर्मत्वसमानकर्तृकत्वे अर्थद्वारेके बोधये । अर्थ-  
स्यापि ते इषिनिरूपिते एव न तु क्रियान्तरनिरूपिते, इच्छायामित्यस्य  
सन्निधानात् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । धातोः किम् ? सन आर्द्धधा-



तुक्तत्वं यथा स्यात् । तेन यथायथमिदं गुणौ स्तः । अन्यथा 'जुगुप्सते'  
इत्यादाविव न स्याताम् । कर्मणः किम् ? गमनेनेच्छतीत्यर्थे 'जिगमिषति'  
इति मा भूत् । समानकर्तृकात्मिकम् ? देवदत्तकर्तृकं भोजनमिच्छति  
यज्ञदत्तः । इच्छायां किम् ? कर्तुं जानाति । वाचचनाद्वाक्यमपि । न  
च "समानकर्तृकेषु तुमुन्" (पा०सु०३-३-१५८) इति तुमुन्विधान-  
सामर्थ्यादेव वाक्यं सिद्धमिति वाच्यम्, चिकीर्षितुमिच्छतीत्यत्र चरि-  
तार्थत्वात् । न ह्यत्र सनः प्रसङ्गः, सन्नन्तान्न सन्नितिवक्ष्यमाणत्वात् ।

आशङ्कायामुपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ कूलं पिपतिषति । श्वा मु-  
मूर्षति । शङ्के पतिष्यति कूलम् । शङ्के मरिष्यति चेत्यर्थः । आशङ्का स-  
म्भावना तद्विशिष्टक्रियावचनात्स्वार्थं सन्निति कैयटादयः । शङ्काविशि-  
ष्टयोः पतनमरणयोर्लङ्घ्यवर्त्तमानत्वान्वये 'स्वर्गी ध्वस्त' इत्यादावि-  
व विशेषणीभूतशङ्कायां वर्त्तमानत्वपर्यवसानं बोध्यम् । प्रत्याख्यानं तु  
यो यदिच्छति स तस्य पूर्वरूपाणि करोति यथा-देवदत्तः कटं चि-  
कीर्षुः पूलादीन्युपादत्ते । एवं कूलस्यापि लोष्टविशरणादीन्युपलभ्य  
पतनेच्छाऽध्यारोप्यते । यद्वा, सन्विधायके सूत्रे इच्छाशब्दो गौणमुख्य-  
साधारणः । गौणमुख्यन्यायस्तु लक्ष्यानुरोधात्स्वरितत्वाच्च नाश्रयिते ।  
अत्र भाष्यम्--

शेषिकान्मतुबर्णीयाच्छेषिको मतुबर्धिकः ।

सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥

अयं श्लोक इह सूत्रे मतुविवधौ च भाष्ये पठितः । अस्माभिस्तु चतु-  
र्थे "शेषे" (पा०सु०४-२-१२) इति सूत्रे ज्ञापितोऽयमिति तत्रैव व्याख्यास्यते ।  
एतद्व्याख्यानपराः प्रकृतसूत्रस्थकैयटहरदत्तादिग्रन्थाः पाञ्चमिकभाष्य-  
विरुद्धा इति तत्रैव वक्ष्यते । इह सन्प्रसङ्गादन्योऽप्यनिष्टः प्रत्ययो वारि-  
तः । प्रकृतोपयुक्तं तु "सन्नन्तान्न सनिष्यते" इति । सरूप इत्येव । सारूप्यं  
चात्र सादृश्यम् । तच्चार्थद्वारकम् । तेन चिकीर्षितुमिच्छतीतीच्छासन्न-  
न्तान्नेच्छासन् । स्वार्थसन्नन्तान्तु स्यादेव । जुगुप्सिषते । मीमांसिषते ।  
एतच्च न्यायसिद्धम् । तथाहि, लक्ष्यवशादिह जातिः पदार्थः । तत्र च  
सकृदलक्षणं प्रवर्त्तते इति सन्प्रवृत्तेः प्राक् तदन्तप्रकृत्यसम्भवात्तदन्ता-  
त्प्रत्ययस्य प्रसङ्ग एव नास्तीत्याहुः । एवं तु यद् सन् प्यन्तात्सनि बो  
भूयिषयिषतीत्यादि बहूनां लेखनं विरुध्यते । तस्माद्वाचनिकः सन्नन्तात्त-  
दभाव इत्येव सारम् । इह यो ग्रामं गन्तुमिच्छति तस्य यद्यपि ग्रामो  
न स्वरूपेणेष्टः ग्रामो मे स्यादिति, तथापि गम्यमानतारूपेणेष्ट एव ।  
अत एव ग्रामो जिगंस्यते जिगमिषितव्यः जिगमिषितः सुजिगमिष



इति सन्नन्ताङ्गामे कर्मणि लादयो भवन्ति । गमनं प्रति कर्मत्वमप्य-  
स्त्येव । अत एव ग्रामं ग्रामाय वा जिगमिषतीत्यत्र “गत्यर्थकर्मणि”  
(पा०सू०२-३-१२) इति द्वितीयाच्चतुर्थ्यौ भवत इति भाष्ये स्थितम् ।  
एवं च ग्रामो गमनं चेत्युभयमिषेः कर्म “शक्यं च क्षुदुपहन्तुम्” इति प-  
रुपशायां भाष्यस्य तत्रत्यकैयटस्य च पर्यालोचनया क्षुत् उपहननं चे-  
त्युभयं शकेः कर्मेति स्थितम् । एवं च गन्तुमिष्यते शक्यते चेति प्र-  
योगे ग्रामो ग्रामं चेत्युभयमपि विवक्षाभेदेन साधु । प्रथमान्तस्य हि  
इषिशकिभ्यां कर्मत्वेन शाब्दोऽन्वयः, गमिना त्वार्थः । द्वितीयान्तस्य  
तु गमिं प्रति कर्मत्वं शाब्दम्, इषिशकी प्रति तु विशिष्टस्य वैशिष्ट्यं,  
विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरमिति वा बोध्यम् । एतेन इषि-  
शकी च द्विकर्मकौ भाष्ये स्थिताविति माधवग्रन्थो व्याख्यातः । कि-  
न्तु एतदुपपद्यते “अयाचितारं नहि” इति श्लोके देवदेवस्य शकिक-  
र्मत्वं यदुपपादितं तच्चिन्त्यम् । उक्तरीत्या हि सुतां ग्राहयितुमिति  
द्वयं कर्मास्तु, गृह्णातिकर्तुस्तु शकिकर्मतायां कः प्रसङ्गः ?

इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयस्याध्यायस्य

प्रथमे पादे प्रथममह्निकम् ॥



सुप आत्मनः क्यच् (पा०सू०३-१-८) ॥ कर्मण इच्छायां वेति व-  
र्तते । इषिकर्मण एषितृसम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छावामर्थे क्यच् प्रत्ययो  
वा स्यात् । आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । आत्मशब्दोऽत्र परस्यावृ-  
त्तिपरः स्वशब्दपर्यायो गृह्यते न तु चेतनमात्रवचनः । तथात्वे हि स  
इच्छां विशेषयेत् सुबन्ते वा ? आद्येऽपि आत्मन इति कर्तरि षष्ठी चेत् ?  
आत्मा चेदिच्छतीति तर्हि पर्यवस्येत । तथा च व्यर्थविशेषणता, नह्य-  
नात्मा इच्छति । कर्मषष्ठ्यां तु “अश्वक्षीर” (पा०सू०७-१-५१) इति सुत्रं  
न सङ्गच्छेत, क्षीरादिभ्यः क्यचो दुर्लभत्वात् । द्वितीयेऽपि व्यर्थवि-  
शेषणतैव । परस्यापि हि इष्ट्यमाणः चेतनसम्बन्धी भवत्येव । तस्माद्य-  
थोक्तमेव साधु । स्वस्य यत्सुबन्तमित्यत्र तु कस्य स्वस्येत्यपेक्षायां  
इच्छया एषितुः संनिधापितत्वात् तस्यैवेति लभ्यते । न चैवमपि आ-  
त्मनः पुत्रं परस्य स्वामिनमिच्छतीत्यत्र प्रसङ्गः, सुबन्तस्यात्मसम्ब-  
न्धित्वादिति वाच्यम्, नह्यत्र यथाकथञ्चिदात्मसम्बन्धित्वं विवेक्षि-  
तम्, किं तर्हि इष्ट्यमाणं रूपमात्मसम्बन्धित्वेन यदेष्यते तदा प्रत्ययः ।  
इह त्वात्मीयत्वेन नेच्छा किन्तु परस्वामित्वेनेति न दोषः । सुब्रह्मणं



पदाविधित्वार्थम् । तेन समर्थपरिभाषोपस्थानान्महान्तं पुत्रमिच्छतीत्या-  
दौ सापेक्षान्न भवति । अन्यथा महान्तं पुत्रीयतीति स्यात् । न च सुब्रह्मणं  
विनाऽपि कर्मण इत्यनेनैव पदविधित्वं लभ्यतामिति वाच्यम्, यत्र हि पद-  
स्यासाधारणं रूपमाश्रीयते स पदविधिः । कर्मत्वं तु अपदेऽपि दृश्यते धातोः  
कर्मण इति यथा । कथं तर्हि “कर्मण्यण्” (पा०सू०६-२-१) इत्यादौ पदवि-  
धित्वमिति चेत् ? उपपदसञ्ज्ञाया अन्वर्थत्वबलादिति गृहाण । महा-  
पुत्रीयतीति तु महापुत्रीमिच्छतीति विग्रहे बोध्यम् । आत्मनः किम् ?  
राज्ञः पुत्रमिच्छति पुरोहितः । नन्वसामर्थ्यादेवात्र न भविष्यतीति  
चेत् ? तर्ह्यात्मनः पुत्रमिच्छतीत्यत्रापि न स्यात् । ननु लौकिकविग्रहे  
आत्मन इति प्रयोगेऽपि अलौकिके प्रक्रियावाक्ये केवलात्पुत्रशब्दात्  
कयजिति चेत् ? तर्हि तथैव परकीयपुत्रेच्छायामपि स्यादिति गृहाण ।  
किञ्च पुत्रशब्दस्य नित्यसापेक्षत्वान्नासामर्थ्यम् । अपिच यत्रार्थादेव  
परकीयत्वं गम्यते तत्र परस्येति प्रयोगाभावात्स्पष्टैवातिव्याप्तिः । अथ-  
मिच्छतीति यथा । न हि कश्चिदात्मनोऽघमिच्छति । कथञ्चः ककारो  
“नः कये” (पा०सू०१-४-१५) इति सामान्यग्रहणार्थः । ‘ये’ इत्युक्ते हि  
‘सामसु साधुः सामन्यः’ अत्रापि स्यात् । चकारस्तद्विधातार्थः । स्वर-  
स्तु प्रत्ययस्वरेण धातुस्वरेण वा सिद्धः । अकारस्तु यद्यपि न श्रवणार्थः,  
आर्द्धधातुकेषु लोपात्सार्वधातुकेषु शपा गतार्थत्वात्, तथापि गुण-  
वृद्धिनिषेधार्थः सः । तथाहि, समिधं दृषदं वेच्छति समिष्यति,  
दृषद्यति । ततो ण्वुल् “अतो लोपः” (पा०सू०६-४-४८) । “यस्य हलः”  
(पा०सू०६-४-४१) । “कयस्य विभाषा” (पा०सू०६-४-५०) । सामिधकः ।  
दृषदकः । अत्रालोपस्य स्थानिवद्भावात् “पुगन्त” (पा०सू०७-३-८६)  
इति गुणः “अत उपधायाः” (पा०सू०७-२-११६) इति वृद्धिश्च न भव-  
ति । किञ्च मृदमिच्छति मृद्यति । मृद्यतेः “अचो यत्” (पा०सू०३-१-  
९७) अतोलोपादि पूर्ववत्-मृद्यम् । “यतोऽनावः” (पा०सू०६-१-२१३)  
इत्याद्युदात्तत्वम् । अपिच ‘पुत्रीयाति’ इत्यादौ शपोऽनुदात्तता स्यात् ।  
शपा सहैकादेशो तु स उदात्तो भवति । अपिच मृद्यतेरनेकाच्चाद्य-  
ङोनुत्पत्तिर्नास्तिप्रत्ययश्च कलमिति दिक् ।

कयञ्चि मान्ताव्ययावां प्रतिषेधः (का०ब्रा०) ॥ मान्तश्चाव्ययं चेति  
द्वन्द्वः, तेन तत्प्रकृतिकं लभ्यते । मान्तप्रकृतिकादव्ययप्रकृतिकाच्च सुब-  
न्तान्न कयजित्यर्थः । यथाश्रुते तु पुत्रमिच्छतीत्यादौ कयज् न स्यात्  
कयमिच्छति काविच्छतीत्यादौ च स्यात् । इदमिच्छति स्वरिच्छति ।  
गोसमानाक्षरनान्तादित्येके गोमिच्छति गमयति-“वान्तो यि प्रत्यये”



(पा०सू०६-१-७९) । दधीयति, मधूयति-“अकृत्सार्व” (पा०सू०७-४-३५) इति दीर्घः । कर्त्रीयति, हर्त्रीयति-“रीङ्कृतः” (पा०सू०७-४-२७) । राजीयति, तक्षीयति-“नः कये” (पा०सू०१-४-१५) पदत्वान्नलोपे “क्यचि च” (पा०सू०७-४-३३) इतीत्वम् । “नलोपः सुप्स्वर” (पा०सू० ८-२-२) इति नियमान्नासिद्धत्वम् । अस्मिन्पक्षे ‘वाचयति’ ‘मृद्यति’ इत्यादि न सिञ्चोदिति नायं स्थितः पक्ष इत्याहुः ।

छन्दसि परेच्छायामपि (का०वा०) । जहि यो नो अधायति । मा त्वा वृका अधायवो विदन् । ज्ञापकात्सिद्धमायदयं क्यचि प्रकृतेरीत्ववाधनार्थम् ‘अध्वाघस्याऽऽत्’ (पा०सू०७-४-३७) इत्याकारं शास्ति । न हि कश्चिदात्मनोऽयमिच्छति । न चाचारक्यजन्यं तत्, छन्दसि अधशब्दादाचारे क्यचोऽदर्शनात्, उदाहृतस्थले इच्छार्थस्यैव प्रतीतेरित्याहुः । क्यजन्येषु प्रकृत्यर्थो यद्यपि कर्म तथापि तस्य धात्वर्थान्तर्भावात् जीवतिनृत्यतीत्यादिवदकर्मक एवेच्छाक्यजन्तः । अतोऽस्माद्भावे कर्तरि च लादयः । आचारक्यजन्ते तु पुत्रादेरुपमानकर्मणो धात्वर्थान्तर्भावेऽपि छात्रादेरुपमेयकर्मणोऽनन्तर्भावात्तस्मिन्कर्मणि लादयो भवन्त्येव । ‘पुत्रीयते छात्रः’ ‘पुत्रीयितव्यः’ इत्यादि यथा, ‘इयेनायते काकः’ इत्यत्र उपमानकर्तुरन्तर्भावेऽपि उपमेयकर्तरि लो भवति तद्वत् । ननूकरीत्या मुण्डं करोति मुण्डयति माणवकमिति न सिध्येत्, णिजन्ते मौण्ड्यगुणविशिष्टत्वेनैव कर्मान्तर्भूतं न तु माणवकत्वादिना विशेषेणेति यदि, तर्हि तथैव मुण्डमिच्छति मुण्डयति माणवकमित्यपि स्यात्, सापेक्षत्वेनासामर्थ्यान्न क्यजिति चेत्तर्हि तत एव णिजपि न स्यात् । तस्मात् णिक्क्यचोर्विशेषो वक्तव्य इति चेत् ? उच्यते, “तत्करोति” (ग०सू०) इति णिचि सिद्धे “मुण्डमिश्र” (पा०सू०३-१-२१) इति पुनर्विधानं सापेक्षेभ्योऽपि यथा स्यादित्येवमर्थमेव । क्यच् तु निरपेक्षेषु चरितार्थ इति स्पष्ट एव विशेषः । यद्वा, कण्डवादिष्वत् मुण्डादयो द्विविधाः । धातवः प्रातिपदिकानि च । तत्र सौत्रा एते विशिष्टक्रियावचना धातवः । तेभ्यश्चुरादिवत्स्वार्थे णिच् । प्रातिपदिकानां तु विग्रह एव । माणवकं मुण्डं करोतीति । अथवा मुण्डयतीत्यत्र कमिति विशेषाकाङ्क्षा अनुभवसिद्धा । मुण्डस्यैव वा शुद्धेन करोतिनाऽन्वयः । मौण्ड्यविशिष्टेन तु माणवकस्य । यथा ‘गां दोग्धि पय’ इतिशुद्धस्य दुहेः पूर्वं गवा सम्बन्धः, पश्चात् गोदुहिना पयसः । क्यच्प्रत्ययस्तु अनभिधानान्न भवति । माणवकं मुण्डयतीत्युक्ते मुण्डमिवाचरतीत्यर्थान्तरमेव गम्य-



ते । तदुक्तं हरिणा—

सदपीच्छाक्यचः कर्म तदाचारक्यचाहृतम् ।

वाक्यवाच्यमतो व्यक्तेर्यथाऽभ्यासः क्रमादिषु ॥ इति ।

अस्यार्थः—सदपि न्यायतः सम्भवदपीच्छाक्यचः कर्म वाक्यवाच्यं माणवकं मुण्डमिच्छतीत्येवं रूपेण बोधनीयम्, न तु क्यजन्तेन, यत आचारक्यचा हृतं निरवकाशिकृतम्, तदर्थस्यैव निरुद्धेः । आचारक्यचा हरणे वाक्यवाच्यत्वे वा हेतुमाह—अतो व्यक्तेरिति । अतोऽस्मात् क्यचो व्यक्तेराचारार्थस्यैव प्रतीतेः । अतो वाक्यादिच्छाकर्मणः प्रतीतेरिति वा । यथा क्रमादिषु गत्यर्थेषु अभ्यासः पौनःपुन्यं वाक्येनैव गम्यते न तु यडा, कौटिल्ये निरुद्धेः । उक्तं च प्रकीर्णकाण्डे—

सदपीच्छाक्यचः कर्म वाक्य एव प्रयुज्यते ।

प्रसिद्धेन हतः शब्दो भावगर्हाभिधायिना ॥

अभ्यासे तुल्यरूपत्वान्न यङन्तः प्रवर्तते । इति ॥

एतेन यथेति क्रमादिषु यथा वेदादिविषयोऽभ्यासो व्यज्यते तथा वाक्ये इच्छाक्यचः कर्मैत्यर्थः । अथवाऽभ्यासक्रमादिष्वित्येकं पदम्, अभ्यासेन वर्णक्रमादिविषयाभिव्यक्तिर्भवति तथा वाक्येन कर्मत्वविषयाभिव्यक्तिरित्यर्थ इति विवरणं प्रत्युक्तम् ।

अत्र भाष्ये क्यजन्तस्य 'इष्टः पुत्रः' 'इष्यते पुत्रः' इत्यादयो विग्रहा निराकृताः । तस्यायमाशयः—यद्यपि वृत्तिवाक्ययोरत्यन्तसमानार्थकता नास्तीत्यदूरविप्रकर्षेणैव सर्वत्र विग्रहः, तथापि सुसदृशसम्भवे मन्दसदृशोपादानमन्यायम् । इच्छाक्यजन्तस्य चाकर्मकतया कर्मप्रत्ययान्तैर्विग्रहोऽनुचितः, निरर्थकाधिकावापापत्तेरिति । अत एव बाहुलकात्कर्मणि क्बन्तस्य श्रीशब्दस्य 'श्रीयते' इत्येव विग्रहो न्याय्यो न तु श्रयन्त्येतामिति कर्त्रर्थतिङन्तेनेति मान्याः । यदि तु कर्तरि क्प् तर्हि श्रयतीत्येव विग्रह इत्यन्यदेतत् । एवं च श्रयन्त्येतामित्यत्र किं शब्दाशुद्धिरर्थाशुद्धिर्वैत्यादिवलग्नमत्रत्यभाष्यापर्यालोचनमूलकत्वादुपेक्ष्यम् ।

अथ नामधातुषु प्रतिसूत्रं लेशतः प्रक्रिया व्युत्पाद्यते । पुत्रीयतीत्यादौ अलौकिके प्रक्रियावाक्ये सन्धिकार्यैरहितात्पुत्र अमित्यस्मात्क्यचि सुपो लुक् "अन्तरङ्गानपि" (पा०भा०५३) इति न्यायात् । ततो "क्यचि च" (पा०सु०७-४-३३) इतीत्वम्, अइवस्यति । वृषस्यति । क्षीरस्यति । लवणस्यति । "अइवक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि" (पा०सु०७-१-५१) इत्यसुगागमः । अत्रात्मप्रीतावित्यपनीय "अइववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्" "क्षीरलवणयोर्लासयाम्" इति वक्ष्यते । तेनाद्ययोरुदाहरण-



योरश्ववृषयोर्मैथुनायेच्छतीत्यर्थः । अन्ये तु परित्यक्तप्रकृत्यर्था मैथुने-  
च्छैवार्थ इत्याहुः । तथा च कालिदासः--

इति रामो वृषस्यन्ती वृषस्कन्धः शशास ताम् । इति ।

निघण्टुश्च-वृषस्यन्ती तु कामुकी' इति । इतरयोरपि तृष्णातिरेको  
ऽभ्यवजिहीर्षातिरेको लालसा, तेन क्षीरलवणेच्छायां लालसारूपाया-  
मित्यर्थलाभात् क्षीरलवणे अतिशयेन अभ्यवहर्तुमिच्छतीत्यर्थः । अत्र  
प्रकृत्यसुगकारयोः सवर्णदीर्घं बाधित्वा "अतो गुणे" (पा०सू०६-१-९७)  
इति पररूपम् । अकारोच्चारणं तु पूर्वसूत्रोदाहरणे 'ब्राह्मणासः' इत्यादौ  
कृतार्थम् । तथा "सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायमसुग् वक्तव्यः" इत्य-  
नकारान्तादसकि दध्यस्यतीत्यादौ च सुगसुकौ च दधिमधुभ्यामेव  
स्तः, भाष्ये "दधिस्यति मधुस्यतीत्येवमर्थम्" इत्युक्तेरित्येके । अन्ये तु  
सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके इति सर्वग्रहणाद्वहुवचननिर्देशाच्च सर्वत्र  
स्तः । एवमर्थमिति तूदाहरणान्तराणामप्युपलक्षणमिति वदन्ति ।

अशनोदकधनेभ्यः क्यचि "अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासा-  
गर्धेषु" (पा०सू०७-४-३४) इत्यशनधनयोश्चित्वापवाद आत्वम् उदक-  
स्योदन्नादेशश्च । अशनायति । सद्यो भोक्तुमशनमिच्छतीत्यर्थः । बुभु-  
क्षायां किम् ? अशनीयति । औत्तरकालिकमशनमिच्छतीत्यर्थः । उद-  
न्यति । पातुमुदकमिच्छतीत्यर्थः । उदकीयति । स्नानार्थमुदकमिच्छ-  
तीत्यर्थः । धनायति, सत्यपि धने भूयोऽपीच्छतीत्यर्थः । धनीयति । दरिद्रः  
सन् धनमिच्छतीत्यर्थः । केचित्तु अशनादिप्रकृत्यर्थमनपेक्ष्य केवलं  
बुभुक्षादीनेव क्यजन्तस्यार्थान् मन्यन्ते । तथाच निघण्टुः--"उदन्या तु  
पिपासा तृद्" इति । भारविश्च--"किमु धनं धनायितुम्" इति । गार्ग्य-  
मिच्छति गार्गीयति । अत्र "क्यच्छयोश्च" (पा०सू०६-४-१५२) इति  
हल उत्तरस्य आपत्ययकारस्य लोपः । उपर्षभीयति, उपर्षभीयति ।  
उपालकारीयति, उपलकारीयति । अत्र "वा सुप्यापिशलेः" (पा०सू०६-१-  
९२) इति वृद्धिविकल्पः । पक्षे गुणः । न च पक्षे "ऋत्यकः" (पा०सू०६-  
१-१२८) इति प्रकृतिभावः शङ्कनीयः । वा सुपीत्यत्र हि "उपसर्गा-  
इति धातौ" (पा०सू०६-१-९१) इति सम्पूर्णमनुवर्त्तते । तत्र "यत्क्रिया-  
युक्ता" इति न्यायेनोपसर्गग्रहणादेव धाताविति लब्धे पुनर्धातु  
ग्रहणं योगविभागेनाधिकविधानार्थं सत्प्रकृतिभावं बाधत इति  
षष्ठे वक्ष्यमाणत्वात् ।

उपगता ऋषभीयका अमुं देशम् उपर्षभीयको देशः । इह  
गुणप्रकृतिभावौ न तु वृद्धिः, गमिभ्योपसर्गत्वेऽपि सुञ्चातुं प्रत्यत-



थात्वात् । न च “उपसर्गाद्ध्वनः” (पा०सू०५-४-८५) इत्यादा-  
विव प्राद्युपलक्षकत्वम्, तत्रेवात्र मुख्ये बाधकाभावात् । ऋषभ-  
स्य समीपमुपर्षभं तदिच्छति उपर्षभीयति । अत्रापि गुणप्रकृतिभावौ  
न तु वृद्धिः, पूर्ववत् । स्यादेतत् “धातुसंज्ञानिमित्ते प्रत्यये चिकीर्षिते  
उपसर्गाः पृथक् क्रियन्ते” इति तावद्वक्ष्यते ‘उदमनायत’ ‘उन्मनाय्य  
गतः’ ‘उन्मिमनायिषते’ इति अद्वयपृद्विर्वचनानि यथा स्युरिति । एवं  
चेहापि ऋषभशब्दादेव क्यच् । तेन-उपार्षभीयत्, उपर्षभीय्य, उपेन  
प्रादिसमासः । उपार्षिषभीयिषति इत्यादि सिध्यतु, वृद्धिस्तु कुतो नेति  
चेत्, ? ऋषभीयतेरिह सुब्धातुत्वाभावात् । “प्रत्ययग्रहण” (प०भा०२३)  
परिभाषया हि उपर्षभशब्दोऽत्र सुबन्तः, न तु केवल ऋषभशब्दः । त-  
दिह यः सुबन्तो नासौ धात्ववयवः, यश्च धात्ववयवः नासौ सुबन्तः,  
किञ्चोपसर्गत्वाभावादपि न वृद्धिः । अत एव “व्यवर्थं प्रादिसमासः”  
इत्युक्ते न तु ‘गतिसमासः’ इति । न च सोऽपि क्त्वान्तेनासामर्थ्यात्क-  
थमिति वाच्यम्, प्रकृत्येकदेशद्वारकस्य विशिष्टेन सामर्थ्यस्य क्तसु  
सर्वत्र वाच्यत्वात् । न चोक्तरीत्या सुब्धातुत्वाभावे यथेष्टद्विर्वचनं न सि-  
ध्येदिति वाच्यम्, नामधातुत्वस्यैव तत्र प्रयोजकत्वात् । ऋकारमि-  
च्छति ऋकारीयति उपकारीयतीत्यत्र “वासुपि” (पा०सू०६-१-९२) इति  
वृद्धिः श कलप्रकृतिभावश्चेत्युभयं न भवति, ऋनीति तत्परकरणात् ।  
उस्त्रामैच्छत् औस्त्रायत् । औकारीयत् । आ ऊढः ओढः, औढीयत् । अत्र  
“उस्यपदान्तात्” (पा०सू०३-१-९६) “ओमाडोश्च” (पा० ३०६-१-९९)  
इति पररूपं प्राप्तम् “आटश्च” (पा०सू०६-१-९०) इति पुनर्वृद्धिविधाना-  
र्थेन चशब्देन बाध्यते । तथा च षष्ठे वार्तिकम्-“उस्योमाड्श्चाटः प्रति-  
षेधः” इति । उसि ओमाडोश्च परयोराटः पररूपं नेत्यर्थः ।

स्यादेतत्, उक्तवार्तिके आङ्गुहणम् औढीयदिति तद्भाष्यं चासङ्गम्,  
उपसर्गाणां पृथक्करणस्य ज्ञापितत्वात् । न च सन्ध्यभावविषयकमेव  
तदिति वाच्यम्, उपर्षभीयतीत्यत्र तदभावापत्तेः । न चेष्टापत्तिः,  
माधवादि ग्रन्थविरोधात् ।

अत्राहुः—यत्रोपसर्गस्वरूपमविकलं पृथक् प्रतीयते स ज्ञापकस्य  
विषयः । इह तु आङ् उकारेण सहैकादेशे न तथेति ओकारात्पूर्वमाह ।  
तस्य अन्तवद्भावलब्धाङ्ग्यपदेशेन ओकारेण सह प्राप्तं पररूपं वृद्धि-  
मा बाधिष्टेति वार्तिके आङ्गुहणम् । उक्तवार्तिकभाष्यग्रन्थ एव च ज्ञाप-  
कस्य विशेषविषयत्वे प्रमाणमिति । एवं स्थिते आ इति, ऐतः, ऐती-  
यत्, एतीयित्वा, एतितीयिषतीत्यादि द्रष्टव्यम् । प्र एनीयतीति स्थिते-



“एङि पररूपम्” (पा०सू०६-१-९४) बाधित्वा प्राप्तम् “एत्येधति” (पा०सू०६-१-८९) इति वृद्धिम् “ओमाङोश्च” (पा०सू०६-१-९५) इति पररूपं परत्वाद्बाधते । प्रेतीयति । आगत ऋश्यः आ ईषद्वयो वा अर्श्यः, प्रादिसमासः, अर् गुणः, अर्श्यामिच्छति अर्श्यायति, आर्श्यायत् । अत्र गुणस्य अन्तवद्भावेन आङ्त्वाद् “ओमाङोश्च” इति पररूपं प्राप्तं परत्वाच्चद्वाधित्वा सवर्णदीर्घः प्राप्तः सोऽपि “आटश्च” (पा०सू०६-१-९०) इति पुनर्वृद्धिविधानार्थेन चकारेण बाध्यत इति केचित् । तन्न, रूपे विशेषाभावात्, पुनर्विधानस्य पररूपबाधेनोपक्षीणत्वाच्च । अत एव “उस्योमाङ्क्षु” इति वार्तिकेन पररूपमेव निषिद्धमिति दिक् ।

अर्श्यायतीत्यस्य प्रादिपूर्वत्वे प्रर्श्यायति । अत्र “ओमाङोश्च” (पा०सू०६-१-९५) इति बाधित्वा परत्वात्प्राप्तः सवर्णदीर्घः चकारेण पुनः पररूपविधानान्नेति माधवः । अरमिच्छति अरीयति, “रीङ् ऋतः” (पा०सू०७-४-२७) अलमिच्छतीत्यत्रापि इदमेव रूपं, सावर्ण्यात् । तपरकरणादीर्घस्य न रीङ् नापि ऋत इत्वम्, अधातुत्वात् । ऋयति । हेशब्दमिच्छति हेयति । गामिच्छति गव्यति । गव्यता । अतो लोपे “क्यस्य विभाषा” (पा०सू०६-४-५०) इति हल उत्तरस्य क्यप्रत्ययकारस्य प्राप्तो लोपः “सन्निपात” (प०भा०८७) परिभाषया न भवति । अगव्यीत् । “वदन्नज” (पा०सू०७-२-३) इत्यत्र हलग्रहणस्य हलसमुदायस्य प्रतिपर्यर्थत्वेऽपि अलोपस्य स्थानिवत्त्वेनाङ्गस्य हलन्तत्वाभावात् वृद्धिः । रैयति । ग्लाव्यति ग्लाव्यता । श्वलिह्यति । श्वलिह्यता, श्वलिहिता । अश्वलिहीत् । अत्र हलन्तलक्षणा वृद्धिर्न, अलोपस्य स्थानिवत्त्वात् “नेटि” (पा०सू०७-२-४) इति निषेधाच्च । अत्र “हो ढः” (पा०सू०८८२-२) इति ढत्वं न, “नः क्ये” इति नियमेनापदान्तत्वात् । अत एव ‘गोदुह्यति’ इत्यत्र “दादेः” (पा०सू०८४२-३२) इति घट्वं ‘मित्रदुह्यति’ इत्यादौ “वा दुह” (पा०सू०८-२-३३) इति तद्विकल्पः ‘उपानह्यति’ इत्यत्र “नहो घः” (पा०सू०२-३४) इति घत्वम् ‘अनडुह्यति’ इत्यादौ “वसुञ्च” (पा०सू०८-२-७२) इति दत्वं च न । पुरमिच्छति पूर्यति । “हलि च” (पा०सू०८-२-७७) इति दीर्घः । यत्तु अधातुत्वान्न दीर्घ इति माधवेनोक्तम् । तन्न, पिपर्त्तेः किपि “उदोऽभ्यपूर्वस्य” (पा०सू०७-२-९२) इत्युत्वे रपरवे च निष्पन्नस्य पुरशब्दस्य धातुत्वानपायात् । कथमन्यथा पूः पूर्यामित्यादौ दीर्घः । कथं च “ऋक्पूरब्धूः” (पा०सू०५-४-७८) “पूः सर्वयोः” (पा०सू०३-२-४१) इत्यादिनिर्देशा इति दिक् ।



एवं गिरमिच्छति गीर्यति । अत्रापि गिरतेः किपि ऋत इत्वे रप-  
रत्वे प्राग्वदीर्घः । गीर्यति, गिरिता । “कयस्य विभाषा” (पा०सू०६-४-  
५०) इति यलोपपक्षे हल्परत्वाभावाच्च दीर्घः । “वोः” (पा०सू०८०२-  
७६) इति पदस्य विधीयमानोऽपि न, “नः कये” इति नियमेनापदत्वात् ।  
स्वरिच्छतीति तु वाक्यमेव न तु कयच्, मान्ताव्ययेभ्यः प्रतिषेधात् ।  
चतुर्यति । दिव्यति । अनयो रधातुत्वात् “हलि च” (पा०सू०७-२-७७)  
इति दीर्घो न । चतुर्दिवश्चन्दौ हि “चतेरुन” (उ०सू०७४७) इति  
सूत्रेण “दिवेडिं विः” इति न्यासोहितसूत्रेण च व्युत्पन्नौ अव्युत्पन्नावेव  
वा । उभयथाऽपि धातुत्वाभावः स्पष्ट एव । यत्तु प्रक्रियायां “हलिच”  
(पा०सू०८-२-७७) इति दीर्घः दिवमिच्छति दीव्यतीत्युक्तम्, तदप्रा-  
माणिकमेव । तथाच हलि चेति सूत्रे काशिका-“धातोरित्येव दिव-  
मिच्छति दिव्यति” इति । यत्तु दिवेरौणादिके किपि दिवशब्दो धातुरे-  
वेति । व्युत्पत्तिपक्षमाश्रित्य प्रक्रियाग्रन्थः, अव्युत्पत्तिपक्षमाश्रित्य तु  
काशिकेत्यविरोध इति प्रसादकृतोक्तं; तत्तुच्छम्, किबन्तत्वे ऊठः प्र-  
सङ्गाद् भाष्यविरोधाच्च । “दिव औत्” (पा०सू०७-१-८४) इति सूत्रे  
हि ‘अक्षयूः’ इत्यत्र अतिव्याप्तिमेकदेशविकृतस्यानन्यत्वादाक्षिप्य “नि-  
रनुबन्धक” (प०भा०८३) परिभाषया “उगिदचाम्” (पा०सू०७-१-७०)  
इति सूत्रादधातुग्रहणानुवृत्त्या वेति द्वेधा समाहितम् । उभयथाऽपि  
त्वत्पक्षे असङ्गतिः स्पष्टैवेति दिक् ।

तमिच्छति तद्यति । यद्यति । प्राणितीति प्राण्, प्राणयति । अहर्य-  
ति । “रोऽसुपि” (पा०सू०८-२-६९) इति रुत्वापवादो रेफः । स च न  
लोपे कर्तव्ये असिद्धो नेति वक्ष्यते ।

उज्ज्येः किप् उत्, तमिच्छति उज्ज्यति । ककुभ्यति । मृडं परिवृढं  
वाऽऽचक्षाणामिच्छति मृज्यति, परिव्रज्यति । णाविष्टवदित्यतिदेशात्परि-  
वृढेर्ऋकारस्य रेफः । बुधेः किप्, भुत्, तमिच्छति बुध्यति । त्वां मामि-  
च्छति त्वद्यति मद्यति । अतित्वामतिमामिच्छति आतित्वद्यति, अतिम-  
द्यति । “प्रत्ययोत्तरपदयोश्च” (पा०सू०७-२-९८) इति त्वमौ । युवामा-  
वां वेत्यादिविग्रहे युष्मद्यति, अस्मद्यति । अतियुष्मद्यति, अत्यस्मद्यति ।  
उखां पन्थानं च आचक्षाणामिच्छति उख्यति, पथ्यति । मरुत्यति ।  
अदस्यति । पयस्यतीत्यादि ।

काम्यश्च (पा०सू०३-१-९) । उक्तविषये काम्यच् स्यात् । पुत्रमा-  
त्मन इच्छति पुत्रकाम्यति । “सुप आत्मनः कयच्काम्यचौ” इति वक्तव्ये  
उत्तरत्र द्वयोरनुवृत्तिर्मा भूदित्येवमर्थो योगविभागः । न चैवमपि स्व-



विहितत्वात्काम्यजेवोत्तरत्र सम्बध्येतेति वाच्यम्, इह चकारेणानुक्त-  
ष्टस्य क्यच् उत्तरार्थत्वात् । सुप आत्मनः काम्यच् क्यच्चेति तु सूत्र-  
यितुं युक्तम् । काम्यचः ककारस्य इत्संज्ञा न, फलाभावात् । न च “कि-  
ति च” (पा०सू०७-२-११८) इति निषेधः फलम्, अधातुविहितत्वेन  
आर्द्धधातुकत्वाभावादेव गुणाप्राप्तेः । ‘वाक्काम्यति’ इत्यत्र सम्प्रसारणं फलं  
स्यादिति चेत् ? न, षष्ठान्ते औणहत्ये तत्त्वनिपातनेन “धातोः स्वरूप-  
ग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम्” इति ज्ञापयिष्यमाणत्वात् । तत्प्रत्ययो  
धातुसंशब्दनेन विहितः प्रत्यय इति प्राञ्चः ।

स्वरूपग्रहणं च नेह शृङ्गग्राहिकयोपोदानम्, तथा सति ‘घृतस्पृ-  
ग्भ्याम्’ इत्यादौ “अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य” (पा०सू०६-१-५९) इत्यमागम-  
प्रसङ्गात् । किन्तु यत्कार्यं धातुं न व्यभिचरति तत्रेयं परिभाषोपपत्तिष्ठते ।  
तथाच स्वरूपग्रहणं नाम धातोरेवाश्रयणम् । तच्च यथाकथञ्चिदित्या-  
स्तां तावत् ।

चकारस्तु भाष्यवार्तिकयोः प्रत्याख्यातः । न्यासकारहृदत्तमाध-  
वास्तु ‘पुत्रकाम्यस्यति’ इत्यादौ सतिशिष्टमपि स्यस्वरं बाधित्वा धातुः  
स्वरो यथा स्यादित्येतदर्थं चित्करणमित्याहुः । तत्तु प्रौढिवादमात्रं  
मुनिवचनविरोधेन स्वोत्प्रेक्षितस्वारस्यानादर्त्तव्यत्वादिति सुहृदयैर्वि-  
भाव्यताम् ।

पुत्रकाम्यता । पुत्रकाम्यस्यति । इह “यस्य हलः” (पा०सू०६-४-  
४९) इति न भवति, अनर्थकत्वात् । यस्येति हि सङ्घातग्रहणात्  
“अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य” (पा०भा०१४) इति वक्ष्यते । अत एव प्रयतौ  
पुत्रकाम्ययेति सिध्यति । इहान्तर्वर्तिन्या विभक्त्या पदत्वाद्यथायोगं  
पदकार्याणि । यशस्काम्यति, रुत्वं विसर्गः, सोपदादाविति सत्वम् ।  
स्वःकाम्यति, सोपदादावनव्ययस्येति वचनात्सत्त्वाभावः, अधिकर-  
णशक्तिप्रधानस्याप्यस्य वृत्तिविषये शक्तिमत्प्रधानत्वाद् इषिणा कर्म-  
त्वेन योगः । गीःकाम्यतीत्यादौ ‘रोः काम्ये’ इति रोरेव विसर्जनी-  
यस्य काम्ये सत्त्वनियमात्सत्त्वाभावः । सर्पिष्काम्यति, सत्त्वं बाधि-  
त्वा “इणः षः” (पा०सू०८-३-३९) इति षः । अयं च सत्त्वापवादतया  
यत्र तत्प्रसङ्गस्तत्रैव । तेनोच्चैःकाम्यति गीःकाम्यतीत्यादौ न भव-  
ति । पुंसकाम्यति । अत्र पुंसः संयोगान्तलोपे “पुमः खय्यम्परे” (पा०  
सू०८-३-६) इति रुत्वं निर्वर्त्य “सम्पुम्कानां सो वक्तव्यः” (का०वा०)  
इति सत्ववचनान्नास्ति विसर्जनीय इति न षत्वम् । मान्ताव्ययेभ्यो-  
ऽप्ययं भवत्येव-किंकाम्यति । अनुस्वारपरसवर्णविकल्पौ ।



उपमानादाचारे (पा०सू०३-१-१०) ॥ उपमानात्कर्मणः सुवन्ता-  
दाचारेऽर्थे क्यच् स्यात् । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति क्छात्रम् । विष्णू-  
यति द्विजम् ।

अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) । प्रासादीयति कुट्याम् । कु-  
टीयति प्रासादे । इहोपमेये सप्तमीश्रवणादुपमानमपि सप्तम्यन्तमेवेति  
कर्मत्वाविवक्षया सूत्रेणासिद्धे वार्तिकारम्भः । सूत्रवार्तिकयोरुभयोर-  
प्युदाहरणे क्यच्प्रत्ययस्य आचारमात्रमर्थः । प्रकृतेस्तु वृत्तिविषये  
एकत्र स्वार्थकर्मकाचरणसदृशमर्थः, अपरत्र स्वार्थाधिकरणकाचर-  
णसदृशम् । तच्च प्रत्ययार्थेऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम् । प्रत्ययार्थे  
भूताचरणक्रिया तु उपमेया । सा च बाह्याभ्यां कर्माधिकरणाभ्यां  
सम्बध्यते ।

कर्तुः क्यङ् स लोपश्च (पा०सू०३-१-११) ॥ उपमानात्कर्तुः सुव-  
न्तादाचारे क्यङ् वा स्यात्, सान्तस्य तु कर्तुरलोन्त्यस्येति लोपो वा  
स्यात् । प्रत्ययविकल्पनात्पक्षे वाक्यम् । सान्तस्य लोपविकल्पस्तु व्य-  
वस्थितः—ओजोऽप्सरसोर्नित्यमन्येषां तु विकल्प एवेति । कृष्ण इवा-  
चरति कृष्णायते । कथं तर्हि—

क्षीरोदीयन्ति सद्यः सकलजलधयो वासुकीयन्ति नागाः । इति ?

क्षीरोदमिव आत्मानमाचरन्तीत्यर्थ “उपमानादाचारे”(पा०सू०३-  
१-१०) इति क्यच् । ओजायते । ओजःशब्दोऽत्र वृत्तिविषये तद्वति  
वर्तते । अप्सरसं इवाचरति अप्सरायते । यशायते, यशस्यते । विद्वा-  
यते, विद्वस्यते । इह सूत्रे चकारोऽन्वाचये । तेन कर्तुः क्यङ् सर्वत्र  
भवति, यत्र तु सकारः सम्भवति तत्र लोपोऽपि । सेति च पृथक्पदं  
लुप्तषष्ठीकम् । तेन कर्तुर्विशेषणात्तदन्तविधिः । अतो ‘हंसायते’ इत्यादौ  
सलोपो न । सान्तेष्वपि लोपो व्यवस्थितः । तथाच वार्तिकम्—

“ओजोऽप्सरसोर्नित्यम्” इति । एवं स्थिते ।

“ओजसोऽप्सरसो नित्यं पयसस्तु विभाषया”

इति काशिकायां पयोग्रहणं ओजोऽप्सरसोभिन्नसकारान्तस्योपलक्ष-  
णार्थम् । एतेन यशःप्रभृतेर्नैव भवतीति भ्राम्यन्तःपरास्ताः । यत्तु प्रक्रि-  
यायां सुपूर्वस्य मनसो नित्यमिति, तदपाणिनीयम् । यत्तु “विद्वस्यमानः  
शास्त्रेऽधिकारी” इति वाचस्पतिग्रन्थव्याख्यावसरे कल्पतरुकारैरुक्तम्—  
विद्वस्यमान इति “लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्” (पा०सू०३-१-१३) इति,  
तल्लोहितादेराकृतिगणत्वेन प्रौढिवादमात्रम् । वस्तुतस्तु क्यङ्केवायं न  
तु क्यष्, लोहितादिसूत्रे “नायं हलन्ताद्विधीयते” इति वद-



झिर्भाष्यकारैर्हलन्तात्क्यषोऽनङ्गीकृतत्वात् । कथमन्यथा “क्यस्य वि-  
भाषा” (पा०सू०६-४-५०) इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थं ककारं प्रत्याचक्षीर-  
न्नित्यवधेयम् । अर्चिरिवाचरति अर्चिष्यते । “नः क्ये” (पा०सू०१-४-  
१५) इति नियमेन पदान्तत्वाभावात्पत्वम् । त्वद्यते, मद्यते । अनेका-  
र्थत्वे तु युष्मद्यते, अस्मद्यते । कुमारीवाचरति कुमारायते । हरिणीव  
गौरीव गुर्वीवाचरति हरिणायते, गौरायते, गुरुयते । “क्यङ्मानिनो-  
श्च” (पा०सू०६-३-३६) इति पुंवत् । सपत्नीवाचरति सपत्नीयते ।  
अत्र पुंवद्भावो नेति न्यासकारः । यदाह—“नित्यं सपत्न्यादिषु” (पा०सू०  
४-१-३५) इत्यत्र समुदायोच्चारणं पुंवद्भाववाधनार्थमिति, तदेतद्युक्ति-  
विरुद्धं भाष्यविरुद्धं च । तथाहि, समुदायनिपातनं रूढ्यर्थं समानस्य  
समावार्थं चेति न त्वदुक्तार्थज्ञापकम् । तथा “तसिलादिषु”  
(पा०सू०६-३-३५) इति सूत्रे भाष्यकारः—सपत्नीशब्दाच्छिवाद्याणि  
“भस्यादे” (का०वा०) इति पुंवद्भावे ‘सापतः’ इति प्रापय्य अद्वग्रहण-  
मपनीय अनपत्य इति विवक्षया परिहृत्य गार्ग्यायण्या अपत्ये तु  
कुत्सिते “गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च” (पा०सू०४-१-१४०) इति  
णप्रत्यये गार्ग्यायण इति स्यात्, गार्ग्य इति चेष्यत इति दोषमुद्भाव्य  
“भस्यादे” (का०वा०) इति यथान्यासं स्थापयित्वा “नित्यं सप-  
त्न्यादिषु” (पा०सू०४-१-३५) इति समुदायनिपातनं परिहारत्वेनान-  
भिधाय शत्रुपर्यायात्सपत्नशब्दात् “शाङ्करवादि” (पा०सू०४-१-७३)  
ङनिन्तात् शिवाद्यङ्ग इति सापत्नशब्दं साधितवान् । शिवा-  
दिषु समानः पतिर्यस्या इति व्युत्पादितस्य समानस्वामिकाभि-  
धायिनो भाषितपुंस्कस्य केवलयोगिकत्वाद्ग्रहणं नेष्टमिति तदाश-  
यः । एवं स्थिते तस्मात् “लिङ्गविशिष्ट” (प०भा०७३) परिभाषया पत्यु-  
त्तरपदलक्षणे ण्ये सापत्य इति भवति, भावकर्मणोः पत्यन्तलक्षणे यकि  
सापत्यमिति सुब्धातुवृत्तौ माध्वः । तस्मात्क्यङ्यपि प्रकृतिभेदेन ‘सप-  
त्नायते’ ‘सपत्नीयते’ इति द्वयमपि साधु । यत्तु पा रक्षणे (अ०प०४६) इति  
धातौ माध्वेनोक्तम्—भावकर्मणोः पत्यन्तलक्षणे यकि सापत्न्यम्, अभा-  
षितपुंस्कत्वात्पुंवद्भावो नेत्यादि, तत्तु विवाहजन्यसंस्कारविशेषनि-  
मित्तकं पतिशब्दमाश्रित्य, इतरत्तु स्वामित्वमात्रपरमित्यविरोधः ।  
एवं च शिवादौ नित्यस्त्रीलिङ्गस्यापि योगरूढस्य ग्रहणात्सापत्नशब्दो  
द्वयर्थः, ‘सपत्नीयते’ इति च तृतीयमपि रूपं साधिव्यवधेयम् । युवति-  
रिवाचरति युवायते । यत्तु “ङयाप्” (पा०सू०४-१-१) सूत्रभाष्ये ‘यु-  
वतितरा’ इत्युदाहरणात् यौवनं जातिः, अन्यथा “जातेश्च” इति निषेधा-



भावात्तसिलादिष्विति पुंवङ्गावः क्रियेतेति । तन्न, वयसोऽनित्यत्वेन अजा-  
तित्वात् । कथमन्यथा “अचः परस्मिन्” (पा०सू०१-१-५७) इति सूत्रे  
युवजानिरिति भाष्यं लङ्गच्छेत् । युवतितरेति तु भाष्यनिर्देशादेव न  
पुंवदिति कैयटे स्पष्टम् ।

पट्वी च मृद्वी च पट्वीमृद्व्यौ । ते इवाचरति पट्वीमृद्व्यते । पूर्व-  
पदस्य कश्चपरत्वाभावात् पुंवत् । पाविकायते, “न कोपधायाः”  
(पा०सू०६-३-३७) । चतुर्थीयते, “सङ्ज्ञापुरण्योश्च” (पा०सू०६-३-  
३८) । स्त्रौघ्नीयते, “वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारकविकारे” (पा०सू०  
६-३-३९) । काषायीयते कन्था । रकार्यत्वात्तेह पुंवङ्गावनिषेधः । खदि-  
रस्य विकारः खादिरी । “पलाशादिभ्यो वा” (पा०सू०४-३-१४१) इति  
विकारे अणञोरन्यतरस्मिन् ङीप् । खादिरायते इत्यादि ।

“आचारेऽवगल्भकलीबहोडेभ्यः किवन्वा” (का०वा०) ॥ कश्चपरत्वा-  
देऽयम् । पक्षे वाग्रहणात्कश्चपि । गल्भ धाष्ट्यं (भ्वा०भा०३९२) ।  
कलीवृ अधाष्ट्यं (भ्वा०प०३८१) । होडु अनादरे (भ्वा०अ०२८६) ।  
एते पचाद्यजन्ताः । अचोऽकारस्य इहैव वार्तिके अनुदात्त-  
त्वानुनासिकत्वे प्रतिज्ञायेते । तेन किवन्तादात्मनेपदं सिध्यति ।  
किवप्सन्नियोगेनानुनासिकत्वप्रतिज्ञानात्कश्चपक्षे इत्सङ्ज्ञा न भवति ।  
स्यादेतत्, उक्तधातूनामनुदात्तेत्वादवगल्भते, कलीयते, होडते, इति  
सिद्धम् । तेभ्य एव पचाद्यजन्तेभ्यः कश्चि अवगल्भायत इत्यादि । न  
च अवगल्भते इत्यादीनां धाष्ट्यादिकमेवार्थः स्यात् त्वाचार इति  
वाच्यम्, धातूनामनेकार्थत्वेनाचारार्थताया अपि लाभात् । तत्किमनेन  
वार्तिकेनेति चेत् ? सत्यम् । ‘अवगल्भाश्चक्रे’ ‘कलीबाश्चक्रे’ ‘होडाश्चक्रे’  
इत्यत्र प्रत्ययान्तत्वादाम् यथा स्यादित्येवमर्थमिदं वार्तिकम् । अन्नग-  
ल्भेति किम् ? अनुपसर्गादुपसर्गान्तरविशिष्टाच्च कश्चैव यथा स्या-  
त् ‘गल्भायाश्चक्रे’ इति माधवादयः । प्रक्रियायां तु भवेत्यपहाय केव-  
लस्य पाठः । तदनुगामिप्रसादादिग्रन्थश्च प्रामादिक एव । धातुभ्य एव  
लिटि तु-जगल्भे, चिकलीवे, जुहोडे ।

“सर्वप्रातिपदिकेभ्यः” (का०वा०) ॥ न केवलमवगल्भादिभ्य एव  
किन्तु सर्वेभ्य एव आचारे किवक्तव्य इत्यर्थः । पूर्ववार्तिकेनानुब-  
न्धासंगार्थं स्थितमेव । प्रातिपदिकग्रहणादिह सुष इति न सम्बध्य-  
ते । तेन पदत्वाभावादुदाहरणेषु पदकार्याणि न । कृष्ण इवाचरति  
कृष्णति । “अतो गुणे” (पा०सू०६-१-२७) इति शपा सह पररूपम् ।  
एतेन ‘चर्मैवाचरति चर्मति’ इति प्रक्रियाग्रन्थः परास्तः, अपदान्तत्वेन



नलोपायोगात् । कथमन्वयाद्देव शमा सहै परस्वरूपं स्यादिति य-  
त्किञ्चिदेतत् । इह द्वितीयवार्तिके चाग्रहणं नानुवर्त्यम्, प्रातिपदि-  
कविषयकेणानेन क्विप्ता सुबन्तविषयस्य क्यङो भिन्नविषयत्वादेव  
बाधस्याप्रसङ्गाद्वचनद्वयप्रामाण्याद्विकल्पोपपत्तेश्च । पूर्ववार्तिकेऽपि एत-  
त्सिद्धक्विवबनुवादेनानुबन्धासङ्गमात्रे तात्पर्यस्य भाष्ये स्थितत्वेन प्रा-  
तिपदिकविषयता वाशब्दवैयर्थ्यं चेति तत्त्वम् । तस्य सुबन्तविषयत्वे  
हि अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वात् गल्भतेः संयोगान्तलोपो दुर्वारः ।

अथ क्विवबन्तेषु रूपाणि लेशत उदाह्रियन्ते । अइवाचरति अति, अतः,  
अन्ति । णलि “अचोऽङ्गिति” (पा०सू०७-२-११५) इति वृद्धौ “आत  
औ णलः” (पा०सू०७-१-३४), औ । तथाच कशब्दस्य चकाविति हरद-  
त्तः । माधवस्तु “ण्यलोपौ” इति वचनाण्णलि वृद्धिम्बाधित्वा अतोलो-  
पात् ‘चक’ इत्युदाजहार । तन्मतेऽपि अशब्दस्य औ, अतुः, उः । सर्वत्रात्र  
द्विवचने अतोलोपादन्तरङ्गत्वादतोऽगुणे पररूपत्वे तस्याङ्गग्रहणेन प्राप्ताद-  
तोलोपात्परत्वादभ्यासग्रहणेन ग्रहणाद् “अत आदेः” (पा०सू०७-४-७०)  
इति दीर्घः । “आतो लोप इटि च” (पा०सू०६-४-६४) इत्यालोपः कि-  
ति, णलस्तु औ वृद्धिः । स्यादेतत्, इह प्रत्ययान्तत्वादामा भाष्यम् ।  
न च “कास्यनेकाज्ग्रहणम्” इति वार्तिकेन प्रत्ययग्रहणस्थानेऽनेकाज्-  
ग्रहणस्य कृतत्वात्प्रत्ययान्तेभ्योऽप्येकाज्ग्रह्य आम्नेति वाच्यम्, चुलु-  
म्पादीनामप्रत्ययान्तानां संग्रहार्थमनेकाज्ग्रहणमधिकं कर्तव्यमित्ये-  
तावन्मात्रपरतयाऽपि वार्तिकस्य कृतार्थत्वे सौत्रस्य प्रत्ययग्रहणस्या-  
पनयने कारणाभावात् । अत एव वार्तिककृता चुलुम्पाद्यर्थमित्युक्तं  
न त्वेकाज्निवृत्त्यर्थमिति । अत एव “अवगल्भाञ्जके” इत्यादि भाष्याद्यु-  
दाहृतं सङ्गच्छते । न हि तत्रानेकाज्भवमस्ति, आत्मनेपदार्थमनुबन्धा-  
सङ्गस्य निर्विवादत्वात् । अत एव स्वामास स्वाञ्चकारेति प्रक्रियाकारो-  
दाहृतं निर्बाधमिति चेत्? मैवम्, हरदत्तादिग्रन्थेषु कशब्दाद् अशब्दाद्वा-  
गादिभ्यश्चाचारक्विवबन्तेभ्य एकाज्भ्योऽपि प्रत्ययान्तत्वादाम् स्यात्, चुलु-  
म्पादिभ्यश्च न स्यात्, अतोऽव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहाराय प्रत्ययग्रहण-  
मपनीय तत्स्थाने अनेकाज्ग्रहणं कर्तव्यमित्यर्थकतया वार्तिकस्य व्या-  
ख्यातत्वात् माधवादिभिरपि तदनुसारेणैव रूपाणामुदाहृतत्वाच्च ।  
युक्तं चैतत्, कास्यनेकाज्ग्रहणमिति वार्तिकाक्षरस्वरसात् । अन्यथा  
हि अनेकाच उपसंख्यानमित्येव ब्रूयात्, न तु प्रत्ययशब्दावरुद्धका-  
स्युत्तरभागमनेकाचं निवेशयेत्, आगन्तूनामन्ते निवेशस्य न्याय्यत्वा-  
त् । चुलुम्पाद्यर्थमिति वार्तिकशेषस्वरसो ममाप्यनुकूलोऽस्तीति चेत् ?



न, तदपेक्षया उपक्रमस्य प्रविदमात् । न चैवं गल्भादावाम् न स्यादिति वाच्यम्, तेषां क्तिप्संज्ञियोगेन एकाच्चेऽपि पूर्वप्रनेकाच्चेत्वात् । कास्य-  
नेकाच् इत्यत्र भूतपूर्वगतेराश्रयणात् । आचारऽवगल्भेत्यादिवार्तिक-  
स्यैव च भूतपूर्वगत्याश्रयणे प्रमाणत्वात् । तद्धि आम्प्रत्ययो यथा स्या-  
दित्येवमर्थमिति भाष्यादौ स्पष्टम् । इह ज्ञापकस्य सामान्यविषयत्वे  
घटपटप्रभृतिभ्यस्तत्करोतिष्यन्तेभ्यः “क्विप् च” (पा०सू०३-२-७६)  
इति क्वौ तत आचारक्वौ लिटि आमा भावम् । गल्भादिविशेषमा-  
त्रविषयत्वे तु नेत्यन्यदेतत् ।

इदं त्ववशिष्यते—“सर्वप्रातिपदिकेभ्यः” (का०वा०) इति क्विपि  
परस्मैपदे प्राप्ते आत्मनेपदप्रवृत्त्या चरितार्थं वचनं कथमाम्प्रवृत्तिं  
साधयेदिति ।

अत्रोत्तरम्, वाक्याभ्यनुज्ञानार्थं कृतस्यापि इच्छासनि वाग्रहणस्य  
पूर्वसूत्रद्वये व्यवस्थापकत्वमाश्रित्य गुपादेर्निन्दाक्षमादिष्वेव सन्नान्य-  
त्रेति यथा सिद्धान्तितं, तथेहापि तद्वलेनैव “सर्वप्रातिपदिकेभ्यः” (का०  
वा०) इति क्विप् गल्भादेर्न करिष्यते इति परस्मैपदनिवृत्तिस्तावत्सिद्धा  
आत्मनेपदमपि स्वतन्त्रधातुभ्योऽस्त्येव । आचारार्थताऽन्येनार्थत्वात्सु-  
लभा । तथाच वचनस्य नान्यत्र चरितार्थतेति ज्ञापकत्वं सुस्थमेव । एवं  
च सकलमहाग्रन्थविरुद्धं ‘स्वामास’ इति प्रक्रियोदाहरणं न श्रेयमिति  
स्थितम् । इणः अयतेर्वा णिजन्तात् “क्विप् च” (पा०सू०३-२-७६) इति  
क्विप् आययतीतिः आः, आयमाचक्षाण आः, स इवाचरति आति । “य-  
मरम” (पा०सू०७-२-७३) इतीदृशकौ, आसीत्, आसिष्टाम् । एकादे-  
शस्य पूर्वान्तत्वात् “लिङ्गविशिष्ट” (पा०भा०७३) परिभाषया च मालेवा-  
चरति मालाति । अमालासीत् । अमालासिष्टाम् । अस्माल्लुङि-अमा-  
लात्, अमालाः । अत्र हल्ङ्यादिलोपस्तु न भवति, ङीसाहचर्यादा-  
पोऽपि सोरेव लोपविधानात् । कविरिव कवयति । कवयाञ्चकार ।  
आशीर्लिङि कवीयात् । “सिचि वृद्धिः” (पा०सू०७-२-१) इत्यत्र “ऋत  
इद्धातोः” (पा०सू०७-१-१००) इत्यतो धातोरित्यनुवृत्तेर्धातुरेव यो धातु-  
रिति विज्ञानान्नामधातोर्न वृद्धिरिति कैयटहरदत्तौ । तन्मते गुणे अक-  
वयीत् । वर्धमानोऽप्येवम् । माधवस्तु इक्परिभाषारम्भपक्षे धात्वनु-  
वृत्तेः कैयटेन प्रदर्शितत्वादिगन्ते नामधातावपि वृद्धिमिच्छति । त-  
न्मते अकनायीत् । विरिव वयति । विवाय, विव्यतुः । अवयीत्, अ-  
वायीत् । इरिव अयति । इयाय, इयतुः, इयुः । इययिथ, इयथुः ।  
इय । इयाय, इयिव, इयिम । अत्र कित्सु सवर्णदीर्घे कृते इयङ् । यद्वा



दीर्घात्परत्वेनोत्तरखण्डे “एरनेकाचः” (पा०सू०६-४-८२) इति यण् ।  
 गुणवृद्धिविषये तु अयायोः “द्विर्वचनेऽचि” (पा०सू०१-२-५९) इति  
 स्थानिवत्त्वाद् एदैतोर्द्वित्वम्, अभ्यासह्रस्वः । “अभ्यासस्यासवर्णे” (पा०  
 सू०६-४-७८) इतीयङ् । एदैतोरपि स्थानिवत्त्वादिकारस्य द्वित्वमिति  
 पक्षे तु सवर्णदीर्घात्परत्वादुत्तरखण्डस्य पुनर्गुणवृद्धी, ततोऽभ्यासस्ये-  
 यङ् । लक्ष्मीरिव लक्ष्मयति । लक्ष्मयाञ्चकार । श्रीरिव श्रयति । शि-  
 श्राय, शिश्रियतुः, शिश्रियुः । उरिव अवति । अवाञ्चकार । “इजा-  
 देश्च” (पा०सू०३-१-२६) इत्याम् । कुरिव कवति । चुकाव । भ्ररिव  
 भ्रवति । बुभ्राव, बुभ्रवतुः । “अचि इनुधा” (पा०सू०६-४-७७) इत्यु-  
 वङ् । गुणवृद्धिविषये तु ताभ्यां बाध्यते । पितेव पितरति । पितरा-  
 ञ्चकार । आर्शांलिङि “रिङ्शयगिलङ्क्षु” (पा०सू०७-४-२८) इति रि-  
 ङादेशः । पित्रियात् । नेव नरति । ननार । एवाचरति अरति । “पा-  
 घ्रा” (पा०सू०७-३-७८) इत्यादौ नायं गृह्यते । “अभिव्यक्तपदार्था ये”  
 इति न्यायेन धातुपाठस्थस्यैव ग्रहात् । एवञ्चास्मादशब्दाल्लिटि “ऋ-  
 च्छत्यृताम्” (पा०सू०७-४-११) इति न प्रवर्तते । तत्र धात्वभ्यासयोः  
 सवर्णदीर्घे धातुग्रहणेन ग्रहणादृढकारान्तलक्षणे गुणे ‘अरतुः’ इत्यादी-  
 त्येके । अन्ये तु अभ्यासग्रहणेन ग्रहणात् “उरत्” (पा०सू०७-४-६६)  
 अत्वं “हलादिः शेषः” (पा०सू०७-४-६५) । “अत आदेः” (पा०सू०७-  
 ४-७०) इति दीर्घः । “आतो लोप इटि च” (पा०सू०६-४-६४) इत्या-  
 लोपः । अतुः, उः, इति प्रत्ययमात्रमवशिष्यत इत्याहुः । दुरिवाचरति  
 द्रवति । अनभिव्यक्तपदार्थत्वेन “णिश्चिदुस्तुभ्यः” (पा०सू०३-१-४८) इति  
 चङोऽभावात्सिचि-अद्रावीत् । भूरिवाचरति भवति । अत्र “गातिस्था”  
 (पा०सू०२-४-७७) इति न प्रवर्तते । अभावीत्, अभाविष्टाम्, अभा-  
 विषुः । बुभावेत्यादि । एवं पिबतेर्विचि पाः । ततः क्विपि “पाघ्राध्मा”  
 (पा०सू०७-३-७८) इति “गातिस्था” (पा०सू०२-४-७७) इति च न  
 प्रवर्तते । पाति । अपासीत् । एवं प्रतिपदोक्तानामन्येषामपि इहाप्रवृ-  
 त्तिरुच्येया । कथं तर्हि बुभ्रवतुरिति प्रागुबङ्गदाहृत इति चेत् ? धातुत्व-  
 प्रयुक्तोऽसौ न तु भ्रुत्वप्रयुक्त इत्यवधेहि । पृरिवाचरति परति । पपार,  
 पपरतुरित्यादि । अयं पृशब्दानुकरणं न पुनः क्रयादौ जुहोत्यादौ वा प-  
 ल्यमान इति आ इलुश्च न भवति । किति लिटि “ऋच्छत्यृताम्” (पा०  
 सू०७-४-११) इति ऋकारान्तलक्षणो गुणः । “शृदृप्राप्” (पा०सू०७-४-  
 १२) इति ह्रस्वविकल्पस्तु न भवति, अनभिव्यक्तपदार्थत्वात् । ऋरि-  
 वाचरति अरति । अराञ्चकार । “इजादेश्च” (पा०सू०३-१-२६) इत्या-



म् । लृ इवाचरति । अलति । लिटि द्विर्वचनम् । लृवर्णस्य दीर्घाभावात्सवर्णदीर्घाभावः । उत्तरखण्डस्य यणि अभ्यासस्योरदत्वादेव आल, आलतुरित्यादीति माधवः । तत्र यणीति किद्विषयं, पित्सु तु गुणवृद्धी बोध्ये । सवर्णदीर्घाभाव इति तु गुणवृद्धिस्थले भवतु नाम, अवर्णस्य लृकारं प्रत्यसवर्णत्वात् । गुणवृद्धोः स्थानिवद्भावेन लृकारद्विर्वचनेऽपि सवर्णदीर्घात्परत्वेन पुनरुत्तरखण्डे गुणादिप्रवृत्तेः । न चान्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घः, “अभ्यासस्यासवर्णे” (पा०सू०६-४-७८) इत्यस्य निर्विषयतापत्तेः । न च ‘इयति’ ‘इयृतः’ इत्यादिरवकाशः, एवं हि “अभ्यासस्यत्तौ” त्येव ब्रूयात् । न च एषेः इयेष, ओणेः उवोणेत्यवकाशः, भाषायाम् “इजादेः” (पा०सू०३-१-३६) इत्याम्प्रत्ययस्योचितत्वात् । छन्दसि तु तन्वादीनामुपसंख्यानात् “त्रियम्बकं सुवर्गं” इत्यादिवदियङुवङोरुपपत्तेस्तथापि लृवर्णस्य दीर्घाभावादिति माधवोपन्यस्तो हेतुरसङ्गत एव, ‘होतृकारः’ इत्यादाविव ऋकारस्य दुर्वारत्वात् । तथा च ऋशब्दात्क्विपीव एकादेशस्य धातुग्रहणेनाभ्यासग्रहणेन वा ग्रहणमिति मतभेदेन—अरतुः, अरुः, अतुः, उः, इति रूपद्वयमेवोचितम् । “लृति लृ वां” इति षाष्ठ्यवार्तिकविधेयस्य वर्णान्तरस्य प्रवृत्तौ तु लृअतुः लृउरित्युचितम् । सर्वथाऽपि ‘अलतुः’ अलुरिति माधवोदाहृतं दुरुपपादमेवेति विभाव्यतां माष्यद्भिः ।

हेरिवाचरति हयति । जिहाय । अहयीत् । यान्तत्वाच्च वृद्धिः । परिवाचरति अयति । “इजादेः (पा०सू०३-१-३६) इत्याम् । अयाञ्चकार । “नेटि” (पा०सू०७-२-४) इति वृद्धिनिषेधान्मा भवानयीत् । गौरिवाचरति गवति । अपदान्तत्वादवङ्पूर्वरूपे न स्तः । जुगाव । ‘अगवीत्’ अगावीत् । “अतो हलादेः” (पा०सू०७-२-७) इति वा वृद्धिः । ओकारात्-अवति । अवाञ्चकार । मा भवानवीत् । रै-रायति । रिराय । नौ-नावति । जुनाव । औ-आवति । आवाञ्चकार । गोधुगिवाचरति गोदोहति । पय इवाचरति पयति । पपाय । लुङि यान्तत्वाद्बृहद्भावात् अपयीदिति माधवः ।

अत्रेदं वक्तव्यम् । अयपयहयधातुषु “किप् च” (पा०सू०३-२-७६) इति किपि अत् पत् हत् इति तावत्स्वयैवोदाहृतम् । आचारकिपि तु अकृत्वात्तुगागमो मा भूत् । यकास्तु कथं न लुप्येत ? तस्मात्कशब्दवदेवात्र रूपमुचितम् ! द्यौरिवाचरति ‘देवति’ इति-माधवः । अत्र ऊठि ‘यवति’ इत्युचितम् । फल्लेणौ “किप् च” (पा०सू०३-२-७६) इति किप् । तत आचारकिप् । फलति । यङ्लुकि पम्फलयते । अपम्फालीत् ।



एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् अभ्यासस्य नुक् इति “चरफलोश्च” (पा० सू०७-४-८७) इति सूत्रे न्यासविस्तरौ । यद्यपि प्रतिपदोपात्तेश्चभि-  
व्यक्तपदार्थानामेव ग्रहणं, तथापि “उत्परस्यातः” (पा०सू०-७-४-८८)  
इति सूत्रे अत इति तपरनिर्देशेन दीर्घनिवृत्त्यर्थं क्रियमाणेन इहास्था-  
पि ग्रहणं ज्ञाप्यत इति तदाशयः । इदमिवाचरति इदामति । यङिव  
याङति । आणिव आणति । राजेव राजानति । “अनुनासिकस्य कि”  
(पा०सू०६-४-१५) इति दीर्घः । यत्तु कश्चिज्जलादिः कङित् धातोरेव  
सम्भवतीति तत्साहचर्याद्धातुविहत एव किप् गृह्यत इति आचारकौ-  
नानेन दीर्घ इत्याह । तन्न, अस्य किपः ककारस्यात्रैव सामान्यग्रहणार्थ-  
त्वात् । पकारस्य च तदविधातार्थत्वात्साहचर्यस्य च सर्वत्रानियामक-  
तायाः द्विस्त्रिधनुरिति कृत्वोऽर्थग्रहणेन ज्ञापितत्वात् । एतेन इह किपि  
अनुबन्धयोः फलं चिन्त्यमिति वदन्न्यासकारः प्रयुक्त इति दिक् ।

एवं च पथिमथ्यभुक्षां परमप्युपधागुणं बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वादीर्घे  
सति पथीनति मथीनति ऋभुक्षीणतीत्यादि बोध्यम् । इदं च  
माधवादिमतमनुसृत्यानुनासिकान्तानां दीर्घः प्रपञ्चितः । अपरं मतं  
कृत्येव दीर्घो न त्वाचारकिपि साहचर्यस्य नियामकत्वेनापि कचिदा-  
श्रयणात् । न चैवमनुबन्धवैयर्थ्यम्, “वेरपृक्तस्य” (पा०सू०६-१-६७)  
इत्यत्रास्यैव ग्रहणं मा भूदिति ककारासङ्गात् । पिन्त्वसामर्थ्यान्तु प्रकृ-  
तिः सर्वानुदात्तेति केषाञ्चिन्मतस्य न्यासग्रन्थे स्पष्टत्वात् । युक्तं चै-  
तत्, कौमारव्याकरणसंवादात् । तत्र हि क्यङ् एव वैकल्पिको लोपो  
विहितो न तु किपः, तत्र च किवाश्रयस्य दीर्घस्याप्रसङ्गात् । गुणे सति  
‘पथेनति’ मथेनतीत्याद्युदाहृतम् । न्यायसाम्येन “च्छ्वोः शूठ्” (पा०  
सू०१-४-१९) इत्यत्रापि अस्य किपोऽग्रहणात् द्यौरिवाचरति देवती-  
त्यपि माधवोदाहृतमस्मिन्पक्षे निर्वहति, वलोपस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात् ।  
अत एव पदमञ्जर्यां बहुषु पुस्तकेषु राजनतीति ह्रस्वपाठः सङ्गच्छते ।  
अत एव च “न पदान्त” (पा०सू०१-१-५८) सूत्रे ‘प्रतिदान्नः’ इत्यत्र “उप-  
धायां च” (पा०सू०-२-७८) इति दीर्घ इति काशिकाऽपि सङ्गच्छते,  
आचारकिवन्ताद्विच् प्रत्यय इति तदाशयात् । चर्मवाचरति चर्मतीति  
प्रक्रिया तु अत्रापि पक्षे अशुद्धैव । नलोपपरूपयोः पदान्तापदान्तत्व  
प्रयुक्तयोः समावेशस्य दुर्घटत्वादिति दिक् ।

अप्रसिद्धा ये हलन्तास्तेषां कारितणौ कृते टिलोपे च णिलोपे च  
तज्जलन्तत्वमुह्यताम् । मठं मखं कफं रथं चाचक्षाणः कुर्वन् वा मद् ,



मक्, कप्, रत् । स इवाचरति मठति । मखति । कफति । रथति  
इत्यादिक्रमेण यथालक्षणमप्रयुक्तेऽप्युह्यमित्यर्थः ।

प्रकृतमनुसरामः—

भृशादिभ्यो भुव्यच्चेर्लोपश्च हलः (पा०सू०३-१-१२) ॥ अत्राच्चे-  
रित्येकवचनं भृशाद्यवयवापेक्षं, सौत्रो वा वचनव्यत्ययः । पर्युदासात्स-  
दृशग्रहः । अभूततद्भावविषयेभ्यो भृशादिभ्यो भवत्यर्थे क्यङ् स्यात्,  
हलन्तानां त्वेषां लोपोऽपि स्यात् । अभृशो भृशो भवति भृशायते ।  
अशब्दोऽन्वाच्ये न तु सन्नियोगे, अजन्तानां गणे पाठस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।  
अच्चेरिति यदि प्रसज्यप्रतिषेधः स्यात्तर्हि असमर्थसमासो वाक्यभेद-  
श्च स्पष्ट एव । किंच भवतियोगे च्चेर्विधानादनुप्रयुज्यमानेन भवतिनैव  
उक्तार्थत्वात्क्यङोऽप्रसक्तौ निषेधवैयर्थ्यम् । अतः पर्युदास एवोचि-  
तः । तथाच नञिव्युक्तन्यायेन सादृश्यलाभादभूततद्भावविषयेभ्य  
इत्युक्तम् । तेनेह न-कव दिवा भृशा भवन्ति । ये रात्रौ भृशा नक्षत्रादयः  
ते दिवा क्व प्रदेशे भवन्तीत्यर्थः । इह सुमनस् उन्नमस् दुर्मनस् अभि-  
मनस् इति पठ्यते । तत्र शङ्क्यते-समासात्क्यङि विशिष्टस्य धातुत्वा-  
ददृल्यब्द्विर्वचनेषु दोषः । तथाहि, स्वमनायत, उदमनायत इत्यादी-  
ष्यते । असुमनायत, औन्नमनायत इत्यादि प्राप्नोति । तथा 'सुमनाय्य' इत्या-  
दौ ल्यबिष्टः । सु उद् इत्यादीनां क्त्वान्तशरीरप्रवेशे तु तद्व्यतिरिक्त-  
पदाभावादसति समासे ल्यपोऽभावात् 'सुमनायित्वा' इत्यादि प्राप्नोति ।  
तथा क्यङन्तात्सनि सन्नन्तस्य प्रथमस्यैकाचो द्वित्वे सुसुमनायिषते  
इत्यादि प्राप्नोति । सुमिमनायिषते इत्यादीष्यते ।

अत्राहुः—चुरादिषु "संग्राम युद्धे" इति पठ्यते स न पाठ्यः । संग्रा-  
मशब्दाद्युद्धवाचिनः "तत्करोति" (ग०सू०) इत्येव णिचः सिद्धेरिति  
तत्पाठो नियमार्थः—धातुसंज्ञानिमित्तः प्रत्ययः सोपसर्गाच्चेद्भवति सं-  
ग्रामयतेरेव नान्यस्मादिति, ज्ञापनार्थो वा-सोपसर्गात्संघाताद्धातुसं-  
ज्ञानिमित्ते प्रत्यये विधित्सिते उपसर्गाः पृथक् क्रियन्ते परिशिष्टादेव  
तु प्रत्यय इति । संग्रामशब्दो हि चुरादौ पठ्यमानः सोपसर्गः संघात  
एव न तूपसर्गसदृशावयवम् 'आप्ल' व्याप्ताविति वच्छब्दान्तरम् ।  
तथाच "वा पदान्तस्य" (पा०सू०८४-४-१९) इति परसवर्णविकल्पो  
भवति । संघातपाठफलं तु असंग्रामयत शूरः, संग्रामयित्वा,  
सिसंग्रामयिषते इत्यादि । ततश्चोक्तरीत्या नियमो ज्ञापनं वा निष्कृ-  
ष्टं फलमिति ।

अत्र हरदत्तः—अनुदात्तेदयं संग्रामयतिरिष्यते । ततश्च आत्मनेप-



दार्थं गल्भत्यादीनामिवानुबन्धासङ्गार्थः पाठः स्यादिति कथं नि-  
यमो ज्ञापकं वा भवेदिति । न चानुबन्धासङ्गनार्थं पाठे 'ग्राम  
युद्धे' इत्येव पठ्येत । संशब्दस्तु द्योतकः प्रयोगदर्शनवशादेवं लभ्य-  
ते । यथा इडिकोरधिः । तस्माद्विशिष्टपाठः प्रागुक्तफलक एवेति  
वाच्यम्, एवं हि यथा इडिकोरधेः पूर्वमाङ् न भवति तथाऽस्यापि  
न स्यादिति ।

अत्र माधवः—अस्यानुदात्तेत्वमपाणिनीयमिति पाठस्यैतदर्थतया  
न ज्ञापकभङ्ग इति । एतच्च "संग्रामयतिरनुदात्तेद्वौद्धव्यः" इति कैयटेन  
विरुध्यते । यदपि हरदत्तेन सिद्धान्तितं—मनःशब्दस्य स्वादिभिर्न  
समासः, किन्त्वसमस्ता एवैते प्रत्ययार्थविशेषणम्, मनःशब्दश्च  
वृत्तिविषये तद्वति वर्त्तते, मनस्वी सुष्ठु भवतीत्यादिरर्थ इति;  
तदपि "प्रभौ परिवृद्धः" ( पा०सू०७-२-२१ ) इत्यत्र परिवृद्धमाचष्टे  
इति णिचि क्त्वाप्रत्यये कृते 'परिवृद्धय' इति ल्यब् भवतीति  
भाष्यकारादिभिर्वक्ष्यमाणेन विरोधात्पराहतमेव । नह्यत्रैव तत्रापि प्र-  
त्ययार्थविशेषणत्वं सम्भवति । कथं तर्हीह इष्टार्थसिद्धिरिति चेत् ?

अत्रोच्यते—चुरादौ पठ्यमानं 'सङ्ग्राम' इत्येतत्प्रातिपदिकम्,  
'अर्तिस्तुसु' ( उ०सू०१४५ ) इति मन्नाधिकारे "ग्रसेरा च" ( उ०  
सू०१४८ ) इति व्युत्पादनात्; न तु धातुः, तस्य च "तत्करो-  
ति" ( ग०सू० ) इति पूर्वप्रक्रान्तेन गणसूत्रेण णिचि सिद्धे तत्स-  
न्नियोगे अनुबन्धासङ्ग एव फलं गल्भादिवत् । एवं स्थिते "युद्धे योऽयं  
ग्रामशब्द" इत्युक्तेऽपि केवलस्य ग्रामशब्दस्य युद्धे वृत्त्यभावात्सामर्थ्या-  
त्सङ्ग्रामशब्दो लभ्यत एव । तत्र च 'सङ्ग्रामि' इति विशिष्टस्य धातुत्वम-  
पि सुलभम्, "सनाद्यन्ताः" ( पा०सू०३-१-३२ ) इति सूत्रेण विधीय-  
मानायाः सङ्ज्ञायाः प्रकृतिप्रत्ययसङ्घाते विश्रान्तेः । एतेन इडिकोः प्र-  
तिबन्दिः परास्तः, तत्र हि पाठापेक्षा धातुसङ्ज्ञा विशिष्टं न स्पृशती-  
ति वैषम्यात् । एवं च "सङ्ग्राम" इति विशिष्टपाठो ज्ञापयति "उपसर्गस-  
मानाकारं पूर्वपदं धातुसङ्ज्ञाप्रयोजकीभूते प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक् क्रि-  
यते" इति । तच्चाजहत्स्वार्थायां वृत्तौ स्वोत्तरभागेन धातुसङ्ज्ञानिमित्त-  
प्रत्ययप्रकृतिभूतेन समानार्थकमिति तद्घटितविशिष्टार्थेनापि क्त्वान्ते-  
न सह समर्थत्वात् "कुगति" ( पा०सू०२-५-१८ ) इति सूत्रेण प्रादि-  
ग्रहणात्समस्यत इति 'परिवृद्धय' इत्यादिसिद्धिः । अवजिगल्लिभषते,  
अवागल्लभत, अवगल्लभ्य इत्यादावपीयमेव गतिः । न चैवम्  
'उस्योमाङ्स्वाटः" ( का०वा० ) इति षाष्ठ्यवार्तिकेन 'औदीयत्'



इति तद्भाष्येण च सह विरोधः, ज्ञापकस्य सजातीयविषयतया श्रूयमाणे पूर्वपदे प्रवृत्तिः, न त्वादेशेनापहृते इति स्वीकारात् । अत्र च भाष्यवार्तिकधातुवृत्त्यादिग्रन्था अनुकूला इति गुणगुह्यैर्निभाव्यताम् । एवं च 'प्रमाणयित्वा' 'विचारयित्वा' इत्यादयः केषांचित्प्रयोगाः प्रामादिका एव । अत एव प्रशस्यमाचष्टे 'श्रापयति' 'ज्यपयति' इति श्रज्याबुदाहरन्तः सुधाकारादयः 'श्रपयति' 'ज्यपयति' इत्युदाहरन्तः शाकटायनादयश्च प्रक्रियारक्षे निराकृताः, प्रशब्दस्य पृथक्करणेन शस्यशब्दादेव णिजुत्पत्त्या श्रज्ययोरप्राप्तेः । अत एव माधवादिभिः 'प्रशस्ययति' इत्येव स्वीकृतम् । एतेन 'प्रावृषमाख्यत् अपप्रावत्' 'वीरुधमाख्यत् अविवीरत्' इत्याद्युदाहरन्तो धातुचन्द्रोदयकारादयः परास्ताः । सङ्ग्रामयतेः पाठेन ज्ञापितस्यार्थस्य "उस्योमाङ्क्षाटः" (का०वा०) इति षाष्ठभाष्यवार्तिकबलेन अनित्यताज्ञापनमाश्रित्य कथंचिद्वा समर्थनीया इति दिक् ।

भृशादयस्तु श्लोकगणपाठानुरोधेन माधवीये उदाहृताः । तद्यथा-भृशायते । चपलायते । मन्दायते । पण्डितायते । रेहायते । रेहशब्दो रहसि निर्घृणत्वे भिक्षाभिलाषस्य च निवृत्तौ वर्तत इति गणवृत्तिः । तृपायते, तृपश्चन्द्रः समुद्रश्च । वेहायते, वेहद् गर्भोपघातिनी । अधरायते, 'अधरो मूर्खः पुष्करश्च' इति गणवृत्तिः । ओजायते, वर्चायते, ओजोवर्चःशब्दौ वृत्तिविषये तद्वति वर्तते । रेफायते, रेफः सरोष इति गणवृत्तौ । दुर्मनायते । सुमनायते । उन्मनायते । उत्सुकायते । शङ्खायते, बृहायते, तान्तावेतौ । "सुबामन्त्रिते" (पा०सू०२-१-२) इत्यत्र मनस्युपसर्गस्य पराङ्गवद्भाव उपसंख्येयः । तेन 'सुमनायते' इत्यादौ "तिङ्ङितिङः" (पा०सू०८-१-२८) इति निघातो न भवति, 'देवदत्तः सुमनायते' इत्यादौ सोपसर्गस्य निघातश्च भवतीति प्रकृतसूत्रस्थाभाष्यपर्यालोचनया लभ्यते । अमी श्लोका गणपाठस्था भृशादयः । गणवृत्तौ तु बृहच्छब्दो न पठ्यते । भद्रशब्दस्तु पठ्यते । कन्धरशब्दश्च त्वचोऽभ्यन्तरे स्थूलतन्वाभा असंयुक्ता स्नायुः कन्धरा, तद्वान् कन्धरः । मत्वर्थे अर्शआदिभ्योऽच् (पा०सू०५-२-१२७) ।

लोहितादिडाज्भ्यः क्यप् (पा०सू०३-१-१३) ॥ लोहितादिभ्यो डाजन्ताश्च भवत्यर्थे क्यप् स्यात् । "वा क्यप्ः" (पा०सू०१-३-२०) लोहितायति, लोहितायते । अत्र 'अच्चे' इत्यनुवृत्त्या अभूततद्भावविषयत्वं लभ्यते । तच्च डाचो न विशेषणम्, असम्भवात् । अलोहितो लोहितो भवतीति विग्रहः । पटपटायति, पटपटायते । कृभ्वस्तियोगं विनाऽपि क्यप्पो डाजन्ताद्विधानसामर्थ्यादेवेह डाच् । भवत्यर्थे विधीयमानेन



कथं वा उक्तार्थस्य भवतेरिह प्रयोगायोगात् । अत्र वार्तिकम्—

लोहितडाज्भ्यः कयश्चनं भृशादिष्वितराणीति ॥ आदिशब्दप्रत्या-  
ख्यानपरमेतत् । लोहितशब्दात्परत्र पठ्यमानानि नीलहरितमन्द्रफेन-  
दासमन्द इत्येतानि षट् भृशादिषु द्रष्टव्यानीत्यर्थः । कयषः ककारष-  
कारावपि प्रत्याख्यातौ । तथाहि, ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थो नेति स्प-  
ष्टमेव, अप्रसक्तस्य प्रतिषेधायोगात् । नापि “नः कये” (पा०सू०१-४-१५)  
इति सामान्यग्रहणार्थः, नान्तादाविधानात् । नापि “आपत्यस्य च तद्धि-  
तेनाति” “कयच्छ्वोश्च” (पा०सू०६-४-१५१, १५२) इति, आपत्यादविधा-  
नात् । नापि “कयाच्छन्दसि” (पा०सू०३-२-१७०) इति, ‘याच्छन्द-  
सि’ इत्येव सुवचत्वात् । युक्तं चैतत् ‘शकुनम्भुरण्युम्’ इति, कण्ड्वा-  
दियगन्तादपि दर्शनात् । नापि लोहितायते इत्यत्र “अकृत्सर्व”  
(पा०सू०७-४-२५) इति दीर्घप्रवृत्त्यर्थः, तत्र कृडित्तात्यस्याननुवृत्तेः ।  
नन्वनुवृत्तिरावश्यकी ‘उरुया’ ‘धृष्ण्या’ इत्येवमर्थमिति चेत् ? न,  
इह हि तृतीयास्थाने “सुपां सुलुक्” (पा०सू०७-१-३९) इति या-  
देशः । स च छान्दसः । तत्र च हस्वोऽपि छान्दस एव भविष्यति  
उपगायन्तु सापल्लयो गर्भिण्य इतिवत् । नापि “कयस्य विभाषा” (पा०  
सू०६-४-५०) इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः, हल इत्यनुवृत्तेः । नह्ययं हल-  
न्तादस्ति, न च “वा कयषः” (पा०सू०१-३-९०) इति विशेष-  
णार्थः, “वा स्यात्” इत्येव सूत्रणात् । न चैवं “पाशादिभ्यो यः”  
(पा०सू०४-२-४९) पाश्या, अत्र प्रसङ्गः, सामान्यविहितानां तिङां  
नियमार्थं हि तत्प्रकरणम् । न च पाशादियान्तात्तिङः सन्ति । नन्वा-  
चारक्विवन्तात्सन्तीति चेत् ? न, टापा व्यवधानात्, पूर्वस्मादपि विधौ  
एकादेशस्य स्थानिवद्भावात् । न च दण्ड्यवध्यादिशब्देभ्य आचार-  
क्विवन्तेभ्योऽतिप्रसङ्गः शङ्क्यः, तत्र “दण्डादिभ्य” (पा०सू०५-१-६६)  
इति सूत्रेण यदेव विधीयते “शीर्षच्छेदाद्यञ्च” (पा०सू०५-१-६५) इति  
पूर्वसूत्राद्यदनुवृत्तेः न तु यप्रत्यय इति पञ्चमे वक्ष्यमाणत्वात् । अत  
एव षकारोऽपि व्यर्थः । स हि “वा कयषः” (पा०सू०१-३-९०) इत्यत्र वि-  
शेषणार्थः “कयाच्छन्दसि” (पा०सू०३-२-१७०) “कयस्य विभाषा”  
(पा०सू०६-४-५०) इत्यादौ सामान्यग्रहणाविधातार्थो वेति फलं स-  
म्भाव्यते । तच्च सर्वं दूषितमेव । तस्मादादिशब्दं कषौ च हित्वा  
“लोहितडाज्भ्यो यः” इति भाष्ये स्थापितम् । यदि तु “सभाया  
यः” (पा०सू०४-४-१५०)-सभ्यः, स इवाचरतीत्यादेराचारक्विवन्तस्या-  
भिधानमस्ति, तर्हि “वा यषः” इति सूत्र्यताम् । षकारमात्रं वाऽस्तु, अव-



शिष्टं तु व्यर्थमेव । वृत्तिकारस्तु वार्तिकस्यार्थमन्यथा मन्यते । तद्यथा-  
न किलानेनादिग्रहणं प्रत्याख्यायते, किन्तु यानि पठितानि नीलादीनि  
षट् तेषामेव इतोऽपकृष्य भृशादिषु निवेश उच्यते । अपठितानां तु  
कषणव । तानि चाकृतिगणत्वाल्लभ्यन्ते । आकृतिगणत्वे ज्ञापकं तु “नः  
कवे” (पा०सू१-४-१५) इति सामान्यग्रहणार्थः कषणः ककारः तद्वि-  
द्यातार्थः षकारश्च, न हि पठ्यमानेषु लोहितादिषु नान्तः कश्चिद-  
स्ति । तानि चाकृतिगणसिद्धानि गणवृत्तिकारः सञ्जग्राह ।

लोहितइयामदुःखानि हर्षगर्वसुखानि च ।

मूर्च्छानिद्राकृपाधूमाः करुणानित्यचर्मणीति ॥

निद्राकरुणादयो वृत्तिविषये तद्वति वर्तन्ते । निद्रायति निद्रायते  
इत्यादि । तदेतत्सर्वं भाष्यविरुद्धत्वादुपेक्षम् । किञ्च ‘लोहितडाज्भ्यः’  
इति वदतो वार्तिककारस्यापि आदिशब्दप्रत्याख्यानमभिप्रेतमिति  
स्पष्टं लभ्यते । अन्यथा हि ‘लोहितात्’ इत्येव ब्रूयात् । अत एव “विद्वस्य-  
मान इत्यत्र लोहितादिडाज्भ्यः कषण्” इति कल्पतरुग्रन्थो वृत्तिकाररी-  
त्या सम्भवन्नपि भाष्यविरुद्धत्वात्प्रौढिवादमात्रमिति कषण्विधावबो-  
धाम ।

स्यादेतत्, “कषण् च” इति सूत्रमस्तु, चात्कषण् । तत्र कषणक्षे पर-  
स्मैपदम्, कषण्क्षे त्वात्मनेपदमिति “वा कषणः” (पा०सू०१-३-२०)  
इति सूत्रं मास्त्विति चेत् ? मैवम्, “प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्ट-  
स्यापि ग्रहणम्” (पा०भा०७३) इति लोहिनीशब्दात् कषणि ‘लोहिनी-  
यति’ ‘लोहिनीयते’ इति रूपद्वयमिष्यते । कषण् तु “कषण्मानिनोश्च”  
(पा०सू०६-३-३६) इति पुंवद्भावे सति ‘लोहितायते’ इति स्यादि-  
ति फले भेदात् ।

कषाय क्रमणे (पा०सू०३-१-१४) ॥ कषे कृच्छ्रम् । “कृच्छ्रगहनयोः  
कषः” (पा०सू०७-२-२२) इति कृच्छ्रे इडभावः । तेन च तत्करणं पापं  
कर्म लक्ष्यते । क्रमणमुत्साहः, “वृत्तिसर्गतायनेषु” (पा०सू०१-३-३८)  
इति सूत्रे हि ‘सर्ग उत्साह’ इत्युक्तम् । तदयमर्थः-चतुर्थ्यन्तात्कषणशब्दा-  
दुत्साहेऽर्थे कषण् स्यात् । कषाय क्रमते कषायते । पापं कर्म कर्तु-  
मुत्सहत इत्यर्थः ।

सत्रकक्षकषकृच्छ्रगहनेभ्यः कषणचिकीर्षायामिति वक्तव्यम् (का०  
धा०) ॥ कषणं पापम् । सत्रादयो वृत्तिविषये पापपर्यायाः । ते-  
भ्यो द्वितीयान्तेभ्यः चिकीर्षायां कषण् । पापं चिकीर्षतइत्यस्वपदेन वि-  
ग्रहः । सत्रायते । कक्षायते । कषायते । कृच्छ्रायते । गहनायते ।



कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः (पा०सू०३-१-१५) ॥ कर्मण इति पञ्चमी, रोमन्थतपोभ्यामित्यनेन सामानाधिकरण्यात् । प्रत्येकं सम्बन्धात्वेकवचनम् । वर्तीति पयन्तादृतेः “ण्यासश्नन्थोयुच्” (पा०सू०३-३-१०७) इति युचि प्राप्ते अत एव निपातनात् क्तिन् । चरतेः सम्पदादि-त्वाद्भावे किप् । रोमन्थतपोभ्यां कर्मभ्यां यथासङ्ख्यं वर्तिचरोरर्थयोः क्यङ् स्यात् । रोमन्थं वर्तयति रोमन्थायते ।

हनुचलन इति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ हनुचलनेनात्र चर्वितस्य मुखप्रदेशे आकृष्य चर्वणं लक्ष्यते । नेह-कीटो रोमन्थं वर्तयति । अपानप्रदेशान्निःसृतं द्रव्यं कीटो वर्तुलं करोतीत्यर्थ इति न्यासकारहरदत्तौ । अपानप्रदेशान्निःसृतमभ्रातीत्यर्थ इति तु कैयटो व्याख्यत् । तपस्यति, १६ तङ् प्राप्तः । तस्मात्—

तपसः परस्मैपदं च (का०वा०) । इति वक्तव्यम् । एवं च “नमोवरिव” (पा०सू०३-१-१९) इत्यादिसूत्र एव तपःशब्दः पठितुमुचितः । तथा तु न कृतमित्येव ।

बाष्पोष्मभ्यामुद्धमने (पा०सू०३-१-१६) कर्मणः ॥ क्यङिति वर्तते । बाष्पमुद्धमति बाष्पायते । ऊष्माणमुद्धमति ऊष्मायते ।

फेनाच्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ फेनायते ॥

शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे (पा०सू०३-१-१७) ॥ एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् । शब्दं करोति शब्दायते । एवं वैरायते । कलहायते । अभ्रायते । कण्वायते । मेघायते । “तत्करोति” (ग०सू०) इति णिचि प्राप्तेऽयमारम्भः । पक्षे णिजपीष्यते—‘शब्दयति’ इति । तदर्थं मण्डूकप्लुत्या “भृशादिभ्यो भुवि” (पा०सू०३-१-१२) इति सूत्राच्चकारोऽत्रानुवर्तत इति न्यासकारः । अत्र वार्तिकम्—

सुदिनदुर्दिनाभ्याञ्च (का०वा०) ॥ सुदिनायते । दुर्दिनायते ।

नीहाराच्च (का०वा०) ॥ नीहारायते ।

अट्टाट्टाशीकाकोटापोटासोटाऽऽहृष्टाऽऽहृष्टाग्रहणं कर्तव्यम् (का०वा०) ॥ पोटा स्त्रीपुंसलक्षणा । अतोऽन्ये क्रियावचना इति सुब्धातुवृत्तौ माधवः । अट् गतौ (भ्रा०७२९६) । अट्तीत्यट् । अचि टप्, तां करोति अटायते । अट् अतिक्रमहिंसयोः (चु०३०२८) “गुरोश्च हलः” (पा०सू०३-३-१०३) इत्यकारः—अट्, तां करोति अटायते । शीकृ सेचने (भ्रा० आ०७५) तालव्यादिः । दन्त्यादिरिति तु धनपालकादयपौ । गुरोश्चेत्यकारः—शीका, तां करोति शीकायते इति तद्भातुव्याख्यायां माधवः । कुट् कौटिल्ये (तु०प०८६) तुदादिः, हेतुमणिञ् ।



कुट छेदने ( चु०आ०१६५ ) आकुस्मीयः । कोटयति कोटयते वा कोटा, तां करोति कोटायते । पोटाका, पोटायते । 'सोटा'इति पाठे धात्वर्थोऽन्वेषणीयः । 'मोटा'इति पाठे तु मुट सञ्चूर्णने(चु०प०८१)चुरादिः, प्रदर्शने भ्वादिः । प्रदर्शनाक्षेपयोस्तुदादौ (तु०प०९४) । मोटयतीति मोटा, मोटायते । ऋष प्लुष दाहे (भ्या०प०५५,५६) । कर्मणि क्तः, प्रुष्टा प्लुष्टातां करोति ऋष्टायते, प्लुष्टायते । उज्ज्वलदत्तस्तु "अशूऋषिलटि-कणिखटिविशिभ्यः क्वन्" ( उ०सू०१५७ ) इति सूत्रे 'ऋष्वःस्या-हतुसूर्ययोः' 'ऋष्वा जलकणिका'इति रत्नमतिः । ऋष स्नेहनादा-विति धातुः 'ऋष्वायते' इत्युदाहरन् इह वार्तिके 'ऋष्वा'इति पाठ-मुपन्यस्तवान् ।

सुखादिभ्यः कर्तृ वेदनायाम् (पा०सू०३-१-१८) ॥ कर्तृ इति पृथक्पदं लुप्तपृष्ठीकम् । वेदना ज्ञानम् । "विद चेतनाख्यानविवासेषु" (चु०आ० १७५) इत्यस्माच्चुरादिष्यन्ताद्भावे "ण्यासश्चन्थो युच्" (पा०सू०३-३-१०७) । "घट्टिचिन्दिविदिभ्यश्च" (का०वा०) इति औपसङ्ख्यानिको वा । कर्तृत्वं च श्रुतवेदनक्रियापेक्षम् । तदयमर्थः-वेदनक्रियायाः कर्तुरा-धेयभावेन सम्बन्धिभ्यः सुखादिभ्यः कर्मभ्यो वेदनायामर्थे क्यङ् स्यात् । सुखं वेदयते सुखायते । कर्तृग्रहणं किम् ? सुखं वेदयते प्रसा-धको राज्ञः । अयं वेदिः आकुस्मीयः । एवं च 'वेदयति'इति केषांचित्प-रस्मैपदपाठः प्रामादिकः । अत्र श्लोकगणकारः—

सुखदुःखगहनकृच्छ्रास्तृप्रालीकप्रतीपकरुणाश्च ।

कृपणः सोढ इतीमे सुखादयो दश गणे पठिताः ॥

सोढं सहनमभिभवो वा । गणरत्नमहोदधौ तु आस्रशब्दो-ऽपीह पठ्यते ।

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् (पा०सू०३-१-१९) ॥ करणग्रहणमनुवृत्त-मभिधानशक्तिस्वाभाव्यादिह क्रियाविशेषपरम् । तेन नमसः पूजा-यां, वरिवसः परिचर्यायां, चित्रङ आश्चर्ये, क्यच् स्यात् । नमस्यति देवान्, नमस्कारेण पूजयतीत्यर्थः । वरिवस्यति गुरुन् । शुश्रूषत इत्य-र्थः । चित्रीयते । 'विस्मयते इत्यर्थः, 'विस्माययते' इत्यन्ये । तथा च मा-यामृगं प्रकृत्य भट्टिराह—"ततश्चित्रीयमाणोऽसौ" इति । अत्र चित्रङो ङित्करणादवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवतीति वाच्यम् । तथा सति क्यजन्तादात्मनेपदम् । न चैवं शब्दवैरादिसूत्रे चित्रश-ब्दोऽपि पठ्यतां क्यङैव तङ् भविष्यतीति वाच्यम्, तथा सति हि



“क्यचि च” (पा०सू०७-४-३३) इति ईत्वं न स्यात् । तस्मात्क्यजेव कार्यो ङित्वं च ।

पुच्छभाण्डचीवरणिण्ड (पा०सू०३-१-२०) ॥ करण इत्यनुवृत्तेः क्रियाविशेषे पुच्छाबुदसने व्यसने पर्यसने च । उदसनमुत्क्षेपणम् । व्यसनं-विविधं विरुद्धं वाउत्क्षेपणम् । पर्यसनं-परितः क्षेपणम् । उत्पुच्छयते । विपुच्छयते । परिपुच्छयते ।

भाण्डात्समाचयने (का०वा०) ॥ समाचयनं राशीकरणम् । सम्भाण्डयते । भाण्डानि समाचिनोतीत्यर्थः ।

चीवरादर्जने परिधाने वा (का०वा०) ॥ संचीवरयते भिक्षुः । चीवराण्यर्जयति परिधत्ते वेत्यर्थः । णिङो णकारः सामान्यग्रहणार्थो न तु वृद्ध्यर्थः, असम्भवात् । ङकारस्तद्विधातार्थः आत्मनेपदार्थश्च । अत एव पुच्छादय उत्तरसूत्रे न निवेशिताः ।

मुण्डमिश्रइलक्षणलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् (पा०सू० ३-१-२१) ॥ एभ्यो दशभ्यः कृजर्थे णिच् स्यात् । मुण्डं करोति मुण्डयति । मिश्रयति । इलक्षणयति । लवणयति ।

व्रताङ्गोजने तन्निवृत्तौ च (का०वा०) ॥ पयः शूद्रान्नं वा व्रतयति ।

वस्त्रात्समाच्छादने (का०वा०) ॥ संवस्त्रयति । इह भोजनतन्निवृत्तौ व्रतशब्दस्यार्थः । समाच्छादनं तु वस्त्रशब्दस्य । प्रत्ययस्तु कृजर्थे । श्रूयते च भोजने व्रतशब्दः—“यदस्य पयो व्रतं भवति । आत्मानमेव तद्वर्धयति । त्रिव्रतो वै मनुरासीत् । द्विव्रता असुराः । एकव्रता देवाः” इति । पस्पशायां च—“शक्यञ्जानेन इवमांसादीन्यपि व्रतयितुम्” इति । अयमेव व्रतशब्दो दर्शादिवद्विपरीतलक्षणया तन्निवृत्तौ वर्तते । ‘संवस्त्रयति प्रावारम्’ इत्यत्र प्रावारमाच्छादयतीत्यर्थ इति माधवः ।

हलादिभ्यस्त्रिभ्यो ग्रहणे प्रत्ययः । हलिं गृह्णाति हलयति । कलिं गृह्णाति कलयति । कृतं गृह्णाति कृतयति ।

तूस्तानि विहन्ति वितूस्तयति । ‘तूस्तं केशः’ इति श्रीभद्रः । जटीभूताः केशा इति न्यासः । पापमिति वैजयन्ती ।

स्यादेतत्, “प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे” (ग०सू०) इत्येव सर्वमिदं सिद्धम् । न च “तत्करोति” (ग०सू०) इत्यादिना तत्र धात्वर्थनियमः, राजानमतिक्रान्तवान् अत्यरराजदित्यादेरपीष्टत्वात् । तर्हि मुण्डादि सूत्रेणेति चेत् ?

अत्राहुः, मुण्डयति माणवकं, मिश्रयत्यन्नं, इलक्षणयति वस्त्रं, लव-



णयति व्यञ्जनमिति सापेक्षेभ्योऽपि णिजर्थमिदम् । हलिकल्योस्त्वत्व-  
निपातार्थम् । तथा च वार्तिकम्--

हलिकल्योरदन्तत्वनिपातने सन्वद्भावप्रतिषेधार्थमिति । तथाहि,  
'हलिइ' 'कलिइ' इति स्थिते "अचो ङिति" (पा०सू०७-२-११५) इति वृद्धिः  
प्राप्नोति, णाविष्टवदिति टिलोपश्च । तत्र लोपः शब्दान्तरप्राप्त्या अ-  
नित्यः, वृद्धिस्तु टिलोपे सत्यप्राप्तेः । उभयोरनित्ययोः परत्वाद् वृद्धौ  
कृतायां ऐकारस्य आयादेशात्पूर्वमेव परत्वात् वार्णादाङ्गस्य बलीय-  
स्त्वाच्च लोपेऽनग्लोप्ययम्भवतीति "सन्वल्लघुनि" (पा०सू०७-४-९३)  
इति सन्वद्भावः स्याद् "दीर्घो" (पा०सू०७-४-९४) इति दीर्घश्च । न च  
टिलोपस्य "अचः परस्मिन्" (पा०सू०७-१-५७) इति स्थानिवद्भाववाचने  
व्यवधानान्न दोष इति वाच्यम्, चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासो  
लघुपरः तस्य सन्वत् लघोर्दीर्घश्चेति हरदत्तादिभिः पुरस्कृते कैय-  
टेनैकायमततयोपन्यस्ते व्याख्याने स्थानिवद्भावस्याकिञ्चित्कर-  
त्वात् । चङ्परे णौ यल्लघु तत्र परतो योऽभ्यासः तस्येति भाष्यकै-  
यटमतेऽपि अभ्यासस्य टिलोपाद्यनन्तरं जातत्वेन (१) आदिष्ठादचः पूर्व-  
त्वेन स्थानिवत्त्वाप्रसङ्गात् । अत्वनिपातने तु यद्यपि परत्वाद् वृद्धिस्त-  
थापि अगेव लुप्यत इति सन्वद्भावदीर्घौ न भवतः । एवं च बलिपटु-  
प्रभृतिभ्यो णिचि अबीबलत् अपीपटत् इति भवति न तु अबबलत्  
अपपटत् इति ।

स्यादेतत्, "णौ चङि" (पा०सू०७-४-१) इत्यत्रत्यभाष्येण स-  
हैतद्विरुध्यते । तत्र हि वृद्धेलोपो बलीयानिति स्थितम् । युक्तं चैतत्,  
शब्दान्तरप्राप्तौ सत्यामपि कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्रेण कचिन्नित्यत्वाभ्यु-  
पगमात् । यदाह—भुवोबुकोनित्यत्वादित्थादीति, ज्ञापकं चात्र "ना-  
ग्लोपिशास्" (पा०सू०७-४-२) इति सूत्रे अगिति प्रत्याहारग्रहणम् । त-  
थाहि, अवर्णान्तेष्ववर्णोपधेषु ऋवर्णान्तेषु च वृद्धावप्यवर्ण एव लुप्यते ।  
तत्र अलोपिनां नेत्येव वाच्यम् । इवर्णोवर्णान्तयोस्तु वृद्धौ कृतायामौ-  
कारो लुप्यते न त्वक् । न च स्वामिनमाख्यत् असस्वामत्, गोमिनमा-  
ख्यत् अजुगोमत्, प्रादुराख्यत् अपप्रादत्, यादृशमाख्यत् अययादत्, ता-  
दृशमाख्यत् अततादत् इत्यादौ यत्र वृद्धेरप्रसङ्गादिको लोपस्तत्र ह्रस्वनि-  
वृत्तये अग्रग्रहणमिति वाच्यम्, अनभिधानात्तत्र णिच एवानुत्पत्तेः ।

(१) आदिष्ठादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये विहितस्य स्था-  
निवत्त्वस्याप्रसङ्गादित्यर्थः ।



एतच्च भाष्यकारेण ज्ञापकत्वस्य समर्थनादवसीयते । न चैवमपि स्रग्विणमाख्यद् अस्रजजत् इत्यत्र विन्मतोर्लुकि उपधाया वृद्धौ ह्रस्व-  
निवृत्त्यर्थं अग्लोपग्रहणं स्यात्, अस्ति ह्यत्राभिधानम् “देः” इत्यत्र भाष्ये  
‘स्रजयति’ इत्युदाहरणादिति वाच्यम्, एवमपि स्रजयतीत्यत्र वृद्धभाष्यस्य  
सिद्धान्तसम्मतत्वेन देरित्यत्र भाष्यकारेण स्रजयतीति निर्देशात्  
“अङ्गवृत्ते” (प०भा०९४) इति परिभाषया वा वृद्धेरप्रसङ्गेन ह्रस्वभा-  
विन्या उपधाया एव अभावात् । अतः प्रत्याहारग्रहणं ज्ञापकं वृद्धेः  
पूर्वं टिलोप इति । तत्कथमिहोच्यते वृद्धौ सत्यां टिलोपइतीति चेत् ?

अत्र माधवः—परत्वाद् वृद्धिरिति मुख्यः पक्षः, वृद्धेलोपो बली-  
यानिति तु प्रौढिवादमात्रमित्येकं मतम् । तद्विपरीतं मतान्तरम् । भा-  
ष्यद्वयग्रामाण्याद् वृद्धेः पूर्वं पश्चाद्वा कामचारेण टिलोप इति अपप-  
टत् अपीपटदिति रूपद्वयमपि साध्विति चापरं मतमिति मतत्रयमपि  
सुब्धातुवृत्तावुपनिबद्धवान् । तत्राद्यं मतं हरदत्तस्य, द्वितीयं कैयटस्य,  
तृतीयं त्वन्येषामिति विवेकः । एतद्वलाबलचिन्ता तु करिष्यते । अयं  
च भेदो णिभिन्नविषयः, णेर्णिचि तु ण्यलोपाविति विप्रतिषेधात् निष्क-  
र्षरीत्याऽपवादत्वाद्वा प्रागेव णिलोपः । उपधाह्रस्वत्वे सन्वद्भावदी-  
र्घयोश्च णेर्णिचीत्युपसंख्यानान्णयाकृतिनिर्देशाद्वा अवीवददित्येव रूप-  
मिति सप्तमे वक्ष्यामः ।

प्रकृतमनुसरामः । मुण्डादिसूत्रे केषांचिद्ग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । मुण्डा-  
दयः सर्वेऽपि “सत्यापपाश” (पा०सू०३-१-२५) इत्यत्रैव पठितुं  
युक्ताः । एवं हि एकवाक्यता लभ्यते । द्विर्णिजग्रहणं च न कर्तव्यमि-  
ति लाघवम् । तथा तु न कृतमित्येव ।

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (पा०सू०३-१-२२) ॥  
एकाच् हलादिः समभिहित्यमाणक्रियावृत्तियों धातुः तस्मात्स्वार्थे यङ्  
स्यात् । समभिहारोऽत्र पौनःपुन्यं भृशार्थो वा । यद्यपि विप्रकीर्णानामेक-  
त्र राशीकरणं समभिहारशब्दस्य मुख्योऽर्थः, तथाप्यसौ धान्यादीना-  
मेव सम्भवति, न तु धातुवाच्यायाः क्रियायाः, अमूर्तत्वात् । अतो  
गौणोऽर्थो गृह्यते । स च न प्रत्ययस्य वाच्यः, प्रकृत्यर्थं प्रति विशेष्य-  
तापत्तेः, किन्तु द्योत्योऽर्थः । अत एव टाबादयस्तरवादयश्च स्वार्थिका  
एवेति निरुद्धः पन्थाः । यदा तु प्रकृत्यर्थं प्राधान्यमौत्सर्गिकम् आख्यात  
इव टाबादिष्वपि त्यज्यते तदा टाबादयो वाचका इत्यपि पक्षः सम्भ-  
वत्येव । स्वीकृतश्चायं लिङ्गादिविधौ भाष्येऽपीति तत्रतत्र स्फुटम् । पुनः  
पुनरतिशयेन वा पचति पापच्यते । “दीर्घोऽकितः” (पा०सू०७-४-८३)



इति दीर्घः । देदीप्यते । “गुणो यङ्लुकोः” (पा०सू०७-४-८२) इति गुणः । ननु “क्रियासमभिहारं च” (का०वा०) इति वार्तिकेन “नित्य-  
 वाप्सयोः” (पा०सू०८-१-४) इति वा पदद्विवचनमिह कुतो नेति चेत् ?  
 यङैव क्रियासमभिहारस्य द्योतितत्वात् । न चैवं लुनीहिलुनीहात्य-  
 त्रापि न स्यादिति वाच्यम्, केवलेन लोटा तुल्यरूपो हिः क्रियासमभि-  
 हारं द्योतायेतु सहायतया द्वित्वमपेक्षते, अन्यथा संशयापत्तेः, यङ्  
 तु न तथेतिवैषम्यात् । धातोरिति किम् ? आर्धधातुकत्वं यथा स्यात् ।  
 तेन “ब्रुवो वचिः” इत्यादि सिध्यति । एकाचः किम् ? पुनःपुनर्जा-  
 गति । हलादेः किम् ? भृशमीक्षते । यङो द्वित्वं बोध्यते मरीमृज्यते  
 इत्यादौ गुणवृद्धिनिषेधार्थम् । न चैवमवयवे चरितार्थस्य समुदायं  
 प्रत्यविशेषकत्वात् यङन्तादात्मनेपदं न स्यादिति वाच्यम्, डिदन्ता-  
 द्धातोस्तदिति “अनुदात्तङित” (पा०सू०१-३-१२) इति सूत्र एव प्र-  
 क्षितत्वात् । ‘भृशं शोभते’ ‘भृशं रोचते’ इत्यत्रानभिधानाद्यङ् नेति  
 भाष्यम् । कथं तर्हि “हृच दीप्तौ” (स्वा०आ०७४६) “शुभ शोभा-  
 याम्” । (तु०प०४१) इति धातू व्याचक्षाणैः धातुवृत्तिकारैः ‘रोच्यते’  
 ‘शोभ्यते’ इत्युदाहृतमिति चेत् ? भाष्ये भृशार्थोपादानात् पौनःपुन्ये भव-  
 त्येवेत्याशयेनेत्याहुः । शोभत इति शब्दिकरणस्योदाहरणात्तौदादिकस्य  
 यङ् भवत्येवेति धातुचन्द्रोदये । “सूचिसूत्रिमूड्यत्यर्थशूर्णग्रहणम्”  
 (का०वा०) । सूच पैशून्ये (तु०प०३४१) सूत्र अवमोचने (तु०प०३७६)  
 मूत्र प्रस्रवणे” (तु०प०३७७) चुरादिण्यन्ताः । अट गतौ (स्वा०प०२९६) ।  
 ऋ गतौ (स्वा०प०१६१) । अश भोजने (क्या०प०५१) अशू व्याप्तौ (स्वा-  
 आ०१८) द्वयोरपि ग्रहणम् । अत्र आद्यानां त्रयाणामनेकालत्वात् ततो  
 ऽन्येषां अहलादित्वात्, ऊर्णोतेस्तु अनेकालत्वादहलादिस्वाच्चाप्राप्तौ  
 वचनम् । अत्र ऊर्णोतेर्वक्ष्यमाणेन णुवङ्गावेनापि सिद्धम् । सोसूज्यते ।  
 सोसूज्यते । सूचिसूत्री अदन्तौ, चुरादिणिच्, अतोलोपः, यङ्, णिलो-  
 पः, द्वित्वं, “हलादिः शेषः” (पा०सू०७-४-६०), अभ्यासस्य गुणः ।  
 अभ्यासात्परस्य षत्वं तु न भवति, अनादेशत्वात् । न चेमौ षोपदेशौ,  
 अदन्तत्वेनानेकाक्षत्वात् । षोपदेशलक्षणे हि सेकसृवादिपर्युदासात् त-  
 त्सादृश्यमेकाक्षत्वं विवक्षितमिति निष्कर्षः । ‘सोसूच्यते’ ‘सोसूज्यते’  
 इति भाष्योदाहरणं चात्र प्रमाणम् । षोपदेशलक्षणे एकाक्षत्वं विशेषणं  
 हेयमिति वदतो माधवस्याप्ययमेवाशयः । सोसूज्यते । अडात्यते ।  
 “अजादेद्वितीयस्य” (पा०सू०६-१-२) इति त्र्यशब्दस्य द्वित्वं, “स-  
 न्यङोः” (पा०सू०६-१-२) इति षष्ठीति वक्ष्यमाणत्वात् । अरार्थेति । “गु-



णोऽर्तिसंयोगाद्योः” “यङि च” (पा०सू०७-४-१२९, १३०) इति गुणः, यशब्दस्य द्वित्वम् । न च “नन्द्राः संयोगादयः” (पा०सू०६-१-३) इति रेफस्य द्वित्वनिषेधः, “यकारपरस्य नायं निषेधः” इति षष्ठे वृत्तिकारोकेः । न चैतदप्रामाणिकम्, प्रकृतसूत्रस्थस्य अरार्थत इति भाष्यस्यैव तत्र प्रमाणत्वात् । अज्ञाश्रयते । ऊर्णोनूयते । ऊर्णुञ् आच्छादने (अ० उ०२९) । नोपधोयम् । तस्याष्टमिकं गत्वम् । तस्यासिद्धत्वान्नुशब्दस्य द्वित्वम् । “पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने” (प०भा०१२८) इत्यनित्यम् “उभौ साभ्यासस्य” (पा०सू०८-४-२१) इति लिङ्गात् । स्यादेतत्, लुनीहिलुनीहीत्येवायं लुनाति । अत्र यडा लोट् बाध्येत । अन्तरङ्गो हि यङ्, क्रियासमभिहारमात्रापेक्षत्वात् । लोट् तु बहिरङ्गः, क्रियाभेदाश्रये धातुसम्बन्धे भावकर्मकर्तृषु विधानात् । तथा लोट् सावकाशोऽपि क ? अनेकाचि अजादौ च-जागृहिजागृहीत्येवायं जागर्ति, ईक्षस्वेक्षस्वेत्येवायमीक्षते ।

अत्राहुः, वेत्यनुवर्तते । यदा न यङ् तदा लोट् भविष्यति ।

नित्यं कौटिल्ये गतौ (पा०सू०३-१-२३) ॥ गतौ वर्तमानाद्धातोः कौटिल्ये एव द्योत्ये यङ् स्यात् न तु क्रियासमभिहारे । क्रमु पादविक्षेपे (भ्वा०प०४७४) द्रम गतौ (भ्वा०प०४६७) चङ्कम्यते । दन्द्रम्यते । अवधारणार्थान्नित्यग्रहणाग्नेह-भृशं क्रामति । ननु यथा “वडवाया वृषे वाच्ये” इत्यनेन अपत्ये प्राप्तस्ततोऽपकृष्य विधीयते, यथा वा जीतः को भूते प्राप्तः ततोऽपकृष्य वर्तमाने विधीयते, एवमत्रापि धातुमात्रात् क्रियासमभिहारे यङ् विहितो गतिवचनान्तु कौटिल्य इति तत्कौण्डिन्यन्यायेनैव बाधः सिद्धः । सत्यम्, अत एव नित्यग्रहणं भाष्यवार्तिकयोः प्रत्याख्यातम् ।

लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम् (पा०सू०३-१-२४) ॥ एभ्यो यङ् स्यात् धात्वर्थगर्हायां द्योत्यायाम् । लुप्लृ वृद्धेदने (तु०उ०१-५१) । षड् विशरणादौ (भ्वा०प०८७९) । यस्तु “आङः सदिः पद्यर्थे” (चु०प०२९९) इति चौरादिको ण्यन्तः स इह न गृह्यते “एकाच्च” इत्यनुवृत्तेरिति हरदत्तः; तच्चिन्त्यम्, प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्याप्राप्तेः । अन्यथा लुपादेरपि हेतुमण्यन्तस्य वारणीयतया सदरेवोपन्यासे बीजाभावाच्च । चर गतौ (भ्वा०प०५६०) जप व्यक्तायां वाचि (भ्वा०प०३-९६) जभी गात्रविनामे (भ्वा०भा०३८८) दह भस्मीकरणे (भ्वा०प०१०१६) । अत एव दशेति निपातनात् यङ्लुकि नलोपः—दम्दशीति । गृ निगरणे (तु०प०१३०) तुदादिः । गृ शाब्दे (कन्शा०प०२६) कथादिः ।



तत्र अदन्तविकरणसाहचर्यात्तुदादेरेव ग्रहणमित्येके । द्वयोस्पीत्यन्ये । गर्हितं लुम्पति लोलुप्यते । सासद्यते । चञ्चूर्यते । “चरफलोश्च” (पा० सू०७-४-८७) इति नुक् “उत्परस्यातः” (पा० सू०८-४-८८) “हलि च” (पा० सू०९-२-७७) इति दीर्घः । जञ्ज्यते । जञ्जयते । दन्दह्यते । दन्दइयते । जपादीनां चतुर्णामभ्यासस्य “जपजभदहदशभञ्जपशाञ्च” (पा० सू०७-४-८६) इति नुक् । निजेगित्यते । “ऋत इद्धातोः” (पा० सू०७-१-१००), रपरत्वं, द्विर्वचनम्, अभ्यासस्य गुणः, जेगिर्य इति स्थिते “ग्रा य ङि” (पा० सू०८-३-२०) इति लत्वम् । न च परत्वात् “हलि च” इति दीर्घः, तस्यासिद्धत्वात् । लत्वे कृते तु न विहतनिमित्तत्वाद्दीर्घः । भावेति किम् ? साधनगर्हायां मा भूत्—मन्त्रं जपति वृषलः । अत्र स्वरवर्णादिभ्रंशाभावाद् गर्हा नास्ति । कर्त्राख्यसाधनं तु गर्हितं शूद्रस्य वेदे अनधिकृतत्वात् । नित्यग्रहणमवधारणार्थमिहानुवर्तते । तस्य व्याख्यानं च पूर्ववत् ।

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् (पा० सू०३-१-२५) ॥ एभ्यो णिच् स्यात् । सत्यादेभ्यश्चूर्णांन्तेभ्यः प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे इत्येव सिद्धे सत्यस्यापुगर्थे वचनम्, अन्येषां प्रपञ्चार्थम्, मालिन्या उपश्लोकयतीत्यादौ सापेक्षादुत्पत्त्यर्थं च । धात्वर्थे इत्यविशेषोक्तावपि स्वभावलभ्योऽर्थविशेषो वृत्तिकारादिभिर्निर्दिश्यते । तद्यथा—सत्यमाचष्टे सत्यापयति । सत्यं करोतीति तु भाष्यम् ।

अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्यः (का० वा०) ॥ आपुग्वचनसामर्थ्याद्विलोपो न । अर्थापयति । पुकैव सिद्धे आकारोच्चारणमन्यतो विधानार्थं, तेन लिखापयतीत्यादि सिद्धमिति कश्चित् । तन्न, ‘पुगेव करिष्यते’ इति भाष्यविरोधात् । तस्माल्लिखापयतीत्यपप्रयोग एवेत्याहुः ।

पादौ प्रक्षालयतीति गृह्यप्रयोगस्तु छन्दोवद्वयः कुर्वन्तीति सामाधेय इति हरदत्तादयः । पाशं विमुञ्चति विपाशयति । रूपं पश्यति रूपयति । वणिशोपगायति उपवीणयति । तूलेनानुकुणाति अनुतूलयति तृणाग्रम् । अनुकुणाति अनुघट्टयतीत्यर्थं इति हरदत्तः । श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनया अभियाति अभिषेणयति, “उपसर्गात्सुनोति” (पा० सू०८-३-६५) इति षत्वम् । अभ्यषेणयत्, “प्राक् सितादङ्गव्यायेऽपि” (पा० सू०८-२-६३ इति षत्वम् । त्वच संवरणे (तु० प० २१) “पुंसि सञ्ज्ञायाम्” (पा० सू०३-३-११८) इति घः । त्वचं गृह्णाति त्वचयति । विलोपस्य स्थानिवत्त्वादुपधावृद्धिर्न । उक्तादेव



धातोः क्विपि हलन्तात् “तत्करोति” (ग०सू०) इति णौ ‘त्वाच-  
यति’ इत्युपधावृद्धिर्भवत्येष । “प्रकृत्यैकाच्” (पा०सू०६-४-१६३)  
इति टिलोपाभावः । तस्मात्सूत्रे त्वच्चेत्यकारो विवक्षितो न तु सत्या-  
पेतिबहुवचनार्थ इत्यवधेयम् । वर्मणा सज्जहाति संवर्मयति । वर्णे  
गृह्णाति संवर्णयति । चूर्णैरवध्वंसयति अवचूर्णयति । चुरादिभ्यः  
स्वार्थे, चोरयति । चिन्तयति ।

हेतुमति च (पा०सू०३-१-२६) ॥ हेतुः कर्त्तृ प्रयोजकः, तद्व्यापारः  
प्रवर्तनारूपो हेतुमान्, तस्मिन्वाच्ये धातोर्णिच् । पाचयति देव-  
दत्तो यद्देवदत्तेन । यद्देवदत्तनिष्ठविकिलत्यनुकूलव्यापारविषयिणी प्रवर्तना  
देवदत्ताश्रयेत्यर्थः । प्रवर्तनाऽनेकधा-प्रेषणमध्येषणं तत्समर्थाचरणं  
वेति । भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तना प्रेषणम्, आक्षेप्यर्थः । गुर्वादेराराध्य-  
स्य प्रवर्तना मध्येषणम्, प्रार्थनेत्यर्थः । तत्समर्थाचरणमपि बहुधा  
अनुमतिरूपदेशोऽनुग्रह इति । तत्र यस्यानुमतिं विना क्रिया न निष्प-  
द्यते सोऽनुमतिमात्रे प्रयोजकः । यथा राजादिः । वैद्यादिस्तु ज्वरितः  
कषायं पिबेदिति उपदेशमात्रेण प्रवर्तकः । यस्तु केनचिद् जिघांसितं  
पलायमानं रुणादि सोऽपि हन्तुरनुग्राहकत्वात् प्रयोजक एव । तदिह  
अर्थप्रकरणादिगम्या अभी विशेषाः । सर्वाङ्गगतं प्रवर्तनासामान्यं तु  
णिचोऽर्थः । स च णिचः शक्य इति मुख्यः पक्षः । द्योत्य इति पक्षा-  
न्तरमप्याकरे स्थितम् । यद्यपि हेतुशब्दस्य स्वसम्बन्धिकत्वात् हेतुमा-  
नित्युक्ते यं प्रति प्रयोजकत्वं स एव लभ्यते, यथा पितृमानित्युक्ते पुत्रः,  
तादृशश्चेह कर्ता कारकाधिकार हेतुसंज्ञोक्तः क्रिया च, तथाच पक्षतुः  
पाकस्य वा हेतुमत्त्वं युक्तम्, तथापि करणे इत्यधिकारात् नेह कर्ता  
गृह्यते, प्रकृत्यैवोक्तत्वाच्च न पाकः, किन्तु पाकपक्षपेक्षया यो हेतुस्त-  
द्विव्यापार एव स्वभावतो लोके निजर्थतया प्रसिद्धो हेतुमच्छब्देनो-  
च्यते इति सिद्धान्तः । एवं च हेतोरित्येव सूत्रं युक्तम् । हेतोः करणे  
व्यापारे निजित्यर्थः । तथा तु न कृतमित्येव । इह यद्यपि फलव्यापार-  
योर्धातुवाच्यत्वाद्धिकिलत्यनुकूलव्यापारत्वस्य च प्रेषणादावपि सुल-  
भत्वात्स्यापि पच्यर्थतामाश्रित्य णिचो द्योतकतेति वर्णितं भाष्यादौ,  
तथापि प्रौढिवाद्भात्रमेतत् । तथाहि, अधिश्रयणादिरेव व्यापारवि-  
शेषः पचेरर्थः । न तु ततः प्राचीनोऽपि क्रयणाद्यवस्थायां पचतीत्यप्र-  
योगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, क्वाचित्कप्रयोगस्य भाक्तत्वेनाप्युपप-  
त्तेः, पचतिपाचयत्योरर्थवैलक्षण्यस्य अनुभवसिद्धत्वाच्च, अणौ  
कर्तुर्णौ कर्मत्वमित्यादिद्वयवस्थाभ्युपगमाच्च, ‘प्रणाययति’ ‘अभिषाव-



यति'इत्यादौ उपसर्गस्य प्रकृत्यर्थगतविशेषद्योतकत्वे णत्वबत्वे स्तः,  
णिच्चा सम्बन्धे तु नेत्यष्टमे स्फुटत्वाच्च । अतोऽत्र पक्षे नातीवाभिनि-  
वेष्टव्यम् । स्यादेतत्, प्रवर्त्तनामात्रस्य निजर्थत्वे णिचो लोडादीनाञ्च  
पर्यायप्रसङ्गः । ततश्च पृच्छतु मां भवानिति वक्तव्ये निजपि प्रयुज्येते-  
ति चेत् ? कर्तुः प्रयोजको हि हेतुः, प्रैषविषयस्तु नाद्यापि कर्तृत्वेना-  
वधारितः । तथाच प्रयोज्यप्रवृत्त्युपहिता प्रवृत्तिर्निजर्थः । केवला तु  
लोडर्थ इति विवेकः । उक्तं च—

द्रव्यमात्रस्य तु प्रैषे पृच्छादेर्लोड विधीयते ।

सक्रियस्य प्रयोगस्तु यदा, स विषयो णिच् ॥ इति ।

किञ्च प्रयोक्तृधर्मः अयुक्तिलोडर्थः । अनियतकर्तृका तु निजर्थः ।  
पचेति हि वक्तुरेव प्रेरणा गम्यते । पाचयतीत्यत्र तु वक्तृभिन्नस्य ।

तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थे (का०वा०) ॥ गणपाठासिद्ध  
एवायमर्थ उपसंख्यानानेनापि प्रदर्शितः । इह करोतीत्यत्र प्रकृत्यर्थमात्रं  
विवक्षितं न प्रत्ययार्थः, तेन पयन्तात् भावकर्मणोः भूतभविष्यतोः द्वित्वब-  
हुत्वयोश्च लः सिध्यति । अयं णिच् प्रातिपदिकादेव न तु सुबन्तादिति  
माधवः । युक्तञ्चेतत्, सुप इत्याधिकारस्येह विच्छिन्नत्वात् । किञ्च चु-  
रादिषु ह्येवं पठ्यते—“प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्टवच्च” (ग०सू०)  
“तत्करोति तदाचष्टे” (ग०सू०) “तेनातिक्रामति” (ग०सू०) “कर्तृ-  
करणाद्धात्वर्थे” (ग०सू०) इति । अस्यार्थः प्रातिपदिकाद्धातोर्लृथवि-  
शेषरूपे वाच्ये णिच् स्यात् इष्टनीव चास्मिन् बहुलं कार्यं स्यादिति ।  
कूलमुलङ्घयति उत्कूलयति । अस्यैव प्रपञ्चः—तत्करोतीत्यादिः ।  
एवञ्च प्रातिपदिकादित्युपक्रमान्नेदं सुबन्ताद्विधायकम् । तथा च प्रकृ-  
तवार्त्तिकमपि तत्समानार्थकत्वात्तथैव । “तेनातिक्रामति” (का०वा०)  
इत्येतन्तु कर्तृकरणादित्यस्यैव प्रपञ्चः । कर्तृग्रहणञ्च करणस्यैव विशेष-  
णं करणत्वेन लोके प्रसिद्धानां चक्षुरादीनामेव ग्रहणमिति शङ्काव्युद-  
सनाय । अन्यथा चक्षुषा पश्यति चक्षयतीत्यादावेव स्यान्न तु करि-  
भिरवबध्नाति अवकरयतीत्यादौ । एवञ्च, तत्तेनेति शब्दौ कर्मकरणयोरु-  
पलक्षकौ । करणस्य कर्मणश्च समर्पकात्प्रातिपदिकादित्यर्थः । सुबन्ता-  
दुत्पत्तौ तु हस्तिनाऽतिक्रामति अतिहस्तयतीत्यादौ णौ सुपो लोपे  
दिलोपे च कृते अन्तर्वर्त्तिविभक्त्या पदत्वाज्जशत्वं स्यात् । न च दिलो-  
पस्य स्थानिवन्त्वम्, अज्जलादेशत्वात् । हरदत्तस्तु सुबन्ताणिचम-  
भिप्रेति । यदाह—तदिति द्वितीयान्तोपलक्षणमिति । न चास्मिन्पक्षे पद-



कार्यप्रसङ्गः, इष्टवदित्यतिदिष्ट्या भसंज्ञया पदत्वस्य बाधात् । अत एव हि पटिष्ठ इत्यादौ सुबन्तादिष्टानि जश्वादिपदकार्याप्रवृत्तिः । किञ्च स्रग्विणमाचष्टे स्रजयतीत्यादौ माधवमतेऽप्येवैव गतिः । सुबन्तादुत्पन्नयोर्विन्मतोर्लुकि तत्प्रकृतेः सुबन्तत्वात्प्रत्ययलक्षणेन पदकार्यप्रसङ्गस्य स्पष्टत्वात् । तदिह मतभेदेन प्रातिपदिकात्सुबन्ताद्वा णिजिति स्थितम् । आद्यपक्षेऽपि यथाकथञ्चित् प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गाविशिष्टग्रहणाद् ड्याबन्तादपि भवति । अत एव णाविष्टवदित्यत्र भाष्ये इष्टवदित्यतिदेशस्य “पुंवङ्गावटिलोपयणादिलोपविन्मतोर्लुगर्थम्” इति पुंवङ्गावोऽपि प्रयोजनतयोक्तः । इदञ्च दिङ्मात्रं न तु परिगणनमिति षष्ठ एवाकरं स्पष्टम् । उदाहरणानि तु प्रपञ्चयामः—एनीमाचष्टे एतयति । हरिणीमाचष्टे हरितयति । न चात्र पुंवङ्गावस्य इष्टानि विशिष्याविधानात्कथमतिदेश इति वाच्यम्, विशेषातिदेशो सामान्यस्याप्यतिदेशात् । वसिष्ठवदत्र वर्तितव्यमित्युक्ते हि ब्राह्मणत्वं सामान्यनिबन्धनमप्यतिदिश्यत एव । तथेह भसंज्ञानिमित्ततद्धितत्वप्रयुक्तः पुंवङ्गावोऽपीत्यदोषः । नन्वेतयतीत्यादौ टिलोपेन ङीपि निवृत्ते तत्सन्नियोगशिष्टत्वान्नकारोऽपि निवर्त्यताम् । तथा च टिलोपेनैव गतार्थत्वे किमर्थं पुंवङ्गावोऽपि पृथक् प्रयोजनतया भाष्ये गणित इति चेत् ?

अत्र कैयटः, “सन्नियोगशिष्ट” (पा०भा०८८) परिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनायेदम् । तेन ‘ऐनेयः’ ‘इयैनेयः’ इत्यत्र ‘यस्य’ (पा०सू०६-४-४९) इति लोपे कृतेऽपि नकारो न निवर्तते इत्याह । हरदत्तस्तु फलान्तरमपि मतान्तरत्वेनाह—इडबिडमाचष्टे ऐडबिडयति । दरदं दारदयति । इडबिडशब्दो जनपदस्य क्षत्रियजातेश्च वाचकः । तस्मात् “जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्” (पा०सू०४-१-१६८) दरच्छब्दात् “द्वयञ्म गघ” (पा०सू०४-१-१७०) इत्यण् । अजणोस्तद्राजसंज्ञा “ते तद्राजाः” (पा०सू०४-१-१७४) इति सूत्रेण । अजादीनामापादपरिसमाप्तेस्तद्विधानात् “अतश्च” (पा०सू०४-१-१७७) इति लुक् । अकाररूपस्य तद्राजप्रत्ययस्य स्त्रियां लुगिति हि सूत्रार्थः । ततश्च इडबिट्, दरत् स्त्री । ऐडबिडो दारदश्च पुमान् । पुंवङ्गचनेन च स्त्रीशब्दस्य पुंशब्देऽतिदिष्टे सिद्धमिष्टम् । न चैवं गोत्रत्वेन जातित्वात् “जातेश्च” (पा०सू०६-३-४१) इति पुंवङ्गावनिषेधः शङ्क्यः, औपसंख्यानिकस्य नायं निषेध इति वक्ष्यमाणत्वात् । न चैवमप्यजादी गुणवचनादेवेत्युक्तेरिष्टुन एवाभ्यामसम्भवेन कथं तद्वादित्यतिदेश इति वाच्यम्, नहीष्टुनि दृष्टस्यैवा-



तिदेशः किन्तु सम्भावितस्य । अन्यथा अतिराजयतीत्यादौ टिलोपो न स्यात् ।

नन्वस्मिन्पक्षे 'ऐनेयः' 'इयैनेयः' इति कथं सिञ्च्येदिति चेत् ?

अत्र माधवः--अनन्यथासिद्धमपि ऐडविडयतीत्याद्युदाहृत्य एतय-  
ति इयेतयतीत्युदाहरन् भाष्यकारः "सन्नियोगशिष्ट" (पा०भा०८८) परि-  
भाषाया अनित्यत्वं ज्ञापयतीत्याह । वस्तुतस्तु पुंवङ्गावस्यैकाक्षु टिलो-  
पस्याभाषितपुंस्केषु च चारितार्थ्येऽपि एतयतीत्यादावन्तरङ्गत्वेन पुंव-  
ङ्गाव एव ज्ञाप्यः "सिद्धश्च प्रत्ययविधौ" इत्युक्तत्वेन प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्वमेव  
प्रवृत्तत्वात् । अत एव नकाररहितप्रयोगसिद्धिः । न चात्र टिलोपेऽपि  
सन्नियोगशिष्ट न्यायेन नकारनिवृत्तिः सुलभेति वाच्यम्,  
उक्तन्यायेन नकारनिवृत्तौ कर्त्तव्यायाम् "अचः परस्मिन्" (पा०  
सू०१-१-५७) इति स्थानिवङ्गावस्य दुर्वारत्वात् । अत एव 'पञ्चेन्द्रा-  
ण्यो देवता अस्येति पञ्चेन्द्रः' इत्यादौ स्थानिवङ्गावेनानुगादिश्रवणे  
प्राप्ते स्थानिवङ्गावनिषेधार्थं "क्विलुगुपधा" इति वार्त्तिके लुगग्रहणमिति  
भाष्यवार्त्तिकादौ स्पष्टम् । अत एवाभ्यासेकात्सरहितमेतदिति रूपं  
सिद्धम् । टिलोपे तु प्रक्रियादशायां परिनिष्ठिते रूपे वाऽवर्णपरत्वाभा-  
वेन स्थानिवङ्गावानतिपत्तावुक्तरूपासिद्धिः । नचाल्लोपस्यापि  
स्थानिवङ्गावः, तस्य डानिमित्तत्वेऽपि णिजनिमित्तत्वादिति ध्येयम् ।

पृथुमाचष्टे प्रथयति । चङि वृद्धेः पूर्वं टिलोप इति पक्षे अग्लोपि-  
त्वात् "सन्वल्लघुनि" (पा०सू०७-४-९३) इत्यस्याप्रवृत्तेः-अपप्रथत् ।  
परत्वाद् वृद्धौ आवादेशात्पूर्वं टिलोपे अनग्लोपित्वात्-अपिप्रथत् । पक्ष-  
द्वयमपीदं "मुण्डमिश्र" (पा०सू०३-१२१) इति सूत्रे प्रपञ्चितम् । एवं मृ-  
दुमाचष्टे म्रदयति । अमम्रदत्, अमिम्रदत् । अशयति, क्रशयति, द्रढ-  
यति । एषां चङि सर्वथाऽप्यग्लोपित्वात्--अवभ्रशत्, अचक्रशत्,  
अदद्रढत् इत्येकमेव रूपम् । परिव्रदयति । अत्रोपसर्गस्य पृथक्करणा-  
त्पर्यव्रदयत्, पर्यवव्रदत् ।

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च ।

परिपूर्वं वृद्धञ्चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥

कविं पटुं वा आचष्टे कवयति, पटयति । अचकवत्, अचकवत् ।  
अपपठत्, अपपिठत् । कुमारीमाख्यत् अचुकुमारत् । अत्र एकमेव  
रूपम्, "सन्वल्लघुनि" (पा०सू०७-४-९३) इति "दीर्घो लघोः" (पा०  
सू०७-४-९४) इति च सूत्रे चङ्परिणौ परे अचा अव्यवहितं यल्लघु त-  
स्मिन्परिणौऽभ्यासः तस्येति कैयटादिसम्मतं सूत्रार्थं यद्वाभ्यासात्परं



लघु न तच्चङ्परणिपरमिति दीर्घत्वस्याप्रसङ्गात्, चङ्परि णौ यद्-  
 ज्ञन्तस्य योऽभ्यासो लघुपरः तस्येति हरदत्तादिपक्षेऽपि कुमारीशब्द-  
 स्य पुंवद्भावेन वृद्धावप्यग्लोपित्वात् । नदीमाख्यत् अननदादित्यादि ।  
 ननु कैयटमते “येननाव्यवधानम्” इतिन्यायेन एकव्यञ्जनव्यवहिते  
 अजीहरदित्यादौ सन्वद्भावोऽस्तु नाम, अचिक्षणदित्यादौ तु कथमिति  
 चेत् ? असस्मरदित्यादावित्वाभावार्थम् “अस्मृदृत्वर” (पा०सू०७-  
 ४-९५) इति अत्वविधानेन संयोगव्यवधानेऽपि भवतीति ज्ञापनात् ।  
 ऊढमाख्यत् औजढत् । ऊढिमाख्यत् औजिढत् । कर्तारमाचष्टे करयति ।  
 भर्तारं भरयति । दोग्धारन्द्गहयति । “तुश्छन्दसि” (पा०सू०५-३-५९)  
 इति तृशब्दलोपोऽपि णावतिदिश्यत इत्येकं । अन्ये तु छन्दस्युपदिष्टो-  
 ऽसौ णावपि छन्दस्येवातिदिश्यतां नाम । भाषायान्तु कथं भवेत् ?  
 तस्माद्विलोपे कर्त्तयतीत्याद्येव रूपमित्याहुः । त्वां मां वा आचष्टे त्वा-  
 पयति, मापयति । इह “प्रत्ययोत्तरपदयोश्च” (पा०सू०७-२-९८) इति  
 एकार्थयोर्युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ । “अतो गुणे” (पा०सू०६-  
 १-९७) इति पररूपात्पूर्वं नित्यत्वाद्विलोपे वृद्धौ पुगित्येकं मतम् । वस्तु-  
 तस्तु परादप्यन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात्पररूपत्वे “प्रकृत्यैकाच्” (पा०  
 सू०६-४-१६३) इति टिलोपाभावादुपधावृद्धौ त्वादयति मादयतीत्येव  
 रूपमिति बहवः । “प्रकृत्यैकाच्” (पा०सू०६-४-१६३) इत्येतत्प्रत्या-  
 ख्यानभाष्यन्तुदाहरणविशेषेऽन्यथासिद्धिरित्येतावन्मात्रपरम् । तद्य-  
 था-वृत्तिकारोदाहृतेषु मध्ये प्रेष्ठाह्य आभासूत्रेण सिद्धाः । तस्यागे-  
 ऽपि ज्येष्ठवदकारोच्चारणसामर्थ्यात् ।

इष्टमेयःस्वनेकाचोऽप्यवशिष्टस्य नैस्यते ।

टिलोपो भाष्यकारेण प्रवृत्ते विन्मतोर्लुकि ॥

लुकोऽपवादभूतस्य तस्मिन्पक्षे प्रवर्तनात् ।

कनिष्ठादाविदं तुल्यं तूलोपस्य प्रवर्तनात् ॥

कैयटमाधवादिग्रन्थाश्चेहानुकूला इति वक्ष्यामः । “अङ्गवृत्त” (पा०  
 भा०९४) परिभाषया वृद्धिमकृत्वा त्वदयति मदयतीत्यन्ये प्रतिपन्नाः ।  
 युवामावां वा आचष्टे युष्मयति अस्मयति । “युवावौ द्विवचने” (पा०  
 सू०७-२-९२) इत्यत्र यद्यपि द्विवचने इत्यर्थग्रहणं तथाऽपीह युवावौ  
 न स्तः, विभक्तिपरत्वाभावात् । प्रातिपदिकादेव हि णिजिति माधवा-  
 दयः । सुवन्तादिति हरदत्तपक्षेऽपि “अन्तरङ्गानपि” (पा०भा०५२) इति  
 न्यायेन विभक्तेर्लुकापहारात् । त्वामतिक्रान्तमतिक्रान्तौ वा अतित्वाम् ।  
 अतिक्रान्तान् अतित्वान् । आचष्टे अतित्वयति, अतिमयति । युष्मद-



स्मदोरैकार्धत्वेन “प्रत्ययोल्लरपदयोश्च” (पा०सू०७-२-२८) इति त्व-  
मौ । अन्तरङ्गत्वात्पूर्वरूपं, ततश्चिलोप इति माधवः । तच्चिन्त्यम्, उप-  
सर्गस्य पृथक्करणेन “प्रकृत्यैकाच्” (पा०सू०६-४-१६३) इति प्रकृति-  
भावात् । तस्मादतित्वादयति अतिमादयतीत्येव बोध्यम् । अत्रापि पर-  
रूपात्पूर्वं नित्यत्वादिलोप इति मते अतित्वापयति अतिमापयति ।  
युवामावां युष्मानस्मान्वा अतिक्रान्तमतिक्रान्तावतिक्रान्तान्वा आच-  
ष्टे अतियुष्मयति अत्यस्मयति ।

इदानीं ण्यन्तात्किञ्चपि कश्चिद्विशेष उच्यते । तत्र त्वां मां वा आचष्ट  
इति आख्येयैक्ये त्वाप् माप्, त्वाद् माद्, त्वद् मद् इति प्रागुक्तमत-  
भेदेन त्रिधा प्रातिपदिकानि । युवामावां युष्मानस्मान् वा आचष्ट इति  
आख्येयस्यानेकत्वे त्वस्योरभावाणौ टिलोपे, क्वौ, णिलोपे, केश्वा-  
पृकलोपे युष्म् अस्म इति मान्ते प्रातिपदिके भवतः । ततः स्वादयः ।  
तत्र प्रातिपदिकाष्टकादपि विभक्तीनां यथायथं “उप्रथमयोरम्” (पा०  
सू०७-१-२८) “शसो न” (पा०सू०७-१-२९) “भ्यसोऽभ्यम्” (पा०  
सू०७-१-३०) “पञ्चभ्या अत्” (पा०सू०७-१-३१) “एकवचनस्य च”  
(पा०सू०७-१-३२) “युष्मदस्मद्भ्यां डसोऽश्” (पा०सू०७-१-२७) “सा-  
म आकम्” (पा०सू०७-१-३३) इति सूत्रसप्तकेन विहिता आदेशा भव-  
न्ति । एवं “युष्मदस्मदोरनादेशे” (पा०सू०७-२-८६) “द्वितीयायाश्च”  
(पा०सू०७-२-८७) “प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्” (पा०सू०७-२-  
८८) इति त्रिसृष्या विहितमात्वं “योऽचि” (पा०सू०७-२-९८) इति यत्वं  
च भवत्येव । “शेषे लोपः” (पा०सू०७-२-९०) तु आत्वयत्वनिमित्तत-  
रविभक्तौ परतोऽन्त्यलोप इति व्याख्याने भवत्येव । शेषशब्दस्य मा-  
न्ताच्छेषपरत्वमाश्रित्य टिलोप इति व्याख्याने तु न भवत्येवाख्येय-  
स्यानेकत्वे । तत्र हि शेषलोपेनापहार्यं मान्तात्परं णाविष्टवदित्यति-  
दिष्टेन टिलोपेनैवापहतम् । आख्येयैक्ये तु भवत्येव, प्राक् टिलोपा-  
भावात् । ‘टिलोपं स्वीकृत्य पुका पान्तत्वम्’ इति मते तु न भवत्ये-  
व । अजादौ यत्त्वविधानादात्वं हलादावेव पर्यवस्यति । “त्वाहौ सौ”  
(पा०सू०७-२-९४) “यूयवयौ जसि” (पा०सू०७-२-९३) “तुभ्य-  
मसौ डयि” (पा०सू०७-२-९५) “तवममौ डसि” (पा०सू०७-२-९६) इति  
त्रतुःसूत्राविहिताः प्रकृत्यादेशास्तु आख्येयैक्ये न भवन्त्येव, मपर्यन्ता-  
भावात् । आख्येयद्वित्वबहुत्वयोस्तु वैकल्पिकाः । तथाहि-“मपर्यन्त-  
स्य” (पा०सू०७-२-१९) इत्यत्र मान्तस्येत्येव सिद्धे परिग्रहणसाम-  
र्थ्यायुष्मदस्मदोर्मान्तत्वावस्थायां नादेशाः इत्येकं मतम् । परिग्रहणा-



भावे मान्तस्यैव स्यात्, सति तु तस्मिन् मान्ते ततोधिके च भवति इति मतान्तरम् । उभयमिदं तस्मिन्नेव सूत्रे व्युत्पादयिष्यते । मतभेदाच्चेह फलितो विकल्पः । तत्र आख्येयद्वित्वे सुजस्ड्डस्सु परत्वात् त्वाहादिप्रवृत्तावपि 'औ' 'अम्' इत्यादिषु वचनान्तरेषु विभक्तिपरत्वाद्युवावौ एकस्मिन्मते स्त एव, मतान्तरे तु न त्वाहादयो नापि युवौ इति विवेकः ।

अथ रूपाणि-आख्येयैक्ये सौ त्वां, माम् । 'वृद्धिर्न' इतिवादिनान्तु शेषे लोपे त्वम्, मम् । शेषेलोपष्टिलोपः, स चाचक्षणे न प्रवर्तत इति पक्षेऽप्याख्येयैक्येऽस्त्येव दान्तयोरित्युक्तम् । पान्तयोस्तु पक्षे त्वापम्, मापम्, । इत्थं सङ्कलनया त्रीणि । औडि 'त्वां, माम्' इत्येकमेव । "प्रथमायाश्च द्विवचने" (पा०सू०७-२-८८) इत्यात्वम् । जसि साविव त्रीणि, शेषे लोपस्य पान्तयोः पाक्षिकत्वात् । अम् औटोः-त्वां, माम् । शसि-त्वान्, मान् । "द्वितीयायाञ्च" (पा०सू०७-२-७७) इत्यात्वम् । आडि-त्वाया, माया । अवृद्धौ तु-त्वया, मया । त्वाभ्यां, माभ्याम् । त्वभिः, माभिः । डयि अम्, शेषे लोपः (पा०सू०७-२-९०) । वृद्धिपक्षे "आतो धातोः" (पा०सू०६-४-१४०) इत्यालोपः त्वम्, मम् । पक्षे त्वापम्, मापम् । त्वाभ्याम्, माभ्याम् । त्वाभ्यम्, माभ्यम् । भ्यमि शेषे लोपः । अभ्यमादेशपक्षे तु शेषे लोपे आलोपे च त्वभ्यम् मभ्यम् । अवृद्धिपक्षेऽप्येवम् । पान्तपक्षे त्वापभ्यम्, मापभ्यम् । तत्र भ्यमि "अङ्गवृत्त" (प०भा०९४) परिभाषया "बहुवचने झल्येत्" (पा०सू०७-३-१०३) इत्येत्वं न । त्वत्, मत् । शेषे लोपे वृद्धिपक्षे आलोपः । त्वापत्, मापत् । त्वाभ्याम्, माभ्याम् । त्वत्, मत् । त्वापत्, मापत् । त्व, म । त्वाप, माप । त्वायोः, मायोः । अवृद्धौ तु-त्वयोः, मयोः । त्वाकम्, माकम् । त्वापाकम्, मापाकम् । त्वायि, मायि । त्वायोः, मायोः । अवृद्धौ तु-त्वयि मयि । त्वयोः, मयोः । त्वासु, मासु । एवञ्च—

आख्येयैक्येऽत्र सुजसोश्चतुर्थ्यां भ्यसि च त्रयम् ।

टौस्डिदाम्भ्यस्सु रूपे द्वे निश्चिनुष्वैकमत्यतः ॥

इदं त्ववधेयम् । कृतः कर्त्तर्यसंज्ञायामिति विशेष्यनिर्गतोक्तेराचक्ष्णस्य क्लीबत्वे सुजसोरसर्वनामस्थानत्वेन भत्वात् "आतो धातोः" (पा०सू०६-४-१४०) इत्यालोपे त्वम्, मम् इत्येव रूपम् । अवृद्धिवादिनां सम्बोधने "एङ्हस्वात्" (पा०सू०६-१-६९) इति हल्मात्रलोपे हे त्व, हे म । स्त्रीत्वे तु टाप् प्राप्तः "सन्निपात" (प०भा०८७) परिभाषया समाधेयः । यत्तु केवले समाधानद्वयम् "अलिङ्गत्वादिलोपाद्वा" इति तदिह न भवतीति दिक् ।



अथाख्येयद्वित्वे रूपाणि-सौ त्वम्, अहम्; प्रकृत्यादेशाभावे युष्मद्, असम्; शेषे लोपस्याप्यभावे युष्मद्, अस्मद् । इत्थं त्रीणि । युवाम्, आवाम्; युषाम्, असाम् । जसि-यूयं, वयम्; युष्मद्, असम्; युष्मद्, अस्मद् । अम्औटोः-युवाम्, आवाम्; युषाम्, असाम्; युवान्, आवान्; युषान्, असान् । युवया, आवया; युष्या, अस्या । युवाभ्याम्, आवाभ्याम्; युषाभ्याम्, असाभ्याम् । युवाभिः, आवाभिः; युषाभिः, असाभिः । तुभ्यं, मह्यम्; युष्मद् असम्; युष्मद्, अस्मद् । युवाभ्याम्, आवाभ्याम्; युषाभ्याम्, असाभ्याम्--युवभ्यम्, आवभ्यम्; युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् । भ्यमादेशपक्षे तु-युष्मभ्यम् । नत्र संयोगान्तलोपो न, भाष्ये “झल” इत्यनुवर्त्तनात् । अननुवृत्तिपक्षे तु-युङ्भ्यम् । अस्मदस्तु “स्कोः” (पा०सू०८-२-२९) इति सलोपे अम्भ्यम् । शेषे लोपे तु-ओभ्यम् । युवत्, आवत्; युषत्, असत्; युष्मत्, अस्मत् । युवाभ्याम्, आवाभ्याम् । युषाभ्याम्, असाभ्याम् । भ्यसि ङसिवत् त्रीणि । तव मम; युष, अस; युष्म, अस्म । युवयोः, आवयोः; युष्योः, अश्योः । युवाकम्, आवाकम्; युषाकम्, असाकम्; युष्माकम्, अस्माकम् । युवयि, आवयि; युष्यि, अस्थि । युवयोः, आवयोः; युष्योः, अश्योः । युवासु, आवसु; युषसु, अससु । एवञ्च—

चतुर्थ्या भ्यसि चत्वारि व्याख्याने द्वे तथाऽन्यतः ।

सुजसङ्डेङ्सुङसिभ्यस्सु आमि च त्रीणि निश्चिनु ॥

अथाख्येयबहुत्वे रूपाणि-त्वम्, अहम्; युष्मद् असम्; युष्मद्, अस्मद् । युषाम्, असाम् । यूयं, वयम् । युष्मद्, असम्, युष्मद्, अस्मद्; युषाम्, असाम् । युवान्, असान् । युष्या, अस्या । युषाभ्याम्, असाभ्याम् । युषाभिः, असाभिः । तुभ्यं, मह्यम्; युष्मद्, असम्; युष्मद्, अस्मद् । युषाभ्याम्, असाभ्याम् । युषभ्यम्, असभ्यं, युष्मभ्यम्, युभ्यम्, अम्भ्यम्, ओभ्यम् । युषत्, असत्; युष्मत्, अस्मत् । युषाभ्याम्, असाभ्याम् । युषत्, असत्; युष्मत्, अस्मत् । तव, मम; युष, अस; युष्म, अस्म । युष्योः, अश्योः । युषाकम्, असाकम्; युष्माकम्, अस्माकम् । युष्यि, अस्थि । युष्योः, अश्योः । युषसु, अससु । एवञ्च—

ङसिभ्यसाम्सु द्वे रूपे चतुर्थ्या भ्यसि तु त्रयम् ।

सुजसङ्डेङ्सु च तथाऽऽख्येयभूम्येकमन्यतः ॥

इह सर्वत्र प्रकृत्यादेशयत्वात्त्वशेषेलोपेषु कर्तव्येषु णिलोपो न स्थानिवत्, क्वौ लुप्तत्वादिति दिक् ॥



श्वानमाचष्टे शावयति । 'इवन् इ' इति स्थिते णाविष्टवदित्यतिदेशेन द्वौ टिलोपौ प्राप्तौ "टेः" (पा०सू०६-४-१४३) इत्येकः, "नस्तद्धिते" (पा०सू०६-४-१४४) इत्यपरः । तत्र "प्रकृत्यैकाच्" (पा०सू०६-४-१६३) इति प्रकृतिभावो येननाप्रसिन्ध्यायेन "टेः" (पा०सू०६-४-१४३) इत्यस्यैवेति तस्मिन्निवृत्ते ऽपि "नस्तद्धिते" (पा०सू०६-४-१४४) इति भवत्येव । तत इष्टवदित्यतिदिष्टया भसंज्ञयैव वकारस्य सम्प्रसारणे वृद्धावावादेशः । न च 'दविष्टः' इत्यादौ इष्टनि "ओर्गुणः" (पा०सू०६-४-१४६) पूर्वस्य दष्ट इति इहाप्यतिदिश्येतेति वाच्यम्, तस्मिन्कर्तव्ये सम्प्रसारणटिलोपयोः "असिद्धवदन्" (पा०सू०६-४-२२) इत्यसिद्धत्वात् । अन्ये तु 'ब्रह्मिष्टः' इत्यादौ नान्तलक्षणाद्विलोपात्परत्वात् "टेः" (पा०सू०६-४-१५५) इत्येव प्रवर्त्तते । तच्चेह प्रकृतिभावेन निवृत्तम् । "नस्तद्धिते" (पा०सू०६-४-१४४) इति तु इष्टनि क्वापि न दष्टमिति तस्येहानतिदेशात् सम्प्रसारणपूर्वत्वयोः 'शुनयति' इति रूपमाहुः । न च टिलोपयोराभीयत्वेन अन्योन्यस्यासिद्धत्वात्कथं विप्रतिषेध इति वाच्यम्, विप्रतिषेधे आभीयमसिद्धत्वं नास्तीति वक्ष्यमाणत्वात् । विद्वांसमाचष्ट इत्यत्र णौ टिलोपे विद्वयतीति दौर्गाः । अत्र सम्प्रसारणाभावश्चिन्त्य इत्यात्रेयः । "अङ्गवृत्त" (प०भा०९४) परिभाषया चिन्त्योद्धारो बोध्यः । सम्प्रसारणे वृद्धावान्नादेशे च 'विदावयति' इत्येके । अन्ये तु 'विदयति' इत्याहुः । तथाहि, नित्यत्वाद्विलोपात्प्राक् सम्प्रसारणं ततोऽन्तरङ्गत्वात्पूर्वरूपे पश्चाद्विलोपः । न च टिलोपस्यापि नित्यत्वम्, शब्दान्तरप्राप्त्या अनित्यत्वात् । ननु सम्प्रसारणमात्रेण न शब्दान्तरप्राप्तिः किन्तु पूर्वरूपेण, "यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदन्तित्वम्" (प०भा०४८) इति चेत् ? न, यस्य चेत्यस्य असार्वत्रिकताया हरदत्तादिभिरुक्तत्वात् । उदञ्चमाचष्टे उदीचयति । अत्र उपसर्गस्य पृथक्करणात् लुप्तकारादृच्छब्दाणिच् । "प्रकृत्यैकाच्" (पा०सू०६-४-१६३) इति टिलोपाभावे इष्टवदित्यतिदेशेन भवे "अचः" (पा०सू०६-४-१३८) इत्यलोपे प्राप्ते तदपवाद "उद ईत्" (पा०सू०६-४-१३९) इतीत्वम् । अङि तु उदैचिन्नत् । अत्र णिलोपस्य "द्विवचनेऽचि" (पा०सू०१-१-५९) इति स्थानिवत्त्वात् "अजादेर्द्वितीयस्य" (पा०सू०६-१-२) इति चि शब्दस्य द्वित्वम् । अङ्गस्याऽऽद्, वृद्धिः । व्यपि लघुपूर्वत्वाभावेन अयादेशाभावाणिलोपे उदीच्य । प्रत्यञ्चमाचष्टे प्रतीचयति । अत्र "अचः" (पा०सू०६-४-१३८) इत्यलोपः "चौ" (पा०सू०६-३-१३८) इति पूर्वपदस्य दीर्घः । चङि चिशब्दात्पूर्वमाटि यणादेशे प्रत्यचिचत् । "इकोऽस-



वर्णे" (पा०सू०६-१-१२७) इति प्रकृतिभावपक्षे प्रति अचिचत् । ह्यपि प्रतीच्य । सध्यश्चमाचष्टे समीचयति । चङि-सध्यचिचत्, समि अचि-चत् । समीच्य । तिरोऽञ्चतीति तिर्यङ् । "तिरसस्तिर्यलोपे" (पा०सू०६-३-९४) इति तिर्यादेशः । तमाचष्टे तिराययति । इष्टवद्भावेन टिलोपेनाञ्चतेरपहारे वृद्धयायौ । न चात्र अञ्चतेर्लोपात् तिरसास्तिरिः कथमिति वाच्यम्, अलोपे इति हि "अचः" (पा०सू०६-४-१३८) इति विधीयमाने लोपे तिर्यादेशो वार्यते, तस्यैवानन्तरत्वात् । इह तिरैरिकारस्य वृद्धयायोः कृतयोरकृतयोर्वा लोपः प्राप्तः "अङ्गवृत्त" (पा०भा०९४) परिभाषया न भवति । यद्वा चिणोलुङ्न्यायेन प्रथमप्रवृत्तटिलोपस्य "असिद्धवदत्र" (पा०सू०६-४-२२) इत्यसिद्धत्वात् पुनष्टिलोपो न । अत एव तिरैः स्थानिवत्त्वेनाध्ययत्वात् "अव्ययानां भमात्रे" (का० वा०) इति प्राप्तोऽपि टिलोपो न भवति । एवं "यस्य" (पा०सू०६-४-१४८) इति लोपोऽपि न भवति, परया वृद्धया बाधाद्वा । चङि अग्लोपित्वेन उपधाङ्स्वो न, अतितिरायत् । सह अञ्चतीति सध्रङ्, "स हस्य साभिः" (पा०सू०६-३-९५) । सध्यश्चमाचष्टे सध्राययति । अससध्रायत् । पूर्ववत्पुनष्टिलोपो न ।

स्यादेतत्, यदि तिरिसध्योरिकारे टिलोपस्याप्रवृत्तौ चिणो-  
लुङ्न्यायेनासिद्धत्वं मूलम्, तर्हि कुमारीमाचष्टे 'कुमारयति' इति न सि-  
ध्येत, तत्रापि इष्टवद्भावेन प्रवृत्तस्य पुंवस्त्वस्य तेनैव कुमाराकारलोपे  
असिद्धत्वापत्तेरिति चेत् ? मैवम्, "अतिदिश्यमानानाङ्कार्याणामुत्पत्ति-  
देश एव देशः" इत्यभ्युपगमात् पुंवस्त्वस्य च "भस्याढे तद्धिते" (का०  
वा०) इति आभोगेभ्यः प्रागेवोत्पत्तेः । अत एव भाष्यकारेण 'लोहिनी-  
माचष्टे लोहितयति' इत्युदाहृतम् । विष्वच्यश्चमाचष्टे विष्वद्राययति ।  
देवद्रथश्चमाचष्टे देवद्राययति । "विष्वग्देवयोश्च" (पा०सू०६-३-९२) इति  
चकारात् सर्वनाम्नोऽद्रथादेशे सर्वद्राययति । अदसोऽद्यादेशे अमुमुआ-  
यति, अदमुआययति, अदद्राययति । चङि अजादित्वात् द्वितीयस्य द्वि-  
त्त्वम् । अग्लोपित्वान्नोपधाङ्स्वः । आमुमुआयत्, आददमुआयत्, आ-  
ददद्रायत् । आद्ये "पूर्वत्रासिद्धीयमाद्विर्वचने" इति मुत्वस्यासिद्धत्वा-  
भावः । इमाचष्टे आययति, "प्रकृत्यैकाच्" (पा०सू० ६-४-१६३) इति  
प्रकृतिभावादिलोपाभावे वृद्धौ आयादेशः । चङि उपधाङ्स्वे द्विती-  
यस्य द्वित्वे माभवान् आययत् । न च द्वित्वे कर्तव्ये "णौ कृतं स्थानिवत्"  
इति वृद्धयादेः स्थानिवत्त्वं शङ्क्यम्, स्थानिरूपस्य यत्र द्विर्वचनं ल-  
भ्यते तत्र हि तत्, इह तु णेरैव द्विर्वचनमिति माधवः ।



वस्तुतस्तु अचिकीर्त्तदित्यत्र अतिव्याप्तिं वारयितुम् “ओः पुयण्-जि” (पा० सू०७-४-८०) इति त्रापकस्य सजातीयविषयतामाश्रित्य अवर्णवदुत्तरखण्ड एव स्थानिवद्भावप्रवृत्तिरिति “द्विर्वचनेऽचि” (पा० सू०-१-१-५९) इतिसुत्र एवावोचाम । स्पष्टञ्चैतदेवम् “उरत्” (पा० सू० ७-४-६६) इति सुत्रे रक्षितपदमञ्जर्यादिष्वपि । उत्तरखण्डस्यावर्णव-त्तापि न प्रयोगपर्यवसायिन्येवेत्याग्रहः किन्तु प्रक्रियावस्थागताऽपि । तेन ‘ओजिढत’ ‘अपीप्यत्’ इत्यत्र द्विर्वचनोत्तरकालं टिलोपेन “लोपः पि-वतेः” (पा० सू० ७-४-४) इत्यनेन च उत्तरखण्डे अवर्णापहारेऽपि न क्षतिः । भुवमाचष्टे भावयति । चङि-अबीभवत् । णौ कृतस्य स्थानिव-त्त्वात् भृशब्दस्य द्वित्वम् । पुनरुत्तरखण्डे वृज्यावौ, ह्रस्वः । ततः सन्व-द्भावे “ओः पुयण्जि” (पा० सू० ७-४-८०) इतीत्वम् । “दीर्घो लघोः” (पा० सू० ७-४-९४) इति दीर्घः । नन्विह भू इत्यस्य द्वित्वे सत्युत्तरख-ण्डे वृज्यावह्रस्वत्वानि प्रवृत्तानि, एवञ्च अभ्यासस्यानादिष्टादचः पूर्व-त्वात् तस्य सन्वद्भावेन पुयण्लक्षणे इत्वे कर्त्तव्ये “णौ चङि” (पा० सू० ७-४-१) इति ह्रस्वस्य “अचः परस्मिन्” (पा० सू० १-१-५७) इति स्थानिवत्त्वे अलघुपरत्वात्कथमित्वमिति चेत् ? उच्यते, “ओः पुयण्-जि” (पा० सू० ७-४-८०) इतीत्वस्य सन्वदतिदेशस्य च आरम्भसा-मर्थ्यात् स्थानिवद्भावस्येहाप्रवृत्तेः । भ्रुवमाख्यत् अनुभवत् । अत्र यः अवर्णपरो यण्, नासावभ्यासात्परः । यश्च परः पवर्गः, नासा-ववर्णपर इति इत्वाभावः । अशिभ्रयत् । णौ कृतस्य स्थानिवत्त्वेन श्रि-शब्दस्य द्वित्वम् । हे शब्दमाख्यत् अजीहयत् । गाम् अजूगधत् । रायम् अरीरयत् । नावम् अनूनवत् । स्वश्वम् स्वाशश्वत् । स्वराचष्टेस्त्वयति । “अव्ययानां भमात्रे” (का० वा०) इति टिलोपः । “प्रकृत्यैकाच्” (पा० सू० ६-४-१६३) इति प्रकृतिभावस्तु “येननाप्राप्ति” (पा० भा० ५९) न्या-येन आनन्तर्याच्च “ट्रेः” (पा० सू० ६-४-१५५) इत्यस्यैव टिलोपस्य ना-न्यस्येत्युक्तम् । णौ कृतत्वेन टिलोपस्य स्थानिवत्त्वात् स्वरशब्दस्य द्वित्वे असस्वदित्येके । अजादेशस्यैव स्थानिवत्त्वम्, अयं त्वज्जलादेश इति स्थानिवत्त्वाभावात् स्विशब्दस्य द्विर्वचने असिस्वदित्यन्ये । बहू-नाचष्टे भावयति । अत्र “इष्टस्य यिद् च” (पा० सू० ६-४-१५९) इति इष्टनिविहितत्वाद् बहोर्भूभावः । यिडागमस्तु न भवति ‘णौ’ इत्युपमेये सप्तमीश्रवणेन “इष्टवत्” इति उपमानादपि सप्तम्यन्ताद्वितिः । तेन इष्टनि परे पूर्वस्य यत्कार्यं तस्यैवातिदेशो न त्विष्टनः कार्यस्यापीति सिद्धान्तात् ‘प्रातिपदिकस्य’ इति वचनस्य प्रत्ययकार्यानतिदेशा-



र्थत्वाच्च । “देः” (पा०सू०६-४-११५) इति सूत्रे कैयटेन ‘भावप्रति’ इत्युदाहृत्यः यिद्वसन्नियोगादिभूत्वाद् भूभावस्य निडभावे अस्याप्यभावात् ‘बह्व्यति’ इत्येकीयमतत्वेनोपन्यस्तम् । न तु सोपपत्ति-कत्वात्तत्रैव प्राबल्यमिति मन्यमानेन ‘बह्व्यति’ इति स्वपक्षत्वेनोक्तत्वाभावाद्यतीत्येकीयमतेनोक्तम् । अत एव पुनरुक्तमिति भावयतीति चिन्त्यमित्युक्तम् ।

वस्तुतस्तु कैयटपक्ष एव प्रबलः । तथा च इष्टवदिति कार्यातिदेशः, कार्यस्यैव प्राधान्यात् । तथा च इष्टवद्वचनमेव प्रकृतौ दृष्टानामिह विधायकमिति तदेव भूभावं विधत्ते । तथा च सन्नियोगाभावः स्पष्ट एव । चान्द्रकौमारशाकटायनेषु तु इष्टानि युज्येति बहोरेव युक्तं विधाय ‘भूययति’ इति स्वीकृतम् । स्थूलमाचष्टे स्थवयति । दूरं दधयति । युवानं यवयति । हृषयति । क्षेपयति । श्लोदयति । अत्राद्येषु गुणस्य “अचो ङिति” (पा०सू०७-२-११५) इति वृद्धिः प्राप्ता “अङ्गवृत्त” (पा०भा०९४) इति वा “प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलम्” (ग०सू०) इति बहुलप्रहणाद्वा न भवति । युवतिशब्दादपि इष्टानि “लिकृविशिष्ट” (पा०भा०७३) परिभाषया “स्थूलदूर” (पा०सू०६-४-११६) इति यणादिपरलोपादेः सत्त्वापणावपि तदतिदेशात् यवयतीत्येव रूपम् । यद्वा पुंषद्भावे कृते यणादिपरलोपात्तदेव रूपम् ।

शीकरव्यतिकरमरीचिभिर्दूरयत्यधनते विवस्वति ।

इति कालिदासप्रयोगस्तु चिन्त्य इति सुधाकरादयः । वस्तुतस्तु दूरमयते दूरात् तं करोतीति समाधेयम् । स्रग्विषणमाचष्टे स्रजयति । अप्रातिदेशाद्विनो लुक् । “प्रकृत्यैकाच्” (पा०सू०६-४-१६३) इति टिलोपो न । “अत उपधायाः” (पा०सू०७-२-११६) इति वृद्धिस्तु “अङ्गवृत्त” (पा०भा०९४) इति न भवतीति भाष्ये स्थितम् । गोमन्तमाचष्टे गावयति, मतुब्लुकि “अचो ङिति” (पा०सू०७-२-११५) इति वृद्धिः । चङि अग्लोपित्वात्सन्वदित्वदीर्घत्वयोरभावे-असस्रजत्, अजुगवत् इत्यादि । युवानमल्पं वाऽऽचष्टे कनयति, “युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्” (पा०सू०५-३-६४) । पक्षे यवयति । युवतिमल्पां वेति विग्रहेऽप्येवम् । अन्तिकमाचष्टे नेदयति । बाढमाचष्टे साधयति । “अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ” (पा०सू०५-३-६३) । प्रशस्यमाचष्टे प्रशस्ययति । इह “प्रशस्यस्य श्रः” “ज्य च” (पा०सू०५-३-६०, ६१) इति श्रज्यौ न भवतः, उपसर्गस्य पृथक्करणादिति भावः । यत् सुधाकरेण ‘श्रापयति’ इत्युदाहृतम्, यच्च शाकटायनेन ‘श्रयति’ ‘ज्ययति’ इति, तत्सर्वं भाष्यविरोधा-



दुपेक्ष्यम् । वृद्धमाचष्टे ज्यापयति । अयञ्च ज्यादेशः वर्षादेशेन सह चिकल्पते । “प्रियस्थिर” (पा०सू०६-४-१५७) इति प्रादयः । प्रियमाचष्टे प्रापयति, स्थिरं स्थापयति, स्फिरं स्फापयति, उरुम् वरयति इति सुध्यातौ माधवः । ऊर्णुधातौ तु वृद्धिं स एवोदाजहार । बहुलं बहयति । गुहं गरयति । घृष्टं वर्षयति । तृप्तं दुःखं, तदाचष्टे प्रषयति । दीर्घं द्राघयति । वृन्दारकं वृन्दयति ।

इति इष्टवक्त्राबोदाहरणप्रपञ्चः ।

प्रकृतमनुसरामः—सूत्रङ्करोति सूत्रयति । इह व्याकरणस्य सूत्रङ्करोतीति वाक्ये द्रव्यरूपं सूत्रं सूत्रशब्देनोच्यते । लक्ष्यलक्षणसमुदायश्च व्याकरणशब्दार्थः । तथौरंशांशिभावात् षष्ठी । वृत्तौ तु “सूत्रशब्दोऽनर्थकः करोत्यर्थपरो वा” इति पक्षद्वयेऽपि सूत्रस्य पदार्थैकदेशत्वात् न तेन व्याकरणं सम्बध्यते, किन्तु करोत्यर्थेनैव, इति ‘व्याकरणं सूत्रयति’ इति द्वितीयैव भवति । तत्रापि सम्बन्धसामान्यविवक्षायां ‘भानुः स्मरति’ इतिवत् षष्ठी भवत्येवेति दिक् ।

“आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे इति णिच् कल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम्” (का०वा०) ॥ आख्यायत इत्याख्यानम्, बाहुलकात्कर्मणि ल्युट् । आख्यानशब्देन च तदभिधायी शब्दो गृह्यते, अथैकदन्तत्वासम्भवादिति प्राञ्चः ।

वस्तुतस्तु करणे ल्युट् । कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति । इह कदप्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि प्रहणात् (प०भा०२८) ‘कंसवध’ इति कदस्त आख्यानशब्दः । ततो द्वितीयान्तात्प्रातिपदिकाद्वा णिच् । कृतोऽप्प्रत्ययस्य लुक् । तस्यैव या प्रकृतिः ‘तन्’ इति, तस्याः विकारपरित्यागेन स्वेनैव रूपेणावस्थानम् । यद्यपि कृतो लुकि कृते तत्सन्नियोगशिष्टस्य वधादेशस्य निवृत्तिः सिद्धैव, “हनञ्च वधः” (पा०सू०३-३-७६) इति सूत्रेण हि अप्रत्ययवधादेशौ सन्नियोगशिष्टौ । तथापि ‘सीतायोगमाचष्टे सीतया योजयति’ इत्यत्र कुत्वस्यासन्नियोगशिष्टत्वेन तन्निवृत्त्यर्थं प्रकृतिप्रत्यापत्तिवचनमिति कैयटहरदत्तमाधवादयः ।

वस्तुतस्तु “निमित्तापाय” (प०भा०५७) न्यायेनैव तत्सिद्धेस्तस्यानित्यत्वज्ञापनार्थमिदम् । “नहीदं वचनं, नापि न्यायः” इति वदङ्गिरपि “अकृतव्यूह” (प०भा०५७) परिभाषायाः तत्स्थानापन्नायाः पुरस्कृतत्वात्तस्या एवानित्यत्वमनेन ज्ञाप्यत इति निष्कर्षः । इदञ्च “अचः परस्मिन्” (पा०सू०१-१-५७) इति सूत्र एव प्रपञ्चितमस्माभिः । एवञ्च ‘कंसहन-३’ इति स्थिते भङ्गसंज्ञा घातुसंज्ञा च कंसविशिष्टस्यैव



प्राप्ता, ततश्चाङ्घ्रिर्वचनयोर्दोषः स्यात्, अत उक्तं “प्रकृतिवचकारक-  
म्” इति । अस्यार्थः—प्रकृतिर्हेतुमणिचः प्रकृतिः, वक्ष्यन्ताकृतिः,  
वधादेः कृदन्तस्य यत्कारकं कंसादिकं तस्य कृत्प्रकृतेर्हन्त्यादेः हेतुम-  
णौ धातावनन्तभूतं द्वितीयान्तं यदूपं तदेव भवतीति । अत एव  
‘राजागमनमाचष्टे राजानमागमयति’ इत्यत्र नकारश्रवणमप्युपपन्नम् ।  
अनेन चातिदेशेन कारकस्य धातावनन्तभावे लब्धे तद्व्यतिरिक्ताङ्-  
धादेरेव णिच् । एतेन ‘कंसमजीघतत्’ इत्यङ्घ्रिर्वचने यथाभिमतं  
सिध्यतः । नन्वेवमपि “हो हन्तेः” (पा०सू०७-३-५४) इति “हनस्तोऽचि-  
ण्णलोः” (पा०सू०७-३-३२) इति च कुत्वत्त्वेन प्राप्नुतः, “धातोः  
स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानात्” (प०भा०२०) इति चेत् ?

अत्र हरदत्तमाधवादयः—“प्रकृतिवच” इति चकारो भिन्नक्रमः,  
‘कारकम्’ इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । कार्यशब्दश्चाध्याहार्यः । हेतुम-  
णिच्प्रकृतौ यादृशङ्कारकं तथेहापि, यादृशञ्च तत्र कार्यं अङ्घ्रिर्वचन-  
तत्त्वकुत्वादि तदपीह तथैवेत्यर्थः । इह च अङ्घ्रिर्वचने अतिदेशद्वयेनापि  
सिध्यतः । असङ्कीर्णोदाहरणन्तु द्वितीयादिकं कुत्वतत्वादिकञ्चेति वि-  
वेकः । इह कंसवधसुमद्राहरणादिनिरुद्धोपाख्यान एव णिजिति ना-  
ग्रहः, किन्तु प्रतिपादनमात्रे । तेन राजागमनमाचष्टे राजानमागमय-  
ति । यद्यपीह कृत्प्रकृतौ ‘राजा’ कर्तासीत्, तथापि गमेर्हेतुमणौ  
“गतिबुद्धि” (पा०सू०१-४-५२) इति कर्मीभूतः; तद्वच्चेहापि । ‘राजा-  
नम्’ इत्यस्य प्रकृतिभागो यद्यपि अन्तर्वर्तिन्या वष्टुया प्रत्यबलक्षणेन  
पदम्, तथापि नकारश्रवणं भवत्येव, कृपातिदेशबलात् । ‘देवदत्तपाक-  
माचष्टे देवदत्तेन पाचयति’ इति तृतीयैव भवति । “गतिबुद्धि” (पा०सू०  
१-४-५२) इति नियमेन कर्षत्वापहारे कर्तृत्वस्यैव स्थितेरिति हिक् ।

दृश्यार्थायां च प्रवृत्तौ (का०वा०) ॥ मृगाणां रमणं मृगरमणम् । कर्तृ-  
पशुया समासः । तदाचष्टे मृगान् रमयति । यदा प्रतिपाद्यकर्तृकदर्शना-  
र्थमाख्यातं तदैव णिजिष्यते नान्यदेत्येतदर्थं वचनम् । येयमाख्यातरूपा  
वृत्तिः सा यदि दृश्यार्थः । तेन ‘स्वयं मृगरमणमनुभूयन् अन्यस्मै दर्श-  
यितुमाचष्टे’ इत्यस्मिन्निवश्ये ‘मृगान् रमयति’ इति प्रयोगः । यदा तु  
वरण्ये दृष्टं मृगरमणं प्राप्तमेत्याऽन्यस्मा आचष्टे—‘एवं तत्र मृगा रमन्ते’  
इति, तस्मिन्नाख्याते बोधनीये ‘मृगरमणमाचष्टे’ इति वाक्यमैव भवति ।

अत्र कैयटादयः—दृश्यार्थामेव इति नियमो मृगरमणादिविषयक  
एव, न तु सार्वत्रिकः । तेन राजागमनादौ दृश्यार्थप्रवृत्त्यभावेऽपि णि-  
ज् भवत्येवेत्याहुः ।



लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम् (का०वा०) । इह आख्यानादिति न सम्बध्यते । शेषं पूर्ववत् । सन्निहितया आख्यानक्रियया सह कालस्य साकल्येन सम्बन्धे बोधनीये णिच्, मर्यादावचनस्याङो लोपश्चेत्यर्थः । उदाहरणन्तु विवसनं विवासः अतिक्रमणं, घञ्, रात्रेर्विवास इति कर्तृषष्ठ्या समासः । ततः “आङ् मर्यादाभिविधयोः” (पा०सू०२-१-१३) इत्याङा सहाव्ययीभावः । आरात्रिविवासमाचष्टे रात्रिं विवासयति । यावद्रात्रेरतिक्रमणं तावत्कथाः कथयतीत्यर्थः । वसिक्रियायां कर्तृभूताया रात्रेर्हेतुमणौ तावत्कर्मत्वं वसेरकर्मकत्वात्तद्वदत्रापि णौ कर्मत्वं ‘रात्रिम्’ इत्यस्य लुप्तषष्ठ्यन्तत्वेन प्रकृतिभागस्य पदत्वे “इकोऽसवर्णे” (पा०सू०६-१-१२७) इति पाक्षिकः प्रकृतिभावः प्राप्तः पूर्ववद्रूपातिदे-  
शाग्निरुच्यते । इहाख्येयं णिच्प्रकृत्या अनुपात्तमपि अर्थाद्गम्यते । तद्वा-  
चकस्तु ‘भारतकथाम्’ इत्यादिः शब्दो नेह प्रयोक्तव्यः । तत्समभिव्या-  
हारे हि सति णिजेव नोत्पद्यते, अनभिधानात् । अत्र च प्रमाणं वक्ष्य-  
माणं भाष्यकारीयं प्रत्याख्यानमेव । नहि फलभेदे प्रत्याख्यानं सम्भ-  
वति । प्रत्याख्यानपक्षे च ‘कथाम्’ इत्यादेर्यथा न प्रयोगस्तथा प्रत्याख्या-  
नावसर एव स्फुटीभविष्यति । तथा ‘प्रकृतिवच्च कारकम्’ इत्यस्य  
पूर्वोक्ते विपरीतक्रमाध्याहारव्याख्यानेऽपि भाष्यकारीयप्रत्याख्यानं  
प्रमाणमिति दिक् ।

चित्रीकरणे प्रापि (का०वा०) ॥ आख्यानादिति विहाय शिष्टं स-  
म्बध्यते । कृदन्तादाश्चर्यकरणे गम्यमाने प्राप्नोत्यर्थे णिच् स्यात्, क-  
ल्लुगादि पूर्ववत् । उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं प्राप्नोति  
सूर्यमुद्गमयति । इह उज्जयिन्या माहिष्मती दूरदेशस्थेति तावतो देश-  
स्य प्रागुदयादतिक्रमणमाश्चर्यकरणम्, “प्रकृतिवच्च कारकम्” इति सूर्यस्य  
पृथग्भावः । सङ्ग्रामयतेरेव सोपसर्गादित्युक्तेरुच्छब्दस्यापि पृथक्कर-  
णम् । सूर्यस्य हेतुमणौ कर्मत्वात् इहापि कर्मत्वे सूर्यमुद्गमय-  
दित्यादि ।

नक्षत्रयोगे हि (का०वा०) ॥ नक्षत्रयोगवाचिनः कृदन्ताज्जानात्यर्थे  
णिच्, शेषं प्राग्वत् । पुष्येण योगः कर्तृकर्मकः योग इत्यर्थः । पुष्यो  
हि चन्द्रमसं युनक्ति सम्बध्नाति । इह कर्मणोऽपि गम्यमानत्वात्  
“उभयप्राप्तौ” (पा०सू०२-३-६६) इति नियमात्कर्तरि षष्ठ्यभावे तृती-  
या “अन्तर्द्धौ येनादर्शनामिच्छति” (पा०सू०१-४-२८) इतिवत् । पुष्य-  
योगं जानाति पुष्येण योजयति । युजेः कर्तुः पुष्यस्य गत्यादिकर्तृत्व-  
नन्तर्भावेन हेतुमणौ न कर्मता किन्तु कर्तृत्वमेवेति इहापि तथा, तेन



तृतीयैव । इदञ्च “आख्यानात्कृतः” (का०वा०) इत्यादि वार्त्तिकजातं भाष्यवार्त्तिकयोरेव प्रत्याख्यातम्, तदीयलक्ष्यजातस्य आरोपेणापि सूपपादत्वात् । तथाहि, कंसं घातयतीति तावदारोपः । ये हि कंसा-  
द्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः ते कंसानुकारिणं नटं सा-  
माजिकैः कंसबुद्ध्या गृहीतं तादृशेनैव वासुदेवेन घातयन्तीव । येऽपि  
चित्रं व्याचक्षते इयं मथुरा, अयं प्रासादः, अयं भगवान् वासुदेवः प्रवि-  
ष्टः इत्यादिक्रमेण, तेषु तथैव । येऽपि ग्रन्थं वाचयन्तः कंसवधमाचक्ष-  
ते ग्रन्थिका नाम तेऽपि तत्तत्पदार्थविषयकनिश्चयोत्पादनात्सताः कि-  
या निर्वर्तयन्तीव । तथाच स्पष्ट आरोपः । किञ्च ‘गच्छ हन्यते कंसः’  
‘गच्छ घानिष्यते’ किं गतेनेह तेन हतः कंसः’ इत्यादिषु निरुद्धेषु व्य-  
हारेषु तवाप्येवैव गतिः । नह्यत्र णिजिषधिः किञ्चिदुपकरोति, उक्तो-  
दाहरणेषु णिजप्रवेशाभावात् । उक्तञ्च—

शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयताङ्गताम् ।

प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥ इति ।

एवं ‘राजानमागमयति’ इत्यादावपि बोध्यम् । ‘राजानमानयति’  
इत्यादौ हि णिजभावात्तवाप्येवैव गतिः । ‘रात्रिं विवासयति’ इत्यत्रा-  
पि विचित्रकथाऽऽख्यानानेन रात्रिरनेनैव गमितेति आरोपः । ‘निशान्नि-  
नाय’ इत्यादौ च तवाप्येवैव गतिः । ‘सूर्यमुद्गमयति’ इत्यत्रापि प्रयो-  
ज्यप्रयोजकभावाध्यारोपः, तदालम्बनन्तु ‘माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं लभे-  
य’ इत्येवंरूपस्य देवदत्ताभिप्रेतार्थस्य निर्वृत्तिरेव । यो हि यस्य प्रव-  
र्त्यः स तस्याभिप्रेतं निर्वर्त्तयति । तत्र स्वभूत्यर्थं प्रवर्तमाना अपि शि-  
ष्यादयो गुर्वभिप्रेतमपि उद्दिशन्त्येव । सूर्यस्तु न देवदत्ताभिप्रेतोद्देशेन  
प्रवर्तत इति वैषम्यम् । तथापि अभिप्रेतार्थसम्पत्तिमात्रेण आरोपे न  
काचित् क्षतिः । एवं “पुष्येण योजयति” इत्यत्रापि ज्योतिःशास्त्रपरि-  
शीलनेन पुष्ययोगस्य सर्वान्प्रत्याविष्करणात् योजयतीवेत्यारोपः ।  
इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमपादे द्वितीयमाहिकम् ॥

कण्डवादिभ्यो यक् (पा०सू०३-१-२७) ॥ एभ्यो धातुभ्यो यक्  
स्यात्स्वार्थे । कण्डून् (क० उ०१) कण्डूयति । कण्डूयते । न च कण्डवा-  
दीनि प्रातिपदिकान्येवेति वाच्यम्, गुणनिषेधार्थेन यकः क्त्वेन तेषां  
धातुत्वसिद्धेः । न चैवं धातोरित्यनुवृत्तेर्बैयर्थ्यमिति वाच्यम्, प्राति-  
पदिकानां वारणीयत्वात् । न चैते धातव एवेति वाच्यम्, कण्डवादिषु  
केषांचिदीर्घपाठेन प्रातिपदिकत्वसिद्धेः । यदि हि धातव एव ते स्यु-  
स्तर्हि वाग्रहणं निवर्त्य नित्यो यागिति तावदास्थेयम्, अन्यथा तवा-



दौ 'कण्ड्वति' इत्याद्यनिष्टरूपप्रसङ्गात् । एवं स्थिते ह्रस्वान्तादपि यकि 'मन्तुयति' इत्यादिषु "अकृत्सार्व" (पा०सू०७-४-२५) इति दीर्घ-त्वे 'कण्ड्वति' इत्यादिसिद्धेः किं दीर्घपाठेन ? तस्मात् किञ्चदीर्घाभ्यां ज्ञापकाभ्यां धातवः प्रातिपदिकानि चेति द्विविधाः कण्ड्वादय इति स्थितम् । उक्तञ्च भाष्ये—

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि ।

आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः ॥ इति ।

तत्र धात्वधिकारात् धातुभ्य एव प्रत्ययः । स च नित्य इति सिद्धान्तः ।

स्यादेतत्, एषां प्रातिपदिकत्वमेवास्तु, त्यज्यतां दीर्घपाठः प्रत्ययस्य किञ्चञ्च । न चैवम् "अकृत्सार्व" (पा०सू०७-४-२५) इति दीर्घः क्लिति विधीयमान इह न स्यादिति वाच्यम्, तत्र "क्लिति" इत्यस्य निवृत्तेः । न चैवम् 'उरुया' 'धृष्णुया' इत्यादावतिप्रसङ्गः, तस्य छान्दसत्वात् । न च यको नित्यत्वे 'कण्ड्वः' इति न सिद्ध्यैदिति वाच्यम्, कण्ड्वयश-ब्दात्सम्पदादित्वाद्भावे क्वौ अलोपे "लोपो व्योः" (पा०सू०६-१-६६) इति यलोपे च तत्सिद्धेः । न च यलोपेऽलोपस्य स्थानिवत्त्वं शङ्क्यम्, "न पदान्त" (पा०सू०१-१-५८) इति निषेधात् । न चैवमलोपस्य स्था-निवत्त्वादुवङ् स्यादिति वाच्यम्, सति स्थानिवत्त्वे अकारान्तस्यैव धातुनेति पूर्वदले उवङोऽप्राप्तेः । तर्हि यण् स्यादिति चेत् ? अस्तु, तस्य ऊठ् करिष्यते । न च ऊठि कर्तव्ये अलोपस्य स्थानिवत्त्वेन किञ्-प्परत्वं नास्तीति वाच्यम्, वकारस्य आदिष्ठादचः पूर्वत्वात् । ननु स्थानिद्वारकमनादिष्ठादचः पूर्वत्वमस्त्येव न च तस्याशास्त्रीयत्वान्नाति-देश इति माधवोक्तं युक्तम्, अनादिष्ठादचः पूर्वत्वमाश्रित्य कर्तव्यस्य "अचः परस्मिन्" (पा०सू०१-१-५७) इत्यतिदेशस्य शास्त्रीयतया "स्था-निवत्" (पा०सू०१-१-५६) सूत्रेण अतिदेशातिदेशस्य दुर्वारत्वात् । अन्य-था "न पदान्त" (पा०सू०१-१-५८) इति सूत्रे सवर्णग्रहणस्य वैयर्थ्या-पत्तेरिति चेत् ? न, स्थानिद्वारकस्य अनादिष्ठादचः पूर्वत्वस्य असार्वत्रिक-तायाः प्रागेव निर्णीतत्वात् । अत एव ऊठि कृते पुनरुवङ् न । यद्वा, "क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्" (का०वा०) इति निषेधाद्यणव मास्तु । नन्वेवमपि 'कण्ड्वौ' इत्यादौ संयोगपूर्वकत्वेन "ओः सुपि" (पा०सू० ६-४-८३) इत्यस्याप्रवृत्तौ उवङ् स्यादिति चेत् ? अस्तु, किञ्चः प्रत्य-यलक्षणेनोठं करिष्यामः । तस्मात् प्रातिपदिकान्येवैतानि दीर्घकिञ्चे च निष्फले इति चेत् ? मैवम्, उवङो बहिरङ्गत्वेनासिद्धतया ऊठो दुर्व-



लभ्यात् । किञ्चोक्तरीत्या हि 'कण्डूः' इतिवत् 'मन्तुः' इत्यादि स्यात् ,  
'मन्तुः' इत्यादि च न सिध्येत् । अथ "धातोः कर्मणः" (पा०सू०३-१-  
७) इत्यतो वाग्रहणमनुवर्तेत, तर्हि यद्यपि 'मन्तुः' इत्यादि इत्स्वं सिद्धं,  
तथापि 'कण्डूः' इतिवदलोपयलोपाभ्यां 'मन्तुः' इत्यपि स्यात् । तथा  
यगनुत्पत्तिपक्षे 'मन्तुः' इत्यादिवत् 'कण्डुः' इत्यपि स्यात् । किञ्च सुखा-  
दिभ्यो यगन्तेभ्ये तस्य अनार्द्धधातुत्वादतोलोपाभावे "अकृतसार्व"  
(पा०सू०७-४-२५) इति दीर्घे 'सुखायति' इत्यादि स्यात् । 'सुखयति'  
इत्यादि चेत्स्यते । अथ हलन्तमेव पठ्येत, तर्हि 'सुखं' 'दुःखम्' इत्य-  
कारान्तं न सिध्येत् । तस्माद्यथाभ्यासमेव मनोरमम् ।

नन्वेवमपि प्रातिपदिकैः 'कण्ड्वौ' 'मन्तुः' इत्यादि यद्यपि सिद्धं,  
तथापि यगन्तेभ्यः क्वौ अनिष्टं स्यादेव । तद्यथा-कण्ड्वयतेः कण्ड्वौ,  
कण्ड्वः । मन्तूयतेः मन्तुः । सुखादेः सुक् इत्यादि हलन्तम् । नैष  
दोषः, यगन्तेभ्यः क्विप् एवानुत्पत्तेः । उक्तं हि आप्ये-"नैतेभ्यः क्विप्  
इक्षयते" इति । कश्चन्तर्हि कण्ड्वयतेरप्रत्ययः ? 'कण्डूः' इति "तपदान्त"  
(पा०सू०१-१-५८) सूत्रे उक्तमिति चेत् ? कयजन्तात्क्विप्प्रत्ययेहि ।  
तत्र च 'कण्ड्वौ' इत्युवङिष्ट एव । एवं प्रातिपदिकादाचारक्विवन्ता-  
त्कयजन्ताद्या क्विप्प्रत्ययि बोध्यम् ।

स्यादेतत्, कण्ड्वादयः प्रातिपदिकान्येव, यथान्यासं दीर्घाश्च  
सन्तु, ककारस्तु त्यज्यतां, वाग्रहणञ्चानुवर्त्यताम्, यगन्तात्क्विप्पो-  
ऽनभिधानञ्च आवयोस्तुल्यं, तर्हि कण्ड्वादीनां धातुत्वेनेति चेत् ?  
उक्तरीत्या 'सुखयति' इत्याद्यसिद्धेः । प्रातिपदिकात्प्रत्यये तस्यानार्द्धधा-  
तुत्वेन 'सुखायति' इति स्यादिति हि स्पष्ट एव दोषः । यत्तु कौमु-  
द्याम्-कृजर्थे यक् स्यात्, धातवः प्रातिपदिकानि चेति कण्ड्वादयो  
द्विविधाः, कण्डू करोति कण्ड्वयते, नामधातुत्वाद्यथेष्टं द्वित्वे प्राप्ते  
कण्ड्वादेस्तृतीयस्य इत्युक्तं; तदेतत्सर्वमाकरविरुद्धमनेकदोषग्रस्तञ्च ।  
तथाहि, कृजर्थे इतिव्याख्यानेन 'करणे' इत्यस्यानुवृत्तिर्लभ्यते । तच्च व्य-  
र्थम्, धात्वर्थमात्रस्यानुवृत्तिं विनाऽपि लाभात् । ततोऽतिरिक्तस्य चा-  
नन्वयात् एवञ्च 'कण्डू करोति' इति विग्रहप्रदर्शनमप्ययुक्तम् । नामधातु  
त्वादिति च सुतरामशुद्धम्, धात्वधिकाराद्धातुभ्य एव यगिति सि-  
द्धान्तात् । अथ प्रातिपदिकादेव यकमभ्युपैषि, तर्हि लडादौ 'कण्ड्वयति'  
इत्यादि स्यात् । अथ प्रातिपदिकान्येव कण्ड्वादीनीत्यभिप्राये, तर्हि  
'सुखयति' इत्यादि न सिध्येत् "द्विविधाः कण्ड्वादयः" इति स्वो-  
क्तिविरोधश्च । आकरविरोधस्तु स्पष्ट एवेत्यास्तां तावत् ।



मान्यास्तु अनेकदोषदुष्टमपीमं प्रक्रियाप्रघट्टकं कथञ्चित् समर्थयन्ते । तद्यथा—प्रातिपदिका कण्ड्वादयः, तेभ्यश्च वैकल्पिको यक् इति पक्षेणायं ग्रन्थः । अत एवोक्तं 'कृञर्थे' इति । विगृहीतञ्च 'कण्ड् करोति' इति च । नहि धातुभ्यो यकि प्रातिपदिकेभ्यो वा नित्ये यकि अर्थं विग्रहः सम्भवति । एवञ्च नामधातुत्वादित्याद्यपि सम्यगेव । कथन्तर्हि द्वैविध्यमुक्तमिति चेत् ? यगन्ताः सन्तो धातवः । केवलास्तु प्रातिपदिकानीत्याशयात् । यद्वा, यगन्तधात्ववयवेषु तेषु धातुशब्दो गौणः । प्रत्ययसदसङ्गावाभ्याम् अवस्थाभेदाद् द्वैविध्यम् । न चैवं 'सुख्यति' इत्यादौ "अतो लोपः" (पा०सू०६-४-६४) न स्यादिति वाच्यम्, यकः किरन्वेन आवश्यकत्वाल्लाघवाच्चाङ्गधातुकत्वस्यैव ज्ञापनात् । अत एव 'द्विविधा' इत्येवोक्तं न तु धातुभ्य एव यगिति । तदिदं भाष्यादिविरुद्धमपि लक्ष्ये विसंवादाभावाद्वास्तु कथञ्चित् ।

अथोदाहरणानि—१ कण्ड्वात् नात्रविघषणे । अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायं विशिनष्टि । एवमग्रेऽपि । कण्ड्वायति, कण्ड्वायते । २ मन्तु अपराधे रोष इत्येके । मन्तूयति । चन्द्रस्तु जितं पठित्वा मन्तूयते इत्याद्याह । ३ वल्गु पूजामाधुर्ययोः । वल्गूयति । तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन । ४ असु उपतापे । असूयति । असूयुः । "मृगश्वादयश्च" (उ०सू०३९) इत्युप्रत्यय इति माधवः । एतेन—

सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः ।

इति भट्टिप्रयोगो व्याख्यातः । केचित्तु 'अस्' ६ 'असूज्' इति पठित्वा आद्यस्य सान्तरस्य 'असूयति' द्वितीयस्य दीर्घान्तरस्य 'असूयति' 'असूयते' इत्याहुः । ६ लेट् ७ लोट् धौर्त्ये, पूर्वभावे, स्वप्ने च । लेट्यति, लोट्यति । लोटिता, लोटिता । अल्लोपयलोपौ । केचित् लेट् लोटौ दीप्त्यर्थावाहुर्गिति माधवः । पूर्वभावः पूर्वत्वम् ।

अत्र केचित् पूर्वशब्दं प्रकृतिनिर्देशार्थमाश्रित्य 'पूर्व्यति' इत्युदाहरन्ति । तथा चान्तःकरणवृत्तिवर्गे भट्टमल्लेनोक्तम्—

शेते द्रायति निद्राति सस्ति स्वपिति पूर्व्यति ।

निद्रायते संविशति निद्रायां संस्ति मन्दते ॥ इति ।

अस्यार्थो धातुचन्द्रोदये उक्तः । शेतप्रभृतीनि दशाख्यातानि निद्रायाम् । वस स्वप्ने (अ०प०६८) अदादिः । 'वसि शयने' इत्येके पेटुरिति तत्रैव क्षीरस्वामी । पूर्व्यतीति कण्ड्वादियगन्त इत्यादि । तथा देवेनाप्युक्तम्—

पूर्व्यतीति तु यस्त्वप्ने तत् कण्ड्वादिवु दर्शनात् इति ।



एतच्च अमोघायां शाकटायनधातुवृत्तौ अर्थनिर्देशरहिते गणपाठे पूर्वस्य पाठाभावादयुक्तमिति पुरुषकारैरेव दूषितम् । युक्तञ्चैतत्, जयादित्येनापि 'लेट्' 'लोट्' इत्येव पाठात्, हरदत्तेन च घौर्त्ये पूर्वभावे स्वप्ने वेति तद्विवरणात् । एतेन बुद्धिवर्गे—

मनसामोचरीकारे मनस्वित्वे मनस्यति ।

इति भट्टमल्लोक्तिरपि प्रयुक्ता, न्यायसाभ्यात् । जयादित्येन हि 'असु' इत्येव निर्दिष्टम् । हरदत्तेन तु अथ कण्ठ्वादीनामर्थनिर्देश इत्युपक्रम्य कण्ठ्वादीन् विवृण्वता 'असु' इति प्रतीकमुपादाय 'मानस उपतापे' इति विवृतम् । अत एव 'असु मनस उपतापे' इति पठतामपि 'मनस' इति षष्ठ्यन्तमुपतापविशेषणम्, न तु प्रकृतिनिर्देशः वृत्तिपदज्ञायादिविरोधात् । धातुचन्द्रोदयकारस्य तु 'मनस्यति इति कण्ठ्वादियगन्तम्' इति भूयसा ग्रन्थसन्दर्भेण व्याचक्षाणस्यापि तत्रापरितोषोऽस्त्येव । अत एव 'मनस्यते' इति पाठमाश्रित्य मनःशब्दाद्वृत्तिविषये तद्वति वर्त्तमानात् क्यङञ्चोक्त्वा 'इद्' शोभतेतराम्' इत्युपसङ्गहार ।

८ लेला दीप्तौ । "ध्यायतीव लेलायतीव" इति श्रुतिः । ९ इरस् १० इरज् ११ इरज् ईर्ष्यायाम् । इरस्यति । इरज्यति । ईर्यति, ईर्यते । "हलि च" (पा०सू०८-२-७७) इति दीर्घः । एषां त्रयाणां यथायथमन्येऽप्यर्थाः सन्ति । तथाहि— "इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिः" इति मन्त्रे दीप्त्यर्थोऽयमिति भट्टभास्करादयः । "इरज्यन्तावसव्यस्य भूरेः" इति मन्त्रे ऐश्वर्यार्थ इति । ईर्यतिर्मार्गावस्थानेऽपि । उक्तञ्चामरेण— "वर्या त्वीर्या पथि स्थितिः" (अ०को०२-७-३८) इति । १२ इयस् ऐश्वर्ये इति गणरत्नमहोदधौ । इयस्यति । १३ उषस् प्रभातीभावे । उषस्यति रात्रिः । १४ वेद् घौर्त्ये स्वप्ने च । वेद्यति । १५ मेधा आशुग्रहणे । मेधायति । १६ कुषु भक्षणे । कुषुभ्यति । १७ मगध परिवेष्टने । नीचदास्य इत्यन्ये । मगध्यति । १८ तन्तस् १९ पम्पस् दुःखे । तन्तस्यति । पम्पस्यति । २० सुख २१ दुःख तत्क्रियायाम् । तच्छब्देन सुखदुःखार्थौ । सुखदुःखरूपायां क्रियायामित्यर्थः । सुख्यति । दुःख्यति । सुखं दुःखं चानुभवतीत्यर्थः । २२ सपर पूजायाम् । अकारान्तोऽयं महोदधौ । सपर्यति । २३ अरर आराकर्मणि । आरा प्रतोदः । अरर्यति । २४ मिषज चिकित्सायाम् । मिषज्यति । २५ मिष्णज उपसेवायाम् । मिष्णज्यति । "सरस्वती त्वा मघवन्न मिष्णक्" । छान्दसो लुक् । २६ इषुध शरधारणे । इषुध्यति । २७ चरण २८ वरण गतौ । चरण्यति । वरण्यति । २९ चुरण चौर्त्ये । चुरण्यति । ३० तुरण त्वरायाम् । तुरण्यति । ३१ भुरण धारणपोषणयोः ।



रणधारणयोरित्यन्ये । भुरण्यति । ३२ गज्जद वाक्स्खलने । गज्जयति ।  
 ३३ एला ३४ केला ३५ खेला विलासे । एलायति । केलायति । खेलाय-  
 ति । ३६ एला स्थाने । ३७ इलेत्यपरे । इलायति । ३८ लेखा स्खलने च ।  
 लेखायति । अकारान्तोऽयमित्यन्ये । तत्रातोलोपः, लेष्यति । ३९ लिट्  
 अल्पकुत्सनयोः । लिटयति । ४० लाट जीवने । लाटयति । ४१ हणीङ्  
 रोषणे लज्जायाञ्च । “कथं नपत्या धरणी हणीयते” इति श्रीहर्षः ।  
 ४२ महीङ् पूजायाम् । अत्र पूजा पूज्यमानकर्तृका तेनायमकर्मकः । म-  
 हायते । पूजामधिगच्छतीत्यर्थः । “मातापितरौ चास्य स्वर्गं लोके म-  
 हायेते” इति भाष्यम् । ४३ रेखा श्लाघासादनयोः । आसादनं प्राप्तिः प्रा-  
 ग्गणं वा । रेखायति । श्लाघामनुभवत्यनुभावयति वेत्यर्थः । ४४ द्रवस्  
 परितापपरिचरणयोः । द्रवस्यति । ४५ तिरस् अन्तर्धौ । तिरस्यति । ४६  
 अगद नीरोगत्वे । अगद्यति । ४७ उरस् बलार्थः । उरस्यति, बलवान्  
 भवतीत्यर्थः । ४८ तरण गतौ । तरण्यति । ४९ पयस् प्रसृतौ । पयस्यति ।  
 ५० सम्भूयस् प्रभूतभावे । सम्भूयस्यति । ५१ अम्बर ५२ संवर संभ-  
 रणे । अम्बरयति । संवरयति । गणरत्नमहोदधौ आकृतिगणत्वात् रैधवला-  
 दिभ्यो यकि रायति धवलयतीत्याद्युक्तम् । कण्ड्वादीनां तृतीयस्य द्वे  
 इति वक्ष्यते । तेन सनि ‘कण्डूयिष्यति’ इत्यादि ।

गुपधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः (पा०सू०३-१-२८) ॥ एभ्य आ-  
 यप्रत्ययः स्यात् स्वार्थे । गुप् रक्षणे (भ्वा०प०३९५) । गोपायति । धूप  
 सन्तापे (भ्वा०प०३९६) । धूपायति । विच्छ गतौ । (तु०प०१४३) विच्छा-  
 यति । विच्छेस्तुदादिपाठसामर्थ्यादायप्रत्ययान्तादपि शो न तु  
 शप् । तेन ‘विच्छायन्ती’ विच्छायती इति । “आच्छी” (पा०सू०७-१-८०)  
 इति नुम्विकल्पः । अन्ये तु तुदादिपाठसामर्थ्यात्सार्वधातुकेऽप्यस्य  
 आयप्रत्ययो वैकल्पिक इत्याहुः ।

पण व्यणहारे स्तुतौ च, पन च (भ्वा०आ०४४०, ४४१) । ‘पणपन’ इति  
 पठनीये ‘पन च’ इति पृथक्पाठसामर्थ्यात् स्तुतावेवायम्, तत्साहच-  
 र्यात्पणेरपि स्तुतावेवायप्रत्ययः । अनुबन्धस्य केवले चरितार्थत्वादाय-  
 प्रत्ययान्तान्नात्मनेपदम् । पणायति । पनायति । स्तौतीत्यर्थः । व्यव-  
 हारे तु-‘शतस्य पणते’ इति जयादित्यादयः । अन्ये तु व्यवहा-  
 रार्थादप्यायमिच्छन्ति । तथा च भट्टिः-“न चोपलेभे वणिजां प-  
 णायाम्” इति । अस्मिन्नपि पक्षे ‘पणिष्यते’ ‘पणायिष्यति’  
 इत्यादौ अनुबन्धः केवले चरितार्थ एव । अत एव पनेरपि आय-  
 प्रत्यये परस्मैपदमेव ।



ऋतेरीयङ् (पा०सू०३-१-२९) ॥ ऋतिः सौत्रः तस्मादीयङ् स्यात् । ऋतीयते । ईयङो डित्वस्य गुणनिषेधेन चरितार्थत्वेऽपि धातोर्ङि-  
दन्तत्वाद्यङन्तादिवात्मनेपदम् । यथा चैतत्तथा “अनुदात्तङितः”  
(पा०सू०१-३-१२) इति सूत्र एवावाचाम ।

ऋनेच्छङिति सिद्धे ईयङ्वचनं धातुप्रत्ययानामायन्नादयो नेति  
ज्ञापनार्थम् । तेन शमेः कः ‘शङ्खः’ इत्यादि सिध्यतीति वृत्तिकारादयः ।  
हरदत्तस्तु “द्विवचनविभज्योपपदे तरप्छसुनौ” इति वक्तव्ये ईयसुन्वच-  
नमधातुप्रत्ययेष्वपि आयन्नाद्यभावं ज्ञापयेदिति प्रतिबन्दिनमाह । तत्र  
ईयसुन्वचनं प्रक्रियालाघवार्थमेव न तु ज्ञापनार्थम्, आयन्नादीनां  
निर्विषयतापत्तेः । न च विनिगमनाविरहः, “ण्यक्षत्रिय” (पा०सू०२-४-  
५८) इत्यादिसौत्रनिर्देशानामेव विनिगमकत्वादिति समाधानं बो-  
ध्यम् । ऋतिः सौत्रो घृणायां वर्त्तत इति वृत्तिः । यद्यपि घृणाशब्दो  
नानार्थः “घृणा जुगुप्सार्कपयोः” इतिवचनात्, तथापीह जुगुप्सार्थ-  
एव, ऋतीयाशब्दस्य बीभत्सापर्यायतया निघण्टुषु पाठादिति हरद-  
त्तादयः । भट्टमल्लस्तु आख्यातचन्द्रिकायां तृतीयकाण्डे नानार्थवर्गे  
“ऋतीयते धिग्वृणयोः” इति पठन् नानार्थतामियेष ।

“अर्तनं च ऋतीया च हृणीया च घृणार्थकाः” (अ०को३-२-३२)  
इति वदन्नमरोऽप्यत्रानुकूलः । यदि हि जुगुप्सामात्रार्थत्वमिच्छे-  
त्तर्हि “हृणीया च जुगुप्सने” इत्येव स्पष्टं पठेत् । नानार्थं घृणा-  
शब्दं प्रयुज्जानस्तु ऋतेरपि तथात्वमभिप्रेतीति पदचन्द्रिकाव्या-  
ख्याने धातुचन्द्रोदये कृष्णप्रबोधः । आर्धधातुकविवक्षायान्तु ईयङ्-  
भावपक्षे शेषत्वात्परस्मैपदमेव । आनर्त । अर्तितासि । अर्तिष्य-  
ति । आर्तात् । आर्तिष्यत् । अत्रात्मनेपदं समुदाहरन् प्रसादका-  
रस्तु भ्रान्त एव ।

कमेर्णिङ् (पा०सू०३-१-३०) ॥ स्वार्थे । कामयते । नन्विह  
“अत उपधायाः” (पा०सू०७-२-११६) इति वृद्धेः “ङिति च”  
(पा०सू०१-१-५) इति निषेधः प्राप्नोति । न च णिस्त्वसामर्थ्या-  
द्वृद्धिः, “णेरनिटि” (पा०सू०६-४-७१) इति विशेषणेन चरि-  
तार्थत्वात् । न च ङकारोऽप्यात्मनेपदेन चरितार्थ इति  
वाच्यम्, तावता प्रतिषेधस्य बलीयस्त्वानपायात् । न च कमेर्भि-  
त्सञ्ज्ञाप्रतिषेधार्थं “न कस्यमिचमाम्” (ग० सू०) इतिवचनं  
वृद्धभावे व्यर्थं सत् वृद्धिमिह ज्ञापयतीति वाच्यम्, णिङन्ताच्चिण्ण-  
मुलोः कृतयोः “चिण्णमुलोर्दीर्घोऽप्यतरस्याम्” (पा०सू०६-४-२३) इति



नैकलिपके दीर्घे प्राप्ते तन्निवृत्त्या मिस्वप्रतिषेधस्य सार्थक्यात् । न च तत्र दीर्घग्रहणं परित्यज्य प्रकृतो ह्रस्व एव विकल्प्यताम्, तथाच कः मेर्मित्संज्ञाप्रतिषेधोऽपि मास्त्विति वाच्यम्, णिजन्ताद्यङताद्वा णिचि सति ततश्चिण्णमुलोः—अशामि, अशामि; शमं शमम्, शमम् शमम्; अशंशामि, अशंशामि; शंशमं शंशमम्, शंशमं शंशमम् इति रूपद्वयस्य दीर्घग्रहणं विना अनिर्वाहात् । दीर्घविधिम्प्रति हि णियङोर्लोपस्य न स्थानिवरत्वं, “न पदान्त” (पा०सू०१-१-५८) इति निषेधात् । ह्रस्वविधिम्प्रति तु स्थानिवरत्वे सति चिण्णमुलपरस्य णिचः णियङ्भ्यां व्यवधाने ह्रस्वविकल्पो न प्रवर्त्तत । यथाश्रुतसूत्ररीत्या चेदम् । पूर्वत्रासिद्धीयेनेत्युक्त्वा सवर्णानुस्वारादिग्रहणं न कर्तव्यमिति पक्षे तु णिजन्ताण्यिचि ण्याकृतेरैक्यात् सिद्धम् । ‘शंशमं शंशमम्’ इति तु यङ्लुगन्ताण्यमुलिति “न पदान्त” (पा०सू०१-१-५८) सूत्र एवावाचाम । अस्मिन्निष्कृष्टपक्षेऽपि “चिण्णमुलोः” (पा०सू०६-४-९३) इति सूत्रे दीर्घग्रहणं कर्तव्यमेव । तथाहि, ‘हेडु अनादरे’ घटादिः । (१) एच इक्, हिडयति । अत्र चिण्णमुलोः कृतयोः ह्रस्वे विकल्प्यमाने ‘अहिडि, अहेडि’ इति स्यात् । दीर्घे तु ‘अहिडि, अहीडि’ इति भवति । एवञ्च कमेरपि चिण्णमुलोः दीर्घविकल्पे प्राप्ते तद्व्यावृत्त्या कृतार्थो मिस्वनिषेधो वृद्धिज्ञापयितुं नालम् । किञ्च—“आयादय आर्द्धधातुके वा” (पा०सू०३-१-३१) इति णिङ्भावे णिचि कृते वृद्धौ सत्यां “मितां ह्रस्वः” (पा०सू०६-४-९२) इति ह्रस्वे वारयितुं मित्संज्ञाप्रतिषेधः सर्वथाऽपि नायं वृद्धेर्ज्ञापकः । तस्मात् “ङिति च” (पा०सू०१-१-५) इति निषेधं वारयितुं कश्चिदुपायो वक्तव्य इति चेत् ? सत्यम्, उक्त एवासौ तद्धितकाभ्योरैकप्रकरणादिति ।

आयादय आर्द्धधातुके वा (पा०सू०३-१-३१) ॥ आर्द्धधातुकवि-  
वक्षायामायादयो वा स्युः । जुगोप, गोपायाञ्चकार । आनर्त, ऋतीया-  
ञ्चके । कामयाञ्चके, चकमे । इह ‘आर्द्धधातुक’ इति यदि परसप्तमी स्यात्  
तदा प्रवृत्ता आयादय आर्द्धधातुके परे पक्षे निवर्तन्त इत्यर्थः स्यात् ।  
तत्र बहवो दोषाः । तथाहि—आयप्रत्ययान्तात् स्त्रीभावविवक्षायाम्  
“अ प्रत्ययात्” (पा०सू०३-३-१०२) इत्यकारप्रत्यये कृते आय-  
निवृत्तिपक्षे ‘गोपा’ इत्यनिष्टं स्यात् ‘गुप्तिः’ इति चेष्टं न सिध्येत् ।  
तथा ऋतीयशब्दाल्लिटि प्रत्ययान्तत्वेनापि ईयप्रत्ययस्य निवृत्तौ  
‘ऋताञ्चकार’ इति स्यात्, ‘आनर्त’ इति च न स्यात् ।

(१) “मिता ह्रस्वः” इत्यनेन ।



तथा अर्तितासि, अर्तिष्यति, ऋत्यात्, आर्तित् इत्यादौ परस्मैपदं न स्यात् । तथा तास्यादेराद्धधातुकस्य ईयङ्निवृत्तिं प्रति निमित्तत्वेन “न धातुलोप” (पा०सू०१-१-४) इति निषेधात् तन्निमित्तो गुणो न स्यात् ।

अथोच्येत—‘नानेन निवृत्तिर्विकल्प्यते किन्तु प्रवृत्तिरेव’ इति । तत्रापि आयादिविधिभिः सहास्यैकवाक्यता भिन्नवाक्यता वा ? आद्ये गुपादिभ्य आर्द्धधातुके परे आयो वेत्यर्थः स्यात् । एवमुत्तरत्रापि । ततश्च आर्द्धधातुक एव विकल्पेनायादयः, सार्वधातुके तु नैव स्युः ।

अथोक्तवेत्—गुपादिसूत्र एव आर्द्धधातुके वेति वक्तव्ये आयादय इति न कर्तव्यमिति लाघवे स्पष्टे सति गौरवं सोढवा “आयादय आर्द्धधातुके वा” इति पृथक्सूत्रकरणसामर्थ्याद् व्यापारभेदेनैकवाक्यता । ततश्चायमर्थः—गुपादिभ्य आयादयो नित्यं भवन्तीत्युत्सर्गः, आर्द्धधातुके परे तु वा भवन्तीति । एवञ्च विकरणवत् प्रत्यये परे आयादयः प्रवर्तेरन् । ततश्च गुपेः क्तिनि आयपक्षे अल्लोपयलोपयोः ‘गोपातिः’ इत्यनिष्टं स्यात् ‘गोपाया’ इति चेष्टं न सिध्येत् । तस्माद् दुष्ट एवात्र परसप्तमीपक्षः ।

सनाद्यन्ता धातवः (पा०सू०३-१-३२) ॥ सनादयो णिङन्ताः प्रत्यया अन्ताश्चरमावयवा येषान्ते संघाता धातुसंज्ञाः स्युः । जुगुप्सन्ते । कामयते । “सुसिङ्गन्तम्” (पा०सू०१-४-१४) इत्यत्र अन्तग्रहणेन “संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययग्रहणपरिभाषा न प्रवर्तते” (प०भा० २७) इति तत्प्रतिप्रसवार्थमिहान्तग्रहणं न त्वयमपूर्वविधिः, गौरवात् ‘देवदत्तश्चिकीर्षति’ इत्यादौ देवदत्तादेः समुदायस्य संज्ञाप्रसङ्गाच्च । प्रतिप्रसवे तु लाघवमुक्तदोषाभावश्चेति स्पष्टमेव । “भूवादयः” (पा०सू०१-३-१) इत्यस्यातन्तरमेव “सनाद्यन्ताश्च” इति न सूत्रितं, सनादीनामियत्तानवगमात् । णिङो ङकारेण प्रत्याहारमाश्रित्य “सङ्गन्ताश्च” इति कुतो न सूत्रितामिति चेत् ? चडादिष्वपि ङकारसत्त्वेन सन्देहापत्तेः । इहैव “सनाद्यन्ताः” इत्यस्यानन्तरं “भूवादयश्च” इति सूत्रयितुमुचितं, तथा न कुतमित्येव ।

एतत्सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यातम् । तथाहि—जहत्स्वार्थायां वृत्तौ चिकीर्ष जिहीर्ष इत्यादिसङ्घाता एवार्थवन्तः तदवयवा अनर्थकाः, “सर्वे सर्वपदादेशाः” इत्यत्र च अर्थवत्येव स्थान्यादेशभावविश्रान्तेः । “एरुः” (पा०सू०३-४-८६) इत्यादौ तेस्तुरिति पर्यवस्यतीत्युक्तम् । एवञ्चेहापि करणविशिष्टेष्वर्थस्येषः प्रसङ्गे चिकीर्षशब्दः, तथा हरणविशिष्टेष्वर्थवृत्तेः प्रसङ्गे जिहीर्षशब्दः, गुपेः प्रसङ्गे गोपायशब्दः, पुत्रविशिष्टेष्वर्थावृत्तेरिषेः प्रसङ्गे पुत्रीयशब्द इत्यादिपर्यवसाने स्थानेवद्भावेन



सिद्धं धातुत्वम्, जग्ध्यादिवत् 'पचतु' इत्यत्र तोस्तिङ्त्ववच्च ।

स्यादेतत्, स्थानिवत्सुत्रे आदेशशब्देन चिकीर्षादयो ग्रहीतुं न शक्यन्ते, आदेशशब्दस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्थानिवर्त्तकत्वेव कृत्वादिति चेत् ? न, स्थानिवदित्युक्त्यैव आदेशस्य लाभे पुनस्तद्ग्रहणसामर्थ्येन अनुमीयमानस्य तेस्तुरित्यादेरिव 'आदिश्यते' इति यौगिकार्थपुरस्कारेण चिकीर्षादेरपि सुग्रहत्वात् । न च पुत्रीयादिरादेशः सुबन्तस्यैव न विवेरिति वाच्यम्, "अणुरपि विशेषः" इति न्यायेन प्रधानसमर्पकस्य इषेरेव तदभ्युपगमात् । "वा क्यषः" (पा०सू०१-३-२०) इत्यादिलिङ्गैरपि धातुत्वस्यावश्यकत्वे स्थिते तन्निर्वाहाय इच्छायाभावाच्च । भुवीत्यादिक्रियासमर्पकाणामेव स्थानित्वनिर्णयाच्चेति दिक् ।

स्यतासी ल्लुटोः (पा०सू०३-१-३३) ॥ लृ इति लृङ्लुटोः सामान्यग्रहणम् । धातोः लृ इत्यस्मिन् लुटि च परे यथासंख्यं स्यतासी प्रत्ययौ स्तः । अकरिष्यत्, करिष्यति । इवः कर्त्ता । तासेरिकार इत्संज्ञक इति जयादित्यः । तथाहि, 'मन्ताहन्ता' इत्यत्र 'मन् तास् आ' 'हन् तास् आ' इति स्थिते टिलोपे कृते डाप्रत्ययस्प्रति तान्तमङ्गं तस्य उपधानकारः, तस्य "अनिदिताम्" (पा०सू०६-४-२४) इति लोपः प्राप्तः, तं वारयितुं तासेरिदिस्त्वमेषितव्यम् । न चाभीयत्वेन टिलोपस्यासिद्धत्वात् नकार उपधा नेति वाच्यम्, "आभात्" (पा०सू०७-४-२२) सूत्रस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात् । सूत्रमतेऽपि आभीयस्य असिद्धत्वस्य अनित्यत्वाच्च । तत्र च "श्रसोरलोपः" (पा०सू०६-४-१११) इति तपरकरणं लिङ्गम् । तद्धि 'आस्ताम्' 'आसन्' इत्यादौ मा भूदित्येवमर्थम् । तत्राटोऽसिद्धत्वादेव लोपाप्रसक्तौ तपरत्वं व्यर्थं सद् असिद्धत्वस्यानित्यतां ज्ञापयति । तेन 'देभुः' 'देभुः' इत्यत्र अन्थिग्रन्थिदम्भिस्वर्जानां लिटः क्त्वाञ्जलोपे तस्यासिद्धत्वाभावाद् एत्वाभ्यासलोपो स्तः । एवञ्चेहापि टिलोपस्यासिद्धताविरहे प्राप्ते नलोप इदित्वेन वार्यते । न चैवं नुम्विधौ धातुग्रहणस्य तासिव्यावृत्त्या कृतार्थत्वेन धातुपदेशावस्थायामेव नुम् भवतीत्ययमर्थो न साधितः स्यादिति वाच्यम्, "नुम्विधावुपदेशिवङ्चनं प्रत्ययसिध्यर्थम्" इति वचनस्यैव शरणीकरणात्, "धन्विक्कुण्वयोः" (पा०सू०३-१-८०) इति सनुमृकनिर्देशाज् ज्ञापकाद्वा । वामनस्तु 'तासेरिकार उच्चारणार्थ' इत्याशयेन "इदितो नुम् धातोः" । ( पा०सू० ७-१-५८ ) इति धातुग्रहणं धातुपदेशावस्थायामेव नुम् यथा स्यादित्येवमर्थं मन्यते । तन्मते 'मन्ता' 'हन्ता' इत्यत्र टिलोपस्यासिद्धत्वाञ्जलोपो नेति बोध्यम् ।



इदमिदानीं विचार्यते—लकारं निमित्तत्वेनाभित्य विधीयमानाः स्यादयो विकरणाः किं लावस्थायामेव स्युः, उत लादेशेषु कृतेष्विति । आद्ये पक्षे लावस्थायां तासौ कृते तस्य प्रत्ययाद्युदात्तत्वे कृते लादेशाः स्युः, ततश्च तेषां स्वरः सतिशिष्टः । ततश्च तासेः परस्य लसार्वधातुकस्यानुदात्तवचनमप्राप्तविधिरेव स्यात् । एवञ्च ‘सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरं लसार्वधातुकस्वरं न बाधते’ इत्यस्यार्थस्य ज्ञापकमेतदिति बाधः सिद्धान्तो भज्येत । ततश्च—“या दम्पती समनसा सुनुते” इत्यत्र सतिशिष्टस्य विकरणस्वरस्य बलीयस्त्वापत्तौ मध्योदात्तं तिङन्तं स्यात् । इष्यते त्वन्तोदात्तम् । एवं “प्रीणीताश्वान्” “हिन्वन्ति सूरम्” इत्यादिष्वपि स्पष्टो दोषः ।

द्वितीये तु पक्षे तासिस्वरः सतिशिष्ट इति शेषनिघातेनैव लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सिद्धे तासिग्रहणं ज्ञापकमिति सिध्यति । किन्तु ‘गमिष्यति’ ‘पठिष्यति’ इत्यादि न सिध्यति । तथा हि, “सार्वधातुके यक्” (पा०सू०३-१-६७) उत्सर्गः, तस्यापवादाः शबादयः स्यादयश्च । तत्र शबादीनामवकाशः—‘गच्छति’ ‘पठति’ । स्यादीनान्तु ‘गंस्यते’ ‘पठिष्यते’ इति । ‘गमिष्यति’ ‘पठिष्यति’ इत्यत्रोभयप्रसङ्गे परत्वाच्छब्दं प्राप्नोति ।

अथोच्येत—यकः शबादीनाञ्च नोत्सर्गापवादभावः, विविक्तविषयत्वात् । यग्विधौ हि भावकर्मग्रहणमनुवर्तते । तच्चावश्यमनुवर्त्यम्, ‘पचति’ ‘पठति’ इत्यादौ शपि परे यङ् मा भूदिति । एवमपि ‘गमिष्यति’ ‘पठिष्यति’ इत्यादि सिध्यतु नाम, यकशपोरुत्सर्गयोः स्यादिभिरपवादैर्बाधसम्भवात् । किन्तु ‘देविष्यति’ ‘सेविष्यति’ इत्यादि न सिध्येदेव । तथाहि, विकरणानां यकशपावुत्सर्गौ, तदपवादाः इयनादयः स्यादयश्च । इयनादीनामवकाशः—‘दीष्यति’ ‘सीष्यति’ । स्यादीनान्तु ‘पश्यते’ । ‘देविष्यति’ ‘सेविष्यति’ इत्यत्रोभयप्रसङ्गे परत्वात् इयनादयः स्युरिति ।

अत्र बहुधा समाहितं भाष्ये । तथाहि, शबादेशाः इयनादयः कारिष्यन्ते, “दिवादिभ्यः” (पा०सू०३-१-६९) इति पञ्चम्या अनुवृत्तायाः कर्त्तरि शबिति प्रथमायाः षष्ठीप्रकल्पनात् । एवञ्च दिवादिभ्यः स्यादिविषये शबेव नास्ति, स्यादिभिरपवादैर्बाधात् । तदादेशाः इयनादयस्तु दूरापास्ता एव । अथवा “दिवादिभ्यः इयन्” (पा०सू०३-१-६९) इत्यादिषु स्यादयोऽनुवर्तिष्यन्ते । दिवादिभ्यः श्यन् भवति लृलुटोस्तु स्यतासी भवतः । दिवादिभ्य इत्येव । एवमग्रेऽपि । एतेन



लावस्थायामेष प्राप्नुवन्तः स्यादयः सार्वधातुकोत्पत्तिरिति किमर्थं प्रती-  
क्षन्ताम्, ततश्च कथं तासेर्लसार्वधातुकानुदात्तवचनस्य उक्तार्थ-  
ज्ञापकत्वं सङ्गच्छतामिति दूषणं प्रत्युक्तम्, “सार्वधातुके ष्” (पा०  
सू० ३-१-६७) इत्यादौ अनुवृत्तिबलादेव सार्वधातुकोत्पत्तेः प्रतीक्षणी-  
यत्वात् । अथवा इयनादयः शब्दादेशा मा भूवन् मा चानुवर्तन्तामु-  
त्तरत्र स्यादयः । किन्तु ‘देविष्यति’ इत्यादौ स्यादीन् बाधित्वा पर-  
त्वात्तावच्छादेशाः । न चानित्यास्ते, आतृतीयाध्यायसमाप्तेर्धात्वाधिका-  
रात् स्यादिभिर्व्यवधाने धातोः परस्य लस्याभावेन आदेशाप्राप्तेरिति  
वाच्यम्, धातोर्विहितस्य लस्येति विहितविशेषणाश्रयणेन लादेशानां  
नित्यत्वात् । एवञ्च कृतेषु लादेशेषु उभये प्रसक्ताः, स्यादयः इयनादयश्च ।  
तत्रान्तरङ्गत्वात्स्यादय एव भविष्यन्ति न तु इयनादयः, सार्वधातु-  
कत्वं कर्त्तरीत्यर्थविशेषश्च अपेक्षमाणानान्तेषां बाहिरङ्गत्वात् ।

सिप्बहुलं लेटि (पा०सू० ३-१-३४) ॥ धातोः सिप्प्रत्ययो बहुलं  
स्यात् लेटि परे । जोषिषत् । जुषी प्रीतिसेवनयोः (तु०आ० ८८) ।  
अनुदात्तेत् । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । सिप् इट् । “लेटोऽडाटौ” (पा०  
सू० ३-४-९४) इति तिपोऽट् । “इतश्च लोपः” (पा०सू० ३-४-९७) इती-  
कारलोपः । बहुलग्रहणान्नेह-पताति दिद्युत् ।

सिप्बहुलञ्छन्दसि णिद्वक्तव्यः (का०वा०) ॥ “प्रण आयूषि  
तारिषत्” “जयामिषां सविता साविषत्” णिप्वाद्बुद्धिः ।  
“देवस्य हेडोऽवयासिसीष्ठाः” इह यातेरवपूर्वालिङ् । बहुलव-  
चनात् सिप् थास् सीयुट् सुट् इट् । “एकाच उपदेशेऽनु-  
दात्तात्” (पा०सू० ७-२-१७) इति निषेधस्तु न भवति, सिपा व्यवधा-  
नात् । सीयुट् सस्य षत्वाभावश्छान्दसः । “तिङ्ङितिङ्” (पा०सू०  
८-१-२८) इति निघातः । यच्छब्दयोगे तु ‘यासिसीष्ठाः’ इति पदमा-  
नुदात्तमेवेत्येते । यद्यपि प्रत्ययस्वरेण थास उदात्तत्वादन्तोदात्तं पद-  
प्राप्तं, तथापि सूत्रभङ्गेन सिपन्त्यक्त्वा सवयं कर्तव्य इति भाष्योक्तेः  
सपि कृते अनुपदेशात् परत्वेन “छन्दस्युभयथा” (पा०सू० ३-४-११७)  
इति सार्वधातुकत्वेन च लसार्वधातुकानुदात्तत्वादिष्टसिद्धिः ।  
सपः पित्वाभावे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण इट् उदात्तत्वं स्यात् । तस्मा-  
दिह सपः पित्वादन्तत्वे स्वरार्थे इति स्थितम् । यथाश्रुतसूत्ररीत्या तु  
पित्वं व्यर्थमेव । तथाच वार्तिकं—“पित्करणानर्थक्यं चानकत्वा-  
त् । इटोऽनुदात्तार्थमिति चेत् ? आगमानुदात्तत्वात्सिद्धम्” इति ।

“कास्प्रत्ययादामन्त्रे लिटि” (पा०सू० ३-१-३५) ॥ स्यातोः



प्रत्ययान्तेभ्यश्च आम् स्याल्लिटि न तु मन्त्रे । कास् शब्दकुत्सायाम्  
( भ्वा०आ०६२४ ) । कासाञ्चके । लोलूपाञ्चके । अमन्त्रे किम् ? कृष्णो  
नोनाथ । अच्छन्दसीति तु नोक्तम्, ब्राह्मणे इष्टत्वात् । “पुत्रमामन्त्र-  
यामास” । “अथ ह शुनः शेष ईक्षाञ्चके” ( पे०ब्रा०-३ ) इत्यादि ।

कास्यनेकाच्च इति वक्तव्यं चुलुम्पाद्यर्थम् ( का० वा० ) । चुलु-  
म्पाञ्चकार । चुलुम्पतिर्वास्तिककारवचनबलात्साधुः । इहाव्याप्त्य-  
तिव्याप्तिपरिहाराय प्रत्ययग्रहणमपनीय तत्स्थाने अनेकाज्ग्रहणं कर्त-  
व्यमिति प्रागेव व्याख्यातम् । चकासाञ्चकार । दरिद्राञ्चकार । “आत  
औ णलः” ( पा० सू० ७-१-३४ ) इत्यत्र ओकारे विधातव्ये ओकार-  
विधानं “दरिद्रातेरार्धधातुके लोपः” ( का०वा० ) इत्याकारस्य लोपेऽपि  
ओकारस्य श्रवणार्थम् । तेन ‘ददरिद्रौ’ इत्यपि भवतीत्याहुः ।

ऊर्णातेस्तु न भवति, नुवङ्गावातिदेशात् । न चैवमपि “इजादेः”  
( पा० सू० ३-१-३६ ) इत्युत्तरसूत्रेणानेकाच्त्वनिरपेक्ष आम् स्यादे-  
वेति वाच्यम्, “आमश्च प्रतिषेधार्थम्” इति नुवङ्गावफलेषु पाठसामर्थ्या-  
त्तस्या अप्यप्रवृत्तेः भाष्यकारेण संहितया सूत्रपाठमाश्रित्य ‘अनृच्छो-  
दयायासः’ इत्यत्र अनृच्छ उ इत्युकारप्रश्लेषेण उकारान्तस्याम्निषेधा-  
च्च । नन्वेवमुशब्दादाचारकिंपि “इजादेः” इत्याम् पूर्वोदाहृतो माधवा-  
दिसम्मतश्चानेन भाष्येण विरुध्येतेति चेत् ? न, प्रथमपक्षेण तत्सम्भ-  
वात् । द्वितीयपक्षे तु मा भूदाम्, यथालक्षणमप्रयुक्त इत्यभ्युपगमात् ।

यद्वा—उश्चासौ उश्चेति प्राश्निष्टानिर्देशेन उदन्तस्यैव गुरुमतः पर्यु-  
दासः । स च “इजादेः”ति सूत्रस्यैव शेषः । तेन वल्गुफल्गुप्रभृतिभ्यः  
किंवन्तेभ्योऽनेकाच्त्वप्रयुक्त आम् भवत्येवेति सर्वं सुस्थम् । अत्र  
काशिका—

आमोऽमित्वमदन्तत्वादगुणत्वं विदेस्तथा ।

आस्कासोराम्विधानाच्च पररूपं कतन्तवत् ॥

अस्यार्थः—मित्वाभावोऽमित्वम् । आमो मकारस्य “हलन्त्यम्”  
( पा०सू० १-३-३ ) इतीत्संज्ञा न भवति कुतः ? अत् अन्ते समीपे यस्य  
तथात्वात् । सूत्रे विधानवेलायां समीपे अकारवत्त्वादिति यावत् ।

प्रसङ्गादाह—विदेरामि गुणाभावोऽपि तथा । अदन्तत्वादेवेत्यर्थः ।  
“उबविदजागृभ्यः” ( पा०सू० ३-१-३८ ) इति सूत्रे हि आम्प्रत्ययसङ्गि-  
योगेन विदेरदन्तत्वं निपात्यते । तत्रालोपस्य स्थानिवत्त्वात् गुणो न  
भवति । यदि तु ‘विद ज्ञाने’ इति धातुपाठ एव अकारो विवक्ष्यते तदा  
‘वेत्ति’ इत्यादि न सिध्येत्, अकारश्रवणप्रसङ्गात् । इदानीमाप्तप्रत्ययस्य



मान्तरत्वमङ्गीकृत्यापि मिस्वाभावे ज्ञापकमाह—आस्कासोरास्विधाना-  
 चेति । आमः अमिस्वमित्यनुबङ्गः । “दयायासश्च” (पा०सू०३-१-३७)  
 “कास्प्रत्यथात्” (पा०सू०३-१-३५) इति सूत्राभ्यामास्कासोरास्विधा-  
 नादमिन्त्वमामोऽनुमीयते । सति हि मिन्त्वे आस्कासोराम् भवन्  
 अस्वामित्यादाकारात्परः स्यात् । तथैव सवर्णदीर्घत्वे सति अकि-  
 श्चिर्करः स्यादिति भावः । नन्वदन्तत्वपक्षे आमामश्च इति निर्देशं  
 स्यादत आह—पररूपमिति । यथा “सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः”  
 (पा०सू०४-१-१८) इति सूत्रे पररूपं निपातनात्, शकन्धादित्वाद्वा,  
 एवमिहापीति भावः ।

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (पा०सू०३-१-३६) ॥ इजादियौ धातु-  
 गुरुमान् ऋच्छतिभिश्चस्तेस्मादाम् स्याल्लिटि नतु मन्त्रे । ईहाञ्चके ।  
 ऊहाञ्चके । इजादेरिति किम् ? ततश्च । गुरुमतः किम् ? इयेषिथ ।  
 नन्विह गुणे कृते गुरुमत्तोऽप्यस्येवेति चेत् ? सत्यम् । गुरुमङ्गहणे  
 सति “सन्निपात” (पा०भा०८७) परिभाषया इहास्न, लिङानिर्गत-  
 तुक्त्वाद् गुरुमत्तायाः । यद्वा, ‘लिटि’ इति विहितविशेषणम् । इजा-  
 देर्गुरुमतो विहितो यो लिट् तस्मिन्निति । तेन लिङनिमित्ता या गुरुम-  
 ता तस्मान्न भविष्यति । अनृच्छः किम् ? आनच्छ, आनच्छतुः, आन-  
 च्छुः । ‘अनृच्छ’ इति शक्यमकर्तुम्, “ऋच्छत्यृताम्” (पा०सू०७-४-  
 ११) इति लिटि परे गुणविधानाल्लिङ्गादेव आमोऽप्रवृत्तेः । न च तत्र  
 ‘ऋच्छति’ इत्यनेन अर्तेरेव दितपा निर्देश इति वाच्यम्, “ऋच्छत्यृताम्”  
 (पा०सू०७-४-११) इति सवर्णदीर्घेण स्वरूपेणैवार्तेः प्रत्येवात् । प्रत्य-  
 ये च बहुवचनं प्रमाणम् । अत्र श्लोकवार्तिकम्—

वाच्यमूर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् ।

आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेदुपग्रहात् ॥

अत्र यङि भावातिदेशः । आमिटोस्त्वभावातिदेशः, नौ तयो-  
 रभावात् । इदुपग्रह इट्प्रतिषेधः । “विभाषाऽगुणे” पा०सू०२-३-२५ इति  
 पञ्चमी । फलस्य चात्र हेतुत्वम् ‘अध्ययनेन वसति’ इतिषत् ।  
 ‘एकाच’ इति वर्त्तमाने “इच्युकः किति” (पा०सू०७-२-११) इति य  
 इट्प्रतिषेधः ततोऽपि हेतोर्णुवद्भावो वाच्य इत्यर्थः । प्रोर्णोर्णुवते । प्रो-  
 णुनाथ । प्रोर्णुतः । प्रोर्णुतवान् ।

दयायासश्च (पा०सू०३-१-३७) ॥ एभ्य आम् स्याल्लिटि । एव  
 दानगतिरक्षणेपु (श्वा०आ०४८२) अय गतौ (श्वा०आ०४७५) । आस  
 उपवेशने (अ०आ०११) अयोऽप्यनुदात्तेतः । दयाञ्चके । पलायाञ्च



के । “उपसर्गस्यायतौ” (पा०सू०८-२-१९) इति लत्वम् । आसाञ्चके ।

उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् (पा०सू०३-१-३८) ॥ एभ्य आम् वा स्याल्लिटि । उष दाहे (भा०प०६९८) । विद ज्ञाने (अ०प०५४) । सत्ताचि-  
चारणार्थयोस्तु आत्मनेपदिनोर्लाभार्थस्य चोभयपदिनो नेह ग्रहणम्,  
परस्मैपदिभ्यामुषजागृभ्यां साहचर्यात् । ओषाञ्चकार, उवोष । विदेरिह  
आम्सन्निधोगेनादन्तत्वनिपातनाद् गुणो न, विदाञ्चकार, विवेद ।  
जागराञ्चकार, जजागार ।

भीन्हीभृदुवां श्लुवच्च (पा०सू०३-१-३९) ॥ एभ्यो लिट्याम्वा एषां  
श्लाविव कार्यं च । किं पुनस्तत् ? द्वित्वमित्वञ्च । विभयाञ्चकार, वि-  
भाय । जिन्हयाञ्चकार, जिहाय । विभराञ्चकार, बभार । जुहवा-  
ञ्चकार, जुहाव । इह द्वित्वम् सर्वेषाम्, इन्त्वन्तु विभर्त्तेः, “भृजामित्”  
(पा०सू०७-४-७६) इति श्लौ विधानात् ।

कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि (पा०सू०३-१-४०) ॥ आम् पश्चात् लिट्  
परः कृञ् प्रयुज्यते । कृञिति प्रत्याहारः “कृत्वस्ति” (पा०सू०५-४-  
५०) इत्यतः “कृजो द्वितीय” (पा०सू०५-४-५८) इति जकारेण । तेन  
कृत्वस्तयो प्राह्याः ।

अत्र च प्रमाणम्—“आम्प्रत्ययवत्कृजोऽनुप्रयोगस्य” (पा०सू०१-  
३-६३) इति सूत्रे कृञ्ग्रहणम् । अनुप्रयोगसामर्थ्यादस्तेर्भूभावो न ।  
अन्यथा हि “कृत्वनुप्रयुज्यते” इत्येव ब्रूयात् । याचयांचकार । याच-  
याम्बभूव । याचयामास । इहानुप्रयुक्तस्यास्तेर्भाविकर्मणोस्तद्ध । तत्र  
एशि इटि च रूपे विप्रतिपद्यन्ते । तथाहि—उभयत्रापि “इ एति” (पा०  
सू०७-४-५२) इति हादेशे कृते ‘ईक्षामाहे’ इति केचित् । तासिसा-  
हचर्यादिष्वेव हत्वमित्यन्ये । तत्साहचर्यादेव सार्वधातुक एव एति  
हत्वम् । तेनोभयत्रापि ‘ईक्षामासे’ इति रूपमित्यपरे ।

स्यादेतत्, आमन्तमेतद्वनभिव्यक्तपदार्थकं, नह्यस्मात् कारकवि-  
शेषः सङ्ख्याविशेषो वाऽवगम्यते । तत्र विशेषसमर्पणाय न्यायत एव,  
नुप्रयोगलाभात्किमनेन सूत्रेणेति चेत् ?

अत्रोच्यते—क्रियामात्रविवक्षायां कारकतत्सङ्ख्ययोश्चाविवक्षायां  
पाकप्रेरणा जातेत्यादिप्रयोगास्तावत्सर्वसम्भवाः । तत्र तथैव ‘पाचया-  
म्’ इत्येतावन्मात्रप्रयोगे प्रसक्ते तं वारयितुमिदम् । किञ्चास्तिभवत्यो-  
रिव विद्यतेरपि प्रयोगे न्यायतः प्रसक्ते तमपि वारयितुमेतत् । किञ्च  
निवृत्तप्रेषणाद्धातोः प्राकृतेऽर्थे णिचि सामान्यवाचकानुप्रयोगार्थं सूत्र-  
मेतत् । अपिच पश्चादेव प्रयोगो यथा स्यात् न तु पूर्वमिति । तेन



चक्रे 'ईशाम' इत्यादि न भवति । अपिच अव्यवहित एव पञ्चा-  
ङ्गावो मुख्यः । तथा च व्यवहितनिवृत्त्यर्थमपीदम् । तेन 'ईशां राजा  
चक्रे' इत्यादि न भवति । कथन्तर्हि बह्वचब्राह्मणे—“तान् ह राजा मद्-  
यामेव चकार” (पे० ब्रा० ०६) इति ? छान्दसत्वादित्यवेहि । कथन्तर्हि भट्टि-  
काव्ये—“उक्षामप्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्” “विभयामप्रचकारासौ” इति,  
कथञ्च रघुकाव्ये—“तं पातयां प्रथममास पपात पञ्चात्” “प्रभ्रंशयां  
यो नहुषश्चकार” इति ? प्रमाद एवायम्, “विपर्यासनिवृत्त्यर्थं, व्यवहि-  
तनिवृत्त्यर्थञ्च” इति वार्तिकविरोधादित्याहुः ।

इहाम्प्रकृतेः कृष्वस्तीनाञ्च सामान्यविशेषवचनतया तदर्थयो-  
रभेदान्वयो बोध्यः । अत एव प्रत्याहारेऽन्तर्भूतस्यापि सम्प्रदाऽनुप्र-  
योगो न भवति, अनन्वितार्थकत्वात् । यत्तु “सनाद्यन्ता” (पा० सू०  
३-१-३२) इत्यतो धात्वधिकारात् धातूपसर्गसमुदायस्य नानुप्रयोग  
इति । तन्न, एवमपि योऽत्र धातुः पदिः तन्मात्रस्य उक्तरीत्यैव वारणी-  
यत्वात् । एवञ्च सामान्यस्य सन्निहिते विशेषे पर्यवसानात् तद्वतसा-  
धनादिविशेषाभिधानम् आमन्तगतविशेषाभिधानमेवेति सम्प्रद्योते ।  
अत एव अनुप्रयुज्यमानयोर्भ्वस्त्योरामन्तवशेन सकर्मकत्वात् ताभ्यां  
कर्मणि लिट् । तथाच माघः—“तस्यातपत्रं विभरांबभूवे” इति ।  
श्रीहर्षञ्च—

नपतुर्पूर्तावपि नेदसाम्भरा विभावरीभिर्विभराम्बभूविरे । इति ।

विदाङ्कुर्वन्वित्यन्यतरस्याम् (पा० सू० ३-१-४१) ॥ वेत्तेल्लोढ्याम्,  
गुणाभावः, लोटो लुक्, लोट्परस्य कृजोऽनुप्रयोगश्च वा निपात्यते ।  
इतिशब्देः सर्वेषां लोट्त्वचनानामुपलक्षणार्थः । सूत्रे प्रथमपुरुषबहुव-  
चनप्रयोगस्तु प्रचुरप्रयोगत्वमात्रेण । विदाङ्करोतु । विदाङ्कुरुताम् ।  
विदाङ्कुर्वन्तु ।

अभ्युत्सादयाम्प्रजनयाञ्चिकयांरमयामकः पावयाङ्क्रियाद्विदामक-  
मिति छन्दसि (पा० सू० ३-७-४२) ॥ एते छन्दसि वा निपात्यन्ते ।  
सदिजनिरमीणां ण्यन्तानां लुङ्याम्प्रत्ययः । चिनोतेरपि शुद्धस्य  
लुङ्याम्, द्विवचनं, कुत्वञ्च । ‘अकः’ इत्यनुप्रयोगः प्रत्येकं चतुर्भिः  
सम्बध्यते । पवतेः पुनातेर्वा ण्यन्तस्य आशीर्लिङि आम्, ‘क्रियात्’ इत्य-  
नुप्रयोगश्च । विदेल्लुङ्याम्, गुणाभावः, ‘अकन्’ इत्यस्यानुप्रयोगश्च ।  
‘अकः’ इति कृजो लुङि तिप् । “मन्त्रे घस” (पा० सू० २-४-८१) इति  
ल्लेल्लुकि तिपो “हल्ङ्यादि” (पा० सू० ६-१-६८) लोपः । ‘अकन्’ इति  
तत्रैव बहुवचनम् । अभ्युत्सादयामकः । ‘अभ्युत्सादयत्’ इति पक्षे भाषायां



च । प्रजनयामकः, प्राजीजनत् । चिकयामकः, अचैषीत् । रिमयामकः, अरीरमत् । पावयाक्रियात्, पाव्यात् । विदामकन्, अवेदिषुः ।  
इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयाध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयमण्डिकम् ॥

चिल लुङि (पा०सू०३-१-४३) ॥ धातोश्चिलप्रत्ययः स्यात् लुङि षरे । इकारो लेरिति सामान्यग्रहणार्थः । चकारः स्वार्थ इत्युत्तरसूत्रे स्फुटीभविष्यति । अस्यादेशाः सिजादयो वक्ष्यन्ते । नन्वेवं किं चिल-प्रत्ययेन ? सिजेवोत्सर्गः प्रत्ययोऽस्तु, तदपवादाश्च कसादयः सन्तु । न च “मन्त्रे घस” (पा०सू०२-४-८१) इति सूत्रे सर्वधातुषु लेरित्येकेनैव निर्वाहे लाघवार्थं चिलः कर्तव्यः । अन्यथा हि घसन्शगमर्थमङो ग्रहणम् । आकारान्तेषु घेटोऽन्तर्भावात्तदर्थं चङो ग्रहणम् । तस्य हि “विभाषा घेटश्च्योः” (पा०सू०३-१-४९) इति चङस्ति । धात्वन्तरार्थं सिचो ग्रहणम् । यदि तु जनेः “क्षीपजन” (पा०सू०३-१-६१) इति विहितस्य त्रिणो लुक् लृन्दसि दृश्यते ततस्तस्यापीति त्रीणि चत्वारि वा ग्रहणानि कर्तव्यानि स्युरिति वाच्यम्, चिलपक्षेऽपि “चिल लुङि” “चलेः सिच” (पा०सू०३-१-४३, ४४) “मन्त्रे घस” (पा०सू०२-४-८१) इति सूत्रेषु मिलित्वा चिलचलेलैरिति त्रयाणां ग्रहणस्य तुल्यत्वात् । न चोक्तरीत्या सास्येऽपि चिलपक्षे लाघवान्तरमस्ति, “गातिस्था” (पा०सू०३-४-७७) इति सूत्रे “सिच” इत्यपनीयत्तस्थाने “लेः” इत्यभिहितं - मन्त्रेघसादिसूत्रे तस्यैवानुवर्तनादिति वाच्यम्, एवं हि वदन् अकृतेष्वेव सिजाद्यादेशेषु तदपवादो लेरेव लुगित्यभिप्रेषि, किं वा आदेशेषु कृतेषु स्थानिवद्भावो नेति ?

नाद्यः, ‘अगुः’ ‘अस्थुः’ इत्यादौ सिचः परत्वाभावेन “सिजभ्यस्त” पा०सू०३-४-१०९) इति जुसोऽप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न च “आतः” (पा०सू०३-४-११०) इति जुस्, तत्रापि ‘सिच’ इत्यस्यानुवृत्तेः ।

अथोच्येत, “आतः” इति सूत्रे सिजग्रहणं नानुवर्त्तते, तथाच ‘अगुः’ इत्यादौ विध्यर्थं तत् न तु नियमार्थम्, व्यावर्त्याभावात् । न च ‘अभूवन्’ इति व्यावर्त्यम्, तत्र जुसः प्राप्तेरेवाभावात् । न च “सिजभ्यस्त” (पा०सू०३-४-१०९) इति प्राप्तिः, लावस्थायामेव लुगिति पक्षस्य इदानीं परिगृहीतत्वात् । न चैवम् ‘अवान्’ इत्यत्रापि “आतः” (पा०सू०३-४-११०) इति नित्यो जुस् स्यादिति वाच्यम्, “लङः शाकटायनस्यैव” (पा०सू०३-४-१११) इति नियमाद्विकल्पोपपत्तेरिति । एवमपि ‘मा हि गानां’ ‘मा हि स्याताम्’ इत्यादिषु “आदिः सिचोऽन्यत्रस्याम्”



(पा०सू०६-१-१७८) इत्येष स्वरो न सिद्धयेत् । तस्माल्लावक्यायां लोप इति प्रथमः पक्षो दुष्ट एवेति स्थितम् ।

न द्वितीयः, एवं हि सति “विभाषा घ्राघेद्” (पा०सू०२-४-७८) इति सूत्रेणापि चल्यादेशानामेव लुक्, इति घेटश्चङोऽपि स स्यात् । तत्र यदा “विभाषा घेट्द्वयोः” (पा०सू०३-१-४९) इति चङो विकल्पितत्वेन पक्षे सिचि कृते तस्य लुगलुक्कौ, तदा अधात्, अधाताम्, अधुः । अधासीत्, अधासिष्टाम्, अधासिषुः इति सिद्धमिष्टम् । चङोऽपि लुगभावपक्षे अदधत्, अदधताम्, अदधन् । इति सिद्धम् । लुक्पक्षे तु “न लुमता” (पा०सू०१-१-६३) इत्यङ्गाधिकारनिर्देश इति मते प्रत्ययलक्षणेन द्विर्वचने ‘अदधात्’ इत्यपि चतुर्थं रूपं स्यात् । “न लुमता” (पा०सू०१-१-६३) इति नाङ्गाधिकारनिर्देशः, किं त्वाङ्गमनाङ्गं वा लुमता लुप्ते प्रत्यये परे पूर्वस्य प्राप्तं सर्वं निषिध्यत इति मुख्यपक्षे तु चङो लुकि द्वित्वाप्रवृत्तौ सिज्लुका तुल्यमेव रूपमिति ‘अधात्’ इत्यादौ यद्यपि न दोषः, तथापि बहुवचने ‘अधान्’ इत्यनिष्टमपि चतुर्थं रूपं स्यादेव, इष्यते तु त्रैशब्द्यम् ‘अधुः, अधासिषुः, अदधन्’ इति । न च चङो लुकि “आतः” (पा०सू०३-४-११०) इति जुस् भविष्यतीति वाच्यम्, तत्र ‘सिचः’ इत्यस्यानुवृत्तेः । अन्यथा तस्य नियमार्थताऽनुपपत्तौ ‘अभूवन्’ इत्यत्र प्रत्ययलक्षणेन “सिजभ्यस्त” (पा०सू०३-४-१०९) इति जुस्प्रसङ्गात् । ननु “चल्यभ्यस्तविदिभ्यश्च” इति वक्ष्यामि । एवञ्च चङ्लुक्पक्षे चलेः परत्वाज्जुस् भविष्यति । “आतः” (पा०सू०३-४-११०) इति सूत्रेऽपि लिङ्ग्रहणानुवृत्त्यैव नियमात् ‘अभूवन्’ इत्यत्र जुस् न भविष्यति । ‘मा हि गाताम्’ इत्यादौ “आदिः सिचः” (पा०सू०६-१-१८७) इति स्वरोऽपि सिद्धः । एवञ्च कृतेष्वादेशेषु लुगिति पक्षो निर्बाध एवेति चेत् ? न, यदि “चल्यभ्यस्त” इति ब्रूते तर्हि कसाङ्चङ्क्षु दोषाप्रप्तेः । अधुक्षन्, अवोचन्, अदधन्, अत्रापि हि जुस् प्राप्नोति । तस्मात्सिजभ्यस्तेत्येव वक्तव्यम् । “आतः” (पा०सू०३-४-११०) इत्यत्र च सिज्ग्रहणमनुवर्त्तनीयम् । एवञ्च चङ्लुकि बहुवचने ‘अधान्’ इति प्राप्नोतीति दोषः स्थित एव ! तस्मात् “गातिस्था” (पा०सू०३-४-७७) इत्यत्र सिच इत्येव वक्तव्यम् । ततश्च चिलपक्षेऽपि चिलचलेर्लृपिति त्रयाणां ग्रहणं तुल्यमेवेति स्थितम् । प्रत्युत चलेरकरणे महल्लाघवम् । “मन्त्रे घस” (पा०सू०२-४-८१) इत्यादिसूत्रे हि अङ्ग एव ग्रहणं कर्तव्यम् । सिच् तु “गातिस्था” (पा०सू०२-४-७७) इति सूत्रावनुवर्त्यः । घेटो जनेश्च चङ्चिणौ वैकल्पिकौ, तत्र यानि लुगुदाहरणानि



तानि सिच एव लुका सिद्धानि । न चैवम् “आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्” (पा०सू६-१-१८७) इति स्वरः स्यादिति वाच्यम्, चङ्चिणोऽग्रहणेऽपि पाक्षिकस्य तस्य दुर्वारत्वात् । तस्मात् “चिल लुङि” इति सूत्रं ध्यर्थ-  
मेवेति चेत् ?

अत्राहुः, असति क्लौ “मन्त्रे घस” (पा०सू०२-४-८१) इत्यत्र येभ्यः सिचो लुक् तेषाम् “आदिः सिचः” (पा०सू०६-१-१८७) इति स्वरः स्यात् । सति त्वस्मिन् ‘लेः’ इति लावस्थायामेव लुकि सिजभा-  
वाद्यथायथं स्वरः । किञ्च आकारान्तेभ्यः सिचो लुकि जुस प्राप्नोति  
लेस्तु लुकि अन्तिभाव एव भवति । अपि च, “शल इगुपधात्” (पा०  
सू०३-४-४५) इति सूत्रे अनिटः इत्यनेन किल विशेषायतुमपि क्लिरे-  
ष्टव्यः । असति हि क्लौ ‘अनिटः’ इति धातोरेव विशेषणं स्यात् । तत-  
श्च ‘अगुहीत्’ इति न सिज्येत । ननूदिस्वादिङ्क्षिकल्पे पाक्षिकेण्डभा-  
वेन अनिडेवायमिति चेत् ? तर्हि नित्यं कसः स्यात् । ततश्च ‘अगुहीत्’  
इति न सिज्येत । ‘अनिटः’ इति क्लेर्विशेषणे तु यदा क्लिरनिट् तदा  
कसः, यदा सेट् तदा सिजिति सिद्धमिष्टम् । तस्मात् यथायथं स्वरो-  
ऽन्तिश्चागुहीदिति क्लेः फलमिति स्थितम् ।

आप्ये तु किलः प्रत्याख्यातः । यत्तूक्तम्, “आदिः सिचः” (पा०सू०  
६-१-१८७) इति स्थादिति, तन्न, तस्य वैकल्पिकतया इष्टस्वरस्य नि-  
र्वाधत्वात्, सर्वविकल्पानां छन्दसि व्यवस्थितत्वेन अनिष्टस्यानापाद्य-  
त्वात् । यदपि आकारान्तेभ्यो जुस् स्यादिति । तदपि न, मन्त्रे तादृश-  
स्थोदाहरणस्याभावात् । अत्र च भाष्यकारीयप्रत्याख्यानमेव प्रमाणम् ।  
यदपि ‘अगुहीत्’ इति न सिज्येयदिति । तदपि न, गुहादयो विकल्पितेऽ  
इटो भावाऽभावाभ्यां भिद्यन्ते । तत्र ये सेटः तेभ्यः सिच्, अनिङ्भ्यस्तु  
कस इति भगवद्भाष्यकाराशयस्य कैयटेन वर्णितत्वात् ।

क्लः सिच् (पा०सू०३-१-४४) ॥ क्लेः सिजादेशः स्यात् । इकार  
उच्चारणार्थं इत्संज्ञको वेति पक्षद्वयमपि “हनः सिच् (पा०सू०१-२-१४)  
इत्यत्र प्रतिपादितम् । चकारः स्वरार्थः । मा हि लावीत् । अत्र हि  
“आगमा अनुदात्ता” इति इटोऽनुदात्तत्वं प्राप्तं स्थानिन्यादेशे च द्वि-  
श्रित्करणाद्वाध्यते । यत्तु कंचित्—प्रत्ययस्वरस्य द्वावपवादौ आगमा-  
नुदात्तत्वं चित्स्वरश्च । तत्र आद्यं यासुङ्विधौ ज्ञापितं तद्देशम्, चि-  
त्स्वरस्तु षाष्ठः । तत्रापवादविप्रतिषेधे परत्वाच्चित्स्वर एव सिज्यति  
तर्हि सिचश्चित्त्वेनेति । तन्न, आगमानुदात्तत्वं हि आनुगादिषु प्रक-  
त्यागमेवपीष्यते । कुण्डिनजादीनाञ्च चित्स्वरः, तत्कथमिमौ प्रत्यय-



स्वरस्यापवादौ स्याताम् ? किञ्च इह चित्स्वरस्य परत्वमपि नास्ति, स्थानिवदित्यस्य कार्यातिदेशत्वात् । तस्मादागमानुदात्तत्वेन अविशेषात्सर्वः स्वरौ बाध्यत इति तद्वाधनाय सिचश्चित्त्वम् । न च च्लेश्चित्रव-  
सामर्थ्यादेव तद्वाधः, “मन्त्रे यस्य” (पा०सू०२-४८१) इति सूत्रे ‘लेः’ इति सामान्यग्रहणेन तस्य चरितार्थत्वात् । अन्यथा हि निरनुबन्धकत्वाद्-  
स्यैव ग्रहणं स्यात्, न लिटः । ततश्च “आमः” (पा०सू०२-४-८१) इति सूत्रे निरनुबन्धकस्य लेरसम्भवात् लोरिति नानुवर्त्तत । ततश्च पर-  
त्वादन्तरङ्गत्वाच्च सिवादिषु पञ्चाद्लुकि ‘कारयाम्’ इत्यस्य प्रत्यय-  
लक्षणेन तिङन्तत्वात् ‘देवदत्तः कारयाञ्चकार, इत्यत्र आमन्तस्य निघा-  
तः ततः परस्य चानिघातः स्यात् । तस्मात् “आमः” इत्यत्र ‘लेः’ इत्य-  
नुवर्त्यमेव । तदर्थञ्च पूर्वत्र सामान्यग्रहणं वाच्यम्, तदविघाताय च्ले-  
श्चकारश्चरितार्थः । च्लेः प्रत्याख्यानपक्षे तु सिच एव चित्त्वेनानभ्या-  
येन आगमानुदात्तत्वं बाध्यते ।

स्पृशमृशकृषतृपटपः सिज्वेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ स्पृश स्पर्शने  
(तु०प०१४२), मृश आमर्शने (तु०प०१४५), कृष विलेखने (भा०प०१०  
१५) पठ्यः कसे प्राप्ते तृप प्रीणने, टप हर्षविमोचनयोः (दि०प०८९, ९०)  
आभ्यां पुषादित्वादङि प्राप्ते सिजपि पक्षे अभ्यनुज्ञायते । अस्पर्शाक्षीत्,  
अस्पर्शाक्षीत्, अस्पृक्षत् । अस्त्राक्षीत्, अमाक्षीत्, अमृक्षत् । अक्राक्षीत्,  
अकाक्षीत्, अकृक्षत् । अत्राप्सीत्, अताप्सीत्, अतृपत् । अद्राप्सीत्,  
अदाप्सीत्, अदृपत् । प्रक्रियाकौमुद्यान्तु प्रकृतवार्त्तिके स्पृमपि  
प्रक्षिप्य ‘अस्त्राप्सीत्, ‘असाप्सीत्,’ इत्यपि रूपद्वयमुदाहृतम् । तच्च  
अप्रामाणिकत्वादुपेक्ष्यम् ।

शल इगुपधादनिटः कसः (पा०सू०३-२-४५) ॥ शलन्त इगुपधा  
यो धातुः तस्मात्परस्य अनिटश्च्लेः कसः स्यात् । दुह्-अधुक्षत् । लिह्-  
अलिक्षत् । शलः किम् ? अमैत्सीत् । इगुपधात्किम् ? अधाक्षीत् । अनि-  
टः किम् ? अकोषीत् । च्लेः प्रत्याख्यानपक्षे तु ‘अनिटः’ इति धातोरेव  
विशेषणमिति प्रागेवोक्तम् । यद्यपि अकृत एव कसे लावस्थायां गुणः  
प्राप्नोति, तथापि इगुपधादिति विशेषणसामर्थ्यान्न भवति । न च कृते-  
ऽपिगुणे भूतपूर्वगत्या विहितविशेषणाश्रयणेन वा कसोऽस्त्विति वाच्यम्,  
कित्करणवैयर्थ्यापत्तेः । न च “कसस्याचि” (पा०सू०७-३-७२) इत्यत्र  
विशेषणार्थं तत्, “सस्याचि” इत्येव सिद्धेः । न चैवं वृत्तवदिहानिक-  
मिकषिभ्यः से ‘वत्से’ ‘वत्सा’ इत्यत्र प्रसङ्गः स्यादिति वाच्यम्,  
“लुग्धा दुह” (पा०सू०७-३-७३) इत्यत्रापि हि ‘सस्याचि’ इत्यतः ‘स-



स्य' इत्यनुवर्तते । एवञ्च दुहादिषु यस्य सम्भवः तस्यैव पूर्वसूत्रेऽपि ग्रहणमिति सुवचत्वात् । तस्मात्किंकरणसामर्थ्याद् गुणो नेति स्थितम् ।

श्लिष आलिङ्गने (पा०सू०३-१-४६) ॥ अत्र योगो विभज्यते—

श्लिषः ॥ श्लिषः परस्य अनिटश्चलेः कसः स्यात् । पूर्वेणैव प्राप्तस्य कसस्य पुषाद्यङा बाधे प्राप्ते इदमारभ्यते । पुषादिपाठसामर्थ्यात्पक्षे अङ् । एवञ्च अङ्क्सयोः सर्वत्र विकल्पे प्राप्ते आलिङ्गनानालिङ्गनयोरविशेषेण कसे च प्राप्ते नियमार्थं द्वितीयो योगः—

आलिङ्गने ॥ श्लिषः परस्यानिटश्चलेर्योऽयं कसादेशः स आलिङ्गने एव, न त्वर्थान्तरे । एवं चार्थान्तरे सावकाशोऽङ् आलिङ्गने कसेन बाध्यते । अश्लिषत् कन्यां देवदत्तः । आलिङ्गन एवेति किम् ? समाश्लिषज्जतु काष्ठम् । इह अङ्गेव । प्रत्यासत्तौ ह्यत्र श्लिषिर्वर्तते न तूपगूहनपरिष्कारपरपर्याये आलिङ्गने । उपाश्लिषातां जतुना काष्ठे । नान्विह “शल इगुपधात्” (पा०सू०३-१-४५) इति कसो दुर्वारः । आलिङ्गने एवेति नियमेन हि ‘अनन्तरस्य’ (पा०भा०६३) इति न्यायेन श्लिष इति या प्राप्तिः अङ्बाधनार्था सैव नियम्यते न तु ततः प्राचीनमपीति चेत् ? न, योगविभागसामर्थ्येन सर्वस्याः कसप्राप्तेः नियमनात् । आत्मनेपदे च अङोऽप्राप्तेः सिजेव पर्यवस्यति । नन्वेवमपि आलिङ्गन एवेति आदेशनियमोऽयमिति कुतः, अर्थनियम एवायं किं न स्यात् आलिङ्गने कस एवेति । ततश्चालिङ्गने अङ् मा नाम भूत् । आत्मनेपदे तु अनालिङ्गनेऽपि पूर्वेण कसो दुर्वार एवेति चेत् ? सत्यम्, उभयथेह नियमसम्भवेऽपि प्रत्ययानियम एवाश्रीयते, लक्ष्यानुरोधात् विधेयविभक्तिनिर्द्देशेन प्रधानत्वाद्वा भाष्यकारोक्तव्याख्यानाद्वेति न कश्चिद्दोषः । श्लिष इति योगो अनिटः किम् ? ‘श्लिष आलिङ्गने’ (दि०प०८०) इत्यस्यैव ग्रहणं यथा स्यात् । ‘श्लिषु पृषु प्लुषु दाहे’ (भा०प०७०३) इत्यस्य सेटो ग्रहणं मा भूत् । सानुबन्धकत्वादेव तदग्रहणे तु ‘अनिटः’ इति नावश्यकमिति दिक् ।

श्लिष इति योगविभागसिद्धश्च कसः “पुरस्तादपवाद” (पा०भा० ६१) न्यायेन अङ्मेव बाध्यते न तु चिणन्तेन ‘समाश्लेषि कन्या देवदत्तेन’ इति चिणेव भवति ।

न दशः (पा०सू०३-१-४७) ॥ दशः चलेः कसो न स्यात् । अदर्शत् । अद्राक्षीत् । “इरितो वा” (पा०सू०३-१-५७) इत्यङ्पक्षे “ऋदशोऽङि” (पा०सू०७-४-१६) इति गुणः । सिच्पक्षे “सृजिदशोऽङि” (पा०सू०६-१-५८) इत्यम् ।



णिभिदुसुभ्यः कर्त्तरि चङ् (पा०सू०३-१-४८) ॥ एभ्यश्चलेश्चङ्  
स्यात् कर्त्तृवाचिनि लुङि परे । 'णि' इति णिङ्णिचोः सामान्यग्रह-  
णम् । अचीकमत । अचीकरत् । अशिश्चियत् । अदुद्वत् । असुसुवत् ।  
कर्त्तरि किम् ? अकारयिषातां घटौ देवदत्तेन । चङो ङकारो गुणनिषे-  
धार्थः । चकारश्चङीति विशेषणार्थः । अङीत्युच्यमाने "अस्यतिव-  
क्ति" (पा०सू०३-१-५२) इत्यङि "षिद्धिदादिभ्यः" (पा०सू०३-३-१०४)  
इति चाङि अतिप्रसङ्गः । यदि तु "णिभि" (पा०सू०३-१-४८) इत्यादौ  
ङ एव क्रियेत तदा शक्यं चित्त्वमकर्तुम् ।

कमेरुपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ "आयादय आर्द्धधातुके वा" इति  
यदाणिङ् नास्ति तदर्थमिदम् । अचकमत । अत्र भाष्यम्—

नाकमिष्ट सुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः ।

अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमत भाषिणः ॥

अस्यार्थः । अचकमताचीकमतेति शब्दयोः साधुत्वे तुल्येऽपि 'अ-  
चकमत' इत्यस्य विशेषलक्षणसापेक्षतया तत्प्रयोगे क्लेशाधिक्यात्फ-  
लाधिक्यम् । तेन कमेर्लुङि किं रूपमिति पृष्टे 'अचकमत' इति ये ब्रूयु-  
स्ते सुयुक्तैः रथैः स्वर्गं यान्ति । यैस्तु 'अचीकमत' इत्युक्तं ते पादौ  
कषन्तीति पत्काषिणो यान्ति । "हिमकाषिहतिषु च" (पा०सू०६-३-  
५४) इति पादस्य पदादेशः ।

अन्ये तु व्याचक्षते । अकमिष्टेति यैरुक्तं ते एवोपचारादक-  
मिष्टशब्देनोच्यन्ते । तेऽमी सुयुक्तैर्वडवारथैर्गच्छन्तोऽपि सुखं न  
प्राप्नुवन्ति, अपशब्दोच्चारणात् । अचीकमतभाषिणस्तु पत्का-  
षिणोऽपि सुखं यान्ति ।

विभाषा धेद्व्योः (पा०सू०३-१-४९) ॥ आभ्यां च्लेश्चङ् वा  
स्यात् । अदधत् । सिचपक्षे "विभाषा घ्राधेत्" (पा०सू०२-४-७८) इति  
वा लुक् । अधात् । अधासीत् । अशिश्चियत् । पक्षे "जृस्तम्भु"  
(पा०सू०३-१-७८) इत्यङ् । "इवयतेरः" (पा०सू०७-४-७८) अश्वत् ।  
सिचि वृद्धेः प्रतिषेधे गुणः । अद्वयीत् । कर्त्तरीत्येव । अधिषातां-  
गावौ वत्सेन । कर्मणि द्विवचनम् । "स्थाच्वोरिच्च" (पा०सू०१-२-  
२७) इति किस्वेत्वे ।

गुपेऽलन्दसि (पा०सू०३-१-५०) ॥ गुपेः परस्य च्लेश्चङ् वा  
स्यात् छन्दसि । आयप्रत्ययाभावस्थल एवेदम्, सूत्रे केवलस्योच्चार-  
णात् । इमान्नो मिश्रावरुणौ गृहानजुगुपतं युवम् । गुप् रक्षणे (भा०  
प०३९५) लुङ् यसस्तम् । "तुजादीनां दीर्घाऽभ्यासस्य" (पा०सू०६-



१-७) इति अभ्यासदीर्घ इति हरदत्तः । कल्पसूत्रेषु तु प्रायेण न्हस्व एव पठ्यते । पक्षे अगौसम्, अगोपिष्टम् । ऊदित्वादिङभावे “वद्व-ज” (पा०सू०१-२-३) इति वृद्धिः । “झलो झलि” (पा०सू०८-२-२६) इति सिचो लोपः । इट्पक्षे “नेटि” (पा०सू०७-२-४) इति वृद्धिनिषेधः, गुणः । आयप्रत्ययपक्षे-अगोपायिष्टम् । इति चत्वारि छन्दसि । भाषाया-न्तु चङन्तं वर्जयित्वा त्रीणि रूपाणि ।

नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः (पा०सू०३-४-५१) ॥ एभ्यो एयन्तेभ्यः च्लेञ्चङ् न स्यात् छन्दसि । “मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः” । त्वायतस्त्वामिच्छतो जरितुः स्तोतुः मम काममभिलाषं मा उनयीः ऊनं मा कार्षीरित्यर्थः । ‘मा ऊननः’ इति भाषायाम् । ऊन परिहाणे (चु०प०३५६) । चुरादावदन्तः । णिच् सिप् चङ् णौ कृतस्यालोपस्य स्थानिवद्भावात् “अजादेर्द्वितीयस्य” (पा०सू०६-१-२) इति नशब्दस्य द्विर्वचनम् । अग्लोपित्वान्न सन्वद्भावदीर्घोपधाह्रस्वत्वानि । इह वृत्तिपदमञ्जर्योः प्रायेण औनिनत् इति पाठः । तत्र अभ्यासे इकारः प्रामादिकः । इदञ्च “द्विर्वचनेऽसि” (पा०सू०१-१-५१) इति सूत्रे स्फुटीकृतमस्माभिः । “मा त्वाग्निध्वनयीद् धूमगन्धिः” । ध्वन शब्दे (चु०प०३५७) चुरादिरदन्तः । घटादिनान्तश्च । भाषायां तु अग्लोपित्वान्न सन्वत् । अदध्वनत् । घटादेस्तु अनग्लोपित्वात् अदिध्वनत् । ऐलयीत् । ऐलिलत् इति भाषायाम् । इल प्रेरणे (चु०प०१२७) चुरादिः । आर्दयीत् । आर्दिदत् इति भाषायाम् । अर्द गतौ याचने च (भ्वा० प० ९२७) अर्द हिंसायाम् (चु०उ०२९६) हेतुमण्यन्तौ । इह सूत्रे ‘छन्दसि’ इत्यस्थानुवृत्तिवृत्त्यादिमहाग्रन्थसंमता । तथा च भट्टिः—

अजिग्रहत्तं जनको धनुस्तद्येनार्दिदहैत्यपुरं पिनाकी । इति ।

प्रक्रियाकौमुद्यां तु द्वयमपि लोके इत्युक्तम् । छन्दसीति नानुवर्त्तते, विभाषेति चानुवर्तत इति तदाशयः । इदञ्चाशुद्धम्, सूत्रे नञो वैयर्थ्यापत्तेः सकलमहाग्रन्थविरोधाच्चेत्यास्तान्तावत् ।

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (पा०सू०३-१-५२) ॥ असु क्षेपणे (दि० प०९३); वच्च परिभाषणे, (अ०प०५२) ब्रूजो (अ०उ०३४) वचिश्च; ख्या प्रकथने (अ०प०५०), चक्षिङः (अ०आ०७) आदेशश्चेति प्राञ्चः । घस्तुतस्तु सार्वधातुकमात्रविषयः ख्यातिः । इह त्वादेशस्यैव ग्रहणम् । एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् कर्तृवाचिनि लुङि परे । अस्यतेः पुषादिषाठादेव अङि सिद्धे पुनर्ग्रहणमात्मनेपदार्थम् । पर्यास्थत, पर्यास्थेताम्, पर्यास्थ-स्त । “उपसर्गादस्यत्युहोर्वावचनम्” (का०वा०) इत्यात्मनेपदम् ।



अङ् । अस्यतेस्थक् । कर्मकर्तरि तु प्रत्यये परत्वाच्चिण् , अन्यत्र अङ् । पर्यासि, पर्यास्थेताम्, पर्यास्थन्त । अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन् । “वच उम्” (पा०सू०७-४-२०) । अख्यत्, अख्यताम्, अख्यन् “आतो लोपः” (पा०सू०६-४-६४) कर्त्तरीति किम् ? कर्मणि मा भूत्, चिण्-सिचावेव यथा स्याताम् । निरासि, निरासिषाताम् ।

लिपिसिचिह्वश्च (पा०सू०३-१-५३) ॥ एभ्यश्चलेरङ् स्यात् । लिप उपदेहे (तु०उ०१५३) अलिपत् । षिच क्षरणे(तु०उ०१५४) । असिचत् । वहेष्पद्धायां शब्दे च (श्वा०उ०१०३३) । अवहत् । “अस्यतिवक्तिख्याति-लिपिसिचिह्व” इति तु नोक्तम्, एकसूत्रत्वे हि अस्यत्यादीनामपि उत्तरसूत्रे अनुवृत्तौ विकल्पः स्यात् ।

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (पा०सू०३-१-५४) ॥ पूर्वैण नित्ये प्राप्ते विभाषेयम् । अलिपत्, अलिप्त । असिचत्, असिक्त । अङ्भावे सिच् । “झलो झलि” (पा०सू०८-२-२६) इति सलोपः । “लिङ्सिचौ” (पा०सू०३-७-५३) इति किन्त्वाद् गुणाभावः । अवहत्, अवहास्त ।

पुषादिद्युताद्यल्लुदितः परस्मैपदेषु (पा०सू०३-७-५५) ॥ श्यन्वि-करणपुषादेद्युतादेर्लुदितश्च परस्य क्लेरङादेशः स्यात्परस्मैपदेषु । पुष पुष्टौ, शुष शोषणे, (दि०प०७६,७७) इत्येवमादिरादिवादिगणसमाप्तेः पुषादिः । यन्तु मध्ये ‘ष्णिह प्रीतौ’ (दि०प०९४) वृत् इति वृत्करणे तद्-धादिसमाप्त्यर्थम् । “अस्यतिवक्ति” (पा०सू०३-१-५२) इति सूत्रे “अस्य-तिग्रहणमात्मनेपदार्थं पुषादित्वात्” इति वार्तिककारवचनं चात्र प्रमा-णम् । अपुषत् । अशुषत् । यस्तु भूवादिः पुष पुष्टौ, श्रिषु श्लिषु प्लुषु प्लुषु दाहे (श्वा०प०७१, -७५) इत्येवमादिः, सोऽत्र न गृह्यते, द्युतादीनां पृथक्करणाज्ज्ञापकात् । ते हि तत्र पुषेरुत्तरत्र पठ्यन्ते । योऽपि पुष पुष्टौ, मुष स्तेये (कन्या०प०५७, ५८) इति क्रयादिषु पठितः, सोऽप्यत्र न गृह्यते । तत्र हि चत्वार एव धातवः । यदि च ते जिघृक्षिताः स्युर्लु-दित एव ते क्रियेरन् । यन्तु स्वरितेत्वादेरपि तेनैव सिद्धत्वादिति हरदत्तेनोक्तम्, तत्र तेषां निरनुबन्धकत्वात् ग्रहेः स्वरितेत्वेऽप्यादिश-ब्दार्थालाभात् । अङ् आदिशब्दार्थत्वे तु अपिशब्दार्थालाभादिति दिक् ।

अथ सिद्धान्तेऽपि पुषादयो द्युताद्यश्च लुदित एव कुतो न पठि-ता इति चेत् ? न, प्रत्येकं लृकारपाठं विपरीतगौरवापत्तेः । न चानुबन्धा-न्तरेण लृकारो निमातुं शक्यः, तत्तत्कार्यानिर्वाहप्रसङ्गात् । आदिता-मीदितामुदितामूदिताश्च तत्र सत्त्वात् । तद्यथा—पुषादिषु जिघ्रिषिदा-नात्रप्रक्षरणे(दि०प०८२), मदी हर्षे (दि०प०१२) । शमु उपशमे, (दि०प०



९५) विधू संराद्धौ (दि०प०८६) इति पठ्यन्ते । द्युतादिष्वपि शिवता वर्णः, जिमिदा स्नेहने, जिष्विदा स्नेहनमाचनयोः (भा०आ०३४३, -३४५), संसुध्वंसु अवसंसने (भा०आ०३५५, ३५६), स्पन्दू प्रस्रवणे, कृपू सामर्थ्ये (भा०आ०७६२, ७६३) इति पठ्यन्ते । अद्युतत् । अश्वितत् । “द्युद्भ्यो लुङि” (पा०सू०१-३-२१) इति पाक्षिकं परस्मैपदम् । गभ्ल (भा०प०१००७) अगमत् । परस्मैपदेष्विति किम् ? अद्योतिष्ट । इह “नन्दिग्रहिपचादिभ्यः” (पा०सू०३-१-१३४) इतिवत् पुषद्युतादीत्येक एवादिशब्दः पठितुं युक्तः । तथा तु न कृतमित्येव ।

सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च (पा०सू०३-१-५६) ॥ एभ्यश्चल्लेरङ् स्यात् । शासु अनुशिष्टौ (अ०प०६५) अस्यैव ग्रहणम्, सत्यर्तिभ्यां परस्मैपदिभ्यां साहचर्यात् । न तु ‘आङः शासु इच्छायाम्’ (अ०आ०१२) इत्यात्मनेपदिन इह ग्रहणम् । अर्तिसत्योरपि “ऋसृगतौ” (जु०प०१६, १७) इति जौहोत्यादिकयोरेवेह ग्रहणम्, अविद्यमानशपा शासिना साहचर्यात् । तेन भौवादिकयोः सिज्ज्व । चकारेण ‘परस्मैपदेषु’ इत्यनुकृष्यते । तच्चोत्तरार्थं न त्विहान्वेति, पृथग्योगकरणसामर्थ्यात् । अन्यथा हि “पुषादि द्युताद्यलुदित्सर्तिशास्त्यर्तिभ्यः” इत्येव पठेत । एवं हि पृथग्विभक्तिनिर्देशश्चकारश्च न कर्त्तव्यो भवति । अथवा मण्डूकप्लुत्या उत्तरत्रैव परस्मैपदग्रहणं सम्भनत्स्यते । यद्वा ‘इहानुकृष्टं सत् परस्मैपदे दृष्टो यः शासि’ इति व्याख्येयम् । “शास इदङ्हलोः” (पा०सू०६-४-३४) इति सूत्रे कैयटग्रन्थोऽप्येवं नेयः । सर्ति-असरत् । ‘ऋदृशोऽङि’ (पा०सू०७-४-१६) इति गुणः । अशिषत् । “शास इदङ्हलोः” (पा०सू०६-४-३४) “शासिवसि” (पा०सू०८-३-) इति षत्वम् । आरत् । समन्यवो यत्समरन्त सेनाः । “समो गम्यच्छिभ्याम्” (पा०सू०१-३-२९) इत्यत्र “अर्त्तिश्रुदृशिभ्यश्च” (का०वा०) इति वार्त्तिकेनात्मनेपदम् । “बहुलं छन्दस्यमाङ्गयोगेऽपि” (पा०सू०६-४-७५) इत्यङ्भावः ।

समारन्त ममाभीष्टाः सङ्कल्पास्त्वय्युपागते ।

इति भट्टिः । यन्तु “समो गम्यच्छि” (पा०सू०१-३-२९) इत्यत्र भाष्ये सिज्जुदाहरणं तद्भावादिक्स्थिति तत्रैवावोचाम ।

इरितो वा (पा०सू०३-१-५७) ॥ इरितो धातोश्चल्लेरङ् वा स्यात् परस्मैपदेषु । अभिदत् । अभैत्सीत् । परस्मैपदेषु किम् ? अभिस्त । स्वरितेत्वात्तङ् ।

जृस्तम्भुरुचुम्लुचुगुरुचुलुचुगुलुञ्चुदिवभ्यश्च (पा०सू०३-१-५८) ॥ एभ्यश्चल्लेरङ् वा । अजरत्, अजारीत् । स्तम्भुः सौत्रो धातुः ।



अस्तभत्, अस्तम्भीत् । म्रुचु म्रुचु गतौ (भ्वा०प०१९५।१९६) अम्रु-  
चत् —अम्रोचीत् । अम्लुचत्, अम्लोचीत् । म्रुचु ग्लुचु, स्तेयकरणे  
(भ्वा०प०१९७-१९८) । अम्रुचत्, अम्रोचीत् । ग्लुञ्चु षस्ज गतौ (भ्वा०-  
प०२०१-२०२) । अग्लुचत्, अग्लुञ्चीत् । अश्वत्, अश्वयीत् । अशिश्चि-  
यत् । “विभाषा धेद्व्योः” (पा०सू०३-१४१) इत्यत्र व्युत्पादितमेतत् ।  
ग्लुचुग्लुञ्चोरेकतरोपादानेनापि रूपत्रयं यद्यपि सिद्धयति, तथापि ग्लु-  
ञ्चावुपात्ते ‘अग्लुचत्’ ‘अग्लुञ्चीत्’ इति द्वयम् । ग्लुचेस्तु सिचि अग्लोचीत् ।  
तथा ग्लुचावुपात्ते तस्याग्लुचत्, अग्लोचीत् । ग्लुञ्चस्त्वग्लुञ्चीदिति ।  
तथापि अर्थभेदात्सुत्रकृता उभावुपात्तौ । भाष्यकृता तु धातूनामने-  
कार्थत्वेनेष्टसिद्धिमाश्रित्य अन्यतरो न कर्त्तव्य इत्युक्तम् । एतेन द्वयोरु-  
पादानसामर्थ्यात् ग्लुञ्चेरनुनासिकलोपो न भवतीति जयादित्यापन्य-  
स्तङ्कुषां चिन्मतं परास्तम्, भाष्यविरुद्धत्वात् ।

कृमृदुरुहिभ्यश्छन्दसि (पा०सू०३-१-५१) ॥ एभ्यश्छलेरङ् वा  
स्याच्छन्दसि । अकरत् । अमरत् । व्यत्ययेनेह परस्मैपदम् । अदरत् ।  
यत्सानोः सानुमारुहत् । यत्तु ऋभाष्ये इमामृचं व्याचक्ष्णैरुक्तम्—रुहे  
र्लङि तिपि शपि “संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः” (प०भा०२५) इति लघू-  
पधगुणो न भवतीति, तत्प्रौढिवादमात्रमित्यवधेयम् । लोके तु-अका-  
र्षीत् । अमृत । अदारीत् । अरुक्षत् ।

चिण्ते पदः (पा०सू०३-१-६) ॥ पद गतौ (दि०आ०६०) अस्मात्  
छलेश्चिण् स्यात् तशब्दे परे । आत्मनेपदैकवचनमेवात्र गृह्यते न तु  
“तस्थस्थामिपाम्” (पा०सू०३-४-११) इति विहितः, धातोरुत्तमनेपदित्वेन  
तस्येहासम्भवात् । वेति निवृत्तम्, उत्तरत्र अन्यतरस्याग्रहणात् । उद-  
पादि सस्यम् । समपादि भैक्षम् । त इति किम् ? उदपत्साताम् ।  
उदपत्सत ।

दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् (पा०सू०३-१-६१) ॥  
एभ्यश्छलेश्चिण् वा स्यात्ते परे । अदीपि, अदीपिष्ट । अजनि, अजनिष्ट ।  
अबोधि, अबुद्ध । अपूरि, अपूरिष्ट । अतायि, अतायिष्ट । अप्यायि,  
अप्यायिष्ट । । जनी प्रादुर्भावे (दि०आ०४३), बुध अवगमने इत्यनयो-  
र्दिवाद्योरिह ग्रहणम् । यत्तु जन जनने (दि०आ०६६) भ्वादिः, बुध  
बोधने (भ्वा०प०८८३) बुधिर् बोधने (भ्वा०उ०१००) भ्वादी, तेषां नह  
ग्रहणं नित्यात्मनेपदिभ्यां दिवादिभ्याञ्च दीपिपूरिभ्यां साहचर्येण ताद-  
शयोरेव जनिबुध्योर्ग्रहणात् । यत्तु अकर्मकसाहचर्यादकर्मकयोरेवेति  
माधवेनोक्तम् । तच्चिन्त्यम्, “क्रमादमुं नारद इत्वबोधि सः” “अबोधि



तज्जागरदुःखसाक्षिणी” इत्यादिप्रयोगविरोधात् । अयञ्च विकल्पः कर्तर्येव । भावकर्मणोस्तु नित्यश्चिण्, परत्वात्, इह कर्तरीत्यनुवृत्तेर्वा ।

अचः कर्मकर्तरि (पा०सू०३-१-६२) ॥ अजन्ताद्धातोश्चोश्चिण् वा स्यात्कर्मकर्तरि तशब्दे परे । प्राप्तविभाषेयम् । अकृत मा कटः स्वयमेव । अलावि अलविष्ट वा केदारः स्वयमेव । अच इति किम् ? अभेदि काष्ठं स्वयमेव । कर्मकर्तरीति किम् ? अकारि कटो देवदत्तेन ।

दुहश्च (पा०सू०३-१-६३) ॥ दुहश्चोश्चिण् वा स्यात्कर्मकर्तरि तशब्दे परे । अदोहि अदुग्ध वा गौः स्वयमेव । चिण्भावे, “लुग्वा दुह” (पा०सू०७-३-७३) इति कसस्य वा लुक् । पक्षे अधुक्षत । कर्मकर्तरीति किम् ? शुद्धकर्मणि चिणेव यथा स्यात् । अदाहि गौर्गोपालकेन । अप्राप्तविभाषेयम्, “न दुहस्नुनमां यक्चिणौ” (पा०सू०३-१-८१) इति चिणः प्रतिषेधात् । तत्र दुहिग्रहणं यक्प्रतिषेधार्थम् । चिण्ग्रहणन्तु स्नुनमर्थम् ॥

न रुधः (पा०सू०३-१-६४) ॥ रुधश्चलः कर्मकर्तरि चिण् न । अरुद्ध गौः स्वयमेव । शुद्धे कर्मणि तु-अरोधि गौर्गोपालकेन । रुधिर आवरणे (रु०उ०१) इत्यस्यैवात्र ग्रहणं न तु अनो रुध कामे इत्यस्य, कर्तृस्थभावकत्वेन कर्मकर्तुरभावात् ।

तपोऽनुतापे च (पा०सू०३-१-६५) ॥ चोश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तरि अनुतापे च । अनुतापः पश्चात्तापः, तस्य ग्रहणमकर्मकर्त्रर्थम् । तत्र हि भावकर्मणोरपि प्रतिषेधो भवति । “कर्मवत्कर्म” (पा०सू०३-१-८७) इति कर्मवद्भावातिदेशस्थलेऽपि-अतस्तपस्तापसः, तप आर्जिजदित्यर्थः । अत्र “तपस्तपःकर्मकस्यैव” (पा०सू०३-१-८८) इति कर्मवद्भावातिदेशात्प्राप्तिः । अनुतापे-अन्वतप्त पापेन । पूर्वं यत्पापं कर्म कृतं तेन पश्चादभ्याहत इत्यर्थः । शुद्धे कर्मणि लकारः । पापेनेति कर्तरि तृतीया । कर्माविवक्षायां शोकार्थे वा तपो भावे लकारः । हेतौ तृतीया । यदा तु अभ्याहननार्थस्य तपेः कर्मस्थभावकस्य कर्मकर्ता विवक्ष्यते तदा “कर्मवत्कर्मणा” (पा०सू०३-१-८७) इत्यातिदेशादात्मनेपदम् । तदापि हेतौ तृतीया ।

चिण् भावकर्मणोः (पा०सू०३-१-६६) ॥ धातोश्चोश्चिण् स्यात् भावकर्मवाचिनि तशब्दे । अशापि भवता । अकारि कटस्त्वया । चिण्-ग्रहणं स्पष्टार्थम्, “चिण् ते पदः” (पा०सू०३-१-६०) इत्यतस्ते इत्यस्येव चिण्ग्रहणस्याप्यनुवृत्तेः । यत्तु “दीपजन” (पा०सू०३-१-६०) इत्यत्र अन्यतरस्यांग्रहणं, तत् “न रुधः” (पा०सू०३-१-६४) इत्यत्रैव



निवृत्तम् । अन्यथा नञो वैयर्थ्यापत्तेः । न च प्रतिषेध एव इहानुवर्त्ततेति वाच्यम्, तस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात्, भावकर्मणोश्च केनापि चिणः प्राप्तेरभावात् । न च “दिलषः” इति विभक्तेन योगेन विधीयमानः क्लृप्ताः पुषाद्यङमिव इमं चिणमपि बाधेत, अतोऽत्र चिणेव यथा स्यात् क्लृप्ता मा भूदित्येतदर्थं पुनश्चिणग्रहणमिति प्रकृतसूत्रे भाष्यारूढं प्रयोजनमस्त्येवेति वाच्यम्, तस्यापि पाक्षिकत्वात् । समुदायापेक्षायां ह्येतदुक्तम् । अवयवापेक्षायां पुरस्तादपवादन्यायेन दिलषेः क्लृप्ताङमेव बाधते न तु चिणमिति प्रागेवोक्तम् ।

सार्वधातुके यक् (पा०सू०३-१-६७) ॥ भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके परे धातोर्यक् स्यात् । आस्यते। शय्यते त्वया । “अयङ् यिङ्ङिति” (पा०सू०७-४-२२) इति शीङाऽयादेशः । क्रियते कटः ।

इह कर्मणि यक् भवतीत्यस्यावकाशः शुद्धं कर्म-पच्यते ओदनः । कर्तरि शपोऽवकाशः शुद्धः कर्ता । कर्मकर्तयुभयप्रसङ्गे—यग्विधाने कर्मकर्तयुपसंख्यानम् तर्हि कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । कार्यातिदेशात्सिद्धम् । कर्मवत्कर्तरीत्यनेनैव हि यगात्मनेपदादीनि विधीयन्ते इति यगेव परः । शास्त्रातिदेशपक्षेऽपि “न दुहन्नुनमां यक्चिणौ” (पा०सू०३-१-८९) इति ज्ञापकात् कर्मकर्तरि यगेव भविष्यति ।

अत्रेदमवधेयम्, भावकर्मकर्तारो लकारार्थाः । “लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः” (पा०सू०३-४-६९) इति सूत्रात् । तत्र हि चकारेण “कर्तरि” इत्यनुकृत्यते । तच्च वाच्यार्थसमर्पकमिति पूर्वसूत्रे स्थितम् । उत्तरत्रापि “तथारेव कृत्य” (पा०सू०३-४-७०) इत्यत्र तथैवेति सन्देशात्प्रायपाठाच्च मध्येऽपि वाच्यसमर्पकतैवोचिता प्रधानभूतधात्वर्थाश्रयः कर्ता, फलाश्रयश्च कर्म, फलव्यापारयोश्च धातुनैवोपात्तत्वात् । आश्रयमात्रं लकारार्थः, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात् । ततश्च तिङामपि स एवार्थः, तेषां लादेशत्वात् स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैव चादेशत्वात् । विकरणास्तु द्योतकाः । तत्रापि शबादयो धात्वर्थे व्यापारे आश्रयस्य विशेषणतां द्योतयन्ति, यक्चिणौ तु फले । ननु विपर्ययमेवास्तु, “कर्तरि शप्” (पा०सू०३-१-६८) इत्यादेरप्यनुशासनस्य स्वरसेन शबादय एव वाचकाः, लकारास्तु द्योतका इतीति चेत् ? न, आशीलिङि लिटि च अदादिजुहोत्यादिषु च शबाद्यभावेऽपि तत्प्रतीतेः । यद्यपि—

क्वाचित्तिङामभावेऽपि प्रतीयन्ते त्रयोऽप्यमी ।



अशास्यकारिगच्छेति चिणक्षप्सन्निधिमात्रतः ॥

अभोगबिभरित्यादौ धातुमात्रेऽपि कर्तृधीः ।

तथाप्यासत इत्यादौ धात्वभावेऽपि कर्तृधीः ॥

तथापि तत्र परमते लुप्तस्मृतं बोधकम् । अस्माकन्तु यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीत्युक्ताभ्युपगमात् सर्वं सुस्थम् । तत्र कर्तृकर्मणी वदन् तिङ् तन्निष्ठां सङ्ख्यामपि प्रतिपादयतीति कर्तृकर्मणोद्वित्वे बहुत्वे च द्विवचनबहुवचने भवतः । भावे लस्तु असत्त्वावस्थापन्नां धात्वर्थभूतां क्रियामेव अभिधत्ते द्योतयति वेति तत्र प्रथमपुरुषैकवचनमेव भवति, न मध्यमोत्तमौ, युष्मदस्मत्सामानाधिकरण्याभावात् । नापि द्विवचनबहुवचने, द्वित्वबहुत्वयोरप्रतीतिः । एकवचनन्तु उत्सर्गः करिष्यत इति भाष्याद्भवति । अत्र बहुवचनेत्यप्युत्सर्गः, 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते' 'हतशायिकाः शय्यन्ते' इत्यत्र भाष्ये तदभ्युपगमात् । उष्ट्राणां हि आसिकाः स्वरूपत एव विलक्षणाः, हताश्च नानाप्रकारं शेरते उक्ताना अवताना विकीर्णकेशा विस्रस्तवल्गा इत्यादि । तत्साम्यादाख्यातवाच्यस्यापि भावस्य स्वरूपगतभेदावभासाद्बहुवचनं भवत्येव । इवशब्दप्रयोगमन्तरेणापि इवार्थावगतिर्भवति, परत्र परशब्दः प्रयुक्त इति न्यायात् । तदयमर्थः—'यादृशानि हतानामनेकप्रकाराणि शयनानि तादृशानि देवदत्तादिभिः क्रियन्ते' इति । एवञ्चेह 'आसिकाः' 'शायिकाः' इति द्वितीयाबहुवचनान्तं, क्रियाविशेषणत्वेन कर्मत्वात् । न चैवं क्लीबत्वमेकवचनं च स्यादिति वाच्यम्, "स्त्रियां क्तिन्" (पा०सु०३-३-९४) इत्यधिकारात् स्त्रीत्वावधारणेन "सामान्ये नपुंसकम्" (का०वा०) इत्यस्याप्रवृत्तेः, बहुत्वावधारणेन च एकवचनप्रवृत्तेरिति दिक् ।

के चिन्तु 'कर्मण्ययं लकारः' इति मन्वाना आसिकाशायिकाशब्दौ प्रथमान्तावित्याहुः । तथाहि, आसिकाशायिकयोर्भावतया कालभावध्वगन्तव्य इति कर्मत्वे 'गोदोहः सुप्यते' इतिवत् कर्मणि लः । उष्ट्रासिकाहतशायिकयोश्च आख्यातप्रकृत्युपस्थिते आसनशयने प्रति परिच्छेदकत्वेनान्वयः, गोदोहस्येव स्वापे । परिच्छेदकत्वं च आसिकाशायिकयोः सादृश्यद्वारकं, गोदोहस्य तु कालोपाधिनेत्यन्यदेतत् । एतच्च विवक्षान्तरे भवत्येवेति कैयटादयः ।

भाष्यकारैस्तु भावेऽपि लविधाने बहुत्वं स्वीकृतमित्युक्तम् । न चैवमाख्यातवाच्यस्य भावस्य असत्त्वावस्थापन्नतेति सिद्धान्तो भवत्येतेति वाच्यम्, लिङ्गायोगस्य करणादिकारकायोगस्य चेह असत्त्वाव-



स्थात्वेन विवक्षितत्वात् । अत एव 'पचति भवति, पच्यते भवति, पश्य मृगो धावति' इत्यादौ वाक्यार्थभूतायाः क्रियायाः क्रियान्तरं प्रति कर्तृत्वकर्मत्वाभ्यामन्वयेऽपि न काचित् क्षतिः । न चैतावता घञादिसाम्यं, घञादिवाच्यो हि भावः सल्लिङ्गो यथायथं सकलकारकान्वितश्चेति वैषम्यस्य स्पष्टत्वात् । अत्र वैषम्ये अनुभवबलकल्प्यः शब्दशक्तिस्वभाव एव नियामकः । तदेतदुक्तम्—“कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते” इति । कृत्स्वपि तुमुनादौ न सत्त्वार्थकत्वम् । एतच्च “अव्ययकृतो भावे” इति वार्तिके स्फुटीभविष्यति । अनव्ययकृत्स्वपि ‘शयितव्यं भवद्भिः’ इत्यादौ एकत्वसंख्याया एवान्वयः, न तु द्वित्वादेरित्यादि यथानुभवं यथाकरञ्च विवेक्तव्यम् ।

कर्त्तरि शप् (पा०सू०३-१-६८) ॥ कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् । पकारः स्वरार्थः छित्त्वप्रतिषेधार्थश्च । शकारः सार्वधातुकार्थः “शप्द्र्यनोः” (पा०सू०७-१-८१) इत्यादौ विशेषणार्थश्च । पचति । पठति । कर्तृग्रहणं “कर्मवत्कर्मणा” (पा०सू०३-१-८७) इत्यत्रोपयोक्ष्यते । इह तु सार्वधातुके शप् भवतीति सामान्यविधानेऽपि न क्षतिः, भावकर्मणोर्यगादेरपवादत्वात् कर्तर्येव शपः पर्यवसानात् । न च यग्विधौ भावकर्मग्रहणं नानुवर्त्तत इति वाच्यम्, ‘पचति’ इत्यादौ शबादिमेव निमित्तत्वेनाश्रित्य यकः प्रसङ्गात् ।

दिवादिभ्यः श्यन् (पा०सू०३-१-६९) ॥ शपोऽपवादः । दिव्यति । सीव्यति । मृग अन्वेषणे (चु० आ०३६८) इति चुरादावदन्तेष्वात्मनेपदी पठ्यते । तस्य—

पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते ।

इत्यादि भवति । दिवादिष्वपि पाठात् ‘मृगयति’ इति साधुः । ‘कण्डः वादिषु वा मृगशब्दो द्रष्टव्यः’ इति हरदत्तादयः ।

वा आशभ्लाशभ्रमुकमुकलमुत्रसिनुटिलषः (पा०सू०३-७-७०) ॥ एभ्यः श्यन् वा । दुभ्राश् दुभ्लाश् दीप्तौ (श्वा०आ०८४९, ८५०) । भ्रमु अनवस्थाने (दि०प०९९) भ्रमु चलने (श्वा०प०८६५) द्वयोरपि ग्रहणम् । क्रमु पादविक्षेपे (श्वा०प०४७४) । क्लमु ग्लानौ (दि०प०१०१) । त्रसी उद्वेगे (दि०पा०११) । त्रुटी छेदने (तु०प०९५) । लष कान्तौ (श्वा०उ०९१३) । इह अनवस्थानार्थो भ्रमिः कलमित्रसी च दिवादयः । त्रुटिस्तौदादिकः । इतरे भौवादिकाः । अत उभयत्र विभाषेयम् । भ्रादयते, भ्राशते । भ्लादयते, भ्लाशते । भ्राभ्यति, भ्रमति । दैवादिकस्य भ्रमेः “शमामष्टानां दीर्घः श्यनि” (पा०सू०७-३-७४) इति श्यनि दीर्घः । भौवादिकः



स्य तु न भवति, अशमादित्वात् । काम्यति, कामति । “क्रमः परस्मैप-  
देषु” (पा०सू०७-३-७६) इति दीर्घः । अयञ्च ‘शिति’ इत्यनुवृत्तेः शपि-  
इयनि च भवति । कौमुद्यान्तु ‘क्रमो दीर्घः स्याच्छपि’ इति व्याख्या-  
य इयनि ह्रस्व एवोदाहृतः । तदशुद्धमेव । कलाम्यति, क्लामति । “ष्ठिवु-  
क्लमुच्चमां शिति” (पा०सू०७-३-७५) इति दीर्घः । क्लमेर्दिवादिपाठः  
पुषादिकार्यार्थः । कौमुद्यान्तु भौवादिकस्य तु ‘क्लमति’ इत्युक्तं तदपाणि-  
नीयमेव । त्रस्यति, त्रसति । त्रसेर्दिवादिपाठे फलं चिन्त्यमिति हरदत्तः ।  
त्रुष्यति, त्रुटति । लष्यति, लषति ।

यसोऽनुपसर्गात् (पा०सू०३-१-७१) ॥ अनुपसर्गाद्यसेः इयन् वा  
स्यात् । यस्यति, यमति । अनुपसर्गात्किम् ? आयस्यति । प्रयस्यति ।  
इह नित्यं इयन्, यसु प्रयत्ने (दि०प०१०४) इत्यस्य दैवादिकत्वात् ।

संयसश्च (पा०सू०३-१-७२) ॥ सम्पूर्वाद्यसेः इयन्वा । संयस्यति,  
संयसति । इह “यसः संयसश्च” इत्येव वक्तुं युक्तम्, सोपसर्गाच्चेत्  
संयस एव न तु प्रयसादेः” इति नियमेनेष्टसिद्धेः ।

स्वादिभ्यः इनुः (पा०सू०३-१-७३) ॥ स्पष्टम् । सुनोति । पिञ् ब-  
न्धने (स्वा०उ०२, कन्धा०उ०५) इत्यस्य स्वादौ क्रयादौ च पाठात् ‘सि-  
नोति, सिनाति’ इत्युभयं भवति ।

श्रुवः शृ च (पा०सू०३-१-७४) ॥ श्रुवः इनुः प्रत्ययः स्यात्तत्सन्नि-  
योगेन ‘शृ’ इत्ययमादेशश्च । शृणुतः, शृण्वन्ति ।

अक्षोऽन्यतरस्याम् (पा०सू०३-१-७६) ॥ अक्षु व्यासौ (श्वा०प०६५५)  
भौवादिकः । अस्मात् इनुर्वा स्यात् । अक्ष्णोति, अक्ष्णति ।

तनूकरणे तक्षः (पा०सू०३-१-७७) ॥ श्नुर्वा स्यात् । काष्ठं तक्ष्णो-  
ति, तक्षति वा । तनूकरणे किम् ? सन्तक्षति, वाग्भिर्भर्त्सयतित्यर्थः ।

तुदादिभ्यः शः (पा०सू०३-१-७५) ॥ तुदति । नुदति । ‘तुद्-ति’  
नुद्-ति’ इति स्थिते परत्वात्प्राप्तं गुणं नित्यत्वाच्छो बाधते ।

रुधादिभ्यः श्नम् (पा०सू०३-१-७८) ॥ एभ्यः इन्म् प्रत्ययः स्यात् ।  
मित्रादन्यादचः परः । तक्रकौण्डिन्यन्यायेनार्थं शपं बाधते । शकारः  
“इनान्नलोपः” (पा०सू०६-४-२३) इति विशेषणार्थः । “नान्नलोपः”  
इत्युच्यमाने ‘यज्ञानां’ ‘यज्ञानाम्’ इत्यत्रापि स्यात् । न च “नामि”  
(पा०सू०६-४-३) इति दीर्घत्वे कृते “नात्” इति व्यपदेशाभावात् न भ-  
विष्यतीति वाच्यम्, एकदेशविकृतस्यानन्यत्वेन सत्यपि दीर्घे ‘नात्’  
इति व्यपदेशसम्भवात् । किञ्च परत्वाल्लोपेनैव भाव्यम् । न च ततोऽपि  
परत्वात् “सुपि च” (पा०सू०७-३-१२) इति दीर्घोऽस्त्विति वाच्यम् ;



“सन्निपात” (पा०भा०८७) परिभाषया तस्य नाम्यप्रवृत्तेः न चैवं रा-  
 माणामित्यादौ “नामि” (पा०सू०६-४-३) इति दीर्घोऽपि न स्यादेवेति  
 वाच्यम्, आरम्भसामर्थ्यान्नामीति दीर्घे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषया  
 अप्रवृत्तेः । “सुपि च” (पा०सू०७-३-१०२) इति दीर्घस्तु “रामाभ्याम्”  
 इत्यादौ चरितार्थः सन्निपातपरिभाषां वाधितुं नेष्टे । यस्तु हरदत्तेनो-  
 क्तं ‘कष्टाय’ इति निर्देशात्सामान्यपेक्षज्ञापकादीर्घो भविष्यति,  
 एवमपि तस्य पूर्वस्माद्विधौ स्थानिवत्त्वाच्चशब्द एवायमिति नलोपः  
 स्यादेवेति । तच्चिन्त्यम्, सामान्यापेक्षेण हि ज्ञापकेन परिभाषायाः का-  
 चित्की अप्रवृत्तिरिति लक्ष्यानुषोधात्सिध्यतु, नाम, औत्सर्गिकी तत्प्रवृ-  
 त्तिः किमर्थमिह त्याज्या । ‘यत्नानाम्’ इत्यादिलक्ष्यसिद्ध्यर्थमेवेति चेत् ?  
 सत्यपि दीर्घे लक्ष्यं न सिध्यतीति समनन्तरमेवोक्तत्वात् स्वयमपि ल-  
 क्ष्यासिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च । किञ्च “पूर्वस्माद्विधौ” इति अतिस्थवीयः,  
 तस्य हि पूर्वस्मान्निमित्तत्वेनाश्रितादित्यर्थः स्थितः । यच्चेहानादि-  
 ष्टादचः पूर्वं नकारव्यञ्जनमात्रं न तन्निमित्तत्वेनाश्रितम्, यच्च निमि-  
 त्तं नकाराकारसंघातः नासावनादिष्टादचः पूर्वं इति, यत्किञ्चिदेतत् ।  
 तस्मात्प्रागुक्तविधया एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्प्राप्तिः । दीर्घात्प्रागेव  
 वेति विशेषणार्थः शकारः । न चैवमपि ‘विज्ञानां’ ‘प्रश्नानाम्’ इत्य-  
 आतिप्रसङ्गः, अनर्थकत्वात् । न च विकरणेऽप्येवमेवेति वाच्यम्, एक-  
 देशिमते तस्य वाचकत्वात् । मुख्यमतेऽपि द्योत्येनार्थेनार्थवत्त्वात् । अत  
 एव प्रत्ययसंज्ञाया अन्वर्थत्वेऽपि इनमि तत्प्रवृत्तौ “लशकु” (पा०सू०  
 १-३-८) इति शस्येत्संज्ञा सिध्यति । किञ्च “लक्षणप्रतिपदोक्त” (पा०  
 भा०११५) परिभाषयाऽपि ‘विज्ञानानाम्’ इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । तस्मात्  
 “इनान्नलोपः” (पा०सू०६-४-२३) इति विशेषणार्थः इनमः शकार इति  
 स्थितम् । न चार्धधातुकसंज्ञानिवृत्त्यर्थोऽपि सोऽस्तु, सत्यां हि तस्यां  
 अनक्ति, भनक्ति, अतो लोपः स्यात् । रुणद्धि, भिनत्ति, गुणः स्यात् ।  
 हिनस्ति, तृणोढि, इडागमः स्यात् । “नेङ् वशि” (पा०सू०७-२-८)  
 इति तु नेह प्रवर्त्तते, अकृत्वादिति चेत् ? न, सत्यप्यार्द्धधातुकत्वे श-  
 त्पभावात् । न च लोपो गुण इङ् वेति त्रितयं स्यादित्युक्तमिति चेत् ?  
 न, त्रितयस्याप्यागमत्वात्, इनमः पूर्वभागस्य चानङ्गत्वात् । तथाहि,  
 “यस्मात्प्रत्ययविधिः” (पा०सू०१-४-१३) इत्यस्यायमर्थः—प्रत्यये वि-  
 धीयमाने यत्पञ्चम्या निर्दिष्टं धातोः प्रातिपदिकादित्यादि तदादि त-  
 स्मिन्परतोऽङ्गमिति । इह तु यत्पञ्चमीनिर्दिष्टं रुधादिभ्यो धातुभ्य इति,  
 न तस्मात् प्रत्ययः परः, यस्माच्च पूर्वभागात्प्रत्ययः परः, नासौ तस्मि-



निबधीयमाने पञ्चम्या निर्दिष्ट इति दिक् ।

रुणद्धि । भिनत्ति ।

तनादिकृञ्भ्य उः (पा०सू०३-१-७९) ॥ तनादिभ्यः कृञश्च उपत्य-  
यः स्यात् । तनोति । करोति । कृञग्रहणं भाष्ये प्रत्याख्यातं, तनादि-  
त्वादेव सिद्धेः । ननु तनादिकार्यापेक्षनियमार्थं तदस्तु । तेन “तनादि-  
भ्यस्तथासौः” (पा०सू०२-४-७९) इति वैकल्पिकस्य सिञ्जलुकोऽप्रवृ-  
त्तौ ‘अकृत’ ‘अकृथाः’ इत्यत्र द्वैरूप्यं न भवतीति चेत् ? मैत्रम्, सत्य-  
पि लुग्विकल्पे तदभावे “ह्रस्वादङ्गात्” (पा०सू०८-२-२७) इति लोपेने-  
ष्टसिद्धेः । न च विकल्पेन नित्यस्य बाधः, विकल्पं प्रति नित्यस्यासि-  
द्धत्वात् । न च तनादिपाठसामर्थ्यादपवादो वचनप्रामाण्यादिति न्या-  
येनासिद्धत्वबाधनाद्विकल्पेन नित्यस्य बाधः, तनादिपाठस्य विकरण-  
विधौ चरितार्थत्वात् । विकल्पोऽपि ‘अतथा’ इत्यादौ चरितार्थः । प्रत्युत  
क्रियमाणे कृञग्रहणे तनादिषु कृञः पाठस्य अन्याधीत्वात् “येनना-  
प्राप्ति” (प०भा०५९) न्यायेन विकल्पो नित्यविधिं बाधेत । कृञग्रहणन्तु  
विकरणविधौ तनादिषु पाठश्चरितार्थो मा भूदित्येवमर्थं स्यात् । त-  
स्मात्कृञग्रहणपरित्याग एवोचितः ॥

धिन्विकृण्वयोर च (पा०सू०३-१-८०) ॥ धिवि प्रीणने (श्वा०प०  
५९४) कृवि हिंसाकरणयोः (श्वा०प०५९९) अनयोरकारोऽन्तादेशः  
स्यादुपप्रत्ययश्च । शपोऽपवादः । “अतो लोपः” (पा०सू०६-४-४८) ।  
तस्य स्थानिवद्भावाल्लघुपधगुणो न । धिनोति । कृणोति । नुमनुषक्त-  
योर्ग्रहणं नुम्विधिरुपदेशावस्थायामेव प्रवर्त्तत इति ज्ञापनार्थम् । तेन  
नुमविधावुपदेशिवद्बचनं प्रत्ययसिद्धार्थमिति वचनं न कर्तव्यं भवति ।  
सिचस्तत्सेश्चेकार उच्चारणार्थ इति पक्षे नुम्विधौ धातुग्रहणमपि न  
कर्तव्यं भवति, तज्ज्ञाप्यस्यानेनैव ज्ञापनात् ।

कथादिभ्यः श्रा (पा०सू०३-१-८१) ॥ स्फण्डम् । क्रीणाति । प्रीणाति ।  
स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यःऽनुश्च (पा०सू०३-१-८२) ॥ आद्याश्च  
त्वारः सौत्राः । स्कुञ् आप्रवणे (कथा०उ०६) । एभ्यः श्रा स्यात् स्नुश्च ।  
स्तभ्नाति, स्तम्नोति । हौ शानच्—स्तभान्, स्तम्नुहि । स्तुभ्नाति,  
स्तुम्नोति । स्कम्नाति, स्कम्नोति । स्कुम्नाति, स्कुम्नोति । स्कुना-  
ति, स्कुनीते । उदित्करणसामर्थ्यात्सौत्राणामपि धातूनां सर्वार्थत्वं,  
न त्वेतद्विकरणमात्रविषयत्वम् ।

हलः श्नः शानञ्ज्ञौ (पा०सू०३-१-८२) ॥ हलः परस्य इनाप्रत्यय-  
स्य शानच् स्याद्धौ परे । पुषाण । मुषाण । लोद्, सिप्, तस्य हिः ।



“कथादिभ्यः इना” (पा०सू०३-१-८१) । तस्य शानच्, चित्त्वादन्तो-  
दात्तः । “सन्निपात” (पा०भा०८७) परिभाषाया अनित्यत्याद्धेलुक् ।  
हलः किम् ? क्रीणीहि । हौ किम् ? पुष्णाति । “इनः” इति स्थानिनिर्द्देश-  
श्च आदेशत्वलाभाय । इतरथा हि प्रत्ययान्तरमेवेदं स्यात् । ननु तथै-  
वास्तु को दोष इति चेत् ? न, ‘पच’ ‘पठ’ इत्यादावपि शपं बाधित्वा  
शानच्प्रसङ्गात् । न च “कथादिभ्यः” (पा०सू०३-१-८७) इति अनुवर्तत  
इति वाच्यम्, ‘स्तभान’ ‘स्तुभान’ इत्यादिचतुर्णामसिद्ध्यापत्तेः । न  
च स्तम्भवादयोऽप्यनुवर्तयितुं शक्याः, विशेषविहितेन शानच्चा  
इन इव इनोरपि बाधे ‘स्तम्भुहि’ इत्यादेरसिद्धिप्रसङ्गात् । न च ‘इनुश्च’  
इत्यप्यनुवर्त्यम्, कथादेरपि इनुप्रसङ्गात् । न च स्तम्भवादिभ्य एव  
भुनुः, शानच् तु तेभ्यः कथादिभ्यश्चेत्यत्र प्रमाणमस्ति । तस्माद्यथा-  
न्यासमेवास्तु । शानच्ः शित्करणे प्रयोजनं चिन्त्यम्, स्थानिवद्भावे-  
नैव सिद्धेरिति हरदत्तः ।

अत्रेयं चिन्ता, अनुबन्धकार्येऽपि कचिदनलविधाविति निषेधः प्र-  
वर्तत इति ज्ञापनार्थमिदम् । तेन वार्त्तिकमते ‘ब्रूतात्’ इत्यत्र ईप्सन । भाष्य-  
मते तु ‘भविषीष्ट’ इत्यत्र डित्वं नित्यं न भवति । एतच्च “ङ्किति च”  
(पा०सू०१-१-५) इति सूत्रे स्फुटीकृतमस्माभिः ।

छन्दसि शायजपि (पा०सू०३-१-८४) ॥ अपिशब्दाच्छानच् हौ  
अहौ च । गृभाय जिह्वया मधु । बधान देवसावितः । “हृग्रहोर्भञ्ज-  
न्दसि” (का०वा०) इति गृह्णातेर्हकारस्य भकारः । “अनिदिताम्”  
(पा० सू०६-४-२४) इति वध्नातेर्नलोपः । यो अस्कभायदुत्तरम् । अ-  
स्कन्नादित्यर्थः ।

व्यत्ययो बहुलम् (पा०सू०३-१-८५) ॥ विकरणाः प्रक्रान्ताः, तेषां  
छन्दसि बहुलं व्यत्ययः स्यात् । व्यतिगमनं व्यत्ययः । व्यतिपूर्वादि-  
णो (अ०प०३५) भावे एरच् । कचिदन्योन्यविषयावगाहनम् । क-  
चित् द्वौ विकरणौ । कचित् त्रयः । आण्डा शुष्णस्य भेदति । शुष्णस्या-  
ण्डानि भेदति । ‘भिनत्ति’ इति प्राप्ते । न ह्यस्या अपरञ्चन जरसा म-  
रते पतिः । ‘म्रियते’ इति प्राप्ते ।

जीवचामरवासाधो व्याधमाजीवमामरः ।

इत्यपि पुराणादौ छान्दसदर्शनात्समाधेयम् । इन्द्रो वस्तेन नेषतु ।  
नयतेलौटि तिपि शप्सिपौ द्वौ विकरणौ । इन्द्रेण युजा तरुषेम वृ-  
त्रम् । ‘तरेम’ इत्यर्थः । तरतेर्विध्यादौ लिङ्, मस्, उः, सिप्, शप्  
इति त्रयो विकरणाः । धातोर्गुणः । तरुष् मस् इति स्थिते “नित्यद्-



ङितः' (पा०सू०३-४-११) इति सलोपः। यासुट् । "अतो येयः" (पा० सू०७-२-८०)। यलोपः । "आद् गुणः" (पा०सू०६-१-८७)। बहुलग्रहणं सर्वविधिव्यभिचारार्थम् । तथा च भाष्यम्—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन ॥

सुपां व्यत्ययः—युक्तामातासीद् धुरि दक्षिणायाः । दक्षिणस्याम् इति प्राप्ते । तिङां—चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति । 'तक्षन्ति, इति प्राप्ते । लादेशव्यङ्ग्यः क्रियासाधनविशेषरूपः स्वार्थपरार्थत्वादिश्रोप-ग्रहशब्दस्य वाच्यः । यथोक्तम्—

य आत्मनेपदाद्देदः कचिदर्थस्य गम्यते ।

अन्यतश्चापि लादेशान् मन्यन्ते तमुपग्रहम् ॥ इति ।

आत्मनेपदादिति लादेशादिति च हेतोः पञ्चमी । इह तु तत्प्रती-  
तिनिमित्ते परस्मैपदे आत्मनेपदे च उपग्रहशब्दो लक्षणया वर्तते ।  
ब्रह्मचारिणमिच्छते । 'इच्छति' इति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मियुध्यति ।  
'युध्यते' इति प्राप्ते । मधोस्तृप्ता इवासते । मधुन इति प्राप्ते । भाषाया-  
न्तु यद्यप्यर्द्धर्चादित्वादुभयलिङ्गो मधुशब्दोऽस्ति तथापि अर्थविशे-  
ष एव । तथा--

मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः ।

अर्द्धर्चादिगणे पाठात् पुंनपुंसकयोर्मधुः ॥

इति शाश्वतकोशात् । अमृते तु नपुंसक एव । अत एव व्यत्ययो-  
दाहरणं दत्तम् । मावस्तु--

सरसमकरन्दनिर्भरासु प्रसवविभूतिषु विरुधां विरक्तः ।

ध्रुवममृतपनामवाञ्छयासामधरमधुं मधुपस्तवाजिहीते ॥

इत्यत्रामृतवाचकमधुशब्दं पुल्लिङ्गं प्रयुज्जानश्चिन्त्यः, शाश्वतको-  
शात् । नरः पुरुषः । अधासवीरैर्दशभिर्वियूयाः । 'वियूयात्' इति प्रा-  
प्ते । यु मिश्रणे (अ०प०२३) विपूर्वः आशिषि लिङ् । कालवाची प्रत्य-  
यः कालः । इवोऽग्नीनाधास्यमानेन । लुटो विषये लट् । हल्—त्रिष्टु-  
भौजः शुफितमुग्रवीरम् । शुभ शुम्भ शोभार्थे (तु०प०४१,४२) भका-  
रस्य फकारः आश्वलायनसूत्रे । तैत्तिरीये भकार एव पठ्यत इति हर-  
दत्तः । वस्तुतस्तु आश्वलायनसूत्रेऽपि भकार एव पठ्यते । हल्व्यत्य-  
योदाहरणन्तु सुहितमिति प्राप्त इति भाष्यानुरोधेन स्पष्टम् । अच्—  
उपगायन्तु मां पत्नयो गर्भिण्यः । दीर्घस्य ह्रस्वः स्वरव्यत्ययः "परादिश्छ-  
न्दसि बहुलम्" (पा०सू०६-२१-२९) इत्यत्र वक्ष्यते । कर्तृशब्दः कारकमा-



अस्योपलक्षणं तद्वाचिनीनां विभक्तीनां व्यत्यय इति हरदत्तः । एवन्तु सु-  
सिङ् इत्येव गतार्थता स्यात्, तस्मात्कारकवाचिनां कृत्तद्धितादीनामपि  
व्यत्यय उदाहार्यः । तथा च “कर्मण्यण्” (पा०सू०३-२-१) सूत्रे भाष्यम्—  
अत्रादायेति च कृतां व्यत्ययश्छन्दसीति । तच्च तत्रैवस्फुटीकरिष्यामः ।  
यङिति प्रत्याहारः यको यशब्दादारभ्य “लिङ्याशिष्यङ्” (पा०सू०  
३-१-८६) इति ङकारेण । तेषां व्यत्ययः प्रागेवोदाहृतः । एवं सुसिङ्प्र-  
भृतीनां व्यत्ययं शास्त्रकृत्पाणिनिरिच्छति । स च बाहुलकेन सिध्य-  
ति । बहूनर्थान् लात्यादत्त इति बहुलं तस्य भावो बाहुलकम् । मनो-  
ज्ञादित्वाद् बुज् ।

लिङ्याशिष्यङ् (पा०सू० ३-१-८६) ॥ छन्दसि धातोरङ् प्रत्ययः  
स्यात् आशिषि लिङि परे । स्थागागमिवच्चिविदिशकिरुहिष्वेवायमङ्-  
प्रायेण दृश्यते । उपस्थेयं वृषभन्तुप्रियाणाम् । उपपूर्वात्तिष्ठेतेराशिषि  
लिङ् मिपोऽम्, यासुङ्, “छन्दस्युभयथा” (पा०सू०६-४-८६) इति  
सार्वधातुकसंज्ञाया अपि सत्त्वात् “लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य” (पा०सू०  
७-२-७१) इति सलोपः । अङि “आतो लोपः” (पा०सू०६-४-६४)  
“अतो येयः” (पा०सू०७-२-८०) । सत्यमुपगम्यम् । गमेम जानतो गृहान् ।  
मन्त्रं वोचेमानये । “वच उम्” (पा०सू०७-४-२०) विदेयमेनां मनासि  
प्रविष्टाम् । व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम् । अस्रवन्तीमारुहेमास्वस्तये ।

दशेरग् वक्तव्यः (का०वा०) । पितरञ्च दशेयं मातरञ्च । अङि  
तु सति “ऋदृशोऽङि” (पा०सू०७-४-१६) इति गुणः स्यात् । अथ  
कथं ‘उपस्थेयाम् शरणं बृहन्त’ इति ? स्थेमेति हि प्राप्नोति ।

अत्र भाष्यम्—सार्वधातुकत्वाल्लिङः सलोप आर्द्धधातुकत्वादेत्व-  
मिति । “एलिङि” (पा०सू०६-४-६७) इति सूत्रेणेति भावः । अङ् चात्र  
न कार्यः, बाहुलकात् ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयाध्यायस्य प्रथमे पादे चतुर्थमान्हिकम् ।

कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः (पा०सू०३-१-८७) ॥ कर्मशब्देन स्वनि-  
ष्ठा क्रिया लक्ष्यते । कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियो लकारवाच्यः कर्त्ता  
कर्मवत् स्यात् । “व्यत्ययो बहुलं लिङ्याशिष्यङ्” (पा०सू०३-१-  
८६, ८६) इति द्विलकारको निर्देशः । लुप्तनिर्दिष्टा वा लकारः ।  
लोपस्तु “सयोगान्तस्य” (पा०सू०८-२-२३) इति “हलो यमाम्”  
(पा०सू०८-४-६४) इति वा । तच्च लग्नहणमिहानुवृत्तं षष्ठ्या विप-  
रिणम्येत, लुप्तषष्ठीकं वा, षष्ठ्यर्थश्च वाच्यत्वम् । “कर्त्तरि शप्”  
(पा०सू०३-१-६८) इति सूत्रात्कर्तृग्रहणमनुवृत्तं प्रथमया विपरिण-



इयते । तेनाभिमतार्थलाभः । यगात्मनेपदचिण्चिण्वद्भावाः प्रयोजनम् । भिद्यते काष्ठं स्वयमेव । अभेदि काष्ठं स्वयमेव । कारिष्यते कटः स्वयमेव । आत्मनेपदस्य त्रीण्यापि इमान्युदाहरणानि । यक्चिण्चिण्वद्भावानां तु क्रमेणेति विवेकः ।

निवृत्तप्रेषणं कर्म स्वक्रियावयवे स्थितम् ।

निवर्त्तमाने कर्मत्वे स्वे कर्तृत्वेऽवतिष्ठते ॥

अस्याश्चावस्थायामकर्मकत्वात् कर्त्तरि भावे च लकाराः । तत्र यदा कर्त्तरि तदा शुद्धे कर्त्तरीव रूपेषु प्राप्तेषु पूर्वावस्थायां भिदेः कर्माभूते काष्ठे यादृशी क्रिया द्विधाभवनरूपा, करोतेः कर्मणि च कटे उत्पत्तिरूपा, तथा तुल्यक्रियोऽयं भिदिकृज्ज्ञाः कर्त्ता लकारवाच्यश्चेत्यतिदेशाद्यगादिचतुष्टयप्रवृत्तिः । यथा निवृत्तप्रेषणस्याकर्मकत्वं, यथा च क्रियायाः क्वचित्कर्मस्थत्वं, क्वचिन्न, तथा “णेरणौ” (पा०सू०१-३-६७) इति सूत्रे व्युत्पादितम् । कर्मणेति किम् ? करणाधिकरणाभ्यां तुल्यक्रिये मा भूत् । साध्वसिद्धिर्नस्ति । साधु स्थाली पचति । नन्विह करणाधिकरणत्वावस्थायामसिस्थालयोर्व्यापारो वस्तुतः सन्नपि धातुना नोपादीयत इति चेत् ? किं ततः ? नह्यस्मिन् सूत्रे सादृश्यप्रतियोगिभूतायाः क्रियाया धातूपात्तत्वं शब्देनाश्रितं, येन कर्मग्रहणं विनाऽप्यतिप्रसङ्गो न भवेत् । किञ्च कर्तृस्थक्रिया अप्यस्यैव व्यावर्त्या । गच्छति ग्रामः स्वयमेव, आरोहति हस्ती स्वयमेवेति ।

अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्धधाति च । इत्यादि ।

नन्वेवं करोत्यर्थस्य यत्नस्यापि ज्ञानेच्छादिवत्कर्तृस्थत्वात् कारिष्यते कटः स्वयमेवेति कथमुदाहृतमिति चेत् ? न, करोतेरुत्पादनार्थत्वस्य प्रागेव वर्णितत्वात् । लकारवाच्यः किम् ? भावे लकारोत्पत्तौ मा भूत्, भिद्यते कुसूलेन । इह सत्यतिदेशे कुसूलाद् द्वितीया स्यात् । किञ्च लकारवाच्यत्वविशेषणाभावे कृत्याः खलर्थाश्च अस्मिन् कर्त्तरि स्युः-भेत्तव्यः कुसूलः स्वयमेवेति । ईषद्भेदः कुसूलः स्वयमेवेति । इष्यते तु भाव एव-भेत्तव्यं कुसूलेन कुसूलस्य वा । “कृत्यानां कर्त्तरि वा” (पा०सू०२-३-७१) इति वा षष्ठी । ईषद्भेदं कुसूलेन । यत्त्विह वार्तिके “कृत्यक्तखलर्थेषु प्रतिषेधः” इत्युक्तम्, तत्र कर्मग्रहणमविवक्षितम्, अन्यत्र सह पाठात्त्विह पठितम् । भवत्येव हि एभ्योऽकर्मकत्वात् “गत्यर्थार्कर्मक” (पा०सू०३-४-७२) इति सूत्रेण कर्त्तरि क्तः । तथा च “सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य” (का०वा०) इति निष्ठानत्वे “सिनो ग्रासः स्वयमेव” इति कर्त्तरि क्त उदाहरिष्यते !



अन्ये त्वाहुः-तग्रहणं विवक्षितमेव, 'गवा दुग्धं पय' इत्युदाहरण-सम्भवात् । अत्र हि गोः कर्मकर्तृत्वात् तत्र कर्मवदतिदेशे सति क्तः स्यात् । न ह्यत्र सिद्धान्ते "गत्यर्थकर्मक" (पा०सू०३-४-७२) इत्येतत्प्रवर्त्तते, पयोरूपेण कर्मणा सकर्मकत्वात् । न चैवं सकर्मकत्वादेव कर्मवदित्यतिदेशो न भविष्यतीति वाच्यम्, दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोरिति प्रतिप्रसवात् । न च बहुलग्रहणादेव प्रवृत्तिः, तस्य भाष्ये प्रत्याख्यातत्वादिति दिक् ।

वतिग्रहणन्तु शक्यमकर्तुम् । तथाहि, लकारवाच्यस्य कर्तुः कर्मसंज्ञैवास्तु । न च कर्मसंज्ञया कर्तृसंज्ञाया बाधः, एकसंज्ञाधिकारादन्यत्र संज्ञानां समावेशात् । न चैवं सकर्मकत्वाभावे लो न स्यादिति वाच्यम्, आनुपूर्व्या सिद्धत्वात् । कर्मसंज्ञा हि लकारोत्पत्तिं प्रतीक्षते, लकारवाच्यस्यैव कर्तुस्तद्विधानात् । ततः प्राक् चाकर्मकत्वानपायेन "भावे चाकर्मकेभ्य" (पा०सू०१-३-६१) इति भावे कर्तरि च लविधेरप्रवृत्तत्वात् । नन्वेवमपि यगात्मनेपदे न स्यातां, शुद्धयोः कर्मकर्त्रोः सावकाशयोर्यक्षपोः परत्वात् शप्प्रसङ्गात्, "भावकर्मणोः" (पा०सू०१-३-१३) इत्यात्मनेपदस्य "शेषात्कर्तरि" (पा०सू०१-३-७८) इति परस्मैपदस्य च विप्रतिषेधेन परत्वात्परस्मैपदप्रसङ्गाच्चेति चेत्? न, भावकर्मणोर्विहितेन यका अपवाद्भूतेन आक्रान्तविषयं परिहृत्य सार्वधातुके शबिति उत्सर्गस्य प्रवृत्तिसम्भवात् कर्त्तरिशबिति सूत्रे कर्तृग्रहणमतिरिच्यते । तस्यैतत्फलं—"कर्तैव यः कर्ता तत्र शबादयो यथा स्युः कर्मकर्त्तरि मा भूवन्" इति । नन्वस्मिन् हरदत्तपक्षे "न दुह" (पा०सू०३-१-८९) इत्यादिना यकि निषिद्धे शप् न स्यात् । तथा च लिङ्लिटोरिव निर्विकरणप्रयोगापत्तिरिति चेत्? एवं तर्हि कर्त्तरीति योङो विभज्यते, भावकर्मणोरित्यत्रापि भावे, कर्मणि चेति । ततः कर्मणीत्यनुवर्त्य कर्मणि कर्त्तरि यक् भवति शपोऽपवादः । न दुहेत्यादौ अपवादाभावात्पुनरुत्सर्गस्य स्थितिः । एतच्च व्याख्यानं यग्विधावेव भाष्ये स्थितम् । एवन्तावद्यक् सिद्धः, न दुहस्नुनमामिति लिङ्गाच्च । तथा "कर्त्तरि कर्म" (पा०सू०१-३-१४) इत्यतः "कर्त्तरि" इत्यनुवर्त्य "कर्तैव यः कर्ता तत्र परस्मैपदं, न तु कर्मकर्त्तरि" इति व्याख्यानादात्मनेपदम् । तस्माद्वत्करणे त्यक्तेऽपि सर्वमिष्टं सिद्ध्यतीति स्थितम् । क्रियमाणे तु वत्करणे अतिदेशोऽयमिति स्पष्टमेव । स च षोढा-रूपनिमित्ततादात्म्यव्यपदेशशास्त्रकार्यातिदेशभेदादिति "स्थानिवत्" (पा०सू०१-१-५६) सूत्रे व्युत्पादितम् । इह तु आदितस्त्रयाणामसम्भ-



वः । व्यपदेशातिदेशस्तु संज्ञापक्षान्न भिद्यते । तत्र वत्करणं व्यर्थम् ।  
अतो द्वावेव शिष्येते । तत्रापि शास्त्रातिदेशो यगात्मनेपदसिद्ध्यर्थं पूर्वो-  
क्तयत्न आस्थेय इति क्लिष्टता । प्रधानं च कार्यं तदर्थत्वादतिदेशान्त-  
राणाम् । अतः कार्यातिदेश एवायम् । न चास्मिन्पक्षे द्वितीयाऽप्यति-  
दिश्येत, तथा च भिद्यते कुसुलेनेति भावे लकारे कर्तरि द्वितीया  
स्यादिति वाच्यम्, “लवाच्यस्यैव कर्तुः कर्मवदतिदेशः” इत्युक्तत्वात् ।  
न चैवमपि ‘भिद्यते कुसुलः’ इत्यत्र दोषापत्तिः, अभिहितत्वेन द्वितीया-  
या अपवृत्तेः । नन्विह अनभिहिताधिकारो नास्तीति चेत् ? सत्यम् ।  
तथापि वत्करणसामर्थ्यात् यथाऽनभिहिते कर्मणि प्रत्ययः तथैवानभि-  
हिते कर्तर्यपि लभ्येत, तेन अभिधानमस्तीत्युक्तमेव । ननु निवृत्तप्रेष-  
णा लुनातिभिनत्यादयोऽकर्मकाः द्विधा भवतीतिवत्, तत्कथं तत्कर्तुः  
कर्मणा तुल्यक्रियत्वम् इति चेत् ? न, नह्यस्मिन्प्रयोगे यत्कर्म तेन तु-  
ल्यक्रियतां ब्रूमः, किं तर्हि प्रयोगान्तरे यत्कर्म तेन । नन्वेवं ‘पचत्योदनं  
देवदत्तः’ ‘राध्यत्योदनः स्वयमेव’ इत्यादावतिप्रसङ्ग इति चेत् ? अत्र  
वार्तिकम्—

कर्मदृष्ट्येत्समानधातौ (का०वा०) ॥ इति । न्यायसिद्धं चेदं, धातो-  
रिति ह्यनुवर्तते कर्तृकर्मणी च धातोरन्यत्र न सम्भवत इति सामर्थ्या-  
देव सिद्धे तदनुवृत्तिरेकत्वविवक्षार्था । यस्मिन्नेव धातौ यत्कर्म तेन  
तुल्यक्रियस्तस्यैव कर्तेति । तेन धातुभेदे न भवति ।

स्यादेतत्, एकस्यापि रूपभेदेन कर्तृत्वं कर्मत्वं च दृश्यते, ‘आत्मा-  
नमात्मना वेत्ति’ इति यथा । एवं च ‘ओदनः पच्यते’ इत्यादावपि  
प्राकृते कर्मण्येव लकारोऽस्तु तर्हि निवृत्तप्रेषणत्वाश्रयणेन, किञ्च  
कर्मवदित्यतिदेशेन ? न चैवं ‘भिद्यते कुसुलेन’ इति भावे लो न स्या-  
दिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः । कर्मण्येव हि सोऽस्तु ।

अत्राहुः, एवं सति “न दुहस्नुनमाम्” (पा०सू०३-१-८९) इत्या-  
दिना यकिचणोः प्रतिषेधस्य विषयविभागो न लभ्येत । अपि च ‘नमते  
दण्डः’ कारयते अचीकरत वा कटः’ इत्यादौ यकिचणोः प्रतिषिद्धयोरपि  
शृण्वञ्चौ न स्याताम्, अकर्तृत्वात् । किं च ‘पचत्योदनः’ इत्यपि  
प्रयोगः प्रसज्येत । तस्मान्निवृत्तप्रेषणतामाश्रित्यातिदेशसूत्रमारब्ध-  
व्यमेवेति ।

करणेन तुल्यक्रियः कर्त्ता बहुलं कर्मवदिति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥  
परिवारयति कण्टकैर्बुक्षम् । परिवारयन्ते कण्टका वृक्षम् । अत्रात्मनेपदं  
सिध्यति । न च “णिचश्च” (पा०सू०१-३-७४) इत्यनेन तत्सिद्धिः,



क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वे सत्येव तत्प्रवृत्तेः । इह तु तदभावेऽप्यात्म-  
नेपदस्येव्यमानत्वात् । बहुलग्रहणाच्चेह—‘साध्वसिद्धिनात्ति’ ।

सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः (का०वा०) ॥ अन्योन्यमाश्लिष्यतः ।  
अन्योन्यं स्पृशतः । एतच्च न्यायासिद्धम् । तथाहि, कर्मस्थया क्रिय-  
या तुल्या क्रिया यस्य कर्तुरित्युक्ते सन्निधानादिदं गम्यते—यत्कि-  
यावेशादसौ कर्ता सैव चेत्कर्मत्वोपयोगिनीति । न चैतदिहास्ति, स्व-  
यमनाश्लिष्यतोऽपि परेणाश्लिष्यमाणस्य कर्मत्वसम्भवात् । परस्मवे-  
तसंयोगाख्यफलानुकूलव्यापारयोश्चलनात्मकयोरेकधातूपात्तयोरपि स्व-  
रूपेणात्र भेदात् । एतेन ‘भिद्यमानः कुसुलः पात्राणि भिनत्ति’ इत्यपि  
व्याख्यातम् । द्विधाभवनस्य दैवगत्या कुसुलनिष्ठत्वेऽपि पात्रनिष्ठकर्म-  
तायामप्रयोजकत्वात् । स्वयमभिद्यमानोऽपि हि कुसुलः उपरि पतन्  
पात्राणि भिनत्त्येव । नन्वेवमपि पचिरुधादीनां द्विकर्मकाणामेकस्य क-  
र्मणः कर्तृत्वेऽप्यपरेण सकर्मकत्वावस्थायां कर्मवद्भावः प्राप्तः, तन्निषे-  
द्धुं सकर्मकाणां प्रतिषेधवचनं कर्तव्यमेवेति चेत् ? योगविभागात्सि-  
द्धम् । तथाहि,

तपेः ॥ तपेरेव सकर्मकस्य न त्वन्यस्य । ततः, तपः कर्मकस्यैव ।  
तपेरित्यनुवर्तते । यद्वा वार्तिके योगविभागः करिष्यते—

दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोः (का०वा०) ॥ अत्र “दुहिपच्योः सकर्म-  
योः” इत्येकं वाक्यं नियमार्थं—‘दुहिपच्योरेव न त्वन्येषाम्’ इति । दुग्धे  
गौः पयः । तस्मादुदुम्बरः सलोहितं फलं पच्यते । । गौरुदुम्बरश्चात्र  
कर्मकर्ता । “अकाशितं च” (पा०सू-७-४-५१) इति सूत्रे दुह्यादिपरि-  
गणने पचिरपि बोध्य इत्युक्तं प्राक् । तत्रेदं वार्तिकमुपपष्टम्भकमि-  
त्यवधेयम् ।

ओदनं पचतीत्यादावतिप्रसङ्गनिवारणाय “बहुलम्” इति द्वि-  
तीयं वाक्यम् । तच्च प्रत्याख्यातं भाष्ये । दुहिपच्योरिति हि कर्मकर्तृ-  
विषयकम्, कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रिय एव विधायकं नियामकं वा ?  
उभयथाऽपि ‘ओदनं पचति’ इत्यादौ प्रसङ्ग एव नास्तीति । न च कर्म-  
कर्तृयैव परस्मैपदार्थं बहुलवचनं, तस्यानिष्टत्वादिति दिक् ।

सृजियुज्योः इयंस्तु (का०वा०) ॥ अनयोः सकर्मकयोः कर्ता बहुलं  
कर्मवद्भवतीति वक्तव्यम् । यगपवादश्च इयन् ।

सृजेः श्रद्धोपपन्ने कर्तृयैवेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ सृज्यते स्रजं  
भक्तः, श्रद्धया निष्पादयतीत्यर्थः । असर्जि, श्रद्धया निष्पादितवान् ।  
युज्यते ब्रह्मचारी योगम् । इयनि सति प्रकृतेरासुदात्तत्वं भवति । यांके



तु लसार्धधातुकानुदात्तत्वे यक एवोदात्तत्वं स्यात् । कौमुद्यां तु “श्रद्धा-  
वत्कर्तृकात् सज्जेयविचणौ कर्तरि इति के चित्” इत्युक्तम् । तत्र यणि-  
त्यशुद्धम्, आत्मनेपदानुक्तेश्च न्यूनतेति दिक् ।

भूषाकर्मकिरादिसनां चान्यत्रात्मनेपदात् (का०वा०) ॥ भूषावाचिनां  
किरादीनां सन्नन्तानां च यक्चिणौ न भवत इति वक्तव्यमित्यर्थः । अलं  
कुरुते कन्या स्वयमेव । अलमकृत । भूषाफलस्य शोभाख्यस्य कर्मणि  
दर्शनात् कर्मस्था भूषा । प्यन्तानां तु भूषार्थानां वक्ष्यमाणेनापि यक्  
चिणोः प्रतिषेधेन सिद्धत्वाग्नेह मुख्योदाहरणता-भूषयते कन्या स्वय-  
मेव । अबुभूषत कन्या स्वयमेव । किरादि—अवकिरते हस्ती स्वयमे-  
व । अवाकीर्ष्ट हस्तिनं कश्चित् । पांस्वादिनाऽवकिरति । तत्र सौकर्यात्  
हस्ती कर्तृत्वेन विवक्ष्यते । गिरते । अगीर्ष्ट । किरादिस्तुदाद्यन्तर्गणः ।  
सन्—चिकीर्षते कंठः स्वयमेव । अचिकीर्षिष्ट । इहेच्छायाः कर्तृस्थ-  
त्वेऽपि करोतिक्रियापेक्षं कर्मस्थक्रियत्वम् ।

तपस्तपःकर्मकस्यैव (पा०सू०३-१-८८) ॥ तप सन्तापे (भा०प०  
१०१०) । अस्य कर्त्ता कर्मवत्स्यात् स च तपःकर्मकस्यैव नान्यकर्मक-  
स्य । क्रियाभेदाद्विध्यर्थमेतदिति वृत्तिः । तथाहि, उपवासादीनि तपां-  
सि तापसं तपन्ति, दुःखयन्तीत्यर्थः । तथा च तापसस्य कर्मत्वे तपे-  
र्दुःखनमर्थः । कर्तृत्वे तु अर्जनमर्थः । तापसस्तप्यते, तपोऽर्जयतीति  
यावत् । नन्वेवमपि शरीरसन्तापलक्षणक्रिया अवस्थाद्वयेऽपि तुल्या,  
नहि शरीरसन्तापादन्यत् अर्जनं नाम तापसस्य व्यापारोऽस्ति । तथा  
च भाष्यसम्मतं नियमार्थत्वमेव वृत्तिकृता कुतो नादृतमिति चेत् ?

अत्राहुः, वस्तुतश्शरीरसन्तापस्य सत्त्वेऽपि शब्दान्न तत्त्वेन भानं  
किं त्वर्जनत्वेनैव । अन्यथा तपसः कर्मत्वानुपपत्तेः । तथाच तुल्याक्रि-  
यत्वाभावाद् विध्यर्थतैवेति । लुङि-अतप्त तपस्तपसः । “तपोऽनुता-  
पे च” (पा०सू०३-१-६५) इति चिणः प्रतिषेधात्सिच् । तस्य “झलो  
झलि” (पा०सू०८-२-२६) इति लोपः । तपःकर्मकस्येति किम् ? उत्तपति  
सुवर्णं सुवर्णकारः । एवकारस्तु व्यर्थ एव । श्रुतस्य तस्य अन्वयो वक्त-  
व्य इति चेत् ? सत्यम्, वाक्यं भिरवा कथंचिदन्वयः प्रदर्शित एव ।

न दुहस्नुनमां यक्चिणौ (पा०सू०३-१-८५) ॥ एषां यक्चिणौ न  
स्तः । कर्मवदतिदेशेन प्राप्तयोरयं निषेधः, “अनन्तरस्य” (प०भा०  
६३) इति न्यायात् । तेन शुद्धे कर्मणि भावे स्त एव । दुहेरनेन यक्  
निषिध्यते । चिण् तु “दुहश्च” (पा०सू०-३-१-६३) इति सूत्रेण प्रागेव  
विभाषितः, दुग्धे गौः स्वयमेव । अदुग्ध, अदोहि गौः स्वयमेव । यकि



प्रतिषिद्धे शप्, अदादित्वात्तस्य लुक्, “दादेः” (पा०सू०८-२-३२) इति घः, “झषस्तथोः” (पा०सू०८-२-४०) इति धत्वम्, जश्त्वम् । अप्रधाने दुहादीनामिति यस्मिन्कर्मणि लकारस्तस्य कर्तृत्वविवक्षा, प्रधानं कर्म तु कर्मैव ।

‘स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी’ ।

इतिवत् । चिणभावे कसः, लुग्वादुहेति लुक् । प्रस्नुते । प्रास्नोष्ट, चिणि प्रतिषिद्धे सिच् । नमते दण्डः स्वयमेव । अनंस्त । अन्तर्भावि-  
तण्यर्थोऽत्र नमिः । तत्र यथा ‘नमयति दण्डं देवदत्तः’ ‘नमयते दण्डः स्वयमेव’ इति ण्यन्तस्य कर्मस्थक्रियत्वम्, एवमस्यापि द्रष्टव्यम् ।

यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमणिश्रिब्रूजामुपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ कारयते कटः स्वयमेव । अचीकरत । उच्छ्रयते दण्डः स्वयमेव । उद-  
शिभ्रियत । ब्रूते कथा स्वयमेव । अवोचत । वचनं शब्दप्रकाशनफल-  
त्वात्कर्मस्थम् । भारद्वाजीयाः पठन्ति—

णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूजात्मनेपदाकर्मकानामुपसंख्यानम् ॥ इति णीति  
णिङ्णिचोः सामान्यग्रहणम् । णिजुदाहृतः । णिङः—पुच्छमुदस्यति  
उत्पुच्छयते गौः । अस्यान्तर्भावितण्यर्थायाम्—उत्पुच्छयते गाम् ।  
पुनः सौकर्यातिशयेन कर्तृत्वविवक्षायाम्—उत्पुच्छयते गौः स्वय-  
मेव । उदपुपुच्छत । इह ण्यन्तात् यक्चिणोः प्रतिषिद्धयोः शप्च-  
ङौ भवतः । कौमुद्यां तु कर्मकर्तरि चङ् नेत्याह । अकारयिष्टेत्युदाहृतं  
तदशुद्धमेव । ग्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे (चु०प०३०५, ३०६) । चुरादावाधृषी-  
यौ । तयोर्णिजभावपक्षे ग्रहणम् । ग्रन्थति ग्रन्थं देवदत्तः । ग्रन्थति मे-  
खलाम् । ग्रन्थते ग्रन्थः स्वयमेव । अग्रन्थिष्ट । ग्रन्थते । अग्रन्थिष्ट ।  
क्रथादावपि इमौ पठ्येते, तयोरपीह ग्रहणम् । ग्रन्थीते ग्रन्थीते स्वयमेव ।  
आत्मनेपदाविधावकर्मका ये धातवो निर्दिष्टास्ते यदाऽन्तर्भावितण्यर्थाः  
पुनश्च निवृत्तप्रेषणास्त इहोदाहरणम् । तद्यथा—“वेः शब्दकर्मणः” “अक-  
र्मकाच्च” (पा०सू०१-३-३४, ३५) । विकुर्वते सैन्धवाः, वलगन्तीत्यर्थः ।  
तान्विकरोति, वलगयतीत्यर्थः । पुनः सौकर्यात्कर्तृत्वे—विकुर्वते सैन्ध-  
वाः स्वयमेव । व्यकृषत । यत्तु वृत्तौ पठ्यते ‘आहन्ति माणवकम्,  
आहते माणवकः स्वयमेव’ इति, तदयुक्तम्, ‘आहन्ति माणवकम्’ ।  
इत्यस्य सकर्मकत्वादात्मनेपदाभावाच्चेति हरदत्तः ।

अन्ये त्वाहुः—आत्मनेपदाकर्मकेति धातूपलक्षणं, हन्तिश्चायम् “आ-  
ङो यमहनः” (पा०सू०१-३-२८) इत्यत्र यदा कर्माविवक्षया अकर्मकः,  
तदा आत्मनेपदस्य निमित्तम् । तस्यात्र सकर्मकत्वेऽपि अविरुद्धमुदा-  
हरणमिति ।



कुषिरजोः प्राचां इयन् परस्मैपदं च (पा०सू०३-१-९०) ॥ कुष निष्कर्षे (कन्या०प०४६) । रञ्ज रागे (भ्वा०उ०१०२५) । अनयोर्धात्वोः कर्मकर्तरि यक् न स्यात् किन्तु इयन् परस्मैपदश्च । आत्मनेपदापवादः । कुष्यति पादः स्वयमेव । रज्यति वस्त्रं स्वयमेव । प्राचाङ्ग्रहणं विकल्पार्थम् । कुष्यते । रज्यते । “न दुह” (पा०सू०३-१-८९) इति सूत्रात् यक् नेत्यनुवर्त्य तस्मिन्नेव स्थले इयन् विहितः । तत्सन्नियोगशिष्टं च परस्मैपदम् । तेन आशीर्लिङ्गलिटोः स्यादीनां च विषये इयन् परस्मैपदे न भवतः । कोषिषीष्टपादः स्वयमेव । रङ्गीष्ट वस्त्रं स्वयमेव । चुकुषे । ररञ्जे । कोषिष्यते । रङ्क्ष्यते । अकोषि । अरञ्जि इत्यादि । इयन्त्यकोः स्वरे नुमि च विशेषः—कुष्यन्ती जङ्गा । इयनि “शब्दयनोर्नित्यम्” (पा०सू०७-१-८१) इति नुमागमः, निस्वादाद्युदात्तश्च । यकि तु “आच्छीनद्योः” (पा०सू०७-१-८०) इति नुम्विकल्पः लसार्वाधातुकानुदात्तत्वेन यक् एवोदात्तत्वं च स्यात् ।

धातोः (पा०सू०३-१-९१) ॥ आतृतीयसमाप्तेरधिकारोऽयम् । यद्यपि “धातोरेकाचो हलादेः” (पा०सू०३-१-२२) इति सूत्राद्धातुग्रहणमनुवर्तत एव, तथापि आर्द्धधातुकसंज्ञाया आश्रितशब्दव्यापारत्वलाभाय पुनर्धातुग्रहणम् । अन्यथा ‘लुभ्याम्’ ‘पुभ्याम्’ इत्यादौ भ्यामादेरिट् प्रकृतेर्गुणश्च स्यात् । धातोरित्येवमविधानात् न भवति । तथा कृतसंज्ञा उपपदसंज्ञा चास्मिन्नेव धात्वधिकारे यथा स्यादित्येवमर्थमपीदम् । अन्यथा पूर्वत्रापि स्यात्, ततश्च ‘करिष्यति’ इत्यत्र स्यप्रत्ययस्य कृतसंज्ञायां कृदन्तस्य प्रातिपदिकत्वे सोरुत्पत्तिः स्यात्, एकवचनस्यैतत्सर्गिकत्वात् । “प्रातिपदिकार्थ” (पा०सू०२-३-४६) इति सूत्रे वचनग्रहणाच्च । तथा “चिल लुङि” (पा०सू०३-१-४३) इत्यस्य लुङन्ते उपपदे चिलरित्यर्थः स्यात् । वासरूपविधेश्च पूर्वत्र प्रवृत्तौ कसादिभिः सिचः समावेशः स्यादिति । तस्मात् धातोरिति कर्तव्यमिति स्थितम् । एतच्च शक्यं प्रत्याख्यातुम् । तथाहि, “शमि धातोः” (पा०सू०३-२-१४) इति यद्धातुग्रहणं तदेव द्वितीयं सार्वधातुकार्द्धधातुकसंज्ञयोरनुवर्तिष्यते । कृदुपपदसंज्ञे वासरूपविधिश्च अधिकारेणैव व्याख्यास्यन्ते । “प्रत्ययः” “परश्च” (पा०सू०३-१-१, २) इत्यादिवत् । तेन पूर्वत्र न तत्प्रसङ्गः ।

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (पा०सू०३-१-४२) ॥ सप्तम्यन्ते पदे “कर्मणि” इत्यादौ प्रतिपाद्यत्वेन स्थितं कुम्भादिकं सप्तमीस्थं तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्, तस्मिन्श्च सत्येव वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यात्, महासंज्ञाकरणसामर्थ्यात् । पदमत्र संज्ञि । तेन समर्थपरिभाषा व्याप्रियते । संज्ञाप्रदेशा “उपपदमतिङ्” (पा०सू०२-२-१९) इत्यादयः ।



कृदतिङ् (पा०सू०३-१-२३) । अस्मिन् धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्सङ्गः स्यात् । कर्तव्यम् । करणीयम् । अतिङ् किम् ? चीयात् । सङ्ज्ञाप्रदेशः कृत्तद्धितसमासाश्चेत्येवमादयः । “अतिङ्” इति शक्यमकर्तुम् । कथं चीयादिति ? ज्ञापकात्सिद्धम् । “अकृत्सार्वधातुकयोः” (पा०सू०७-४-२५) इति सूत्रे अकृदित्येव सिद्धे पुनः सार्वधातुकग्रहणं ज्ञापयति ‘न तिङां कृत्सङ्ज्ञा भवति’ इति । न च श्यन्निवृत्त्यर्थं सार्वधातुकग्रहणमिति वाच्यम्, दिवादिषु ह्रस्वान्तस्य दीर्घाहस्याभावेन व्यावर्त्याप्रसिद्धेः । भाष्ये तु तिङां कृत्सङ्ज्ञायामिष्टापत्तिः कृता । न चैवं तिङन्तस्य प्रातिपदिकत्वात्स्वाद्युत्पत्तिः स्यादिति वाच्यम्, तिङा एकत्वादरुक्तत्वात् । न च वचनग्रहणादुक्तेऽपि तदापत्तिः, ‘एकः’ इत्यादौ चरितार्थत्वात् । “अतिशयने तमविष्णौ” “तिङ्श्च” (पा०सू०५-३-५५, ५६) इत्यनेन तिङन्तानामसुबन्तत्वज्ञापनात् । न चैवमपि ‘पचति’ ‘पठति’ इत्यत्र “ह्रस्वस्य पिति कृति” (पा०सू०६-१-७१) इति तुक्प्रसङ्गः, तुग्विधौ “धात्वादेः” (पा०सू०६-१-६४) इति सूत्रात् धातुग्रहणानुवृत्तेः । एवमपि ‘चिकीर्षति’ ‘जिहीर्षति’ इत्यादौ स्यादिति चेत् ? न, शपा व्यवधानात् । एकादेशे कृते नास्ति व्यवधानमिति चेत् ? न, एकादेशस्य पूर्वाविधौ स्थानिवद्भावात् । न च स्थानिवद्भावं बाधित्वा परत्वादन्तवद्भावः, तस्य प्रत्याख्यास्यमानत्वात् । न चैवमपि “अतिङ्” इति प्रत्याख्यायमाने ‘पचेरन्’ इत्यत्र प्रातिपदिकान्तत्वाज्जलोपः स्यादिति वाच्यम्, “झस्य रन्” (पा०सू०३-४-१०५) इति नकारोच्चारणसामर्थ्यादेव लोपाप्रवृत्तेः । इह तर्हि ‘चीयात्’ इति कृद्यकारत्वादीर्घो न स्यादिति चेत् ? नैष दोषः, सार्वधातुकप्रतिषेधो ज्ञापयति “अकृतीति प्रतिषेधः तिङ्क्षु न प्रवर्तते” इति । न चैवमपि तिङ्समासे कृदुत्तरपदस्वरः स्यादिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः, ‘यो जान एव पर्यभूषात्’ इत्यादौ तथैव पाठस्य निर्विवादत्वात् गतिकारकोपपदात्कृत्” (पा०सू०६-२-१३९) इति सूत्रे कृद्ग्रहणस्य प्रत्याख्यास्यमानत्वाच्चेति दिक् ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयाध्यायस्य प्रथमे पादे पञ्चममाहिकम् ।

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (पा०सू०३-१-२४) ॥ परिभाषेयम् । अस्मिन्धात्वधिकारे स्यधिकारव्यतिरेकेण यत्रासरूपोऽपवादप्रत्ययो विधीयते तत्र वेत्युपतिष्ठते । एवञ्च “ददाति दधात्योर्विभाषा” (पा०सू०३-१-१३९) इत्यादिवद्वैकल्पिकत्वेनैव अपवादे शास्त्रात्प्रमिते तद्वदेव पक्षे उत्सर्गः प्रवर्तते । इगुपधज्ञाप्रकीर्णः कोऽपवादः तद्विषये ण्वुल्तृचावपि भवतः ।



विक्षेपकः, विक्षेप्ता, विक्षिपः । नचैवम् “आतोऽनुपसर्गे कः” (पा०सू०३-२-३) इति कस्य विषये “कर्मण्यण्” (पा०सू०३-२-१) इत्यपि पक्षे प्रवर्तते । सरूपोऽसाविति चेत् ? किं ततः ? गुणवृद्धिशास्त्रेष्विक्पदस्येव कविधौ वेति पदस्य उपस्थितिर्हि ज्ञातैव । अन्यथा ण्वुलादेरपि दुर्लभत्वात् । सत्याश्च वेत्यस्योपस्थितौ कथं सरूपस्यापि पक्षे प्रवृत्तिर्न भवेदिति चेत् ? सत्यम्, असरूपग्रहणसामर्थ्यात् यम्प्रत्यसरूपता तं प्रत्येवास्य पाक्षिकता, अन्यं तु प्रति बाधकतैवेति न कश्चिद्दोषः । ततश्च असरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य वा बाधकः स्यादिति फलितोऽर्थः । अस्त्रियां किम् ? चिकीर्षा । अत्र क्तिन्न भवति । स्त्रीग्रहणं स्वर्यते । स्वरितेनाधिकारगतिर्भवतीति “स्त्रियां क्तिन्” (पा०सू०३-३-९४) इत्यधिकारे विकल्पो नेति सिद्धान्तः । यदि तु स्त्रियामभिधेयायां नेत्युच्येत तदा ‘विक्षेपिका’ ‘विक्षेप्त्री’ इति कविषये ण्वुलत्त्वौ न स्याताम् । अथापि ‘स्त्रियाम्’ इत्येवंशब्दमुष्कार्यं विहिते निषेधः इत्युच्येत, तर्हि ‘व्यावक्रोशी’ ‘व्यावक्रुष्टः’ इति कर्मव्यतिहारे णच्चा विषये क्तिन्न स्यात् । द्वयोरपि ‘स्त्रियाम्’ इत्युच्चार्यं विधानात् ।

अत्र केचित्—उत्सर्गापवादयोर्द्वयोरपि इत्यधिकारनिवेशितत्वे सति प्रतिषेधोऽयमित्याहुः । अन्ये तु अपवादमात्रस्यापीति । तत्राद्यं मते ‘आसना’ ‘आस्या’ इत्यधिकारविहितेनापि युच्चाऽपवादेन सह ऋहलोऽर्प्यतः (पा०सू०३-१-१२४) समावेशः सिध्यति । घञस्तु क्तिनादिनाऽनभिधानात् समावेशः । द्वितीयपक्षे तु घञः क्तिन्नादिभिरसमावेशः सिध्यति । ‘आस्या’ इत्यत्र तु “कृत्यल्युटो बहुलम्” (पा०सू०३-३-११३) इति ण्यदिति विवेकः । नन्विह सारूप्यं प्रयोगे उपदेशे वा ? नाद्यः, ‘ग्रामणीः’ ‘ग्रामर्ण्यः’ इति क्विबन्धादिविषयेऽणादीनामप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न हि क्विबन्दादयः प्रयोगे रूपवन्तः, लोपविधानात् । नान्त्यः, अनुबन्धभिन्नेषु कणप्रभृतिष्वतिप्रसङ्गादिति चेत् ? न, अनुबन्धानामनेकान्तत्वेन द्वितीयपक्षे दोषाभावात् । एकान्तत्वेऽपि “नानुबन्धकृतमसारूप्यम्” (प०भा०८) “ददाति दधात्योर्विभाषा” (पा०सू०३-१-१३९) इति लिङ्गात् । अन्यथाऽनुबन्धकृतादसारूप्यादेव ‘ददः’ ‘दधः’ इति शविषये ‘दायः’ ‘धायः’ णोऽपि इति भविष्यतीति किं विभाषाग्रहणेन ? अनित्येयं वासरूपपरिभाषा “अहं कृत्यतृचश्च” (पा०सू०३-३-१६९) इत्यत्र कृत्यतृजग्रहणाल्लिङ्गात् । तेन “कल्युटतुमुन्खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्न भवति” (प०भा०७०) इति सिद्धान्तः । हसितं हसनं छात्रस्य । अत्र कल्युटविषये घञ् न । तुमन-इच्छति भोक्तुम् । अत्र “इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ” (पा०सू०३-३-१५७)



इति लोणन भवति । लिङ् तु भवत्येव, “लिङ् च” (पा०सू०३-३-१५९) इति वचनात् । एवं चास्मादेव नियमादिह लोट् सुपरिहरः । अतोऽत्र तु मुनग्रहणमापाततः । खलर्थः—आतोयुच्, ईषत्पानः । अत्र खल् न भवति । ननु स्व्यधिकारादूर्ध्वं “वाऽसरूप” (पा०सू०३-१-९४) न्यायो नास्तीत्येवाश्रीयताम् । मैवम्, ‘आसित्वा भुङ्क्ते’ ‘आस्यते भोक्तुम्’ इत्याद्यसिद्धिप्रसङ्गात् । इह हि भोजनार्थत्वादासनस्य पूर्वकालता गम्यते । क्त्वाप्रत्ययश्च तुमर्थीधिकाराद्भावे तत्रैव च लकार इति समानविषयत्वाद्वाध्यबाधकभावः स्यात् । “प्रैषातिसर्ग” (पा०सू०३-३-१६३) इति सूत्रे “स्त्रियां क्तिन्” (पा०सू०३-३-९४) इत्यत ऊर्ध्वं वासरूपविधेरभावादिति कौमुदीग्रन्थस्तु आकरविरुद्ध इति दिक् ।

कृत्याः (पा०सू०३-१-९५) । अधिकारोऽयम् । अवधिविशेषस्तु ज्ञापकात्सिद्धः । “अहं कृत्यतृचश्च” (पा०सू०३-३-१६९) इति सूत्रे ‘कृत्याः’ इत्येव वक्तव्ये तृजग्रहणं योगापेक्षं ज्ञापकम्—“ण्वुल्लुच्चावित्येतद्योगात्प्राक् कृत्यसंज्ञाऽधिक्रियते” इति । संज्ञाप्रदेशाः—“कृत्यानां कर्तरि वा” (पा०सू०२-३-३१) इत्यादयः । बहुवचनमनुक्तसमुच्चयार्थम् । तेन “कैलिमर उपसंख्यानम्” (का०वा०) इत्यादि सूत्रेणैव सूचितं भवति । अत्र सूत्रे वृत्तिकारः “प्राङ् ण्वुलः” इति प्रचिक्षेप ।

तव्यत्तव्यानीयरः (पा०सू०३-१-३६) ॥ धातोरेवैते प्रत्ययाः स्युः । तकाररेफौ स्वरार्थौ । कर्त्तव्यम् । करणियम् ।

वसेस्तव्यकर्तरि णिञ्च (का०वा०) ॥ वस निवासे (श्वा०प०१०३०) इत्यस्य ग्रहणम्, न तु वस आच्छादने (अ०आ०१३) इत्यस्य लुग्विकरणस्य । तयोरेवेति वचनात् कर्त्तरि न प्राप्नोतीति वचनम् । वसतीति वास्तव्यः । तद्धितान्तो वा । वास्तुनि भवो वास्तव्यः । दिगादिवाद्यत् । ‘अवास्तव्यः’ इत्यत्र स्वरभेदोऽपि नास्ति । तव्यत्प्रत्यये हि “कृत्योक्तेणुच्चावदित्यश्च” (पा०सू०६-२-१६०) इत्यन्तोदात्तत्वम् । यत्प्रत्यये तु “ययतोश्चातदर्थे” (पा०सू०६-२-१५६) इत्यनेनेति ।

कैलिमर उपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ कृत्या इति बहुवचनेनैतत्सूचितमित्युक्तम् । ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः । रेफः स्वरार्थः । पचेलिमा माषाः । पक्तव्याः । मिदेलिमाः सरलाः । भेत्तव्याः । शुद्धे कर्मणि प्रत्ययो भाष्ये स्थितः । वृत्तिकारस्तु कर्मकर्तरि चायमिष्यते इत्याह । तद्भाष्यविरुद्धम् ।

अचो यत् (पा०सू०३-१-९७) ॥ अजन्ताद्धातोर्त्यस्यात् । चेयम् । जेयम् । ननु पूर्वसूत्रे एव यदपि निर्दिश्यताम्, अजग्रहणं च मास्तु, हल-



भूताण्यतं वक्ष्यति, परिशेषादजन्तेभ्य एव यद् भविष्यति इति चेत् ?  
अजन्तभूतपूर्वादपि यथा स्यादित्येवमर्थमिदम् । दित्स्यं, धित्स्यम् ।  
इह हि दाओ धाजश्च सन्नन्तस्य 'दित्स' 'धित्स' इति स्थिते आर्द्धधा-  
तुके इति विषयसप्तमीमाश्रित्य सनोऽतो लोपे कृते साम्प्रतिकं हलन्त-  
त्वमस्तीति ण्यत्स्यात् । अज्ग्रहणान्तु भुतपूर्वमजन्तत्वमाश्रित्य यद्ग-  
वति । तेन, "यतोऽनावः" (पा०सू०६-१-२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् । ण्यति  
तु कृते तित्स्वरितत्वं स्यात् । 'चिकीर्ष्यम्' इत्यादौ तु ण्यद्यतोर्विशेषो  
नास्ति । "यतोऽनान्नः" इत्यत्र द्वयज्ग्रहणानुवृत्तेः । "आर्द्धधातुके"  
इत्यस्य परसप्तमीत्वे तु इहाज्ग्रहणं न कर्त्तव्यमेव ।

तकिशसिचतियतिजनीनामुपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ तक् हसने  
(भ्वा०प०११७) । शसु हिंसायाम् (भ्वा०प०७२८) । चते याचने (भ्वा०  
उ०८९०) । यती प्रयत्ने (भ्वा०आ०३०) । जनी प्रादुर्भावे (दि०आ०४३) ।  
तक्यम् । शस्यम् । चत्यम् । यत्यम् । जन्यम् । अत्र जनैर्यद्विधानं "य-  
तोऽनावः" (पा०सू०६-१-२१३) इति स्वयर्थं "जनिवध्योश्च" (पा०सू०  
७-३-३५) इति वृद्धिनिषेधेन ण्यत्यपि रूपे विशेषाभावात् । इह शं-  
स्मिपि केचित्पठन्तीति हरदत्तः । तेन "तद्वाञ्छराशंस्यं राध्यं च"  
अत्राद्युदात्तः सिध्यति । अपाठपक्षे तु ण्यन्तादचो यति सिध्यतीति  
बोध्यमिति वदन्ति । तदेतत्सर्वम् "ईडवन्द" (पा०सू०६-१-२१४)  
श्रूयादिसुत्रविष्मरणसुलकत्वादुपेक्ष्यम् ।

हनो वा वध्यश्च (का०वा०) ॥ हन्तेर्वा यत्, तत्सन्धियोगेन च वधा-  
देशो वक्तव्य इत्यर्थः । वध्यः । घात्यः । यद्भावे ण्यत्, "हनस्तोऽचि-  
वणलोः" (पा०सू०७-३-३२) इति तत्त्वम् । "हो हन्तेः" (पा०सू०७-३-  
५४) इति कुत्वम् । यद्यपि 'वधमर्हतीति वध्यः' इति रूपं यदित्यनुवर्त-  
माने "दण्डादिभ्यः" (पा०सू०५-१-६६) इति तद्धितेन यताऽपि सिध्य-  
ति तथापि 'असिवध्यः' 'मुसलवध्यः' इत्यत्र समासो न सिध्येत् ।  
कृति पुनः "कर्त्तृकरणे कृता" (पा०सू०१-१-३२) इति सिध्यति । न च  
असिवधमर्हतीति विग्रहे कृतसमासादेव तद्धितोऽस्त्विति वाच्यम्,  
दण्डादिषु केवलस्य वधशब्दस्य पाठात् । तदन्तविधेश्च प्रतिषेधात्  
स्वरे भेदाच्च । असिवधशब्दाद्यति हि "तित्स्वरितम्" (पा०सू०६-  
१-१८५) इति स्वरितः प्रसज्येत । कृदन्तेन समासे तु कृदुत्तरपदप्रकृ-  
तिस्वरेण वध्यशब्द आद्युदात्तः । अत एव वध्यशब्देन तद्धितान्तेन  
सह "सुप्सुपा" (पा०सू०२-१-४) इति समास इत्यपि न वाच्यम्, अ-  
न्तोदात्तप्रसङ्गात् । वध्यशब्दे कृततद्धितान्ते प्रकारकृतविशेषस्य सत्त्वा-



च । एतेन “गिरौ डङ्छन्दसि” (का०वा०) इति वार्तिकप्रत्याख्यानपरं भाष्यमप्यपास्तम् । अत एव “कृतलब्धक्रीतकुशलाः” (पा०सू०४-३-३८) इत्यादीनां चारितार्थमिति दिक् ।

अत्रत्यभाष्यादिपर्यालोचनया असमस्तवध्यशब्दे विशेषाभाव इति लभ्यते । तथा च दण्डादिभ्य इत्येव सूत्रं, यच्चातुर्वर्तते । दण्डादिभ्यो य इति निरनुबन्धपाठस्तु प्रामादिक इति माधवो हन्तिधातौ स्फुटीचकार । हरदत्तग्रन्थपर्यालोचने तु इदं च वचनं यद्विधौ भाष्यादौ पठितमपि कयविविधौ “मृजेर्विभाषा” (पा०सू०३-१-११३) इत्यस्याग्रे एव पाठ्यमित्येव भाष्यतात्पर्यं युक्तम्, विकल्पाकरणेन लघुत्वादिति लभ्यते । तस्मिन्नपि पक्षे वध्यशब्दो धातुस्वरेणाद्युदात्तः, कयन्तुपित्वादनुदात्तः । न च नञ्समासे “ययतोऽघातदर्थे” (पा०सू०६-२-१५६) इत्यस्य प्रवृत्त्यभावेन स्वरे दोष इति वाच्यम्, “कृत्योकेऽणुच्चा-र्वादयश्च” (पा०सू०६-२-१६०) इत्यस्य प्रवृत्त्येष्टसिद्धेः । असमस्ते एव विशेषाभावस्य प्रतिपाद्यत्वाच्च ।

पौरुषपधात् (पा०सू०३-१-९८) ॥ पवर्गान्तादकारोपधात् धातो-र्यत् स्यात् । ण्यतोऽपवादः । शप्यम् । लभ्यम् । पोः किम् ? वाक्यम् । “चजोः कु घिण्यतोः” (पा०सू०७-३-५२) इति कुत्वम् । अदुपधा-त्किम् ? कोप्यम् । तपरकरणं किम् ? आप्यम् । कुप कोपने (दि०प० १२७) आप्ल व्याप्तौ (स्वा०प०१४) आभ्यां ण्यति तित्स्वरः । यति तु “यतोऽनावः” (पा०सू०६-१-२१३) इति स्यात् ।

शकिसहोश्च (पा०सू०३-१-९९) ॥ स्पष्टम् । शक्यम्, सह्यम् ।

गदमदचरयमश्चानुपसर्गे (पा०सू०३-१-१००) ॥ व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे सप्तमी । एभ्योऽनुपसर्गेभ्यो यत्स्यात् । गद्यम् । मद्यम् । चर्यम् । य-म्यम् । अनुपसर्गे किम् ? “न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम्” । प्रमाद्यम् । प्रचार्यम् । यमेः पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं वचनम् “अनुपसर्गादेव यथा स्यात् सोपसर्गान्मा भूत्” इति । कैथं तर्हि “तेन न तत्र भवेद्विनिय-म्यम्” “अनियम्यस्य नायुक्तिः” “त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा” इत्यादि ? प्रमादपाठ एवायम् । ‘विनियाम्यम्’ इत्यादि दीर्घ एव तु पठनीय इति हरदत्तः । नियमे साधुर्नियम्य इति “तत्र साधुः” (पा०सू० ४-४-९८) इति यदित्यन्ये । केवलाद्यतं कृत्वा निशब्देन समास इत्यपरे ।

चरेराङि चागुरौ (का०वा०) ॥ सोपसर्गार्थं वार्तिकम् । आचार्यो देशः । गन्तव्य इत्यर्थः । अगुरौ किम् ? आचार्यो गुरुः ।

अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु (पा०सू०३-१-१०१) ॥ अव-



धादयस्त्रयो यथासंख्यं गृह्यादिष्वर्थेषु निपात्यन्ते । तत्र वदर्नाञि उप-  
पदे “वदः सुपि क्यप् च” (पा०सू०३-१-१०६) इति यत्क्यपोः प्राप्तयो-  
र्थदेव यथा स्यात्, सोऽपि गृह्यायामेव यथा स्यादित्युभयार्थं निपात-  
नम् । अवद्यं पापम् । अवचनार्हत्वात् । गृह्ये किम् ? अनुद्यं गुरुनाम् ।  
तद्धि न गृह्यं वचनार्हं तु न भवति,

आत्मनाम् गुरोर्नाम् नामातिकृपणस्य च ।

श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥

इति स्मृतेः । अत्र “वदः सुपि” (पा०सू०३-१-१०६) इति क्यवेव  
भवति । यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । “नलोपो नञः” “तस्मान्नुडचि”  
(पा०सू०६-३-७३, ७४) । पणर्व्यवहारार्थात् ण्यति प्राप्ते यत् विधीयते ।  
पण्यः कम्बलः । पण्या गौः । पाण्यम् अन्यत् । स्तुत्यर्हम् इत्यर्थः ।  
‘पणितव्य’शब्दस्य साधारणत्वेऽपि निपातनस्य रुढ्यर्थत्वात् पण्य-  
शब्दस्य व्यवहर्तव्ये एव रुढत्वादर्थनियमो लभ्यते । उक्तञ्च—

धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च ।

अनुबन्धविकाराणां रुढ्यर्थं च निपातनम् ॥ इति ।

वृङ् सम्भक्तौ (कन्या०आ०३७) अस्माद्यत् अप्रतिबन्धोऽशतेन सहस्रेण  
वर्या कन्या । शतसहस्रशब्दावनियतवचनौ, कन्याया वरणे वरयितृणां नि-  
यमो नास्तीत्यर्थः । ‘वृङ्’ एवेदं निपातनम्, तत्रैव अनिरोधसम्भवात् ।  
तेन ‘वृञ् वरणे’ (स्वा०उ०८) इत्यस्मात् “एतिस्तुशास्” (पा०सू०३-  
१-१०९) इत्यादिना क्यवेव, वृत्त्या । इह सूत्रे अवद्यादीनि अविभक्ति-  
कानि पृथक् पदानि, न तु द्वन्द्वस्य जसन्तस्य निर्देशः । तेन ‘वर्या’  
इति स्त्रियामेव निपात्यते । अस्त्रियान्तु “ऋहलोः” (पा०सू०३-३-  
१२४) इति ण्यदेव-वार्या ऋतिबजः, इति वृत्तिकारमतम् । न चात्र “ए-  
तिस्तु” (पा०सू०३-१-१०९) इति क्यप् शङ्क्यः, तत्र ‘वृञ्’ एव ग्रहणं  
न तु ‘वृङ्’ इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

भट्टिस्तु द्वन्द्वज्जसा निर्देशं मन्वानः पुल्लिङ्गेऽपि यत् प्रायुङ्क्—  
सुग्रीवो मम वर्योऽसौ भवता चारुविक्रमः । इति ।

पुरुषोत्तमादयोऽप्येवम् ।

वह्यं करणम् (पा०सू०३-१-१०२) ॥ वह्यं निपात्यते करणं चेद्भ-  
वति । वहन्त्यनेनेति वह्यं शकटम् । करणे किम् ? वाह्यम् अभ्यत्,  
वहनकर्मेत्यर्थः ।

अर्थः स्वामिवैश्ययोः (पा०सू०३-१-१०३) ॥ ऋगतौ (भवा०प०९६१)  
अस्मात् ण्यति प्राप्ते यत् निपात्यते । अर्थः स्वामी वैश्यो वा । स्वामि-



वैश्ययोः किम् ? आर्यो ब्राह्मणः । प्राप्तव्य इत्यर्थः । अत्र भाष्ये 'स्वामि-  
न्यन्तोदात्तत्वञ्च' इत्युक्तम् । वैश्ये तु "यतोऽनावः" (पा०सू०६-१-२१३)  
इति आद्युदात्तमेव । अथ यो वैश्यः स्वामी च तत्र कथमिति चेत् ?  
वैश्यत्वविवक्षायामाद्युदात्तम्, स्वामित्वविवक्षायामन्तोदात्तम् । अत  
एव 'अर्थः स्वाम्याख्या चेत्' इति फिद्सूत्रे आख्याग्रहणं कृतम् । तथा  
चेदशो विषये युगपदर्थद्वयविवक्षा न कर्तव्येवेति फलितोऽर्थः ।

उपसर्गा काल्या प्रजने (पा०सू०३-१-१०४) ॥ उपपूर्वात्सुधातोर्भावा-  
दिकात् जौहोभ्यादिक्राञ्च वत् । निपात्यते प्रथमगर्भग्रहणे प्राप्तकाला  
चेत् । उपसर्गा गौः, गर्भाधानार्थं वृषभेणोपगन्तुं योग्या इत्यर्थः ।  
काल्याप्रजने इति किम् ? उपसर्गा शरदि मधुरा, प्राप्तव्या इत्यर्थः ।  
कर्मणि ण्यत् । 'काल्या' इत्यत्र 'तदस्य प्राप्तम्' इति वर्तमाने "कालाद्यत्"  
(पा०सू०५-१-१०७) इति यत् । प्रजननं प्रजनः, भावे घञ् । "जनि-  
वध्योश्च" (पा०सू०७-३-३५) इति वृद्धिनिषेधः ।

अजर्यं सङ्गतम् (पा०सू०३-१-१०५) ॥ नञ्पूर्वाजीर्यतेः कर्त्तरि यञि-  
पात्यते सङ्गतं चेत् विशोध्यम् । 'सङ्गतम्' इति नपुंसके भावे कः । न  
जीर्यतीत्यजर्यं सतां सङ्गतम् । इह 'अजर्यम्' इति समुदायस्य सङ्गतं  
वाच्यम् इत्यर्थो न ग्राह्यः, उदाहरणे सहप्रयोगानुपपत्तेः । तच्च 'घटः  
कलशः' इतिवत् व्याख्यानपरतया सहप्रयोगः,

तेन सङ्गतमार्थेण शमाजर्यं कुरु द्रुतम् ।

इति भट्टिप्रयोगात् ।

मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बन्ध ।

इति कालिदासप्रयोगस्तु 'सङ्गतम्' इत्यध्याहृत्य व्याख्येयः । सङ्गतं  
किम् ? अजरिता कम्बलः । कर्त्तरि निपातनम् इत्युक्तत्वात् भावे  
सङ्गतकर्तृकेऽपि ण्यदेव भगति । 'अजार्यं सङ्गतेन' इति ।

वदः सुपि क्यप् च (पा०सू०३-१-१०६) ॥ 'अनुपसर्गं इति वर्तते'  
इति वृत्तिरुक्त । वदेर्धातोरनुपसर्गं सुप्युपपदे क्यप् स्यात् चाद्यत् ।  
ब्रह्मोद्यम्, ब्रह्मवद्यम्, भावे क्यप् पूर्ववत्सम्प्रसारणम् । ब्रह्म वेदः,  
तस्य वदनमित्यर्थः । ननु सकर्मकाङ्गावे कृत प्रत्ययो दुर्लभः, "भावे  
चाकर्मकेभ्यः" "तयोरेव कृत्यक्तल्लर्थाः" (पा०सू०३-४-६९, ७०) इति  
वक्ष्यमाणत्वादिति चेत् ? सत्यम्, उत्तरसूत्रादिह भावग्रहणस्यापक-  
र्षणान्नोक्तदोषः । इह सूत्रे अनुपसर्गग्रहणस्यानुवृत्तिर्यद्यपि वृत्तिभा-  
ष्यादिषु स्थिता, तथापि सा नावश्यकी, "सत्सूद्धिष" (पा०सू०३-२-  
६१) इति सूत्रे उपसर्गग्रहणं ज्ञापकम्—'अन्यत्र सुग्रहणे उपसर्गग्र-



हणं न' इति वक्ष्यमाणेन गतार्थत्वात् । 'सर्वथाऽप्युपसर्गे न' इति फलं निर्विवादम् । तेनेह ण्यदेव-प्रवाच्यम्, अनुवाच्यम्, अपवाच्यम् । यत्तु भट्टवार्त्तिके 'अनृच्यम्' इति प्रयुक्तं व्याकरणाधिकरणे, तत्र निष्कर्षार्थेनुशब्दे उपपदे क्यप् विधाय नञ्समासे सति कथञ्चित्समाधेयमिति न्यायसुधायामेव स्पष्टम् ।

भुवो भावे (पा०सू०३-१-१०७) ॥ भवतेरनुपसर्गे सुप्युपपदे क्यप् स्यात् भावे । यत्तु नानुवर्त्तते, पूर्वसूत्रे चानुकुष्टत्वात् । ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयम् । सुपि इत्येव-भव्यम् । अनुपसर्गे इत्येव-प्रभव्यम् । ननु अनुपसर्गे भवतिरकर्मकः, तस्माद्भावे एव भविष्यति, तर्त्तिक भावग्रहणेनेति चेत् ? मैवम्, प्राप्त्यर्थात्कर्मणि प्रसङ्गात्सत्तार्थकादपि कालादिकर्मणि प्रसङ्गात् उत्तरार्थत्वाच्च ।

हनस्त च (पा०सू०३-१-१०८) ॥ हन्तेर्धातोरनुपसर्गे सुबन्ते उपपदे भावे क्यप् स्यात् तकारश्चान्तादेशः । ब्रह्महत्या । एतत्सूत्रविहित-क्यप्प्रत्ययान्तस्य स्वभावात् स्त्रीलिङ्गत्वमेव लोके । छन्दसि तु क्लीब-तापीष्यते । सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे ।

छन्दसि स्त्रियां क्यप् चिद्वक्तव्यः (का०वा०) ॥ तरति ब्रह्महत्यां योऽइवमेधेन यजते । सुपीति किम् ? घातो वर्त्तते । ण्यत्तु न भवति, सकर्मकाद्भावे विधानाभावात् । कर्माविवक्षायामकर्मकत्वेऽपि न भवति, अनभिधानात् । अनुपसर्गे इत्येव । प्रघातो वर्त्तते ।

एतिस्तुशास्वृदजुषः क्यप् (पा०सू०३-१-१०९) ॥ सुप्यनुपसर्गे भाव इति निवृत्तम् । एभ्यः क्यप् स्यात् । 'एति' इति इण एव ग्रहणं नेङ्गिकोः, तयोरधिपूर्वयोरेव प्रयोगात् 'एति' इति निर्देशानुपपत्तेः । तथा च "रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्" इति भाष्ये यदेव प्रयुक्तः । केचित्तु "इण्वदिक इति वक्तव्यम्" (का०वा०) इति वचनादधीत्यमित्युदाहरन्ति । इत्यः । कथन्तर्हि उपेयमिति ? ईङ् गतौ (दि०आ०३७) इति देवादिकाद्यत् । स्तुत्यः । शिष्यः, "शास इदङ्गहलोः" (पा०सू०६-४-३४) इति इत्वम्, "शासिवासि" (पा०सू०८-३-६०) इति षत्वम् । 'आङः शासु इच्छायाम्' (अ०आ०१२) इत्यस्यापि ग्रहणम्, अविशेषात् । तेन 'आशास्यम्' इति धातुस्वरेण मध्योदात्तं पदं भवति । ण्यति तु "गतिकारकोपपदात्कृत्" इति अन्तस्वरितत्वं स्यात् । केचित्तु "शासु अनुशिष्टौ" (अ०प०६५) इत्यस्यैव ग्रहणमिच्छन्ति । 'वृ' इति वृजो ग्रहणं न वृङः पूर्वोत्तरसाहचर्येणोभयपदिनो ग्रहणाज्ज्ञापकात् । यदयं "ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः" (पा०सू०६-१-२१) इति वार्या-



शब्दस्याद्युदात्तत्वं शास्त्रित् । तत्र हि ईडिवन्दिभ्याम् अकारवद्विकरण-  
प्रकृतिभ्यां साहचर्यात् आत्मनेपदिनो वृद्धो ग्रहणम् । वृत्त्यः । इत्यः ।  
जुष्यः । ‘कयप्’ इति वर्तमाने पुनः कयग्रहणं बाधकबाधनार्थम् । तेन  
“ओरावश्यके” (पा०सू०३-१-१२५) इति ण्यतं बाधित्वा कयवेव भवति ।  
तथाहि, इह सूत्रे स्तौतग्रहणस्यावकाश आवश्यकविवक्षायां स्तुत्य  
इति, “ओरावश्यके” इत्यस्यावकाशो ‘अवश्यलाव्यम्’ । ‘अवश्यस्तुत्यः’  
इत्यत्र उभयप्रसङ्गे परत्वात् ण्यत् स्यात्, पुनः कयग्रहणात् कय-  
वेव भवति ।

शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ शस्यम्, शंस्यम् ।  
दुह्यम्, देह्यम् । गुह्यम्, गोह्यम् । एतच्च वृत्तावेव स्थितम् । भाष्ये  
तु नास्ति तत्र “प्रशस्यस्य श्रः” (पा०सू०५-३-६०) “ईडिवन्दवृत्तं स-  
दुहां ण्यतः” (पा०सू०६-१-२१४) इति सूत्रद्वयप्रामाण्यात् शंसेः  
सिद्धम् । इतरयोस्तु मूलं सृज्यम् ।

आङ्पूर्वादङ्गेः संज्ञायामुपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ अङ्जू व्यक्ति  
प्रक्षणादिषु (रू०प०२१) । अस्मात् बाहुलकात्करणे कयप् । “अनिदितां  
हल” (पा०सू०६-४-२४) इति नलोपः, आज्यम् । ननु ण्यत्येव नलोपः  
कस्मान्नोक्त इति चेत् ? न, कुत्वप्रसङ्गात्, तित्स्वरप्रसङ्गाच्च । तस्मा-  
त्कयवन्त एवायम् । नन्वेवमवग्रहः प्राप्नोति, न चेष्टापत्तिः, “आ-  
ज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्” इत्यादौ पदकारैस्तदकरणात् ।  
इति चेत् ?

अत्र भाष्यम्—न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैस्तु लक्ष-  
णमनुवर्त्यमिति । अयमाशयः—संहितैव नित्या पदाविच्छेदस्तु पौरु-  
षेयः । अत एवार्थविनिश्चयाभावाभावावगृह्णन्ति । यथा ‘हरिद्रव’ इति ।  
अत्र किं हरिशब्द इकारान्तः, उत हरिच्छब्दस्तकारान्त इति सन्देहः,  
किञ्च “वनेन वायः” इति मन्त्रे “वेति चय इति च चकार शाकलयः”  
इत्युपन्यस्य “उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्” इति अध्यायिशब्दे  
अट्स्वरप्रसङ्गेन दूषयित्वा वेरपत्यं ‘वाय’ इत्येकपद्येन सिद्धान्तं कुर्वन्  
यास्कः पदविभागस्य पौरुषेयत्वं स्पष्टमेवाचष्टे । अपि च सति पदत्वे  
अवग्रहः, असति तु न, इति द्वयमपि प्रायोवादमात्रं सम्प्रदायानुरोधा-  
दुभयस्यापि बहुधा परित्यागो दृश्यते एव, “गोभिर्मदाय” “गोभ्यो  
गातुम्” इत्यादौ अवग्रहाभावात् “ईयिवांसमतिस्त्रिधः” “देवयन्तो  
यथामतिम्” इत्यादाववग्रहाच्चेति दिक् ।

प्रक्रियाकौमुद्यान्तु ‘अज गतौ क्षेपणे च’ (भ्या०प०२३०) इत्यस्य



‘आज्यम्’ इत्युक्तं, तत्तु भाष्यविरुद्धम्, अर्थाननुगुणञ्च, इति प्रामा-  
णिकैरुपेक्ष्यमेव ।

ऋतुपधाच्चाकलपिचृतेः (पा०सू०३-१-११०) ॥ ऋकारोपधाद्धातोः  
कथप् स्यात् कलपिचृती वर्जयित्वा । वृत्-वृत्यम् । वृध्-वृध्यम् । अकल्-  
पिचृतेरिति किम् ? कृप् सामर्थ्ये (अ०आ०७६३) कल्प्यम् । कृपेर्लत्व-  
स्यासिद्धत्वात् ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञाविधानाच्च ऋतुपधत्वम् ।  
चृति हिंसाग्रन्थनयोः (तु०प०४४) चर्त्यम् । तत्परकरणं किम् ? कृत  
संज्ञादने (चु०प०१२०), णिजभावे ण्यदेव भवति । कीर्त्यम् । इदमेव  
च तत्परकरणं लिङ्गम्, “अनित्यण्यन्ताश्चुरादयः” इत्यत्र । णिजन्ता-  
स्तु णिलोपे कृते चाकृते च द्वित्वमितिवद्यदेव । तेन “यतोऽनावः”  
(पा०सू०६-१-२१३) इत्याद्युदात्तता भवति ।

ई च खनः (पा०सू०३-१-१११) ॥ खनः कथप् स्यात् ईकारश्चान्ता-  
देशः । दीर्घनिर्देशः प्रत्येकार्थः । तत्र द्वितीय इकारो “ये विभाषा” (पा०  
सू०६-४-४३) इत्यात्वबाधनार्थः । अन्यथा “ये विभाषा” इत्यस्यावका-  
शः—‘आयते’ ‘खन्यते’ । इत्वस्यावकाशः बस्मिन्पक्षे आत्वं नास्ति ।  
आत्वपक्षे उभयप्रसङ्गे परत्वादन्तरङ्गत्वाच्चात्वं स्यात् । “ये विभाषा”  
ज्ञात विषयसप्तमी । तथा च यकारादौ बुद्धिस्थे एव भवदात्वमन्तर-  
ङ्गम् । अयत्विकारः कथपा सह विधानाद्वाहिरङ्गः । तद्विध्यम्—‘ये वि-  
भाषा’ इति विषयसप्तमीति पक्षमाश्रित्य सूत्रकृता दीर्घोच्चारणं कृ-  
तम् । भाष्यकृता तु परसप्तमीमाश्रित्य प्रत्याख्यातम् । तथाहि, परस-  
प्तमीपक्षे इत्वमन्तरङ्गम्, परनिमित्तमनपेक्ष्य विधानात् । कथप्सन्नियो-  
गशिष्टं हि तत् । तथाच तदेवात्वस्य बाधकम् । ननु ह्रस्वादेशे तस्य  
पूर्वेण सह आद् गुणे सत्यपि “बत्वतुकोरासिद्धः” (पा०सू०६-१-८६)  
इति एकादेशस्यासिद्धतया “ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्” (पा०सू०६-  
१-७१) इति तुक् स्यात् अतो दीर्घ एव विधेयः इति चेत् ?  
न, पदान्तपदाद्योरेकादेशस्तुग्विधावसिद्धः, न त्वन्योऽपि इति वक्ष्यमाण-  
त्वात् । अन्यथा ‘बुक्षे छत्रम्’ इत्यत्र डौ आद्गुणस्वासिद्धत्वात्  
“छे च” (पा०सू०६-१-७३) इति ह्रस्वाश्रयो नित्यस्तुक् स्यात्, इष्यते  
तु “दीर्घात्” “पदान्ताद्वा” (पा०सू०६-१-७५, ७६) इति दिक् । ख्यम् ।

भृजोऽसंज्ञायाम् (पा०सू०३-१-११२) ॥ कथप् स्यात् । भृत्वाः कर्म-  
कराः, भर्त्तव्या इत्यर्थः । तथा च क्रियाशब्दोऽयं, न तु संज्ञा ।

समश्च बहुलम् (का०वा०) ॥ असंज्ञायामेव । सूत्रेण नित्यं प्राप्तस्य  
कथपो विकल्पार्थमिदं वार्त्तिकम् । सम्भूत्याः, सम्भार्याः । असंज्ञायां



किम् ? भार्यो नाम क्षत्रियः ।

संज्ञायां पुंलि दृष्टत्वात् ते भार्या प्रसिध्यति ।

स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिध्यति ॥

अथवा बहुलं कृत्याः संज्ञायामिति च स्मृतम् ।

यथा पत्यं यथा जन्यं यथा भित्तिस्तथैव सा ॥

अस्यार्थः—ते तव सूत्रकारस्य भार्याशब्दो न सिध्यति, ण्यतं बाधि-  
त्वा “संज्ञायां समजनिषद्” (पा०सू०३-३-९९) इत्यादिना क्यपः प्रस-  
ङ्गात् । ननु “भृजोऽसंज्ञायाम्” (पा०सू०३-१-११२) इति प्रकृतसूत्रे संज्ञायां  
निषेधसामर्थ्यात् “संज्ञायां समज” (पा०सू०३-३-९९) इत्यादिसूत्रान्तर-  
प्राप्तोऽपि क्यप् भृजः संज्ञायां न भविष्यति । न चैवं तत्र “संज्ञायाम्”  
इत्यस्य वैयर्थ्यं, धात्वन्तरेषु चरितार्थत्वात्, इत्याशङ्क्याह—संज्ञायामि-  
त्यादि । प्रतिषेधस्वेति शेषः, ‘असंज्ञायाम्’ इत्यस्य प्रतिषेधस्य पुंलि  
‘भार्यो नाम क्षत्रियः’ इत्यत्र दृष्टत्वात् चरितार्थत्वात् । तथा च साम-  
र्थ्यं नास्तीति भावः । तस्मात् भार्याशब्दो न सिद्ध्यतीति चोद्यं सुस्थम् ।

उत्तरमाह—स्त्रियां भावाधिकारोऽस्तीति । ननु “संज्ञायां समज”  
(पा०सू०३-३-९९) इति सूत्रे वृत्तिकृद्वक्ष्यति भवे इति न स्वर्यते पूर्व-  
पवाधिकार इति । युक्तं चैतत्, ‘समजन्ति तस्यामिति समज्या’ निषो-  
दन्ति तस्यामिति निषद्या’ इत्यादिदर्शनात् । तत्कथमुच्यते ‘स्त्रियां  
भावाधिकारोऽस्तीति ? सत्यम् । स्त्रियां—स्त्रीप्रकरणे “संज्ञायां समज”  
इत्यादिना क्यपि विधीयमाने भावस्याधिकारः अभिधेयत्वोपगमल-  
क्षणा व्यापारोऽस्ति । शब्दशक्तिस्वाभाव्याद्भाव एव क्यप् न तु क-  
र्मणीत्वाशयः ।

एतदपरितोषादेवाह—अथवेति । न पतन्त्यनेनेत्यपत्यम् । अजन्तात्  
भावकर्मणोर्विधीयमानोऽपि षत् हलन्तात्करणे च भवति । ‘जन्यम्’  
इत्यत्रापि हलन्ताद्यत्, ‘भित्तिः’ इत्यत्र “षित्तिदादिभ्योऽङ्” (पा०सू०  
३-३-१०४) इत्यङ्गो विषये किन् । सर्वमिदं यथा बाहुलकाद्भवति, एवं  
भार्याशब्दे क्यविषये ण्यद्भवतीत्यर्थः । अथवा इत्थं समाधेयम्—क्य-  
व्विधौ भृज् भरणे (भ्वा०उ०९२३) इति भ्वादिरेव गृह्यते न जौहोत्यादि-  
को हुभृज् (जु०उ०५), ह्यनुबन्धकत्वात् । एवञ्च विभर्तेर्वा ‘भृज्भरणे’  
(कन्या०प०१९) इति दीर्घान्तात् क्यदादेर्वा ण्वति भार्याशब्दो निर्वाध एवेति ।

मृजेर्विभाषा (पा०सू०३-१-११३) ॥ ऋदुपधत्वान्नित्यं क्यपि प्राप्ते  
विकल्पार्थं सूत्रम् । परिमृज्वः । परिमार्ग्यः । ण्वत्पक्षे “मृजेर्वाङ्” (पा०  
सू०७-२-११४) ‘भृजोः’ (पा०सू०७-३-५२) इति कुत्वम् ॥



राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्बकृष्टपच्चाव्यथाः (पा०सू०३-१-११४) ॥  
एते सप्त कृषवन्तां निपात्यन्ते । अभिषिक्तः क्षत्रियो राजा तेन सोत-  
व्योऽभिषवद्वारेण निष्पादयितव्य इत्यर्थे कर्मणि क्यप् । दधिष्वञ्च  
निपात्यते रुच्यर्थम् । षट्तालतात्मकः सोमो राजा, “राजानं क्रीणन्ति”  
इत्यादौ दर्शनात् । स सूयते कण्ड्यते अत्र इत्यर्थे अधिकरणे क्यप् ।  
निपातनं रुच्यर्थम् । तेन आद्यपक्षे अश्वमेधादौ द्वितीयपक्षे ज्योतिष्टोमा-  
दौ च नातिप्रसङ्गः । राजसूयशब्दश्च पुञ्जपुंसकलिङ्गोऽर्धर्चादित्वात् ।  
सरत्याकाशमार्गे इति सूर्यः । ‘सृ गतौ’ (भा०प०९६०) । कर्तरि क्यप्  
निपातनादुत्वं, रपरत्वं, “इलि च” (पा०सू०८-२-७७) इति दीर्घः ।  
यद्वा ‘षू प्रेरणे’ (तु०प०१२८) तुदादिः । सुवाति-कर्मणि लोकं प्रेरयति  
इत्यर्थे कर्तरि क्यपि कृते क्यपो रुडागमश्च निपात्यते । मृषोपपदाद्वदेः  
कर्मणि क्यप् । पक्षे यति प्राप्ते नित्यं क्यप् निपात्यते । विशेष्यनि-  
श्चोऽयम् ।

भवन्ति नोहामगिरां कवीना-

मुच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः । (मा०का०४-१०)

इति माघः । रोचते असौ रुच्यः । कर्तरि क्यप् ।

गुपेरादेः कुत्वञ्च संज्ञायाम् । कुप्यम् । सुवर्णरजतातिरिक्तस्य  
धनस्येयं संज्ञा । कृष्टे स्वयमेव पच्यन्ते कृष्टपच्चाः । कर्मकर्तरि निपात-  
नम् । इहान्तोदात्तत्वमपि निपात्यते । शुद्धे तु कर्मणि ‘कृष्टपाक्यः’ इत्येव  
भवति । न व्यथते अव्यथः, कर्तरि क्यप् । अत्र वार्तिकानि—

सूयरुच्यव्यथाः कर्तरि (का०वा०) ॥

सूसर्तिभ्याञ्च सर्वैरुत्वम् (का०वा०) ॥

सुवतेर्वा रुडागमः (का०वा०) ॥ कुप्यं संज्ञायाम् (का०वा०) इति ।

मिद्योऽन्यौ नदे (पा०सू०३-१-११५) ॥ मिदेरुज्ज्ञेश्च कर्तरि क्यप् उ-  
ज्ज्ञेर्धत्वञ्च । भिनत्ति कूलं मिथः । उज्ज्ञेत्युदकम् उज्जयः । नदे किम् ?  
भेत्ता । उज्ज्ञिता ।

पुष्यसिध्यौ नक्षत्रे (पा०सू०३-१-११६) ॥ पुषेः सिधेश्च अधिकरणे  
क्यप् निपात्यते नक्षत्रे अभिधेये । पुष्यन्त्यस्मिन्नाख्या अर्था इति पु-  
ष्यः । सिध्वन्त्यास्मिन्निति सिध्यः । नक्षत्रे इति किम् ? पोषणं, सेव-  
नम् । पुष्यसिध्यशब्दौ पर्यायौ । स्वरूपपरत्वात्तु सूत्रे द्वन्द्वः । ‘पुष्ये तु  
सिध्यतिष्यौ’ (अ०को०३-२४) इत्यमरः । तत्र तुष तुष्टौ (दि०प०७८)  
इत्यस्मात् बाहुलकादधिकरणे ण्वति “सूर्यतिष्य” (पा०सू०६-४-१४९)  
इति निपातनादुदास्येकार इत्येके । ‘तिष्यः पुष्ये कलियुगे’ (अ०को०



३-३-१५५) इत्यमरव्याख्याने क्षीरस्वामी त्वाह-त्विष वृत्तौ (भ्वा० उ० १०२६) “अध्यादयश्च” (उ० सु० ५६१) इत्यौणादिक्यकप्रस्थयान्तः । निपातनाद्वलोपः ।

विपूयविनीवजित्या मुञ्जकल्कहलिषु (पा० सु० ३-१-११७) ॥ पूङ् नीड्भिः क्यप् निपात्यते यथासंख्यं मुञ्जादिषु वाच्येषु । पूङ् पवनं (भ्वा० आ० ९९१) विपूर्वः । विपूयो मुञ्जः । ‘रज्ज्वादिकरणाय शोधयितव्यः’ इत्यर्थः । मुञ्जस्तृणविशेषः । विनीयः कल्कः । कल्कशब्दोऽयमस्ति पिष्टे औषधविशेषे । यथा—

पथ्या शुण्ठी सैन्धवांशस्य कल्कः पेयो नित्यं सर्वरोगक्षयाय । इति । अस्ति च पापे, ‘तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः’ इत्युपक्रम्य ‘तान्येव भावोपहतानि कल्कः’ इति महाभारते दर्शनात् । इह तु प्रथमस्य ग्रहणमिति केचित् । अविशेषेणेति हरदत्तः । तथाच माघः प्रागुक्त—‘अविनीयसम्भ्रमविकासिभक्तिभिः’ इति । जि अभिभवे (भ्वा० प० ९७१) । जित्यो हलिः । ‘बलेन कृष्टव्यः’ इत्यर्थः । महद्बलं हलिः । कृष्टसमीकरणार्थं स्थूलकाष्ठमुच्यते । विपव्यम् । विनेयम् । जेयञ्जान्वत् । सर्वत्र “अचो यत्” (पा० सु० ३-१-९७) ।

प्रत्यापिभ्यां प्रदेः (पा० सु० ३-१-११८) ॥ क्यप् स्यात् । मत्तस्य न प्रतिगृह्यम् । तस्मान्नापिगृह्यम् ।

छन्दर्साति वक्तव्यम् (का० वा०) ॥ लोके तु-प्रतिग्राह्यम्, अपिग्राह्यम् । पदास्वैरिवाह्यापक्ष्येषु च (पा० सु० ३-१-११९) ॥ एषु चतुर्ष्वर्थेषु गृहेर्धातोः क्यप् स्यात् । प्रगृह्यम्पदम् । वस्य प्रगृह्यसंज्ञा विहितेति वृत्तिः । यद्यपि पदावयवस्य द्विवचनादेः प्रगृह्यसंज्ञा न तु पदस्य, तथापि अवबोधर्मस्य समुदाये उपचारो बोध्यः । यद्वा यौगिकोऽयं पदशब्दः पठ्यते, गम्यतेऽनेनार्थ इति । असन्निकर्षश्चात्र गृहेरर्थः, ‘अग्नी अन्न’ इत्यादौ हि प्रकृतिभावात् यणाद्यभावे कियताऽपि कालेन व्यवधानात् परस्परमचो न सन्निकृष्यन्ते । तथा च बह्वचप्रातिशाख्यम्—स्वरान्तरं तु विवृत्तिः, सा वा स्वरभक्तिकालेति । स्वरभक्तिकालस्तु अर्द्धमात्रा पादमात्रा वा, द्वाधीयसी सार्द्धमात्रेति तत्रैवोक्तत्वात् । तथा चाचोरन्तरालस्य विवृत्तिसंज्ञकस्य वर्णशून्यकालस्य क्वचिदर्द्धमात्रत्वं क्वचित्पादमात्रत्वं चेति फलितोऽर्थः । एतद्वयवस्था तु शिक्षासु बोद्धव्या । अवगृह्यं पदम्, यस्यावग्रहः क्रियते इति वृत्तिः । अवग्रहो विच्छेदः । अत्रापि शृङ्गातेरर्थः प्राग्वत्, मात्रा ह्रस्व-



स्तावदवग्रहान्तरमिति प्रातिशाख्यात् । अत्र पदकाले समासे पूर्वपदमेवगृह्यमिति हरदत्तः । उपलक्षणञ्चैतत्, 'हरिभिः' इत्यादेरपि सङ्ग्राहत्वात् । तस्मात् महापदसंज्ञाक्रान्ते य एकदेशः पदकाले विच्छिद्य पठ्यते, स सर्वोऽप्यवगृह्यमिति स्थितिः । स्वनैव ईरितुं शीलमस्य स्वैरी स्वतन्त्रः । अस्वैरी परतन्त्रः । गृह्यका इमे, 'गृहीतका' इत्यर्थः । उभयभानुकरूपायां कन् । पञ्जरादिवन्धेन परतन्त्रीकृताः शुकादय उच्यन्ते ।

गृहासक्ताः पक्षिमृगाः लोकास्ते गृह्यकाश्च ते ।

(अ०को०५-४६) इत्यमरः । बाह्यायाम्—ग्रामगृह्या, नगरगृह्या सेना । 'ग्रामनगराभ्यां बहिर्भूता' इत्यर्थः । स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंस्त्वसंज्ञायां भवति । पक्षे भवः—पक्ष्यः । दिगादित्वाद्यत् । वासुदेवगृह्यः । आर्थ-गृह्यः । तत्पक्षाश्रित इत्यर्थः ।

विभाषा कृषोः (पा०सू०३-१-१२०) ॥ कषप् स्यात् । पक्षे ण्यत् । कृत्यम् । कार्यम् । वृषु सेचने (भा०प०७०७) । वृष्यम् । वर्ष्यम् ।

युग्यञ्च पत्रे (पा०सू०३-१-१२१) ॥ पतन्त्येन पत्रं वाहनम् । "दा-मनीशस" (पा०सू०३-२-१८२) इत्यादिना करणे घृन् । तस्मिन्नर्थे युजेः कर्मणि क्यप् कुत्वञ्च निपात्यते । युग्यो गौः । पत्रं किम् ? 'योग्यम्' अन्यत् । ण्यति "चजोः" (पा०सू०७-३-५२) इति कुत्वम् ।

अत्र हरदत्तः—प्राग्घीतीयेन यतेदं सिद्धम् "तद्वहतिरथयुगप्रास-क्रमम्" (पा०सू०४-४-७६) इति । स्वरेश्च नास्ति भेदः । क्यपि धातु-स्वरः, यत्यपि "यतोऽनावः" (पा०सू०६-१-२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् । 'अयुग्यम्' इत्यत्रापि न स्वरभेदः । 'यतोश्चातदर्थे' (पा०सू०६-२-१५६) । "कृत्योक्तेषु चार्वादीयश्च" (पा०सू०६-२-१६०) इत्युभयत्रापि अन्तोदात्तत्वविधानात् । तस्मादिदं सूत्रं शक्यमकर्तुमिति ।

अत्रेदं वक्तव्यम् । 'युग्यो गौः' इत्यादिसिद्धावपि 'युग्योहस्ती' इति वृत्ताद्वाहृतं तद्धितेन न सिध्यति, नहि हस्ती युगं वहतीति । कृता तु सिध्यति युज्यते सम्बध्यते ह्यसौ कुथादिनेति । किञ्च असत्यस्मिन् सूत्रे ण्यत्प्रत्ययेन 'योग्यो गौः' इत्यपि स्यात् । अपि च स्वरभेदोऽपि पाक्षिकोऽस्त्येव । "क्रतुर्भवत्युक्थः" इत्यादौ तित्स्वरदर्शनात् । "यतोऽनावः" (पा०सू०६-१-२१३) इति सूत्रं यदन्ते घञ्के एकाचप्रकृतिक एव प्रवर्तत इति वेदभाष्यकारप्रतिपादिते पक्षे स्वरभेदस्य दुर्वार-त्वादिति दिक् ।

अमाशब्दः सहा



वर्त्तते, 'अमात्यः' इत्यादौ दर्शनात् । तस्मिन्नुपपदे वसर्धातोराधिकरणे  
 ण्यत् तन्निमित्तायां वृद्धौ सत्यां पाक्षिको ह्रस्वश्च निपात्यते । निपात-  
 नादेव कालविशेषे रुढिर्लभ्यते । अमा सह सन्निकृष्टौ वसतोऽस्यां  
 चन्द्रकौ इत्यमावस्था, अमावास्या । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्  
 "अमावास्याया वा" (पा०सू०४-३-३०) इति दीर्घमध्यमनूद्य विहित-  
 स्ताद्धितो ह्रस्वमध्यादपि सिद्ध्यति । यदि तु यत्प्रत्ययान्तस्येदं पाक्षिकं  
 निपातनमित्याश्रीयेत तदा यता मुक्ते 'अमावास्या' इत्याधिकरणे ण्यदेव  
 तावद् दुर्लभः । अथापि बाहुलकाल्लभ्येत, एवमपि "अमावास्याया वा"  
 (पा०सू०४-३-३०) इत्यत्र ण्यदन्तग्रहणे यदन्तं न गृह्येत । किञ्च ण्यत्-  
 पक्षे उपपदसमासो न स्यात् । मयूरव्यंसकादित्वाद्भाविष्यतीति चेत् ?  
 एवमपि "गतिकारकोपपदात्" (पा०सू०६-२-१३९) इति स्वरो न  
 स्यात्, किं त्वन्तोदात्तः स्यात्, इष्यते तु तित्स्वर एव "अमावास्या-  
 सुभगा सुशेव" 'यदाग्नयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाम्' इत्यादौ स्वाश-  
 व्दे स्वरितत्वस्य शेषनिघातस्व च पठ्यमानत्वात् । तस्मात् "ण्यदन्त-  
 स्यैव वृद्धौ सत्यां पक्षे ह्रस्वो निपात्यते" इति यथाव्याख्यानमेवादर्थ-  
 व्यम् । तथा च भाष्यम्—

अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम् ।

तथैकवृत्तिता तयोः स्वरश्च मे प्रसिध्यति ॥

इह व्यक्तिभेदाभयो द्विवचननिर्देशः । एकस्येति शेषः । ण्यतोः-  
 ण्यदन्तयोः । अमापूर्वयोर्वसोर्मध्ये एकस्य अवृद्धितां ह्रस्वम् अहं नि-  
 पातयामि । सूत्रकारेणैक्यमापन्नस्येयमुक्तिः । तथा सति तयोः शब्द-  
 योरेका तद्धितवृत्तिर्ययोः तच्चा सिध्यति एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् ।  
 एवं निपातयतो मे स्वरोऽपि सिध्यति । स च व्याख्यात एव । न च  
 सिद्धान्तेऽपि उत्तरपदप्रकृतिस्वरो दुर्लभः, सूत्रे सप्तम्यभावेन उपपद-  
 संज्ञाया अप्रवृत्तौ उपपदात्परत्वाभावादिति वाच्यम्, 'अमा' इति सप्त-  
 म्या लुका निर्देशादिति भावः ।

छन्दसि निष्टक्यदेवहूयप्रणीयोष्णीयोच्छिष्यमर्यस्तर्थाध्वर्यस्त्रन्यजा-  
 न्यदेवयज्यापृच्छयप्रतिषिव्यब्रह्मवाद्यभाव्यस्ताव्योपचार्यपृष्ठानि (पा०  
 सू०३-१-१२३) ॥ एतानि सप्तदश छन्दसि निपात्यन्ते । कृती छेदेने  
 (तु०प०१५५) अस्मात् निस्पूर्वात्कथपि प्राप्ते ण्यत्, आद्यन्तयोर्विप-  
 र्यासः, निस्ः पत्वं च निपात्यते, निष्टक्यं चिन्वीत पशुकामः । देवश-  
 व्द उपपदे ब्रूयते जुहोतेर्वा कथप् दीर्घत्वं तुगभावश्च, स्पर्द्धन्ते वा उ-  
 देवहूये । अत्र प्रपूर्वादुत्पूर्वाच्च नयतेः कथप्, प्रणीयः, उष्णीयः ।



उत्पूर्वाच्छिषेः क्यप्, उच्छिष्यम् । मृड् प्राणत्यागे (तु०भा०१२३),  
स्तृज् आच्छादने ( स्वा०उ०६ ), धृज् हृज्ने ( भ्वा०प०२६४ ) एभ्यो  
यत्, मर्यः, स्तर्या, स्त्रियामेवास्थ निपातनम् । ध्वर्यः । खनेर्यत्प्यतो,  
खन्यः, खान्यः । देवशब्द उपपदे यजेर्यप्रत्ययः, शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे  
देवयज्यायै । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । स्त्रालिङ्ग  
एवेदं निपातनम् । आङ्पूर्वात्पृच्छेः क्यप्, आपृच्छयं धरणं वाज्यर्षति ।  
प्रतिपूर्वात्सीव्यतेः क्यप् षत्वञ्च, प्रतिषीव्यः । ब्रह्मण्युपपदे वदेष्वत्,  
“वदः सुपि क्यप् च” (पा०सू०३-१-१०६) इति प्राप्तयोः क्यव्यतोऽप-  
वादः, ब्रह्मवाद्यम् । अथ कथं ‘ब्रह्मोद्यं वदन्ति’ (ऋ०श्रौ०सू०२-४) इति?  
छन्दसि विशेषविहितेन ण्यता लोके चरितार्थस्य “वदः सुपि” इति  
क्यपो बाधप्रसङ्गात् । न च “वासरूप” (पा०सू०३-१-२३) न्यायः सरू-  
पत्वात्, “नानुबन्धकृतमसारूप्यम्” (प०भा०८) इत्युक्तत्वात् । सत्यम्,  
कृद्भ्यत्ययोऽत्र बोध्यः । उक्तं हि, “कालहलच्स्वरकृत्यङां च” इति ।  
तत्र हि कर्तृग्रहणं कृत्प्रत्ययपरमित्यवाचाम् ।

भवतेः स्तौतैश्च ण्यत्, भाव्यः, स्ताव्यः । उपपूर्वाच्चिनोतेर्ण्यत् आया-  
देशश्च निपात्यते पृडे उत्तरपदे । मृड सुखने, पृड च (तु०प०४७,४८) ।  
इत्येतस्मादिगुपधलक्षणः कः, उपचाय्यपृडम् ।

हिरण्य इति षक्तव्यम् (का०वा०) ॥ उपचेयपृडमेवाप्यत् । अत्र  
वार्तिकम्—

निष्ठक्ये व्यत्ययं विद्यात् निसः षत्वं निपातनात् ।

ण्यदायादेश इत्येतौ उपचाय्ये निपातितौ ॥

ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप् चतुर्भ्यश्च यतो विधिः ।

ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौ क्यपौ ण्यद्विधिश्चतुः ॥

इत्यवयामिति, आद्यन्तविपर्यासमित्यर्थः । ‘चतुर्भ्यः’ इति देवहूया-  
दिषु चतुर्भ्यो धातुभ्यः क्यप्, उपसर्गभेदान्नयतेर्भेदः । द्वौ क्यपाविति,  
द्वाभ्यां धातुभ्यां द्वाविति भावः । ण्यद्विधिश्चतुरिति सुजन्तम् । ‘च-  
तुरो वारान् ण्यद्विधीयते’ इत्यर्थः ॥

ऋहलोर्ण्यत् (पा०सू०३-१-१२४) ॥ ऋवर्णान्तात् धातोर्हलन्ताच्च  
ण्यत् स्वात् । कार्यम् । हार्यम् । वाच्यम् । पाच्यम् । सूत्रे पञ्चम्यर्थे षष्ठी ।  
‘ऋ’ इति च अर्तेर्ग्रहणं न भवति, किन्तु वर्णग्रहणम्, हला साहचर्यात् ।  
‘परङ्कार्यम्’ (पा०सू०१-४-२) इति निर्देशात् । “इडवन्द्वृशंसदुहां ण्यतः”  
(पा०सू०६-४-२१४) इति लिङ्गाच्च । अत्र वार्तिकानि—

पाणौ वृजेर्ण्यद्विधिः (का०वा०) ॥ ऋवुपभत्वात्प्राप्तस्य क्यपोऽपवा-



दः । पाणिभ्यां सृज्यते पाणिसर्ग्या रज्जुः ।

समवपूर्वाच्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ समवसर्ग्या ।

लपिदभिभ्याश्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ अपलाप्यम् । अवदा-  
भ्यम् । आभ्यां “पोरदुपधात्” (पा०सू०३-१-२८) इति प्राप्तस्य यतोऽ-  
पवादः । अत्र ‘दभिः’ धातुष्वपठितोऽपि वार्तिकवचनात् चुगद्यन्ते  
“बहुलमेतन्निदर्शनम्” (चु०ग०सू०) इति बहुलग्रहणाच्चुलुम्पादिव-  
त्साधुः । तथा च प्रयुज्यते—“न तानशान्ति न दभाति तस्करः” इति,  
“विष्णुर्गोपा अदाभ्यः” इति च । जयादित्यस्तु आद्यं वार्तिकद्वयम्  
“एतिस्तुशास्वृ” (पा०सू०३-१-१०९) इति सूत्रे पठित्वा तृतीयवार्तिको-  
क्तयोर्धात्वोर्मध्ये लपिम्, “आसुयुवपि” (पा०सू०३-१-१२६) इति  
सूत्रे रपेरपरि प्रक्षिप्य अनुक्तसमुच्चयार्थेन चकारेण दभेः सङ्ग्रहमाह ।  
तत्र वैरूप्यं निर्बीजमेवेत्यवधेयम् ।

ओरावश्यके (पा०सू०३-१-१२५) ॥ उवर्णान्ताद्धातोर्ण्यत् स्यात्  
आवश्यके द्योत्ये । अवश्यं भाव आवश्यकम् । मनोज्ञादित्वाद् युञ् । “अव्य-  
यानां भमात्रे टिलोपः” (का०वा०) । लाव्यम् । पाव्यम् । द्योतितार्थस्या-  
पि क्वचित्प्रयोगो दृश्यते, लाघवं प्रत्यनादरात् । अवश्यलाव्यम् । अत्रो-  
पपदसमासासम्भवेऽपि मयूरव्यंसकादेराकृतिगणत्वात्समासः । उत्त-  
रपदप्रकृतिस्वरत्वमपि तत्रैव निपातनाद्बोध्यम् ।

आसुयुवपिरपिप्रपिचमश्च (पा०सू०३-१-१२६) ॥ आङ्पूर्वात्सुनो-  
तेर्युप्रभृतिभ्यश्च ण्यत् स्यात् । “अचो यत्” “पोरदुपधात्” (पा०सू०३-१-  
९७, ९८) इति यथायोगं प्राप्तस्य यतोऽपवादः । अत्र रपेरपरि लपिर्वृ-  
त्तिकृता प्रक्षिप्त इत्युक्तम् । युञ् अभिषवे (स्वा०उ०१) । आसाव्यम् ।  
यु मिश्रणे (अ०प०२३) । याव्यम् । ‘युञ् बन्धने’ (क्या०उ०७) इत्यस्य तु  
सानुबन्धकत्वान्नेह ग्रहणम् । वाप्यम् । राप्यम् । अपत्राप्यम् । आचाप्यम् ।

आनाय्योऽनित्ये (पा०सू०३-१-१२७) ॥ नयतेराङ्पूर्वात् ण्यदाया-  
देशौ निपात्येते । रूढ्यर्थमपि निपातनम् । तेन घटादौ न भवति । कि-  
न्तु दक्षिणाग्निविशेष एव भवति । तथाहि—दक्षिणाग्नेर्योनिर्विकल्प्यते  
वैश्यकुलाद्वित्तवतः भ्राष्ट्राद्वा गार्हपत्याद्वेति । तत्र यो गार्हपत्यादानी-  
यते आहवनीयेन सहैकयोनिः, तत्रैवेदं निपातनं, तस्य चानित्यत्वम्,  
सततमप्रज्वलनात् । अत्र भाष्यम्—

आनाय्योऽनित्यइति चेद्दक्षिणाग्नौ कृतं भवेत् ।

एकयोनौ तु तं विद्यादानेयो ह्यन्यथा भवेत् ॥

चेदित्यस्यानन्तरं घटादिष्वतिप्रसङ्ग इति शेषः । भवेदिति सम्भा-



वने लिङ्, निपातनादेव रुढिः सम्भाव्यत इत्यर्थः । एकयोनाविति । आहवनीयेन सहेति शेषः । आनेय इति । घटादावनित्ये भिन्नयोनौ च दक्षिणाग्नौ “अचो यत्” (पा०सू०३-१-९७) इति यदेव भवतित्यर्थः ।

प्रणार्योऽसम्मतिः (पा०सू०३-१-१२८) ॥ सम्मननं सम्मतिः । प्रीतिविषयभावोपगमनं कर्मव्यापारोऽत्र विवक्षितः । तथा भोगविषय आदरोऽपि सम्मतिः । तन्त्रेणार्थद्वयं विवक्षितम् । तेन पूजानर्हं निष्कामे च प्रपूर्वाग्नयतेः ण्यदायादेशौ निपात्येते । प्रणार्यश्चोरः । ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणार्यायान्तेवासिने नान्यस्मै कस्मै चन ।

पार्यसान्नार्यनिकायधार्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु (पा० सू०३-१-१२९) ॥ यथासंख्यं चतुर्षु चत्वारो निपात्यन्ते । पार्यं मानम् । मीयतेऽनेन मानम् । माङो ण्यत्प्रत्ययः करणे । “आतो युक् चिण्कृतोः” (पा०सू०७-३-३३) इति युक् । धात्वादेः पत्वञ्च निपातनात् । मेयमन्यत् । सान्नार्यं हविर्विशेषः । सम्यङ् नीयते होमार्थमग्निं प्रतीति । सम्पूर्वाग्नयतेऽर्ण्यदायादेशौ उपसर्गदीर्घत्वञ्च निपात्येते । ऐन्द्रन्द्ध्यमावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायामिति विहितयोर्दाधिपयसोः संक्षेपम् ।

माघस्तु यथाश्रुतग्राही हविर्मात्रे प्रायुङ्क्त—

प्रतिशरणमशीर्णज्योतिरग्न्याहितानां

विधिविहितविरिग्धैः सामिधेनीरधीत्य ।

कृतगुरुदुरितौघध्वंसमध्वयुर्मुख्यै-

हुंतमयमवलीढे साधुसान्नार्यमग्निः ॥ इति । (मा०का०११-४१)

नन्विदमपि दधिपयोविषयकमेव किं न स्यादिति वाच्यम्, चन्द्रोदयास्तमयवर्णनपूर्वकं सूर्योदयं प्रक्रम्य पठितस्यास्य कृष्णप्रतिपद्विषयत्वेन तत्र दधिपयोयोगस्यासम्भवात् । हविर्विशेषवाचकस्य सामान्ये विशेषान्तरे वा लक्षणेऽपि बोध्यम् । निकायो निवासः । निपूर्वाच्चिनोतेरधिकरणे ण्यत्, आयादेशः, आदेः कत्वञ्च निपात्येते । निचीयतेऽस्मिन्धान्यादिकमिति विग्रहः । निचेयमन्यत् । अत्रैवार्थं निकायशब्दोऽप्यस्ति । स च “निवासचितिशरीरोपसमाधानेऽस्वादेशकः” (पा०सू०३-३-४१) इत्यत्र व्युत्पादयिष्यते । धाञो ण्यत्प्रत्ययः सामिधेन्याम् । समिधामाधानी सामिधेनी । “समिधामाधाने षेण्यण्” (का०वा०) । “प्रवोवाजाः” इत्यादिका ऋचः सामिधेन्यः । अत्र च न सर्वा सामिधेनी धार्येत्युच्यते, किन्तु समिध्यमानवन्ती समिद्धवन्ती चान्तरेण विकृतिषु प्रक्षिप्यमाणा “पृथुपाजा अमर्त्यः” इत्यादिकैव । सूत्रे सामिधेनीग्रहणं प्रयोगविषयोपलक्षणार्थम् । तथा चासामिधे-



न्यामपि दृश्यते—घाट्याः शंसति । “अग्निर्नेता” “त्वं सोमक्रतुभिः” इति ज्योतिष्टोमे मरुत्वतीये शस्त्रविधानमेतत् । तत्र ‘धीयते अनथा समित्’ इति करणे ण्यदिति हरदत्तग्रन्थः “पृथुपाजाः” इत्यादिविषयः, ‘धीयत इति घाट्या’ इति कर्मणि ण्यदिति माधवग्रन्थस्तु “अग्निर्नेता” इत्यादिसाधारण इति विवेकः । सर्वश्रायं विशेषो निपातनस्य कृत्यर्थत्वाल्लभ्यते ।

क्रतौ कुण्डपात्यसञ्चाय्यौ (पा०सू०-३-१-१३०) ॥ एतौ निपात्येते क्रतौ वाच्ये । तत्र कुण्डशब्दे तृतीयान्ते उपपदे पितृतेर्धातोरधिकरणे यत् प्रत्ययो निपात्यते युक्च । कुण्डेन पीयते अस्मिन्सोम इति कुण्डपात्यः क्रतुः । ननु अत्र ण्यदेव निपात्यतां प्रकृतत्वात्, एवञ्च युक् न निपातनीयः, “आतो युक्” (पा०सू०-७-३-३३) इत्येव सिद्धत्वादिति लाघवमपीति चेत् ? मैवम्, तित्स्वरप्रसङ्गात् । इष्यते तु “यतोऽनावः” (पा०सू०-६-१-२१३) इत्याद्युदात्तत्वम्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण तस्यैव परिनिष्ठितत्वात् । तथा च प्रयुज्यते—“यस्ते शूङ्गवृषो नयात् प्रणपात् कुण्डपात्यः” इति । सम्पूर्वाच्चिन्नोत्तेर्ण्यत् आयादेशश्च निपात्यते । सञ्चयिते असौ सञ्चाय्यः क्रतुः । क्रताविति किम् ? कुण्डपानं, सञ्चयः ।

अग्नौ परिचार्योपचार्यसमूहाः (पा०सू०-३-१-१३१) ॥ एते निपात्यन्ते अग्नावाभिधेये । अग्निश्चेह न ज्वलनः, किन्तु तद्धारणार्थमिष्टकाचयननिर्मितस्थलविशेषः, तत्रैव निरुद्धत्वात् । परिपूर्वादुपपूर्वाच्च चिन्नोत्तेर्ण्यदायादेशौ निपात्येते-परिचार्यः । उपचार्यः, सम्पूर्वाद्ब्रह्मे सम्प्रसारणं दीर्घत्वञ्च निपात्यते—समूहां चिन्वीत पशुकामः । अग्नाविति किम् ? परिचेयम् । उपचेयम् । संवाह्यम् । इह सम्पूर्वात् “ऊह वितर्कं” (श्वा०आ०-६४९) इत्यस्मादनेकार्थत्वाद्ब्रह्मेरर्थे वर्तमानाद्धलन्तत्वाण्यति ‘समूह्यम्’ इति सिद्धम् । युक्तं चैतत्, “समूहां चिन्वीत पशुकामः । पशवो वै पुरुषः । पशुनेवास्मै तत्समूहति” इति वक्ष्येण ऊहिना ब्राह्मणे समूह्यशब्दस्य निरुक्तत्वात् । उक्तञ्च वार्तिककृता-

‘समूह्य’ इत्यनर्थकं वचनं सामान्यकृतत्वात् । वक्ष्यर्थमिति चेद्ब्रह्मे स्तदर्थत्वात्सिद्धम् । ऊहिविग्रहाच्च ब्राह्मणे सिद्धमिति ।

चित्पाग्निचित्ये च (पा०सू०-३-१-१३२) । चित्येत्यत्र कर्मणि क्यप् निपात्यते । यतोऽपवादः । धातुस्वरेणाद्युदात्तं पदम् । चीयते असौ चित्योऽग्निः । अग्नेश्चयनमग्निचित्या । भावे यकारप्रत्ययस्तुक् च निपात्यते, न तु क्यप् । तेनान्तोदात्तत्वं भवति । इह सूत्रे ‘अग्नौ’ इत्यनु-



वर्त्तते, तच्च चित्यशब्दस्यैव विशेषणं, नाग्निचित्याशब्दस्य, तस्य भावे निपातितत्वात् । तेनाग्नेरन्यत्र 'चेयम्' इत्येव भवति ।

समाप्ताः कृत्याः ॥

ण्वुल्लृचौ (पा०सू०३-१-१३३) ॥ धातोण्वुल्लृचौ स्तः । इत ऊ-  
र्ध्वमध्यायपरिसमाप्तेरुत्सर्गतः "कर्तरि कृत्" (पा०सू०३-४-६७) इत्यु-  
क्तेः कर्तरि प्रत्ययाः । पाचकः । पक्ता । तृचश्चकारः सामान्यग्रहणा-  
विधातार्थः । "तुश्छन्दसि" (पा०सू०५-३-५९) "तुरिष्ठेमेयः सु" (पा०  
सू०६-४-१५४) इति । एवञ्च "अप्त्न्" (पा०सू०६-४-११) इति सूत्रे-  
ऽपि तृन्तृचोः इति पृथक्ग्रहणं विहाय 'अप्त्स्वसृ' इत्येव ग्रहण-  
मुचितम् ।

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (पा०सू०३-१-१३४) ॥ नन्द्यादे-  
र्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात् । नन्दिग्रहिपचादयश्च न धा-  
तुपाठे सन्निविष्टाः संगृह्यन्ते । किन्तर्हि नन्दन रमण इत्येवमादिषु प्रा-  
तिपदिकगणेषु ये प्रकृतिभागास्ते इह बुद्ध्या पृथक् कृत्य गृह्यन्ते । न-  
न्वेवं किमनेन सूत्रेण, गणपाठादेव नन्दनादिशब्दानां साधुत्वोपप-  
त्तेरिति चेत् ?

अत्र हरदत्तः--असत्यस्मिन्नष्टाध्याय्यां क्वचिदप्यनुपयोगात् गण-  
पाठो नापेक्षिष्यते इति । तस्यायमाशयः--एत एव साधव इति स्वरू-  
पनियमपरं हि व्याकरणशास्त्रं तच्च "सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वम्" इति न्यायेन  
सूत्रात्मकम् । तथा च यत्सूत्रैः कथमपि न विषयीकृतं, तस्य गाव्यादि-  
वदर्थोदसाधुत्वं प्रसज्येतेति ।

नन्दिवाशिमादिदूषिसाधिवर्द्धिशोभिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम्  
(ग०सू०) ॥ दुनदि समृद्धौ (श्वा०प०६७) । नन्दयतीति  
नन्दनः । वाश्ट शब्दे (दि०आ०७७) । वाशनः । मदी हर्षे (दि०  
प०१०२) । मदनः । दुष वैकृत्ये (दि०प०७९) । "दोषो णौ" (पा०सू०  
६-४-९०) इत्युत्वम्, दूषणः । राध साध संसिद्धौ (श्वा०प०१६, १७) ।  
विप्रो यज्ञस्य साधनः । ल्युः कर्त्तरीति पुंस्त्वम् । कथन्तर्हि 'हातुराहु-  
तिसाधनं धेनुः' इति ? करणे ल्युटि सामान्ये नपुंसकं भविष्यति ।  
वृधु वृद्धौ (श्वा०आ०७६०) वर्द्धनः । शुभ शुम्भ शोभार्थे (तु०प०४१,  
४२) शोभनः । रुच दीप्तौ (श्वा०आ०७४६) । रोचनः ।

सहितपिदमः संज्ञायाम् (ग०सू०) ॥ सह मर्षणे (श्वा०आ०  
८७७) सहनः । तप सन्तापे (श्वा०प०१०१०) तपनः । दमु उप-  
शमे (दि०प०९७) । दमनः । जप जल्प व्यक्तायां वाचि (श्वा०प०३९७,



३९८) । जल्पनः । रमु क्रीडायां (भ्वा०आ०८७८) रमणः । हृष हर्षवि-  
मोचनयोः (दि०प०९०) दर्पणः । क्रदि आवहाने रोदने च (भ्वा०प०७१)  
सङ्क्रन्दनः । कृष विलेखने (भ्वा०प०१०१५) सङ्कर्षणः । हृषु अलीके  
(भ्वा०प०७१०) हर्षणः । अर्द हिंसायाम् (भ्वा०प०५५) जनमर्दयतीति  
जनार्दनः । कर्मण्यणि प्राप्ते । एवमुत्तरत्रापि कर्मण्युपपदे द्रष्टव्यम् । यु  
मिश्रणे (अ०प०२३) । यवनः । वृद् क्षरणे (भ्वा०आ०२५) । मधुर्नामा-  
ऽसुरस्तं सूदयतीति मधुसूदनः । जिभी भये (जु०प००२) । विपूर्वात्  
णिचि “भियो हेतुभये पुक्” (पा०सू०७-३-४०) इति पुक्, विभीषणः ।  
लृञ् छेदने (क्या०उ०११) । निपातनाणत्वम्, लवणः । णश अदर्शने  
(दि०प०८८), दमु उपशमे (दि०प०९७) । ण्यन्तौ । वित्तं नाशयतीति  
वित्तनाशनः । कुलं दमयतीति कुलदमनः, शत्रुदमनः । इति नन्धादिः ।

ग्रह उपादाने (क्या०उ०६१) । ग्राही । वह मर्षणे (भ्वा०आ०८७७)  
उत्साही । दसु उपक्षये (दि०प०१०७) उद्गासी । भस भर्त्सनदीप्तयोः  
(जु०प०१८) उद्गासी । तिष्ठते: “आतो युक्” (पा०सू०७३-३३) ।  
स्थायी । मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे (जु०आ०१४६) चुरादिः, मन्त्री । अर्द  
हिंसायाम् (जु०उ०२९६) । समर्दी ।

रक्षश्रुवपशां नौ (ग०सू०) ॥ रक्ष पालने (भ्वा०प०६५९)  
निरक्षी । श्रु श्रवणे (भ्वा०प०९६७) । निश्रावी । इवप् बीजसन्ताने  
(भ्वा०उ०१०२८) निवापी । शो तनूकरणे (दि०प०३९) निशायी । च-  
त्वारोऽमी निपूर्वाः ।

याचूव्याहसंव्याहवृजवदवसां नञ्पूर्वाणाम् (ग०सू०) ॥ दुयाचू या-  
च्ञायाम् (भ्वा०उ०८८८) । हृञ् हरणे (भ्वा०उ०९२३) । व्रज गतौ (भ्वा०  
प०२५४) । वद् व्यक्तायां वानि (भ्वा०प०१०३४) । वस निवासे  
(भ्वा०प०१०३४) । अयाची । अव्याहारी । असंव्याहारी । अव्राजी ।  
अवादी । अवासी ।

अचामचित्तवत्कर्तृकाणाम् (ग०सू०) ॥ अजन्तानां चातूनाम् अचे-  
तनकर्तृकाणां णिनिर्भवति । प्रतिषिद्धार्थानामेव । अकारी । अहारी ।  
शीङ् स्वप्ने (अ०आ०२२) विशयी, वृद्धभावो निपातनात् । षिञ् ब-  
न्धने (स्वा०उ००२) विषयी, वृद्धयभावः प्राग्वत् । इह षत्वमपि निपा-  
तनादिति गणरत्नमहोदधिव्याख्यायां वर्द्धमानः । ‘विशयी विषयी  
देशे’ इति वृत्तिः । अभिभावी भूते । अभिभूतवान् अभिभावी । राघ सं-  
सिद्धौ (स्वा०प०१६) अपराधी । रुधिर् आवरणे (रु०उ००१) अवरोधी ।  
उपरोधी । परिभावी । इह पाक्षिको वृद्धयभावो निपात्यते । इति ग्रहादिः ।



डुपचष्पाके (भा०उ०१०२१) वच परिभाषणे (म०प०५३) इत्यादि ।

आकृतिगणोऽयम् । तथा च “शिवशमरिष्टस्य करे” (पा०सू०४-४-१४३) इति सूत्रे कृजोऽच्प्रत्ययः कृतः । “कर्मणि घटोऽठच्” (पा०सू०५-२-३५) इति सूत्रे च घटे । तथा “यडोऽविच्” (पा०सू०२-४-७४) इति सूत्रेण अस्मिन्नच् प्रत्यये परे यडो लुग्विहितः । भाष्ये च “अजपि सर्वधातुभ्यो वक्तव्यः” इत्युक्तम् । किमर्थं तर्हि पचाद्यनुक्रमणमिति चेत् ? नदट् इत्यादौ अनुबन्धासन्नार्थम्, कर्मोपपदानामिगुपधानां च बाधनार्थम् । अन्येषान्तु प्रपञ्चार्थम् । तथाहि-नदट्, भषट्, प्लवट्, चरट्, गरट्, तरट्, चोरट्, देवट्, सुदट् एते टितः । नद भव्यके शब्दे (भा०प०५४), टो डीर्घः, नदः । नदी । भष भर्त्सने (भा०प०६९६) भषी । प्लुङ् गतौ (भा०आ०९८३) प्लवी । चर गतौ (भा०प०५६०) चरी । गृ निगरणे (तु०प०१३०) गरी । तृ प्लवनतरणयोः (भा०प०९९४) तरी । चुर स्तेये (चु०प०१) चोरी । दिवु क्रीडादौ (दि०प०७) देवी । सुदिरुक्तार्थः, सुदी । मिष स्पृष्टायाम् (तु०प०७२) मेषः । कुप क्रोधे (दि०प०१२७) कोपः । सृप्ल गतौ (भा०प०१००८) सर्पः । इह दिविप्रभृतिषु इगुपधत्वात्कः प्राप्तः । डभृञ् (जु०उ०५) जारं विभर्तीति जारभरा । इवानं पचतीति इवपचा । अनयोः कर्मण्यण् प्राप्तः । न्यङ्कादिषु इवपाकशब्दस्य पाठात् पक्षे “कर्मण्यण्” (पा० सू०३-२-१) अपि भवतीति कैयटादयः । जृष्-सृङ्प्रभृतीनान्तु पाठः प्रपञ्चार्थ एवेति विवेकः ।

इगुपधञ्जाप्रीकिरः कः (पा०३-१-१३५) ॥ इगुपधेभ्यो जानातेः प्रीणातेः किरतेश्च कः प्रत्ययः स्यात् । विक्षिपः । विलिखः । विबुधः । कृशः । जानातीति ज्ञः । “आतो लोप इटि च” (पा०सू०६-४-४४) इत्यालोपः । प्रीङ् तर्पणे (कन्या०उ०२) इयडादेशः, प्राणातीति प्रियः । कृ विक्षेपे (तु०प०१२९) “ऋतं इक्षातोः” (पा०सू०७-१-१००), किरतीति किरः । सूत्रे तु इतरेतरयोगद्वन्द्वे व्यत्ययेन पञ्चम्येकवचने कृशब्दस्य धात्वनुकरणत्वेन “प्रकृतिवदनुकरणम्” इत्यतिदेशात् ऋत इत्वं बोध्यम् । समाहारद्वन्द्वे तु नपुंसकत्वेन ह्रस्वे सतीत्वं न स्यात् ।

आतश्चोपसर्गे (पा०सू०३-१-१३६) ॥ आकारान्तःखातोरुपसर्गे उपपदे कप्रत्ययः स्यात् । “इयाद्यधा” (पा०सू०३-१-१४१) इति प्राप्तस्य णप्रत्ययस्यापवादः । प्रस्थः । सुगलः । सुमलः ।

पात्राध्माधेड्दशः शः (पा०सू०३-१-१३७) ॥ एभ्यः पञ्चभ्यः शप्रत्ययः स्यात् । पिबतीति पिबः । जिघ्रः । ध्रमः । धयः । स्त्रियान्तु टाप्,



धया । यद्यपि धेटाष्टित्वात् स्तनन्धयीत्यत्रेव इहापि डीप् प्राप्नोति । तथापि “खशन्ते एव डीप् न तु शप्रत्ययान्ते” इति “नासिकास्तनयोः” (पा०सू०३-२-२९) इति सूत्रे हरदत्तः । इह सूत्रे ‘उपसर्गे’ इति केचिदनुवर्तयन्ति, तत्तु बहूनामसम्मतम् । तथा च प्रायुङ्क्त श्रीहर्षः—फलानि धूमस्य धयानधोमुखानिति । श्रूयते च—यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णमिति । अत्र पिबतेरेव ग्रहणं न तु ‘पा रक्षणे’ (अ०प०४६) इत्यस्य, लुग्विकरणत्वात् ।

घ्रः सञ्ज्ञायां प्रतिषेधः (का०वा०) ॥ अत्र च “व्याघ्रादिभिः” (पा०सू०५०२-१-५६) इति सौत्रनिर्देशो लिङ्गम् । व्याघ्रः । “आतश्चोपसर्गे” (पा०सू०३-१-१२६) इति कः ।

अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेज्येति सातिसाहिभ्यश्च (पा०सू०३-१-१३८) ॥ अनुपसर्गेभ्यो लिम्पादिभ्यः शप्रत्ययः स्यात् । लिम्पतीति लिम्पः । विन्दतीति विन्दः । सूत्रे लिम्पविन्देति भाविना नुमा सनुमुकौ निर्दिष्टौ । तेन विकरणेतराणामग्रहणम् । लाभार्थस्यैव तु ग्रहणम् । धृञ् धारणे (भा०उ०९२५), धृङ् अवस्थाने (तु०आ०१३२), ण्यन्तयोर्द्वयोरपि ग्रहणम् । धारयः । अथ कथं “न मह्यमत्रोत्तरधारयस्य ते” इति श्रीहर्षः ? परत्वाद्धि सूत्रधारादिष्विव कर्मण्यणा भाव्यम् । तथा च वार्तिकम्—अकारादनुपपदात्कर्मोपपदो विप्रतिषेधेन (का०वा०) इति । सत्यम्, कर्मणः शेषत्वविवक्षायां मणोऽप्राप्त्या शे कृते शेषषष्ठ्यन्तेन समासो भविष्यति । एतेन गङ्गाधरभूधरजलधरादयो व्याख्याताः । पार कर्मसमासौ (चु०प०३७९) पारयतीति पारयः । विद्चेतनाख्यानादिषु (चु०आ०१७५) चुरादिः । ज्ञानाद्यर्थानामन्यतमो वा हेतुमण्यन्तः । वेदयतीति वेदयः । एजृ कम्पने (भा०आ०१७३) ण्यन्तः । उदेज्यतीत्युदेजयः । चिति संज्ञाने (चु०प०२) चुरादिः । चेतयतीति चेतयः । सत सुखे चुरादिण्यन्त इति बोपदेवः । सातिः सौत्रो हेतुमण्यन्त इति हरदत्तः । सातयः । वासरूपन्यायेन किपि सात् । सम्पदादित्वाद्भावे किञ्वा । एवञ्च एष एवानन्दयतीति श्रुतिबलादानन्दयितृविज्ञानमानन्दमित्यादि श्रुतिबलादानन्दरूपं ब्रह्म साच्छिद्दार्थः । तदस्येषामिति सात्वन्तो भक्ताः । एतेन “सात्वतां पतये नमः” इत्यादि व्याख्यातम् । सदेव सात् इत्युक्त्वा आर्षत्वञ्च वदन्तः प्रत्याख्याताः । ‘बह मर्षणे’ (भा०आ०८७७) चुरादिर्हेतुमण्यन्तो वा, साहयः । उदाहरणेषु लिम्पिविन्दिभ्यां “तुदादिभ्यः शः” (पा०सू०३-१-७७) “शे मुचादीनाम्” (पा०सू०७ १-६९) इति नुम् । धारयादिषु शब्दु-



णयादेशाः । अनुपसर्गादिति किम् ? प्रलिपः ।

नौ लिम्पोरिति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ निलिम्पा नाम देवाः ।

गवादिषु वित्देः संज्ञायामिति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ गोविन्दः । अरविन्दः । चक्रस्य नाभिनेम्योरन्तराले स्थितानि काष्ठानि अरः, तदाकाराणि दलानि सादृश्यात्तच्छब्दभाञ्जि लभत इत्यर्थे कर्मण्यणो बाधनायेदम् ।

ददातिदधात्योर्विभाषा (पा०सू०३-१-१३९) ॥ शः स्यात् । पक्षे “इयाद्यधा” (पा०सू०३-१-१४१) इति णः । ददः । दधः । दायः । धायः । अनुपसर्गादित्येव । प्रदः । प्रधः । दद दाने (श्वा०आ१७) दध धारणे (श्वा०आ०८) आभ्यामाचि ‘ददः’ ‘दधः’ इति सिद्धम् । दाधाभ्यां णे ‘दायः’ ‘धायः’ इति । सत्यम्, स्वरार्थमिदं सूत्रम् । अददः । अदधः । अत्र नञ्स्वरेण आद्युदात्तत्वं यथा स्यात् । अजन्तत्वे तु “अच्कावशकौ” (पा०सू०६-२-१५७) इति अन्तोदात्तत्वमिति महान् भेदः ।

ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (पा०सू०३-१-१४०) ॥ इतिशब्द आद्यर्थः । ‘ज्वल दीप्तौ’ (श्वा०प०८५६) इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः ‘कस गतौ’ (श्वा०प०८८५) इत्यन्तेभ्यो णो वा स्यात् । ज्वलः, ज्वालः । चलः, चालः । अनुपसर्गादित्येव, प्रज्वलः । कसिमधीत्य ‘वृत्’ इति ये पठन्ति तेषां मते कसन्तग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम् । ज्वलधातुश्च यद्यपि घटादिषु परस्ताच्चेति द्विः पठ्यते तथापि द्वितीय एवेह गृह्यते, घटादिपाठस्य मित्संज्ञायां चरितार्थत्वात् । इतरस्य चानन्यार्थत्वात् ज्वलादिषु ‘भ्रमु चलने’ (श्वा०प०८७५) इति पठ्यते । तस्मादण्ये ‘भ्रमः’ इति रूपं, नोदात्तोपदेशस्य” (पा०सू०७-३-३३) इति वृद्धिनिषेधात् । ज्वलादिपाठस्तु स्वरार्थः ‘अभ्रमः’ इत्यत्र “अच्कावशकौ” (पा०सू०६-२-१५७) इति स्वरो मा भूदिति ।

तनोर्ण उपसंख्यानम् (का०वा०) । अवतनोतीत्यवतानः । विभाषेत्यनुपसर्गादिति च नात्र वार्तिके सम्बध्यते ।

इयाद्यधाम्नुसंस्वतीणवसावहलिहश्लिषइवसइव (पा०सू०३-१-१४१) ॥ अनुपसर्गादिति निवृत्तम्, उत्तरसूत्रे पुनरनुपसर्गग्रहणात् । एवञ्च तत्सम्बद्धं विभाषाग्रहणमपि निवर्त्तते । इयैङ्प्रभृतिभ्यो णः स्यात् । इयैङ् गतौ (श्वा०आ०९८८) अस्य आदन्तत्वादेव सिद्धे उपसर्गे कं बाधितुं ग्रहणम् । अवश्यायः, प्रतिश्यायः । “आतो युक्” (पा०सू०७-३-३३) इति युक् । एतेनावस्यतेर्ग्रहणं व्याख्यातम् । आत्-दायः, धायः । इह सूत्रे ‘इया आत्’ इति प्रश्लेषो न तु शीङो यणादेशेन, नापि



अततेः, अच्छन्दान्तानां वा यतिप्रभृतीनाम् । नाप्यकारान्तानाम् । अत्र च व्याख्यानमेव शरणम् । व्यध ताडने (दि०प०७५) व्याधः । क्षु ग-  
तौ (भा०प०९६०) आङ्पूर्वः सम्पूर्वश्च । आस्त्रावः । संस्त्रानः । इण्  
गतौ (पा०सू३५) अति पूर्वः । अत्यायः । षोऽन्तकर्मणि (दि०प०४१) ।  
हृन् हरणे (भा०उ०९२४) । अवपूर्वः । अवसायः । अवहारः । लिह आ-  
स्वादने (अ०उ०६) लेहः । श्लिष आलिङ्गने (दि०प०८०) श्लेषः ।  
इवस प्राणने (अ०प०५९) इवासः ।

दुन्योरनुपसर्गे (पा०सू०३-१-१४२) ॥ दुनोतेर्नयतेश्च अनुपसर्गा-  
णः स्यात् । दुनोतीति दावः । नयतिसाहचर्यात्सानुबन्धकस्य दुनो-  
तेरिह ग्रहणम् । निरनुबन्धकादवतेस्तु पचाद्यच्, दवः । करणसाधनो वा  
“ऋदोरप्” (पा०सू०३-३-५७) इत्यबन्तः । “दवदावौ वनारण्यवही”  
(अ०को०३-३-२१४) इत्यमरः । नयतीति नायः । अनुपसर्गे किम् ?  
प्रदवः । प्रणयः ।

विभाषा ग्रहः (पा०सू०३-१-१४३) । णः स्यात् । पक्षे अच् । व्यव-  
स्थितविभाषेयम् । तेन जलचरे-ग्राहः । ज्योतिषि-ग्रहः ।

भवतेश्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ भवो देवः संसारश्च । भावाः  
पदार्थाः । एतद्वक्तव्यं भाष्यं नास्ति । ‘भावाः’ इति तु प्राप्त्यर्थाच्चुरा-  
दिष्यन्तादच्च बोध्यम् ।

गेहे कः (पा०सू०३-१-१४४) ॥ ग्रहेः कः स्यात् गेहे कर्तरि । गृहा-  
ति धान्यादिकमिति गृहम् । तात्स्थ्याद् गृहा दाराः । गृहशब्दोऽर्थ-  
जादिः । तत्र पुल्लिङ्गो बहुवचनान्त एव । नपुंसकस्तु अभिधेयवचनः ।  
द्विविधोऽपि वेश्मनि मुख्यः । दारेषु गौणः । तथा च—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।

इति वेश्मनि मुख्यतामभिप्रेत्यैव व्यवहरन्ति । वृत्तिकारस्तु तन्त्रा-  
वृत्त्योरन्यतराश्रयणेन सूत्रे गेहशब्देन अर्थद्वयं निर्दिश्य प्रत्ययविधानाद्  
दारेष्वपि गृहशब्दं मुख्यमेवेच्छन्ति । ‘गेह’ इति च प्रत्ययार्थस्य कर्तु-  
र्विशेषणं न तूपपदं “गृहपतिना संयुक्ते” (पा०सू०४-४-९०) इति  
निर्देशादिति न्यासकारहरदत्तौ । गृह ग्रहणे (चु०आ०३६७) इति चुरा-  
दावदन्ताणिञ्चि पचाद्यच्चा भ्वादेरिगुपलक्षणेन कप्रत्ययेन वा गृहश-  
ब्दस्य सिद्धौ निर्देशस्यान्यथोपपत्तेर्दुर्बलमिदं ज्ञापकम् । व्याख्यानादेव  
तु कर्तृविशेषणतेत्यवधेयम् ।

वस्तुतस्तुक्तीत्यैव गृहशब्दसिद्धेः “गेहे कः” इति सूत्रं शक्यम्-  
कर्तुमिति दिक् ।



शिल्पिनि ष्वुन् (पा०सू० ३-१-१४५) ॥ धातोः ष्वुन् स्यात् शिल्पिनि कर्तरि । क्रियाकौशलं शिल्पं, तदस्यास्तीति शिल्पी । पूर्वेण साहचर्यात् 'शिल्पिनि' इत्यपि प्रत्ययार्थस्य विशेषणम् । अत्र भाष्ये "नृतिखनि रञ्जिभ्यः" इति परिगणनं कृतम् । नर्तकः । नर्तकी । खनकः । खनकी । "जनीजृष्कनसुरञ्जोऽमन्ताश्च" (ग०सू०) इति मित्त्वोक्तिर्ज्ञापयति—रञ्ज-रक्छित्यपि क्वचिदनुनासिकलोपो भवतीति न्यासकारहरदत्तादयः । एवञ्च "रञ्जैर्णौ मृगरमणे" (का०वा०) इति "रजकरजनरजस्सूपसङ्ख्यानम्" (का०वा०) इति च वार्त्तिकं ज्ञापनसिद्धार्थानुवादकम् । रजकः । रजकी । षित्वान्डीष् ।

भाष्यमते तु डीष् न भवति । तथाहि—षष्ठे "रजकरजनरजःसूपसङ्ख्यानम्" इति वार्त्तिकं प्रत्याख्यातुं भाष्यकृतोक्तं "कित एते औणादिकाः" इति,

तत्र कैयटः—'रजकः' इति "क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोः" (उ०सू० २००) इति क्वुन् । 'रजनम्' इति "रञ्जेः क्युन्" (उ०सू० २४६) इति क्युन् । 'रजः' इति "भूरञ्जिभ्यां कित्" (उ०सू० ६६६) इत्यसुन्प्रत्ययः । 'रजकी' इत्यत्र तु पुंयोगलक्षणो डीष् । अपुंयोगे तु डीषा न भाव्यमिति भाष्यकाराभिप्राय इति । एवञ्च भाष्यमते नृतिखनिभ्यामेव ष्वुन् न तु रञ्जेरिति स्थितम् ।

गन्धकन् (पा० सू० ३-१-१४६) ॥ गायतेस्थकन् स्यात् शिल्पिनि कर्त्तरि । गायकः । गामादाग्रहणेऽपि 'गै शब्दे' (भा०प० ९४२) इति इह गृह्यते न तु 'गाङ् गतौ' (भा०आ० ९७५) इति । थकन्प्रत्ययो हि गायत्यर्थविषयमेव शिल्पिनमभिधातुं समर्थः ।

ण्युट् च (पा० सू० ३-१-१४७) ॥ गायतेण्युट् स्यात् शिल्पिनि कर्त्तरि । गायनः । गायनी । योगविभाग उतरत्रास्यैवानुवृत्त्यर्थः ।

हश्च ब्रीहिकालयोः (पा० सू० ३-१-१४८) ॥ जहातेजिहातेश्च ण्युट् स्यात् ब्रीहौ काले च कर्त्तरि । जहात्युदकमिति हायनो ब्रीहिः । अम्बुनोऽधिकं वर्धनात् । जिहीते जलमिति वा विग्रहः । जलं प्रायेणापक्षते इत्यर्थः । जाङ्गलदेशोद्भवा ब्रीहिविशेषा हायना इत्याहुः ।

प्रलयावस्थायां जहाति भावानिति, जिहीते गच्छति परिच्छेदकत्वेन व्याप्नोतीति वा हायनो वर्धम् । अत्रापि ब्रीहिकालयोरिति नोपपदम्, "त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य" (का०वा०) इति लिङ्गात् ।

प्लसुत्वः समभिहारे वुन् (पा० सू० ३-१-१४९) ॥ पभ्यो वुन् स्यात् साधुकारिणि कर्त्तरि । समभिहारग्रहणेन साधुकारित्वं लक्ष्यते, भूयः



सहचारात् । यो हि यां क्रियां पुनः पुनरनुतिष्ठति स तत्र कौशलं लभते इत्युत्सर्गः । तेन सकृदपि यः सुष्ठु करोति तत्र भवति । बहुशोऽपि दुष्टं कुर्वति न भवति । प्रवकः । सरकः । लवकः । सुत्रे 'प्लुत्वः' इति पञ्चम्याः स्थाने जस् ।

आशिषि च (पा०सू०३-१-१५०)॥ अप्राप्तप्रार्थनाविषयीभूतेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्धुन् स्यात्कर्तरि । जीवतात् जीवकः । नन्दतात् नन्दकः । आशीश्चेह प्रयोक्तृधर्मः । पित्रादिगतेच्छाविषयीभूतमोर्जीविननन्दनयोः कर्तरि पुत्रादौ पित्रादेरियमुक्तिः ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयाध्यायस्य प्रथमे पादे

षष्ठमान्हिकम् ॥ पादश्च समाप्तः ॥

कर्मण्यण् (पा०सू० ३-२-१) ॥ कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कर्म च सप्तधेत्युक्तम् । तत्सर्वमविशेषादिह गृह्यते । निर्वर्त्ये-कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । विकार्ये—काण्डलावः । प्राप्ये—वेदाध्यायः । यद्येवं 'ग्रामं गच्छति' 'आदित्यं पश्यति' 'हिमवन्तं शृणोति' इत्यादौ प्राप्नोति ? सत्यम्, अनभिधानान्नेति भाष्यम् । तच्चानभिधानं यत्राभिधैरुक्तं तत्रैव । अन्यत्र तु यथालक्षणं भवत्येव ।

यत्तु वृत्तौ 'त्रिविधं कर्मह गृह्यते' इत्युक्तं, तस्यायमाशयः—'आदित्यं पश्यति' इत्यादौ मा भूदित्येवमर्थं 'कर्मणि निर्वर्त्यमाने विक्रीयमाणे इति वक्तव्यम्' इत्याशङ्क्य वार्त्तिककृतोक्तम्—कर्मणि निर्वर्त्यमाने विक्रीयमाणे इति चेद्वेदाध्यायादीनामुपसङ्ख्यानमित्यादि । एवं स्थिते त्रिविधमपीह कर्म गृह्यते, न तु प्राप्यं न गृह्यत इति । एवञ्च त्रिविधमिति वृत्तिदृष्ट्वा सूत्रान्तरोक्तं नेह गृह्यत इति न भ्रमितव्यम् । तथा च "दिशः कर्म च" (पा०सू०१-४-४३) इत्यत्र संज्ञासमावेशस्य प्रयोजनमुक्तम्—'मनसा देवः' इत्यत्र कर्मत्वाद्ण्, करणत्वात्तृतीयेति । एवञ्च 'वृक्षावासः' 'पर्वतावासः' इत्याद्यपि यथाऽभिधानं भवत्येव ।

शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च (का०वा०)॥ 'शील समाधौ' (श्वा०प०५२४) । 'कमु कान्तौ' (श्वा०आ०४४४) । 'भक्ष अदने' (जु०प०२४) चुरादिण्यन्तः । चरिर्गत्यर्थ आङ्पूर्वः । णस्य णित्करणं चरेर्द्व्यर्थम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरं बाधितुं पूर्वपदेत्यादि । मांसं शीलयति मांसशीला । मांसकामा । मांसभक्ष्वा । अत्र अणि सति ङीप्स्यात् । णेऽप्यण्कार्यमिति तु ताच्छीलिके एवेति वक्ष्यते । "मनेर्दीर्घत्वञ्च" (उ०सू०३५१) इति सप्रत्ययान्तत्वाद्नतोदात्तो मांसशब्दः । कल्या-



णाचारा । कल्याणशब्दो 'लघावन्ते' (फि०सू०४२) इति मध्योदात्तः ।

ईक्षिक्षमिभ्यां चेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ अत्रापि पूर्वपदप्रकृतिस्वर-  
त्वं चेति सम्बध्यत एव । वाक्यभेदस्तु वैचित्र्यार्थः । सुखप्रती-  
क्षा । बहुक्षमा ।

स्यादेतत् । यो मांसं भक्षयति तस्य मांसं भक्षो भवति । तत्र  
भक्षयतेः कर्मण्येरजन्तस्य बहुव्रीहिणा सिद्धम् । एवमन्यत्रापि ।  
यस्तु अप्यन्तस्तस्य घञन्तस्य बहुव्रीहिः । न च 'बहुभक्षः' इत्य-  
त्र 'बहोर्नञ्बत्' (पा०सू०६-२-१७५) इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वं स्या-  
दिति वाच्यम्, भावे अजन्तेन बहुषु भक्षोऽस्येति विग्रहोपपत्तेः । न  
ह्यत्र बहुस्वरप्राप्तिरस्ति, उत्तरपदार्थस्य बहुत्वाभावात् । एवञ्च वार्त्ति-  
कद्वयमपि नारम्भणीयमिति चेत् ? मैवम्, कर्मण्यणं बाधितुं तस्याव-  
श्यारभ्यत्वात् ।

अकारादनुपपदात्कर्मोपपदो विप्रतिषेधेन (का०वा०) ॥ पचादि-  
भ्योऽच् अनुपपद अकारः, तस्यावकाशः-पचतीति पचः । कर्मोप-  
दस्यावकाशः-काण्डलावो वृजति । 'ओदनपचः' इत्यत्र उभयप्रस-  
ङ्गे परत्वादणोव । तेनोपधावृद्धिः उपपदसमासश्च नित्यो भवति । अ-  
चि तु षष्ठीसमासो वैकल्पिकः स्यात् । कथं तर्हि 'गङ्गाधरः' 'श्रीधरः'  
'वज्रधरः' 'भूधरः' 'स्वर्गधरः' इत्यादि ?

अत्र केचित्—युगपद्विवक्षायां हि भवतु विप्रतिषेधः, केवलप्र-  
कृत्यर्थविवक्षायान्तु अचि कृते पश्चात्कर्मसम्बन्धे सिद्धं रूपमिति ।

अत्र हरदत्तः—एवं सति 'ओदनपचः' इत्यपि स्यात्, तच्चानिष्टम् ।  
किञ्चोक्तरीतिन्यायविरुद्धा, एकत्वात्प्रयोगस्य । न हि तस्मिन्नेव प्रयोगे  
विवक्षितं चाविवक्षितं च कर्म भवति । तस्मात् 'ओदनपचः' इत्यसाधु-  
रेव । गङ्गाधरादयस्तु संज्ञाशब्दा इत्याह ।

अत्रेदं वक्तव्यम्, परिनिष्ठिते प्रयोगे कर्मान्वयसत्त्वेऽपि प्रक्रियाद-  
शायां क्रमेण विवक्षायां न क्षतिः । कथमन्यथा शक्यञ्चेत्यादौ अन्त-  
रङ्गः पदसंस्कारो बहिरङ्गत्वात्वेन न विहन्येतेत्यादि तत्र तत्रोच्यते ।  
किञ्च कर्मणः शेषत्वविवक्षयाऽपि गङ्गाधरादिशब्दानां सौष्ठवे सम्भव-  
ति रथन्तरादिवन्न केवलं संज्ञात्वमाश्रयितुं युक्तम् । ओदनपचशब्दो-  
ऽपि उक्तरीत्या प्राप्नोत्येव । यदि त्वस्यासाधुत्वे प्रमाणमस्ति तर्ह्यन-  
भिधानं शरणीक्रियतामित्यास्तां तावत् ।

प्रकृतमनुसरामः—पचादिभ्य एवाजिति यथाश्रुतसूत्रमनुसृत्य  
विप्रतिषेध उदाहृतः । यदा तु 'अजपि सर्वधातुभ्यः' इति पक्षस्तदा



अपवादत्वादेव तस्याण् बाधको बोध्यः । किञ्च गुपधज्ञाप्रतीकरः कोऽनु-  
पपदः । तस्यावकाशः-‘विक्षिपः’ ‘विलिखः’ । कर्मोपपदस्य स एव ।  
‘काष्ठभेदः’ इत्यत्र परत्वाद्गुप् । तथा “अनुपसर्गालिम्पविन्द” (पा०सू०  
३-१-१३८) इति अनुपपदः शः । तस्यावकाशः-‘लिम्पतीति लिम्पः’ ।  
कर्मोपपदस्य स एव । ‘कुड्यलेपः’ इत्यत्र परत्वाद्गुप् । तथा “आतश्चो-  
पसर्गे” (पा०सू०३-१-१३६) इति कः अनुपपदः ‘सुगलः’ ‘सुम्लः’ इत्यत्र  
सावकाशः । कर्मोपपदस्तत्रैव । ‘गोसन्दायः’ इत्यत्र परत्वादणो भवति ।

व्हावामश्च (पा०सू०३-२-२) ॥ एभ्यः कर्मण्युपपदे अण् स्यात् ।  
कस्यापवादः । ‘वहेज् स्पर्द्धायां शब्दे च’ (भा०आ०१०३३) । स्वर्गव्हा-  
यः । ‘वेज् तन्तुसन्ताने’ (भा०आ०१०३१) । तन्तुवायः । ‘वा गतिगन्धन-  
योः’ (अ०प०४०) इत्ययन्तु नेह गृह्यते, अकर्मकत्वात् । भ्रमणार्थो ह्यसौ ।  
यद्यपि सोपसर्गस्य सकर्मकत्वं दृश्यते “सर्वा दिश आवान्ति” “वात  
आवा तु भेषजम्” इति । तथापि तत्र पूर्वणैवाण् सिद्धः । “वाता वा-  
न्ति दिशो दश” इति तु प्रयोगश्चिन्त्यः । अथापि क्वचित्कथञ्चित् स-  
कर्मकत्वं निर्वाह्यते, तथापि वहेजा सानुबन्धेन साहचर्यात् वेज् एव  
ग्रहणं, न तु वातेः । ‘माङ् माने’ (जु०आ०६, दि०आ०३६) ‘मेङ् प्राणि-  
दाने’ (भा०आ०९८६) उभयोरपि ग्रहणम् । धान्यमापः । ‘मा माने’  
(अ०प०५२) इत्यस्य तु सम्भावनार्थस्थाकर्मकत्वादग्रहणम् ।

आतोऽनुपसर्गे कः (पा०सू०३-२-३) ॥ आदन्ताद्धातोरेनुपस-  
र्गात् कर्मण्युपपदे कप्रत्ययः स्यात् । अणोऽपवादः । गोदः । पार्णित्रम् ।  
अनुपसर्गे किम् ? गोसन्दायः । अत्र वार्त्तिकम्—

कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डः (का०वा०) ॥ सम्प्रसारणभा-  
जः प्रसारणिनः । ‘ज्या वयोहानौ’ (कन्या०प०२७) । ब्रह्म जिनातीति ब्र-  
ह्मज्यः । सर्वत्रग्रहणाच्चेहैव “आतश्चोपसर्गे” (पा०सू०३-१-१३६) आव्हः ।  
प्रव्हः । अत्र के सति सम्प्रसारणं स्यात् । ‘आव्हा अ’ इति स्थिते  
सम्प्रसारणे पूर्वत्वे च कृते उवडादेशे ‘आहुवः’ ‘प्रहुवः’ इति प्राप्नोति  
एवं ‘ब्रह्मजियः’ इति प्राप्नोति । न च “एरनेकाचः” (पा०सू०६-४-८२)  
इत्यनेन यण्, अङ्गस्य एकाच्त्वात् । ननूभयत्रापि सम्प्रसारणे कृते आतो  
लोपः । तस्य स्थानिवद्भावादियङुवङौ न भविष्यत इति चेत् ?

स्यादेवम् । यद्यातोलोपो लभ्येत । स तु दुर्लभः, अन्तरङ्गेण पूर्व-  
त्वेन बाधात् । न च “वाणांदाङ्गं बलीयः” (प०भा०५६), व्याश्रयत्वात् । न-  
न्वेवमपि व्यर्थमेव वार्त्तिकम्, प्रागेव सम्प्रसारणादातो लोपे कृते तस्य  
स्थानिवद्भावादिसिद्धत्वाद्वा उवङोऽप्रवृत्तौ यणादेशेन ‘आव्हः’ ‘प्रव्हः’







ज्यते । सुपि आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः कप्रत्ययः स्यात् । द्वाभ्यां पिबतीति द्विपः ।

स्थः ॥ सुपि तिष्ठते कः स्यात् भावे । आखूनामुत्थानमाखूत्थः । प्रक्रियाकौमुद्यान्तु 'आखूत्थम्' इति नपुंसकं पठ्यते तत्प्रामादिकम्, भाष्यादौ सर्वत्र पुल्लिङ्गस्यैवोदाहृतत्वात्,

ल्युः कर्त्तरीमनिज् भावे को घोः किः प्रादितोऽन्यतः ।

(अ०को०३-५-१५)

इत्यमरकोशाद्भावे कस्य पुंस्त्वविधानाच्च, भावे "नणकचि-  
द्भ्योऽन्यः" इति नपुंसकविधाने कस्य पर्युदासाच्च । ननु "स्थः" इति  
सूत्रेण विधीयमानोऽपि कः कृत्वात्कर्त्तर्यैव स्यादिति चेत् ? न, "आतः"  
(पा०सू०३-२-३) इत्यनेनैव सिद्धेः । तथा च 'स्थः' इत्यारम्भसाम-  
र्थ्यान्न कर्त्तरि किन्त्वनिर्दिष्टार्थत्वात्स्वार्थे । धातोश्च स्वार्थो भाव  
एव । नन्वेवं "घञर्थे कविधानम्" (का०वा०) इत्यनेनैव गतार्थत्वमिति  
चेत् ? न, वार्त्तिकं दृष्ट्वा सूत्रकृतोऽप्रवृत्तेः । किञ्च नित्यसमासार्थमिदम् ।  
अन्यथा हि "षष्ठी" (पा०सू०२-२-८) इति सूत्रेण पाक्षिकः समासः  
स्यात् । इष्यते तु नित्यमुपपदसमासः । तथा च आखूनामुत्थानमिति  
अस्वपदविग्रहः क्रियते । "घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनिनुध्य-  
र्थम् इत्यत्र स्थाग्रहणन्तु कर्तृवर्जिते कारके यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

इत ऊर्ध्वं कर्मणि सुपीति च द्वयमप्यनुवर्त्तते । तत्र सकर्मकेषु  
कर्मणीत्युपतिष्ठते "स्पृशोऽनुदके" (पा०सू०३-२-५८) इति यावत् ।  
अन्यत्र सुपीति "सुप्यजातौ णिनिः" (पा०सू०३-२-७८) इति यावत् ।  
एवञ्च प्रकृतस्य सुब्रह्मणस्य उपसर्गेतरपरत्वं "सत्सूद्विष" (पा०सू०  
३-२-६१) इति सूत्रस्थेन 'उपसर्गेऽपि' इत्यनेन ज्ञापितमिति सुप्रमात्रप-  
रिग्रहार्थं णिनिविधौ पुनः सुप्रग्रहणमिति वक्ष्यामः ।

तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः (पा०सू०३-२-५) ॥ तुन्दशोकयोः  
कर्मणोरुपपदयोः परिमृजापनुदिभ्यां धातुभ्यां कप्रत्ययः स्यात् ।

आलस्यसुखाहरणयोरिति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ आलस्ये सुखो-  
त्पादने च गम्यमाने प्रत्यय इत्यर्थः । तत्र सामर्थ्यादलसे कर्त्तरि सुख-  
स्य चाहर्त्तरि प्रत्यय इति फलितं भवति । तुन्दं परिमार्ष्टीति तुन्दप-  
रिमृजोऽलसः ।

अत्र मृजेरजादाविति वैकल्पिकी वृद्धिर्नेति हरदत्तः । भवतीत्य-  
परे । एतन्मतद्वयबलाबलं तु "ङ्ङिति च" (पा०सू०१-१-५) इति सूत्रे  
प्रतिपादितम् । अलसादन्यत्र 'तुन्दपरिमार्जः' इत्येव भवति । शोका-



पनुदः सुखस्याहर्ता । यस्तु संसारासारत्वाद्युपदेशेन शोकमेव केवल-  
मपनुदति न तु सुखमुत्पादयति स शोकापनोदः ।

कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ तादर्थ्य  
एषा चतुर्थी । मूलविभुजादिसिध्यर्थमित्यर्थः । मूलानि विभुजतीति  
मूलविभुजो रथः । नखान्मुञ्चतीति नखमुचानि धनूंषि । कौ मोदते  
कुमुदं सरोरुहम् । इह यद्यपि 'काकगुहास्तिलाः' इति भाष्यवृत्त्यादिषु  
उदाहृतं तथापि काकेभ्यो गूहितव्या इति कर्मार्थावगतेः "घञर्थे कवि-  
धानम्" (का०वा०) इत्यत्रेदं द्रष्टव्यमिति हरदत्तः ।

आकृतिगणोऽयम् । तेन महीध्रकुध्रशिरोध्रशिरोरुहादि सिद्धम् ।

प्रे दाहः (पा०सू०३-२-६) ॥ दारुपाज्जानातेश्च प्रोपसृष्टात्कर्मण्यु-  
पपदे कप्रत्ययः स्यात् । अणोऽपवादः । सर्वप्रदः । पथिप्रहः । प्रे इति  
किम् ? गोसम्दायः । अनुपसर्ग इत्यनुवृत्तेः प्रेत्यस्मादन्यस्मिन्नुपसर्गे  
सति को न भवति, किन्त्वणैव, गोसम्प्रदायः । इह वृत्तौ ददातेरित्युक्तं,  
तत्तु सर्वेषां दारुपाणामुपलक्षणम् । गामादाग्रहणेष्वविशेषादिति हरदत्तः ।

समि ख्यः (पा०सू०३-२-७) ॥ सम्पूर्वात्ख्या इत्यस्मात्कर्मण्युपपदे  
कप्रत्ययः स्यात् । गाः सञ्चष्टे गोसंख्यः । चक्षिङः ख्याज्जादेशः । 'ख्या  
प्रकथने' (अ०प०५०) इत्यस्य तु सम्पूर्वस्य प्रयोगो नास्तीति न्यासकारः ।

गापोष्टक् (पा०सू०३-२-८) ॥ आभ्यां टक् स्यादनुपसर्गे कर्मण्युप-  
पदे । सामगः । सामगी । अत्र वार्त्तिकम्—

सुराशीध्वोः पिबतेरिति (का०वा०) ॥ अत्र पिबतेरिति लुग्विक-  
रणपरिभाषालब्धार्थकथनम् । उपपदपरिगणनन्तु वाचनिकमेव ।  
सुरापः । सुरापी । शीधुपः । शीधुपी । सुराशीध्वोः किम् ? क्षीरपा  
ब्राह्मणी । पिबतेरिति किम् ? सुरां पाति रक्षतीति सुरापा । अनुपसर्गे  
किम् ? सामसङ्गायः । गामादाग्रहणेष्वविशेषेपि 'गै शब्दे' (भा०प०९४२)  
इत्यस्यैवात्र ग्रहणं न तु 'गाङ् गतौ' (भा०आ०९७) इत्यस्य सानुबन्ध-  
स्य, नापि 'गा स्तुतौ, (जु०प०२४) इति जुहोत्यादेः, निरनुबन्धेन अलु-  
प्तविकरणेन च पिबतिना साहचर्यात्, अनभिधानाद्वा ।

बहुलं तणि (का०वा०) ॥ या ब्राह्मणी सुरापा भवति नैतां देवाः  
पतिलोकं नयन्ति ।

हरतेरनुद्यमनेऽच् (पा०सू०३-२-९) ॥ उत्क्षेपणादन्यस्मिन्नर्थे वर्त्त-  
मानाद्धरतेर्धातोः कर्मण्युपपदेऽच् स्यात् । अणोऽपवादः । अशहरः ।  
रिक्थहरः । अनुद्यमने किम् ? भारहारः ।

अच्प्रकरणे शकिलाङ्गलाङ्कुशतोमरयष्टिघटघटीधनुःषु ग्रहंरुप-



संख्यानम् (का०वा०) ॥ शक्तिग्रहः । लाङ्गलग्रहः, इत्यादि । लिङ्गविशिष्ट-  
परिभाषया घटग्रहणेनैव सिद्धे घटीग्रहणं परिभाषाया अनित्यत्वज्ञा-  
पनार्थम् । तेन 'मद्राज्ञी' इत्यत्र टच् न । 'द्विषतीतापः' इत्यत्र "द्विष-  
त्परयोः" (पा०सू०३-२-३९) इति खच् नेति दिक् ।

सूत्रे च धार्येथं (का०वा०) ॥ ग्रहेरुपसंख्यानमित्येव । सूत्रग्रहः ।  
धार्येथं इति किम् ? यः सूत्रं केवलमुपादत्ते न तु धारयति तत्राणव  
यथा स्यात्, सूत्रग्रहः ।

वयसि च (पा०सू०३-२-१०) ॥ वयसि गम्यमाने हरतेर्धातोः कर्म-  
ण्युपपदे अच् स्यात् । अणोऽपवादः । उद्यमनार्थ आरम्भः । कवचहरः  
क्षत्रियकुमारः । इह कवचोद्यमनं क्रियमाणे सम्भाव्यमानं वा वयो गम-  
यति । तेनास्त्यपि कवचग्रहणे 'कवचहरः' इति भवति ।

आङ्गि ताच्छील्ये (पा०सू०३-२-११) ॥ आङ्पूर्वाद्धरतेः कर्मण्युप-  
पदेऽच्प्रत्ययः स्यात्ताच्छील्ये गम्यमाने । पुष्पाण्याहरति तच्छीलः पु-  
ष्पाहरः । फलाहरः । ताच्छील्ये किम् ? भारमाहरति भाराहारः ।

अर्हः (पा०सू०३-२-१२) ॥ अर्ह पूजायामित्यस्मात्कर्मण्युपपदेऽच्  
स्यात् । अणोऽपवादः । स्त्रियां विशेषः, पूजार्हा ब्राह्मणी ।

स्तम्बकर्णयोरमिजपोः (पा०सू०३-२-१३) ॥ स्तम्बकर्णयोरुपपदयोः  
यथासंख्यं रमिजपिभ्यामच्प्रत्ययः स्यात् । रमिस्तावदकर्मकः । ज-  
पिस्तु शब्दकर्मकः 'मन्त्रं जपति' इत्यादिदर्शनात् । उभावपि प्रति स्त-  
म्बकर्णयोः कर्मत्वासम्भवात् सुपीत्येवात्र सम्बध्यते ।

हस्ति सूचकयोरिति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ स्तम्बे रमते इति स्त-  
म्बरमो हस्ती । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" (पा०सू०६-३-१४) इत्यलुक्,  
"हलदन्तात्" (पा०सू०६-३-९) इति वा । कर्णेजपः सूचकः । हस्ति-  
सूचकाभ्यामन्यत्र तु स्तम्बेरन्ता । कर्णेजपिता मशकः । उपांशुशब्दा-  
यितेत्यर्थः ।

शमि धातोः संज्ञायाम् (पा०सू०३-२-१४) ॥ शमि उपपदे धातुमा-  
त्रात् संज्ञायां विषये अच् स्यात् । शङ्करः । शम्भवः । शब्दः । धात्वधि-  
कारे पुनर्धातुप्रयणमपवादविषयेऽपि प्रवृत्त्यर्थम् । तथा च वार्त्तिकम्—

शमिसंज्ञायां धातुग्रहणं कृजो हेत्वादिषु टप्रतिषेधार्थमिति (का०  
वा०) ॥ असति धातुग्रहणे शमिसंज्ञायामित्यस्यावकाशः—शम्भवः, शब्दः ।  
"कृजो हेतुताच्छील्य" (पा०सू०३-२-२०) इत्यस्यावकाशः—'श्राद्ध-  
करः' । 'शङ्करः' इत्यत्रोभयप्रसङ्गे परत्वादृ एव स्यात् । धातुग्रहणसा-  
मर्थ्यादजैव भवति । शङ्करा नाम परिव्राजिका तच्छीला । कुणरवाङ्-



वस्त्वाचार्यो मन्यते । गृणातेः शब्दकर्मण एतद्रूपम् । पृषोदरादित्वाङ्गकारस्य ककार इति । तन्मते धातुग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम् ।

अधिकरणे शेतेः (पा०सू०३-२-१५) ॥ सुपीति सम्बध्यते । अत्र स्यात् । खे शेते खशयः ।

पाद्वर्वादिषूपसङ्ख्यानम् (का०वा०) ॥ पाद्वर्वाभ्यां शेते पाद्वर्शशयः । पृष्ठशयः । उदरशयः ।

दिग्धसहपूर्वाच्च (का०वा०) ॥ दिग्धेन सह शेते इति विग्रहे दिग्धसहशयः । अत्र दिग्धसहशब्दो मयूरव्यंसकादिः । तस्य शयशब्देन सह उपपदसमासः ।

उत्तानादिषु कर्तृषु (का०वा०) ॥ उत्तानः शेते उत्तानशयः । अवमूर्धशयः । अवनतो मूर्धा यस्य अवमूर्धः । अधोमुखः शेते इत्यर्थः ।

गिरौ डङ्छन्दसि (का०वा०) ॥ गिरौ शेते गिरिशः ।

तद्धितो वा (का०वा०) ॥ गिरिरस्यास्तीति गिरिशः । लोमादित्वाङ्छः । इह यद्यपि कृच्छ्रिताभ्यां गिरिशशब्दो द्वेधा भाष्यवाप्तिकयोर्व्युत्पादितस्तथापि लोके तद्धितान्त एव, न तु कृदन्तः, “डङ्छन्दसि” (का०वा०) इत्युक्तेः । एवञ्च “प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावात्” “मारोपितं यद्गिरिशेन पञ्चात्” “गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी” इत्यादि प्रयुञ्जानानां कवीनां न कोऽप्यपराधः । ‘गिरौ शेते’ इति व्याचक्षाणानां तु प्रमाद इत्यवधेयम् ।

चरेष्टः (पा०सू०३-२-१६) ॥ अधिकरणे उपपदे चरेष्टः स्यात् । कुरुचरः । कुरुचरी ।

भिक्षासेनादायेषु च (पा०सू०३-२-१७) ॥ एषु उपपदेषु चरेष्टः स्यात् । भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः । चरतिरत्र चरणपूर्वके अर्जने वर्तते । चरणेन भिक्षामर्जयतीत्यर्थः । सेनां चरति प्रविशतीति सेनाचरः । आदायेति ल्यबन्तं, आदाय चरति गच्छतीत्यादायचरः । भक्षयतीति वा । कथं—

“प्रेक्ष्य स्मितां सहचरीं व्यवधाय देहम्” इति ?

पचादिषु चरडिति पठ्यते । “सुप्सुपा” (पा०सू०२-१-४) इति समासः । टविधानं तु नित्यसमासार्थम् ।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः (पा०सू०३-२-१८) ॥ टः स्यात् । पुरः सरतीति पुरःसरः । अग्रतःसरः । अग्रमग्रेणाग्रे वा सरतीत्यग्रेसरः । सुप्ते अग्रशब्दस्य पदन्तत्वमपि निपात्यते । कथन्तर्हि—

“यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्” इति ? बाहुलकादिति हरदत्तः ।



पूर्वे कर्त्तरि (पा०सू०३-२-१९) ॥ कर्तृवाचिनि पूर्वशब्द उपपदे स-  
त्तेष्टः स्यात् । पूर्वः सरतीति पूर्वसरः । कर्त्तरीति किम् ? पूर्व देशं सर-  
तीति पूर्वसरः ।

कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (पा०सू०३-२-२०) ॥ हेत्वादिषु यो-  
त्येषु करोतेष्टः स्यात् । हेतुसिंहः लौकिकः । यशस्करी विद्या । “अतः  
कृकमि” (पा०सू०८-३-४६) इति सः । ताच्छील्ये-भाङ्गकरः । आनु-  
लोम्ये-वचनकरः । एषु किम् ? कुम्भकारः । इह प्रसिद्धतरत्वात् द्वय-  
नुबन्धकोऽपि करोतिरेव गृह्यते न तु ‘कृञ् हिंसायाम्’ (स्वा०उ०७)  
इति । हेतुः कारणम् । आनुलोम्यमाराध्यचित्तानुवर्त्तनम् ।

दिवाविभानिशाप्रभाभास्कारान्तानन्तादिबहुनान्दीकिलिपिलिबि-  
बलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसङ्ख्याजङ्घाबाह्वहर्षसञ्चनुररुषु (पा०सू०  
३-२-२१) ॥ एषु सुबन्तेषु यथायोगं कर्मसु चोपपदेषु करोतेष्टः  
स्यात् । अहेत्वाद्यर्थ आरम्भः । दिवा दिवसे करोति प्राणिनश्चेष्टायुक्ता-  
निति दिवाकरः । अत्र दिवाशब्दः अन्हीति सप्तम्यन्तस्यार्थे वर्त्तत  
इति तस्य कर्मत्वानुपपत्तेः सुपीत्यनेन सम्बन्धः । शेषाणां तु कर्मणी-  
त्येष । यदि तु वृत्तिविषये दोषाग्न्यमहर्हिवाग्न्या राजिरिति वत् कर्म-  
त्वमभ्युपगम्यते तदा सर्वेषां कर्मणीत्यनेनैव सम्बन्धो बोध्यः । विभा-  
करः । निशाकरः । प्रभाकरः । भास्करः । सूत्रे भास्कारान्तेति भाःश-  
ब्दस्य प्रत्ययसन्नियोगेन सकारो निपात्यते । तेन ‘भास्करः’ इत्यत्र वि-  
सर्जनीयजिह्वामूलीयौ न भवतः । यद्वा कस्कादिषु बोध्यः । कार-  
करः । कर एव कारः । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थे अण् । अन्तकरः । अनन्तक-  
रः । अन्तकरशब्देन नञ्समासेऽप्येतदेव रूपम् । स्वरे तु विशेषः । न  
असमासे हि सतिशिष्टोऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः । अनन्तशब्दस्योपप-  
दत्वे तु कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । आदिकरः । बहुकरः ।  
बहुशब्दोऽत्र वैपुल्यवचनः । संख्यावचनस्य तु संख्यावचनग्रहणेनैव  
सिद्धेः । नान्दीकरः । किङ्करः । लिपिलिबिशब्दौ पर्यायौ । लिपिकरः ।  
लिबिकरः । बलिकरः । भक्तिकरः । कर्तृकरः । चित्रकरः । क्षेत्रकरः ।  
संख्या-एककरः । द्विकरः । जङ्गाकरः । बाहुकरः । अहस्करः । अहन्,  
“रोऽसुपि” (पा०सू०८-२-६९) इति रेफः, कस्कादित्वात्सः । यत्करः ।  
तत्करः । धनुस्करः । अरुस्करः । “नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य”  
(पा०सू०८-३-८५) इति षत्वम् ।

कियत्तद्वहुषु कृञोऽज्विधानम् (का०वा०) ॥ वार्त्तिकमेतदिति कै-  
यटहरदत्तौ । इष्टिरिति माधवः । किङ्करा । यत्करा । तत्करा । वार्त्ति-



केन सूत्रवाधादृश्याभावात् 'किंकरी' इत्यसाधुरिति कैयटः । हेत्वादा-  
वपि टं बाधित्वा परत्वादजेवेति तस्याशयः । वृत्तौ तु पक्षान्तरमप्यु-  
क्तम्-अथ वा पचादिपाठः करिष्यते इति । इह किमादिग्रहणमपनीय  
पचादिष्वेव कियत्तद्वहुषु कृञ्जिति पठितव्यमिति तस्यार्थः । वार्त्तिक-  
मपीत्थमेव व्याख्येयमित्याशयः । अस्मिन्पक्षे हेत्वादिविवक्षायां पर-  
त्वाद्देन भाव्यम् । तेन किंकरणशीला 'किंकरी' इति भवत्येव ।

पुंयोगविवक्षायां तु निर्विवादो ङीष् । कियत्तद्वहुष्वज्जेति प्रक्रिया-  
यां विकल्पोक्तिस्तु आकरविरुद्धत्वात्कर्मण्यणोऽपि पक्षे प्रसङ्गाच्चायु-  
क्तैव । न चाजभावे सौत्रष्टः, सूत्रे किमादिग्रहणापनयनस्य हरदत्तादि-  
भिरुक्तत्वात् । अथवा सौत्रस्यापनयनं मास्त्विति प्रौढिवादेन नेया,  
ताच्छीलयादौ व्याख्यानभेदात् फलितं विकल्पमाश्रित्य विषयविशेषा-  
भिप्रायेण कथंचिद्वा नेया ।

कर्मणि भृतौ (पा०सू०३-२-२२) ॥ कर्मशब्दे कर्मण्युपपदे करोतेष्टः  
स्याद् भृतौ गम्यमानायाम् । भृतिर्वेतनम् । कर्म निर्वेशः क्रियायाः नि-  
ष्क्रयाय देयं भक्तादि द्रव्यमिति यावत् । कर्मकरो भृतकः । कर्मकारोऽन्यः ।

न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु (पा०सू०३-२-२३) ॥  
पशूपपदेषु करोतेष्टो न स्यात् । हेत्वादिषु प्राप्तः प्रतिषिध्यते । शब्दका-  
रः । श्लोककार इत्यादि ।

स्तम्बशक्तोरिन् (पा०सू०३-२-२४) ॥ एतयोः कर्मणोरुपपदयोः  
करोतेरिन्प्रत्ययः स्यात् ।

ब्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ स्तम्बकरिर्ब्रीहिः । शकृ-  
त्कारिर्वत्सः । इतो निरवात्कदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणोत्तरपदमाद्युदात्तम् ।  
ब्रीहिवत्सयोः किम् ? स्तम्बकारः । शकृत्कारः ।

हरतेर्हतिनाथयोः पशौ (पा०सू०३-२-२५) ॥ हतिनाथयोः कर्मणो-  
रुपपदयोर्हरतेर्धातोः पशौ कर्त्तरि इन् प्रत्ययः स्यात् । हति हरतीति  
हतिहरिः । नाथं नासारज्जुं हरतीति नाथहरिः । इह प्रत्ययार्थस्य क-  
र्तुः पशुर्विशेषणं न तु तस्य बाधकः, प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरन्वयप्रसङ्गात् ।  
प्रकृत्यर्थो हि प्रत्ययार्थं विशिनष्टि । प्रकृतिश्चेह धातुः । तद-  
र्थश्च क्रिया । सा च साधनेन सम्बन्धार्हा । पशुशब्दस्तु चतुष्पाज्जातीयं  
षस्तु स्वरूपेणाचष्टे न शक्तिमद्रूपेण, नतरां शक्तिरूपेण । अतस्तथैव च  
प्रत्याख्यमानः पशुः प्रत्ययार्थो भवितुं नार्हति । अतः कर्त्तैव प्रत्ययार्थः ।  
तद्विशेषणं च पशुः सूत्रवाक्यजन्ये बोधे पशुरूपे कर्त्तरि वाच्ये प्रत्ययो  
भवतीति हि विषयः ।



उदाहरणे तु पशुरेव विशेष्यः । तत्राभेदेन सम्बन्धेन कर्ता विशेषणम् । तत्र प्रकृत्यर्थः परमविशेष्यः । पशुस्तु समुदायशक्त्या उपतिष्ठते । एतेन पङ्कजप्रभृतयो व्याख्याताः । पङ्कजनिकर्तृ पद्ममिति हि तत्रार्थः । एवं विधिवाक्येषु अलससुखाहर्त्रांहीहिवत्सयोरित्यादिषु सर्वत्र प्रत्ययार्थविशेषणत्वम् । उदाहरणेषु च विशेषणत्वमलसादीनां द्रष्टव्यम् । पशौ किम् ? दृतिहारः । नाथहारः ।

फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च (पा०सू०३-२-२६) ॥ एतौ निपात्येते । फलानि गृह्णातीति फलेग्रहिर्वृक्षः । “स्यादवन्ध्यः फलेग्रहिः” (अ० को०२-४-६) इत्यमरः । भट्टिकाव्ये तु फलग्राहिमात्रे इन् प्रयुज्यते “फलेग्रहीद्वंसिवनस्पतीनाम्” इति । उपपदस्यैदन्तत्वं इन्प्रत्ययश्च ग्रहेर्निपात्यते । आत्मानं विभर्तीत्यात्मम्भरिः । आत्मशब्दस्योपपदस्य मुमागमः, इन्प्रत्ययश्च भृजो निपात्यते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ इति वृत्तिः । कुक्षिम्भरिः । छन्दसि फलशब्दस्यादन्तत्वमपि दृश्यते । “यो वनस्पतीनां फलग्रहिः” इति । इदमपि कुक्षिम्भरिवच्चकारेण सङ्ग्राह्यमिति हरदत्तः । चान्द्रास्तु आत्मोदरकुक्षिष्विति पठन्ति । तथा च मुरारिः—

ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः । इति ।

देवापिवातापिप्रभृतयोऽप्यनेन सिद्धाः । भाष्ये तु भृजः कुक्ष्यात्मनोर्नुम् चेत्येतावदेव स्थितम् ।

छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् (पा०सू०३-२-२७) ॥ एभ्यः कर्मण्युपपदे इन्प्रत्ययः स्याच्छन्दसि । ‘वन षण सम्भक्तौ’ (भा०प०४६४, ४६५) गणे सहनिर्दिष्टौ भौवादिकौ इभावेव गृह्येते न तु ‘वनु याचने’ (त०आ०८) ‘षणु दाने’ (त०उ०२) इति तानादिकौ, निरनुबन्धकत्वात् साहचर्याच्च । ब्रह्मवर्ति त्वा क्षत्रवर्तिम् । ब्रह्म वनति क्षत्रं वनतीति विवक्षायामिन् प्रत्ययः । तदन्ताद् द्वितीयैकवचनम् । उत नो गोषणिन्धियम् । सुषामादित्वात् पत्वं, गां सनतीति विग्रहः । यौतेश्चानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी । ये पथां पथिरक्षयः । पन्थानं रक्षतः रक्षन्ति चेति विग्रहः । हविर्मथीनामभ्याविवासताम् । हविर्मथन्तीति हविर्भयः तेषाम् ।

एजेः खश् (पा०सू०३-२-२८) ॥ एज्ज कम्पने (भा०प०२३४) । अस्माप्यन्तात् कर्मण्युपपदे खश् स्यात् । जनम् एजयतीति जनमेजयः । सूत्रे ‘एजेः’ इति प्यन्तस्य निर्देशः न तु शुद्धस्येका, खशः शित्करणात् । तद्धि सार्वधातुकत्वं सति शब्दव्याख्या स्यादिति । न च शुद्धस्य



शपि सत्यसति वा विशेषोऽस्ति । नचोत्तरार्थं शिन्त्वमिति वाच्यम्, इहार्थत्वे सम्भवति केवलोत्तरार्थत्वस्यायुक्तत्वात् । खशः शिन्त्वं मुमर्थम् । 'शुनिन्धयः' इत्यादौ ह्रस्वत्वार्थम्—

खञ्प्रकरणे वातशुनीतिलशर्द्धञ्जघेदुदजहातिभ्य उपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ वातमजा मृगाः । शुनिन्धयः । "खित्यनव्ययस्य" (पा०सू० ६-३-६६) इति ऋस्वः । तिलन्तुदः । शर्द्धञ्जहा माषाः । ओहाक् त्यागे- (जु०प०८) । जुहोत्यादित्वाच्छपः श्लौ द्विवचनम् । "श्राभ्यस्तयोः" (पा०सू० ६-४-११२) इत्यालोपः । शर्द्धोऽपानशब्दः, तञ्जहतीति विग्रहः । माधवस्तु 'शर्द्धञ्जहा माषाः' इत्युदाजहार । दुर्गसिंहोऽप्येवम् । तत्र जहातिरन्तर्भावितण्यर्थः साध्वसिच्छिनत्तीतिवत् । माषाणां करणकर्तृत्वमिति वा ।

नासिकास्तनयोध्माधेटोः (पा०सू० ३-२-२९) ॥ खञ् स्यात् । तत्र यथासंख्यं वारयितुं वार्तिकम्—

स्तने धेटः (का०वा०) ॥

नासिकायां धमश्च धेटश्च (का०वा०) ॥ स्तनं धयतीति स्तनन्धयः । धेटष्टिस्वस्य अवयवे अचरितार्थत्वात्स्तनन्धयी । अत्रैव च डीबिष्यते नान्यत्रेत्याहुरिति हरदत्तः । अत्रैवेति खञ्प्रत्ययान्तोपलक्षणम् । तथा च क्षीरस्वामी 'स्तनन्धयीत्यादौ डीबर्थः' इति । वर्द्धमानोऽपि-शुनिन्धयी । स्तनन्धयी । खञ्प्रत्ययान्त एव डीबिति । तेन "पात्राध्माधेट्-दशः शः" (पा०सू० ३-१-१३७) इति शप्रत्यये "जातोऽनुपसर्गे" (पा०सू० ३-२-३) इति कप्रत्यये च टाबेव ।

अत्र च सम्प्रदाय एव शरणम् । नासिकन्धमः । "पात्रा" (पा०सू० ७-३-७८) इति धमादेशः । नासिकन्धयः ।

नाडीमुष्टयोश्च (पा०सू० ३-२-३०) ॥ एतयोः कर्मणोरुपपदयोध्माधेटोः खञ् स्यात् । अत्र यथासंख्यं नेष्यत इति भाष्ये वृत्तौ च स्थितम् । "यथासंख्यमनुदेशः" (पा०सू० १-३-१०) इति सूत्रे तु भाष्ये यथासंख्यमस्तित्युक्तम् । तन्मतमेवेन बोध्यम् । नाडिन्धमः, नाडिन्धयः । मुष्टिन्धमः, मुष्टिन्धयः । भाष्ये घटीक्षारीशब्दावप्युपसंख्यातौ । घटी-घटः । घटिन्धमः । घटिन्धयः । क्षारिन्धमः । क्षारिन्धयः । क्षारीशब्दः परिमाणवचनः । 'क्षरी' इति पाठान्तरम् । खरी गर्हमी । जातिलक्षणो डीष् । खरिन्धमः । खरिन्धयः । जयादित्यस्तु वातशब्दमप्युदाजहार, वातन्धमः । वातन्धय इति । तन्तु भाष्यादौ न दृश्यते ।

उदिकूले रुजिवहोः (पा०सू० ३-२-३१) ॥ उत्पूर्वाभ्यां रुजिवहिभ्यां



कूले कर्मण्युपपदे खञ् स्यात् । कूलमुद्भुजतीति कूलमुद्भुजः । कूल-  
मुद्बहः । धातूपसर्गयोः कार्यस्यान्तरङ्गत्वात्पूर्वं गतिसमासः पश्चादुप-  
पदसमासः । ननु “तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्” (पा०सू०३-१-९२) इत्यत्र  
यत्र सति प्रत्ययः स्यात् तत्रैव च सप्तमीनिर्दिष्टमुपपदम् इति व्या-  
ख्यानाद् उपपदमित्यनेन प्रत्यय आक्षिप्यते । ततश्च प्रत्ययेनैव समा-  
सः स्यान्न तु तदन्तेन समासः । संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण-  
स्य दुर्लभत्वादिति चेत् ? न, प्रत्ययमात्रेण सामर्थ्याभावात्संज्ञाविधा-  
वपि “प्रत्ययग्रहण” (प०भा०२३) परिभाषाऽप्रवृत्तेः । न चैवमपि तदा-  
दितदन्तनियमादुपसर्गविशिष्टेन समासानुपपत्तिः, कृद्ग्रहणे गतिकार-  
कपूर्वस्यापि ग्रहणात् । न चेदं कृद्ग्रहणमिति भ्रमितव्यम्, उपपदसंज्ञा-  
मात्रस्य मा भूदित्यादौ माडादिष्वपि प्रवृत्तिसम्भवेन कृतप्रत्ययव्यभि-  
चारित्वेऽप्युपपदसमासस्य कृतप्रत्ययाव्यभिचारात् । यत्कार्यं हि कृतप्र-  
त्ययं न व्यभिचरति तत्र कृद्ग्रहणपरिभाषा प्रवर्तते । यथा “धातोः  
स्वरूपग्रहणे” इत्येषा परिभाषा यत्कार्यं धातुं न व्यभिचरति तत्र प्रव-  
र्तते । अत एव ‘घृतस्फुग्भ्याम्’ इत्यत्र “अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य” (पा०  
सू०६-१-५९) इत्यमागमो न प्रवर्तते । एतेन ‘गोसन्दायः’ इत्यादि व्या-  
ख्यातम् । तत्रापि हि धातुमात्रात्कर्मण्यणि गतिसमासे च सगतिके-  
नोपपदसमासः ।

स्यादेतत्, सप्तमीनिर्दिष्टत्वाविशेषात्कूलस्येवोच्छब्दस्याप्युपपद-  
त्वं स्यात् । ततश्चोपपदयोः रुजिवहोश्च यथासङ्गं स्यादिति चेत् ?  
मैवम् । तत्र हि प्रत्येकमुपपदत्वमिच्छति तत्र समुदायात्सप्तमीमुच्चार-  
यति, लाघवात् । “नाडीमुष्टयोः” (पा०सू०३-२-३०) इति यथा । इह  
तु विपर्ययः कृतः । तस्मात् ‘उदि’ इति पञ्चम्याः स्थाने सप्तमी ।  
‘रुजिवहोः’ इति पञ्चम्याः स्थाने षष्ठी । तेनोक्तार्थलाभः । एतच्च  
यथासंख्यसूत्रे कैयटे स्पष्टम् ।

बहाभ्रे लिहः (पा०सू०३-२-३२) ॥ ब्रह्माभ्रयोः कर्मणोरुपपदयोरलि-  
हः खञ् स्यात् । बहः स्कन्धः, तं लेढीति बहंलिहो गौः । लिह आ-  
स्वाद्ने (अ०उ०६) । अदादित्वाच्छपो लुक् । खशो डिङ्त्वान्न गुणः ।  
अभ्रंलिहो वायुः ।

परिमाणे पचः (पा०सू०३-२-३३) ॥ परिमाणं प्रस्थादि, तस्मिन्क-  
र्मण्युपपदे पच्चेः खञ् स्यात् । प्रस्थं पचतीति प्रस्थम्पचा स्थाली ।  
खारिम्पचः कटाहः । इह सूत्रे परिमाण इति न स्वरूपग्रहणं, तस्य पचिं  
प्रति कर्मत्वायोगात् । अतस्तद्विशेषाः प्रस्थादयो गृह्यन्ते । तेऽपि यदि



परिमाणनिष्ठा एव स्युस्तर्हि विकलेदनवाचिना पचिना सह कर्मत्वा-  
सम्भव एव । अतः परिमिते ब्रीह्यादौ वर्त्तमाना इह ग्राह्याः ।

मितनखे च (पा०सू०३-२-३४) ॥ एतयोः कर्मणोः पचैः खश्-  
स्यात् । मितंपचा ब्राह्मणी । नखंपचा यवागूः । पचिरत्र तापवचनः ।

विध्वरूपोस्तुदः (पा०सू०३-२-३५) ॥ एतयोः कर्मणोरुपपदयोस्तु-  
देर्धातोः खश् स्यात् । विधुं तुदतीति विधुन्तुदः । अरुन्तुदः । “अरुर्द्धि-  
षदजन्तस्य मुम्” (पा०सू०६-३-६७) इत्युकारात्परो मुम् । “संयोगा-  
न्तस्य लोपः” (पा०सू०८-२-२३) । “सैहिकेयो विधुन्तुदः” (अ०को०  
१-३-२८) । “व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः” (अ०को०२-६-६४) “अरुन्तुदं तु  
मर्मस्पृक्” (अ०को०३-१-८१) इत्यमरः ।

असूर्यललाटयोर्दृशितपोः (पा०सू०३-२-३६) ॥ एतयोः कर्मणोरुप-  
पदयोर्यथासङ्ख्यं दृशितपिभ्यां खश् स्यात् । ‘असूर्यम्’ इत्यसमर्थस-  
मासः, दृशिना नञः सम्बन्धात् । सूर्यं न पश्यन्तीत्यसूर्यपश्याः राज-  
द्वाराः । “पात्राधमा” (पा०सू०७-३-७८) इति पश्यादेशः । गुप्तिपरश्चे-  
दं । एवञ्च नाम गुप्ता यदपरिहार्यदर्शनं सूर्यमपि न पश्यतीति । तेन  
सत्यपि सूर्यदर्शने प्रयोगो न विरुध्यते । यदा तु सूर्यदर्शनाभावमात्रं  
विवक्षितं तदा न भवितव्यमेव प्रत्ययेनानभिधानादिति न्यासकारः ।

उग्रस्पश्येरमदपाणिन्धमाश्च (पा०सू०३-२-३७) ॥ एते निपात्यन्ते ।  
‘उग्रम्’ इति क्रियाविशेषणं, तस्मिन्नुपपदे दृशोः खश् । उग्रं पश्यती-  
त्युग्रस्पश्यः । इरा उदकं तेन माद्यति दीप्यते अबिन्धनत्वादिति इरम्भ-  
दो मेघज्योतिः । मदी हर्षे (दि०प०१०२), अस्मादेव निपातनात् ‘दि-  
वादिभ्यः श्यन्’ (पा०सू०३-१-६९) भवति । पाणयो ध्मायन्तेऽस्मि-  
न्निति पाणिन्धमोऽध्वा । स पुनरस्मिन् गच्छद्भिः सर्पाद्यपनोदनाय पा-  
णयः शब्द्यन्ते तादृशः अन्धकाराद्यावृत्तो मार्गः ।

प्रियवशे वदः खच् (पा०सू०३-२-३८) ॥ ‘प्रिय’ ‘वश’ इत्येतयोः  
कर्मणोरुपपदयोर्वदेर्धातोः खच् स्यात् । प्रियंवदः । वशंवदः । खकारो  
मुमर्थः चकारस्तु “भवञि ऋस्वः” इति विशेषणार्थ इति वृत्तिः । “खे  
ऋस्वः” इत्युच्यमाने “एजेः खश्” (पा०सू०३-२-२८) जनमेजयः, अ-  
त्रापि स्यादिति भावः । ननु एकानुबन्धकग्रहणे न व्यनुबन्धकस्येति  
खशि न भविष्यति । न चैवमपि “कुलात्खः” (पा०सू०४-१-१३९) क-  
लीनः, “यस्य” (पा०सू०६-४-१४८) इति लोपाप्रवृत्तये ऋस्वः स्यादिति  
वाच्यम्, प्रकरणसाहचर्यादितुप्रत्ययस्यैव ग्रहणात् । किञ्च “दोषो गौ”  
(पा०सू०६-४-९०) इति सूत्रादत्र णावित्यनुवर्त्य खे परे गौ ऋस्वो



विधीयते । अतः कुलीने न दोषः । जनेमजये तु उक्तैव गतिः । सत्यम्, चिन्त्यप्रयोजन एवायं चकारः । प्रत्ययान्तरकरणमुत्तरार्थम् । 'द्विषन्त-  
पः' इत्यत्र ऋस्वणिलोपौ यथा स्यातां, शप् च मा भूदिति । नन्वेवमु-  
त्तरैव क्रियतामिति चेत् ? सत्यम्, इह करणमन्यतोऽपि भवतीति  
ज्ञापनार्थम् । तेनानुपदमेव वक्ष्यमाणं वार्त्तिकं गतार्थम् ।

खच्प्रकरणे गमेः सुपि (का०वा०) ॥ असंज्ञार्थमिदं वार्त्तिकम् ।  
संज्ञायां तु वक्ष्यमाणेन "गमश्च" (पा०सू०३-२-४७) इति सूत्रेणैव सि-  
द्धम् । इदञ्च वार्त्तिकं ज्ञापकसिद्धार्थमित्युक्तम् । मितङ्गमो हस्ती ।

विहायसो विह च (का०वा०) ॥ विहायसो 'विह' इत्ययमादेशो  
वक्तव्यः । खच्च डिद्धा वक्तव्यः । विहङ्गः । विहङ्गमः ।

डे च (का०वा०) ॥ डे परे विहायसो विहादेशो वक्तव्यः । विह-  
गः । "अन्यत्रापि दृश्यते" (का०वा०) इति डप्रकरणे वक्ष्यमाणेनेह डः ।

द्विषत्परयोस्तापेः (पा०सू०३-२-३९) ॥ एतयोः कर्मणोरुपपदयो-  
स्तापेः खच् स्यात् । तप दाहे (चु०प०२८६) चुरादिः, तप सन्तापे  
(श्वा०प०१०१०) श्वादिः, द्वयोरपि ग्रहणम् । द्विषन्तं तापयतीति द्विष-  
न्तपः । "अरुद्विषत्" (पा०सू०६-३-६७) इति मुमि संयोगान्तलोपः ।  
परन्तपः । "द्विषत्परयोः" इति द्वितकारको निर्देशः । तत्रैकेन द्विषच्छ-  
ब्दो विशेष्यते, तकारान्तो यो द्विषच्छब्द इति । सौत्रत्वान्निर्देशस्य  
विशेषणस्य परनिपातः । तेन स्त्रियां न भवति । घटघटीग्रहणेन "लि-  
ङ्गविशिष्ट" (पा०भा०७३) परिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनाद्वा । द्विषन्ती  
तापयतीति द्विषतीतापः । "कर्मण्यण्" (पा०सू०३-२-१) एव भवति ।

वाच्यमो व्रते (पा०सू०३-२-४०) ॥ वाकशब्दे कर्मवाचिन्पुपपदे यमेः  
खच् स्यात् व्रते गम्यमाने । शास्त्रेण बोधितः सङ्कल्पविशेषो व्रतम् ।  
वाचं यच्छतीति वाच्यमः । "वाच्यमपुरन्दरौ च" (पा०सू०६-३-६९)  
इति पूर्वपदस्यामन्तत्वम् । न चैवं खच्प्रत्ययोऽपि तत्रैव निपात्यतामि-  
ति वाच्यम्, व्रतादन्यत्रापि प्रसङ्गात् । यदि तु निपातनबलादेव व्रत-  
विषयता आश्रीयते तत्रैव वा व्रतग्रहणं क्रियते, वाच्यमो व्रते पुरन्दर-  
श्चेति, तदेह "वाच्यमो व्रते" इति सूत्रं "पुः सर्वयोः" (पा०सू०३-  
२-४१) इत्यत्र 'पुरिदारेः' इत्यंशश्च शक्यमकर्तुम् । व्रते किम् ? यो  
ह्यशक्त्यादिना वाचं यच्छति तत्राणैव यथा स्यात् । वाग्यामः ।

पुः सर्वयोर्दारिसहोः (पा०सू०३-२-४१) ॥ 'पुर' 'सर्व' इत्येतयोः कर्म-  
णोरुपपदयोर्यथासङ्गं दारिसहोर्धात्वोः खच् स्यात् । पुरं दारयतीति  
पुरन्दरः, "वाच्यमपुरन्दरौ च" (पा०सू०६-३-६०) इत्यम् । सर्वसह



राजा । इह सूत्रे 'दृ विदारणे' (कथा०प०२१) इत्यस्य ग्रहणं, न तु 'दृ मये' (श्वा०प०८१०) 'दृङ् आदरे' (तु०आ०१३१) इत्येतयोरित्युपदेशः । सहिग्रहणमसंज्ञार्थम् । संज्ञायान्तु "भृतृवृजि" (पा०सू०प०३-२-४६) इत्यादि वक्ष्यति ।

"भगे च दारेरिति वक्तव्यम्" इति काशिका । भाष्यादावदृष्टम्-पीदं बाहुलकेन लभ्यते । भगं दारयतीति भगन्दरः ।

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः (पा०सू०३-२-४२) ॥ एषु चतुर्षु कर्मसूपपदेषु कषेः खच् स्यात् । सर्वकूषः खलः । कूलकूषा नदी । अभ्रकूषो वायुः । करीषकूषा वात्या ।

मेघर्षिभयेषु कृजः (पा०सू०३-२-४३) ॥ एषु त्रिषु कर्मसूपपदेषु करोतेः खच् स्यात् । मेघङ्करः । ऋतिङ्करः । भयङ्करः । उपपदविधौ भयादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयतीत्युक्तत्वात् अभयङ्करः ।

क्षेमप्रियमद्रेऽण् च (पा०सू०३-२-४४) ॥ त्रिष्वेषु कर्मसूपपदेषु करो-तेरण् स्याच्छात्खच् । क्षेमङ्करः । क्षेमकारः । प्रियङ्करः । प्रियकारः । मद्रङ्करः । मद्रकारः । वेति वक्तव्ये अणग्रहणं हेत्वादिषु टप्रतिषेधा-र्थम् । कथन्तर्हि 'अल्पाारम्भाः क्षेमकराः' इति ? कर्मणः शेषत्वविवक्षायां पञ्चाद्यच् भविष्यति ।

छन्दसि 'शिवङ्करः' इत्यपि दृश्यते । तथा चाथर्वशाखायां 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत्परित्यज्य' इति । कर्तृव्यत्ययात्सिद्धम् ।

आशिते भुवः करणभावयोः (पा०सू०३-२-४५) ॥ अत्र 'सुपि' इत्यु-पतिष्ठते न तु 'कर्मणि' इति, भवतेरकर्मकत्वात् । यद्यपि सोपसर्गस्य प्राप्त्यर्थस्य च भवतेः सकर्मकत्वमस्ति तथापि तत्र खच् न भवित-व्यमनभिधानादित्याहुः ।

आशितशब्दश्च द्विविधोऽत्र गृह्यते । 'अश भोजने' (कन्या०प०५१) इत्यस्मादाङ्पूर्वादविवक्षिते कर्मणि कर्त्तरि कप्रत्ययान्त एकः । अशे-र्ष्यन्तात्प्रयोज्यकर्मणि कप्रत्यये कृते अपरः । "आशितः कर्ता" (पा० सू०६-१-२०७) इत्याद्युदात्तविधिरप्युभयोरविशिष्टः । तत्र द्वितीये प्रयोज्य एव भूतपूर्वगत्या कर्त्तोच्यते । प्रत्यवसानार्थानामणौ कर्त्तुर्णौ कर्मसंज्ञाविधानात् । "कृषन्निर्त्तफालआशितं कृणोति" इत्यत्रापि अयमेव ग्राह्यः । अवग्रहादर्शनात् । आद्ये तु साम्प्रतिकमेव कर्तृत्वम् । यस्तु "ध्रौ-व्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः" (पा०सू०प०३-४-७६) इति भावकर्माधिकर-णेषु कः, तदन्तो नात्र गृह्यते, अनभिधानात् । सूत्रार्थस्तु आशित-शब्दे सुबन्त उपपदे भवतेर्धातोः करणे भावे चार्थे खच् स्यात् । आ-



शितो भवत्यनेन आशितम्भव ओदनः । यावता ओदनेन अतिश्यादि-  
भोजितो भवति स एवमुच्यते । भावे-आशितस्य भवनमाशितम्भवः ।  
इह “वासरूप” (पा०सू०३-१-२४) विधिना ल्युडपि भवति । ‘आशि-  
तभवनम्’ इति । घञ् तु बाध्यते एव, सरूपत्वादित्याहुः ।

न चात्र “कल्युट् तु मुन् खलर्थेषु वासरूपविधिर्न” (पा०भा०७०) इति  
निषेधः शङ्क्यः, यत्र हि घञादेरपवादत्वेन ल्युट् प्रसक्तः, उत्सर्ग-  
नित्यं बाध्यते न तु विकल्पेनेति तदर्थः । इह तु ल्युटोऽपवादोऽयं खच् ।  
तत्र वासरूपन्यायो निर्वाध एव । ‘आशितभवनम्’ इत्युदाहरतो जया-  
दित्यस्य सम्मतश्चेति दिक् ।

संज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः (पा०सू०३-२-४६) ॥ भृप्रभृ-  
तिभ्योऽष्टभ्यः यथायोगं कर्मणि सुबन्ते चोपपदे खच् स्यात्संज्ञायाम् ।  
विश्वं विभर्तीति विश्वम्भरः कैटभजित् । “रसा विश्वम्भरा स्थि-  
रा” (अ०को०२-१-२) । रथन्तरं साम । रथेन तरतीति व्युत्पत्तिमात्रम्,  
स्वरसंस्कारावग्रहादिसिद्ध्यर्थम् । न त्वत्रावयवार्थानुगमोऽस्ति, “रथ-  
न्तरमाजभारा वसिष्ठः” इत्यत्र हि रथमित्यवगृह्णन्ति । अन्तोदात्तं चा-  
धीयते । अखण्डत्वे तु अवग्रहो न स्यात् । “नन्विषयस्थ” (फि०सू०  
२६) इत्याद्युदात्तश्च स्यात् । पतिवरा कन्या । शत्रुञ्जयो हस्ती । युग-  
न्धरः पर्वतः । शत्रुंसहः । शत्रुन्तपः । अरिन्दमः । अन्तर्भावितण्य-  
र्थोऽत्र दमिः । संज्ञायां किम् ? कुटुम्बं विभर्तीति कुटुम्बमारः ।

गमश्च (पा०सू०३-२-४७) ॥ अस्मात् खच् स्यात्कर्मण्युपपदे संज्ञा-  
याम् । सुनङ्गमः । पूर्वसूत्रे एव गमिनोक्तः । उत्तरसूत्रे गमेरेवानुवृत्ति-  
र्यथा स्यात्, भृतृप्रभृतीनां मा भूदिति ।

अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वान्तेषु डः (पा०सू०३-२-४८) ॥ ‘संज्ञा-  
याम्’ इति निवृत्तम् । सप्तसु कर्मसूपपदेषु गमेर्डः स्यात् । अन्तं गच्छ-  
तीत्यन्तगः । अत्यन्तगः । अध्वगः । दूरगः । पारगः । सर्वगः । अन-  
न्तगः । डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपः ।

सर्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ सर्वत्रगः । पन्नं पतितं यथा  
स्यात्तथा गच्छतीति पन्नगः । ‘पन्नम्’ इति क्रियाविशेषणं पठ्यते कान्तम् ।

उरसो लोपश्च (का०वा०) ॥ उरसा गच्छतीत्युरगः ।

सुदुरोरधिकरणे (का०वा०) ॥ सुखेन गच्छत्यत्रेति सुगः । दुर्गः ।  
कर्मणि तु खलेव । सुगमः । दुर्गमः ।

निरो देशे (का०वा०) ॥ निर्गो देशः ।

अन्यत्रापि दृश्यते इति वक्तव्यम् (का०वा०) । ग्रामगः । गुरुतरुपगः ।



आशिषि हनः (पा०सू०३-२-४९) ॥ कर्मण्युपपदे हन्तेर्ङः स्यादाशिषि गम्यमानायाम् । शत्रुं वध्यात् शत्रुहः । आशिषि किम् ? शत्रुघातः । अत्र वार्तिकानि—

दारुवाहनोऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम् (का०वा०) । 'दारौ' इति शब्दापेक्षया पुल्लिङ्गता । दारुशब्दे उपपदे आङ्पूर्वाद्धन्तेरण्, अन्तस्य च टकारादेशो वक्तव्य इत्यर्थः । टविधानार्थमिदम् । अण् तु "कर्मण्यण्" (पा०सू०३-२-१) इत्येव सिद्धः । अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम् "अलोऽन्त्यस्य" (पा०सू०१-१-५२) इत्येव सिद्धेः । अन्यथा हि टः प्रत्ययः सम्भाव्येत । गोधाकालकादार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम् ।

चारौ वा (का०वा०) ॥ चारुशब्दे उपपदे प्रागुक्तं वा वक्तव्यमित्यर्थः । चार्वाघाटः । चार्वाघातः ।

कर्मणि समि च (का०वा०) ॥ कर्मण्युपपदे सम्पूर्वाद्धन्तेरण्, अन्त्यस्य च टो वा वक्तव्यः । वर्णान्संहन्तीति वर्णसंघाटः । वर्णसंघातः । पदसंघातः । पदसंघाटः ।

अपे क्लेशतमसोः (पा०सू०३-२-५०) ॥ अपपूर्वाद्धन्तेर्ङः स्यात्क्लेशतमसोः कर्मणोरुपपदयोः । क्लेशापहः पुत्रः । तमोऽपहः सूर्यः । अनाशिरथोऽयमारम्भः ॥

कुमारशीर्षयोर्णिनिः (पा०सू०३-२-५१) ॥ एतयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेर्णिनिः स्यात् । कुमारघाती । शीर्षघाती । "सुप्यजाती" (पा०सू०३-२-७८) इत्येवमादिभिः सिद्धे ताच्छीत्यावश्यकमधमर्ण्यादिविरहेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थः, शिरसः शीर्षभावार्थश्च वचनम् ।

लक्षणे जायापत्योष्टक् (पा०सू०३-२-५२) ॥ हन्तेर्धातोर्जायापत्योः कर्मणोरुपपदयोर्लक्षणवति कर्त्तरि टक्प्रत्ययः स्यात् । जायाघ्नो ब्राह्मणः । पतिघ्नी वृषली । सूत्रे लक्षणशब्दोऽर्शभाद्यच्प्रत्ययान्तो न तु केवलः, सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । केवले हि लक्षणे तिलकरेखाविशेषादौ कर्तृत्वेन विवक्षिते उत्तरसूत्रेणैव सिद्धः प्रत्ययः । तस्माद्यस्य तिलकादि जायामरणनिमित्तमस्ति स तां हन्तीति गौणो वादः । एवं 'पतिघ्नी' इत्यत्रापि ।

अमनुष्यकर्तृके च (पा०सू०३-२-५३) ॥ मनुष्यभिन्नकर्तृकेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोः कर्मण्युपपदे टक् स्यात् । जायाघ्नस्तिलकालकः । पतिघ्नी पाणिरक्षा । पित्तघ्नं घृतम् । अमनुष्यकर्तृके इति किम् ? आखुघातः शूद्रः । यद्यपि अमनुष्यशब्दो रक्षःपिशाचादिषु रुढस्तथापीह लक्ष्यानुरोधिना व्याख्यानान्मनुष्यादन्यत्सर्वमेवाह । ननु पूर्वसूत्रे लक्ष-



णग्रहणं यथा प्रत्ययार्थविशेषणम्, तथेहाप्यमनुष्यग्रहणमस्तु, किं कर्तृग्रहणेनेति चेत् ? मैषम्, 'अमनुष्य' इत्युच्यमाने उपपदत्वं विज्ञायेत, पूर्वसूत्रे तु उपपदान्तरसत्त्वात्प्रत्ययार्थविशेषणता निश्चीयत इति वैषम्यात् । अथ कथं 'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः' 'बलभद्रः प्रलम्बघ्नः' 'शत्रुघ्नः' इत्यादि ? मूलविभुजादिषु द्रष्टव्याः । कथन्तर्हि 'चोरघातो नगरघातो हस्ती' इति ? बाहुलकादणिति वृत्तिर्भाष्यञ्च ।

शक्तौ हस्तिकपाटयोः (पा०सू०३-२-५४) ॥ शक्तौ गम्यमानायां हस्तिकपाटयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेर्धातोष्टक् स्यात् । मनुष्यकर्तृकार्थ आरम्भः । हस्तिघ्नो मनुष्यः । कपाटघ्नश्चोरः । शक्ताविति किम् ? विषेण हस्तिनं हन्तीति हस्तिघातः । यद्यपीह शक्तिरास्ति अशक्तस्य कर्तृत्वानुपपत्तेस्तथापि शक्तिग्रहणसामर्थ्यात्प्रकर्षविज्ञानम् । तेन स्वबलेनैव हन्तुं या शक्तिः सा गृह्यते । एवं चोदाहरणेऽपि हस्तिनं हन्तुं मा वा वधीत् । सामर्थ्यातिशयमात्रात्तु 'हस्तिघ्नः' इत्याद्युच्यते । कं शिरः पाटयति प्रविशते इति कपाटम् । 'कवाटम्' इति पाटे तु अट्टेः पचाद्यच् । "कवञ्जोष्णे" (पा०सू०६-३-१०७) इत्यत्र योगविभागात्कोः कवादेश इति हरदत्तः ।

पाणिघताडघौ शिल्पिनि (पा०सू०३-३-५५) ॥ एतौ निपात्येते शिल्पिनि कर्त्तरि वाच्ये । 'पाणि' 'ताड' इत्येतयोरुपपदयोर्हन्तेर्धातोष्टक्प्रत्ययः तस्मिंश्च टिलोपः घत्वञ्च निपात्यते । पाणिघः । ताडघः । शिल्पिनीति किम् ? पाणिघातः । ताडघातः ।

राजघ उपसङ्ख्यानम् (का०वा०) ॥ राजानं हन्तीति राजघः ।

आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु ऋयर्थेष्वच्यौ कृञः करणे ऋयुन् (पा०सू०३-२-५६) ॥ आढ्यादिषु ऋयर्थेष्वच्यन्तेषु सप्तसु कर्मसुपपदेषु करोतेः ऋयुन् स्यात् । करणे च्चेवैकलिपकत्वाद् द्विविधाः श्रव्यार्था आढ्यादयः, च्यन्ता अच्यन्ताश्च । तत्र च्यन्ताः पर्युदस्यन्ते । अनाढ्यमाढ्यं करोत्यनेन आढ्यङ्करणम् । सुभगङ्करणमित्यादि । च्यर्थेष्विविति किम् ? आढ्यन्तैलेन कुर्वन्ति । अभ्यञ्जयन्तीत्यर्थोऽनेकार्थत्वादातूनाम् । तेन नात्र प्रागनाढ्यः सम् आढ्यः क्रियते इति अभूततद्भावभावः । अस्तु वा अभूततद्भावः, तथापि प्रकृतेरविवक्षायां प्रत्युदाहरणम् । प्रकृतिरेव परिणामिनीत्वेन यदा विवक्ष्यते यथा अपटास्तन्तवः पटीभवन्तीति, तदा च्विप्रत्ययः । तथा च तत्र धार्तिकम्—

प्रकृतिविवक्षाग्रहणं च(का०वा०) । इति । अच्चाविति किम् ? अ-



धात्वाधिकारोत्पत्तेः ।

स्यादेतत् । “करणाधिकरणयोश्च” (पा०सू०३-३-११७) इति ल्युटाऽत्र भवितव्यम् । न च ल्युटः ख्युनश्चेह विशेषोऽस्ति, उभयथाऽपि हि “आढ्याधिकरणम्” इत्येव रूपम् । “खित्यनव्ययस्य” अरुर्द्धिषदजन्तस्य मुम्” (पा०सू०६-३-६६, ६७) इति हि ह्रस्वत्वं मुम् चानव्ययस्य विधीयते । च्यन्तश्चाव्ययम्, “ऊर्यादिच्चिडाच्चश्च” (पा०सू०१-४-६१) इति निपातत्वात् । न च ख्युनि सति “उपपदमतिङ्” (पा०सू० २-२-१९) इति नित्यसमासो लभ्यते ल्युटि तु नेति वाच्यम् । ल्युट्यपि गतिसमासस्य सम्भवात् तस्यापि नित्यसमासत्वाविशेषात् । न च क्तीप्रत्यये विशेषः, उभयत्रापि ङीबेव भवति । ल्युटि “टिड्ढाणञ्” (पा०सू०४-१-१५) इति सूत्रेण, ख्युनि तु तत्रत्येन ख्युन उपसंख्यानेन । न च स्वरे विशेषः, ल्युटि हि लिट्स्वरेण कृञ उदात्तत्वं ख्युन्यपि नित्स्वरेण तथैवेति । तस्मात् ‘अञ्चौ’ इति व्यर्थमिति चेत् ? सत्यम्, उत्तरार्थं तदुक्तमिति भाष्यकाराः । एवञ्च ‘आढ्याधिकरणम्’ इत्यादि रूपं ल्युटा भवत्येवेति भाव इति कैयटः । यत्तु जयादित्येनोक्तम्—प्रतिषेधसामर्थ्यात् ख्युन्यसति ल्युडपि न भवति । तेन ल्युटोऽप्ययमर्थतः प्रतिषेध इति । तस्यायमाशयः—केवलोत्तरार्थत्वे तत्रैवाच्चाविति ब्रूयात् । इहकरणसामर्थ्यान्तु ल्युडपि न । यथा “इकोऽचि विभक्तौ” (पा०सू०७-१-७३) इत्यङ्गप्रहणस्य उत्तरार्थत्वे सत्यपि इहकरणसामर्थ्यात् “न लुमता” (पा०सू०१-१-६३) इत्यस्यानित्यता ज्ञाप्यते इत्यभिप्रायेणाह—इह किञ्चित् त्रपो इतीति वक्ष्यते । तथा चोत्तरार्थतापि काममस्तु न तु केवलोत्तरार्थतेति । भाष्यवार्तिकस्वरसेन तु केवलोत्तरार्थत्वं लभ्यते । अतस्तद्विरोधाद्वृत्तिकृमममयुक्तमिति कैयटः ।

कर्त्तरि भुवः खिण्णच्खुकञौ (पा०सू०३-२-५७) ॥ आढ्यादिषु च्यर्थेऽव्ययान्तेषु सुबन्तेषूपपदेषु भवतेर्धातोः कर्त्तरि खिण्णच्खुकञ् एतौ स्तः । आढ्यम्भविष्णुः । आढ्यम्भावुकः । सुभगम्भविष्णुः । सुभगम्भावुक इत्यादि । कर्तृप्रहणं करणनिवृत्त्यर्थमुत्तरार्थञ्च । खकारो मुमर्थः । अकारो वृद्धर्थः ।

स्यादेतत् । खिण्णच इकारो मास्तु ‘ख्स्नुः’ इति ‘स्नुख्’ इति धोव्यताम् । तत्रायमप्यर्थः, स्वरार्थश्चकारो न कर्त्तव्यः, प्रत्ययस्वरेणैवाभिप्रतासिद्धेः । कथन्तर्हि इकारादित्वमिति चेत् ? इडागमेनेति गृहाण । न च “एकाच उपदेशे” (पा०सू०७-२-१०) इतीषानिषेधः,



भवतेरुदात्तत्वात् । अत्रोत्तरं वार्तिककार आह—

नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वामिष्णुचः ॥ इति ।

‘नञः’ इति पञ्चमी । नञ उत्तरस्य खिष्णुजन्तस्य स्वरसिद्ध्यर्थ-  
मित्यर्थः । यद्ययमिकारादिर्न क्रियेत ततः सत्यपीटि “कृत्योकेष्णुच्चा-  
र्वाद्यश्च” (पा०सू०६-२-१६०) इति सूत्रे अस्य ग्रहणं न स्यात् । अस्य  
चकारानुबन्धाभावात् ।

अथोच्येत-अयमपि चित् । ‘खस्नुच्’ इति । एवमपि लाक्षाणिक-  
त्वात्षत्वणत्वयोश्चासिद्धत्वात् ‘इष्णुच्’ इति रूपाभावात् ग्रहणं  
न स्यादेव । तत इकारादित्वं क्रियते ।

अत्रेदं वक्तव्यम्-सत्यपीकारादित्वे “तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुब-  
न्धकस्य” (पा०भा०८४) इति परिभाषया अलङ्कृजादिष्णुच एव ग्रहणेन  
भाव्यं, नास्य ।

अथोच्येत । इकारोच्चारणसामर्थ्यादस्यापि ग्रहणमिति । हन्तैवं  
खिष्णुजयमस्तु तत्रेति कृते चकारानुबन्धसामर्थ्यादस्यापि ग्रहणम-  
स्त्विति किमिकारेण ? तस्माच्चिन्त्यमेतत् । यत्तु हरदत्तेन षत्वणत्वयोः  
सामर्थ्यादस्यग्रहणं भवतीत्युक्तम्, तदप्यापाततः स्नुजपेक्षया णुजु-  
कौ प्रत्युत प्रक्रियालाघवेन षत्वणत्वयोः करणस्योचिततया सामर्थ्या-  
योगादिति दिक् ।

स्पृशोऽनुदके किन् (पा०सू०३-२-५८) ॥ अनुदके सुबन्ते उपपदे  
स्पृशोः क्विन् स्यात् । यद्यपि स्पृशोः सकर्मकत्वात्कर्मण्युपपदे इत्येव  
प्राप्तस्तथापि पूर्वसूत्रात् ‘कर्तरि’ इत्यनुवृत्तेः ‘सुपि’ इत्येवोपपदं निर्णी-  
यते । तथाहि-“कर्तरि कृत्” इत्येव कर्तरि क्विनः सिद्धत्वात्कर्त्रेणुवृ-  
त्तिः कर्तृप्रचयार्था । कर्मण्युपपदे एकः कर्ता, करणादौ चापर इत्येवं  
कर्तृप्रचयः । तथा च सुबन्ते उपपदे इति फलितं भवति । घृतं स्पृश-  
तीति घृतस्पृक् । मन्त्रेण स्पृशतीति मन्त्रेस्पृक् इति प्राञ्चः ।

वस्तुतस्तु पूर्वसूत्रे कर्तृग्रहणं व्यर्थमेव । तद्धि न तत्रैव करणानु-  
वृत्तिनिरासार्थम्, अस्वरितत्वादेव तत्सिद्धेः । नापीह कर्तृप्रचयार्थम्,  
‘मन्त्रस्पृक्’ इत्यादेः क्विपाऽपि सिद्धेः । न च क्विपि कुत्वं न स्या-  
दिति वाच्यम्, क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्यान्यत्रापि कुत्वम् इति वक्ष्य-  
माणत्वात् । अन्यथा ‘असृक्’ इत्याद्यसिद्धेरित्यवधेयम् ।

अनुदके इति किम् ? उदकस्पर्शः । न चेह क्विपा ‘उदकस्पृक्’  
इति रूपं दुर्वारमिति वाच्यम्, अनुदके इति पर्युदाससामर्थ्यात्क्वि-  
पोऽप्यनुवृत्तेः । कथन्तर्हि ‘मन्त्रस्पृक्’ इत्यादेः क्विपा सिद्धिरुक्तेति-



चेत् ? उदके क्विपोऽप्रवृत्तावपि मन्त्रादावुपपदे प्रवृत्तौ बाधकाभा-  
दिति दिक् ।

क्विनः ककारो गुणप्रतिषेधार्थः । इकारो “वेरपृक्तस्य” (पा०सू०६-  
१-६७) इति विशेषणार्थः । नकारस्तु यद्यपि नाद्युदात्तार्थः, एकाज्भ्यः  
क्विनो विधानात्तत्र धातुस्वरेणैव सिद्धेः, यस्त्वेनेकाच् ‘दधृक्’ इति,  
तत्रान्तोदात्तस्य वक्ष्यमाणत्वात्, तथापि “क्विप्प्रत्ययस्य कुः” (पा०सू०  
८-२-६२) इति विशेषणार्थः । “क्विप्प्रत्ययस्य” इत्युच्यमाने सन्देहः  
स्यात् । केः क्विपो वा निर्देश इति । न च क्वेर्निर्देश एकः पकारः,  
क्विपस्तु द्वाविनि विशेषः । क्वेरपि निर्देशे पकारस्य “अनचि च”  
(पा०सू०८-४-४७) इति द्विवचनोपपत्तेः । न चैवं क्विपि पकारत्रय-  
मिति वाच्यम्, “झरो झरि” (पा० सू०८-४-६५) इति लोपोपपत्तेः ।  
व्यञ्जनपरस्यैकस्यानेकस्य बोद्धारणे विशेषानुपलम्भाच्च ।

ऋत्विग्दधृक्स्त्रिगुणिगञ्चुयुजिकृञ्चाश्च (पा०सू०३-२-५९) ॥  
आद्याः पञ्च क्विपान्ता निपात्यन्ते । तत्त्रिभ्यः क्विन्विधीयते । त-  
त्रापि निपातनैः सह निर्देशात्किञ्चिदलाक्षणिकमस्ति । तद्यथा-अञ्चः  
सकर्मकत्वात्कर्मण्येव प्राप्तः सुबन्तमात्रे विधीयते । युजिकृञ्चिभ्यान्तु  
केवलाभ्यामेव । युजेविधानसामर्थ्याच्च । न हि सोपपदाद्युजेः क्वि-  
नि क्विपि वा विशेषोऽस्ति, कुत्वस्य “चोः कुः” (पा०सू०८-२-३०)  
इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । अनुपपदे तु “युजेरसमासे” (पा०सू०७-१-७१)  
इति नुमि कृते नकारस्य कुत्वार्थं क्विनो विधानं भवति सार्थकम् ।  
कृञ्चैर्नलोपाभावश्च निपात्यते । ऋतौ यजति ऋत्विक् । इह ऋतुशब्दे-  
उपपदे यजेः क्विन् । जिधृषा प्रागल्भ्ये (स्वा०प०२३), अस्य क्विन्-  
द्विवचनमन्तोदात्तत्वञ्च निपात्यते, दधृक् । सृजेः कर्मणि क्विन्, अमा-  
गमश्च निपात्यते । सृज्यते इति स्रक् । दिशेः कर्मणि क्विन् । दिश्य-  
ते इति दिक् ।

उत्पूर्वात्स्निहेः क्विन्, उपसर्गान्तलोपः, सस्य षत्वञ्च, उष्णिक् ।  
प्राङ् । प्रत्यङ् । युङ्, युञौ । सोपपदात्तु “सत्सृद्विष” (पा०सू०३-२-  
६१) इति क्विप् । अश्चयुक् । यदि तु निपातनसाहचर्यात्सोपपदादनु-  
पपदाच्च युजेः क्विन् भवतीत्युच्येत, तदा “सत्सृद्विष” इति सूत्रे  
युजिग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कुञ्च कुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः (स्वा०प०  
१८५, १८६) । नोपधाविमौ । तथा च निकुचितिरित्यत्र नलोपो दृश्यते ।  
“सन्निपात” (प०भा०८७) परिभाषायाः फलानि पठन् वार्तिककारो-  
ऽप्याह—“उदुपध्वमकित्वस्य निकुचितः” इति । अकारस्तु “स्तोः”



(पा०सू०८-४-४०) इति चुत्वेन, तस्यासिद्धत्वात् “चोः कुः” (पा०सू०८-२-३०) इति कुत्वं न। अकारोपधं पठतां तु ‘कुञ्चौ’ ‘कुञ्चः’ इत्यादौ प्राप्तं कुत्वं सङ्गि झलीति वचनाद्वार्यते। सङ्गिति प्रत्याहारः सनः सशब्दा-  
दारभ्य आ महिङो ङकारात्।

अत्र केचित्—कुञ्चिरेक एव धातुः। तस्य ककारात्परो रेफोऽपि क्विन्सन्निधौनेन निपात्यते इत्याहुः। “चोः कुः” (पा०सू०८-२-३०) इति सूत्रे वामनकाशिकायां स्पष्टमेतत्।

त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च (पा०सू०३-२-६०) ॥ अनालो-  
चनार्थाद् दृशोर्धातोस्त्यदादिषु कञ्स्याच्चात्क्विन्। तादृक्। तादृशः।  
यादृक्। यादृशः। कञो अकारो विशेषणार्थः ठक्ठञ्कञिति स्व-  
रार्थश्च। अनालोचने किम्? तत्पश्यतीति तद्दर्शः। तादृशादयस्तु कटि-  
शब्दाः। ते च असताऽप्यवयवार्थेन व्युत्पाद्यन्ते। अत एव अ-  
नालोचने इत्युक्तम्। दृश्यर्थाभावेऽप्येवं विधिः। सति तु दृश्यर्थे अणव-  
भवतीति भावः।

भाष्ये तु कर्मकर्त्तरि व्युत्पत्तिर्दर्शिता। तमिवेमं पश्यन्ति जनाः,  
स इवायं पश्यति ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थात्। तथा दृग्दृशदृक्षा इवार्थे  
तद्धितप्रत्यया एवेत्यपि पक्षान्तरं स्थितं भाष्ये। तच्च “दिङ्ढाणञ्”  
(पा०सू०४-१-१५) इति सूत्रे व्युत्पादयिष्यामः।

समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम् (का०वा०) ॥ सदृक्। सदृशः। अन्यादृक्।  
अन्यादृशः।

कसोऽपि वक्तव्यः (का०वा०) ॥

त्यदादिषु समानान्ययोश्च (का०वा०) ॥ तादृक्षः। सदृक्षः ॥  
अन्यादृक्षः।

सत्सुद्विषदुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्  
(पा०सू०३-२-६१) ॥ सुपीति वर्त्तते। कर्मग्रहणं तु “स्पृशोऽनुदके”  
(पा०सू०३-२-५८) इत्यतः प्रभृति नानुवर्तते। तत्र ह्यनुवृत्तेन कर्तृप्र-  
चयार्थेन कर्तृग्रहणेन तन्निवृत्तिरित्युक्तम्। कर्तृग्रहणप्रत्याख्यानं तु  
व्याख्यानान्देव कर्मग्रहणनिवृत्तिरित्यन्यदेतत्।

सदादिभ्यो धातुभ्यः सुप्युपसर्गेऽप्यनुपसर्गेऽप्युपपदे क्विप्  
स्यात्। उपसर्गग्रहणं ज्ञापनार्थम्। “सुपि स्थः” (पा०सू०३-२-४)  
इत्यतः प्रकृतस्य सुप्ग्रहणस्य उपसर्गेतरपरत्वमिति। युक्तञ्चेतत्,  
विशेषसन्निधौ आम्नातस्य सामान्यशब्दस्य तदतिरिक्तपरत्वौचि-  
त्यात्। तत्फलन्तु “स्पृशोऽनुदके क्विप्” (पा०सू०३-२-५८) इत्यत्र



उपसर्गस्याग्रहणमिति कैयटः ।

यत्तु सामान्यापेक्षं ज्ञापकमाश्रित्य “वदः सुपि क्यप्च” (पा०सू० ३-१-१०६) इत्यत्रापि उपसर्गेतरपरत्वमुक्तं भाष्यवृत्त्योस्तत्तु मन्द्रप्र-  
योजनम् । तत्रत्यभाष्ये “गदमदचरयमश्च” (पा०सू० ३-१-१००) इति  
सूत्रादनुपसर्गग्रहणमनुवर्तत इति सिद्धान्तितत्वात् ।

वस्तुतस्तु कैयटोक्तमपि फलं चिन्त्यमेव, स्पृशेरुपसर्गे क्विवन्भा-  
वेऽपि क्विवपो दुर्वारत्वात् । तत्र च क्विवन्क्विवपोः स्वरे रूपे वा  
विशेषस्य दुर्लभत्वात् ।

अथ वा सत्यभिधाने यङ्लुगन्ते अनेकाच्चकत्वेन स्वरे विशे-  
षो वर्णनीयः ।

वस्तुतस्तु “अनुदके” इति पर्युदासादत्र सत्त्ववाचकस्यैव ग्रहणेनो-  
पसर्गे प्राप्तिरेव नास्ति । यत्तु “गापोष्टक्” (पा०सू० ३-२-८) इत्यत्र फल-  
मित्याहुः, तन्न, तत्रापि “अनुपसर्गे” इत्यनुवृत्तेः । ‘कर्मणि’ इत्यस्य  
सम्बन्धेऽपि ‘सुपि’ इत्यस्यासम्बन्धेन ज्ञापकाप्रवृत्तेश्च । तस्मात् “सु-  
पि स्थः” (पा०सू० ३-२-४) इत्यत्रैव यथाकथञ्चित्फलविशेषो वर्णनीय  
इत्यास्तान्तावत् ।

हंसः शुचिषत् । “पूर्वपदात्” (पा०सू० ८-४-३) इति षत्वम् ।  
तत्र च ‘छन्दसि’ इति वर्तते । तेन भाषायां ‘शुचिषत्’ इत्येव भवति ।  
तथा च माघः—“मनस्सु येन ह्यसदां न्यधीयते” इति । “आदिते-  
या दिविषदः” (अ०को० १-१-३) इत्यत्र तु सुषामादिपाठात् षत्वमिति  
माधवः । उपनिषत् । “सदिरप्रतेः” (पा०सू० ८-३-६६) इति षत्वम् ।  
‘सु’ इति द्विषा साहचर्यात्सुतेरादादिकस्य ग्रहणम्, न तु सुवतिसुय-  
त्योः । अण्डसुः । प्रसुः । मित्रद्विट् । प्रद्विट् । मित्रधरुक् । प्रधरुक् । गो-  
धुक् । प्रधुक् । युजिर् योगे (रु०उ०७) युजसमाधौ (दि०आ०७१) द्वयो-  
रपि ग्रहणम् । अश्वयुक् । प्रयुक् । विद ज्ञाने (अ०प०५४) विद विचा-  
रणे (रु०आ०१३) विद सत्तायाम् (दि०आ०६५) त्रयाणामपि ग्रहणम्,  
न लाभार्थस्य विदेः, अकारस्य विवक्षितत्वात् । वेदवित् । प्रवित् ।  
क्राष्टभित् । प्रभित् । रज्जुच्छित् । प्रच्छित् । शत्रुजित् । सेना-  
नीः । प्रणीः । “उपसर्गादसमासेऽपि” (पा०सू० ८-४-१४) इति  
णत्वम् । अग्रणीः । ग्रामणीः । अत्र ज्ञापकाणत्वम् । “स एषां  
ग्रामणीः” इति निर्देशो हि पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नयतेर्न-  
कारस्य असंज्ञायामपि णत्वं ज्ञापयति । नारूपविषयं चेदं ज्ञापकम् ।  
तेन ‘ग्रामनायः’ इति कर्मण्यणि णत्वन्न । ज्ञापकस्य सामान्यापेक्ष-



त्वादग्रशब्दादपि णत्वम् । नन्वेवं रामादिशब्देभ्योऽपि प्राप्नोतीति चेत् ? इष्टापत्तिरित्येके । अग्रग्रामाभ्यां नयतेरिति वचनाज्ज्ञापनमपि उपपदद्वयमात्रविषयम् । निरूपमात्रविषयता तु वचनस्याप्यवधेयेत्यन्ये ।

स्वराट् । विराट् । सम्राट् । “मो राजि” (पा०सू०८-३-२५) इति मत्वम् । इह युजिग्रहणं शक्यमकर्तुमिति “ऋत्विग्दधृक्” (पा०सू० ३-२-५९) इति सूत्रे एवावोचाम ।

अत्र जयादित्यः—“अन्येभ्योऽपि दृश्यते” (पा०सू० ३-२-१७८) इति सामान्येन क्विब्वक्ष्यते तस्यैवायं प्रपञ्च इति ।

नन्वेतदसङ्गतम्, तस्य ताच्छीलिकत्वादिति चेत् ? सत्यम्, “क्विप् च” (पा०सू० ३-२-७६) इति सूत्रमिह विधक्षितम् । तत्रापि हि “विजुपे छन्दसि” “आतो मनिन्क्वनिब्वनिपञ्च” “अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते” (पा०सू० ३-२-७३, ७४, ७५) इति सन्निहितं दृशिग्रहणमनुवर्त्य वचनविपरिणामेन व्याख्यातुं शक्यत इत्याशयेनोदाहृतजयादित्यग्रन्थप्रवृत्तेः । एतेन “स्थः क च” (पा०सू० ३-२-७७) इति सूत्रे क्विप् सिद्धोऽन्येभ्योऽपि दृश्यते इति इति भाष्यं तत्रत्यवृत्तिश्चेत्युभयमपि व्याख्यातम् ।

अत्रेदमवधेयम्, सूत्रस्य प्रपञ्चार्थत्वे स्थिते सूविदेत्यत्र धातुविशेषणपरिग्रहे वृत्तिकृतोक्तो यत्नो निष्फलः, सुवतिसूयत्योर्विन्दतेश्च “क्विप् च” (पा०सू० ३-२-७६) इति क्विपो दुर्वास्त्वात् । न चेह धातुविशेषग्रहणं नियमार्थं तेन सुवत्यादिषु “क्विप् च” इति सूत्रं न प्रवर्तत इति वाच्यम्, प्रपञ्चार्थमिदं सूत्रमिति स्वोक्तिविरोधात् । किञ्च “लुग्विकरणालुग्विकरणयोः” (पा०भा० ९२) इति परिभाषया सुवतिसूयत्योरेव ग्रहणं न्याय्यं, साहचर्यमात्रपुरस्कारे वा उच्चारणार्थाकारवद्भिः पूर्वोत्तरैः साहचर्यमुपेक्ष्य कथं विदेत्यकारविवक्षोक्ता, कथं वा युजेत्युभयग्रहणमवोचत्, न हि युजविदयोरण्वपि वैषम्यमस्ति, तस्मादिह वृत्तिकृतान्तदनुगामिनामन्येषाञ्च धातुविशेषपरिग्रहे अभिनिवेशो निर्मूलो निष्फलश्च ।

ननु प्रपञ्चत्वोक्त्या सूत्रमर्थात्प्रत्याख्यातम्, तथा च सुवग्रहणे उपसर्गनिवृत्तिर्न ज्ञाप्येतेति चेत् ? मा ज्ञापि, तत्फलस्य प्रागेव शिथिलीकृतत्वात् । एवञ्च णिनिविधौ सुवग्रहणमपि न कर्त्तव्यम् इति महदेव लाघवमिति दिक् ।

भजो णिवः (पा०सू० ३-२-६२) । सुप्युपसर्गे चोपपदे भजेणिवः स्यात् । अर्द्धभाक् । प्रभाक् ।



छन्दसि सहः (पा०सू०३-२-६३) ॥ सुप्युपपदे उपसर्गे च सहेर्धा-  
तोऽछन्दसि णिवप्रत्ययः स्यात् । दुश्च्यवनः पृतनाषाळयुध्यः । अभीद-  
मेकमेकोऽस्मि निःषाट् । कथन्तर्हि “तुरासाहं पुरोधाय” “धरातुरा-  
साहिमर्धयाश्च” इत्यादि, छन्दसीत्युक्तेर्भाषायां णिवप्रत्ययानुपपत्ते-  
रिति चेत् ? चिन्त्यमिति हरदत्तः । सहतेरभिभवार्थान्निवृत्तप्रेषणात्प्रा-  
कृतेऽर्थे णिचि किञ्चिच्चोरन्यतर इति वा समाधेयम् ।

वहश्च (पा०सू०३-२-६४) ॥ वहतेर्धातोः सुप्युपसर्गे चोपपदे छन्दसि  
विषये णिवः स्यात् । दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे । योगविभाग  
उत्तरार्थः ।

कव्यपुरीषपुरीष्येषु ज्युट् (पा०सू०३-२-६५) ॥ षूपपदेषु छन्द-  
सि वहेज्युट्प्रत्ययः स्यात् । कव्यवाहनः पितृणाम् । पुरीषवाहनः ।  
पुरीष्यवाहनः ।

हव्येऽनन्तःपादम् (पा०सू०३-२-६६) ॥ हव्यशब्दे उपपदे छन्दसि  
वहेज्युट् स्यात् पादान्ते । अग्निश्च हव्यवाहनः । पादमध्ये तु “वहश्च”  
(पा०सू०३-२-६४) इति णिवरेव । हव्यवाळग्निरजरः पिता नः ।

जनसनखनक्रमगमो विट् (पा०सू०३-२-६७) ॥ उपसर्गे सुपि चो-  
पपदे छन्दसि विट् प्रत्ययः स्यात् । “वेरपृक्तस्य” (पा०सू०६-१-६७)  
इत्यादौ सामान्यग्रहणाविघातार्थप्रकारः, “विड्वनोः” (पा०सू०६-४-४१)  
इत्यादौ विशेषणार्थश्च । जन जनने (जु०प०२३), जनी प्रादुर्भावे  
(दि०आ०४३) द्वयोरपि ग्रहणम् । अञ्जाः । गोजाः । षणु दाने (त०उ०  
२), षण सम्भक्तौ (श्वा०प०४६५) द्वयोरपि ग्रहणम् । गोषा इन्द्रो नृषा  
अस्यश्वसा वाजसा उत । इयं शुष्मेभिर्विसखा इवारुजत् । आदधि-  
क्राः शवसा पञ्च कृष्टीः । अग्निमुषसमश्विनान्दधिक्रान्ताः सूर्यो अग्रे  
शुक्रोअग्रेगाः । उदाहरणेषु “विड्वनोरनुनासिक स्यात्” (पा०सू०६-४-  
४१) इत्यात्वम् । ‘गोषा’ ‘नृषा’ इत्यत्र “सनोतेरनः” (पा०सू०८-३-  
१०८) इति षत्वम् । अग्रेगा इति सप्तस्या अलुक् ।

अदोऽनन्ते (पा०सू०३-२-६८) ॥ ‘छन्दसि’ इति निवृत्तम् । अन्न-  
भिन्ने सुप्युपपदे अदेर्विट् स्यात् । आममत्ति आमात् । सस्यात् । अन-  
न्ते किम् ? अन्नादः । भाषायां “कर्मण्यण्” (पा०सू०३-२-१) । छन्द-  
सि तु कृद्व्यत्ययेन पचाद्यच् इत्युक्तम् । तेन ‘अन्नादः’ इत्यत्र ‘अन्न अदः’  
इत्यवग्रहः सिध्यति ।

क्रव्ये च (पा०सू०३-३-६९) ॥ क्रव्योपपदे अदेर्धातोर्विट् प्रत्ययः  
स्यात् । क्रव्यमत्ति क्रव्यात् । पूर्वेणैव सिद्धे वचनमसरूपवाधनार्थम् ।



तेनाण् न भवति । कथन्तर्हि “क्रव्यादो ऽस्य आशरः” (अ०को०१-१-६२) इत्यमरः ?

अत्राहुः—कृत्तविकृत्तपक्रमांसशब्दे उपपदे अण् । तस्य च पृषो-  
दरादित्वात्क्रव्यभाव इति । अस्यार्थः—कृत्तं छिन्नं तदेव पुनर्विशेषतः  
कृत्तं, “पूर्वकाल” (पा०सू०२-१-४८) इति समासः, तस्य पक्षशब्देन  
पुनः स एव समासः, ततो मांसशब्देन पुनर्विशेषणसमासः, तस्य  
क्रव्यादेशः । नन्वेवं ‘क्रव्यादः’ इति रूपस्यावर्जनीयतया किं वासरूप-  
बाधनार्थनानेन वचनेन । वार्त्तिकविरोधश्च । यदाह—अदोऽनन्ने क्रव्य-  
ग्रहणं वासरूपनिवृत्त्यर्थमिति चेत् ? मैवम्, अर्थभेदादुभयसाधुत्वो-  
पपत्तेः । आममांसभक्षको हि क्रव्यात् । विशिष्टपक्षभक्षस्तु ‘क्रव्यादः’ इति ।

दुहः कव्यश्च (पा०सू०३-२-७०) ॥ दुहेः सुप्युपपदे कप् स्याद्ध-  
श्चान्तादेशः । कामदुघा धेनुः ।

मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो णिवन् (पा०सू०३-२-७१) ॥ श्वेता-  
दिपूर्वैभ्यो वह्नादिभ्यो धातुभ्यो णिवन्प्रत्ययः स्यान्मन्त्रे । धातूपपदस-  
मुदायाश्चेह निपात्यन्ते अलाक्षणिककार्यार्थं, प्रत्ययस्तु विधीयते ।  
श्वेतशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे वह्नेर्धातोः कर्मणि कारके णिवन्प्रत्ययो भव-  
ति । श्वेता एनं वहन्ति श्वेतवा इन्द्रः, तं श्वेतवाहम् । उक्थे कर्मणि  
करणे वोपपदे शंसतेः प्रत्ययो नलोपश्च । उक्थानि उक्थैर्वा शंसति  
उक्थशा यजमानः । उक्थशासौ । उक्थशासः । दाशु दाने (भा०  
उ०९०७) अस्य पुरस्पूर्वस्य आदेर्ङत्वं कर्मणि च प्रत्ययः । पुरो दा-  
ह्यते पुरोडाशः ।

श्वेतवाहादीनां ङस् पदस्येति वक्तव्यम् (का०वा०) । यत्र ङस्-  
न्तस्य पदत्वं भविष्यति तत्र णिवनोऽपवादो ङस्प्रत्ययो वक्तव्य इत्य-  
र्थः । ततश्च ‘श्वेतवाहौ’ इत्यादावपदान्तविषय एव सूत्रोक्तो णिवनुदा-  
हार्यः । ‘श्वेतवाः’ इत्यादि तु सूत्रस्य णिवनोऽपवादेन औपसंख्यान-  
िकेन ङस्प्रत्ययेनैव सिध्यतीत्यवधेयम् ।

वृत्तौ णिवनं प्रकस्य ‘श्वेतवाः’ इत्याद्युदाहरणन्तु ङस्विषये णिव-  
नोऽपि प्राप्तिः स्थितेत्येतावन्मात्राभिप्रायकतया कथञ्चिन्नेयम् । न च  
ङसं विनापि “अवयाः श्वेतवाः” (पा०सू०८-३-६७) इत्यनेन स्त्वं नि-  
पात्यतामिति वाच्यम्, अविशेषेण निपातने ‘श्वेतवाहौ’ इत्यादावति-  
प्रसक्तेः । पदान्तविषयत्वेऽपि ‘श्वेतवोभ्याम्’ इत्यादावुत्त्वं न सिध्येत् ।  
तस्मादुस् वाच्य एव । नन्वेवं ‘श्वेतवाः’ इत्यादिनिपातनं व्यर्थमिति  
चेत् ? न, तस्य सम्बुद्ध्यर्थत्वात् । एवञ्च ‘उक्थशाः’ इत्यपि सम्बुद्ध्यर्थ



निपातनं कर्त्तव्यं यदि मन्त्रे दर्शनमस्ति इति कैयटादयः । एवं स्थिते मन्त्रमात्रविषयाणामेषां शब्दानां प्रक्रियाकौमुद्यां लौकिकेषूदाहरण-  
मनुचितम् । वैदिकप्रक्रियायान्तु युज्यते । डसन्तत्वेन सान्तप्रातिपदि-  
केष्वेवोदाहर्तुमुचिता अप्येतेऽपदान्तविषये हकारान्तत्वादिकं पुरस्कृ-  
त्य यथायथं तत्तत्प्रघट्टकेषूक्ता इति बोध्यम् ।

अवे यजः (पा०सू०३-२-७२) ॥ पिवन् स्यान्मन्त्रे । त्वं यज्ञे वरुण-  
स्यावया असि इति काशिका । इह 'अवयाः' इति प्रतीकमुपादाय पूर्व-  
सूत्रेऽपि 'श्वेतवाः' इत्याद्युद्दिश्य "अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च" (पा०सू०  
८-२-६७) इति निपातनादुत्त्वमिति हरदत्तः ।

एतच्च सर्वं प्रामादिकम्, पिवनपवादो डस् इति भाष्यकैयटादौ  
स्वग्रन्थे च निर्णीतत्वात् । तस्मादुत्पद्युदाहृतं डस एवोदाहरणम् ।  
सूत्रस्य त्वपदान्तविषयं मन्त्रान्तरमन्वेषणीयमिति दिक् ।

पूर्वसूत्रे एवावयजिर्न पठितः । उत्तरत्र हि श्वेतवाहादयोऽप्यनुव-  
र्तेरन् । यजिश्चावपूर्वं एवानुवर्तेत । केवल एव तु सिद्धान्तेऽनुवर्त्तते ।  
विजुपे छन्दसि (पा०सू०३-२-७३) ॥ उपे उपपदे यजेर्विच् स्याच्छ-  
न्दसि । उपयङ्भिरूर्ध्वं यजन्ति तदुपयजामुपयङ्त्वम् । मन्त्रे इत्यनुवृ-  
त्त्यैव भाषाव्यावृत्तौ सत्यां छन्दोग्रहणं ब्राह्मणसङ्ग्रहार्थम् । उत्तरसूत्रे  
एव विजग्रहणे छन्दोग्रहणेऽप्यत्र क्रियमाणे यद्यपि सर्वं सिध्यति तथापि  
नियमार्थमिदम् । उपयजेश्छन्दस्येव न भाषायाम् इति वृत्तिकारः । ननु  
दृशिग्रहणादेव भाषायां न भविष्यतीति चेत् ? सत्यम्, तस्यैवायं प्रपञ्च  
इति हरदत्तः ।

आतो मनिन्क्वनिष्कनिपश्च (पा०सू०३-२-७४) ॥ सुप्युपसर्गे  
चोपपदे आकारान्तेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये मनिनादयस्त्रयः प्रत्य-  
याः स्युः । चकाराङ्गिच् । सुदामा । अश्व इव तिष्ठतीत्यश्वत्थामा ।  
पृषोदरादित्वात्सकारस्य तकारः । सुधीवा । सुपीवा । "घुमास्थादि"  
(पा०सू०६-४-६६) सूत्रेणेत्यम् । भूरिदावा । घृतपावा । विचि तु  
कीलालपाः ।

अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा०सू०३-२-७५) ॥ 'छन्दसि' इति निवृत्तम् ।  
अपिशब्दः सर्वोपाधिष्यभिच्चारार्थः । अनाकारान्तेभ्योऽपि धातुभ्यो  
मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् पते प्रत्ययाः स्युरूपपदे सत्यसति च ।  
सुशर्मा । प्रातरित्वा । विजावा । रेडसि पर्णे नवेः ।

क्विप् च (पा०सू०३-२-७६) ॥ धातोः क्विप्स्यात्कर्त्तरि । उखा-  
स्त्रत । पर्णंभवत् । वाहाद् भ्रश्यति वाहभ्रद् । वृत्तौ तु 'वहाभ्रद्' इति



पाठः । तत्र वहाद् भ्रश्यतीति विग्रहः । “अन्येषामपि दृश्यते” (पा० सू० ६-३-१३७) इति दीर्घ इति हरदत्तः ।

स्थः क च (पा० सू० ३-२-७७) ॥ तिष्ठतेः सुप्युपपदे कः स्यात्किवञ्च । सूत्रे ‘क’ इत्यविभक्तिको निर्देशः । शंस्थः । शंस्थाः । इह “सुपि स्थः” (पा० सू० ३-२-४-) इति कः प्राप्तः । तिष्ठतेरन्तर्भावितण्यर्थतया ‘शम्’ इत्यस्य कर्मत्वे तु “आतोऽनुपसर्गे कः” (पा० सू० ३-२-३ इति कः प्राप्तः “किवञ्च” (पा० सू० ३-२-७६) इति किवञ्चपि । न च विशेषविहितेन कप्रत्ययेन किवपो बाधः शङ्क्यः, “वाऽसरूप” (पा० सू० ३-१-९४) इत्युक्तेः । तदित्यम्—कक्विपोः पर्याये प्राप्ते तदुभयबाधेन “शमि धातोः संज्ञायाम्” (पा० सू० ३-२-१४) इति अच् प्राप्तः । स हि धातुग्रहणसामर्थ्यात्कृञो हेत्वादिषु टं यथा बाधते तथा तिष्ठतेः कक्विपावपि बाधेत । अतस्तत्प्रत्ययं बाधितुं कक्विपाविह पुनर्विधीयेत ।

ननु ‘शंस्थाः’ इत्यत्र किवपि लुप्ते प्रत्ययलक्षणेन घुमास्थेतीत्वं स्यादिति चेत् ? न, स्थानिवद्भावस्य “अनलिवधौ” (पा० सू० १-१-५६) इति निषेधात् “प्रत्ययलोपे” (पा० सू० १-१-६२) इति सूत्रन्तु नियमार्थमिति सिद्धान्तात् । यत्त्विह कैयटेनोक्तम् ईत्वमवकारादाविति वचनाद् भाष्यकारवचनप्रामाण्याद्वा प्रत्ययलक्षणेनेत्वाभाव इति । तदल्विध्यर्थं “प्रत्ययलोपे” इति सूत्रमिति पूर्वपक्षमभिप्रेत्य, तत्राप्यवकारादाविति वचनस्वीकारे ‘सुधीवा’ इति न सिध्येदित्यपरितोषेण द्वितीयपक्षस्वीकार इति बोध्यम् ।

स्यादेतत् “शमि धातोः” (पा० सू० ३-२-१४) इत्यस्यानन्तरमेव “स्थः क च” इति सूत्रयताञ्चकारेण ‘अच्’ समुच्चीयताम् । तत्र सवर्णदीर्घे ‘शंस्थाः’ इति भविष्यति । एवञ्चोत्सर्गापवादयोः समानदेशतया सन्दर्भशुद्धिरपि लभ्यते । ईत्वाभावार्थं च न यतनीयमिति ।

मैवम्, ‘अशंस्थाः’ इत्यत्र “अच्कावशक्तौ” (पा० सू० ६-२-१५७) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वापत्तेः । “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि” (प० भा० २८) इति ‘शंस्थाः’ इत्यस्याजन्तत्वात् । किवञ्चन्तेन नञ्समासे तु नञ् पूर्वपदप्रकृतिस्वर एव सिध्यति ।

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (पा० सू० ३-२-७८) ॥ अजातिवाचिनि सुबन्ते उपपदे ताच्छील्ये द्योत्ये धातोः कर्त्तरि णिनिः स्यात् । उष्णभोजी । शीतभोजी । अजाताविति किम् ? ब्राह्मणानामन्त्रयिता । ताच्छील्यस्य विवक्षितत्वात् “न लोक” (पा० सू० २-३-६९) इति षष्ठीप्रतिषेधः । ताच्छील्ये किम् ? उष्णं भुङ्क्ते कदाचित् ।



अत्र भाष्यम्—सुपीति वर्त्तमाने पुनः सुब्रह्मणं किमर्थम्, ‘अनुपसर्ग’ इत्येवं तदभूत् । इदं तु सुब्रह्मात्रे यथा स्यात् । उदासारिण्यः प्रत्यासारिण्य इति ।

अस्यायमाशयः—“सत्सूद्विष” (पा०सू०३-२-६१) इति सूत्रे “सुपि स्थः” (पा०सू०३-२-४) इत्यतः ‘सुपि’ इत्यनुवर्त्तते, तच्चोपसर्गेतरपरम् “उपसर्गेऽपि” इति पृथगुक्तेः । तदिहानुवर्त्तमानमर्थाधिकारादुपसर्गेतरपरमेव स्यात् । न चोपसर्गेपीत्यंशोपीहानुवर्त्तयितुं शक्यः, केवलमङ्ग-धनार्थत्वेन निर्णीते “स्थः क च” (पा०सू०३-२-७७) इति पूर्वसूत्रे “उपसर्गेऽपि” इत्यंशस्य फलाभावेन विच्छिन्नत्वादिति । यद्यप्युत्तरार्थतया पूर्वत्राप्यनुवृत्तिरिति वा मण्डूकप्लुतिन्यायेनेहैव सम्बन्ध इति वा सुब्रह्मणस्यैव शब्दाधिकार इति वा “सत्सूद्विष” (पा०सू०३-२-६१) इति सूत्रे वर्णितरीत्या तस्यानावश्यकतेति वा सुवचं, तथापि सूत्रकाराशयवर्णनमात्रमेतत् । निष्कर्षे तु मा भूदिह सुब्रह्मणमनुवृत्त्यैव निर्वाहात् । सर्वथाऽपि सुब्रह्मात्रे उपपदे णिनिः न त्वनुपसर्ग एवेति सिद्धान्तः । तथा च प्रयुज्यते—“स बभूवोपजीविनाम्” “न्यबेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः” “अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा” “पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः” “विसारिभिः सौधमिवांशुजालैः” “प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः” “न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः” इत्यादि । यत्स्विह वृत्तिकृतोक्तं सुपीति वर्त्तमाने पुनः सुब्रह्मणमुपसर्गनिवृत्त्यर्थमिति, तन्न, भाष्यविरोधात्, उदाहृतप्रयोगविरोधाच्च । न चैते प्रयोगा आवश्यकादिणिनिना कथं चिन्निर्वाह्या इति वाच्यम्, यथाश्रुते बाधकाभावात् । यद्यपि वृत्तिकृतोक्तम् “उत्प्रतिभ्यामाडि सत्तेरुपसंख्यानम्” (का०वा०) इति; तदपि न । भाष्ये तादृशवार्त्तिकाभावात् । एतेन “उत्प्रतिभ्याम्” इति प्रतीकमुपादाय ‘सुप्’ इत्यस्योपसर्गनिवृत्त्यर्थत्वादयमारम्भ इति वदन् हरदत्तोऽपि प्रत्युक्तः, भाष्यविरोधात्, आष्टमिकसकलग्रन्थविरोधाच्च ! तथाहि, “कृत्यचः” (पा०सू०८-४-२९) इति सूत्रे अनमानानीयानीनिनिष्ठादेशाः प्रयोजयन्तीत्येतद्वाक्यान्तर्गतेनिग्रहणव्याख्यावसरे “सुप्यजातौ णिनिः” “आवश्यके च” इति व्याख्यातम् । “सुप्यजातौ” इत्यस्योपसर्गे प्रवृत्त्यभावे असङ्गतमेव तत्स्यात् । “कृत्यचः” (पा०सू०८-४-२९) इत्यत्रोपसर्गादित्यनुवृत्तेः । यदपि “अनुगादिनष्टक्” (पा०सू०५-४-१३) इत्यत्रास्मादेव निपातनाणिनिरिति “विसारिणो मत्स्ये” (पा०सू०५-४-१६) इत्यत्र च पूर्ववणिनिरिति तदप्येतेनापास्तम् । यदपि माधवेनोक्तम्—अस्मादेव वि-



सारिण इति निर्देशादणसन्नियोगेनैव णिनिरित्युक्ता निषिद्धश्च पद-  
मञ्जर्याम्—‘विसारी’ इति पृथक् प्रयोगः । पृथक्प्रयोगमसहमानेनैव  
न्यासकारेणापि ग्रहादित्वाणिनिरित्युक्त्वा अत एव निपातनादित्यु-  
क्तम् । निपातनञ्च प्रत्ययसन्नियोगेनैवेति सिद्धान्तितम् । तदपि न,  
“विसारिणो मत्स्ये” (पा०सू०५-३-१६) इत्यत्र मत्स्य इति किम् ? वि-  
सारी देवदत्त इति प्रत्युदाहरता वृत्तिकृता सह विरोधात् । भाष्यवि-  
रोधस्त्वस्येव । एतेनोपसर्गनिवृत्त्यर्थम् इति वृत्तिकृद्वचनं केवलोप-  
सर्गनिवृत्त्यर्थम् इति प्रसादकारोक्तिरपि प्रत्युक्ता । यस्तु सप्तपदा-  
र्थीटीकायां ‘व्यापि’ इत्याङ्गप्रश्लेषात् ‘उदासारिण्यः’ ‘प्रत्यासारिण्यः’ इति  
वत्साधुरित्युक्तम्, तदपि उदाहृतप्रसादकारवाक्ये केवलपदस्य अस-  
हायपरतया अनेकोपसर्गे णिनिर्भवत्येवेत्यर्थं गृहीत्वा रभसादेवोक्त-  
मिति सर्वमिदं भाष्यतत्त्वज्ञैरुपेक्ष्यमेवेति दिक् । अत्र वार्त्तिकद्वयं—

णिवन्विधौ साधुकारिण्युपसंख्यानम् (का०वा०) । अताच्छील्यार्थ-  
मिदम् । एतच्च ज्ञापकात्सिद्धम् । यदयम् “आ केः” (पा०सू०३-२-  
१३४) इति सूत्रे ‘तच्छीलतद्धर्म’ इत्यभिधाय साधुकारग्रहणं करोति  
तज् ज्ञापयति साधुकारिणि अताच्छील्येऽपि णिनिर्भवतीति । साधु-  
कारी । साधुदायी ।

ब्रह्मणि वद उपसंख्यानम् (का०वा०) । ब्रह्मवादिनो वदन्ति । ब्रह्म  
वेदः । इदमपि वार्त्तिकम् अताच्छील्यार्थम् इति कैयटहरदत्तौ । यस्तु  
भट्टवार्त्तिके ब्रह्मवादिशब्दस्य तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिपरतया व्या-  
ख्यानं कृतं, तस्यायमाशयः—“सुप्यजातौ” इति सूत्रेण ताच्छील्ये सम-  
नन्तरोक्तवार्त्तिकेन साधुकारिणि च णिनिः । “आवश्यकधमर्ण्ययो-  
र्णिनिः” (पा०सू०३-३-१७०) इति आवश्यके णिनिस्तु तद्धर्मे पर्यव-  
स्यति । न त्विह “आ केः” (पा०सू०३-२-१३४) इति सूत्रस्य व्यापा-  
रोऽस्तीति दिक् ।

कर्त्तर्युपमाने (पा०सू०३-२-७९) ॥ कर्तृवाचिन्युपमाने उपपदे धा-  
तोर्णिनिः स्यात् । उपपदं कर्त्ता प्रत्ययार्थस्य कर्तृरुपमानम् । उष्ट्र इव  
क्रोशति उष्ट्रक्रोशी । ध्वाङ्क्षरावी । अताच्छील्यार्थं जात्यर्थञ्च वच-  
नम् । कर्तरि किम् ? अपूपानिव भक्षयति माषान् । उपमाने किम् ?  
उष्ट्रः क्रोशति ।

व्रते (पा०सू०३-२-८०) ॥ सुप्युपपदे धातोर्णिनिः स्याद्व्रते गम्य-  
माने । समुदायोपाधिरयम् । धातूपपदप्रत्ययसमुदायाच्चेद्व्रतं गम्यत  
इत्यर्थः । स्थण्डिलशायी । अश्राद्धभोजी । यद्यपि द्विधा नियमः स-



भवति 'स्थण्डिले शेते एव' 'अश्राद्धं भुङ्क्ते एव' इति वा, 'स्थण्डिले एव शेते' 'अश्राद्धमेव भुङ्क्ते' इति च, तथापि आद्ये प्रत्ययो न भवति 'वने' इत्युक्तेः । शास्त्रसिद्धो नियमो हि व्रतं, न च शयितव्यमेव भोक्तव्यमेवेत्यङ्कुरं शास्त्रमस्ति । अस्ति तु स्थण्डिले एव शयितव्यम्, अश्राद्धमेव भोक्तव्यम् इति । तस्मात्तत्रैव प्रत्ययः । अताच्छीत्यार्थमजात्यर्थं वा आरम्भः ।

बहुलमाभीक्ष्ये (पा०सू०३-२-८१) ॥ सुप्युपपदे धातोर्बहुलं णिनिः स्यात् पौनःपुन्ये द्योत्ये । क्षीरपायिण उशीनराः ।

मनः (पा०सू०३-२-८२) ॥ सुप्युपपदे मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी । बहुलग्रहणादिह देवादिकस्यैव ग्रहणं न तु तानादिकस्य । तेनोत्तरसूत्रे खाशि श्यनेव भवति ।

आत्ममाने खश्च (पा०सू०३-२-८३) ॥ मननं मानः । आत्मशब्दः स्वपरः । कर्मणि षष्ठ्या समासः । प्रत्ययार्थत्वेन सन्निहितः कर्त्ता स्वपदार्थः । आत्मकर्मकमनने वर्त्तमानान्मन्यतेर्धातोः सुप्युपपदे खश् स्यात् चाणिनिः । यद्यपि वासरूपविधना सिद्धोऽसौ तथाप्यविच्छेदाय समुच्चीयते । तेन "करणे यजः" (पा०सू०३-२-८५) इत्यादौ णिनिरेवानुवर्त्तते न तु खश् । दर्शनीयमात्मानं मन्यते दर्शनीयम्मन्यः । दर्शनीयमानी । पण्डितम्मन्यः । पण्डितमानी । आत्ममाने इति किम् ? दर्शनीयमानी देवदत्तो यज्ञदत्तस्य । खशः खकारो मुमर्थः, 'दर्शनीयम्मन्या कुमारी' इत्यादौ न्हस्वार्थश्च । शकारः सार्वधातुकसंज्ञार्थः । दिवादिच्वात् श्यन् । स्वरस्तु सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरः सार्वधातुकस्वरं न बाधते इति खश एव भवति न तु निस्वर इति भाष्यकैयटपदमञ्जर्यादिषु स्थितम् ।

एवञ्च सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते इति यत्नतस्तत्रतत्र प्राचां ग्रन्थेषूक्तम् । तत्र लादेशत्वमविवक्षितमित्यवधेयम् । अत एव दिवादिभ्यश्चानशि श्यनि निस्वरेण आद्युदात्तत्वम् इत्येवंपरः कैयटग्रन्थ आपाततो न तु श्रद्धेय इति प्रपञ्चितमस्माभिः "स्थानिवत्" (पा०सू०१-१-५६) सूत्रे ॥

इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयाध्यायस्य द्वितीये पादे प्रथममाह्निकम् ॥



भूते (पा०सू०३-२-८४) ॥ अधिकारोऽयम् । “वर्तमाने लट्” (पा०सू०३-२-१२३) इति यावत् ।

करणे यजः (पा०सू०३-२-८५) ॥ करणे उपपदे भूतार्थवृत्त्यर्जिनिः स्यात्कर्त्तरि । सोमेनेष्टवान्सोमयाजी ।

स्यादेतत्, ‘अग्निष्टोमयाजी’ इत्यादौ यागसमानाधिकरणे उपपदे कथं णिनिरिति चेत् ?

अत्र काशिका—अग्निष्टोमः फलभावनायां करणम् इति ।

अयमाशयः—अस्ति हि सर्वधातूनां धातुत्वेन व्यापारे भावनापर-पर्याये शक्तिः । पचियजित्वादिविशेषरूपेण तु पाकयागादिविशेषेष्विति-भूवादिसूत्रे एवोक्तम् । तत्र यागस्य समानप्रकृत्युपात्तभावनां प्रति करणत्वे कटोऽपि कर्मेति न्यायेन ज्योतिष्टोमोऽपि करणमेव । अग्नि-ष्टोमादिशब्दास्तु यद्यपि संस्थावचनाः तथापि तद्वति लक्षणया याग-समानाधिकरणा एवेति दिक् ।

इह प्रघट्टके हरदत्तग्रन्थे अग्निष्टोमशब्दः कर्मनामधेयम् इति । दीक्षणीयादिरुदवसानीयान्तो ज्योतिष्टोमाख्यो याग एव स्वर्गभाव-नेति । द्विविधो यजमानस्य व्यापारः—सामान्यरूपो विशेषरूपश्च । तत्र सामान्यरूप आभ्यन्तर औदासीन्यप्रच्युतिरूपः कृतिप्रयत्नादिप-दाधिलब्धः, बाह्यस्तु—दीक्षणीयादिरुदवसानीयान्तः प्रसिद्ध एवेत्यादि व्यवहृतम् । एतच्च यद्यपि मीमांसाविरुद्धम्, अग्निष्टोमशब्दस्य सं-स्थावाचित्वात् । न च संस्थैवेह कर्मशब्दार्थो विवक्षितस्तत्कथमं-ग्निष्टोमस्य यजि प्रति करणत्वं, न हि तदेव तत्र करणं भवति इति तदुत्तरतद्ग्रन्थविरोधात् । दीक्षणीयादेरुदवसानीयाया ज्योतिष्टोमाङ्ग-त्वेऽपि ज्योतिष्टोमाख्ययागशरीराप्रवेशात्, दीक्षणीयादीनां बाह्यत्वो-पवर्णनविरोधाच्च । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपाणान्तेषामाभ्यन्तर-त्वात् । प्रक्षेपो हि बाह्यः न तु यागोऽपीति स्पष्टमेव । तथापि गौण्या लक्षणया वा कथञ्चिन्मीमांसासिद्धान्ताविरोधेन हरदत्तग्रन्थो व्या-ख्येय इति दिक् ।

कर्मणि हनः (पा०सू०३-२-८६) ॥ कर्मण्युपपदे भूतार्थाद्धन्तेर्णि-निः स्यात् । इदं कर्मग्रहणं “सहे च” (पा०सू०३-२-७६) इति यावदनु-वर्तते । पितृव्यघाती । मातुलघाती ।

अत्र काशिका—कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम् । इह मा भूत्, ‘चोरं हत-वान्’ इति । यद्यपि इदं भाष्ये नास्ति, तथापि शक्तिस्वाभाव्यालुभ्य-ते इति भावः ।



ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् (पा०सू०३-२-८७) ॥ ब्रह्मादिषु कर्मसूपपदेषु हन्तेभूते क्विप् स्यात् । ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा । “क्विप् च (पा० सू०३-२-७६) इत्यनेन सिद्धे नियमार्थमिदम् । नियमश्चेह चतुर्विधोऽपीष्यत इति वृत्तिकारः । तस्यायमाशयः—इह सूत्रे श्रुतत्वात्पूर्वं ब्रह्मादय उद्देश्याः । ततोऽनन्तरं प्रकृतिवाङ्मन्तिः । ततः परिशेषाद् भूते इति । किप् तु सर्वान्ते निर्हेष्टव्यः, विधेयत्वात् । तदेवं वचनव्यक्तिः ब्रह्मादिषूपपदेषु हन्तेभूते किबिति । एवं स्थिते यत्रैवकारस्ततोऽन्यत्र नियम इति न्यायेन नियमोऽन्यत्र भवन् अनन्तरे भवति । ततश्च ब्रह्मादिष्वेवेत्यवधारणे हन्तेस्तदनन्तरनिर्दिष्टत्वादुपपदान्तरसम्बन्धनिवृत्तिफलो नियमो भवति । ब्रह्मादिषु हन्तेरेव ‘भूते’ इति तु अनन्तरत्वाविशेषेऽपि प्राथम्यादुपपदनियमः । ब्रह्मादिषु हन्तेभूते एव । ‘क्विप्’ इति तु आनन्तर्ये क्विब्धात्वोरविशिष्टेऽपि प्राधान्यात्प्रत्ययनियमः । ब्रह्मादिषु हन्तेभूते क्विबेवेति वचनव्यक्तौ कालनियमः । सोऽयं प्रकृत्युपपदप्रत्ययकालनियमानां विवेकः । अगृह्यमाणविशेषत्वात्तु चतुर्विधस्यापीह ग्रहणम् । तत्र ब्रह्मादिष्वेव हन्तेरिति प्रकृतिनियमे ‘भूते’ इत्याश्रयणात्कालान्तरे उपपदान्तरेऽपि भवत्येव । पुरुषं हन्ति हनिष्यति वा पुरुषहा । अरिहयोगविचक्षणः । ब्रह्मादिषु हन्तेरेवेत्युपपदनियमेऽपि ‘भूते’ इत्याश्रयणात्कालान्तरे धात्वन्तरादपि भवत्येव । वृत्रं जयति जेष्यति वा वृत्रजित् इति । भूते एव किबिति प्रत्ययनियमोऽपि ब्रह्मादिष्वित्युक्तेः ‘पुरुषहा’ ‘अरिहा’ इति प्राग्वत् । भूते एव किबेवेति कालनियमेऽपि उपपदान्तरे भूतेऽपि प्रत्ययान्तरं भवत्येव । पितृव्यं हतवान् ‘पितृव्यघाती’ इति । सोपपदश्च प्रत्ययो नियमेन व्यावर्त्यते । निष्ठा तु भवत्येव, ‘वृत्रं हतवान्’ इति । भाष्यकारस्तु प्रकृतिकालनियमावेव अशिश्नियत् । तस्यायमाशयः—धातुकालौ हि नेह सूत्रे श्रुतौ किन्तु प्रकरणलक्षणजघन्यप्रमाणेनोपस्थितौ । अतस्तयोरेवोपरोधो न्याय्यः न तूपपदप्रत्यययोः, श्रुत्युपस्थापितत्वात् । एवं न्यायोपष्टम्भेन भाष्येण सह विरोधात् वृत्तिमतमुपेक्ष्य मेवेति कैयटे स्थितम् । यत्स्विह हरदत्तेनोक्तं धातूपपदविषयं नियमद्वयं भाष्ये प्रदर्शितमिति । तत्र ‘धातुकालविषयम्’ इति वक्तव्ये उपपदग्रहणं प्रामादिकमित्यवधेयम् ।

बहुलं लन्दसि ( पा०सू०३-२-८८ ) ॥ पूर्वेण नियमादप्राप्तः किप् प्रतिप्रसूयते । उपपदान्तरेऽपि हन्तेर्बहुलं किप् स्यात् । यो मातृहा पितृहा । क विघ्न, पितृघातः ।



सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृजः (पा०सू०३-२-८९) ॥ सुकर्मादिषु च कर्मसूपपदेषु कृजः किप् स्यात् । त्रिविधोऽत्र नियमः धातुनियमं वर्जयित्वेति वृत्तिः । सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यकृत् । कालनियमात् 'कर्म कृतवान्' इत्यत्राण न भवति । उपपदनियमात् 'मन्त्रमधीतवान्मन्त्राध्याय' इत्यनेव भवति न किप् । प्रत्ययनियमात् मन्त्रं करोति करिष्यति वेति विवक्षायामणेव भवति न किप् । धातोरनियतत्वादन्यस्मिन्नप्युपपदे 'किप् च' इति किप् भवत्येव । शास्त्रकृत् । भाष्यकृत् ।

सोमे सुजः (पा०सू०३-२-९०) ॥ सोमे कर्मण्युपपदे सुनोतेः किप् स्यात् । सोमसुत् । चतुर्विधोऽत्र नियम इति वृत्तिः ।

अग्नौ चेः (पा०सू०३-२-९१) ॥ अग्नौ कर्मण्युपपदे चिनोतेः किप् स्यात् । अग्निचित् । अत्रापि चतुर्विधो नियम इति वृत्तिः ।

कर्मण्यग्न्याख्यायाम् (पा०सू०३-२-९२) ॥ कर्मण्युपपदे चिनोतेर्धातोः कर्मण्येव कारके किप् स्यादग्न्याख्यायाम् । इयेन इव चीयते इयेनचित् । अग्निशब्द आहवनीयधारणार्थम् इष्टकानिर्मितस्थलविशेषे वेदे बहुशः प्रयुज्यते । य एवं विद्वानग्निं चिनुते । अग्निञ्चेष्ट्यमाण इति । स तत्र मुख्यो जघन्यो वास्तु इह त्वसत्याख्याग्रहणे लोकप्रसिद्धिवशेन ज्वलन एव गृह्येत । स मा ग्राहि, स्थलविशेष एव च गृह्यतामित्येतदर्थमाख्याग्रहणम् । एवं धातूपपदप्रत्ययसमुदायेन स्थलविशेषे गम्यमाने अयं प्रत्यय इति स्थितम् ।

कर्मणीनिर्विक्रियः (पा०सू०३-२-९३) ॥ कर्मण्युपपदे विपूर्वात्कीणातेरिनिः स्यात् । अत्र वार्तिकम्—

कर्मणि कुत्सितग्रहणम् (का०वा०) इति ॥ एतच्च पुनः कर्मग्रहणसामर्थ्याल्लभ्यते । यत्कर्म क्रियया सम्बध्यमानं कर्तुः कुत्सामावहति तत्रेत्यर्थः । सोमादयश्च विक्रीयमाणाः शास्त्रे प्रतिषेधात्कुत्सावहाः । सोमविक्रयी । घृतविक्रयी । तैलविक्रयी । कुत्सितग्रहणाच्चेह-धान्यविक्रायः ।

दृशेः कनिप् (पा०सू०३-२-९४) ॥ कर्मण्युपपदे भूतार्थाद् दृशेः कनिप्स्यात् । "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" (पा०सू०३-३-१३०) इति सिद्धे नियमार्थमिदं "कनिवेव यथा स्यात् तत्सहनिर्दिष्टं मनिनादि सोपपद-आणादि मा भूत्" इति । निष्ठा तु भवत्येव, 'परलोकं दृष्टवान्' इति । एवं स्थिते 'विश्वदृष्टवनयना वयमेव' इत्यादौ विश्वं पश्यन्तीति वर्त्तमानविग्रहेऽपि न क्षतिः, प्रत्ययान्तरनिवृत्त्यर्थं सूत्रम् इति वृत्तिकारादिभिर्व्याख्यातत्वात् । कालान्तरनिवृत्त्यर्थस्य चाभियुक्तैरनुक्तत्वादिति दिक् ।



राजनि युधिकृञः (पा०सू०३-२-९५) ॥ राजशब्दे कर्मवाचिन्पुण-  
पदे युध्यतेः करोतेश्च कनिष्प्यात् । युध्यतेरकर्मकत्वेऽप्यन्तर्भावित-  
ण्यर्थत्वात्सकर्मकत्वम् । राजानं योधितवान् राजयुध्वा । राजकृत्वा ।

सहे च (पा०सू०३-२-९६) ॥ 'कर्मणि' इति निवृत्तम्, असत्त्वव-  
चनत्वेन इहानन्वयात्, उत्तरत्राप्यनुपयोगात् । सहशब्दे उपपदे युधेः  
कृञश्च कनिष्प्यात् । सहयुध्वा । सहकृत्वा । "दशेः कनिष्" (पा०  
सू०३-२-९४) इति वदिदमपि सूत्रद्वयं नियमार्थमिति न्याय्यम् ।

वस्तुतस्तु दृशिग्रहणेन निर्वाहस्यागतिकर्गितत्वादियन्त्रिसूत्री वि-  
धायीत्यपि सुवचम् । प्राचां ग्रन्थास्तिवह उदासीना एवेति बोध्यम् ।

सप्तम्याञ्जनेऽः (पा०सू०३-२-९७) ॥ सप्तम्यन्ते उपपदे जनेऽः प्र-  
त्ययः स्यात् । सरसिजम् । मन्दुरजः । वाजिशाला तु मन्दुरा । "ङ्या-  
पोस्संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" (पा०सू०६-३-६३) इति ह्रस्वः ।

पञ्चम्यामजातौ (पा०सू०३-२-९८) ॥ जातिशब्दवार्जिते पञ्चम्यन्ते  
उपपदे जनेऽः स्यात् । बुद्धिजः । संस्कारजः । गुणशब्दोऽयम् । यद्य-  
पि बुद्धित्वं जातिरिति बहवस्तथापि गुणगतजात्यनभ्युपगममतेने-  
दम् । मतान्तरे तु "अन्येष्वपि" (पा०सू०३-२-१०१) इत्यनेन सिद्धम् ।  
प्रकृतसूत्रोदाहरणन्तु अदृष्टजम् । इन्द्रियजम् । शरीरजम् इत्यादि  
बोध्यम् ।

उपसर्गे च संज्ञायाम् (पा०सू०३-२-९९) ॥ जनेऽः स्यात् । "प्रजा  
स्यात्सन्ततौ जने" (अ०को० ३-३-३८) ॥

अनौ कर्मणि (पा०सू०३-२-१००) ॥ अनुपूर्वाञ्जनेः कर्मण्युपपदे ङः  
स्यात् । पुमांसमनुरुध्य जाता पुमनुजा । इह जनिः सकर्मकः ।

अन्येष्वपि दृश्यते (पा०सू०३-२-१०१) ॥ उपपदान्तरेष्वपि जनेऽः  
स्यात् । अजः । द्विजः । ब्राह्मणजः । अपिः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः ।  
तेन धात्वन्तरादपि कारकान्तरेष्वपि यथादर्शनं भवति । परितः स्वा-  
ता परिखा । उखा । क्रोडादिगणे निपातनादुदोऽन्तलोप इति वर्धमा-  
नः । यस्वन्तात्यन्ताध्वेति प्रकरणे "अन्यत्रापि दृश्यते" इत्युपसङ्ख्यातं  
तद् भूतकालं विनाऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

वस्तुतस्तु प्रकृतसूत्रस्थस्यापिग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थ-  
त्वाद्वाचिकमनेनैव गतार्थम् । विभावितं चेदम् "इको गुणवृद्धी"  
(पा०सू०१-१-३) इति सूत्रे जनेऽः प्रक्रम्य "गमेरप्ययणङो वक्तव्यः"  
इति वदता भाष्यकारेण । एवञ्च प्रकृतसूत्रस्थम् "अन्येभ्योऽपि दृश्य-  
ते" इति वार्तिकमपि गतार्थम् ।



निष्ठा (पा०सू०३-२-१०२) ॥ धातोर्भूते निष्ठा स्यात् । “तयोरेव” (पा०सू०३-४-७०) इति कः कर्मणि, क्ववतुस्तु कर्त्तरि । कृतः कटः । कटं कृतवान् ।

आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या (का०वा०) ॥ कृतः कटः । कर्त्तुमारब्ध इत्यर्थः । न्याय्यं त्वाद्यपवर्गात् । उपसङ्गधानप्रत्याख्यानमेतत् । आदि-भूतो यः क्रियाक्षणः अपवृक्तः तस्मिन्नेव अवयवे समूहरूपारोपात्ति-द्धः प्रत्यय इति भावः । अत एव लुङादयोऽपि प्रयुज्यन्ते । उक्तञ्च—

समूहः स तथाभूतः प्रतिभेदं समूहिषु ।

समाप्यते ततो भेदे कालभेदस्य सम्भवः ॥ इति ।

सुयजोर्ङ्वनिप् (पा०सू०३-२-१०३) ॥ सुनोतेर्यजेश्च ङ्वनिप् स्यात् । सुत्वा । सुत्वानौ । सुत्वानः । यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः । इह तु ‘सु गतौ’ ‘षु प्रसवैश्वर्ययोः’ (श्वा०प०२६६) इत्यनयोरेव निरनुबन्धकयोर्ग्रहणं प्राप्तम् अनभिधानादुभयपदिना साहचर्याद्वा न भवति । ङकारः सुनोतेर्गुणप्रतिषेधार्थः । पकारः स्वरार्थस्तुगर्थश्च ।

जीर्यतेरतृन् (पा०सू०३-२-१०४) ॥ स्पष्टम् । जरन् । जरन्तौ । जरन्तः । वासरूपेण निष्ठा । “जिनी जीर्णौ जरन्नपि” (अ०का०२-६-४२) इत्यमरः ।

छन्दसि लिट् (पा०सू०३-२-१०५) ॥ स्पष्टम् । अहं द्यावापृथिवी आततान । ननु “छन्दसि लुङ्लङ्लिटः” (पा०सू०३-४-६) इति सिद्धमिति चेत् ? न, “धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः” (पा०सू०३-४-१) इत्यधिकृत्य तद्विधेः । इह त्वविशेषेणेति भेदात् । लिट् इकारटकारावनुबन्धौ ।

लिटः कानज्वा (पा०सू०३-२-१०६) ॥ “लित्यभ्यासस्य” (पा०सू०६-१-१७) इत्यादौ विशेषणार्थः टकारष्टरेत्वार्योऽपि ।

कसुश्च (पा०सू०३-२-१०७) ॥ छन्दसि लिटः कानच्कसु वा स्तः । योगविभाग उत्तरार्थः । योऽग्निश्चिक्यानः । मन्दानः । सोमम्पपिवान् । अनन्तरस्यैव लिट् इमावादेशौ । लिङ्ग्रहणन्तु प्रत्ययान्तरत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । वावचनमुत्तरार्थम् । कानचश्चित्करणं स्वरार्थम् । कसोरुकार उगित्कार्यार्थः । ‘जक्षिवान्’ इत्यादौ “उगित्त्वाम्” (पा०सू०७-१-७०) इति नुम् । ‘उपेयुषी’ इत्यादौ “उगितश्च” (पा०सू०४-१-६) इति ङीप् । “वसोः सम्प्रसारणम्” (पा०सू०६-४-१३१) इत्यत्र सामान्यग्रहणमप्युकारस्य प्रयोजनम् ।

अथ किमर्थं कित्करणम्, ‘ईजानः, ससृजानः, तेपानः’ इत्यादौ सम्प्रसारणं गुणनिषेध एत्वाभ्यासलोपश्चासंयोगाल्लिटः कित्वादेव सिद्धम् ।



अस्तु तर्हि संयोगान्तार्थम् । बन्ध बन्धने (क्रया०प०३६) । वृत्रस्य यद्वद्वधानस्य रोदसी । त्वमर्णवान् बह्वधानां अरम्णाः । अत्र “अनिदिताम्” (पा०सू०६-४-२४) इति नलोपः । अभ्यासधकारस्य हलादि-शेषेण निवृत्तिः प्राप्ता छान्दसत्वान्न भवति । “झलाञ्जश् झशि” (पा०सू०८-४-५३) इति जश्त्वं दकारः । एवमञ्जे-आजिवान् । उपधालोपः । मैवम्, छान्दसौ हि कसुकानचौ । लिट् च छन्दसि सार्वधानुकमपि भवति, “छन्दस्युभयथा” (पा०सू०३-४-११७) इति वचनात् । तत्र “सार्वधानुकमपित्” (पा०सू०१-२-४) इति छित्त्वम् । न च संयोगान्तेषु कित्त्वछित्त्वयोर्विशेषोऽस्ति । तस्माद् व्यर्थमनयोः कित्त्वमिति चेत् ?

अत्राहुः, “ऋच्छतृताम्” (पा०सू०७-४-११) इति ऋकारान्तानां प्रतिषेधविषये गुण आरभ्यते स यथेह भवति परितस्तेर तेरतुस्तेरु-रिति, एवमिहापि स्यात् । यतः स्रुचा बर्हिर्हृतिस्तिराणाः । तथा तिती-र्षानिति । तद्यावृत्तये कित्करणम् । नचैवम् “आरिवान्” “सर्वाभ्रणा-भ्यारुषी” इत्यत्रापि गुणो न स्यादिति वाच्यम्, ऋकारान्तरप्रश्लेषेण ऋधातौ-पुनर्विधानादिति दिक् ।

यत्तु केचित् कित्करणसामर्थ्याद्भाषायामपि कसुकानचौ स्त इत्याहुः । तद्भाष्यविरुद्धम् । “भाषायां सद” (पा०सू०३-२-१०८) इत्यादि-सूत्रविरुद्धेऽप्युपेक्ष्यम् ।

भाषायां सदवसश्रुवः (पा०सू०३-२-१०८) ॥ एभ्यो भूतसामान्ये लिङ् वा स्यात्तस्य च नित्यं कसुः स्यात् । पक्षे यथास्वं प्रत्ययाः । से-दिवान् । असदत् । असीदत् । ससाद । उषिवान् । अवात्सीत् । अव-सत् । उवास । शुश्रुवान् । अश्रौषीत् । अशृणात् शुश्राव । लङ्लिङ्-विषयेऽपि भवति, परस्तादनुवृत्तेः ।

उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च (पा०सू०३-२-१०९) ॥ उपेत्याविवक्षि-तम्, व्याख्यानात् । “इयिवांसमतिस्त्रिध” इति दर्शनाच्च । इणो न-ऽपूर्वादश्नातेरनुपूर्वाद्भवेच्च भूतसामान्ये वा लिट् तस्य नित्यं क्वसु-कानचौ । पक्षे तु लङादयः । अगात् । ऐत् । इयाय । अनाश्वान्, इहेडभावोऽपि निपात्यते । नाशीत् । नाश्रात् । नाश । वचेः कर्त्तर्येव कानच् न तु भावकर्मणोः, निपातनसामर्थ्यात् । अन्ववोचत् । अन्व-ब्रवीत् । अनुवाच ।

अत्रेदमवधेयम्—“भाषायां सदवस” (पा०सू०३-२-१०८) इति सूत्रे एवमेव ग्राह्यः, ‘उपेयिवान्’ इति तु न निपात्यम्, द्वित्वात्प्रागेव



परत्वादित् । नन्वेवं 'बिभिद्धान्' इत्यादावपीट्प्रसङ्गः, तत्र द्वित्वस्य नित्यत्वात् । इणस्तु इडपि नित्यः । द्वयोर्नित्ययोः परत्वादित् । न च कृते द्विवेऽनेकाच्चादिण् न लभ्यत इति वाच्यम्, ईयतुर्दित्यादाविव स्वर्णदीर्घे सत्येकाच्चात् । न च "दीर्घ इणः किति" (पा०सू०७-४-१९) इति दीर्घसामर्थ्यादेकादेशवाधः । "इणो यण्" (पा०सू०६-४-८१) इति यणि कृते दीर्घस्य चरितार्थत्वात् । न च यणि कृतेऽपि स्थानिवद्भावैकदेशः स्यादिति वाच्यम्, पूर्वमात्रस्य विधौ स्थानिवद्भावः न तु पूर्वपरविधौ, विधिग्रहणसामर्थ्यादित्युक्तत्वादिति दिक् ॥

लुङ् (पा०सू०३-२-११०) ॥ भूतार्थवृत्तेर्धातोर्लुङ् स्यात् । अभूत् । वसलुङ् रात्रिशेषे जागरणसन्तताविति वाच्यम् (का०वा०) ॥ रात्रेश्चतुर्थे यामे यदा वाक्यं प्रयुज्ते तदा अनद्यतनत्वाल्लुङि प्राप्तौ तन्निवृत्त्ये लुङुपसंख्यायते । क भवानुषितः । अमुत्रावात्सम् । जागरणसन्तताविति किम् ? यदा सुप्त्वा प्रबुध्य प्रयुज्ते तदा लङो निवृत्तिर्मा भूत् । अमुत्रावसमिति ।

अनद्यतने लङ् (पा०सू०३-२-१११) ॥ नास्त्यद्यतनो यस्मिन् भूते तद्वृत्तेर्धातोर्लुङ् । अभवत् । बहुव्रीहिभ्याख्यानाग्नेह, अद्य ह्य-श्चाभुज्महि ॥

परोक्षेऽपि लोकविज्ञाते सम्भावितप्रयोक्तृकर्तृकदर्शने लङ् वक्तव्यः (का०वा०) ॥ लिटोऽपवादः । अरुणत्पवनः साकेतम् । लोकविज्ञाते किम् ? चकार कटं देवदत्तः । सम्भावितेत्यादि किम् ? कृष्णः कंसं जघान । नात्रेदानीन्तनस्य प्रयोक्तृदर्शने सम्भाव्यते, चिराती-तत्वात् । यस्तु कृष्णावतारसमकालः प्रयोक्ता स लङं प्रयुक्तवानेव । अहनत् कंसमिति ।

अभिज्ञावचने लट् (पा०सू०३-२-११२) ॥ स्मृतिबोधके उपपदे लङ्विषये लट् स्यात् । अभिजानासि स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा प्रयागे वत्स्यामः ।

न यदि (पा०सू०३-२-११३) ॥ यच्छब्दयोगे पूर्वण प्राप्तो निषिध्यते । अभिजानासि यत्काश्यामवसाम ।

विभाषा साकाङ्क्षे (पा०सू०३-२-११४) ॥ उभयत्र विभाषेयम् । यच्छब्दयोगे पूर्वण निषेधादप्राप्ते अन्यत्र नित्यं प्राप्ते । अभिजानासि देवदत्त प्रयागे वत्स्यामः, तत्र माघं स्नास्यामः; अवसाम, अस्नामे-ति वा । एवं यच्छब्दप्रयोगेऽपि बोध्यम् । इह वासस्नानयोः लक्ष्यलक्षणभावस्य विवक्षितत्वात्साकाङ्क्षता बोध्या ।



परोक्षे लिट् (पा०सू०३-२-११५) ॥ भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धा-  
तोर्लिट् स्यात् । वभूव । अथ कथम् “अभून्नुपो विबुधसखः” इति  
भट्टिः, “अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनाम्” (मा०का०१-४२) इति माघ-  
श्चेति चेत् ? शृणु, वस्तुतो लिट् विषयस्यापि भूतत्वसामान्यांशमा-  
त्रविषयायां लुङ् ।

अत्यन्तापह्वे लिङ् वक्तव्यः (का०वा०) । ताहं कलिङ्गान् जगाम ।  
अपरोक्षार्थमुपसङ्गणानम् । कलिङ्गाख्ये कुत्सिते देशविशेषे त्वया चिरं  
स्थितम् इत्याभियोगे कृते नावस्थानमात्रं निषिध्यते किन्तु तत्प्रयोजकं  
गमनमपीति सोऽयमत्यन्तापह्वः ।

हशश्चतोर्लङ् च (पा०सू०३-२-११६) ॥ लिङ् विषये लङ् चा-  
लिट् । इति हाकरोच्चकार वा । शश्चदकरोच्चकार वा ।

प्रश्ने चासन्नकाले (पा०सू०३-२-११७) ॥ पृच्छयते इति प्रश्नः । क-  
र्माणि नङ् । पञ्चवर्षाभ्यन्तरमासन्नकालः । प्रश्नविषयीभूतासन्नकाल-  
भूतानद्यतनपरोक्षार्थाद्धातोर्लङ् लिटौ स्तः । अगच्छात्किं देवदत्तः,  
जगाम वा ।

लट् स्मे (पा०सू०३-२-११८) ॥ लिटोऽपवादः । यजति स्म युधि-  
ष्ठिरः । इयाज किलेत्यर्थः ।

अपरोक्षे च (पा०सू०३-२-११९) ॥ स्मे लट् स्यात् । लङोऽपवादः ।  
एवं स्म पिता ब्रवीति ।

ननौ पृष्टप्रतिवचने (पा०सू०३-२-१२०) ॥ अनद्यतनपरोक्षे इति  
निवृत्तम् । भूतसामान्ये लट् स्यात् । अकार्षीः किम् ? ननु करोमि भोः ।

नन्वोर्विभाषा (पा०सू०३-२-१२१) ॥ भूतसामान्ये पृष्टप्रतिवचने  
लङ् वा । अकार्षीः किम् ? न करोमि, नाकार्षम् । अहं नु करो-  
म्यकार्षं वा ।

पुरि लुङ् चास्मे (पा०सू०३-२-१२२) ॥ अनद्यतनग्रहणं मण्डूकप्लु-  
त्याऽनुवर्तते । स्मवर्जिते पुराशब्दे भूतानद्यतने लुङ् लटौ वा स्तः । त-  
योरभावे यथाप्राप्तम् । वसन्तीह पुरा छात्राः । अवात्सुः, अवसन्, ऊ-  
र्ध्वा । अस्मे किम् ? नडेन स्म पुराऽधीयते । नडाख्यं तृणविशेषं हस्ते  
गृहीत्वेत्यर्थः ।

वर्त्तमाने लट् (पा०सू०३-२-१२३) वर्त्तमानार्थधातोर्लट् स्यात् । प-  
चति । अधिश्रयणादिरधःश्रयणान्त एकफलावच्छिन्नो विततरूपो  
व्यापारकलापः पचेरर्थः । तस्य च वर्त्तमानत्वमारब्धापरिसमाप्तत्वम् ।  
तच्च लटो द्योत्यम् ।



इत्यादेतत् । 'आत्मा अस्ति' इत्यादौ आरम्भाभावात्कथं लट्, "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादौ भूतप्रत्ययाः, आत्मा भाविक-  
रूपेऽपि भविष्यतीत्यादिभविष्यत्प्रत्ययाश्च कथमिति चेत् ? एकस्या  
अप्यात्मसत्तायास्तत्तत्क्रियोपहिताया औपाधिकं भेदं पुरस्कृत्य सर्व-  
निर्वाहात् ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीये पादे द्वितीयमान्हिकम् ॥

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (पा०सू० ३-२-१२४) ॥  
द्वितीयाद्यन्तेन समानाधिकरणे लटि सति तस्य लटः स्थाने शतृशानचौ  
स्तः । पचन्तं पचमानं पश्य । पचता पचमानेन कृतम् । यद्यपि तिङ्-  
न्तोपस्थाप्ययोः कर्तृकर्मणोरप्रथमान्तेन सामानाधिकरण्यं नास्त्येव,  
तथापि कृदन्तोपस्थाप्ययोः सामानाधिकरण्यदर्शनात्कृत्स्थानितया  
प्रक्रियावस्थायां कल्प्यमानो लकारः प्रकृत्यर्थं प्रति प्रधानभूते कर्तृकर्म-  
णी अभिदधानः कल्प्यते । लकारवाच्यांशस्य तिङ्कृतोरविशेषेऽपि  
गुणप्रधानभावे वैलक्षण्यमस्तीति फलितोऽर्थः । अप्रथमेत्यादि किम् ?  
देवदत्तः पचति । कथन्तर्हि सन् ब्राह्मण इत्यादि ?

अत्राहुः । "लटः शतृशानचौ" (पा०सू० ३-२-१२४) इति योगो विभ-  
ज्यते । "नन्वोर्विभाषा" (पा०सू० ३-२-१२१) इत्यतो विभाषाऽनुवर्तते ।  
व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन यथादर्शनं प्रयोगोऽप्यवतिष्ठते । अप्रथ-  
मेत्यादि तु योगान्तरं विषयविशेषे शतृशानचोर्नित्यतायाः स्पष्टी-  
करणाय । एवं "सम्बोधने च" (पा०सू० ३-२-१२५) इत्याद्यपि बोध्यम् ।

माङ्गयाक्रोशे इति वक्तव्यम् (का०वा०) । मा जीवन् । मा पवमा-  
नः । माङ्गिलुङोऽएवादोऽत एव लट् ।

सम्बोधने च (पा०सू० ३-२-१२५) ॥ हे पचन् । हे पचमान ।

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (पा०सू० ३-२-१२६) ॥ लक्षणं चिन्हम् ।  
हेतुः फलं साधनञ्च । क्रियाया लक्षणे हेतौ च यो धातुस्तस्माल्लटः  
शतृशानचौ स्तः । शयाना भुञ्जते यवनाः । इह शयनं भुजिक्रियायाः  
परिचायकम् । अर्जयन्वसति । अर्जनं वासस्य फलम् । विद्वान्मुच्यते ।  
ज्ञानं मोक्षसाधनम् । इह लक्षणत्वादिकं द्योत्यम् । लङर्थस्तु कर्त्रा-  
दिरेषेति बोध्यम् । परिचायकशयनाश्रययवनरूपानेकाश्रयनिष्ठा वर्त-  
माना भुजिक्रिया । फलीभूतार्जनाश्रयकर्तृको वासः । जनकज्ञानाश्रय-  
निष्ठा मोक्षश्च वाक्यार्थ इति दिक् ।



तौ सत् (पा०सू०३-२-१२७) ॥ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः । संज्ञा-  
प्रदेशाः पूरणगुणेत्यादयः । तौग्रहणसामर्थ्यादिह शतृशानचोरा-  
पूर्वमात्रं गृह्यते । अन्यथा प्रकृतयोर्वत्तमानार्थयोरेव संज्ञा स्यात् ।  
लडादेशयोस्तु न स्यात् । तेन तद्योगे “पूरणगुण” (पा०सू०३-२-११)  
इति न प्रवर्तते । “लटः सद्वा” (पा०सू०३-३-१४) इति सूत्रं तु सत्स-  
दशौ स्त इत्येवंपरं स्यात् । यथा ‘अमी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्ताम्’  
इत्युक्ते सिंहशब्देन तदाकारतामात्रं लक्ष्यते मुख्यार्थस्य बाधात्त-  
थेहापीति दिक् ।

पूङ्थजोः शानन् (पा०सू०३-२-१२८) ॥ पवमानः । यजमानः ।  
नन्वेते शानन्नादयः किन्तुजादिवत्स्वतन्त्रा उत लादेशाः ? नाद्यः,  
‘सोमं पवमानः’ इत्यादौ कृद्योगलक्षणषष्ठ्यापत्तेः । न हीदानीं “न लो-  
क” (पा०सू०२-३-६९) इति निषेधोऽस्ति, अलादेशत्वात् । न द्वितीयः,  
भावकर्मणोरपि प्रसङ्गात् ‘पचमानः’ इत्यत्र ताच्छील्यदौ चानशो  
लसार्वाधातुकस्वरापत्तेश्च । आत्मनेपदसंज्ञाप्रसङ्गेन परस्मैपदिभ्यश्चा-  
नशोऽनुत्पत्तिप्रसङ्गाच्चेति चेत् ?

अत्राहुः, स्वतन्त्रा एवैते । “न लोक” (पा०सू०२-३-६९) इति सूत्रे  
तृप्तिप्रत्याहारः शतृशब्देन तृनो नकारेणेत्युक्तम्, अतो न षष्ठीति ।

ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् (पा०सू०३-२-१२९) ॥ ता-  
च्छील्यदिषु द्योत्येषु कर्तरि चानश् स्यात् । मण्डयमानः । शिखण्डं  
वहमानः । शत्रुं निघ्नानः ।

इङ्धार्योः शत्रुकच्छिणि (पा०सू०३-२-१३०) ॥ इङ्धारिभ्यां शतृ-  
प्रत्ययः स्यादनायासेन क्रियां निर्वर्तयति कर्तरि । अधीयन्पाराय-  
णम् । धारयन्नुपनिषदम् । अकृच्छिणीति किम् ? कृच्छ्रेणाधीते धा-  
रयति वा ।

द्विषोऽमित्रे (पा०सू०३-२-१३१) ॥ शत्रौ कर्तरि द्विषेः शतृप्रत्ययः  
स्यात् । द्विषन् शत्रुः । अमित्रे किम् ? द्वेष्टि पतिं भार्या ।

सुजो यज्ञसंयोगे (पा०सू०३-२-१३२) ॥ सुनोतेः शता स्याद्यज्ञा-  
धिकारिणि कर्तरि । ता अश्वदा अश्ववत्सोमसुत्वा । सर्वे सुन्व-  
न्तः सत्रे यजमाना इत्यमुच्यन्ते । संयोगे किम् ? अयजमानेषु ऋ-  
त्विक्षु मा भूत् ।

अर्हः प्रशंसायाम् (पा०सू०३-२-१३३) ॥ पूजामर्हन् । प्रशंसाया  
किम् ? अर्हति वधं चोरः ।

आकेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु (पा०सू०३-२-१३४) ॥ “भ्रा-



जभास' (पा०सू०३-२-१७७) इति वक्ष्यमाणं क्तिप्पमभिव्याप्य तच्छी-  
लादिष्वित्यधिक्रियते । प्रत्ययार्थस्य कर्तुर्विशेषणञ्चेदम् । शीलादीनां  
त्रयाणां विशेषणं समर्पयितुं निर्दिष्टैस्तच्छब्दैः प्रकृतिभूतधात्वर्था  
निर्दिश्यन्ते ।

तृन् (पा०सू०३-२-१३५) ॥ धातोस्तृन्स्यात्तच्छीलादिषु कर्तृषु ।  
याता सुतमिन्द्रो अस्तु सोमम् । योद्धारः क्षत्रियाः । कर्ता कटम् ।

तृन्विधौ ऋत्विक्षु चानुपसर्गस्येति वक्तव्यम् (का०वा०) । अता-  
च्छील्याद्यर्थ आरम्भः । होता । पोता । अनुपसर्गस्येति किम्? उद्गाता ।  
प्रतिहर्ता । अत्र "तृन्तृचौ शासिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ" (उ०सू०  
२५९) इत्युणादिसूत्रेण तृजेर् भवति । तत्र तृन्तृचौ शंसीति पाठान्त-  
रम् । स्वरे विशेषः । तृनि हि सति "तादौ च निति कृत्यतौ" (पा०  
सू०६-२-५०) इति गतेः प्रकृतिस्वरः स्यात् । तृचि तु कृत्स्वरो भव-  
ति । "तृन्तृचौ" (उ०सू०२५९) इत्युणादिसूत्रस्यैव विषयव्यवस्थार्थ-  
मिदम् । अनुपसर्गस्येति तृन् सोपसर्गस्येति तृजिति ।

नयतेः पुक् (का०वा०) । अयं गुणे कृते बोध्यः । नेष्टा नेषतिः ।  
प्रकृत्यन्तरमिति वा ।

त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधाया अनिट्त्वञ्च (का०वा०) । त्वष्टा ।  
अत्रानिट्त्वमित्युक्तं वक्ष्यमाणसर्वोपसंख्यानशेषो बोध्यः । त्विषेः स्वत  
एवानिट्त्वात् । तेन 'पोता' 'क्षत्ता' इति सिद्धम् । "क्षदेश्च युक्ते" (का०  
वा०) । धातुष्वपठितोऽपि क्षदिरत एव वाक्यात्स्वीकार्यः । आत्मने-  
पदी चायम् "उक्षाणं वावेहतं वाक्षदन्तः" (पे०ब्रा०१-३) इति बह्व-  
वृचब्राह्मणप्रयोगात् "शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानम्" इति मन्त्राच्च ।

क्षत्ता स्यात्सारथौ द्वाःस्थे क्षत्रियायाञ्च शूद्रजे ।

(अ०को०३-३-६६) इत्यमरः ।

अलङ्कृन्निराकृज्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इ-  
ण्च (पा०सू०३-२-१३६) । अलङ्करिणुः निराकरिणुः इत्यादि । इह  
पचत्यादयस्तत्र उत्पूर्वा उपात्ताः । तत्र "उद्ः पचपतमदः" इत्येव  
वक्तव्ये प्रत्येकमुत्पूर्वपाठ उपसर्गान्तरनिवृत्त्यर्थः । तेन 'समुत्पतिणुः'  
इत्यादि न भवतीत्याहुः ।

पचरनन्तरं पतिस्तान्तः पठ्यते ।

उत्पतिणुसहिणू च चैरतुः खरदूषणौ ॥

इति भीट्टः । "पलानामुत्पतिणवः" इति रघुकाव्यम् । केचित्तु  
तत्स्थाने दान्तं पठित्वा 'पद् गतौ' (दि०आ०६३) अस्मात्प्रत्ययमाहुः ।



णेइछन्दासि (पा०सू०३-२-१३७) ॥ इणुच् स्यात् । वीरुधः पाप्  
रयिष्णवः । “अयामन्ता” (पा०सू०६-४-५५) इत्यायः ॥

भुवश्च (पा०सू०३-२-१३८) ॥ छन्दसीत्येव । भविष्णुः । योगवि-  
भाग उत्तरार्थः । कथन्तर्हि “जगत्प्रभोरप्रभविष्णु वैष्णवम्” (मा०का  
१-५४) इति माघः, “विष्णवे प्रभविष्णवे” (वि०स०१) इत्यादि च ।  
निरङ्कुशाः कवय इति हरदत्तः ।

चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन ‘भ्राजिष्णुः’ इति काशिका । एवञ्च  
‘क्षयिष्णुः’ इत्यपि केषाञ्चित्प्रयोगः सङ्गच्छते । किन्तु चकारस्यानुक्त-  
समुच्चयार्थत्वं भाष्ये नोक्तमतो बहवो न पुरस्कुर्वन्ति ।

ग्लजिस्थश्च वस्तुः (पा०सू०३-२-१३९) ॥ चाद्भुवोऽपि । गिद-  
यम् । कत्वन्तु सांहितिकचत्वेन बोध्यम् । यदत्र वक्तव्यं तत् “किङ्कति  
च” (पा०सू०१-१-५) इति सूत्रेऽवोचाम । ग्लास्तुः । जिष्णुः । स्था-  
स्तुः । भूष्णुः ।

दंशेइछन्दास्युपसङ्ख्यानम् (का०वा०) ॥ दंक्षणवः पशवः ।

असिगृधिधृषिक्षिपेः कनुः (पा०सू०३-२-१४०) ॥ त्रस्तुः । गृध्नुः ।  
धृष्णुः । क्षिप्नुः ।

शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् (पा०सू०३-२-१४१) ॥ घकार उत्तरत्र कु-  
त्त्वार्थः । उकार “उगितश्च” (पा०सू०६-३-४५) इति ह्रस्वविकल्पार्थः ।  
शमिनितरा । शमिनीतरा । शमिनितमा । शमिनीतमा । न चैवं ‘श-  
मिनौ’ ‘शमिनः’ इत्यत्र “उगिदचाम्” (पा०सू०७-१-७७) इति नुम्प्र-  
सङ्गः, नुम्विधौ श्लघ्नग्रहणस्यापकर्षात् । इह च श्लन्तत्वाभावादिति  
भाष्ये स्थितम् । वृत्तिकारस्तु-उकार उच्चारणार्थो नानुबन्ध इत्याह ।  
शमिनितरादौ घरूपेति नित्यमेव ह्रस्वत्वमिष्यते इति तस्याशयो न्या-  
सकृतोक्तः । तदेतत्सर्वं भाष्याविरोधादप्रमाणमिति प्रामाणिकाः ।

शमी । तमी । दमी । श्रमी । भ्रमी । क्षमी । कृमी । इह सप्तसु  
“नोदांसोपदेशस्य” (पा०सू०७-३-३४) इति वृद्धिनिषेधः । प्रमादी ।  
कथन्तर्हि उन्मादीति, अलङ्कृजादिना उत्पूर्वादिशेषविहितस्येणुच्  
एवोचितत्वादिति चेत् ? वासरूपन्यायेन घिनुणपि भविष्यति । ननु  
“ताच्छीलिकेषु वासरूपन्यायो नास्ति” इति ज्ञापयिष्यत इति चेत् ?  
न, तस्यानित्यताया अपि ज्ञापयिष्यमाणत्वेन सर्वसौष्ठवात् ।

सम्पृचानुरुधाङ्यामाङ्यसपरिसृजपरिदेविसंजवरपरिक्षिपप-  
रिरटपरिवदपरिदहपरिमुद्वुषाद्विषद्वुहद्वुजाकीडविविचत्यजरजभ-  
जातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च (पा०सू०३-२-१४२) ॥ सम्पर्की । अनु-



रोधी । आयामी । आयासी । परिसारी । संसर्गी । परिदेवी । सञ्ज्वा-  
री । परिक्षेपी । परिराटी । परिवादी । परिदाही । परिमोही । दोषी ।  
द्वेषी । द्रोही । दोही । योगी । आक्रोडी । विवेकी । त्यागी । रागी । भागी ।  
अतिचारी । अपचारी । आमोषी । अभ्याघाती । येऽत्र सम्पूर्वास्तेषां  
द्वन्द्वं कृत्वा "सम एभ्यः" इति वक्तव्यम् । एवमाङ्पूर्वाणां परिपूर्वाणा-  
ञ्च । एवञ्च सिद्धे प्रत्येकपाठ उपसर्गान्तरविशिष्टे मा भूदित्येवमर्थः ।

वै कषलसकथस्त्रम्भः (पा०सू०३-२-१४३) ॥ 'कष हिसायां'  
(भ्वा०प०६८६) । विकाषी । विलासी । विकर्त्ता । विस्रम्भी ॥

अपे च लषः (पा०सू०३-२-१४४) ॥ चाद्वौ । अपलाषी । विलाषी ॥  
प्रे लपञ्चुद्रुमथवदवसः (पा०सू०३-२-१४५) ॥ प्रलापी । प्रसारी ।  
प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । वस निवासे (भ्वा०प०१०३०) ! प्रवासी ।  
आच्छादनार्थस्तु न गृह्यते, लुग्विकरणत्वात् ।

निन्दहिंसकिलशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपीरवादिव्याभाषासूयो  
बुञ्ज (पा०सू०३-२-१४६) ॥ अत्र नश्यतेऽर्ण्यन्तस्य भाविना णिलोपेन  
निर्देशः । अकारस्तूच्चारणार्थः । केचित्तु 'विनाशी' इति ण्यन्तमेव पठ-  
न्ति । असूयतिः कण्वादिगन्तः । समाहारद्वन्द्वः । व्यत्ययेन पुंस्त्वम् ।  
पञ्चम्यर्थे च प्रथमा । "निन्दकः" इत्यादि ।

स्यादेतत् । असूयतिभिन्नानामिह ग्रहणं व्यर्थम्, ण्वुलैव रूपासि-  
द्धेः । असूयतेस्तु ण्वुलि प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं बुञ्जि तु "ङित्यादिः" (पा०  
सू०६-१-१९७) इति स्वरे विशेषः । इतरेषां त्वेकाच्त्वाच्च स्वरे भेदः ।  
न च तृना ण्वुलो बाधः, वासरूपन्यायस्य जागरूकत्वादिति चेत् ?  
सत्यम्, "ताच्छीलिकेषु वासरूपन्यायेन ण्वुलत्तृजादयो न भवन्ति"  
इति ज्ञापनार्थमेतत् ।

देविकुशाश्चोपसर्गे (पा०सू०३-२-१४७) ॥ आदेवकः । परिक्रो-  
शकः । उपसर्गे किम् ? देवयिता । क्रोष्टा । दीव्यतेर्हेतुमाणिजन्तस्य  
'दिबु कूजने' (चु०आ०१७३) इत्यस्य चुरादिण्यन्तस्य च ग्रहणमित्याहुः ॥

चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच् (पा०सू०३-२-१४८) ॥ चलनः । चो-  
पनः । शब्द शब्दने (चु०प०१८१) चुरादिः । शब्दनः । रवणः । अकर्म-  
कात्किम् ? पठिता विद्याम् ।

अनुदात्तेतश्च हलादेः (पा०सू०३-२-१४९) ॥ अकर्मकाद्युजित्यनु-  
वर्त्तते । वर्तनः । अनुदात्तेतः किम् ? भाविता । हलादेः किम् ? एधि-  
ता । आदिग्रहणं किम् ? हलन्तादित्यर्थो मा भूत् । तथाहि सति 'ए-  
धिता' इत्यादावतिप्रसङ्गः 'जुगुप्सनः' 'मीमांसनः' इत्यत्राव्याप्तिश्च स्यात् ।



गुपादिष्वनुबन्धः समुदायस्य विशेषक इत्युक्तत्वादस्तीहादुदात्तेष्वम् ।  
न चार्द्धधातुके विवक्षितेऽतोलोपे सति हलन्तत्वमस्त्येव । ततश्च व्या-  
वर्त्यालाभात् तदन्तविधिबाधे हलादेरित्येवार्थोऽस्त्विति चेत् ? मैवम् ,  
आर्द्धधातुके परे लोपाभ्युपगमात् ।

अत्र चेदमेवादिग्रहणं ज्ञापकम् । अत एव परनिमित्तत्वादल्लोपस्य  
स्थानिवत्त्वे 'घटयति' इत्यादौ न वृद्धिः । 'न पदान्त' (पा०सू०१-१-  
५८) सूत्रे वरेग्रहणमपीह लिङ्गमित्युक्तम् । यत्तु "अचो यत्" (पा०सू०-  
३-१-९७) इति सूत्रे दित्स्यं धित्स्यमित्यादावजन्तभूतपूर्वादपि प्रत्य-  
यार्थमनग्रहणमित्युक्तं, तत् "आर्द्धधातुके" (पा०सू०३-४-३५) इत्यस्य  
विषयसप्तमत्वमभ्युपेत्य ।

वस्तुतस्तु तत्राज्ग्रहणं व्यर्थमेवेति दिक् । अकर्मकात्किम् ? व-  
सिता वल्लम् ।

जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृग्धिज्वलशुचलषपतपदः (पा०सू०३-२-१५०) ॥  
'जु' इति सौत्रो धातुः । जवनः । चङ्क्रमणः । दन्द्रमणः । सरणः ।  
गर्जनः । ज्वलनः । शोचनः । लषणः । पतनः । पदनः । ननु पदिग्रहणं  
व्यर्थम्, पूर्वसूत्रेण युचः सिद्धत्वादिति चेत् ? सकर्मकार्थमिति वृत्तिकारः ।  
भाष्ये त्वनभिधानादेव सकर्मकान्न भविष्यत्यभिप्रेत्य पदिग्रहणं ज्ञा-  
पनार्थमित्युक्तम् । तथाहि, "लषपत" (पा०सू०३-२-१५४) इति सूत्रेण  
पदेरुक्तं विशेषविहितः युचं बाधेत । वासरूपन्यायेन युजपीति चेत् ?  
"ताच्छीलिकेषु परस्परं वासरूपविधिर्नास्ति" इति ज्ञापनार्थमिदमिति ।  
तेनालङ्कारादिभ्यस्तृण । प्रायिकञ्चेदमिति "सूददीप" (पा०सू०३-२-१५३)  
इत्यत्र वक्ष्यते ।

क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च (पा०सू०३-२-१५१) ॥ क्रोधनः । रोषणः ।  
मण्डनः । भूषणः ।

न यः (पा०सू०३-२-१५२) ॥ यकारान्ताद्धातोर्युच् न । कनूयिता ।  
हमायिता ।

सूददीपदीक्षश्च (पा०सू०३-२-१५३) ॥ युच् न । सूदिता । दीपि-  
ता । दीक्षिता । ननु दीपिग्रहणं व्यर्थम् । "नमिकाप्" (पा०सू०३-२-  
१६७) इति रेणैव युचो बाधात् । "ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति"  
इति पदिग्रहणेन ज्ञापितत्वादिति चेत् ? सत्यम्, तस्यानित्यत्वमनेन  
ज्ञाप्यते । तेन—कम्प्रा । कमना । इह युज्योरेव समावेशो ज्ञाप्यते इति  
भाष्यस्वरसः । यदाह—ममाति युच् रेण समावेश इति । वृत्तिकारस्तु  
उपलक्षणाभिर्गम्यते । तेन "वौ कषलस" (पा०३-२-१४३) इति धि-



नुणो विषयेऽपि अनुदात्तलक्षणो युच् भवति । 'विकारः' इति यथा ।

लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ् (पा०सू०३-२-१५४) ॥  
अभिलाषुकः । पातुकः । पादुकः । स्थायुकः<sup>१</sup> इत्यादि ।

जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङ्गः षाकन् (पा०सू०३-२-१५५) ॥ जल्पाकः ।  
जल्पाकी । भिक्षाकः । भिक्षाकी इत्यादि ।

प्रजोरिनिः (पा०सू०३-२-१५६) ॥ प्रजवी ।

जिह्वक्षिविध्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसभ्यश्च (पा०सू०३-२-१५७) ॥  
जयी । दरी । क्षयी । विधयी । अत्ययी । वमी । व्यथ भयसञ्चलन-  
योः (श्वा०आ०७६५) नञ्पूर्वः । सूत्रे निपातनादेव नञो धातुना समा-  
सः, ततो नलोपः, ततः प्रत्ययः । अव्ययी । परिभवी । प्रसवी । इह  
क्षि क्षये (श्वा०प०२३६) क्षि निवासगत्योः, वृ प्रेरणे (तु०प०१२७, १२८)  
एते गृह्यन्ते, निरनुबन्धकत्वात् । क्षि हिंसायाम् (श्वा०प०३१) वृङ्  
प्राणिगर्भविमोचने (अ०आ०२१) वृङ् प्राणिप्रसेवे (दि०आ०२६) एते  
न गृह्यन्ते, सानुबन्धकत्वात् । प्रजोरप्यत्रैव ग्रहणं कृत्वा सूत्रभेद-  
श्चकारश्च सुत्यजः ।

स्पृहिशृङ्गिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् (पा०सू०३-२-  
१५८) ॥ स्पृह इत्सायाम् (चु०प०३३९) गृह ग्रहणे (चु०आ०३६७)  
पत गतौ (चु०प०३२९) एते चुरादावदन्ताः । "अयामन्ता" (पा०सू०  
६-४-५५) इत्ययादेशः । स्पृहयालुः । गृहयालुः । पतयालुः । निद्रा-  
लुः । तत्पूर्वको द्रा । अत्र समासस्तदो नान्तत्वं च निपात्यते । तन्द्रा-  
लुः । श्रद्धालुः ।

शीङो वाच्यः (का०षा०) । शयालुः । कथं 'कृपालुः' 'स्पर्धालुः'  
इति ? कृपां स्पर्धां च लातीति विग्रहे मृगयवादित्वात्कुः ।

दाधेऽसिदसदो रुः (पा०सू०३-२-१५९) ॥ दारुः । धारुः ।  
सेरुः । शद्रुः । सद्रुः ।

सृघस्यदः कमरच् (पा०सू०३-२-१६०) ॥ घसिः प्रकृत्यन्तरम् ।  
सृमरः । घस्मरः । अस्मरः ।

भञ्जभासमिदो घुरच् (पा०सू०३-२-१६१) ॥ भङ्गुरम् । भासु-  
रम् । मेदुरम् ।

विदिभिदिच्छिदेः कुरच् (पा०सू०३-२-१६२) ॥ वेत्तेरेव ग्रहणं,  
व्याख्यानात् । विदुरः । भिदुरः । छिदुरः ।

भञ्जेभिदिच्छिदिभ्याञ्च कर्मकर्त्तरि प्रत्ययौ ।

इति वृत्तिकाराः । न त्वेतद्भाष्ये दृष्टम् । तथा च माघः-शुद्धे कर्त्त-



रि प्रायुङ्क्त—

प्रियतमाय वपुर्गुहमत्सरच्छिदुरयाऽदुरयाचितमङ्गनाः (६-८) इति ।  
कथन्तर्हि “समुग्धकान्तास्तनसङ्गमङ्गुरैः” (१-४७) इति माघ इति  
चेत् ? न हि वयं कर्मकर्तरि नेति ब्रूमः, तस्यापि कर्तृतया तत्र प्रत्यय-  
स्थाप्रत्युहत्वात् । किन्तु शुद्धेऽपि कर्तरि यथासम्भवं भवत्येवेति ।

स्यादेतत् । प्रकृतस्यैव घुरचो छित्त्वमिति दिश्यतां विदिभिदिछि-  
दे छिदिति, किं प्रत्ययान्तरेणेति चेत् ?

अत्र के चिदाहुः, आतिदेशिकं छित्त्वमनित्यमिति ज्ञापनायेदम् ।  
तेन ‘धुवित्रं’ सिद्धम् । धू विधूनने (तु०प०११८) कुटादिः । इत्रस्य  
छित्त्वाभावाद् गुण इति । अन्ये तु ‘धुवित्रम्’ इत्येवेच्छन्ति ।

इणनशजिसर्तिभ्यः कवरप् (पा०सू०३-२-१६३) ॥ इत्वरः । नइवरः ।  
जित्वरः । सूत्वरः । “टिड्ढा” (पा०सू०४-१-१५) इति डीप् । इत्वरी ।  
गत्वरश्च (पा०सू०३-२-१६४) ॥ गमेरनुनासिकलोपोऽपि निपात्यते ।

जागुरूकः (पा०सू०३-२-१६५) ॥ जागुरिति पञ्चम्यन्तम् । ‘जा-  
नरूकः’ इत्येव तु न निपातितम् उत्तरसूत्रे ‘ऊक’ इत्यस्यानुवृत्तये ।

यजजपदशां यङः (पा०सू०३-२-१६६) ॥ दंशेर्भाविना नलोपेन  
निर्देशो लाघवार्थः । यायजूकः । जञ्जपूकः । दन्दशूकः ।

नमिकम्पिपश्यजसकर्महिसदीपो रः (पा०सू०३-२-१६७) ॥ नम्रः ।  
कम्प्रः । स्मेरः । जसु मोक्षणे (दि०प०१०५) नञ्पूर्वः क्रियासातत्ये  
वर्तते । ततो निपातनात्समासे कृते रः । अजस्त्रम् । ‘कथमजस्त्रा  
अमयः’ इति, अजस्त्रधारणादजस्त्राः ।

सनाशंसमिक्ष उः (पा०सू०३-२-१६८) ॥ सन् प्रत्ययो गृह्यते न तु  
‘षणु दाने’ (त०उ०२) ‘षण सम्भक्तौ’ (भ्वा०स० ४६५) इति धातू,  
गर्गादिषु जिगीषुशब्दस्य पाठात् । ‘आङः शंसु इच्छायाम्’ (भ्वा०  
आ०६३०) इत्ययं गृह्यते न तु ‘शंसु स्तुतौ’ (भ्वा०प०७२९) इति,  
आङा सह निर्देशात् । चिकीर्षुः । आशंसुः । मिश्रुः ।

विन्दुरिच्छुः (पा०सू०३-२-१६९) ॥ विद ज्ञाने (अ०प०५४) इष  
इच्छायाम् (तु०प०७१) । आभ्यामुप्रत्ययः विदेर्नुम् इषेच्छत्वञ्च नि-  
पात्यते । विन्दुशब्दस्तु पवर्गीयादिः । विदि अवयवे (भ्वा०प०६४)  
अस्मान्मृगयवादित्वात्कुप्रत्ययो बोध्यः ।

कयाच्छन्दसि (पा०सू०३-२-१७०) ॥ उः स्यात् । अदेवयुं विद-  
थे देवयुभिः । ‘कितः कयः’ इति व्याख्यानात्कण्ड्वादियगन्तादपि भव-  
ति । यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् । तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त ।



सपर्येम सपर्यवः । अथ कथं

सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः ।

इति भट्टपादाः ? मृगयवादिषु द्रष्टव्य इति हरदत्तः ।

आहगमहनजनः किकिनौ लिट् च (पा०सू०३-२-१७१) ॥ आका-  
रान्तेभ्य ऋवर्णान्तेभ्यः गमादिभ्यश्च किकिनौ स्तश्छन्दसि, तौ च  
लिङ्वत् । आदिति नायं तकारः । कस्ताहि ? दकारः, “ऋदोरप्”  
(पा०सू०३-३-५७) इतिवत् । तेन तादपि परस्तपर इत्येतन्न । पपिः  
सोमम् । ददिर्गाः । बभ्रिर्वज्रम् । ततुरिः । जगुरिः । जग्मिर्युवा नृष-  
दनम् । जग्मिर्वृत्रममित्रियम् । जज्ञिः । स्वरूपाबाधेनातिदेशप्रवृत्तेस्ति-  
बादयो न । यद्यपि “असंयोगाल्लिट्” (पा०सू०१-२-५) इति किञ्च  
लभ्यत एव तथापि “ऋच्छत्युताम्” (पा०सू०७-४-११) इति प्रति-  
प्रसूतमपि गुणं निषेद्धुं किकिनोः कित्करणम् । तेन तृ, गृ, एतयोः  
गुणाभावादित्वे प्राप्ते “बहुलं छन्दसि” (पा०सू०७-१-१०३) इत्युत्वे  
‘ततुरिः’ इत्यादि सिद्धम् ।

छन्दसि सर्वेभ्यः किकिनौ वाच्यौ (का०वा०) ॥ सेदिः । नेमि-  
रित्यादि ।

भाषायां धाञ्कृसृजनिनमिभ्यो वाच्यौ (का०वा०) ॥ दधिः ।  
चकिः । सस्त्रिः । जज्ञिः । नेमिः । इह काशिकायां धातुवृत्तौ च गमि-  
रपि पठ्यते । जग्मिः ।

सासहिवावहिचाचलिपापतीनाम् (का०वा०) ॥ इति वार्तिकम् ।  
सहिवावहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ निपात्येते । “नीग्वञ्चु”  
(पा०सू०७-४-८४) इत्यादिना पतेरभ्यासस्य नीग् प्राप्तस्तदभावश्च ।  
अत्र ‘भाषायाम्’ इत्यपेक्षते इति हरदत्तन्यासकारादयः । ननु वार्ति-  
कद्वयेऽपि ‘भाषायाम्’ इति निष्फलम् । “अहिर्महीसासहिरस्तिको-  
ऽन्यः” इति श्रीहर्षादिप्रयोगाणां निर्वाहः फलमिति चेत् ? न, ‘छन्दसि’  
इत्यस्याननुवृत्तिमात्रेण तन्निर्वाहात् । प्रत्युत ‘भाषायाम्’ इत्यनुवृत्तौ  
वेदे एषां किकिनौ नेति लभ्येत । तच्चायुक्तम् “अषील्हमुग्रं पृतनासु  
सासहिम्” “ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलिः” इत्यादिप्रयोगविरोधादिति चेत् ?  
सत्यम्, ‘छन्दसि’ इत्यस्येहासम्बन्धस्फोरणमात्रं फलम् ।

स्वपितृषोर्नेजिङ् (पा०सू०३-२-१७२) ॥ स्वप्नक् । तृष्णक् । ‘धृषे-  
श्च’ इति काशिका । धृष्णक् ।

गृवन्द्योराहः (पा०सू०३-२-१७३) ॥ शराहः । वन्दाहः ।

भियः कृकलुकनौ (पा०सू०३-२-१७४) ॥ भीरुः । भीलुकः ।



कुकनपि वक्तव्यः (का०वा०) ॥ भीरुकः ।

स्थेशभासपिसकसो वरच् (पा०सू०३-२-१७५) ॥ स्थावरः ।  
ईश्वरः । भास्वरः । पेस्वरः । कस्वरः ।

यश्च यङः (पा०सू०३-२-१७६) ॥ यातेर्यङन्ताद्वरच् । यायावरः ।

भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः किप् (पा०सू०३-२-१७७) ॥  
“व्रश्च” (पा०सू०८-२-३६) इति षत्वम् । विभ्राट्, विभ्राजौ । भाः,  
भासौ । “राल्लोपः” (पा०सू०६-४-२१) इति वलोपः । धूः, धुरौ ।  
विद्युत् । ऊर्क् । पूः, पुरौ । दृशिग्रहणाज्जवतेर्दीर्घः । जूः, जुवौ,  
जुवः । ग्रावस्तुत् ।

अन्येभ्योऽपि दृश्यते (पा०सू०३-२-१७८) ॥ दृशिग्रहणं विध्यन्त-  
रोपसङ्ग्रहार्थम् । तच्च वार्तिककारः स्फुटीचकार । आह हि—

वचिप्रच्छयायतस्तुकटप्पृजुश्रीणां दीर्घश्च (का०वा०) ॥

द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च (का०वा०) ॥

हणातेर्ह्रस्वश्च (का०वा०) ॥ ध्यायतेः सम्प्रसारणश्च (का०वा०) ।

इति । वक्तीति वाक् । शब्दप्राट् । आयतस्तूः । कटप् । जूः । श्रीः ।  
वचिप्रच्छयोः सम्प्रसारणन्तु न, दीर्घवचनसामर्थ्यात् । अपर आह  
‘दृशिग्रहणादेव वचिप्रच्छयोः सम्प्रसारणञ्च’ इति । “द्युतिगमि” इति  
वार्त्तिके चकारेण दीर्घः समुच्चीयते, स च जुहोतेरेव, दीर्घश्रुत्युपस्थि-  
तेनाच्चा तदन्तविधिविज्ञापनात् । दिद्युत् । “द्युतिस्वाण्योः” (पा०सू०  
७-४-६०) इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । जगत् । जुहूः । नन्विहाभ्या-  
ससंज्ञैव दुर्लभा, प्रत्यासत्या षाष्ठद्वित्वे एव तत्प्रवृत्तेः । अत एवाष्टमिके  
सा न, इति चेत् ? सत्यम्, दृशिग्रहणादेवाभ्याससंज्ञेति हरदत्तः ।

वस्तुतस्तु “लिटि धातोः” (पा०सू०६-१-८) इत्यतो ‘धातोः’ इ-  
त्यनुवृत्त्या ‘धातोः’ इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञा । एवञ्च न कोऽपि दोष  
इत्यवधेयम् ।

ददत् । हणातेर्दीर्घतेर्वा । ध्यायतीति धीः । इह जुह्वीरित्यनयोः  
करणस्य कर्तृत्वाविवक्षायां प्रत्यय इति हरदत्तः ।

भुवः संज्ञान्तरयोः (पा०सू०३-२-१७९) ॥ भवतेः क्तिप्स्यात्संज्ञा-  
यामन्तरे च गम्यमाने । मित्रभूर्नाम कश्चित् । धनिकाधमर्णयोरन्तरे  
यस्तिष्ठति विश्वासार्थं स प्रतिभूः । यस्तु ग्रामयोरन्तरे तिष्ठति तत्र न,  
दृशिग्रहणस्यानुवृत्तेः ।

विप्रसंभ्यो इवसंज्ञायाम् (पा०सू०३-२-१८०) ॥ एभ्यो भुवो डः  
स्यात् न तु संज्ञायाम् । विभुः सर्वगतः । प्रभुः स्वामी । सम्भुर्जनिता ।



असंज्ञायां किम् ? विभूनां कश्चित् ।

मितद्वादिभ्य उपसंख्यानम् (का०वा०) ॥ मितं द्रवतीति मितदुः । शम्भुः । अन्तर्भावित्यर्थोऽत्र भवतिः, सुखं भावयतीत्यर्थात् ॥

धः कर्मणि ष्टून् (पा०सू०३-२-१८१) ॥ धयतेर्द्धातेश्च कर्मणि कारके ष्टून् स्यात् । धीयते पीयते धात्री स्तनदायिनी । धीयते धार्यते भैषज्यार्थमिति धात्री आमलकी ।

दास्नीशसयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे (पा०सू०-३-२-१८२) ॥ एभ्यः करणे ष्टून्स्यात् । दात्यनेन दात्रम् । नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेदूम् । प्रत्रम् । अजादित्वाद्दंष्ट्रा । नद्धी । दंशेर्नलोपेन निर्देशो ज्ञापकः “क्वचिदङ्कित्यपि नलोपः” इति । तेन व्युटि दशनाः । “आनिदिताम्” (पा०सू० ६-४-२४) इति सूत्रस्थभाष्यस्वरसस्तु शबन्तोऽयन्निर्देशः ।

हलसूकरयोः पुवः (पा०सू०३-२-१८३) ॥ पूङ्पूजोः करणे ष्टून् स्याद्धलसूकरयोरवयवश्चेत्सः । पोत्रम् । हलस्य सूकरस्य च मुखम् ।

अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः (पा०सू०३-२-१८४) ॥ करणे इत्येव । अरित्रं मूलम् । लवित्रम् । ध्रुवित्रम् । सवित्रम् । खानित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

पुवः संज्ञायाम् (पा०सू०३-२-१८५) ॥ पूङ्पूजभ्यां करणे इत्रः स्यात् । दर्भपवित्रम् । येनाज्यमुत्पूयते तत्पवित्रम् । जपादिष्वनामिका-ङ्गुलिवेष्टनश्च ।

कर्तरि चर्षिदेवतयोः (पा०सू०३-२-१८६) ॥ कर्तरि करणे च पुव इत्रः स्यात् । यथासङ्ख्यसम्बन्धात् ऋषौ करणे देवतायां कर्तरि इति काशिका । “कर्तरि कृत्” (पा०सू०३-४-६७) इतिसूत्रस्थभाष्यकैयट-योस्तु यथासंख्यं नेति गम्यते ।

ऋषिर्मन्त्रः, ‘तदुक्तमृषिणा’ इति दर्शनात् । पूयतेऽनेनेति पवित्ररूपा-वमान्यादि । देवतायान्तु-अग्निः पवित्रं स मा पुनातु ।

जीतः क्तः (पा०सू०३-२-१८७) ॥ जीतो धातोर्वर्तमाने क्तः स्यात् । अनेन विशेषविधानात् जीतः क्तस्य भूतविषयता बाध्यते । एवमुत्तरसूत्रे बोध्यम् । जिधृषा-धृष्टः ।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च (पा०सू०३-२-१८८) ॥ मतिरिच्छा न तु बुद्धिः, तस्याः पृथगुपात्तत्वात् । राज्ञां मत इष्टः, बुद्धौ विदितः, पूजितोऽर्चित इत्यादि । कथन्तर्हि “जनैरविदितविभवो भवानीपतिः” इति भारविः, “तेन” इत्यधिकारे “उपज्ञाते” (पा०सू०४-३-११५) इति सूत्रि-



तत्त्वाज्ज्ञानार्थेभ्यो भूतेऽपि क्तः । “पूजितो यः सुरासुरैः” इत्यादि तु चिन्त्यामेति हरदत्तः । सामान्यापेक्षं ज्ञापकमित्यनुन्यासादयः । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तथा च भाष्यम्—

शीलितो रक्षितः क्षान्त आकुष्टो जुष्ट इत्यपि ।

रुष्टश्च रुषितश्चोभावभिख्याहृत इत्यपि ॥

हृष्टतुष्टौ तथाकान्तस्तथोभौ संयतोद्यतौ ।

कष्टम्भाविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्ववत्स्मृताः ॥ इति ।

रुष रोषे (बु०प०१३७) “रुष्यमत्वर” (पा०सू०७-२-२८) इतीङ्-विकल्पः । कष्टशब्दो भविष्यत्काले । अमृतास्तु पूर्ववत् । वर्तमान इत्यर्थः । न म्रियन्ते अमृताः ।

इति श्रीशब्दकौस्तुभे तृतीयाध्यायस्य द्वितीये पादे  
तृतीयमान्हिकं, समाप्तश्च द्वितीयपादः ॥







# स्फोटचन्द्रिका

श्रीमन्मौन्युपाह्वश्रीकृष्णभट्टविरचिता

---

काशीस्थराजकीयसंस्कृतप्रधानपाठशालाध्यापक-  
नेने-इत्युपनामक गोपालशास्त्रिणा संस्कृता ।

---

## THE SPHOTA CHANDRĪKĀ

by  
Pandit S'rī Kṛiṣṇa Bhaṭṭa Maunī.

---

Edited by  
Pandit Gopal S'astri Nene,  
Professor, Government Sanskrit College, Benares.

---



विश्वविद्यालय

महाराष्ट्र राज्य

महाराष्ट्र राज्य विद्यापीठ

महाराष्ट्र राज्य विद्यापीठ

महाराष्ट्र राज्य विद्यापीठ

महाराष्ट्र राज्य विद्यापीठ

महाराष्ट्र राज्य विद्यापीठ

महाराष्ट्र राज्य विद्यापीठ

महाराष्ट्र राज्य विद्यापीठ



\* श्रीः \*

## स्फोटचन्द्रिकाविषयसूची ।

|  | पृ० | प० |
|--|-----|----|
| १ मङ्गलाचरणम्  | १   | ३  |
| २ स्फोटशब्दार्थः   | "   | ५  |
| ३ स्फोटशब्दस्य योगरूढत्वम्                               | "   | ७  |
| ४ स्फोटभेदा अष्टौ  | "   | १२ |
| ५ वाक्यस्फोटातिरिक्तानां सर्वेषां तदुपायत्वम्            | "   | १४ |
| ६ वर्णस्फोटनिरूपणम्                                      | "   | २१ |
| ७ तत्रादेशानामेव वाचकत्वम्                               | "   | २४ |
| ८ वर्णस्फोटस्यैव तार्किकाणां पदस्फोटत्वम्                | २   | १  |
| ९ शक्तस्य पदत्वानिरसनम्                                  | "   | ३  |
| १० तत्र पदचतुर्विध्यम्                                   | "   | ४  |
| ११ पाचकपदे शक्तस्य यौगिकत्वासम्भवः                       | "   | ६  |
| १२ यौगिकलक्षणम्  | "   | ८  |
| १३ गोपदे रूढत्वाभावः                                     | "   | ११ |
| १४ रूढपदलक्षणम्  | "   | "  |
| १५ योगरूढपदलक्षणम्                                       | "   | १३ |
| १६ यौगिकरूढनिरसनम्                                       | "   | १५ |
| १७ तार्किकोक्तरूढिलक्षणोदाहरणनिरसनम्                     | "   | १९ |
| १८ द्विरेफपदस्य लाक्षणिकत्वनिरासः                        | "   | २२ |
| १९ प्रत्येकं वर्णानां स्फोटत्वम्                         | "   | २५ |
| २० स्फोटशब्दस्य भूषणोक्तयौगिकत्वनिरसनम्                  | "   | २९ |
| २१ तार्किकमते ईश्वरेच्छाशक्तिः                           | ३   | ६  |
| २२ नव्यतार्किकाणां भीमांसकानां च मते पदार्थात्तरं शक्तिः | "   | "  |
| २३ साधुशब्दवदसाधुशब्देष्वपिशक्तिः                        | "   | ११ |
| २४ असाधुषु सा नास्तीति तार्किकमतनिरासः                   | "   | "  |
| २५ तत्र असाधुभ्यः साधुशब्दस्मरणद्वोधनिरासः               | "   | १२ |
| २६ पूर्वं शक्तिभ्रमाद्वोधनिरासः                          | "   | १४ |
| २७ शक्तिमत्त्वरूपतार्किकोक्तसाधुत्वलक्षणनिरसनम्          | "   | २५ |
| २८ साधुत्वासाधुत्वलक्षणनिरूपणम्                          | "   | २९ |
| २९ ईश्वरज्ञानं शक्तिरिति वर्धमानमतम्                     | ४   | ५  |



|  | पृ० | पृ० |
|--|-----|-----|
| ३० बोधजनकत्व-शक्तिरिति शाब्दिकमतम्   | "   | ६   |
| ३१ अनादिसम्बन्ध-शक्तिरिति ग्रन्थिकमतम्                                       | "   | १५  |
| ३२ बन्धादिवच्छेदशक्तेरपि अन्नादायाः स्तयोः उपयोगः                            | "   | १८  |
| ३३ नानार्थेऽपि एकैव शक्तिः   | "   | २५  |
| ३४ लक्षणोच्छेदस्येष्टत्वम्   | "   | २८  |
| ३५ शाब्दिकमतेऽपि बन्धादावतिरिक्तशक्तिः                                       | "   | ३   |
| ३६ तार्किकमते विशिष्टस्य कारणतया बन्धादौ शक्त्यभावः                          | "   | ५   |
| ३७ समवायस्थाने तादात्म्यसम्बन्धः   | "   | ८   |
| ३८ गुणविशिष्टघटाद्युत्पत्तिर्विशिष्टस्यैव च कारणत्वम्                        | "   | ११  |
| ३९ तार्किकाणामधेजरती   | "   | १४  |
| ४० कर्णविवरवर्तिनभोनिष्ठशक्तेः शक्तिविशिष्ट<br>नभसो वा श्रोत्रत्वम्          | "   | २०  |
| ४१ श्रोत्रेन्द्रियस्य गुणमात्रसाक्षात्कारजनकत्वम्                            | "   | २५  |
| ४२ रसनघ्राणेन्द्रिययोर्द्रव्यविशिष्टगुणग्राहकत्वम्                           | "   | २७  |
| ४३ त्वक्चक्षुषोर्द्रव्यविशिष्टगुणस्य<br>तद्विशिष्टद्रव्यस्य वा ग्राहकत्वम्   | ६   | ६   |
| ४४ असाध्वन्तर्गतप्रतिवर्णं स्फोटत्वम्  | "   | ९   |
| ४५ साध्वनुकरणानां स्फोटत्वम्   | "   | १२  |
| ४६ असाध्वनुकरणानां विवक्षाभेदेन स्फोटत्वास्फोटत्वे                           | "   | २१  |
| ४७ पदस्फोटनिरूपणम्   | "   | २४  |
| ४८ पदस्फोटस्य वर्णस्फोटापेक्षयाऽन्तरङ्गत्वम्                                 | "   | २५  |
| ४९ वर्णस्फोटस्य पदस्फोटापेक्षया बहिरङ्गत्वम्                                 | "   | २६  |
| ५० पदस्फोटभेदौ   | "   | २७  |
| ५१ सखण्डपदस्फोटस्तार्किकमते वाक्यस्फोटः                                      | "   | २८  |
| ५२ अखण्डपदस्फोटः   | "   | ३०  |
| ५३ स्फोटस्य वाचकत्वेऽनुच्चरितस्याप्रत्यायकत्वपरभाष्य-<br>विरोधपरिहारः        | ७   | २   |
| ५४ तार्किकवेदान्तिमतनिराकरणम्  | "   | ७   |
| ५५ रुढयौगिकयोस्तार्किकसिद्धयोरेवाखण्डसखण्डस्फोटत्वं<br>शाब्दिकानामित्यविरोधः | "   | ३०  |
| ५६ चित्ररूपनिरासः  | ८   | ११  |
| ५७ निर्भिकल्पकज्ञाननिरासः  | "   | १६  |



|  |     |    |
|--|-----|----|
| ५८ अतिरिक्तकालपदार्थनिरासः                               | पृ० | प० |
| ५९ पौलुपाकुवादनिरासः                                     | "   | २० |
| ६० वाक्यस्फोटनिरूपणम्                                    | "   | ३  |
| ६१ अखण्डवाक्यस्फोटः                                      | "   | ८  |
| ६२ सखण्डवाक्यस्फोटः                                      | "   | १० |
| ६३ वाक्यलक्षणं शाब्दिकमते                                | "   | १२ |
| ६४ तार्किकमते वाक्यलक्षणम्                               | "   | १४ |
| ६५ प्रत्यक्षानुमानयोरेकवाक्यत्वं तन्मते                  | "   | १७ |
| ६६ तार्किकवाक्यलक्षणे दोषकथनम्                           | "   | २१ |
| ६७ प्रत्यक्षानुमानयोरेकवाक्यत्वनिरासः                    | "   | २३ |
| ६८ प्रसङ्गतः प्रकरणलक्षणम्                               | "   | ३२ |
| ६९ वाक्यस्फोटभेदाः                                       | १०  | ६  |
| ७० प्रथमान्तमुख्यविशेष्यकबोधे दूषणानि                    | "   | १६ |
| ७१ तार्किकोक्तस्य वाक्यार्थकर्मत्वस्य निरासः             | ११  | २  |
| ७२ नीलो घटो भवतीत्यत्र व्युत्पत्तिवादोक्तबोधखण्डनम्      | "   | ७  |
| ७३ तत्त्वमस्यादिवाक्येषु जहदजहल्लक्षणा                   | "   | ३२ |
| ७४ नामार्थयोरभेद इति व्युत्पत्तेर्लाघवमूलकत्वं           | १२  | ६  |
| न तु नियमत्वम्   | "   | १० |
| ७५ जहदजहल्लक्षणास्थले लाक्षणिकवाक्यस्फोटः                | "   | २३ |
| ७६ लाक्षणिकवाक्यस्फोटनिरासः                              | "   | २५ |
| ७७ प्रकृतिगतसंख्यानुरोधश्चिन्तविषये एव                   | १२  | ९  |
| ७८ वाक्यस्वरूपभेदाः                                      | "   | १५ |
| ७९ काव्यात्मकवाक्यलक्षणम्                                | "   | १६ |
| ८० रसगङ्गाधरोक्तकाव्यलक्षणदूषणम्                         | "   | २५ |
| ८१ तात्पर्यविषयाबाध एव योग्यता, तस्या एव बोधे कारणत्वं,  | "   |    |
| तदभावनिश्चयस्य च प्रतिबन्धकत्वम्                         | १४  | ७  |
| ८२ यद्वा शाब्दबोधे ऽयोग्यतानिश्चयस्य न प्रतिबन्धकत्वम्   | "   | २३ |
| ८३ लक्षणास्थले पूर्वभ्रमात्मको बोध इति तार्किकोक्तनिरासः | १५  | ३  |
| ८४ अखण्डवाक्यस्फोटस्यैकवर्णात्मकत्वम्                    | "   | १० |
| ८५ कामादीनामात्मधर्मात्वनिरासः                           | १६  | १  |







श्रीकृष्णभट्टमौनिरचिता

## स्फोटचन्द्रिका ।

पित्रोः पादयुगं नत्वा जानकीरघुनाथयोः ।

मौनिश्रीकृष्णभट्टेन तन्यते स्फोटचन्द्रिका ॥ १ ॥

शाब्दिकानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थप्रतिपादकानां वाचकलाक्षणिकः  
व्यञ्जकानां शब्दानां तन्निष्ठजातेर्वा स्फोट इति व्यवहारः । स्फुटति  
अर्थो यस्मादिति व्युत्पत्त्या पङ्कजादिपदवद्योगरूढः स्फोटशब्दः । केव-  
लयोगस्वीकारे वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यानां चेष्टायाश्च व्यङ्ग्यार्थप्रतिपादकत्वेन  
तत्रातिव्याप्तेः । न च वाचकादिपर्यायः स्फोटशब्दोऽप्रसिद्धः,

अक्षराणामकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रयः ।

इति हरिवंशे दृष्टत्वात् । तथा च वर्णपदवाक्याखण्डपदाखण्डवा-  
क्येति पञ्च व्यक्तिस्फोटाः । शक्यतावच्छेदिकाया जातेर्वाच्यत्ववत्  
शक्ततावच्छेदिकाया जातेर्वाचकत्वमिति मते वर्णपदवाक्यभेदेन त्रि-  
विधो जातिस्फोटः । एवं चाष्टौ स्फोटाः । यथाऽऽनन्दवत्स्यां शुद्ध-  
ब्रह्मज्ञानार्थमन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेति पञ्चसु को-  
शेषु अपारमार्थिकब्रह्मत्वप्रतिपादनमुपायः, यथा वाऽरुन्धतीज्ञानार्थं  
स्थूलनक्षत्रे अपारमार्थिकारुन्धतीत्वबोधनम्, तथा पारमार्थिकाख-  
ण्डवाक्यबोधार्थमेते वर्णपदवाक्याखण्डपदस्फोटा उपायाः । तदुक्तम्-

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ इति ।

सुप्तिङन्तं पदमिति, एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यकं वाक्यमिति  
पदवाक्यलक्षणानाक्रान्तवर्णसमूहस्य वर्णस्य वा प्रकृतिप्रत्ययरूपस्य  
व्याकरणेन गृहीतशक्तिकस्य पच् तिप् इत्यादिकस्य वाचकत्वे वर्ण-  
स्फोटः । ते च प्रयोगसमवायिनो विसर्गतिबादयो न तु तत्स्थानित्वेन  
कल्पिताः सकारलकारादयः, तेषामनियतत्वात् ।

तथाहि, विसर्गेण रोः स्मरणं, तेन सोः । एवं णला तिपः स्मरणं,  
तेन लकारस्य, एवञ्च गौरवं स्पष्टमेव । किञ्च स्थान्यादेशज्ञानशून्य-  
स्यावैयाकरणस्यादेशमात्रादबोधापत्तेश्च । एवञ्च स्थान्येव वाचको  
लाघवात्, न त्वादेशो गौरवादिति तार्किकोक्तमपास्तम्, विपरीतगौ-



रवापत्तेः । अयं तार्किकाणां पदस्फोटत्वेनाभिमतः, शक्तं पदमिति तैः स्वीकृतत्वात् ।

तच्च मानाभावात् फलाभावात्स्वग्रन्थविरोधाच्चायुक्तमिति शाब्दिकाः । तथा हि, शक्तं पदं चतुर्धा—रुढं यौगिकं योगरुढं यौगिकरुढं चेति । गौः, पाचकः, पङ्कजम्, अश्वकर्णः, इति क्रमेणोदाहरणानि । तत्र 'पाचकः' इति यौगिकोदाहरणे यच्छक्तं पदं पञ्च अक इति, न तद्यौगिकं, समुदायस्तु यद्यपि यौगिकस्तथापि न शक्तः । एवञ्च शक्तं पदं यौगिकमित्यविचारिताभिधानम् । विशिष्टशक्त्यभावे सति व्याकरणबोधितार्थप्रकृतिप्रत्ययसमुदायरूपसुबन्ततिङ्गन्तपदत्वं यौगिकपदत्वम् । सत्यन्तं योगरुढातिव्याप्तिवारणाय, तत्र विशिष्टे शक्तिग्रहात् । एवं गौरिति रुढशुदाहरणमप्यसङ्गतम्, व्याकरणकल्पितप्रकृतिप्रत्ययार्थप्रत्ययाभावे सति समुदायसुबन्तस्यार्थबोधकत्वे रुढपदत्वं यथा मणि-नूपुरादीति रुढिलक्षणानाक्रान्तत्वात् । शास्त्रकल्पितावयवार्थानुसन्धानपूर्वकसमुदायशक्त्याऽर्थबोधकपदत्वं योगरुढत्वम् । यथा पङ्कजादीति । तदाक्रान्तत्वाद्योगरुढत्वं युक्तम् । यौगिकरुढ इति तार्किकोक्तौ भेदोऽपि न युक्तः, सकृदुच्चरितः सकृदर्थं प्रत्याययतीति न्यायान्मण्डपपदं गृहविशेषे रुढं भिन्नं, मण्डपानकर्तरि भिन्नमिति अतिरिक्तभेदस्वीकारे मानाभावात् ।

एवं रुढिलक्षणायाः 'कर्मणि कुशलः' इत्युदाहरणमप्ययुक्तम्, उक्तरीत्या कुशले रुढत्वस्य कुशादानकर्तरि यौगिकत्वस्य सम्भवात् । द्विरेफपदं भ्रमरे रुढमेव, कोशे भ्रमरपर्याये उपादानात् । नहि कोशे लाक्षणिकोपादानं पर्यायेष्वस्ति । एवञ्च स्ववाच्यपदवाच्यत्वसम्बन्धेन द्विरेफपदस्य भ्रमरे लक्षणेति तार्किकोक्तमपास्तम्, अकूरेऽपि उक्तसम्बन्धसत्त्वेन तत्रातिव्याप्तेश्च ।

यद्वा, एकाक्षरकोशावधृतशक्तिकानां सर्वेषां वर्णानामेव स्फोटत्वम्, "अर्थवन्तो वर्णाः" इत्यनेन भाष्ये तथा प्रतिपादनात् । न चैवं धनं, वनमित्यादौ प्रातिपदिकसंज्ञापत्तिः, समुदायशक्तेः स्वाश्रयशक्ततावच्छेदकानुपूर्वीभङ्गजनकार्यकार्यं प्रति प्रतिबन्धकत्वात्(१) ।

यत्तु भूषणे स्फुटति अर्थो यस्मादिति स्फोटः वाचक इति यावदिति केवलयौगिकः स्फोटशब्द उक्तः । तन्न सम्यक्, साधुशब्दाना-

(१) अवयवनिष्ठशक्तिनिरूपकार्थविषयकशब्दबोधं प्रति समुदायनिष्ठशक्तिनिरूपकार्थविषयकतात्पर्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः ।



मिवासाधुशब्दानामपि शक्तिसत्त्वेन वाचकत्वाविशेषात्स्फोटत्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । शाब्दिकैस्तथाऽनङ्गीकारात्, लाक्षणिकव्यञ्जकयोरसं-  
ग्रहापत्तेः । न च 'शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इति 'अत्र' ग्रहणात्काव्य-  
एव व्यञ्जको न व्याकरणे इति भ्रमितव्यम्, पदेन स्फोटोऽखण्डो  
व्यज्यत इति वदद्भिस्तत्स्वीकृतत्वात् ।

ननु तार्किकमते ईश्वरेच्छा शक्तिः । मीमांसकमते अतिरिक्ता पदा-  
र्थान्तरं, नवीनतार्किकैरीश्वरेच्छाज्ञानं वा कृतवैति विनिगमनाविर-  
हान्मीमांसकमतमेवाङ्गीकृतम् । उभयथाऽपि साधुत्वेव सा, नासाधुषु ।  
अन्यथा शक्तिमत्त्वं साधुत्वम् इति साधुत्वलक्षणाक्रान्तत्वेनासाधूना-  
मपि साधुत्वापत्तेः, शक्तिप्राहकव्याकरणकौशदेरभावाच्च; इति चेत् ?  
न, तत्र शक्त्यभावेन तेभ्यो बोधानापत्तेः ।

न च शक्तिभ्रमात्साधुशब्दस्मरणाद्वा बोध इति तार्किकोक्तं यु-  
क्तम्, साधुशब्दस्मरणं विनापि व्युत्पन्नानामपि बोधस्यानुभवसिद्ध-  
त्वात् गौरवाच्च । भ्रमाद्बोध इत्यपि न, रजतभ्रमाद् गृहीतायाः शुके  
रजतव्यवहारानाधायकत्ववच्छक्तिभ्रमाज्जातबोधस्यापि व्यवहाराना-  
धायकत्वापत्तेः । सन्मात्रविषयिण्या ईश्वरेच्छायास्तत्र अभावस्य वक्तु-  
मशक्यत्वात् ।

किञ्च शक्तिभ्रमः कस्य, सर्वव्यवहारकर्तृरीश्वरस्योतान्यस्य ?  
नाद्यः, ईश्वरस्य भ्रमित्वानुपपत्तेः । नान्त्यः, सर्गादौ प्रयोज्यप्रयोजक-  
स्वरूपसाध्वसाधुशब्दव्यवहारकर्त्रीश्वरादन्यस्याभावात् । यथा पुण्य-  
पापोभयजनिकाऽर्थसृष्टिरीश्वरकर्तृका तथैव साध्वसाधूभयविधशब्द-  
सृष्टिरपीश्वरकर्तृकैव । तथा च भ्रम इति अयुक्तमेव । न च तदस्थ-  
बालस्यानुमितिभ्रमः, साधुशब्देऽपि वासाधुशब्देऽपि शक्त्यनुमापक-  
सामग्रीसत्त्वेन बाधकाभावेन च भ्रमत्वायोगात् ।

नन्वसाधुष्वपि शक्तिस्वीकारे शक्तिमत्त्वं साधुत्वमिति तार्किकल-  
क्षणाक्रान्तत्वात्साधुत्वापत्तिः । तथा च "न श्लोच्छित्तवै नापभाषितवै"  
इति निषेधानवकाशः—इति चेत् ? न, लाक्षणिकानामसाधुतापत्तेः ।  
न च वृत्तिमत्त्वं तत्, शक्तिलक्षणान्यतरत्वनिवेशे गौरवात् ।

तस्मात्पुण्यजनकतावच्छेदकजातिविशेषः साधुत्वं, प्रत्यवायजन-  
कतावच्छेदकश्चासाधुत्वम् । यद्वा, व्याकरणबोध्यत्वं साधुत्वं, तद्भि-  
न्नत्वमसाधुत्वम् । तथा चैकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे  
लोके कामधुग् भवतीति । व्याकरणेनार्थविशेषे प्रकृतिप्रत्ययेन व्युत्पा-



दित इति ज्ञातः । तादृशार्थविशेषे प्रयुक्तः । तेन गोणीशब्दस्य गोण्या-  
मेव साधुत्वं न गवि ।

विनिगमनाविरह इत्यपि न युक्तम् । अन्यतरपक्षपातिनी युक्तिर्हि  
विनिगमना । सा च ज्ञानस्य पूर्वाभिव्यक्तिरूपा प्रकृतेऽस्ति । अत एव-  
श्वरज्ञानं शक्तिरिति वर्द्धमानोपाध्यायाः ।

शाब्दिकास्तु बोधजनकत्वं शक्तिः । तच्चानादिबोधजनकतावच्छे-  
दकधर्मवस्त्वम् । तदुक्तं हरिणा—

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।

अनादिरर्थैः सम्बन्धः शब्दानां योग्यता तथा ॥ इति ।

तज्जनकतावच्छेदकधर्मवस्वरूपा योग्यता । न चागृहीतशक्तिकस्य  
शाब्दबोधानुदयाच्छाब्दबोधे शक्तिग्रहस्य हेतुत्वाद् बोधोत्तरं शक्तिग्रहः  
शक्तिग्रहोत्तरं बोध इति अन्योऽन्याश्रयः, व्याकरणकोशादिना शक्ति-  
ग्रहात् । अन्यथेश्वरेच्छा शक्तिरिति पक्षेऽपि शक्तिग्रहोत्तरं बोधः बोधो-  
त्तरं शक्तिग्रह इति अन्योऽन्याश्रयस्य तुल्यत्वात् ।

यद्वा, शब्दार्थयोरनादिसम्बन्धः शक्तिः मम तु प्रतिभाति । शक्तिः  
सामर्थ्यं, यथा दीपादौ तेजसि ग्राह्यत्वग्राहकत्वसामर्थ्यं, वन्त्यादौ दा-  
हकत्वसामर्थ्यम्, इन्द्रियादौ विषयप्रकाशनं, तत्स्वरूपसदेवोपयुज्यते  
न तु ज्ञातम् । एवं शब्देऽपि ग्राह्यत्वग्राहकत्वसामर्थ्यं स्वरूपसदेवोप-  
युक्तं न तु ज्ञातम् । न चागृहीतशक्तिकस्यापि बोधापत्तिः, सन्निकर्षा-  
दिवत् बोधाभावप्रयोजकीभूताभावप्रतियोगितात्पर्यग्रहाभावात् । न  
च नानार्थेष्वेव तात्पर्यग्रहस्य कारणत्वमिति चेत् ? सत्यम्, शाब्दि-  
कमते सर्वेषां नानार्थत्वात् । अत एव “वृद्धिरादैच्” (पा०सु०१-१-१)  
इति सूत्रे भाष्ये “अनेकशक्तेः शब्दस्य” इत्युक्तम् । अनेकेष्वनेका वा  
शक्तिरस्येति विग्रहः । अवच्छेदकभेदे शक्तिभेद इति तार्किकादिसिद्धान-  
्तः । लाघवाच्छक्तिरेकैवेति शाब्दिकराद्धान्तः ।

न चान्यायश्चानेकार्थत्वमिति वाच्यम्, भवन्मतेऽपि तुल्यत्वात् ।  
एतावान् परं भेदः—तद्वन्मते वृत्तिभेदेन, मन्मते तु एकया वृत्त्या । न च  
लक्षणोच्छेदापत्तिः, दृष्टत्वात् । यथा भवद्भिः सर्वानुभवसिद्धाऽपि व्य-  
ञ्जना लाघवाच्च स्वीक्रियते । तत्र च व्यञ्जनोच्छेदापत्तेरदूषकत्ववन्म-  
न्मतेऽपि लाघवाच्छक्त्यैव निर्वाहे लक्षणोच्छेदापत्तेरदूषकत्वात् ।

वस्तुत एकवृत्त्यैव निर्वाहे अनेकवृत्तिकल्पनमन्याय्यमित्येव तदर्थः,  
अर्थपदस्य वृत्तिपरत्वात् । अन्यायश्चेत्यस्य लाघवमूलत्वात् ।

न चानन्यलभ्यः शब्दार्थ इति वाच्यम्, तस्य लक्षणया लभ्ये श-



क्तिकल्पनमन्यायमिति नार्थः, किन्तु संसर्गमर्यादया सिद्धे शक्तिकल्पनमयुक्तमिति तदर्थः ।

एवञ्च शाब्दिकानां शब्दवद्वन्हौ अतिरिक्तशक्तिस्वीकारः । तार्किकाणां तु शब्दे शक्तिस्वीकारः वन्हौ तु नेत्यर्द्धजरतीयस्वीकारोऽनुचितः । न चोत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावेनोपपत्तौ तत्स्वीकारो व्यर्थ इति वाच्यम्, गुरुभूतविशिष्टस्य कारणतावच्छेदकत्वस्वीकारापेक्षया लघुभूतस्वीकृतातिरिक्तशक्तिसम्बन्धस्यैवोचितत्वात् । किञ्च शाब्दिकमते भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम् । गुणत्वद्रव्यत्वादिना भेदेऽपि गुणं विना द्रव्यानुपलम्भाद् द्रव्यं विना गुणानुपलम्भाच्च तयोस्तादात्म्यम् । एवञ्च समवायो यत्र तत्र तादात्म्यमिति व्यवहारः । तथा च तैः गुणं प्रति घटस्य पूर्ववर्तित्वासम्भवेन कारणत्वाभावादन्यथानुपपत्त्या विशिष्टस्यैव कारणतावच्छेदकत्वमङ्गीकृत्य गुणविशिष्टघटं प्रति गुणविशिष्टकपालस्य कारणत्वमिति स्वीकृतम् ।

तार्किकैस्तु विशिष्टस्य कारणतानवच्छेदकत्वाद्विशिष्टस्य कारणत्वासम्भवान्निर्गुणघटोत्पत्तिः स्वीकृता, तत्र च गुणाश्रयत्वरूपद्रव्यत्वलक्षणानाक्रान्तत्वाद् गुणसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमिति निष्कर्षः कृतः ।

सोऽयुक्त इति मम भाति । तथाहि, प्रतिबन्धकोत्तेजकाभ्यां वन्हौ ज्ञाताऽपि शक्तिरुत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य कारणत्वं स्वीकृत्यातिरिक्ता शक्तिः खण्डिता, शब्दे च सा स्वीकृता । एवं विशिष्टस्य तत्र अवच्छेदकत्वं स्वीकृत्येह नेत्युक्ता खपुष्पवन्निर्गुणघटोत्पत्तिः स्वीकृता । सर्वेषामनुभवानारूढत्वादेतत्सर्वमयोग्यामिति दिक् ।

शाब्दिकैस्तु शब्दवद्वन्हौ कर्णविवरवार्त्तनभसि चातिरिक्ता शक्तिः स्वीकृता । सैव श्रोत्रं, शक्तिविशिष्टं नभो वा । एवञ्च दूरस्थभेरीशब्दस्य स्वस्थानस्थितस्यैव श्रोत्रस्य दीपवत् प्रकाशनसामर्थ्यम् । एवञ्च वीचीतरङ्गन्यायेन भेरीशब्दस्य श्रवणदेशागमनमिति न मनोरमम्, साक्षात् भेरीशब्दं शृणोमीत्यनुभवापलापपत्तेः अनेकशब्दकल्पने गौरवाच्च । न च श्रोत्रमेव तत्र गच्छतीति युक्तम्, आकाशस्य गमनासम्भवात् कर्णविवरे आकाशाभावप्रसङ्गाच्च । श्रोत्रेन्द्रियं गुणमात्रसाक्षात्कारजनकम् ।

केचित्तु श्रोत्रेन्द्रियवद्रसनेन्द्रियघ्राणेन्द्रिययोरपि गुणमात्रसाक्षात्कारजनकत्वमिति वदन्ति ।

तदयुक्तमित्यपरे । तथाहि, शब्दस्याकाशगुणत्वात्समवायेन सा-



क्षात्सम्बन्धसत्त्वेन केवलप्रत्यक्षसम्भवेऽपि रसगन्धयोस्तु संयुक्तस-  
मवायः सन्निकर्षः । स च द्रव्यसम्बन्धे घटते इति परम्परासम्बन्धः ।  
तत्र द्रव्यसाक्षात्कारसन्निकर्षसत्त्वेन द्रव्यं विना केवलगुणस्यासत्त्वेन  
च केवलगुणसाक्षात्कारासम्भवः । तस्माद् द्रव्यविशिष्टगुणसाक्षात्का-  
रजनकत्वं तयोः, न तु गुणविशिष्टद्रव्यसाक्षात्कारजनकत्वम् ; अनु-  
भवेन तथैव शक्युन्नयनात् । चक्षुरेन्द्रियत्वागिन्द्रिययोस्तु गुणविशि-  
ष्टद्रव्यं द्रव्यविशिष्टा वा गुण इत्युभयविधसाक्षात्कारजनकत्वम् । विस्त-  
रस्तु मत्कृतशब्दार्थतर्कामृते द्रष्टव्यो गौरवभयान्नेह तन्यते इति दिक् ।

प्रकृतमनुसरामः ! असाधुशब्दस्य वाचकत्वेऽपि व्याकरणप्रतिपा-  
द्यत्वात् स्फोटत्वाभावः । तदन्तर्गतवर्णानां तु एकाक्षरकोशावधृत-  
शक्तिकारित्वान्तरप्रकाशकत्वे पदस्फोट इति पदस्फोटे विवेचयिष्यते ।  
अनुकरणशब्दानां तु अनुकार्यानुकरणयोर्भेदविवक्षयाऽनुकार्यरूपार्थप्र-  
तिपादकत्वात् स्फोटत्वम् । ननु साध्वनुकरणस्य साधुत्वेन स्फोटत्वेऽप्य-  
साध्वनुकरणस्यासाधुत्वात्कथं स्फोटव्यवहार इति चेत् ? न, असाध्व-  
नुकरणस्यापि साधुत्वस्वीकारात् । दैत्यैर्हेल्य इति प्रयोक्तव्ये हेऽल्य  
इति प्रयुक्तं, तदनुकरणं हेल्यो हेल्य इति कुर्वन्तो न पराबभूवुरिति,  
न वाक्येऽपि तस्यासाधुत्वम्, तथा यद्वानः तद्वानः भवतु इत्यर्थे यर्वा-  
णस्तर्वाणः भवतु इति प्रयुक्तं, तदनुकरणं कुर्वन्तो यर्वाणस्तर्वाणो  
नाम ऋषयो बभूवुरिति, न वाक्येऽपि तस्यासाधुत्वं कस्यापि सम्म-  
तम् । तस्मादसाधोरनुकरणस्य साधुत्वं सर्वसम्मतम् । तत्र यदा त-  
योरभेदविवक्षा तदार्थप्रकाशकत्वाभावात् स्फोटत्वम् । शुद्धब्रह्मज्ञानाय  
सर्वबहिर्भूतान्नमयकोशवदखण्डवाक्यबोधनाय वर्णस्फोट इति दिक् ।

इति वर्णस्फोटः ॥

अथ पदस्फोटो वर्णस्फोटापेक्षया अन्नमयकोशापेक्षयाऽन्तरङ्गप्राणम-  
यकोशवदन्तरङ्गो निरूप्यते । अन्तरङ्गत्वं तु साक्षाद्वाक्यघटकत्वेन । वर्-  
णस्य बाहिरङ्गत्वं पदनिष्पत्तिद्वारा तद्घटकत्वम् । पदस्फोटो द्विधा—स-  
खण्डोऽखण्डश्च । व्यवहारादिना पदे एव शक्तिग्रहात् । तत्र योऽस्माकं  
सखण्डपदस्फोटः 'पचति' 'रामः' इत्यादिसुबन्ततिङन्तरूपः, शक्तं  
पदमिति मते स एव वाक्यस्फोटस्तार्किकाणाम् ॥

अथाखण्डपदस्फोटो निरूप्यते । स च सर्वैः पदास्थितवर्णैर्व्यज्यते ।  
स चार्थप्रत्यायक इति शाब्दिकसिद्धान्तः । न च प्रतीतस्य प्रत्यायक-



त्वन्नास्ति, अन्यथा शब्दं वेत्तीत्यत्रार्थं वेत्तीति प्रत्ययापत्तेरिति अणु-  
दित्सुत्रस्थभाष्यविरोधः । तस्य समान्यतः प्रतीतस्य प्रत्यायकत्वं ना-  
स्तीति नार्थः, किन्तु शब्दसंज्ञया प्रतीतस्य शब्दस्येति, प्रकरणानुरो-  
धेन तस्य सङ्केचात् । एवञ्च रहसि पुस्तकमीक्षमाणस्यार्थप्रत्ययाना-  
पत्तिमाशङ्क्य तत्रापि सुक्ष्मोच्चारणमस्त्येवेति नव्योक्तमपास्तम्, अनु-  
भवविरोधाच्च ।

यत्त्वत्र तार्किकवेदान्तिनः—यावद्वर्णव्यङ्ग्यो वा यत्किञ्चिद्वर्णव्यङ्ग्यो  
वा चरमवर्णव्यङ्ग्यो वा सः ? न तावदाद्यः, आशुविनाशिनां मेलनास-  
म्भवात् । न द्वितीयः, पशब्देनैव व्यञ्जिते स्फोटे टवर्णवैयर्थ्यम् । न  
तृतीयः, पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसहितचरमवर्णेनैवार्थप्रतीतिसि-  
द्धौ किं स्फोटेनेति ।

तन्न, वर्णानामाशुविनाशित्वे मानाभावात् । न चोत्पन्नो गकारः,  
नष्टो गकार इति प्रतीतिर्मानम् । “तस्माच्चाकाशः सम्भूतः” इतिवदा-  
विर्भावतिरोभावेनाप्युपपत्तेः अनन्तप्रागभावध्वंसकल्पने गौरवाच्च ।  
अनित्यत्वेऽपि वर्णानुभवजन्यसंस्कारजन्यस्मृतौ मेलनसम्भवात् ।

द्वितीयेऽपि न द्वितीयादिवर्णवैयर्थ्यम्, पशब्दोच्चारणे किं पस्फोट  
उत पटस्फोट उत पटः स्फोट इति सन्देहनिवर्त्तकत्वेन सार्थक्यात् ।

तृतीये यथा पटपदशक्यः विजातीयतन्तुसंयोगविशिष्टचरमसंयो-  
स्यैव पटकार्यकारित्वेऽपि अतिरिक्तोऽवयवी स्वीक्रियते, तथा मयाऽपि  
स्वीक्रियते । न च तथाऽनुभवादतिरिक्तः पटः, स्फोटेऽपि तुल्यत्वात्  
गौरवाच्च ।

स्फोटे तु लाघवं कथमिति चेत् ? शृणु, ध्वनिभिरेव स्फोटो  
व्यज्यते । एवञ्चानन्तवर्णतत्प्रागभावध्वंसकल्पना, नदी दीन सरो रस  
जरा राज इत्यादौ भिन्नार्थप्रतीत्यर्थमानुपूर्व्याः पूर्ववर्णानुभवजन्यसं-  
स्कारसहितचरमवर्णस्य कारणता च न वाच्येत्यतिलाघवम् । त्वया तु  
तद्वाच्यमिति गौरवम् । एतावत्प्रघट्टकेन वर्णातिरिक्तः वर्णव्यङ्ग्यः—

चैतन्ये सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ।

इति शब्दब्रह्मरूपोऽतिरिक्तः स्फोटस्तार्किकादिदूषणाभासनिरस-  
नपूर्वको व्याख्यातः ।

प्रकारान्तरेणाप्युच्यते । अखण्डपदस्फोटो नातिरिक्तः । यत्र तार्कि-  
कादिभिर्यौगिकं योगरूढं च पदमित्युच्यते ‘पाचकः’ ‘पङ्कजम्’ इत्यादि,  
तदेवास्माभिः सखण्डपदस्फोटत्वेन व्यवह्रियते, खण्डशक्त्यनुसन्धान-  
पूर्वकक्रोशादिना समुदायशक्तिग्रहात् । यस्य तु व्याकरणज्ञानशून्यस्य



केवलव्यवहारेण समुदायशक्तिग्रहस्तस्य स एवाखण्डपदस्फोटः । यत्तु रूढं पदं मणिनूपुरादि वः नः इत्यादि, तत्सर्वेषामपि अखण्डपदस्फोटत्वेनाभिमतम्, तत्र सर्वेषामपि अवयवार्थज्ञानाभावविशिष्टव्यवहारेण समुदाये शक्तिग्रहात् । एवञ्च रूढयौगिकपदयोः सखण्डाखण्डस्फोटयोश्च पर्यायत्वं नाममात्रे विवाद इति दिक् । एवञ्च तार्किकादीनां दूषणाभासा गर्भस्त्रावेणैव पराहता इति दिक् ।

नहि तार्किकादितर्का एव सत्तर्का इति नियमः, तत्रापि बहुशोऽनुभवाविषयासत्तर्कदर्शनात् । तथा हि विशिष्टस्य कार्यत्वकारणत्वेनैव सिद्धौ निर्गुणघटोत्पत्तिरयुक्तेति पूर्वमुक्तम् । तथा रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमाद् घटस्य प्रत्यक्षान्यथानुपपत्त्या स्वीक्रियमाणातिरिक्तचित्रं रूपमिति कल्पनाऽप्ययुक्तैव, तादृशनियमे प्रमाणाभावात् । अस्तु वा नियमः, तथापि (१) तत्तद्रूपावच्छिन्नतत्तदवयवसन्निकर्षसहितचरमरूपावच्छिन्नचरमावयवसन्निकर्षेणैव घटसाक्षात्कारसिद्धौ अतिरिक्तचित्ररूपस्वीकारं गौरवात् । एवं विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्तस्य चायं घट इत्यादावसम्भवात् घटघटत्वयोः सम्बन्धानवगाहिनिर्विकल्पकज्ञानकल्पनाऽप्ययोग्यत्वादयुक्तैव । नित्यसम्बन्धातिरिक्तसंयोगसम्बन्धादावेव तत्कल्पना 'दण्डी पुरुषः' इत्यादौ, न तु 'अयं घटः' इत्यादौ, तत्र विशिष्टज्ञानस्यैव जायमानत्वात् । एवञ्च निर्विकल्पकज्ञानं न स्वीकार्यमिति महलाघवम् ।

एवमखण्डखण्डभेदेन कालद्वैविध्यकल्पनमप्ययुक्तमेव, अखण्डस्य व्यवहारानाधायकत्वात् । न च—

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।

इति जगदाधारत्वेन जनकत्वेन च तत्स्वीकारः, ईश्वरस्यैव तत्प्रसिद्धत्वात् । न च पदार्थखण्डने 'दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते' इत्यादिनाऽस्माभिस्तदुक्तमिति वाच्यम्, तत्र दिक्कालयोरेव विशिष्येश्वराभेद उक्तः । स च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुतिविरुद्धः । तथा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्" इत्यादिश्रुतिभिर्जगत्कर्तृत्वं जगदाधारकत्वं चेश्वरस्यैव, न तु कालस्य । तेन "जन्यानां जनकः कालः" इत्यस्य पृथिव्यादिसप्तपदार्थानामपीश्वराभेदेन विशिष्योभयोरेव तदभेदप्रतिपादनस्य चायुक्तत्वात् ।

एवं खण्डकालोऽप्ययुक्तः । सूर्यगतिविशेषरूपोपाधिभेदेन हि खण्ड-



कालः । एवञ्च सूर्यगतिविशेषस्यैवास्तु खण्डकालत्वं किं तदतिरेकेण ।  
तथा च खण्डकालस्य क्रियात्वम् ।

एवं पालुपाकवादिभिः परमाणौ पाकं स्वीकृत्य इयामघटनाशः  
रक्तघटोत्पत्तिः स्वीकृता, तत्र चक्रदण्डादिनिमित्तकारणाभावात्कथ-  
मुत्पत्तिः । निमित्तकारणं विनाऽपि तत्स्वीकारे दण्डचक्रादीनां निमित्त-  
कारणतैवोच्छिद्येत । एवंविधाऽनेकानुभवानारूढगुरुभूततर्काश्रयणं  
लाघवमूलातिरिक्ताखण्डस्फोटखण्डनं दूषणाभासैरनुचितमिति दिक् ।

वाक्यार्थज्ञानं प्रति पदार्थज्ञानस्य कारणत्वात्पदस्फोटं निरूप्य वा-  
क्यस्फोटो निरूप्यते । स चाखण्डसखण्डभेदेन द्विधा । तत्राखण्डः  
पदातिरिक्तोऽखण्डपदव्यङ्ग्यो लाघवात्स्वीक्रियते । तच्चाखण्डपद-  
स्फोटे निरूपितम् । अन्यच्चाकाङ्क्षायोग्यतासत्तीनां कारणतान् वाच्येति  
महल्लाघवम् । सखण्डस्तु प्रसिद्ध एव । यद्वा, 'हरेऽव' इत्यादौ एकादेशे  
कृते पदविभागो दुर्वारस्तत्राखण्डवाक्यस्फोटोऽन्यत्र सखण्ड इति  
विवेकः । एवञ्च दूषणानां गर्भस्त्राव एव । तत्र वाक्यं नामैकतिङन्तार्थ-  
मुख्यविशेष्यकम् । यथा 'पचति भवति' इति । तत्रापि पचतीत्यस्य  
विशेष्य वेऽपि मुख्यविशेष्यत्वाभावाद्वाक्यविशेष्यः ।

तार्किकास्तु पूर्वापरग्रन्थैकवाक्यताप्रतिपत्तये "अर्थैकत्वादेकं वा-  
क्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" (जै०सू०२-१-४६) इति मीमांसासूत्र-  
मुपन्यस्य 'विशेष्यभूतभावनैकत्वात्' इति "अर्थैकत्वात्" इत्यस्य तेषा-  
मर्थैक्यत्वात् 'तात्पर्यविषयैक्यम्' इति स्वयं तदर्थं व्याख्याय, प्रत्यक्षा-  
नुमानयोरेकवाक्यत्वमुक्तम् । स्वातन्त्र्ये यद्यत्सङ्गतिमत्तदेकं वाक्य-  
मिति वक्तव्यं, न तु यत्किञ्चिदर्थकल्पनमुचितं दोषदुष्टञ्च । तथाहि,  
पठनतात्पर्यं यथैव देवदत्तः पठति तव पुत्रस्तथैव पठतीत्यत्राप्येकवा-  
क्यत्वापत्तिः । न चेष्टापत्तिः, समानवाक्यत्वात्तेआदेशापत्तेः । तथा  
"स्योनन्ते सदनं करोमि, घृतस्य धारया सुषेवं कल्पयामि" इति सदन-  
प्रतिपादको मन्त्रः प्रत्यक्षग्रन्थवत् । तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीही-  
णां मेघ सुमनस्यमान इति सादनप्रतिपादको मन्त्रः अनुमानवत् ।  
प्रमाणनिरूपणवद्यागाङ्गनिरूपणं तात्पर्यविषयः । एवमनुमानस्य प्रत्य-  
क्षापेक्षत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य तदनपेक्षत्ववत् सादनप्रतिपादकमन्त्रस्य सदन-  
प्रतिपादकापेक्षत्वेऽपि सदनप्रतिपादकस्य न तदपेक्षत्वम् । एवञ्चान-  
योरेकवाक्यत्वापत्तिः । न चेष्टापत्तिः, अर्थैक्यादित्यस्य भवदुक्तप्र-  
त्युदाहरणविरोधात् । किञ्चेयं पदैकवाक्यता उत वाक्यैकवाक्यता उत  
ग्रन्थैकवाक्यता ? नाद्यः क्रियाकारकाणामेव तत्सम्भवात् । तयोरेव



परस्परमाकाङ्क्षासम्भवात् । उभयाकाङ्क्षायामेव तत्सम्भवेनान्यतरा-  
काङ्क्षायां तदसम्भवाच्च । न द्वितीयः, इतरनिरपेक्षतया सिद्धे-  
नैकवाक्येन सापेक्षेतरवाक्यस्यान्वयो हि सा । प्रकृते च वाक्यसंदर्भ-  
रूपग्रन्थयोरेव सा, न तु वाक्ययोः । अनुमानस्थितवाक्यानां 'परामर्श-  
जन्यं ज्ञानमनुमितिः' इत्यादिवाक्यानां प्रत्यक्षवाक्याकाङ्क्षाभावाद् आ-  
सत्त्यभावाच्च । किञ्च वाक्यैकवाक्यता हि प्रकरणम्, अन्यतराका-  
ङ्क्षा प्रकरणमिति तल्लक्षणात् । तस्याप्येकवाक्यत्वस्वीकारे वाक्यात्प्र-  
करणस्य दुर्बलत्वप्रतिपादकश्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणेत्यादिवलाबलाधि-  
करणविरोधः । न तृतीयः । प्रत्यक्षानुमानयोराकाङ्क्षा आर्थी, न तु शा-  
ब्दी । तस्मादत्र सूत्रलिखनं यत्किञ्चिदर्थकत्वनमनुचितम्, शिरोमणि-  
ग्रन्थस्तु यद्यत्सङ्गतिमत्तदेकं वाक्यमित्यनेनैव सिद्धत्वादिति दिक् ।

प्रकृतमनुसरामः । व्यवहारेण वाक्ये शक्तिग्रहाद्वाक्यस्यैव वाच-  
कत्वाद्वाक्यस्फोटः । न च पूर्वं गृहीताऽपि वाक्ये शक्तिरावापोद्वापा-  
भ्यां त्यक्त्वा पदे गृह्यते इति वाच्यम्, एवं सति पदार्थज्ञानम्प्रति वा-  
क्यार्थज्ञानस्य हेतुतापत्तौ वाक्यार्थज्ञानम्प्रति पदार्थज्ञानस्य हेतुत्व-  
मिति सर्वसिद्धान्तभङ्गापत्तेः । वाक्यस्फोटो द्विधा सखण्डो ऽखण्डः  
श्च । अखण्डो द्विधा वर्णातिरिक्तोऽनतिरिक्तश्च । यदा वर्णा न स्वी-  
क्रियन्ते गौरवात्, लाघवात् ध्वनिभिरेवाखण्डो वाक्यस्फोटो व्यज्यते  
इति मतं, तदाऽतिरिक्तः । अस्मिन्पक्षे वर्णाभावेन यावद्वर्णव्यङ्ग्य  
इत्यादिदूषणाभासा गर्भस्त्रावेणैव पराहताः । यदा तु ध्वनिभिर्वर्णा  
व्यज्यन्ते इति मतं तदा घटमानयेति सखण्डवाक्यस्फोटः, क्रियाकारक-  
योर्विभागस्य कर्तुं शक्यत्वात् । हरेऽव विष्णोऽवेत्यादौ एकादेशे कृते  
प्रातिपदिकाख्यातयोर्विभागाशक्यतयाऽनतिरिक्तवाक्यस्फोटः । क्रि-  
याकारकज्ञानशून्यस्यावैयाकरणस्य घटमानयेत्ययमपि अनतिरिक्ताख-  
ण्डवाक्यस्फोट एव ।

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।

वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

इत्ययमखण्डातिरिक्तवाक्यस्फोटप्रकाशः । यथा वर्णे अवयवा न  
सन्ति तथेत्यर्थः । 'पश्य मृगो धावति' 'पचति भवति' इत्यादावपि अ-  
खण्डसखण्डातिरिक्तानतिरिक्तत्वं पूर्ववदेव बोद्धव्यम् । मृगकर्तृक-  
वर्तमानधावनक्रियायाः दृशिक्रियायां कर्मतासम्बन्धेनान्वयः । देवद-  
त्तकर्तृकपचिक्रियाया वर्तमानभवनक्रियायामन्वयः । तदुक्तम्—

सुबन्तं हि यथाऽनेकं तिङन्तस्य विशेषणम् ।



तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम् ॥ इति ।

यत्तु धावनानुकूलकृतिमान् मृग इति प्रथमान्तविशेष्यकशाब्द-  
बोध इतिपक्षे मृगस्य दृशिधात्वर्थनिरूपितकर्मत्वात् द्वितीयापत्तिः,  
तमित्यध्याहारे च वाक्यभेदापत्तिरित्याशङ्क्य—

पश्य लक्ष्मण ! पम्पायां वकः परमधार्मिकः ।

इत्यादाविव वाक्यार्थस्य कर्मत्वान्न वाक्यभेद इति कैश्चित्समाहि-  
तम् । तन्मुधैव, अन्तरङ्गधावनाक्रियानिरूपितमृगस्य कर्तृत्वात्तस्य चा-  
ख्यातेनोक्तत्वात्प्रथमोत्पत्तौ बहिर्भूतदृशिधात्वर्थनिरूपितकर्मत्वे ऽपि अ-  
न्तरङ्गत्वाज्जातसंस्कारबाधे मानाभावेनैव 'शक्यञ्च श्वमांसादिभिः क्षुदुप-  
हन्तुम्' इतिवदुपपत्तेः । एवञ्चात्र प्रथमान्तविशेष्यकपक्षेऽपि शाब्दिकदूष-  
णाभावेऽपि एकदेवदत्तकर्तृकपचिक्रियाकर्तृकं भवनमित्यर्थे पचतिभव-  
तीत्येकवाक्यतानापत्तेः । (१) ननु पाकानुकूलकृतिमान्देवदत्तो भवतीत्यर्थे  
निष्पन्ने "सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः सति विशेष्ये  
बाधे" इति न्यायेन क्रियाया एव कर्तृत्वं भविष्यति । एकवाक्यतायां  
फलाभावाच्च । न च "समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः"  
इति निघातः फलम् । "तिङ्ङतिङः" (पा०सू०८-१-२८) इति अति-  
ङ्ग्रहणेन तदभावात् । सत्यम् । त्वत्सम्बन्धिनी देवदत्तकर्तृका पचि-  
क्रिया भवतीत्यर्थे 'देवदत्तः पचति ते भवति' इति प्रयोगे समानवा-  
क्यत्वाभावेनादेशानापत्तेः । अनेकदेवदत्तकर्तृकैका पचिक्रियेत्यर्थे 'दे-  
वदत्ताः पचन्ति भवति' इति प्रयोगोऽपि न स्यात्, अनेककर्तृत्वेन  
भवतीत्यत्र बहुवचनापत्तेः, 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र निघातरूप-  
प्रयोजनसत्त्वाच्च ।

किञ्चात्र वाक्यार्थस्य कर्मत्वमिति तार्किकोक्तं न युक्तिमत् । तथा-  
हि, वाक्यार्थोऽतिरिक्तोऽनतिरिक्तो वा ? नाद्यः, तस्य वृत्त्यनुपस्थापि-  
तत्वेन दृशिक्रियायां कर्मतयाऽन्वयानुपपत्तेः; वृत्त्युपस्थापितस्यैव शा-  
ब्दबोधाविषयत्वानियमात् । अन्यथा घटपदात्समवायेनोपस्थिताकाश-  
स्यापि शाब्दबोधाविषयत्वापत्तेः । न द्वितीयः । विभक्त्यर्थमद्वारीकृत्य  
नामार्थस्य धात्वर्थेन समम्भेदसम्बन्धेनान्वयो ऽयुत्पन्नः । अन्यथा 'ओ-  
दनः पचति' इत्यापत्तेः । न च तत्र वाक्यार्थस्य कर्मत्वं न नामार्थस्येति  
वाच्यम्; 'रमणीय ओदनः पचति' इत्यस्यानापत्तेः । "पश्य लक्ष्मण  
पम्पायाम्" इत्यादौ तमिति पदाध्याहारेण वाक्यभेद एव । एवञ्च वा-  
क्यार्थस्य कर्मत्वमि(२)त्यविचारिताभिधानम् । एवं 'नीलो घटो भव-



ति'इति वाक्ये नीलकर्तृकभवनान्श्रयो घट इति व्युत्पत्तिवादोक्तमपि न युक्तिमत्, नामार्थस्येत्यादिव्युत्पत्तिबाधे मानाभावात् नीलो घटो भव-  
नाश्रय इति बोधसम्भवाच्च । सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमु-  
पसङ्कामतः सति विशेष्ये बाधे इति विशेषणे नीले एव भवनस्या-  
न्वयो भविष्यतीति दिक् ।

एवं "तत्त्वमसि" "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादौ सखण्डाखण्डत्वं  
पु(१)र्ववदेव बोध्यम् । "तत्त्वमसि" इत्यत्र तत्पदवाच्यसर्वज्ञत्वादिविशिष्ट-  
चैतन्यस्य त्वंपदवाच्येनान्तःकरणविशिष्टचैतन्येनैक्यासम्भवादैक्यसि-  
द्ध्यर्थं स्वरूपे जहदजहल्लक्षणेति साम्प्रदायिकाः ।

नन्वनयोरैक्ये किं मानम् ? न च नामार्थेति व्युत्पत्तिः । तस्याः  
किं नामार्थयोरेवाभेदान्वय उत नामार्थयोरभेद एवेति ? नाद्यः 'स्तोकं  
पचति' 'वैश्वदेवी आमिक्षा' इत्यादौ व्यभिचारात् । नान्त्यः, घटपटौ  
इत्यादौ व्यभिचारात् । तस्मात्सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकर-  
ण्यमन्याय्यमिति लाघवमूलको हि सः ।

सत्यम् । "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति  
भेदनिन्दापूर्वकाभेदप्रतिपादकश्रुतिर्मानम् । न च तत्रापि यः नाना इव  
पश्यति स मृत्योर्मृत्युमाप्नोति, यस्तु वस्तुतः नानात्वं पश्यति स नेती-  
तीवशब्दात्प्रतीयमानार्थेन भेदस्यैव प्रतीतिः, किञ्च राजपुरुष इत्यत्रैव  
तस्य त्वमिति षष्ठीसमासेनापि भेदस्यैव प्रतीतिः—इति वाच्यम्, छा-  
न्दोग्येऽपि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यारभ्य "तत्सत्यं स आ-  
त्मा तत्त्वमसि इवेतकेतो" इत्युपसंहारेणोपक्रमोपसंहारयोरेकरूपेण  
वेदतात्पर्यनिर्णायकेनैक्यस्य निर्णीतत्वात् "ब्रह्मतत्परादाद्योन्यत्रा-  
त्मनो ब्रह्म वेद" इति श्रुत्याऽपि ऐक्यावधारणात् । अस्मिन्पक्षे लाक्ष-  
णिकवाक्यस्फोटः ।

वस्तुतस्तु अयं वाचकवाक्यस्फोट एव । तथाहि, विशिष्टशक्त्यु-  
पस्थापितयोस्तत्त्वंपदार्थयोरभेदान्वयानुपपत्तावपि विशेष्ययोः श-  
क्त्युपस्थापितयोरभेदान्वये बाधकाभावः । यथा 'घटोऽनित्यः' इत्यत्र  
घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्य-  
त्वान्वयः । यद्वा, विशेष्ये एव शक्तिः, विशेषणं तूपलक्षणम् । अस्मि-  
न्पक्षे न कोऽपि दोषः । यद्वा, यथा नानार्थस्थले संयोगादिनाऽभिधा-  
नियमनं तथाऽभेदान्वयानुरोधाद्विशेष्ये एवाभिधानियमनम् । अस्तु

(१) लाघवाद् ध्वनिभिरिव स्फोटो व्यज्यते, वर्णाश्च न स्वीक्रियन्ते गौरनात्तदाऽखण्डो वर्णस्वी-  
कारपक्षे च सखण्ड इति यावत् ।



वा लक्षणा, सा च जहल्लक्षणा । तथा च विशेषणां शास्त्रागमात्रं न तु विशेष्येऽपि तस्या उपयोगः, शक्त्यैव तदुपस्थितिसम्भवात् । एवं 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रापि । तथा च जहदजहल्लक्षणोदाहरणमसङ्गतमिति दिक् ।

एवम् 'एको वृक्षः पञ्च नौका भवन्ति' इति वाक्ये सखण्डाखण्डत्वे पूर्ववदेव बोध्ये । अत्र तार्किकाः—

गृह्णाति वाचकः सङ्ख्यां प्रकृतेर्विकृतेर्नहि ।

इति वचनात्प्रकृत्यर्थवृक्षगतमेकवचनमेव भूधातूत्तरं भवतीत्याहुः । तदयुक्तम्, गृह्णातीत्यस्य व्यन्तविषयत्वात् । यथा 'संघाभवन्ति बाह्यणाः' 'त्वद्भवाम्यहं' 'मद्भवसि त्वम्' इत्यादौ वचनपुरुषयोः प्रकृतिगतयोरेव दर्शनात् । ननु सङ्कोचे किं मानम् ? 'सुवर्णपिण्डः खदि-राङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः' इति भाष्यप्रयोग एव । उद्देश्यविधेय-भावस्थले तु उद्देश्यगता सङ्ख्याऽऽख्यातप्रत्यये "शास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युः" इत्यादिषु ।

पुनरपि वाक्यं द्विधा—काव्यात्मकमकाव्यात्मकं च । द्वितीयं तूक्तम् । आद्यन्तु "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः कापि" इत्यनेन लक्षितम् । अत्र यावद्दोषाभावो वक्तुमशक्यः, असम्भवात् । योक्त-श्चिद्दोषाभावे अदोषपदवैयर्थ्यम् । तस्मान्नञोऽल्प(१)त्वमर्थः 'अनुदरा कन्या' इतिवत् । अल्पत्वं च स्फुटप्रतीयमानदोषराहित्यम् ।

इदं काव्यलक्षणं रसगङ्गाधरे दूषितम्, शब्दार्थयोर्व्यासज्यवृत्ति-काव्यत्वे 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः' इति व्यवहारासम्भवात् ।

तदसमञ्जसम्, एकदेशे दग्धेऽपि 'पटो दग्धः' इतिवदेकदेशेऽपि प्रयोगसम्भवात् "समुदायवृत्ताः शब्दाः कचिदेकदेशेऽपि वर्तन्ते" इति भाष्यात् ।

तल्लक्षणमेव तु न समञ्जसम् । तथाहि, रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यम् । रमणीयत्वं च लोकोत्तरालहादजनकज्ञानविषयत्वमिति तल्लक्षणम् । इदञ्च 'तत्त्वमसि' इत्यादावतिव्याप्तम् । न चालहादे वैजात्यम् । किन्ततः ? लोकोत्तरालहादजनकज्ञानविषयत्वस्योभयत्र तुल्यत्वात् ब्रह्मानन्दत्वेन सर्वैर्वर्णितत्वाच्च । किञ्च रमणीयपदस्य रमणीयार्थप्रतिपादकत्वमस्ति न वा ? नाद्यः, रमणीयशब्दस्यापि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वेन काव्यत्वापत्तेः । इदं च भाष्ये "अपशब्दार्थकः शब्दो ऽपशब्द इति चेन्न, अपशब्दस्यापि अपशब्दत्वापत्तेः" इत्यनेन

(१) नन्वाद्ययमभावश्च तदप्यत्वं तदल्पता । अपाशस्य विरोधश्च नञर्थः षट् प्रकीर्तिताः ॥ इत्युक्तेः



ध्वनितम् । नान्त्यः, रमणीयार्थप्रतिपादकत्वाभावे लक्षणत्वानुपपत्तेः । तस्मात्प्रकाशोक्तमेव लक्षणं सत्यम् ।

एवं 'बन्हिना सिञ्चति' इति वाक्यस्फोट एव । ननु वाक्यार्थबो-  
धेऽयोग्यतानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वं योग्यताज्ञानस्य कारणत्वं तार्कि-  
कादिसिद्धान्तसिद्धं, प्रकृते च बन्हिः सेककरणं नेति विषयबाधरूपाऽ-  
योग्यतानिश्चयरूपबाधकसत्त्वाद्विषयाबाधरूपयोग्यताज्ञानासत्त्वात्कथ-  
मेतस्य वाक्यस्फोटत्वमिति चेत् ? सत्यम्, तात्पर्यविषयाबाधो हि  
योग्यता । तदभावोऽयोग्यता । प्रकृते चात्युष्णजलेन सिञ्चतीति ता-  
त्पर्यविषयः । यथा—

अस्य शोणिपतेः परार्द्धपरया लक्ष्मीकृताः संख्यया  
प्रज्ञाचक्षुरर्वक्षमाणबधिरप्रख्याः किलाकीर्तयः ।  
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन बन्ध्योदरात्  
मूकानां प्रकरेण वर्मरमणीदुग्धोदधे रोधासि ॥  
गगनं गगनाकारं सागराः सागरोपमाः ।

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः

श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।

सस्तापाङ्गासरसविसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का

दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्तयन्ति ॥

पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति शिताः शराः ।

इत्याद्यालङ्कारिकवाक्येषु 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ 'तत्त्वमसि' इत्या-  
दौ च तात्पर्यविषयाबाधो योग्यत्वमिति सर्वसिद्धान्तः, तथाऽत्रापि ।  
यद्वा, शाब्दबोधे ऽयोग्यतानिश्चयस्य न प्रतिबन्धकत्वं तत्सत्त्वेऽपि  
'त्वं बृहस्पतिः' इति स्तावकवाक्यात्सन्तोषोपलब्धेः 'नाहं रण्डापुत्रः'  
इति बाधनिश्चये सत्यपि 'त्वं रण्डापुत्रः' इति वाक्यात् क्रोधोपलब्धेश्च;  
शाब्दबोधाभावे एतदनुपपत्तेः । किञ्च 'पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्' इत्या-  
दिसाध्यवसानादिलक्षणास्थले शरा नीलोत्पलद्वन्द्वोपादानका  
नेत्ययोग्यतानिश्चये सति तद्वक्तृश्रवणानन्तरं वाक्यीयबोधोत्तरमयो-  
ग्यतानिश्चयः पूर्वं वा ? नाद्यः, बाधनिश्चये सति बोधाभावात् । ना-  
न्त्यः, बोधाभावेऽन्वयानुपपत्तेरभावात् । न हि स्वरूपसती अन्वयानु-  
पपत्तिर्लक्षणाबीजम्, किन्तु ज्ञाता । न च पूर्वमयोग्यतानिश्चयसत्त्वेन  
तज्ज्ञानमप्यस्त्येवेति वाच्यम्, वाक्यार्थबोधजन्यान्वयानुपपत्तिज्ञान-  
स्य पूर्वमभावात् । गङ्गा घोषाधिकरणं नेति लौकिकज्ञानसत्त्वे 'गङ्गा-



यां घोषः' इति वाक्याद्ब्रह्माधिकरणको घोष इति बोधोत्तरमन्वयानुप-  
पत्तिर्हि अनुभवसिद्धा । न च तस्याः पूर्वं ज्ञानं सम्भवति । न च  
अमात्मको बोध इति तार्किकोक्तं युक्तिमत्, अयोग्यतानिश्चयस्य  
प्रतिबन्धकत्वं योग्यताज्ञानस्य कारणत्वं प्रकल्पनीयम्, अमात्मको  
बोधश्च कल्पनीय इति महद्भौरवम् । स्फोटवादिनां त्रितयमपि न क-  
ल्प्यमिति लाघवम्; वाक्यार्थबोधजन्यप्रवृत्तावेव तत्स्वीकारात् ।  
किञ्च 'नाहं परमेश्वरः' इति वाधनिश्चये सति 'तत्त्वमसि' इति वाक्या-  
द्वोधाभावे अमात्मकबोधे वा न प्रमात्मकं ज्ञानं सम्भवति, अमात्मक-  
बोधस्य प्रमात्मकबोधजननायोग्यत्वात् । एवं 'दशमस्त्वमसि' इत्यत्रापि ।

ननु अनेकवर्णातिरिक्तोऽनेकध्वनिव्यङ्ग्योऽखण्डवाक्यस्फोटः कः  
पदार्थ इति चेत् ? शृणु । यथा तार्किकैः पूर्वोक्तमद्वीत्या गत्यन्तरस-  
म्भवेऽपि चित्ररूपमतिरिक्तं स्वीक्रियते, यथा शाब्दिकैः रेफद्वयाज्भा-  
गविशिष्ट एको वर्णः "ऋति ऋ वा लृति लृवा" इत्यत्र वार्त्तिके स्वी-  
क्रियते, यथा वा "सिद्धमेतत् सस्थानत्वादौचोत्तरभूयस्त्वात्" इति-  
वार्त्तिकेऽनेकाचामेकवर्णात्मकत्वमुक्तं तथा मयापि अनेकध्वनिव्यङ्ग्यः वा-  
क्यात्मक एको वर्ण इति स्वीक्रियते । स च शब्दब्रह्मरूपः ।  
तत्र मतत्रयम्—

शब्दब्रह्मेति शब्दार्थः शब्दमित्यपरे जगुः ।

चैतन्येसर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ॥ इति ।

शब्दब्रह्मेतिनिर्वचनेनापि तस्य वर्णत्वं सिद्धम् । अनुमानादपि ।  
तथाहि, अखण्डवाक्यस्फोटः एकवर्णरूपः, श्रावणत्वात् ध्वनिव्यङ्ग्य-  
त्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवं, यथा पृथिव्यादि । अन्वयदृष्टान्तस्तु मतान्तरसि-  
द्धवर्णादि ।

वस्तुतस्तु अन्वयव्यतिरेक्यनुमानं व्यर्थम्, उपनीतभानेनैव गता-  
र्थत्वात् । तथाहि, यथा चन्दनखण्डस्य लौकिकप्रत्यक्षं सौरभ्यस्यालौ-  
किकं, तथा धूमस्य लौकिकं बन्हेरलौकिकमिति । अस्मिन्पक्षे उपनीत-  
भानमिति विवेकः । यद्वा लाघवाद्दोषाभावाद् ध्वनिव्यङ्ग्यस्यान्यस्याभा-  
वाच्च वर्णत्वस्वीकारः । न च ध्वनिव्यङ्ग्यस्य गुणभूतव्यङ्ग्यप्रभेदे का-  
काक्षिप्तस्यापि अन्यस्य सम्भव इति वाच्यम्, तस्य ध्वनिविकारका-  
कुव्यङ्ग्यत्वेऽपि ध्वनिव्यङ्ग्यत्वाभावात् ।

किञ्च "कामः सङ्कल्पो विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धा भीः ह्रीः इत्येत-  
त्सर्वं मन एव" इति श्रुत्या कामादीनां मनोधर्मत्वे प्रतिपादितेऽपि ता-



किंकैरात्मधर्मत्वमुक्तम् । तच्च सर्वैरप्यङ्गीकृतम् । तच्च ध्रमात्मकम् ।  
तद्बीजं तु यथा जपाकुसुमसन्निधाने स्फटिकं लोहित इति ज्ञानम् ।  
प्रकृते तु मनःसन्निध्यम् आत्मधर्मे बीजं श्रुतिबाधश्च । स्फोटे तु न  
तथा । तस्मादेकवर्णात्मकोऽखण्डवाक्यस्फोटो वाचक इति सिद्धम् ॥

इति श्रीमन्मैत्रिकुलतिलकादयमानगोवर्द्धनभट्टात्मजजानकीजानि-  
रघुनाथभट्टात्मजश्रीकृष्णकृतस्फोटचन्द्रिका सम्पूर्णा ।









